प्रकाशक
जैन इतिहास समिति
आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञान भंडार
लाल भवन, चौड़ा रास्ता
जयपुर-३०२००३

•

•

द्वितीय पुर्नमुद्रित संस्करण १९९१

•

आवरण
पारस भंसाली

•

मूल्य १००.०० रु.

•

विषयानुक्रमणिका

आचार्य जीवन-परिचय

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(तृतीय भाग)

सामान्य श्रुतधर खण्ड (१)

आशीर्वचन

(आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा.)

जैन इतिहास की गवेषणापूर्वक जो महत्वपूर्ण सामग्री, "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" ग्रन्थमाला के पूर्व प्रकाशित दो भागों एवं इस तृतीय भाग में, इतिहास समिति ने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की है, उसके सम्बन्ध में इतिहासप्रेमी जो भी आवश्यक हो उचित मार्गदर्शन करते रहेंगे।

लेखक और सम्पादक मण्डल ने जिस उत्साह और लगन से इस तृतीय भाग के लेखन कार्य को सम्पन्न किया है उसी प्रकार शेष रहे ऐतिहासिक तथ्य भी तटस्थ दृष्टि से गवेषणा कर प्रस्तुत करने में तत्पर रहेंगे, यही हार्दिक शुभेच्छा है।

पाठकगण हंस दृष्टि से नीर और विवेकपूर्वक तथ्यों का अवलोकन करते हुए लेखक और सम्पादकों के उत्साह को बढ़ायेंगे और अपनी गुण ग्राहक दृष्टि का परिचय देंगे, ऐसी आशा है।

समर्पणम्

पीपाड-प्राच्यां जिनशासनार्कः,
शुभोदितो योऽद्य चकास्ति विश्वम् ।
जिनेशितुः वाणिकरैः सहस्रैः,
प्रीणाति यो विश्वजनाञ्च जैनान् ॥

[२]

येनावयोः बोधप्रदैर्वचोभिः,
रत्नत्रयी चातितरां प्रकाश्य ।
प्रोन्मीलिते नेत्रयुगे सुदिव्यैः,
ज्ञानाञ्जनैः ज्योतिप्रदैः सुधाभैः ॥

[३]

यो विश्वबन्धुः भवसिन्धु-सेतुः,
निमज्जतां चाद्य भवाब्धिपोतः ।
संसार माया रहितो हुतात्मा,
तं हस्तिमल्लाख्य गुरुं नमावः ॥

[४]

स्वाध्याय सामायिक शंखनादैः,
सद्धर्म क्रान्तिः जनिताद्य येन ।
श्री हस्तिमल्लाख्य गणाधिपाय,
नमः गजेन्द्राय प्रगाढ भक्त्या ॥

[५]

जैनेतिहासस्य तिरोहितं यत्,
ज्ञानं तदाप्तं भवतः प्रसादात् ।
समर्पयावः भवतैव दत्तां,
कृतीमिमामद्य भवद्भ्य एव ॥

भवच्चरणेषु चञ्चरीकौ
गजसिंह प्रेमराजौ

प्रकाशकीय

श्रमण भगवान् महावीर के शासन के कृपा प्रसाद से जैन धर्म का मौलिक इतिहास ग्रन्थमाला के इस तीसरे भाग को सुविज्ञ एवं सहृदय पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करते हुए हमें परम सन्तोष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है।

इतिहास का प्रथम भाग १९७१ में और द्वितीय भाग १९७४ में प्रकाशित हो चुके थे। इसे देखते हुए तृतीय भाग के लिए जिज्ञासु पाठकों को पर्याप्त समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। इसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। इतिहास के दोनों भागों का साहित्यिक जगत् में आशातीत स्वागत हुआ, इससे निश्चय ही हमारा उत्साह बढ़ा।

इसी उत्साह से प्रेरित होकर तृतीय भाग के आलेखन का कार्य बड़ी तत्परता से प्रारम्भ कर दिया गया था। एतदर्थ सर्वप्रथम मथुरा के संग्रहालय से एतद्विषयक सामग्री संग्रहीत करने का प्रयास किया गया। वहां से यथेप्सित सामग्री प्राप्त हुई, जिसका महत्वपूर्ण उपयोग इस ग्रन्थ प्रणयन में किया गया।

तदनन्तर राजस्थान प्रदेश के ही अनेकों ग्रन्थागारों एवं ज्ञान भंडारों से सामग्री एकत्रित की गई। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामग्री लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ पंन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज साहब के जालोर नगरस्थ ज्ञान भंडार से हमें प्राप्त हुई, जहां हमारे विद्वान् लेखक महोदय श्री राठौड़ ने स्वयं काफी समय तक अहर्निश अथक परिश्रम करके उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री का आलेखनात्मक संकलन किया। पं. श्री कल्याणविजयजी महाराज सा. का इस कार्य में उन्हें हार्दिक सहयोग एवं बहुमूल्य परामर्श भी मिला। महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के कतिपय अज्ञात स्रोत संकेतात्मक लेखों के रूप में पं. श्री कल्याणविजयजी म. सा. की हस्तलिखित दैनन्दिनियों के संग्रह से उपलब्ध हुए।

इस शोध काल में पंन्यासजी श्री के संग्रह में "तित्थोगालि पइन्नय" नामक ग्रन्थ की एक अति प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली जिसके कतिपय स्थलों का सम्पादन एवं कतिपय पाठों का संशोधन स्वयं श्री पंन्यासजी ने किया था। उस प्रति के शेष सम्पादन एवं पाठ संशोधन का गुरुतर कार्य राठौड़जी के जिम्मे सौंपा गया। धार्मिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से अति महत्वपूर्ण उस ग्रन्थ की गाथाओं के संशोधन, पुनरालेखन, संस्कृत छाया, उनका हिन्दी अनुवाद और उसके कतिपय

निगूढ़ स्थलों पर सम्पादकीय टिप्पणी देने आदि का कार्य श्री राठौड़ ने प्राकृत, संस्कृत और जैन इतिहास के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य श्री हस्तिमलजी म. सा. के कृपापूर्ण कुशल निर्देशन में प्रारम्भ कर निर्विघ्न सम्पन्न किया। अति वयोवृद्ध पं. श्री कल्याणविजयजी म. सा. की विद्यमानता में ही उस ग्रन्थ का मुद्रण एवं प्रकाशन भी हो गया जिसे देखकर पंन्यासजी ने परम सन्तोष अभिव्यक्त किया। इस अनुपम अनमोल सहयोग देकर की गई जिनशासन की प्रभावना के लिए पंन्यासजी स्व. श्री कल्याणविजयजी म. सा. के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हमें खेद है कि अपनी प्रभावना के इस फल को देखने के लिए पंन्यास श्रीजी हमारे बीच आज नहीं रहे।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'महा निशीथ', 'सन्दोह दोहावलि', 'संघ पट्टक', 'आगम अष्टोत्तरी' एवं संघ पट्टक की भूमिका आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों से भी बड़ी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री हमें मिली। इन ग्रन्थों में निबद्ध उल्लेखों से स्पष्ट पता लगा कि किस प्रकार महावीर के धर्म संघ में एवं उसकी मूल श्रमण परम्परा में विकृतियों ने घर किया एवं कालान्तर में उन विकृतिजन्य परम्पराओं ने क्या-क्या किया। इन उल्लेखों से यह भी पता चला कि किस प्रकार समय-समय पर इन विकृतिजन्य परम्पराओं का सशक्त विरोध किया गया और किस प्रकार समय-समय पर हुए महान् आचार्यों ने भी इन विकृतिजन्य परम्पराओं के कार्यकलापों से क्षुब्ध होकर अपने भावों को तीव्र अभिव्यक्ति दी। इनमें एक प्रमुख आचार्य हुए नवांगी वृत्तिकार अभयदेव सूरि, जिन्होंने इन विकृतिजन्य परम्पराओं के विरोध में अपने स्वर को जिस रूप में निम्नलिखित सशक्त अभिव्यक्ति दी, प्रसंगवशात् उसका उल्लेख यहां भी करने का लोभ हम संवरण नहीं कर रहे हैं :—

देवड्ढि खमासमणजा परं-परं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया दव्वओ परम्परा बहुहा॥

अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त भाव परम्परा रही, यह मैं जानता हूं। उनके पश्चात् प्रभु महावीर के धर्म संघ में शिथिलाचारियों ने अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराएं स्थापित कर दीं।

अभयदेवसूरि जैसे महान् प्रभावक आचार्य द्वारा अभिव्यक्त यह उनकी अन्तर्व्यथा उस काल की स्थिति पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इसी अन्तर्व्यथा को प्रकट करने वाले जिनशासन प्रभावकों की कड़ी में अन्तिम प्रभावक के रूप में लोंकाशाह का नाम जग-विश्रुत है।

इस खोज वृतान्त से यह तो पता चला कि इन विकृत परम्पराओं का प्रभाव और इनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष रहा। पर इनका प्रमुख कार्यक्षेत्र सौराष्ट्र, कच्छ, गुजरात, राजस्थान, मध्यभारत एवं उत्तरप्रदेश माना जाता रहा क्योंकि यह लोंकाशाह भी मुख्यतः उत्तरी भारत तक ही सीमित रहा।

भारत के दक्षिणापथ में क्या स्थिति रही इस सम्बन्ध में भी खोज करने की तीव्र आवश्यकता हमें अनुभव हुई जिसके बिना हमारा इतिहास का कार्य अधूरा ही रहता।

हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि यह खोज एवं शोध कार्य करने पर पता लगा कि वस्तुतः दक्षिणापथ तो उत्तरापथ से भी किन्हीं अर्थों में कहीं अधिक ही जैन धर्म का सहस्राब्दियों तक एक प्रमुख एवं गौरवशाली केन्द्र रहा।

पर इस खोज कार्य को प्रारम्भ करने में कुछ अनावश्यक विलम्ब भी हुआ। इतिहास लेखक श्री राठौड़ को बीच-बीच में इतिहास लेखन के कार्य से हटाकर अन्य साहित्य प्रकाशन आदि कार्यों में एवं सन्त मुनियों के प्रारम्भिक शिक्षण कार्य में भी लगना पड़ा। समाज द्वारा आवश्यक समझकर उन्हें गजेन्द्र प्रवचन माला को प्रारम्भ करने का कार्य सौंपा गया, जिसे उन्होंने बड़ी लगन और विद्वत्ता के साथ सम्पन्न किया एवं उसकी सुदृढ़ नींव भी डाल दी। हमें प्रसन्नता है कि उस सुदृढ़ नींव पर खड़ी की गई इस प्रवचन माला के कई भाग एवं उन भागों के कुछ नये संस्करण भी आज तक प्रकाशित हो चुके हैं। प्रवचन माला के प्रकाशन को इस स्थिति में लाने का सारा श्रेय राठौड़ महोदय को एवं इनके एक अनन्य स्नेही एवं सहयोगी श्री प्रेमराजजी बोगावत को भी जाता है। समाज इसके लिए इनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता है।

मुनियों के शिक्षण कार्य को भी सुन्दर गति देने का श्रेय श्री राठौड़ सा. को जाता है। समाज इसके लिए भी उनका उपकृत है।

इसी बीच जैन धर्म के मौलिक इतिहास के प्रथम भाग के परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण के लेखन और प्रकाशन कार्य में भी राठौड़ सा. को लगना पड़ा क्योंकि यह कार्य पूरा करना अन्यों के लिए सम्भव नहीं था हालाँकि इसमें सहयोग देने हेतु आचार्यश्री के सुयोग्य शिष्य श्री हीरामुनिजी महाराज सा. भी लम्बे समय तक इसमें व्यस्त रहे।

अन्त में ईस्वी सन् १९८० में आचार्य श्री का चातुर्मासावास मद्रास नगर में हुआ। दक्षिणापथ में शोधकार्य प्रारम्भ करने के लिए यह एक सुअवसर मिला। आप श्री के दैनन्दिन मार्ग दर्शन में यह शोध कार्य प्रारम्भ किया गया। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैन्स्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी (मद्रास यूनीवर्सिटी) में इसके लिए खोज करते समय बड़ी महत्वपूर्ण आशातीत उपयुक्त सामग्री वहां से प्राप्त हुई। कन्नीमरा गवर्नमेन्ट लाइब्रेरी इग्मोर (मद्रास) से भी जैनधर्म के इतिहास सम्बन्धी जरनल्स एपिग्राफिकाज और एन्टीक्वीटीज आदि के रूप में हजारों पृष्ठों की ऐतिहासिक सामग्री का संकलन किया गया जो आगे चलकर बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। श्रमण संहार चरितम् आदि मध्य युगीन शैव कृतियों की फोटो कापियां भी ली गईं।

इतनी सारी सामग्री प्राप्त करने पर भी कतिपय शताब्दियों पूर्व विलुप्त हुई यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में सामग्री का अभाव अनुभव हुआ जिसके बारे में इतिहास के आलेखन के समय से ही आचार्य श्री इस सम्बन्धी (परम्परा सम्बन्धी ऐतिहासिक) सामग्री की खोज के लिए समुत्सुक थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के बीच यापनीय परम्परा एक अतीव महत्वपूर्ण कड़ी समझी जाती रही है। इस कारण यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में यथा-शक्य अधिकाधिक सामग्री संकलित करने का प्रारम्भ से ही लक्ष्य था।

यह सुयोग ही था कि आचार्यश्री का १९८१ का चातुर्मास रायचूर में हुआ। यहाँ के धारवाड़, श्रमण वेलगोल, मूड बिद्री, कारकल मैसूर आदि जैन विद्या के प्राचीन केन्द्र, समझे जाने वाले विश्वविद्यालयों से एवं वहाँ के प्रतिष्ठित पुरातत्वविदों एवं इतिहास के विद्वानों के सम्पर्क से यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में भी यथेप्सित सामग्री हमें प्राप्त हुई। हालांकि इस सामग्री से भी यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में हमें पूरा सन्तोष तो नहीं हुआ पर फिर भी जैन इतिहास की विलुप्तप्राय: और विशृङ्खलित कड़ियों को जोड़ने में हमें इस सामग्री से पर्याप्त सहायता मिली। ऐसा हमारे इतिहास लेखकों को प्रतीत हुआ कि यापनीय परम्परा के इस प्रमुख केन्द्र कर्णाटक पर विदेशी आक्रमणों और प्रमुख रूप से मुसलमानों के आक्रमण काल में यापनीय परम्परा का जो विपुल साहित्य था वह अधिकांश में विनष्ट कर दिया गया।

इस सामग्री के प्राप्त होने के बाद आशा थी कि इस प्रस्तुत ग्रंथ का लेखन शीघ्र सम्पन्न कर लिया जावेगा पर इसी बीच लेखक महोदय की सेवाएं आवश्यक समझकर जलगांव में आचार्य श्री के चातुर्मास काल में वहाँ के श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ एवं वहाँ की नेशनल पब्लिक लाइब्रेरी को दी गई। इससे इतिहास लेखन के कार्य में पुनः विलम्ब हुआ।

अन्त में जुलाई १९८३ से इस ग्रंथ के मुद्रण और साथ-साथ अग्रेतर आलेखन के कार्य को द्रुतगति दी गई। परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थ अब पाठकों के सम्मुख है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री प्रेमराजजी बोगावत का सहयोग भी बड़ा प्रशंसनीय रहा जिन्होंने अपना व्यस्त व्यावसायिक जीवन होते हुए भी पूरे चार मास तक अपना पूरा ध्यान इधर केन्द्रित किया। उनकी इस निःस्वार्थ सेवाओं के लिए हम पुनः उनके प्रति एवं लेखक महोदय के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

जैन जगत् के यशोधनी समर्थ साहित्य सर्जक पूज्य देवेन्द्र मुनिजी महाराज सा. ने अस्वस्थ एवं अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी प्रस्तुत ग्रन्थ का आद्य से इति तक अवगाहन कर इस पर "एक अवलोकन" लिखने की महती कृपा की है, इसके लिए हम पूज्य पं. मुनिश्री के प्रति अन्तर्मन से आभार प्रकट करते हैं।

आदरणीय पद्म विभूषण डा. डी. एस. कोठारी सा. ने महती कृपा करके गुरुभक्ति से प्रेरित होकर इस पुस्तक के लिये "दो शब्द" लिखकर जो कृपा की है, उसके लिये कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं। हम इसके लिये उनके अत्यन्त ऋणी हैं।

श्रीमान् कैलाश जी सा. दूगड़ (मद्रास निवासी) ने एक वर्ष तक पूरे समय के लिए एक लिपिक को कनिमरा लाइब्रेरी में नियत कर जरनलों से ऐतिहासिक सामग्री का संकलन करवाने में, श्रीमान् चमनलालजी सा. मूथा रायचूर निवासी ने कर्णाटक और विदेशों से ऐतिहासिक सामग्री के संकलन में तथा स्व. बाबाजी महाराज श्री जयन्त मुनिजी के सुपौत्र श्री रेखचन्दजी चौधरी (पीपाड़ निवासी) ने तमिलनाडु एवं कर्णाटक में हमारे शोधार्थी विद्वान् के साथ घूम-घूमकर महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के संकलन में उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया। अतः हम इन तीनों महानुभावों की श्रुतसेवा की मुक्तकंठ से सराहना करते हैं।

इस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने में श्रीमती मंजुलाजी बम्ब एवं श्री प्रमोदजी पालावत अलवर निवासी ने जो अपना अमूल्य समय एवं श्रम दिया हम उनके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं।

सम्पादक मंडल के समस्त सदस्यों के प्रति भी इस अनुपम सम्पादन सहयोग के लिए अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। मुद्रण कार्य में इस कार्य को अपना समझकर इसे प्राथमिकता देकर पूरा करने के लिए हम इसके मुद्रक पॉपुलर प्रिन्टर्स के स्वामी बन्धु द्वय सर्वश्री महावीरजी एवं निर्मलकुमारजी गोयल एवं उनके प्रेस के कर्मठ सह-व्यवस्थापक श्री रवीन्द्रकुमार जी सारस्वत एवं फोरमैन श्री राजेन्द्रसिंहजी पंवार के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट किए बिना नहीं रह सकते। इसका सुन्दर गेट-अप शीघ्रतापूर्वक तैयार करके दी गई सेवाओं के लिए श्री पारसजी भंसाली की हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

अन्त में हम अपने आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा भक्ति के साथ अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं कि जिन्होंने जिन शासन की प्रभावना के अनेकानेक ठोस कार्यों के साथ-साथ इस इतिहास लेखन के कार्य को भी अपना उचित एवं अनुपम मार्ग-दर्शन देकर समाज पर असीम उपकार किया है।

इन्द्रचन्द हीरावत — अध्यक्ष

चन्द्रराज सिंघवी — मन्त्री

जैन इतिहास समिति, जयपुर

लाल भवन
दिनांक १७.११.८३

सम्पादकीय

अटल कर्म-सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करने वाले अद्‌भुत संयोग प्राणी मात्र के जीवन में आते हैं। अकबर के प्रमुख सेनापति, इतिहास लेखक एवं संस्कृत व पर्शियन भाषा के विद्वान् श्री बदायूंनी को वैदिक एवं प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य के पर्शियन भाषा में अनुवाद करने का संयोग से सुन्दर अवसर मिला। अकबर की इच्छानुसार विपुल, वैदिक व संस्कृत साहित्य का उसने पर्शियन भाषा में अनुवाद करके प्रचुर प्रसिद्धि भी प्राप्त की। पर कार्य निष्पत्ति के अनन्तर उसने अपने शोक भरे उद्‌गार इस रूप में प्रकट किये :—"ए मेरे मौला! मैंने ऐसा कौनसा बड़ा पाप किया था कि जिससे मुझे जीवन भर काफिरों के धर्मग्रन्थों का अनुवाद करना पड़ा।"

आज के धार्मिक वातावरण की स्थिति में कतिपय महानुभाव समझ सकते हैं कि मुझे भी कतिपय अंशों में श्री बदायूंनी जैसा ही संयोग प्राप्त हुआ है।

पर बदायूंनी के उस संयोग में और मेरे इस संयोग में आकाश पाताल का अन्तर है। बदायूंनी ने उसे सम्भवतः दुर्भाग्यपूर्ण दुखद संयोग माना। पर मैं तो इसे संयोग ही नहीं, अपितु अपने कोटि-कोटि पूर्व जन्मों में संचित पुण्य के प्रताप से मिला एक बड़ा सुखद सुन्दर सुयोग समझता हूँ कि जीवन के उषःकाल में दस वर्ष की आयु से २४ वर्ष तक की आयु में परम धर्मनिष्ठ आगम मर्मज्ञ गुरु के चरणों में बैठकर जैन-वांग्मय के अध्ययन अध्यापन का और जीवन के संध्याकाल में समर्थ गुरु गजेन्द्र के कुशल निर्देशन में जिन शासन की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

जन जन कल्याणकारी जिनधर्म को केवल अपनी ही बपौती सी समझने वाला कोई नामधारी इसे मेरी अनाधिकार चेष्टा न समझ बैठे इसलिए मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैंने अपने ही पुरातन कालीन पूर्वजों द्वारा सुसेवित एवं सुसिंचित जिनशासन रूपी सुरतरु की न केवल शीतल छाया का सुखाह्लादोपभोग ही किया है वरन् एक दो प्रसंगों पर तो अपनी किशोर वय में ही अपने शिक्षा गुरु के इंगित पर और स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से भी जिनशासन की सेवार्थ अपने छोटे से जीवन तक को भी दाव पर लगा चुका हूं और अब अपने जीवन की सान्ध्यवेला में इस युग के महान् योगी सन्त आचार्यवर श्री गजेन्द्रमुनि के निर्देश निर्देशन में अगाध

भगवान् महावीर के विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तों के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखते हुए जिनशासन रूपी सुरतरु के नीचे एवं इसके इर्द-गिर्द पनपी खरपतवार को एवं बाह्याडम्बरपूर्ण छाये घने कोहरे को भी जिनशासन सिद्धान्त रूपी भास्कर की प्रखर किरणों के प्रक्षेप से दूर करने का साहसपूर्ण प्रयत्न भी किया है।

सन् १६३२ का एक पावन प्रसंग मेरे स्मृति-पटल पर आज भी प्रत्यक्ष की भांति प्रतिभासित हो उठता है। मेरी मनोभूमि में बोधिबीच का वपन करने वाले मेरे परम उपकारी शिक्षा गुरु स्व. श्री पूनमचन्दजी सा. खींवसरा (एल. पी. जैन संकेतलिपि के आविष्कर्त्ता भी) मुझे उत्तराध्ययन सूत्र का "केसिगोयमिज्जं" अध्ययन पढ़ा रहे थे। उस समय

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महा मुणी।।
अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।।

इन गाथाओं को पढ़कर मेरे अन्तर्मन में जिज्ञासाएं तरंगित हो उठीं। अथाह ज्ञान के सागर केशिकुमार श्रमण द्वारा गौतम स्वामी से पूछे गये

'धम्मे दुविहे मेहावि। कहं विपच्चओ न ते'

इस प्रश्न को पढ़कर तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मैंने अनेक प्रश्न किये अपने अध्यापक गुरुदेव से। मेरे सभी प्रश्नों का समाधानकारी उत्तर मिला और पाठ की समाप्ति के बाद जब मैंने यह पढ़ा कि प्रभु गौतम के हृदयस्पर्शी विवेचन से चिन्तामणि प्रभु पार्श्वनाथ के अन्तिम पट्टधर तीन ज्ञान सम्पन्न केशी श्रमण अपनी सभी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर तत्काल बेझिझक पार्श्व प्रभु के चातुर्याम प्रधान मुक्तिपथ से प्रभु महावीर के पंच महाव्रतपरक धर्मपथ पर आरूढ़ हो गये और प्रभु पार्श्व के चतुर्विध संघ के लाखों अनुयायियों ने पूरी निष्ठापूर्वक केशिश्रमण का पूरे सरल मन से अनुगमन किया, तो मुझे असीम आनन्द एवं परम सन्तोष की अनुभूति हुई। सत्य के प्रति केशिकुमार के तत्काल सर्वात्मना समग्र भावेन इस निश्छल समर्पण भाव की मेरे किशोर मन पर अमिट छाप अंकित हो गई। साथ ही मेरे बाल मन में एक प्रश्न उठा—'क्या आज भी ऐसा हो सकता है ?'

यह क्रान्तिकारी घटना आज से लगभग २५३४ वर्ष पूर्व की है। वह दो महान् परम्पराओं के संगम का, संधि का समय था। परन्तु आज तो, केशि श्रमण के पंच महाव्रतात्मक मुक्ति पथ पर आरूढ़ होने के समय से लेकर अद्यावधि पर्यन्त केवल एक महावीर की ही परम्परा चली आ रही है। उस समय केवल दो धाराओं को देखकर ही पार्श्वनाथ और महावीर के श्रमण आश्चर्य मिश्रित

विचार मन्थन में निमग्न हो गये थे। पर आज तो केवल एक ही धारा है। पर इसमें भी 'धम्मे दुविहे मेहावि' के स्थान पर 'धम्मे सयविहे मेहावि' जैसी स्थिति को देखकर भी प्रत्येक जागरूक जैन चिंतित तो अवश्य है किन्तु केशि गौतम को भांति भ्रान्तियों को मिटाकर सत्य को क्रियान्वित करने का सरल मन से साहसी प्रयास किसी दिशा में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत आज प्रायः यही स्वर कर्ण-गोचर हो रहा है: "हम जो मानते, कहते और करते हैं वही सत्य है"। इसे काल प्रभाव ही कहा जा सकता है और क्या कह सकते हैं?

आज न तो वैसे पूर्वाभिनिवेश-मुक्त शुद्धचेता सरलमना सत्यान्वेषी केशि श्रमण ही कहीं दिखाई दे रहे हैं और न सर्वमान्य सयौक्तिक सत्पथ-प्रकाशक गौतम ही। ऐसी स्थिति में केवल प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं गौतमादि गणधरों द्वारा ग्रथित एकादशांगी ही हमारा निर्णायक मार्गदर्शक बन सकती है।

मानव मन की यह दुर्बलता है कि वह सहसा सरल मन से सत्य का साक्षात्कार करने से कतराता है। शताब्दियों से रूढ़ बन गई मान्यताओं से वह चिपका रहना अधिक सरल समझता है और इसीलिए उनसे लिपटा रहना ही श्रेयस्कर समझता है चाहे वह फिर कुपथ ही क्यों न हो, सत्य से विपरीत ही क्यों न हो, प्रभु महावीर के कथन से परे ही क्यों न हो। पूर्वाभिनिवेश और व्यामोह वशात् उस कुपथ का परित्याग करना साधारण जन के लिए अति दुष्कर होता है।

'न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा' इस उक्ति को चरितार्थ करने वाले लाखों में से कोई एकाध विरला ही महापुरुष मिलता है जो सामान्य जन को साहस के साथ सत्यपथ पर मोड़ने का प्रयास करता है। यही स्थिति इतिहास के पृष्ठों पर हमें पद-पद पर देखने को मिलती है।

इतिहास के इन्हीं पृष्ठों को उजागर करने का और प्रभु महावीर के आगम प्रतिपादित श्रमण और आचार परम्परा पर प्रकाश डालने का साहसपूर्ण प्रयास इस इतिहास माला में 'आगम मर्मज्ञ मूर्धन्य इतिहासवेत्ता सरलमना सन्त आचार्य गजेन्द्र मुनि के मार्गदर्शन में किया गया है। इस सरलमना सन्त के कुशल मार्गदर्शन में इस ग्रन्थमाला का आलेखन और सम्पादन करते समय मेरे अन्तर्मन में यही मूलमन्त्र अनहद नाद की तरह निरन्तर गूंजता रहा है कि श्रमण भगवान् महावीर की वाणी ही अवितथ, त्रिकाल-सत्य, आदरणीय, अनुकरणीय और तन-मन-वचन से आचरणीय है।

एवं कुण्ठा से कोसों दूर रहकर [illegible] भाषा में भावाभिव्यक्ति की गई है । जहां कहीं निर्ग्रन्थाचार अथवा निर्ग्रन्थाचारी जैसे शब्द दृष्टिगोचर होते भी हैं तो वे सब हमारे अपने नहीं हैं अपितु महानिशीथ, गच्छ पट्टक [illegible] तथा टीका, संघ पट्टक की प्रस्तावना, भाव सागर सूरि द्वारा रचित वीरवंश पट्टावली आदि ग्रन्थों एवं सब विरक्त चारित्रिक महामहिम आचार्य हरिभद्र, धर्मघोष सूरि आदि पूर्वाचार्यों द्वारा चैत्यवासियों के लिए प्रयुक्त किये गये उन्हीं के शब्द हैं ।

हमने तो जिस जिस समय जहां जहां मूर्तियों एवं मन्दिरों आदि के निर्माण आदि के उल्लेख प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री में उपलब्ध हुए हैं उनका खुले मन से यथास्थान एक बार नहीं अपितु सैकड़ों बार उल्लेख किया है । यह उस काल का सत्य था जिसे उजागर करने में हमने कहीं भी अनुदारता नहीं दिखाई है ।

पर साथ ही इन मन्दिरों एवं मूर्तियों आदि का स्थान स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख करते समय मन में एक प्रश्न उठा कि एक साधारण छद्मस्थ द्वारा इनका इस प्रकार खुलकर उल्लेख किया जा सकता है तो आज से २५०० वर्ष पूर्व प्रभु की विचरण भूमियों एवं विहार नगरियों में यदि वस्तुतः मन्दिरों एवं जैन प्रतिमाओं की विद्यमानता होती तो उन सभी का उल्लेख निश्चित रूप से सैकड़ों बार नहीं अपितु हजारों बार गणधर अपनी एकादशांगी में अवश्यमेव करते । किन्तु सत्य तो वस्तुतः कुछ और ही प्रकट होता है । एकादशांगी के किसी भी अंग में प्रभु की विचरण भूमि के किसी एक भी नगर में जिन मन्दिरों एवं जिन प्रतिमाओं का और उनमें प्रभु के शिष्यों एवं उपासकों में से किसी एक के भी वन्दनार्थ अथवा पूजार्थ जाने का कहीं किंचितमात्र भी उल्लेख नहीं है ।

यहाँ मैं स्पष्ट रूप से निवेदन कर देना चाहता हूं कि प्रस्तुत इतिहास माला के आलेखन के समय प्रारम्भ से ही 'इतिहास' शब्द की गौरवपूर्ण गरिमा को पूर्णरूपेण अक्षुण्ण बनाये रखने की दिशा में पूर्ण सावधानी बरती गई है । इतिहास वस्तुतः एक ऐसा दिव्य दर्पण है, जिसमें धर्म, समाज, राष्ट्र, संस्कृति, जाति, समष्टि आदि के अतीत के वास्तविक स्वरूप को, इन सबके अभ्युदय, उत्थान, पतन, पुनरुत्थान आदि की प्रक्रियाओं, कारणों आदि को प्रत्यक्ष की भांति देखा समझा जा सकता है और भूतकाल की भूलों को भली-भांति देख, सोच एवं समझ कर भविष्य में कभी उस प्रकार की भूलों की पुनरावृत्ति न हो, इस प्रकार का सुदृढ़–सुस्थिर मनोबल बनाया जा सकता है । प्रस्तुत ग्रंथ माला में इतिहास के ये मूल गुण, ये मूल लक्षण मुखरित हो उठें, इस बात का यथाशक्य पूर्ण प्रयास किया गया है ।

इतिहास के इसी मूल गुण अथवा लक्षण को दृष्टिपथ में रखकर भारत के विभिन्न प्रदेशों में, भिन्न-भिन्न काल में घटित हुए घटना-चक्र को क्रमबद्ध अथवा सुव्यवस्थित बना, टूटी हुई–बिखरी हुई इतिहास की कड़ियों को बिना मोड़े ही जोड़

कर आगमों, आगमेतर ग्रन्थों, इतिहास-ग्रन्थों, ताम्रपत्रों, गुहा-लेखों, शिलालेखों, स्तम्भलेखों, आयागपट्ट-मूर्तियों आदि पर उट्टंकित अभिलेखों, ताम्रपत्रों आदि के आधार पर ही प्रस्तुत ग्रन्थ में इतिवृत्त का आलेखन किया गया है। जिन अभिलेख आदि का इस ग्रन्थ के लेखन में उपयोग किया गया है, उसमें भी इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उस ग्रन्थ अथवा अभिलेख आदि के रचनाकार ने जिस रूप में घटना का चित्रण किया है, उसके उस रूप-स्वरूप अथवा भावों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होने पावे।

यहाँ मैं अतीव स्पष्ट एवं विनम्र शब्दों में सभी परम्पराओं के सहृदय पाठकों तथा इतिहास प्रेमियों से यह निवेदन कर देना चाहता हूं कि प्रस्तुत "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थमाला के मूलतो भवं मौलिकम् इस अर्थ के अनुरूप आगमों में प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप को ही प्रमुख आधार मान कर जैन धर्म का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यही है कि आगमेतर धर्मग्रन्थों में एतद्विषयक एकरूपता के दर्शन दुर्लभ हैं।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि श्रमण भ. महावीर के धर्मसंघ का स्वरूप तीर्थप्रवर्तन काल से लेकर श्वेताम्बर-दिगम्बर यापनीय विभेद की दृष्टि से वीर नि. स. ६०९ तक और चैत्यों में नियत निवास करने वाली चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व की दृष्टि से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक सुनिश्चित रूपेण इस प्रकार का नहीं था जिस प्रकार का कि वर्तमान काल में दृष्टिगोचर हो रहा है। उस समय भ. महावीर का चतुर्विध धर्मसंघ एकरूपता लिये ऐक्यता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध था और आज वह विभिन्न इकाइयों में विभक्त है। आज इसमें अनैक्यता और वेष-वैभिन्य की दृष्टि से अनेकरूपता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। पृथक्शः अथवा समुच्चय रूप से किसी को पूछ लिया जाय, सभी स्वसम्मत धर्मस्वरूप, वेष, आचार-विचार, विधि-विधान आदि को ही तीर्थ-प्रवर्तन काल से प्रचलित एवं परम्परागत बतायेंगे।

श्वेताम्बर-दिगम्बर-यापनीय के रूप में विभेद के अनन्तर और मुख्यतः देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल के पश्चात से तो यही दुर्भाग्यपूर्ण दयनीय स्थिति चली आ रही है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर के विश्वकल्याणकारी धर्मसंघ की इस प्रकार की विशृंखलित स्थिति अनेक पूर्वाचार्यों महामनीषी महासन्तों के मन में खटकती रही।

तित्थयर समो सूरि, सम्मं जो जिरणमयं पयासेई।
आणं अइक्कमंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥
स एव भवसत्ताणं, चक्खुभूए वियाहिए।
दंसेई जो जिरणु दिट्ठं, अणुट्ठाणं जहाहियं ॥[1]

[1] गच्छाचारं पइण्णय, अधि. १

इन गाथाओं के निर्देशानुसार श्रमण भ. महावीर के धर्म-संघ के तीर्थंकर तुल्य एवं नेत्र समान महान् आचार्यों ने अपने गरिमापूर्ण आचार्य पद के कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए जिन प्रणीत-आगमानुसारी धर्म के स्वरूप को समय-समय पर चतुर्विध तीर्थ के समक्ष जन-जन के समक्ष निम्नलिखित रूप में रखा :-

वि. सं. ७५७-८२७ आ. हरिभद्र याकिनीमहत्तरासूनु :—

(१) भवती उ गमागम जंतु, फरिसणाइ पमद्दणं जत्थ ।
स-पर हिओवरयाणं, न मणं पि पवत्तए तत्थ ।।४७।।
ता स-पर हिओवरसहिं, सव्वट्ठाण एसियव्वं विसेसं ।
जं परम सारभूयं विसेसवंतं च अणुट्ठेयं ।।४८।।

मेरुतुंगे मणि मंडिएक्क कंचणमए परम रम्मे ।
नयण मणाणंदकरे, पभूय विन्नाण साइसये ।।५०।।
कंचण मणि सोमाणे, थंभ सहस्सूसिए सुवण्णतले ।
जो कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि तव संजमो अणंत गुणोत्ति ।।५६।।

(२) जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं,.......अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जई । एएण कारणेणं तित्थयत्ताए पडिसेहिज्जइ ।

........एए ते गोयमा ! एगूणं पंचसए साहूणं, जेहिं च णं तारिस गुणोववेयस्स णं महाणुभागस्स गुरुणो आण अइक्कमिय णो आराहियं, अणंत संसारिए जाए ।

(३) .... जहा भो भो पियंवए ! जइ वि जिणालए तहावि सावज्ज-मिणं णाहं वाया मित्तेणं पि एयं आयरिज्जा ।

एवं च समय सारपरं तत्तं जहट्ठियं अविवरीयं णीसंकं भणमा-णेणं तेसिं मिच्छादिट्ठिलिंगीणं साहुवेस धारीणं मज्झे गोयमा ! आसकलियं तित्थयरणामकम्मगोयं तेणं कुवलयप्पभेणं एग भवाव सेसीकओ भवोयही । तत्थ य घिट्ठो अणुलविज्ज नाम संघ मेलावगो अहेसि (धृष्ट लवारों, लबाड़ियों अथवा कबारियों का समूह (संघ) था)........ कयं च से सावज्जायरियभिहाणं सद्दकरणं गयं च पसिद्धिए ।[1]

---

[1] "महानिसीह सुत्तं"—*STUDIEN ZUM MAHANISIHA*
Jozef Deleu and Walther Schubring. Hamburg Cram. De Gruyter and Co. 1963

(४) ....आगया इमा गाहा—

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।
अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुण मुक्कं ।।

तओ गोयमा ! अप्पसंकिएणं चेव चिंतियं तेण सावज्जायरियेणं जइ एयं जहट्ठियं पन्नमे तओ जं मम वंदणगं दाउमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमंगेण चलणंगे पुट्ठे तं सव्वेहिं पि दिट्ठमेएहिं त्ति । ता जहा मम सावज्जायरियाभिहाणं कयं तहा अन्नमवि किं चि एत्थु मुद्दंकं काहिंति ।........

........तओ पुणो वि सुइरं परितप्पिऊणं गोयमा ! अन्नं परिहारगमलभमाणेणं अंगीकाऊण दीह संसारं भणियं च सावज्जायरिएणं जहा णं उस्सग्गाववाएहिं आगमो ठिओ तुज्झे ण याणह—

एगंतं मिच्छत्तं जिणाणमाणा अणेगंता ।

एयं च वयणं गोयमा ! गिण्हाय वसति वियहि सिहिकुलेहिं व........ सबहुमाणं इच्छियं तेहिं तेहिं दुट्ठ सोयारेहिं । तओ एगवयण दोसेणं गोयमा ! निबंधिऊणाणंत संसारियत्तणं अपडिक्कमिऊणं च तस्स पाव संमुदाय महाखंध मेलावगस्स मरिऊणं उववन्नो वाणमंतरेसु सो सावज्जायरिओ........ ।[1]

वि० सं० १०८८–११३५—अभयदेवसूरि नवांगीवृत्तिकार :—

(५) देवड्ढिखमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वओ परंपरा बहुहा ।।[2]

जिनदत्तसूरि (वि. सं. ११६९ सूरिपद):—

(६) गड्डरिपवाहओ जो, पइनयरं दीसए बहुजणेहिं ।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
सो होइ दव्वधम्मो, अप्पहाणो नेव निव्वुइं जणइ ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ।।७।।[3]

लोंकाशाह से लगभग साढे पाँच सौ वर्ष पूर्व दिगम्बर आचार्य रामसेण, (वि० सं० ९५३) ने जिन प्रतिमा की पूजा-अर्चा को सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व बताया :—

---

[1] Studien Zum Mahanisiha Hamburg Cram. 1963

[2] आगम अष्टोत्तरी

[3] सन्देह दोहावलि

(७) सम्मत्त-पयडि मिच्छत्तं, कहियं जं जिरिंगद-बिंबेसु ।
.... ॥४१॥[१]

अर्थात् माथुर संघ (दिगम्बर परम्परा के संघ) की स्थापना करने वाले आचार्य रामसेण ने किसी भी जिन प्रतिमा में जिनेश्वर भ० की कल्पना करने और इस प्रकार की कल्पना के साथ प्रतिमा की वन्दना-अर्चा-पूजा करने आदि क्रिया-कलापों को सम्यक्त्व-प्रकृति मिथ्यात्व की संज्ञा दी ।

(८) पूर्णिमा पक्षीय श्री अकलंकदेवसूरि, वि० सं० १२४०–४४ ने जिन-पति सूरि से दूसरा प्रश्न किया–"भवत्विदमेव, परं संघेन सह यात्रा क्वापि सिद्धान्ते साधूनां विधेयतया भणितास्ति, यदेवं यूयं प्रस्थिता: ?……आचार्य ! अति धृष्टा यूयं यद्यापि (यात्रायां संघेन सह प्रचलितापि) सिद्धान्तबलमालम्बत ।…… किं युष्माभिरेवैकै: सिद्धान्ता दृष्टा न द्वितीयै: ?"[२]

(९) महान् धर्मोद्धारक लोकाशाह से लगभग २०९ वर्ष पूर्व जिन प्रति-माओं की द्रव्य पूजा में कतिपय ऐसे सुधार किए गए, जिन्हें उस समय के देशव्यापी वातावरण को देखते हुये क्रान्तिकारी सुधार की संज्ञा दी जा सकती है । उन क्रांति-कारी सुधारों की घोषणा अनेक आचार्यों के हस्ताक्षरों से अंकित, अनेक आचार्यों से अनुमोदित एवं तत्कालीन अनेक गण्यमान्य श्रावक प्रमुखों तथा श्रेष्ठिमुख्यों द्वारा साक्षीकृत एक संघादेश से की गई । वह क्रान्तिकारी ऐतिहासिक संघादेश इस प्रकार है :—

संघादेश

सं० १२९९ वर्षे १३ त्रयोदश्यां । अद्येह श्रीमन्नणहिल्लपाटके समस्त राजा वलि विराजिता । महाराजाधिराज श्री त्रिभुवनपाल देव विजय राज्ये तन्नियुक्त महामात्य दण्ड श्री ताते श्री श्री करणादि समुद्राव्यापारान् परिपंथयति सत्येवं काले प्रवर्तमाने श्री संघादेशपत्रमभिलिख्यते । यथा श्री अणहिल्ल पाटके प्रतिष्ठित समस्त श्री आचार्य, समस्त श्री श्रावक, प्रभृति समस्त श्री श्रमणसंघश्चित्रावाल गच्छीय देवभद्रगणि शिष्य आचार्य गजचन्द्र सूरि, श्री देवेन्द्र सूरि, श्री विजय चन्द्र सूरि प्रभृति आचार्यान् पद्मचन्द्रगणि प्रभृति तपोधनान्, श्री पं० कुलचन्द्रगणि, अजितप्रभ गणि प्रभृति परिवार समस्थितान् सप्रसादं समादिशति–यथा यति-प्रतिष्ठा कर्त्तव्या च, श्रावक प्रतिष्ठा च न प्रमाणीकार्या ।१। तथा श्री देवस्य पुरतो वलि नैवेद्य रात्रिकादीनि निषेध्यानि ।२। तथा समस्त वैयावृत्यकरणां ।। सम्यग् दृष्टि समस्त,

---

[१] दर्शन सार (आचार्य देवसेन)

[२] खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई, वि० सं० २०१३

अम्बिकादि मूर्ति प्रभृतिनां गृह चैत्येषु च संतिष्ठमानानां पूजानिषेधो मा कार्यः ।३। श्री संघ प्रतिष्ठित, श्री आचार्यैस्तपोधनैश्च समं यथा पर्यायं वंदनक व्यवहारः करणीयः ।४। स्व प्रतिबोधित श्रावकाणां, समस्तगच्छीयाचार्यतपोधनानां, पूजा-वंदनकादि निषेधो न कार्यः ।५। राकापक्षीय, आञ्चलिकस्त्रिस्तुतिकादिभिश्च सह वन्दनक-व्यवहारः श्रुताध्ययनाध्यापनादि व्यवहारश्च न करणीयः ।६।..........।७। ....।८।..........।९।..........।१०।..........।११।.......... किं बहुना '१२' श्रीमन्नणहिल्ल पाटके प्रतिष्ठित श्री श्रमण संघस्य आज्ञां मन्यमानैः सर्वैरपि आचार्यैः तपोधनैश्च बहिरपि व्यवहारणीयं ।१२। एवं श्री संघादेशं कुर्वाणा आचार्यतपोधनाश्च श्री संघस्याभिमता एव । एनं च संघादेशं कुर्वाणान् अंगीकृत्य, अकुर्वाणानां आज्ञा-तिक्रमदोषवतां-अमीषां श्रावकाश्च संघबाह्या कर्त्तव्या । यदि पुनः.......................................।[1]

वर्द्धमान सूरि प्रथमतः चैत्यवासी परम्परा में दीक्षित हुए थे । उन्होंने जब निर्ग्रन्थ-प्रवचन का अवलोकन-चिन्तन-मनन किया तो उनके अन्तस्तल में जैनधर्म के शास्त्र सम्मत सच्चे स्वरूप की एक झलक प्रकट हुई । उनके चैत्यवासी गुरु ने उन्हें उपाध्याय पद पर अधिष्ठित कर चैत्यवासी परम्परा में ही बने रहने का प्रलो-भन दिया । उनके समय में भी चूर्णियां नियुक्तियां भाष्य वृत्तियाँ आदि विद्यमान थीं वे सब उन्हें सत्पथ की ओर बढ़ने से नहीं रोक सके और उन्होंने अरण्यचारी-वनवासी परम्परा के आचार्य उद्योतन सूरि के पास उपसम्पदा-शास्त्र सम्मत विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर उनसे गणिपिटक का निर्ग्रंथ प्रवचन का तलस्पर्शी अध्ययन किया । वर्द्धमान सूरि की विद्यमानता में उनके शिष्य जिनेश्वर सूरी का जब गुर्जरेश वल्लभराज की अणहिल्लपुर पट्टन की राजसभा में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ और प्रमाण के रूप में चैत्यवासी आचार्यों द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन के स्थान पर अन्य शास्त्र प्रस्तुत किये जाने लगे तो जिनेश्वर सूरि ने स्पष्ट शब्दों में दुर्लभराज से कहा–"महाराज ! अस्माकं मतेऽपि यद् गणधरैश्चतुर्दश पूर्व-धरैश्च यो दर्शितो मार्गः स एव प्रमाणीकर्तुं युज्यते, नान्यः।" ततो राज्ञोक्तः— "युक्तमेव ।"

वर्द्धमान सूरि-जिनेश्वर सूरि के समय में पंचांगी विद्यमान थी न ? उन्होंने तो चतुर्दश पूर्वधरैश्च के आगे पंचाङ्गिभिश्च शब्द नहीं जोड़ा ? सत्य अन्ततोगत्वा सत्य ही है । क्या इस सत्य तथ्य को 'हुँ' कहकर टाला जा सकता है ? क्या महा-निशीथ में हरिभद्र सूरि महत्तरा सूनु द्वारा प्रकाश में लाये गये उपरिवर्णित १ से ३

---

[1] "गच्छाचार विधि"–बड़ोदा यूनिवर्सिटी की प्रति की फोटोकापी नं० १७४२८, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर की फोटोकापी नं० ३०६ आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० द्वारा गुजरात-सौराष्ट्र-कच्छ के विहार काल में प्राप्त ।

की संख्या से अंकित तीन शाश्वत सत्यों को लुंपक पंथी, स्थानक पंथी जैसे किसी भी सुसभ्य के लिये अशोभनीय शब्दों के उच्चारण मात्र से वितथ किया जा सकता है ?

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल में जैनधर्म के स्वरूप की छवि का अभयदेव सूरि ने "सिढ़िलायारे ठविया, दव्वओ परम्परा बहुहा", जिनदत्त सूरि ने गड्डरि पवाहओ जो ....", श्री वीरवंश पट्टावली के रचनाकार श्री भावसागर सरि ने —

दुस्सह दूसमवसओ, साह-पसाहाहिं कुलगणाईहिं ।
विज्जा किरियाभट्ठा, सासणमिह सुत्तरहियं च ।।१६।।

इन गाथाओं के माध्यम से जो चित्रण किया है, उसी छवि को दक्षिण भारत के वे सैकड़ों शिलालेख ताम्रपत्र आदि और भी स्पष्ट रूप से उभार कर समाज के समक्ष विज्ञ चिन्तकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें राजाओं, महाराजाओं, सामन्तों, सेनापतियों, श्रेष्ठियों आदि सभी वर्गों के गृहस्थ पुरुषों एवं महिलाओं द्वारा यापनीय श्रमण संघ, निर्ग्रंथ-श्वेताम्बर-दिगम्बर-कूर्चक श्रमणसंघों के आचार्यों को मुनियों के भोजन हेतु एवं मन्दिरों, मठों, वसदियों आदि की व्यवस्था हेतु दिये गये और उन आचार्यों द्वारा ग्रहण किये गये ग्रामदान, भूमिदान, भवनदान, द्रव्यदान, करांशदान आदि का सुस्पष्ट रूप से उल्लेख है ।

क्या श्रमण भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन काल में जैनधर्म का, पंच महाव्रतधारी श्रमण-श्रमणी वर्ग के श्रमणाचार का इस प्रकार का स्वरूप प्ररूपित-प्रदर्शित किया गया था ? प्रत्येक सच्चे जैन का एक ही उत्तर होगा—"नहीं, नहीं कदापि नहीं ।"

महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने भी इन सब विकृतियों पर विचार कर, जैनधर्म की इस प्रकार धूमिल की गई छवि पर गहरा दुःख प्रकट करते हुये कहा था—"संसार के प्राणिमात्र के सच्चे त्राता विश्वबन्धु करुणासिन्धु श्रमण भगवान् महावीर ने निखिल जगत् के प्राणियों के हित की साधना के लिये विश्वधर्म-जैनधर्म का जो स्वरूप, श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूपी चतुर्विध तीर्थ के आचार-विचार व्यवहार का जो स्वरूप बताया था वह इस प्रकार का कदापि नहीं था, जिस प्रकार का कि आज चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहा है । विश्वबन्धु वीर जिनेश्वर ने तो प्राणि-मात्र के प्राणों की रक्षा-दया को ही धर्म का प्राण बताते हुए आचारांग सूत्र के प्रथम-श्रुत स्कन्ध के दूसरे उद्देशक में स्पष्टत: फरमाया था—

"संति पाणा पुढोसिया लज्जमाणा पुढोपास अणगारामोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा जमिणं

विरूव रूवेहि सत्थेहि पुढविकम्म समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेग-रूवे पाणे विहिंसइ।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ मरण मोयणाए, दुक्खपड़िघायहेउँ से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ.......... संमारंभावेइ..........समारंभंते समणुजाणइ । तं से अहियाए तं से अबोहिए.................. ।"

अर्थात् साररूपतः कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को बनाये रखने के लिए, अपने मान-सम्मान-पूजा आदि के लिये अथवा जन्म-मरण से मुक्ति पाने अर्थात् मोक्ष प्राप्ति तक के लिये दुःखों से छुटकारा पाने के लिये इन षड्जीव निकाय का आरम्भ-समारम्भ करता है, करवाता है और करने वाले को भला समझता है तो वह उसके लिए घोर अहितकर, घोर अनर्थकारी है, वह उसे अबोधि अर्थात् घोर मिथ्यात्व के घनान्धतम अन्धकार में डालने के लिए है।

जिस सत्य बात को, जिस शास्त्र सम्मत शाश्वत सत्य को प्रकट करने के परिणाम-स्वरूप महानिशीथ के उल्लेखानुसार महान् चारित्र निष्ठ श्रमणश्रेष्ठ आचार्य कुवलय प्रभ को स्वार्थपरक धर्मान्ध लबार लोगों और वेषधारियों ने 'सावद्याचार्य' की अशोभनीय उपाधि से और दिगम्बराचार्य रामसेण को जैनाभास की उपाधि से अलंकृत किया, उसी आगम सम्मत शाश्वत सत्य को धर्मोद्धारक लोंका-शाह ने भी प्रकट किया है:—

हैं जिसकी जात से रोशन, ये सूरज चाँद और तारे।
महा अन्धेर है उसको, अगर दीपक दिखाऊं मैं ॥

लोंकाशाह ने कहा था–भगवती सूत्र में गणधरों द्वारा प्रभु से पूछे गये ३६,००० प्रश्न और प्रभु महावीर द्वारा दिए गए उन प्रश्नों के उत्तर दृब्ध हैं, उनमें से एक भी तो प्रश्नोत्तर ऐसा नहीं जो मूर्ति निर्माण, मन्दिर निर्माण एवं मूर्तिपूजा से होने वाले फल पर प्रकाश डालता हो।

लोंकाशाह ने सत्य का शंखनाद फूंकते हुए कहा था–"ये निर्युक्तियाँ चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतियां नहीं हैं। शास्त्रों का, चूर्णियों, भाष्यों, टीकाओं (वृत्तियों) का आलोडन-मंथन कर अनेक बोलों के रूप में सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र का नवनीत निकाल निर्युक्तियों चूर्णियों आदि चतुरंगी के अशास्त्रीय उल्लेखों का अम्बार जैन जगत् के समक्ष रखते हुए अति विनम्र सुसभ्योचित भाषा में यही कहा कि क्या ये मूलआगमों के प्रतिकूल चतुरंगी की बातें किसी सत्यान्वेशी सच्चे जैन के लिये मान्य हो सकती हैं। जो चतुर हैं वे विचार करें।"

लोंकाशाह के एक-एक शब्द में कैसी अगाध अनुकरणीय विनम्रता ओत-प्रोत है, इसका अनुमान पाठकों को "लोंकाशाह के ३४ बोल" नामक लघु पुस्तिका के अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखे गये निम्नलिखित वाक्यों से सहज ही हो सकता है—

"तथा बीजा बोल केतला एक विघटंता छइ, ते भणी निर्युक्ति चउद पूर्वधरनी भाषी किम सद्दहीइ ? ते भणी डाहइ मनुष्यइ सिद्धान्त ऊपरि रुचि करवी, जिम इह लोकइं पर लोकइं सुख उपजइ सही।"

सत्य के प्रस्तुतीकरण के साथ मन भावन मृदु मनोहर मनुहार के अतिरिक्त कहीं लेश-मात्र भी आक्रोश, अशिष्ट वचन अथवा कटुता का नामोनिशां तक नहीं।

इस सत्य तथ्य के उद्घाटन पर जहाँ एक ओर सत्यान्वेशियों ने लोंकाशाह की सराहना की तो दूसरी ओर ज्ञानलवदुर्विदग्धात्माओं ने, पूर्वाभिनिवेशाभिभूत लोगों ने लोंकाशाह को जी भर गालियां भी दीं। पर समशत्रुमित्र स्थितप्रज्ञ लोंकाशाह न तो सराहना से तुष्ट ही हुए और न असहिष्णु आलोचकों की गालियों से रुष्ट ही। वे तो शताब्दियों से मन्द बन गई नहीं अपितु मन्द बना दी गई जिन धर्म की ज्योति को जीवन भर उद्दीप्त करने में प्रदीप्त करने में प्राणपण से संलग्न रहे। लोंकाशाह द्वारा उद्दीप्त-प्रदीप्त की गई सद्धर्म की दिव्य ज्योति-ज्योतिष्मती मशाल आर्यधरा के इस कोण से उस कोण तक आज सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रकाश फैलाती हुई "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की सूक्ति को चरितार्थ कर रही है। उलूक के न चाहने पर भी रोहणगिरि पर आरूढ़ अरुण वरुण का उदय अनादि काल से आज तक कभी नहीं रुका, उसी प्रकार घोर विरोध की तूफानी सघन-घन-घटाओं के घटाटोप के उपरान्त भी आडम्बरों के अम्बारों से आच्छादित सच्चे आगमानुसारी जैनधर्म का आध्यात्मिक स्वरूप क्रमशः हरिभद्र सूरि आदि उपरि नामोल्लिखित पूर्वाचार्यों के क्रमिक तथ्योद्घाटनों और अन्ततोगत्वा लोंकाशाह के सद्प्रयत्नों से अपनी अलौकिक आभा लिये प्रकाश में आकर ही रहा।

लगभग पांच सौ बत्तीस वर्ष पूर्व लोंकाशाह ने प्रमाण पुरस्सर कहा था—"ये निर्युक्तियां वस्तुतः चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की रचनाएं कदापि नहीं हो सकतीं।" उनके इस कथन का उस समय लोंकाशाह के विरोधियों द्वारा कटुतर भाषा में विरोध किया गया। विरोध और अनुमोदन—दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाएं लगभग साढ़े चार शताब्दियों तक चलती रहीं।

किन्तु ई. सन् १९३१ में जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने भी सप्रमाण स्पष्ट शब्दों में कहा :—

The author of the Niryukties Bhadrabahu is identified by the Jains with the patriarch of that name who died 170 A. V. There can be no

doubt that they are mistaken. For the account of seven schisms (Ninhaga) in the Avashyaka Niryukti VIII 56-100 must have been written 584 and 609 of the Vira Era. There are the dates of the 7th and 8th schisms of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is there fore, certain that the Niryukti was composed before the 8th schism 609 A. V.[1]

एक निष्पक्ष विदेशी विद्वान् के इस तथ्योद्‌घाटन ने जैन इतिहास के विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया। विभिन्न ग्रन्थों के एतद्विषयक उल्लेखों के विश्लेषणात्मक पर्यालोचन से अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आये और श्वेताम्बर परम्परा के प्राय: सभी मनीषी विद्वानों ने यह अभिमत प्रकट किया कि निर्युक्तियों के रचनाकार श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं अपितु ईसा की छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व हुए निमित्तज्ञ भद्रबाहु हैं। तो इस प्रकार वि. सं. १५०८ में लोंकाशाह ने निर्युक्तियों के रचनाकार के सम्बन्ध में गहन अन्वेषण के पश्चात् जो तथ्य प्रकट किया था, उसे आज प्राय: सभी विद्वान् मानने लग गये हैं।

लोंकाशाह ने इसी आगमवचन को प्रकाश में लाते हुए कहा था – अक्षय-अव्याबाध-अनन्त-शाश्वत-सुखनिधान मोक्ष-धाम में विराजमान निरञ्जन-निराकार, सच्चिदानन्द घन स्वरूप सिद्ध भगवन्त-जिनेश्वर प्रभु इस जन्म-जरा-मृत्यु आदि अनन्त दु:खों से ओत-प्रोत संसार में कभी लौट कर नहीं आयेंगे। चाहे कोई एक दिन, एक मास, एक वर्ष, एक शताब्दी-सहस्राब्दि-लक्षाब्दि तक तो क्या अनन्तानन्त लक्षाब्दियों तक भी उनका आह्वान क्यों न करता रहे, वे पुन: इस संसार में नहीं आयेंगे-नहीं आयेंगे—कदापि नहीं पधारेंगे। क्या है कोई एक भी ऐसा जिनवाणी में अटूट आस्था रखने वाला व्यक्ति अथवा विद्वान् जो इस शाश्वत सत्य को विनष्ट-निरस्त करने की चेष्टा करना चाहेगा ? तो फिर रत्न-स्वर्ण-रजत-कांस्य-पीतल-प्रस्तर आदि से निर्मित मूर्तियों में मन्त्रों द्वारा सिद्धशिला पर विराजमान जिनेश्वर प्रभु का आह्वान कैसा ? प्राण-प्रतिष्ठा कैसी ? क्या एकादशांगी में-निर्ग्रन्थ प्रवचन में-गणिपिटक में एक भी ऐसा मन्त्र है जिसे श्रमण भ. महावीर ने सिद्धक्षेत्र में विराज-मान जिनेश्वरों के मूर्ति में आह्वान के लिये, मूर्ति में उन जन्म-जरा-मृत्युञ्जयी अजन्मा जिनेश्वरों की प्राण प्रतिष्ठा के लिये प्ररूपित किया हो अथवा गणधरों ने दृब्ध किया हो ? क्योंकि एकादशांगी में एक भी ऐसा मन्त्र विद्यमान नहीं है, इसलिये आपको, हमें और सभी को यही कहना पड़ेगा कि—"नहीं।"

प्रकाश तो सूर्य से ही होगा, सूर्य की मूर्ति से कदापि नहीं। मूर्ति सूर्य की है, पर अन्धकार पूर्ण गृह में रखी हुई है। उस दशा में उस सूर्य की मूर्ति के द्वारा दूसरों को प्रकाश दिये जाने की बात तो दूर उसके लिये स्वयं को प्रकाशित करना भी

---

1 Parishishta Parva, Introductory, page 6.

संभव नहीं हो सकेगा। उसको देखने के लिये सूर्य के प्रकाश की अथवा दीपक आदि किसी अन्य प्रकाश की अनिवार्यरूपेण आवश्यकता होगी। उस अंधकारपूर्ण गृह की छत के छिद्र से यदि सूर्य की एक भी किरण सूर्यमूर्ति के पार्श्व में रखे दर्पण पर पड़ेगी तो अंधेरे घर में उजाला होगा और सूर्य की वह मानवनिर्मित मूर्ति तत्काल दृष्टिगोचर हो जायगी। ठीक उसी प्रकार लोकाग्र पर अवस्थित सिद्धशिला पर अनन्त-अक्षय अव्याबाध सुख में विराजमान निरञ्जन-निराकार-अजन्मा-अविकार अमूर्त जिनेश्वर भगवान् घट के पट खोलकर उनसे लौ लगाने वाले साधक के विशुद्ध निर्मल अन्तःकरण में भक्त कवि के निम्नलिखित शब्दों में सहसा अलौकिक दिव्य आलोक के रूप में उद्भासित हो जायेंगे :--

मुक्तिगतोऽपीश ! विशुद्ध चित्ते,
गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात्।
भानुर्दवीयानपि दर्पणेंऽशु,
संगान्न किं द्योतयते गृहान्तः ।।

लोंकाशाह से उत्तरवर्ती काल के इतिहास विदों, मनीषी विद्वानों, निष्पक्ष चिंतकों में गहनशोध के अनन्तर इस सम्बन्ध में अपने जो मननीय अभिमत व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

लब्धप्रतिष्ठ पुरातत्वविद् विद्वान् श्री रमेश चन्द्र शर्मा, निदेशक, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, जो लखनऊ के विख्यात राजकीय संग्रहालय में भी महत्वपूर्ण पद पर रह चुके हैं, उन्होंने मथुरा के राजकीय संग्रहालय में उपलब्ध जैन इतिहास से सम्बन्धित पुरातत्व सामग्री के गहन अध्ययन के अनन्तर लगभग १२ पृष्ठ का एक शोधपूर्ण लेख तैयार कर उसे अनेक शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाया।[1] श्री शर्मा के उस लेख के कतिपय महत्वपूर्ण अंश इतिहास में अभिरुचि रखने वाले पाठकों के लिये यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

(१) "आयागपट्ट—किन्तु जैन मूर्तिकला का जो क्रमिक और व्यवस्थित रूप हमें मथुरा में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। आरम्भ आयागपट्टों से होता है, जिसे जर्मन विद्वान् बूलर पूजा-शिला मानते हैं। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि "आयागपट्ट" शब्द "आर्यक" से निकला है, जिसका अभिप्राय-पूजनीय है। किसी संवत् के न मिलने से इनका ठीक समय बता सकना तो संभव नहीं है, किन्तु शैली के आधार पर विद्वानों ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। बी. सी. भट्टाचार्य इन्हें कुषाण युग से पहले का मानते हैं। डा. लाहुजर्न ५० ई. पूर्व से ५० ई. के बीच निर्धारित करती हैं। डा. अग्रवाल के अनुसार प्रथम शती ई. इनका उचित काल

---

[1] इस लेख की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि हमारे शोधार्थी विद्वान् ने तैयार की जो आ. श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर में (हरी जिल्द के रजिस्टर में) विद्यमान है।

है। निश्चय ही ये पूजा-शिलाएं उस संक्रमण काल की हैं, जब कि उपासना का माध्यम प्रतीक थे और देवताओं तथा महापुरुषों को मानव रूप में अंकित करने का अभियान भी चल पड़ा था।[1] इनमें बहुत से शोभा चिन्ह उत्कीर्ण हैं और उपास्य देवता या महापुरुष का संकेत भी स्तूप, धर्म, स्वस्तिक आदि प्रतीकों से ही हुआ है। कहीं-कहीं लेख में उपास्य का नाम भी मिल जाता है। साथ ही कुछ आयागपट्ट ऐसे हैं, जिनके बीच में प्रतीक के स्थान पर उपास्य की छोटी सी मानवाकृति आ गई है और उसके चारों ओर बड़े-बड़े प्रतीक हैं।

यह निर्विवाद है कि कुषाण काल में महापुरुषों और देवताओं की स्वतन्त्र मानवाकृतियां बन गई थीं। इसके पहले प्रतीकोपासना ही प्रचलित थी (जैसा कि मथुरा के पूर्ववर्ती दूसरी और पहली शती ई. की भरहुत और सांची कला शैलियों से स्पष्ट है।) अत: प्रतीक और मूर्ति उपासना की संक्रमण स्थिति प्रथम शती ई. पूर्व के मध्य से प्रथम शताब्दी ई. के बीच मान लेना न्यायसंगत है और मथुरा के जैन आयागपट्ट इसी अवधि के और कुषाण युग से पहले (के) ही हैं। प्रतीकोपासना के कट्टरपंथी काल में ब्राह्मणधर्म में मूर्तियों की लोकप्रियता से प्रभावित हो कलाकार ने बहुत छोटे रूप में कुछ आयागपट्टों में अन्य प्रतीकों के बीच तीर्थंकरों को भी आसीन कर दिया और सामाजिक प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करने लगा। जब उसे शनै: शनै: समर्थन प्राप्त हुआ तभी जिन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। यह समय कनिष्क के राज्यारोहण के आस-पास था और उसके समय मिले राज्याश्रय के फलस्वरूप माथुरी शिल्प का रूप सर्वत्र दमक उठा। आयाग-पट्टों में जो शुभ चिन्ह प्राप्त होते हैं, वे अधिकांशत: ये हैं :—स्वस्तिक, दर्पण, पात्र या शरावसंपुट–दो सकोरे, भद्रासन, मत्स्ययुगल, मंगल कलश और पुस्तक। इन्हें अष्टमंगल चिन्ह कहते हैं। इनकी संख्या कम या अधिक भी रहती है और चिन्हों में अन्तर भी मिलता है—जैसे —श्रीवत्स, चैत्य का बोधिवृक्ष, त्रिरत्न भी प्राय: चिन्हित पाये जाते हैं।

जिन-प्रतिमाओं की सामान्य विशेषताएँ—स्वतन्त्र जिन —मूर्तियाँ ध्यानभाव में पद्मासनासीन अथवा दण्ड की तरह खड़ी—जिसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं, इन दो रूपों में मिली है।..............प्राचीन जिन–आकृतियाँ दिगम्बर अर्थात् नग्न हैं।

तीर्थंकर :—....................मथुरा संग्रहालय की निश्चित संवत् से अंकित प्रतिमाओं में कुषाण सं. ५ (८३ ई.) की चौमुखी मूर्ति बी. ७१ सब से प्राचीन है। सामान्य जिन—प्रतिमाओं में प्राचीन है कनिष्क सं. १७ अर्थात् ९५ ई. की चरण चौकी (संख्या ५८–३३८५), और सबसे बाद की है सं. ६२ अर्थात् १७० ई. की वासुदेव के शासन की।

---

[1] विभिन्न विद्वानों के संक्षिप्त विचार के लिये इस लेख के लेखक का निबन्ध 'Early phase of jain Econography' Chhotelal Commemoration Vol. cal. p 59-60 देखें।

नेमिनाथ :—..............अन्य मूर्ति संख्या ३४–२५०२ में मध्य में आवक्ष नेमिनाथ के दाहिनी ओर सात सर्पफरणधारी चतुर्भुजी बलराम हैं जिनके ऊपर के बायें हाथ में हल है, जो बलराम की मुख्य पहचान है। बांई ओर श्री कृष्ण को विष्णु रूप में दिखाया है, जिनके चार भुजाएं हैं।..............यह प्रतिमा कुषाण काल के अन्त और गुप्त युग के आरम्भ की प्रतीत होती है।"

जिस प्रकार राजकीय संग्रहालय मथुरा की पुरातत्व सामग्री के गहन अध्ययन के अनन्तर प्रमाण पुरस्सर उपरिलिखित तथ्यों पर पुरातत्व विभाग के मान्य विद्वान् श्री शर्मा ने प्रकाश डाला है, उसी प्रकार कर्णाटक प्रदेश के प्राचीन एवं मध्ययुगीय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इतिहास के तटस्थ विद्वान् श्री रामभूषण प्रसादसिंह ने अपनी पुस्तक "जैनिज्म इन अर्ली मीडियेवल कर्णाटक" में लिखा है :—

"Naturally the early Jains did not practice image worship, which finds no place in the Jaina Canonical literature."

इसी प्रकार कन्या कुमारी की "श्री पादपारेइ" नामक जो पहाड़ी समुद्र तट से २०० गज सागर के अन्दर की ओर है, उस पहाड़ी की चट्टान पर अंकित पवित्र चरण-चिह्न को तीर्थंकर भगवान् का चरण चिह्न बताते हुए इतिहासज्ञ विद्वान् एस. पद्मनाभन ने "The forgotten History of the Land's End" में सर [illegible] विलियम का मूर्तिपूजा व चरण-चिह्न-पूजा के सम्बन्ध में अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है :—

"He opines that Jainism first introduced foot-print-worship in Indian religion."

तो जिस प्रकार भव-विरह याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्र सूरि से लेकर वर्तमान काल के श्री रमेशचन्द्र शर्मा, एस. पद्मनाभन, रामभूषण प्रसादसिंह आदि विद्वानों ने जैनों में प्रचलित मूर्तिपजा के सम्बन्ध में जो अभिमत व्यक्त किए हैं, उसी प्रकार महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने भी "षड्जीव निकायों में से किसी भी जीव निकाय के प्राणियों की किसी भी स्वार्थ-परमार्थ परक प्रयोजन से, यहां तक कि मुक्ति प्राप्ति के लिए भी यदि हिंसा की जाय तो वह हिंसा, हिंसा करने, कराने और उस हिंसा का अनुमोदन करने वाले के लिए घोर अहित का, महाअनर्थ का और अनन्तकाल तक भवभ्रमण कराने वाली अबोधि का कारण होती है"—इस प्रकार के मूल आगमों के आधार पर एवं महानिशीथ के उपर्युद्धृत उल्लेखों के आधार पर मन्दिर–मूर्ति-निर्माण आदि के माध्यम से होने वाली द्रव्यार्चना-द्रव्यपूजा को अश्रेयस्करी और भावार्चना-भावपूजा को परम श्रेयस्करी बताया।

देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गारोहरण के परवर्तीकाल से लेकर लोंकाशाह द्वारा किये गये धर्मक्रान्ति के सूत्रपात के समय तक जैन धर्म के स्वरूप में, श्रमणों के आचार-विचार-व्यवहार में किस प्रकार की विकृतियां आ गई थीं, इस पर प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक तटस्थ भाव से पुरातात्विक, प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर प्रकाश डाला गया है। उस समय श्रमरण समूह के चक्षुतुल्य माने गये आचार्य का श्रमरणाचार किस स्थिति को पहुँच गया था, इस सम्बन्ध में–J. B. R. A. S. Vol. 10 p. 260 f. f. में उल्लिखित सोंदन्ती से प्राप्त शिलालेख के सारांश के रूप में प्रसिद्ध पुरातत्वविद् इतिहासज्ञ स्व. श्री पी. वी. देसाई द्वारा लिखित विवरण सत्यान्वेषियों के सन्तोष के लिए पर्याप्त होगा :—

"Lastly, we may notice more inscription from Saundanti, which offers interesting details about the Jaina teachers. The epigraph is dated A. D. 1228...........The Jaina teacher was Munichandra, who is styled as the royal preceptor of Ratta House. Munichandra's activities were not confined to the sphere of religion alone. Besides being a spiritual guide and political adviser of the royal household, he appears to have taken a leading part not only in the administrative affairs, but also in connection with the' military campaigns of the kingdom, he is stated to have expended the boundries of the Ratta territories and established their authority on a firm footing. Both Laxmideo II and his father Kart Veerya IV were indebted to this divine for his sound advice and political wisdom. Munichandra was well versed in sacred lore and proficient in military science. "Worthy of respect, most able among ministers, the establishers of Ratta kings, Munichandra surpassed all others in capacity for administration and in generosity."[१]

यह तो थी लोंकाशाह से २२३ वर्ष पूर्व श्रमरणाचार की स्थिति। लोंकाशाह के समय में श्रमरणाचार की स्थिति वस्तुतः महानिशीथ के सावद्याचार्य के प्रकरण में वरिणत चैत्यवासी श्रमणों के आचार-विचार व्यवहार की स्थिति जैसी ही थी। इस सम्बन्ध में एक आश्चर्यकारी उल्लेख इसी शताब्दी के इतिहासज्ञ ज्योतिष विद्या विशेषज्ञ बहुश्रुत विद्वान् स्व. पं. श्री कल्याण विजयजी महाराज सा. द्वारा संकलित सम्पादित "पट्टावली पराग संग्रह" नामक ग्रंथ में मुद्रित 'राज विजय सूरी गच्छ की पट्टावली' में मिलता है। विक्रम की १६वीं शताब्दी में श्रमण परम्परा

---

[१] Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs, by P.B. Desai, p. 114 115. (Published by–Jain Sanskriti Samrakshak Sangh, Sholapur, 1957)

के श्रमणाचार पर प्रकाश डालने वाला वह आश्चर्यकारी उल्लेख अक्षरशः इस प्रकार है :–

"५८वें पाट पर श्री आनन्द विमल सूरि हुए, एक समय आबू पर यात्रार्थ गये, सूरिजी (च) तुमुंख चैत्य में दर्शन कर विमल वसही के दर्शनार्थ गये, गभारा के बाहर खड़े दर्शन कर रहे थे, उस समय अर्बुदा देवी श्राविका के रूप में आचार्य के दृष्टिगोचर हुई, आचार्य श्री ने उसे पहचान लिया और कहा–देवी ! तुम शासन भक्त के होते हुए लुंगा के अनुयायी जिन मन्दिर और जिन-प्रतिमाओं का विरोध करते हुए, लोगों को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे हैं, तुम्हारे जैसों को तो ऐसे मतों को मूल से उखाड़ डालना चाहिये । यह सुनकर देवी बोली–पूज्य ! मैं आपको सहत्रो (स्त्रौ) षधि का चूर्ण देती हूं । वह जिसके सिर पर आप डालेंगे वह आपका श्रावक बन जायेगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा, इसके बाद अर्बुदा देवी आचार्यश्री को योग्य भलामण देकर अदृश्य हो गई, बाद में आचार्य वहां से विहार करते हुये विरल (विसल) नगर पहुँचे, वहीं श्री विजयदान सूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वहीं आकर आनन्द विमल सूरिजी ने देवी प्रश्नादिक सब बातें विजयदान सूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिए तैयार हुए, वहां से आनन्दविमल सूरि और विजयदान सूरि अहमदाबाद के पास गांव वारेजा में राजसूरिजी के पास आए और कहा–हम दोनों लुंका मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर हैं, तुम भी इस काम के लिये तैयार हो जाओ, यह कहकर श्री आनन्द विमल सूरि जी ने कहा–मेरे पट्टधर विजयदान सूरि हैं ही और विजयदान सूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजय सूरि को नियत करके अपन तीनों आचार्य तपगच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाएं, आनन्दविमल सूरिजी ने श्री राजविजय सूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आये हैं, लुंकामति जिन शासन का लोप कर रहे हैं, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनों योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़कर वही वट की वटियाँ जल में घोल दी हैं, सवा मन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल दी, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है ।

श्री राजविजय सूरि ने सं० १५८२ में क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्य श्री आनन्द विमल सूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राज विजय सूरि नाम रखा, बाद में तीनों आचार्यों ने अपने-अपने परिवार के

साथ भिन्न-भिन्न देशों में विहार किया ।..................."[1]

किस धरातल तक पहुँच गया था श्रमण वर्ग और उसका श्रमणाचार ? जिन शासन की इस प्रकार की दयनीय दशा से दुखित हो लोंकाशाह को धर्मक्रान्ति का शंखनाद पूरना पड़ा । श्रमणवर्ग और श्रमणाचार की इस प्रकार की अशास्त्रीय दुःखद स्थिति लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के ७४ वर्ष पश्चात् तक की है लोंकाशाह के समय में तो अनुमान किया जा सकता है कि इससे भी कहीं अधिक दयनीय दशा रही होगी । श्री तपागच्छ पट्टावली-सूत्र की गाथा संख्या १८ की व्याख्या में लिखा है–

"आनन्द विमल सूरि क समय में साधुओं में शिथिलता अधिक बढ़ गई थी, उधर प्रतिमा विरोधी तथा साधु विरोधी लुंपक तथा कटुक मत के अनुयायियों का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा था । इस परिस्थिति को देखकर आनन्द विमल सूरि जी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार का परित्याग रूप क्रियोद्धार किया । आपके इस क्रियोद्धार में कतिपय संविग्न साधुओं ने साथ दिया, यह क्रियोद्धार आपने १५८२ के वर्ष में किया । आपकी इस त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थों ने "लुंकामत" तथा "कडुआमत" का त्याग किया और कई कुटुम्ब धनादि का मोह छोड़कर दीक्षित भी हुये ।...............

क्रियोद्धार करने के बाद श्री आनन्द विमल सूरि जी ने १४ वर्ष तक कम से कम षष्ठतप करने का अभिग्रह रखा । आपने उपवास तथा छट्ठ से २० स्थानक तप का आराधन किया, इसके अतिरिक्त अनेक विकृष्ट तप करके अन्त में (वि. सं.) १५९६ में चैत्र सुदि में आलोचनापूर्वक अनशन करके नव उपवास के अन्त में अहमदाबाद नगर में स्वर्गवासी हुए ।"[2]

यह सब प्रत्यक्षतः एवं परोक्षतः उस शान्त-शीतल धर्म-क्रान्ति का ही प्रताप था, जिसका सूत्रपात धर्मोद्धारक धर्मवीर लोंकाशाह ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में किया । अमावस्या की घोर अन्धकारपूर्ण काल रात्रि में पथ भूला हुआ पथिक जिस प्रकार प्रातः प्रभाकर के प्रकाश में सही मार्ग पर आरूढ़ हो अपने लक्ष्य स्थल निजगृह में आ जाता है । ठीक उसी प्रकार महानिशीथोद्धार के रूप में याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा, तदनन्तर समय-समय पर अनेक भवभीरू एवं धर्म संघ के चक्षुभूत आचार्यों द्वारा इंगित और अन्ततोगत्वा धर्मवीर

---

[1] पट्टावली पराग संग्रह, लेखक और सम्पादक पं. कल्याण विजय गणि, प्रकाशक श्री क. वि. शास्त्र संग्रह समिति के व्यवस्थापक शा. मुनिलालजी थानमलजी --- श्री जालोर (राजस्थान) वि. सं. २०२३ । पृष्ठ १८८–१८९

[2] वही पृष्ठ १५३–१५४

लोंकाशाह द्वारा प्रबल वेग से प्रदीप्त की गई-सद्धर्म की ज्योति के प्रकाश में लगभग एक हजार वर्ष से धूमिल रहे सत्पथ को, जिन धर्म के सच्चे मूल स्वरूप को, और सच्चे श्रमणाचार को भव्यात्माओं ने पहिचाना, समझा और स्वीकार किया। गुजरात, गोड़वाड़, मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़, हाडोती, मत्स्य, मालवा, उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में लोंकाशाह द्वारा प्रदीप्त की गई सद्धर्म की मशाल का प्रकाश आश्चर्यकारी वेग से फैलने लगा। जैन संघ में उस धर्म क्रान्ति के प्रताप से नवजीवन का संचार हुआ। लगभग एक हजार वर्ष से प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए अनेक गच्छों ने करवट बदली। गच्छाधिपति सूरीश्वर आनन्द विमल सूरि स्वयं के कथनानुसार सवामरण सोने..........सवा सेर मोतियों, वही-वट की बहियों (देश के किसी भी भाग में बसने वाले अपने श्रावकों के परिवार के सभी सदस्यों के नाम, उनके द्वारा समय-समय पर गुरु चरणों में की जाने वाली रजत अथवा स्वर्णमुद्राओं की भेंट के लेखे-जोखे की बहियां—Account Books) और अन्य सभी प्रकार के परिग्रह का परित्याग और क्रियोद्धार कर घोर तपश्चरण, अप्रतिहत विहार, भव्य प्रतिबोधन, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, मन्दिरों के नवनिर्माण आदि के रूप में अभिनव उत्साह के साथ स्व-पर-कल्याण एवं जिन शासन की प्रभावना के कार्य क्षेत्र में अग्रसर हुए। एक हजार वर्ष की निद्रा-तन्द्रा लोंकाशाह द्वारा उद्घोषित दुन्दुभिघोष से ही तो भंग हुई—यह तथ्य तो श्री आनन्द विमल सूरि के कथन से और लोंकाशाह के आलोचक आचार्यों-श्रमणों आदि द्वारा रचित छोटी बड़ी अनेक कृतियों से स्पष्टतः प्रकट होता है। लोंकाशाह द्वारा की गई धर्म क्रान्ति से प्रेरणा लेकर श्रमण भ० महावीर के धर्म संघ के विभिन्न गच्छों के आचार्यों, श्रमण-श्रमणि समूहों ने धर्म संघ में एक सहस्राब्दि से घर किये हुए शिथिलाचार के विरुद्ध एक व्यापक अभियान प्रारम्भ किया, इस अर्थ में तो चाहे कोई माने अथवा न माने प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी लोंकाशाह के प्रति कृतज्ञता-आभार आदि के आध्यात्मिक भार से भाराक्रान्त है।

उपरिलिखित सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में पूर्वाभिनिवेश-विमुक्त प्रशान्त मन से विचार करने पर प्रत्येक निष्पक्ष विज्ञ विचारक को सुस्पष्ट रूप से इस तथ्य की अनुभूति होगी कि इस धर्मक्रान्ति का श्रेय हमने-आपने-सभी ने लोंकाशाह के सिर पर रख दिया, अन्यथा उन्होंने कोई नई बात नहीं कही। लोकाशाह ने तो केवल उन तथ्यों की ओर जैन-जन-जन का ध्यान आकर्षित किया जो आचारांग आदि आगमों, महानिशीथ आदि आगमिक ग्रन्थों, दर्शनसार, पट्टावलियों, संघादेश आदि में पूर्वाचार्यों के तथ्य प्रतिपादक कथनों के रूप में बहुत पहले से ही विद्यमान थे। उदाहरण के रूप में जैसा कि पहले मूल सूत्र पाठ के उल्लेख के साथ बताया जा चुका है, आचारांग में स्पष्ट उल्लेख है कि - वह कोई भी कार्य चाहे किसी भी उद्देश्य से किया जाय, यहां तक कि मोक्ष प्राप्ति के लिये भी किया जाय, उसमें यदि षड् जीव निकाय में से किसी भी जीव निकाय के प्राणियों की हिंसा होती है तो वह कार्य अबोधि का जनक और अनन्त काल तक अनन्त दुःखों से ओतप्रोत संसार में

भटकाने वाला होगा। यही तथ्य महानिशीथ में मरकत छवि कमलप्रभ (जिनका महानिशीथ के शब्दों में—चैत्यवासियों ने सावद्याचार्य नाम रख दिया) और भावार्चना को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने वाले प्रकरणों में–प्रकाशित किया गया है। इसी तथ्य को तो लोंकाशाह ने भी दुन्दुभि घोष-सन्निभ घोष में प्रकट किया। लोंकाशाह ने नई बात कौन सी रखी ?

इसी प्रकार अणहिल्लपुर पत्तन की सोलंकीराज दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में वर्द्धमान सूरि की विद्यमानता में उनके शिष्य जिनेश्वर सूरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि वे गणधरों द्वारा ग्रथित एवं चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ़ आगमों को ही प्रामाणिक मानते हैं। यही बात लोंकाशाह ने कही। लोंकाशाह के किसी भी कथन में ऐसी नवीनता कहाँ है जो आगमों में तीर्थंकर प्रभु महावीर द्वारा अथवा आगमिक तथा आगमेतर ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों द्वारा आगम-सम्मत न कही गई हो। इस प्रकार की स्पष्ट तथ्यपूर्ण स्थिति के होते हुए भी यदि कोई तिल का ताड़ और बुलबुले का बवाल बनाने पर ही कटिबद्ध हो तो उसको दूर से ही नमस्कार कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई करणीय अवशिष्ट नहीं रह जाता।

प्रस्तुत ग्रन्थ में—आगमों, प्राचीन ताड़पत्रों-ताम्रपत्रों, ग्रन्थों, पुरातात्विक अभिलेखों-अवशेषों, यशस्वी इतिहासविदों एवं विद्वान् आचार्यों द्वारा देश के विभिन्न स्थानों में समय-समय पर प्रकट किये गये जिन तथ्यों के आधार पर जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप, जैन धर्म की आध्यात्मिक आराधना-उपासना विषयक मूल मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए अन्तिम पूर्वधर वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती इतिहास को अन्धकार से प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है, उन तथ्यों में से उदाहरणार्थ कतिपय महत्वपूर्ण तथ्य संक्षेप में ऊपर बताये गये हैं।

पूर्वाग्रहों से पूर्णतः विनिर्मुक्त हो क्षीर-नीर विवेकपूर्ण जिज्ञासु एवं तथ्यान्वेषक दृष्टि से यदि विज्ञ पाठकवृन्द प्रस्तुत ग्रन्थ को अथ से इति तक पढ़ेंगे तो हमारा विश्वास है कि आज तक जिस अवधि के इतिहास को तिमिराच्छन्न समझा जाता था, वह अलौकिक आभापुंज के रूप में उन्हें प्रतीत होगा। वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण से लगभग २१वीं शताब्दी तक जैन संघ पर छाई रही चैत्यवासी आदि अनेक द्रव्य-परम्पराओं के वर्चस्व के परिणामस्वरूप उन द्रव्य परम्पराओं द्वारा रूढ़ कर दी गई वाह्याडम्बरपूर्ण मान्यताओं के कुहरे में जैनधर्म का जो मूल विशुद्ध स्वरूप धूमिल हो चुका था, उसे धर्मोद्धारक लोंकाशाह आदि ने जिस तरह उजागर किया, उसका विवरण पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की भांति जैन जगत के जन-जन के अन्तर्मन को आलोकित कर देगा।

जिनके मन पूर्वाग्रहों से पराभूत हैं, वे भी इन सब तथ्यों के अध्ययन-चिन्तन-मनन के अनन्तर अन्तर्मन में इतना तो अवश्य अनुभव करेंगे कि वस्तुतः मूलागमों,

के सयौक्तिक ठोस आधारों पर लिखा गया यह इतिहास सभी प्रकार की भ्रान्तियों को ध्वस्त कर देने वाला सिद्ध होगा ।

केवल तथ्य को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से ही एक अवधि के तिमिराच्छन्न जैन इतिहास को अन्धेरे से उजाले में लाने का यह प्रयास किया गया है । वस्तुतः यह प्रयास जिनवाणी के माध्यम से जिनवाणी को ही प्रकाश में लाने का प्रयास मात्र है । इन आगमिक एवं पुरातन प्रामाणिक तथ्यों को कोई माने अथवा न माने—इसमें हमारा किसी से कोई आग्रह नहीं । संसार के सभी प्राणी प्रकाश से प्रसन्न हों, यह न तो कभी हुआ है और न भविष्य में कभी संभव ही होगा । इस प्रयास में हमें कितनी सफलता मिली है, इसका मूल्यांकन तो विज्ञ पाठक एवं विद्वान् इतिहासज्ञ स्वयं कर सकेंगे ।

अन्त में हम सम्पादक मण्डल सहित उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करते हैं, जिनके ग्रन्थों से हमें इस दुरूह कार्य में सहायता मिली है ।

अपने शैशवकाल (१९७०) से ही आचार्यदेव के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा भक्ति रखने वाली हमारी मुंहबोली बिटिया राजेश्वरी कुशवाहा १९७८ से ही इतिहास सामग्री के आलेखन में हमें यथाशक्य सहयोग देती आ रही है । प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के तैयार करने में भी उसने और उसके पति कुंवर रामसिंह राठोड़, बी. काम. ने हम दोनों की बड़ी सहायता की । हम सखाद्वय इस युगल जोड़ी की सुख-समृद्धिपूर्ण शतायु की कामना करते हैं ।

गजसिंह राठोड़,
न्या० व्या० तीर्थ सिद्धान्त विशारद
प्रेमराज जैन,
न्याय-सिद्धान्त विशारद व्याकरण तीर्थ

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(प्रेरक एवं मार्ग दर्शक :– पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज)

के सम्बन्ध में

दो शब्द

माननीय पद्म विभूषण डॉ० दौलत सिंह कोठारी

चांसलर, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

युगादि से अद्यावधि पर्यन्त के जैन इतिहास पर शोधपूर्ण प्रकाश डालने वाला यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य एक ऐसे ख्याति प्राप्त महान् श्रमण श्रेष्ठ जैनाचार्य के मार्गदर्शन में सम्पन्न किया जा रहा है, जिनका जीवन विगत ६३ वर्ष जैसी सुदीर्घावधि से भगवान् महावीर के पंच महाव्रतात्मक महान् सिद्धान्त अहिंसा-सत्य–अस्तेय–ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के प्रति एवं न केवल मानवता के कल्याण के प्रति अपितु निखिल विश्व के सकल चराचर प्राणिवर्ग के कल्याण के प्रति भी पूर्णतः समर्पित है, एवं जिसमें वे अहर्निश प्रतिपल प्रतिक्षण निरत हैं।

इस गुरुतर कार्य को पांच वृहदाकार भागों में निष्पादित किये जाने का संकल्प है। संकल्पाधीन उन पांच भागों में से प्रथम और द्वितीय ये दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा भाग यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी प्रकाशन प्रक्रिया की पूर्णाहुति के साथ ही धर्म संघ के कर-कमलों में समर्पित होने जा रहा है। इस ग्रन्थमाला के चतुर्थ और पंचम ये शेष दो भाग निर्माणाधीन हैं। इस इतिहास ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में, युगादि में, पुरातन प्रागैतिहासिक काल में हुए मानव संस्कृति के सूत्रधार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय से लेकर चौबीसवें (अन्तिम) तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण समय तक के जैन धर्म के इतिहास को समाविष्ट किया गया है। द्वितीय भाग में भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य गौतम, प्रथम पट्टधर एवं प्रचलित जैनाचार्य परम्परा के प्रथम आचार्य आर्य सुधर्मा से लेकर २७वें पट्टधर आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय तक निर्वाणोत्तर १००० वर्ष का जैन धर्म का इतिहास निबद्ध किया गया है। प्रस्तुत तृतीय भाग में वीर निर्वाण सं० १००१ से १४७५ तक अर्थात् स्वनाम धन्य हेमचन्द्राचार्य से १६१ वर्ष पूर्व तक जैन इतिहास का आलेखन किया गया है। निर्माणाधीन चतुर्थ भाग में वीर निर्वाण सं० १४७५ से लोंकाशाह तक अर्थात् वीर निर्वाण सं० १९७८–२००१ तक का

और इस ग्रन्थ माला के अन्तिम पांचवें भाग में लोंकाशाह से प्रारम्भ कर वर्तमान काल से थोड़ा आगे तक अर्थात् वीर निर्वाण सं० २००१ से अनुमानतः वीर निर्वाण सं० २५१५ तक का इतिहास निबद्ध किया जायेगा।

इस गुरुतर कार्य के निष्पादन के साथ विविध आयामों में सुदीर्घकालीन अथक श्रम एवम् दृढ़ संकल्पों की लम्बी शृंखला जुड़ी हुई है। विशाल भारत के विभिन्न प्रदेशों के ग्रन्थागारों, संग्रहालयों, विस्तीर्ण क्षेत्रों में विकीर्ण ज्ञात-अज्ञात ग्रन्थों, पत्रों, अभिलेखों एवं ऐतिहासिक सामग्री के पुरातात्विक स्रोतों को शोध दृष्टि से खोज-खोज कर उन स्रोतों के आधार पर इस दुरूह कार्य का निष्पादन-संपादन आधे से अधिक किया जा चुका है और शेष किया जा रहा है। इस ग्रन्थमाला के आलेखन में महान् पूर्वाचार्यों, विद्वान् इतिहास लेखकों के ग्रन्थों का, उदाहरणस्वरूप आचार्य हेमचन्द्र सूरि के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रभावक चरित्र आदि का उपयोग किया गया है।

इस ग्रन्थमाला की तथ्य प्रतिपादन शैली बड़ी ही रोचक, सरस, सरल, गहन-गम्भीर विद्वत्ता से परिपूर्ण और भावाभिव्यंजना के सभी गुणों से समवेत है। अपनी सरस-सरल शैली के कारण यह ग्रन्थमाला बहुजनहिताय बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म के उत्कर्ष, अपकर्ष, पुनरुत्थान के साथ-साथ समय-समय पर जैनधर्म की मूल मान्यताओं एवं आचार में किये गये ऐतिहासिक दृष्टि से अपरिहार्य परिवर्तनों और उनमें उत्पन्न हुई विकृतियों का क्रमिक इतिहास निबद्ध किया गया है। जैन धर्म वस्तुतः महती महनीया पूर्ण अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित मन-वचन-कर्म से (मनसा-वाचा-कर्मणा) अहिंसामय धर्म है। इसी कारण महिला वर्ग के दैनन्दिन धार्मिक जीवन का और जैनधर्म के उत्कर्ष के लिये महिलाओं द्वारा दिये गये योगदान का जैन इतिहास में विशिष्ट-महत्वपूर्ण स्थान है (उदाहरणार्थ, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ सं. २०१)। महिलाओं द्वारा किये गये उस योगदान में और समष्टि के कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत उनके दैनन्दिन जीवन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और परम श्रेयस्कर सजीव सन्देश है आज के सम्पूर्ण विश्व की समग्र मानवता के लिए, जो महान् उल्लास भरी महती आशाएं लिये भावी अहिंसापूर्ण विज्ञान के युग की ओर उत्कट उत्कण्ठा के साथ अग्रसर होने जा रही है।

वर्तमानकालीन प्रलयंकर पारमाणविक शक्ति के युग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हृदयद्रावी-परमोत्पीड़क भीषण संहारकारी संकट की घड़ियों में भी कोई एक न एक ऐसे महान् संत, महान् विभूति अथवा उन महासंतों की परम्परा का कोई न कोई ऐसा समर्थ उत्तराधिकारी महापुरुष आर्यधरा पर अवश्य विद्यमान रहा है, जिसने भ. महावीर एवं भ. बुद्ध द्वारा उद्घोषित-आचरित एवं उपदिष्ट विश्वबन्धुत्व और अहिंसा के सिद्धान्त की कभी न बुझने वाली महान अथवा

महत्तम दिव्य अमर ज्योति को जीवित-प्रज्वलित एवं प्रदीप्त रखकर सर्वनाश की कगार पर खड़ी मानवता को घोर रसातल में जाने से उबारा है। इस सन्दर्भ में महान् इतिहासकार आरनोल्ड तोयन्बी के (श्री रामकृष्ण परमहंस की पुस्तक की प्रस्तावना के) निम्नलिखित शब्द सहसा मेरे स्मृति पटल पर उभर आते हैं--

"मानव इतिहास के सर्वाधिक संहारकारी इस आणविक युग के घोर संकट-पूर्ण क्षणों में मानवता के लिए सर्वनाश से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय वस्तुतः भारतीय जीवन पद्धति को अपनाना ही है। अणुशक्ति के युग में समग्र मानव जाति के पास भारतीय जीवन पद्धति को अपनाने के लिए सह अस्तित्व का लक्ष्य विकल्प के रूप में है। पर सह अस्तित्व का यह विकल्प अपने आप में अधिक शक्तिशाली अथवा अधिक सम्मानास्पद नहीं हो सकता। आज मानव जाति का अस्तित्व संकट में है। यह सब कुछ होते हुए भी सर्वाधिक सशक्त और अधिक सम्मानास्पद सह अस्तित्व का लक्ष्य भारतीय जीवन पद्धति को मन वचन व कर्म से अपनाने के लिए माध्यम होने के फलस्वरूप सहायक साधन हो सकता है। मूल साधन तो यह है कि भारतीय जीवन पद्धति की शिक्षा ही वास्तविक सच्ची शिक्षा है क्योंकि भारतीय जीवन पद्धति की शिक्षा का उद्गम आध्यात्मिक सच्चाई के सच्चे सही दृष्टिकोण से हुआ है।"

राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र इन शब्दों से प्रारम्भ होता है—"क्योंकि युद्धों का प्रादुर्भाव अथवा प्रारम्भ सर्वप्रथम मानव मस्तिष्क में होता है, इसलिए मानव मस्तिष्क में यह बात भी रहती है कि शान्ति की सुरक्षा के उपायों का भी निर्माण करना चाहिए।" (यह हमें धम्मपद के प्रारम्भिक पद्यों की स्मृति दिलाता है।)

सबसे बड़ा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—"यह सब कुछ कैसे किया जाय? इस लक्ष्य को प्राप्त कैसे किया जाय?" यद्यपि यह प्रश्न निखिल विश्व से, समष्टि से सम्बन्धित सर्वाधिक आवश्यक ज्वलन्त प्रश्न है अतः इसे सर्वोपरि प्राथमिकता दी जानी चाहिये थी तथापि इस दिशा में अद्यावधि अतीव नगण्य प्रयास किये गये हैं। नित नये वैज्ञानिक परीक्षणों और साहसिक अभियानों के वर्तमान युग में मानव समाज को आत्मसंयम, आत्मानुशासन एवं अहिंसा की, ओर मोड़ देने की आत्यन्तिकी आवश्यकता को देखते हुए आज इस समस्या के शीघ्र समाधान का और इसके प्रचार प्रसार का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। आत्मानुशासन और अहिंसा इन दोनों में अन्योन्याश्रय (अन्योन्याभाव) सम्बन्ध होने के कारण दोनों का एक साथ होना अनिवार्यरूपेण परमावश्यक है। भारत में स्वराज्य संग्राम का शुभारम्भ करते हुये गांधीजी ने घोषणा की थी कि स्वराज्य का अर्थ है—आत्म संयम—आत्मानुशासन अर्थात्--अपनी इच्छाओं को, अपने आपको अपने वश में करना। श्रीमद्भगवद्गीता (११—६१) में भी यही कहा गया है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

जिसकी इन्द्रियां-इच्छाएं अथवा आकांक्षाएं उसके स्वयं के वश में हैं, केवल वही एक आत्मसंयमी व्यक्ति अपने मन एवं मस्तिष्क में सत्य को धारण कर सकता है और उसी सत्य के अनुरूप आचरण कर सकता है। आइन्स्टीन भी यही कहते हैं– "मानव का सच्चा प्राथमिक मूल्यांकन उसके उन मनोभावों के अनुपात के मापदण्ड से ही निर्धारित किया जा सकता है कि उसने स्वयं अपने आप से, अपनी इच्छाओं से किस अनुपात में मुक्ति प्राप्त करली है।" भ० महावीर का संदेश इस प्रकार है (उत्तराध्ययन १/१५, समणसुत्तं १४७) :—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा-दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ।।
एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचणं।
अहिंसा संयमं चेव, एतावंते वियाणिया ।।

व्यक्ति के सच्चे ज्ञान का महत्व इसी बात पर निर्भर करता है कि उसने आत्मदमन कर मनसा, वाचा एवं कर्मणा हिंसा से निवृत्ति प्राप्त करली है। अहिंसा वस्तुतः बुद्धि की पवित्रता और मस्तिष्क की महानता की आधार शिला है।

विनोबाजी कहते हैं—"मैं कबूल करता हूं कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसी का असर मेरे चित्त पर नहीं है।..........गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूं तो मुझे दोनों में फरक ही नहीं दीखता है।"

विनोबा भावे को गीता और भ० महावीर की शिक्षाओं में कोई अन्तर प्रतीत नहीं हुआ।

जिन शक्तियों ने मानव इतिहास के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा किसी भी क्षेत्र को प्रभावित कर उन्हें सुन्दर स्वरूप देने में योगदान दिया है, उन सब शक्तियों में धर्म ने संभवतः सर्वाधिक सर्वव्यापी प्रभावशाली योगदान दिया है। धर्मों में भी अहिंसा धर्म वस्तुतः मानव का सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक सशक्त आविष्कार है। इन सब तथ्यों के संदर्भ में विचार करने पर आज की ज्वलन्त समस्या को हल करने में सहअस्तित्व एवं सामाजिक-सांस्कृतिक समानता के क्षेत्र में रुचि रखने वालों के लिये धर्म का और धर्म में भी विशिष्ट रूप से अहिंसा धर्म का महत्व सर्वाधिक सर्वोपरि सिद्ध होता है।

आचार्य श्री के अथाह चिन्तन-मनन, अथक् परिश्रम और अनमोल मार्ग दर्शन ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थमाला के रूप में जो प्रेरणादायी बहुमूल्य देन जैनधर्म और जैन इतिहास को प्रदान की है, उसके लिए हम

परम पूज्य आचार्यश्री के प्रति मन के अन्तस्तल से अगाध कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

हम इतिहास समिति से आशा करते हैं कि इस इतिहास माला के सभी भागों के साररूप में पृथक्शः एक ग्रन्थ का प्रकाशन भी करवाया जायेगा, जिससे कि बहुत बड़ी संख्या में इतिहास प्रेमी लाभान्वित हो सकें। इन सभी भागों के आंग्ल भाषा में भी संस्करण प्रकाशित करवाये जायं तो देश-विदेश के विभिन्न भाषा-भाषी निवासियों की एतद्विषयक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति होगी।[1]

---

[1] यह डॉ० साहब के मूल अंग्रेजी का हिन्दी रूपान्तर है। मूल अंग्रेजी पाठ प्रस्तुत ग्रन्थ के 'परिशिष्ट' में देखें।

एक अवलोकन

अतीत काल से ही मानव के अन्तर्मानस में ये प्रश्न उद्भूत होते रहे हैं कि मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? मेरा स्वरूप क्या है ? और मैं यहां से कहां जाऊंगा ? जिस प्रकार वह स्वयं के सम्बन्ध में जानना चाहता है, उसी प्रकार उसके अन्तर्मानस में परिवार, समाज, साहित्य और संस्कृति प्रभृति विषयों के सम्बन्ध में भी जानने की उत्कट जिज्ञासा रहती है।

यह जिज्ञासा वृत्ति ही ज्ञान, विज्ञान, इतिहास और परम्परा की अन्वेषणा के मूल में रही हुई है। हमारा स्वर्णिम अतीत किस प्रकार व्यतीत हुआ है, यह प्रत्येक जिज्ञासु जानना चाहता है। पर प्रत्येक व्यक्ति में जानने की ललक होने पर भी प्रतिभा की तेजस्विता के अभाव में वह जान नहीं पाता। कुछ विशिष्ट मेधावी व्यक्ति, अपनी गौरव गरिमापूर्ण प्रतिभा से उन अप्रकट रहस्यों की परतों को समुद्घाटित कर, विशृंखलित शृंखलाओं को इस प्रकार समायोजित करते हैं कि प्रबुद्ध पाठक और सामान्य जिज्ञासु भी उन गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को सहज ही सुलझा लेता है।

जैनधर्म विश्व का महान् वैज्ञानिक धर्म है। दर्शन है। यह आत्मा के परम और चरम विकास में आस्था रखने वाला धर्म है, जो साध्य और साधना, दोनों की पावन पवित्रता में विश्वास रखता है। इसमें आचार और विचार की समान शुद्धि पर बल दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसे मनुष्य लोक की अपेक्षा अनादि और अनन्त कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी।

यह धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है। यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की। पुरातत्व, भाषा, विज्ञान, साहित्य और नृतत्व विज्ञान आदि से यह स्पष्ट हो गया है कि वैदिक काल से भी पूर्व भारत में एक बहुत ही समृद्ध संस्कृति थी, जो समय-समय पर विभिन्न नामों से जानी पहिचानी जाती रही, और वही संस्कृति आज जैन संस्कृति के नाम से लोक विश्रुत है। इस संस्कृति के पुरस्कर्ता वर्तमान अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर हुए हैं भगवान ऋषभदेव, वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी जिनकी गुण गरिमा का बखान किया गया है। उनके पश्चात् अजितनाथ आदि २२ तीर्थंकर हुए, जिनमें कितने ही तीर्थंकर प्रागैतिहासिक युग के हैं तो कितने ही ऐतिहासिक युग के हैं। भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् अनेक ज्योतिर्धर आचार्यों की पावन परम्परा चली। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् महावीर के पश्चात् बारह बारह वर्ष के भयंकर दुष्कालों के कारण श्रमणों की आचार संहिता में शैथिल्य ने प्रवेश किया। आचार शैथिल्य के कारण विचारों में भी परिवर्तन हुआ, जिसके फलस्वरूप श्रमण परम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप में विभक्त हुई।

इसके पश्चात् इन दो धाराओं में से भी गच्छ और उपगच्छ के रूप में अनेक धाराएं उपधाराएं प्रस्फुटित हो गईं। इस प्रकार जैन संघ की अखंडता में बाधा समुपस्थित हुई। तथापि सद्भाग्य से समय-समय पर ऐसी विशिष्ट विभूतियां आती रहीं जिससे संघ में आचार और विचार की दृष्टि से परिष्कार होता रहा। उन महान् विभूतियों का उत्कृष्ट आचार और विचार भूले बिसरे साधक साधिकाओं के लिये सम्बल के रूप में उपयोगी रहा।

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा इतिहास का लेखन अत्यन्त दुरूह कार्य है। उसमें सत्य तथ्यों की अन्वेषणा के साथ ही लेखक की तटस्थ दृष्टि अपेक्षित है। यदि लेखक पूर्वाग्रह से ग्रस्त है और उसमें तटस्थ दृष्टि का अभाव है तो वह इतिहास लेखन में सफल नहीं हो सकता। मुझे परम आह्लाद है कि आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी महाराज एक तटस्थ विचारक, निष्पक्ष चिंतक और आचार परम्परा के एक सजग प्रहरी सन्त रत्न हैं। उनके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में आचार के प्रति गहरी निष्ठा है और वह गहरी निष्ठा इतिहास के लेखन की कला में भी यत्र तत्र सहज रूप से मुखरित हुई है। प्रत्येक लेखक की अपनी एक शैली होती है। विषय को प्रस्तुत करने का अपना तरीका होता है। प्रत्येक पाठक का लेखक के विचार से सहमत होना आवश्यक नहीं तथापि यह साधिकार कहा जा सकता है कि आचार्य प्रवर के तत्वावधान में बहुत ही दीर्घदर्शिता से इतिहास का लेखन किया गया है। उनकी पारदर्शी सूक्ष्म प्रतिभा के संदर्शन ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय में किये जा सकते हैं।

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक दो विराटकाय ग्रन्थ आचार्य श्री पूर्व में दे चुके। जिन ग्रन्थों की मूर्धन्य मनीषियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और उन्हें आचार्यश्री की अपूर्व देन के रूप में स्वीकार किया है। उसी लड़ी की कड़ी में यह तीसरा भाग भी आ रहा है। पूर्व के दो भागों की अपेक्षा इस भाग के लेखन में लेखक को अधिक श्रम करना पड़ा है। इतिहास का यह ऐसा अध्याय है जो तमसाच्छन्न था। अनेक ऐसी विसंगतियां थीं, जिन्हें सुलझाना सामान्य लेखक की शक्ति से परे था। पर लेखक ने अपने गम्भीर अध्ययन, गहन अनुभव एवं आचार्यश्री के अत्युत्तम मार्ग-दर्शन के आधार पर इस अध्याय को ऐसा आलोकित किया है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते आनन्द से झूमने लगता है। लेखक ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि श्रमण संस्कृति की गौरव गरिमा आचारनिष्ठा में ही सन्निहित है। जब

साधक का आचार शैथिल्य की ओर कदम बढ़ा तब उसका पतन हुआ। जैन धर्म के ह्रास का मूल कारण आचार की शिथिलता है और विकास का कारण आचार की पवित्रता है। शिथिलाचार के विरोध में उनकी लेखनी द्रुततम गति से चली है पर साथ ही यह भी सत्य सिद्ध है कि सत्य तथ्य को प्रकट करना ही लेखक का प्रमुख उद्देश्य और चरम लक्ष्य रहा है, न कि किसी भी प्रकार से किसी की भावना को चोट पहुंचाना। न ही किसी भी परम्परा का विरोध करना या उसका खंडन करना उनका लक्ष्य रहा है। समय-समय पर जैन शासन में, जैन परम्परा में और जैन संघ में जो जो और जिस जिस भांति की विकृतियां आई उन पर पूर्ण रूप से पूरी शक्ति के साथ प्रकाश फेंकना ही उनका चरम लक्ष्य रहा है और इतिहास का और उसके लेखन का यही सही उद्देश्य है। अपने इस उद्देश्य में लेखक शत-प्रतिशत खरा उतरा है। यही महत्वपूर्ण है। इसी को महत्वपूर्ण समझकर जैन जगत् के माने हुए मनीषि पं० बेचरदासजी ने भी "जैन साहित्य मां विकार थवा थी थयेली हानि" नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर इस पर विषद् प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ की भाषा प्रवाहपूर्ण है। शैली चित्ताकर्षक है और मुद्रण भी निर्दोष है। आशा है पूर्व के दो भागों की तरह यह तृतीय भाग भी जन-जन के मन को भाएगा एवं उन्हें इतिहास का नया आलोक प्रदान करेगा। सरस्वती के अमूल्य भंडार में आचार्यश्री की एवं उनके अपूर्व मार्गदर्शन में इसके प्रमुख लेखक एवं सम्पादक श्रीगजसिंहजी की यह अनमोल भेंट चिर-स्मरणीय रहेगी।

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

मदनगंज—किशनगढ़
दिनांक २८—१०—८३

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(तृतीय भाग)

सामान्य श्रुतधर खण्ड (१)

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए

श्री जैन इतिहास समिति, जयपुर

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

सिंहावलोकन

अगाध करुणासिन्धु शासननायक भगवान् महावीर के शासन का ही प्रभाव है कि इतिहास-लेखन जैसा यह अति दुरूह कार्य भी, अनेक नवीन उपलब्धियों के साथ, आधे के लगभग सम्पन्न हो चुका है।

प्रस्तुत इतिहास के प्रथम भाग (तीर्थङ्कर खण्ड) में कुलकर काल से प्रारम्भ कर प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में कर्मयुग के आद्य प्रवर्त्तक, धर्मतीर्थ के आदिकर्त्ता, प्रथम राजा, प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से चौबीसवें तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण तक का और द्वितीय भाग में भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा से सत्तावीसवें पट्टधर एवं अन्तिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त, वीर नि० सं० १ से वीर नि० सं० १००० तक का जैन धर्म का सांगोपांग विशद इतिहास जैन जगत् एवं इतिहासविदों के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है।

इस इतिहास-माला के आलेखन के प्रारम्भ से ही मुख्य रूप से इस बात का ध्यान रखा गया है कि धार्मिक इतिहास के साथ-साथ समसामयिक राजनैतिक एवं सामाजिक इतिहास पर भी यथाशक्य प्रकाश डाला जाय। तेवीसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के काल से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक के धार्मिक इतिहास के साथ-साथ प्रमुख राजनैतिक घटनाओं का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह ईसा से पूर्व ७०० से ई० सन् ४७३ तक की भारत के कुल मिला कर पौने बारह सौ वर्षों के संक्षिप्त किन्तु क्रमबद्ध राजनैतिक इतिहास की एक प्रामाणिक झलक दे रहा है, वह एतद्विषयक गहन अध्ययन, चिन्तन, मनन और गवेषणा का प्रतिफल है।

अब इस तृतीय भाग में वीर नि० सं० १००१ से १४७५ तक का जैन धर्म का इतिहास तत्कालीन प्रमुख राजनैतिक एवं सामाजिक घटनाओं के संक्षिप्त विवरण के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्म एवं इतिहास में अभिरुचि रखने वाला सामान्य से सामान्य पाठक भी जैन धर्म के इतिहास की प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की प्रमुख, ऐतिहासिक घटनाओं को सहज ही अपने स्मृतिपटल पर अंकित कर सके, इस उद्देश्य से सम्पूर्ण इतिहास काल को ६ वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक के काल को 'तीर्थंकर काल' की संज्ञा दी गई है। द्वितीय भाग में भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर आर्य जम्बू के निर्वाण तक के काल को "केवलिकाल" की, आर्य प्रभव से प्राचीन गोत्रीय भद्रबाहु तक

के काल को "श्रुतकेवलिकाल" की, आर्य स्थूलिभद्र से आर्य वज्र तक के काल को "दश पूर्वधरकाल" की एवं आर्य रक्षित से अन्तिम एक पूर्वधर आर्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण तक के काल को "सामान्य पूर्वधरकाल" की संज्ञा दी गई है।

आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल अर्थात्—वीर नि० सं० १००० से न केवल अद्यावधि अपितु आगे के, इस भरत क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम आचार्य आर्य दुःप्रसह तक के समग्र काल को भी "सामान्य श्रुतधर काल" की संज्ञा दी जा रही है। सम्पूर्ण तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक के एवं उनसे उत्तरवर्त्ती काल का यही छः विभागों में वर्गीकरण संगत प्रतीत होता है।

"सामान्य-श्रुतधर-काल" की वीर नि० सं० १००१ से अद्यावधि पर्यन्त जो विपुल ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है अथवा जो उपलब्ध हो सकती है, उसको दृष्टि में रखते हुए १५०० वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि के सर्वांगपूर्ण इतिहास का आलेखन तृतीय भाग, चतुर्थ भाग और पंचम भाग—इन तीन भागों में विभक्त करना सभी दृष्टियों से समुचित समझा गया है। तृतीय भाग में आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के काल से भगवान् महावीर के ४७ वें पट्टधर आचार्य कलशप्रभ तक का, चतुर्थ भाग में लोंकाशाह तक का एवं पंचम भाग में लोंकाशाह से उत्तरवर्ती काल का इतिहास प्रस्तुत करने का हमारा संकल्प है।

प्रस्तुत "जैनधर्म का मौलिक इतिहास" नाभक ग्रन्थ के द्वितीय भाग के लेखन के समय वीर नि० सं० १ से १००० तक के ऐतिहासिक घटनाक्रम को शृंखला-वद्ध अविच्छिन्न रूप में कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सभी ऐतिहासिक तथ्यों पर गहन चिन्तन-मनन के अनन्तर "दुस्समासमणसंघथयं" और उसके साथ संलग्न युगप्रधानाचार्यों के जीवनवृत्त की समयसारिणी (जन्मकाल, गृहस्थावास-काल, दीक्षाकाल, युगप्रधानाचार्यकाल और पूर्ण आयु के लेखे-जोखे की सारिणी) को उपर्युक्त १००० वर्ष के ऐतिहासिक घटनाक्रम को प्रमुख रूप से प्रस्तुतीकरण का मुख्य आधार वनाया गया था। इसी सारिणी में उल्लिखित कालक्रम ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर पुनः पुनः परखने पर भी अब तक किंचितमात्र भी असत्य एवं कल्पित नहीं समझा गया है।

"दुस्समा—समणसंघथयं" में उल्लिखित प्रथमोदय के २० युगप्रधानाचार्यो एवं द्वितीयोदय के २३ में से सत्यमित्र तक आठ युगप्रधानाचार्यो तथा उनके समय में हुए सभी वाचनाचार्यो और गणाचार्यो आदि का इतिवृत्त विस्तार के साथ दिया जा चुका है। तृतीय भाग के आलेखन के लिए आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री संक-लित करते समय "तित्थोगाली पइन्नय" नामक प्राचीन ग्रन्थ में ऐसी अनेक गाथाएं देखने में आई, जिनसे "दुस्समासमणसंघथयं" में उल्लिखित छः सात महत्वपूर्ण

ऐतिहासिक तथ्यों की पूर्णतः पुष्टि होती है। जैतारण (राजस्थान) के स्थानकवासी ज्ञान भण्डार से भी एक ऐसी पट्टावली उपलब्ध हुई है, जिसमें वीर नि० सं० १ से वीर नि० सं० २१६८ तक की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा के आचार्यों के जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल एवं स्वर्गारोहण काल के लेखे-जोखे आदि अनेक मननीय ऐतिहासिक तथ्यों के साथ स्पष्ट विवरण उल्लिखित है। पट्टावलीकार ने किन पुरातन आधारों पर से उन सब ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन किया है, यदि इसका भी उल्लेख मिल जाता तो बड़ा प्रमोद होता।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत तृतीय भाग के आलेखन में प्रारम्भ से ही अब तक सभी पट्टावलियों, शिलालेखों, चरित्र-ग्रन्थों, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्यान्य उपलब्ध ग्रन्थों की प्रशस्तियों आदि के साथ-साथ 'दुस्समा–समणसंघ–थयं' सावचूरि, 'तित्थोगाली पइन्नय' और जैतारण ज्ञान भण्डार से उपलब्ध पट्टावली आदि की प्रमुख रूप में सहायता ली गई है।

प्रस्तुत तृतीय भाग में 'दुस्समासमणसंघथयं' के द्वितीयोदय के शेष १५ (पन्द्रह) युगप्रधानों के समय का तथा उससे कुछ उत्तरवर्ती काल का इतिहास विशद् रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। 'सिरि दुस्समासमणसंघथयं' में आर्य सत्यमित्र के पश्चात् हुए युगप्रधानाचार्यों के जो नाम उल्लिखित हैं वे इस प्रकार हैं :—

सिरि सच्चमित्तं हारिलं, जिणभद्दं वंदिमो उमासाइं।
पुसमित्तं संभूई, माढरसंभूई धम्मरिसिं ।। १४ ।।

जिट्ठगं फग्गुमित्तं, धम्मघोसं च विणयमित्तं च।
सिरि सीलमित्तं, रेवइमित्तं, सूरि सुमिणमित्तं हरिमित्तं ।। १५ ।।

उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने वि० सं० १७०८ को अपनी रचना 'लोकप्रकाश' के ३४वें सर्ग में उपरिलिखित गाथाओं का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार दिया है :—

सत्यमित्रो हारिलश्च, जिनभद्रो गणीश्वरः।
उमास्वातिः पुष्यमित्रः, संभूतिः सूरिकुंजरः ।। ११९ ।।

तथा माढरसंभूतो, धर्मश्री संज्ञको गुरुः।
ज्येष्ठांगः फल्गुमित्रश्च, धर्मघोषा ह्वयो गुरुः ।। १२० ।।

सूरिर्विनयमित्राख्यः शीलमित्रश्च रेवतिः।
स्वप्नमित्रो हरिमित्रो, द्वितीयोदय सूरयः ।। १२१ ।।

अर्थात् "तित्थोगालीपइन्नय" नामक ऐतिहासिक महत्व के प्राचीन ग्रन्थ में जिन श्रुतपारग आचार्यों के अवसान के साथ ही श्रुत–शास्त्र–विशेष के ह्रास का

क्रमिक काल दिया गया है, उसमें पुष्यमित्र, संभूति, माढर संभूति, ज्येष्ठांग गणि, फल्गुमित्र और सुमिणमित्र—इन ६ युगप्रधानाचार्यों के अनन्तर वीर नि० की बीसवीं शताब्दी के एक विशिष्ट श्रुतधर आचार्य विशाख मुनि का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है :—

वरिस सहस्सेहिं इहं दोहिं, विसाहे मुणिम्मि वोच्छेदो ।
वीर जिण धम्मतित्थे, दोहिं तिन्नि सहस्स निद्दिट्ठो ।। ८२० ।।

अर्थात् वीर नि० सं० २००० में विशाख मुनि के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि० सं० २००० से ३००० के बीच की अवधि में कतिपय अंगों का ज्ञान लुप्त हो जायगा ।

तित्थोगाली पइन्नय की उपरिलिखित गाथा आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व घटित हुई एक ऐसी घटना के विषय में संकेत करती है, जो शोधार्थियों एवं इतिहास प्रेमियों के लिये नितान्त नवीन, विचारणीय एवं शोध का विषय है ।

आज तक श्वेताम्बर आम्नाय की विभिन्न आचार्य परम्पराओं की जितनी भी पट्टावलियां प्रकाश में आई हैं, उनमें से किसी पट्टावली में विशाख नाम के आचार्य का नाम कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता । विशाखगणि की कोई स्वतन्त्र रचना भी जैन वांग्मय में आज कहीं उपलब्ध नहीं होती ।

हां, निशीथ की कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में निम्नलिखित प्रशस्ति उपलब्ध होती है :—

दंसण चरित्त जुत्तो, गुत्तो गुत्तीसु परि संभणहिए ।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ णाणमंजुसी ।।
तस्स लिहियं निस्साहिं, धम्मधुराधरण पवर पुज्जस्स ।।

अर्थात् जो धर्म रूपी महान् रथ की धुरी को धारण करने में परम प्रवीण सर्वथा समर्थ अथवा पूर्णत: कुशल, ज्ञान दर्शन चारित्र से संयुक्त, तीन प्रकार की गुप्तियों से गुप्त, ज्ञान मंजूषा अर्थात् ज्ञान के अक्षय भण्डार तथा महत्तर की उपाधि से विभूषित हैं, उन परम पूज्य श्री विशाखगणी नामक आचार्य की निश्रा में इस निशीथ सूत्र को लिखा गया है ।

यद्यपि प्रशस्तिकार ने विशाखगणि महत्तर की निश्रा में निशीथ के लेखन का समय नहीं दिया है तथापि पुस्तक लेखन, लिपिकर्ता द्वारा आलेखन की समाप्ति पर प्रशस्तिलेखन आदि तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में 'तित्थोगाली पइन्नय' द्वारा किये गये, वीर नि० सं० २००० में विशाख मुनि के स्वर्गस्थ होने के उल्लेख के सम्बन्ध में विचार

करने पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वीर नि० सं० १९१८ से १९६३ तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहे आचार्य हरिमित्र के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर संभवतः विशाख गणी नामक आचार्य वीर नि० सं० १९६३ से २००० तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहे हों। इतिहास विद् इस पर अधिक प्रकाश डालें यही उपयुक्त होगा।

यद्यपि विशाखगणी के वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के आचार्य होने के सम्बन्ध में अनेक शंकाएं उत्पन्न होती हैं तथापि इस विषय में अधिकाधिक गवेषणा से कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आ सके, इसी शुभेच्छा एवं सदाशा से प्रस्तुत ग्रन्थ में विशाखगणी का नाम हरिमित्र के पश्चात् ४४ वें क्रम पर रखा गया है इस सम्बन्ध में यथास्थान यथाशक्य पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

यह तथ्य तो प्रायः सर्वविदित है कि आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव द्वारा प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में हमारी इस आर्यधरा पर धर्मतीर्थ के प्रवर्तन के समय से लेकर अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने तक अर्थात् वीर नि० सं० १००० तक का जैन धर्म का इतिहास आर्य महागिरि एवं सुहस्ति के समय के साधारण एक दो अपवादों को छोड़ कर वस्तुतः विशुद्ध एवं मूल धर्म परम्परा का इतिहास रहा। वीर नि.सं. ६०९ और उसके आसपास यद्यपि जैन धर्म की मूल विशुद्ध परम्परा में दिगम्बर संघ, यापनीय संघ, नियतनिवासी चैत्यवासी संघ और आंशिक रूप से भट्टारक परम्परा जैसी छोटी-छोटी पृथक् इकाइयों के प्रादुर्भाव के परिणामस्वरूप वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी में जैन संघ छोटे बड़े पांच वर्गों में विभक्त हो गया पर यह सब कुछ हो जाने के उपरान्त भी वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी के अन्त तक मुख्य रूप से मूल विशुद्ध धर्मपरम्परा का ही वर्चस्व रहा और जैन धर्मावलम्बियों में युगादि से परम्परागत विशुद्ध मूल परम्परा ही बहुजनमान्य एवं बहुजनसम्मत रही। मथुरा के 'कंकाली टीले' की खुदाई से उपलब्ध ऐतिहासिक महत्व की सामग्री से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी के अन्त तक श्रमण भगवान् महावीर की मूल विशुद्ध परम्परा का ही मुख्यतः उत्तर भारत में तो पूर्ण वर्चस्व रहा।[1] इसी कारण जैनधर्म का इतिहास भी वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी तक एक महानदी के प्रवाह के रूप में अपनी पारम्परिक महानता लिये अबाध गति स चलता रहा। उस समय तक

---

[1] मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में जो ऐतिहासिक महत्व की, कनिष्क के काल से लेकर गुप्त काल तक की प्राचीन पुरातात्विक सामग्री प्रकाश में आयी है, उसमें इन यापनीय, कूचक, दिगम्बर, चैत्यवासी आदि कालान्तर में उद्भूत हुई इकाइयों का कहीं नाम तक नहीं है। इससे यही फलित होता है कि कनिष्क सं० ५ (शक सं० ५ वीर नि० सं० ६१०) के लेख सं० १९ से लेकर लेख सं० ९२ पर्यन्त (वीर नि० सं० ९६० तक के लेखों में) इन सभी कालान्तरवर्ती संघों अथवा विभिन्न इकाइयों का अस्तित्व तक उत्तर भारत के केन्द्र मथुरा में नहीं था।

—सम्पादक

यापनीय, चैत्यवासी, मठवासी, कूर्चक आदि पृथक इकाइयों का अस्तित्व स्वल्पतोया क्षेत्रीय नदों अथवा छोटी नदियों के रूप में अधिक महत्व का नहीं रहा। इसी कारण जैन इतिहास में भी उस समय तक एक दूसरे से भिन्न उल्लेखनीय विभिन्न घटना चक्रों का प्रायः अभाव ही रहा।

किन्तु देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती जैनधर्म, जैनसंघ और उसके इतिहास की स्थिति, उसके अनेक टुकड़ों में विभक्त हो जाने के परिणामस्वरूप इसके पूर्व इतिहास से नितान्त भिन्न, बड़ी ही दुरूह और उलझन भरी हो गई।

आर्य महागिरि के स्वर्गारोहण काल, अर्थात् वीर नि०सं० २४५ तक जैन इतिहास एकता के सूत्र में सुसंगठित एवं एकमात्र विशुद्ध आचार्य परम्परा का ही इतिहास रहा। वीर नि०सं० २४५ से वीर नि०सं० १००० तक अर्थात् पूर्वधर काल तक जैन धर्म का इतिहास बहिरंग रूप से वाचनाचार्य परम्परा, युगप्रधानाचार्य परम्परा और गणाचार्य परम्परा—इन तीन परम्पराओं के रूप में अंशतः विभक्त दृष्टिगोचर होते हुए भी त्रिवेणी संगम के समान परस्पर मूलतः संपृक्त, अन्योन्याश्रित और सिद्धान्ततः अविभक्त रहने के कारण एक ही विभेदविहीन महानदी के रूप में प्रवाहित होता रहा। इस अवधि में भगवान् महावीर के धर्मसंघ के सुचारुरूपेण संचालन की दृष्टि से वाचनाचार्य, युगप्रधानाचार्य और गणाचार्य ये तीन आचार्य परम्पराएं मान्य की गईं पर वे तीनों ही आचार्य परम्पराएं मूल आगमों में प्रतिपादित विशुद्ध आध्यात्मिक पथ पर समन्वयपूर्वक साथ-साथ चलती हुई स्व, पर और धर्मसंघ के अभ्युदय एवं उत्कर्ष में निरत रहीं।

इसी कारण वीर नि०सं० १००० तक जैनधर्म के इतिहास का उल्लेख श्रमसाध्य होते हुए भी उलझनों, अनिश्चितताओं और समाधान न होने योग्य समस्याओं से अपेक्षाकृत मुक्त रहा।

इसके विपरीत वीर नि०सं० १००० से उत्तरवर्ती काल का जैनधर्म का इतिहास आगमपरिपन्थिनी अनेक प्रकार की मान्यताओं वाले संघों, सम्प्रदायों, गणों और गच्छों के उद्भव, प्राबल्य एवं प्रचार-प्रसार के कारण उलझनों एवं असमाधेय समस्याओं से ओतप्रोत रहा। विभेदों से परिपूर्ण होने के साथ-साथ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् का जैन इतिहास अनेक रूपों में विभिन्न आवरणों तथा आयामों में देश के विभिन्न भागों में अगणित विभिन्नताओं में बिखरा पड़ा है, अतः इस अवधि के जैन इतिहास का आलेखन वस्तुतः अत्यन्त जटिल है।

इस अति कठिन दुस्साध्य कार्य में कहां तक सफलता प्राप्त होगी, यह तो भविष्य ही बतायेगा। पर इस दिशा में हमारे प्रयत्न कितने सफल हुए हैं, इसका निर्णय विद्वान् इतिहासविद् ही कर सकेंगे।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण स उत्तरवर्त्ती काल के इतिहास से सम्बन्धित कतिपय अज्ञात तथ्य

वीर निर्वाण की पहली सहस्राब्दि के पश्चात् का जैनधर्म का इतिहास लिखने का आज तक जिन-जिन विद्वानों ने प्रयास किया, लम्बे प्रयास के पश्चात् प्राय: उन सभी ने केवल यह कहकर एक तरह से कार्य की गतिविधि को स्थगित कर दिया :—"वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् का अथवा अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का पांच सौ सात सौ वर्षों का जैनधर्म का इतिहास तिमिराच्छन्न है, विस्मृति के घनान्धकार में विलीन हो चुका है। यही कारण है कि उन पांच सौ सात सौ वर्षों की अवधि के जैन इतिहास से सम्बन्धित न तो कोई शृंखलाबद्ध तथ्य उपलब्ध होते हैं और न विकीर्ण तथ्य ही।"

इस तथ्य को विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रकट किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने दृढ़ संकल्प किया कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा 'परिशिष्ट पर्व' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित जैन इतिहास से आगे का इतिहास वे लिखें। उन्होंने अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिये वर्षों तक अथक प्रयास किया। उन्होंने उस समय उपलब्ध सम्पूर्ण जैन वांग्मय का आलोडन व मन्थन किया, अनेक वयोवृद्ध बहुश्रुत आचार्यों तथा विद्वानों से ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी किन्तु वे अपनी इच्छा के अनुरूप इतिहास लिखने में अपने संकल्प के अनुसार सफल नहीं हो सके। सभी गणों अथवा गच्छों की तो बात ही दूर, वे किसी एक गण अथवा गच्छ का भी आद्योपान्त क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिख पाये। अथक् प्रयास के अनन्तर कतिपय गणों एवं गच्छों के भिन्न-भिन्न समय में हुए २१ आचार्यों के पूर्वापर क्रम-विहीन जीवन-चरित्र बड़ी कठिनाई से वीर निर्वाण सम्वत् १३३४ में अपनी रचना 'प्रभावक चरित्र' में लिखकर ही उन्होंने सन्तोष कर लिया। उन २१ आचार्यों में से कतिपय तो चैत्यवासी परम्परा के हैं। अपनी इस असफलता को उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति की 'दुष्प्रापत्वादमीशां विशकलिततयैकत्र चित्रावदातं' इस पंक्ति में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

प्रभावक चरित्र के रचनाकार आचार्य प्रभाचन्द्र के उत्तरवर्ती काल में भी जैन धर्म का सांगोपांग इतिहास लिखने के प्रयत्न समय-समय पर अनेक विद्वानों

द्वारा किये गये। उन्होंने कुछ लिखा, किन्तु वीर निर्वाण सम्वत् १००० से वीर निर्वाण सम्वत् १७०० तक का जैन धर्म का क्रमबद्ध सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखने में अद्यावधि किसी भी विद्वान् को सफलता प्राप्त नहीं हुई। ऐसी स्थिति में प्रायः सभी जैन इतिहासविदों की यह सर्वसम्मत धारणा बन गई कि इस अवधि का जैन इतिहास से सम्बन्धित घटना-चक्र विस्मृति के गहन गर्त्त में तिरोहित हो चुकने के परिणामस्वरूप वीर निर्माण सम्वत् १००१ से लगभग १७०० तक की बीच की अवधि का जैन इतिहास वस्तुतः विलीन ही हो गया है। परन्तु सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में विगत एक शताब्दी से की जा रही पुरातात्विक खोजों से, भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हुई अभिनव उपलब्धियों और अनेक आधारों पर विभिन्न प्रदेशों के पुरातत्ववेत्ताओं, शोधकर्त्ताओं, अनुसन्धाताओं और इतिहासप्रेमी विद्वान् लेखकों द्वारा लिखे गये शोध प्रबन्धों, ताम्रपत्र-शिलालेख संग्रहों और प्रादेशिक इतिहासग्रन्थों के शोध दृष्टि से किये गये सूक्ष्म अध्ययन से उपरिलिखित अवधि के घटनाचक्र को कालक्रमानुसार क्रमबद्ध स्वरूप देने पर वस्तु-स्थिति विद्वानों के उपरिलिखित अभिमत से नितान्त भिन्न ही प्रतीत होती है।

तामिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र, कलिंग, बंग, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात एवं राजस्थान आदि प्रान्तों तथा मुख्यतः मथुरा के कंकाली टीले और कर्णाटक के श्रमण वेलगोल तीर्थ-स्थल से उपलब्ध हुई पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री के सूक्ष्म अध्ययन से एक बड़ा ही विस्मयकारी तथ्य प्रकाश में आता है। वह तथ्य यह है कि उक्त अवधि का अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से १७०० तक का जैन धर्म का बहिरंग इतिहास तो भिन्न-भिन्न आयामों में स्पष्ट एवं क्रमबद्ध ही है। उक्त अवधि में जैन-धर्म की मूल शास्त्रीय परम्परा से भिन्न आडम्बरपूर्ण वहिरंग प्रवृत्तियों सम्बन्धी उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तट तक के विस्तीर्ण भू-भाग में उपलब्ध प्राचीन अभिलेखों में जैनधर्म के प्रति पाई गई प्रजा के सभी वर्गों और विशेषतः राजाओं, व राजवंशों की प्रगाढ प्रीति को देखकर तो भगवान् महावीरकालीन धर्मोद्योत की झांकी हृदयपटल पर उभर आती है। किन्तु जैन धर्म की प्राणभूता आत्मा तुल्य मूल परम्परा का, विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली आगमानु-सारिणी मूल आचार्य परम्परा का इतिहास पूर्ण-रूपेण तो नहीं किन्तु अधिकांशतः अन्धकाराच्छन्न ही रहा।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यदि संक्षेप में यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उक्त अवधि में जैन धर्म के बहिरंग स्वरूप का इतिहास तो वस्तुतः बहु आयामी एवं गर्व करने योग्य श्लाघनीय स्थिति में प्रकाशमान रहा। उसके उस अवधि के उत्कर्ष को देखकर अन्य धर्मावलम्बी जैन धर्मावलम्बियों से स्पर्द्धा एवं स्पृहा ही करते थे, किन्तु जैनधर्म की प्राणभूता विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा का एवं अध्यात्मपरक जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप का इतिहास तमसावृत होने के कारण वस्तुतः अन्धकार में धूमिल हो गया।

मूल आध्यात्मिक रूप में येन केन प्रकारेण चलते रहे जैनधर्म का इतिहास तो उक्त अवधि में धूमिल रहा और उसके मूलगुण वीतरागभाव से कोसों दूर बाह्य आडम्बरपरक बाह्य भक्ति का इतिहास लोकप्रिय और लोक विश्रुत होकर बढ़ता रहा । शनैः शनैः आध्यात्मिक उपासना का स्थान बाह्य आडम्बरपूर्ण भौतिक आराधना ने और भावार्चना का स्थान द्रव्य अर्चना—द्रव्य पूजा ने ग्रहण करना प्रारम्भ किया । आकर्षक बाह्य आडम्बर पूर्ण धार्मिक कार्य-कलापों की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित होने लगा और जनमत उस ओर झुकने लगा । लोक प्रवाह को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बाह्य आडम्बरपूर्ण द्रव्य पूजा, द्रव्यार्चना के नित नये विधि विधान, तौर तरीके प्रकार आदि आविष्कृत किये जाने लगे । द्रव्य पूजा के आविष्कारक उन श्रमणों की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर श्रमण वर्ग के बहुसंख्यक श्रमण व श्रमणी गण इस प्रकार की द्रव्य परम्पराओं के पोषक बन गये । जो परम्परा बहिरंग आराधना के द्रव्यार्चना के जितने अधिक आकर्षक प्रकारों का आविष्कार प्रचार व प्रसार करने और अपने उन आकर्षक आयोजनों से जितने अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुई वही परम्परा सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे बड़ी समझी जाने लगी । श्रमण व श्रमणी वर्ग भी बहुत बड़ी संख्या में आध्यात्मिक साधना के पथ का परित्याग कर आडम्बरपूर्ण भौतिक आराधना का पथिक एवं पथ प्रदर्शक बन गया । इसका घातक दुष्परिणाम यह हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के नितान्त अध्यात्मपरक स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन हो गया । श्रमण भगवान् महावीर ने धर्म तीर्थ की स्थापना करते समय संसार के षड्जीवनिकाय के घोर कष्टों का अनुभव करते हुए भव्यों को उनकी रक्षा का उपदेश दिया था । प्रभु ने कहा था :—

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए । अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति ।........

........संति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास अणगारामो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ मरण मोयणाए, दुक्खपडिघाय हेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ,........समारंभावेइ,........समारंभंते समणुजाणइ ।

तं से अहियाए तं से अबोहिए....

(आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध द्वितीय उद्देशक)

अर्थात् पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकायों के जीव पीड़ित हैं और दुखित हैं । इन पीड़ित जीवों का लोग आरम्भ समारम्भ कर इनको घोर कष्ट पहुंचाते हैं । क्रुद्ध

व्यक्ति अपने आपको अरणगार बताते हुए भी इन षड् जीव निकाय के जीवों का इनके आश्रित द्वीन्द्रिय तीन्द्रिय आदि जीवों का संहार करते, करवाते और करने वालों का अनुमोदन करते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को बनाये रखने के लिये अपने मान सम्मान पूजा आदि के लिये अथवा जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये व मोक्ष प्राप्ति के लिये अथवा दुःखों से छुटकारा पाने के लिये इन षड्जीव निकाय का आरम्भ समारम्भ करता है, करवाता है और करने वाले को भला समझता है तो वह उसके लिये घोर अहितकर है, महान् अनर्थकारी है और वह उसके अबोधि के लिये अर्थात् मिथ्यात्व के घोर अन्धकार में डालने के लिये है।

आगम के इस स्पष्ट निर्देश के होते हुए भी इन द्रव्यपूजा के प्रवर्त्तक श्रमणों ने छ जीव निकाय के घोर आरम्भ समारम्भ महारम्भपूर्ण कार्य चैत्यालय निर्माण आदि स्वयं करने एवं अपने भक्तों द्वारा करवाने प्रारम्भ कर विशुद्ध श्रमणाचार और धर्म के विशुद्ध स्वरूप में भी आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। विशुद्ध धर्म के स्वरूप से लोग शनैःशनैः अपरिचित होने लगे। विशुद्ध श्रमणाचार क्या है यह बताने वाले श्रमणों का प्रभाव प्रायः क्षीण सा हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि विशुद्ध श्रमण परम्परा एक अतीव गौण परम्परा बन कर रह गई और नवोदित द्रव्य परम्पराएं लोकप्रिय बन गई।

धर्म के स्वरूप में और श्रमणाचार में आमूलचूल परिवर्तन आने के पीछे केवल शिथिलाचार ही एकमात्र कारण रहा हो, ऐसी बात नहीं है। इसके पीछे क्रमशः निम्नलिखित कतिपय कारण और भी थे :—

(१) काल प्रभाव से लोगों की कष्ट सहन और परिषह सहन करने की क्षमता का क्रमिक ह्रास।

(२) हुन्डा अवसर्पिणी काल का प्रभाव। जैसा कि आगमों में उल्लेख है अनन्तानन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् एक हुन्डा अवसर्पिणी काल आता है। हुन्ड का मतलब है हीन अर्थात् निकृष्ट अथवा खराब। इस प्रकार के काल में कतिपय आश्चर्यकारी एवं दुखद घटनायें होती हैं जो प्रायः किसी भी अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी काल में घटित नहीं होतीं। इस प्रकार के हुन्डा अवसर्पिणी काल में हीन मनोबल वाले श्रमण श्रमणी वर्ग विशुद्ध श्रमणाचार का परित्याग कर अनेक प्रकार के शिथिलाचार का सेवन करते हैं और साधना के अध्यात्म पद से उन्मुख हो भौतिक एवं बाह्य आडम्बरों से ओत-प्रोत पथ के पथिक बन जाते हैं।

(महानिशीथ में सावद्याचार्य का प्रकरण)

(३) भस्मग्रह का प्रभाव।

(जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १ प्रथम संस्करण पेज ४६६)

(४) अन्य धर्मों के प्रभाव से अपने अनुयायियों को बचाने के सदुद्देश्य से अन्यों की देखादेखी अनेक अशास्त्रीय विधाओं विधि विधानों को धार्मिक कृत्यों एवं धार्मिक कर्त्तव्यों के रूप में स्वीकार करना। बौद्धों, शैवों और वैष्णवों के प्राबल्यकाल में जैनों को अपने धर्म में स्थिर रखने के लिये बड़े विशाल स्तर पर इस प्रकार के धार्मिक आयोजनों के किये जाने के उल्लेख यत्र-तत्र उपलब्ध हैं।

(५) धर्म की रक्षार्थ राज्य सत्ता को अपनी वशवर्त्ती अथवा अनुयायी बनाये रखने हेतु अनेक प्रकार के ऐसे कार्यकलापों की अनिवार्य-रूपेण स्वीकृति की व्यवहारकुशलता, आदि-आदि।

(६) देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् किसी प्रभावशाली पूर्वधर आचार्य का अभाव हो जाना। पूर्वधर प्रभावशाली आचार्य के विद्यमान न रहने के कारण यथेष्ट रूप से श्रमण श्रमणी समूह विशुद्ध श्रमणाचार का परित्याग कर शैथिल्य की ओर अग्रसर होने लग गया।

इन सब कारणों से धर्म के स्वरूप में और श्रमणाचार के स्वरूप में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं विकृतियां प्रविष्ट होती रहीं। भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट स्व पर कल्याणकारी धर्मपथ से भटक कर अनागमिक मार्ग पर आरूढ़ हुई सिद्धान्त-विहीन परम्पराओं का उत्कर्ष और लोकव्यापी विस्तार जैनधर्म की शास्त्रविहित विशुद्ध श्रमणाचार का यथावत् रूपेण त्रिकरण त्रियोग से पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के लिये उत्तरोत्तर अधिकाधिक घातक सिद्ध होता गया। मूल श्रमण परम्परा का ह्रास होते होते अन्ततोगत्वा एक क्षीणतोया महानदी के अन्तःप्रवाह अथवा प्रच्छन्न प्रवाह की भांति यह शुद्ध श्रमण परम्परा नगण्य एवं गौण रूप में अवशिष्ट रह गई।

इन कारणों पर प्रकाश डालते हुए विक्रम की ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवीं शताब्दी की पूर्वार्द्ध की मध्यवर्ती अवधि के महान् प्रभावक एवं आगम मर्मज्ञ, नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी आगम अष्टोत्तरी नामक कृति में आज से लगभग ९२० वर्ष पूर्व अपनी अन्तर्व्यथा को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

देवड्ढि क्षमाश्रमणजा, परं परं भावओ विआणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वओ परम्परा बहुहा ।।

अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक तो भाव परम्परा (भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल धर्म की परम्परा) अक्षुण्ण रूप से चलती रही, यह मैं जानता

हूं किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् साधु-साध्वी वर्ग प्रायः शिथिलाचारी बन गया और उसके परिणामस्वरूप उन शिथिलाचारियों के द्वारा अनेक प्रकार की द्रव्य परम्परायें स्थापित कर दी गईं।

नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि की इस गाथा से सिद्ध होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००० तक जैन धर्म में अध्यात्मपरक भाव परम्परा का प्रवाह भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित एवं गणधरों द्वारा ग्रथित आगमों के अनुसार यथावत् अक्षुण्ण गति से चलता रहा। श्रमण श्रमणी वर्ग आगमानुसार निरतिचार विशुद्ध श्रमण धर्म का पालन करते हुए चतुर्विध संघ को आराधना साधना का सही उपदेश देकर उससे भाव परम्परा का पालन करवाते रहे। किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् परिषहभीरु श्रमण श्रमणियों ने असिधारा तुल्य दुस्साध्या क्रिया, अनियत निवास, उग्र विहार, परीषह सहन, सभी कुलों में मधुकरी के माध्यम से प्राप्त निर्दोष रूक्ष नीरस आहार से शरीर का निर्वाह, पूर्णतः अपरिग्रह आदि विशुद्ध श्रमणाचार को तिलांजलि देकर वस्तिवास से चैत्यवास तक स्वीकार किया। मठ, चैत्य आदि में नियत निवास, मठ चैत्यादि में भगवान् को भोग लगाने के निमित्त से भोजनशालायें प्रारम्भ कर उन्हीं में नियत रूप से सरस भोजन करना, रुपया, पैसा, धन, दौलत, कृषि भूमि आदि का परिग्रह रखना, चैत्य, मठ आदि का सुविधानुसार निर्माण आदि करवा कर निजी सम्पत्ति के रूप में उनका स्वामित्व, छत्र चामर रथ पालकी सिंहासन दास दासी गद्दे मसनद बहुमूल्य परिधान सुगन्धित उबटन तेल इत्र पान सुपारी आदि का अहर्निश उपभोग परिभोग आदि श्रमण मर्यादा से पूर्णतः प्रतिकूल चर्याओं को अंगीकार कर भूमिदान, चल-अचल सम्पत्ति का और विपुल द्रव्य का दान ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने धर्म के नाम पर प्रतिष्ठा महोत्सव, वाद्य यन्त्रों की ताल पर कीर्तन भजन, नृत्य संगीत, तीर्थ यात्रा आदि सैंकड़ों प्रकार के नित नये आडम्बरपूर्ण आयोजन कर सभी वर्गों के लोगों को अपने-अपने सम्प्रदाय, संघ, गच्छ आदि की ओर आकर्षित करना प्रारंभ किया। शिथिलाचार के गहन गर्त्त की ओर उन्मुख हुए वे शिथिलाचारी श्रमण वेष मात्र से नामधारी मुनि रह गये। सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु द्वारा प्रणीत जैन आगमों में प्रतिपादित श्रमणाचार का श्रमण मर्यादाओं का उन नियत निवासी चैत्यवासियों एवं मठवासियों के जीवन में लवलेश तक नहीं रहा।

यह कोरी कल्पना मात्र नहीं है. एपीग्राफिका इण्डिका, एपिग्राफिका कर्णाटिका, इण्डियन एण्टीक्वेरी, साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स आदि पुरातत्व सम्बन्धी सैंकड़ों ग्रन्थमालाओं के हजारों पृष्ठ जैन शिलालेख संग्रह तीनों भागों के लगभग १५०० पृष्ठ, भगवान महावीर की मूल विशुद्ध श्रमण परम्परा से भिन्न प्रकार की भट्टारक, यापनीय, मठवासी, चैत्यवासी, कूर्चक, निर्ग्रन्थ आदि देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल की श्रमण परम्पराओं एवं साधु परम्पराओं के आचार्यों एवं

साधुओं द्वारा विशाल भूखण्डों, भवनों, ग्रामों, चैत्यों, वसतियों, मठों और धनराशियों आदि के दान ग्रहण किये जाने के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। इन सब उल्लेखों का अध्ययन कर इन पर विचार करने से ऐसा आभास होता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्त्ती काल में मठों, चैत्यों, वसतियों, मन्दिरों आदि का निर्माण करवाना, मन्दिरों की पूजा के लिये, कृषि भूमि, ग्राम, धनराशि आदि का दान ग्रहण करना, साधु और साध्वियों की आहार पानीय आदि की व्यवस्था के लिये बड़ी-बड़ी धनराशियों, कृषिभूमियों एवं ग्रामादि का दान ग्रहण कर साधु साध्वियों के लिये भोजन बनवाना, उनके निमित्त बनाया हुआ आधाकर्मी सदोष भोजन खाना, खिलाना, मठों चैत्यों, वसतियों आदि महा परिग्रहों का स्वामित्व ग्रहण करना, मठों, चैत्यों, वसतियों आदि में बारहों मास निरन्तर एक ही स्थान पर नियत वास करना, संघ यात्राओं का आयोजन करना, प्रायः ये ही साधुओं, आचार्यों, भट्टारकों आदि के साधु जीवन के प्रमुख कर्त्तव्य रह गये थे; जबकि युगादि से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के समय तक ये सब कार्य साधु जीवन के लिये पंचमहाव्रतधारी साधु मात्र के लिये अशुचिवत् अथवा विषवत् एकान्ततः जीवनपर्यन्त पूर्णतः त्याज्य माने जाते रहे।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूपी जिस चतुर्विध तीर्थ की--धर्म संघ की स्थापना के समय तीर्थंकर प्रभु ने प्राणी मात्र के लिये, छोटे से लेकर बड़े से बड़े साधक वर्ग के लिये जन्म, जरा, व्याधि, उपाधि, मृत्यु आदि सभी प्रकार के सांसारिक दुखों के मूल कर्म बल को सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी रत्नत्रयी की सम्यग् आराधना द्वारा ध्वस्त कर शाश्वत शिव सुख प्राप्ति, सच्चिदानन्द घन स्वरूपावाप्ति को ही एक मात्र चरम एवं परम लक्ष्य बताया था, देवर्द्धि के स्वर्गारोहण काल तक वीतराग जिनेन्द्र प्रभु के धर्म संघ के न केवल साधु साध्वी वर्ग अपितु श्रावक-श्राविका वर्ग ये चारों ही प्रकार के वर्ग उसी एक मात्र चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपनी अपनी शक्ति सामर्थ्यानुसार प्रयत्नशील रहे।

किन्तु देवर्द्धि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्त्ती काल के साधु साध्वी श्रावक और श्राविका इन चारों वर्गों के, संलेखना को छोड़ शेष, कार्यकलापों का विवरण मध्ययुगीन पुरातत्व सामग्री के अभिलेखों में पढ़कर ऐसा आभास होता है कि भगवान् महावीर के धर्म संघ के चारों ही वर्गों ने या तो प्रभु द्वारा प्रदर्शित उस चरम परम लक्ष्य को भुला दिया था अथवा गौण समझ लिया था।

देश के कोने-कोने से प्राप्त मध्ययुग की पुरातात्विक सामग्री के अभिलेखों में राजाओं, राज-रानियों, मन्त्रियों, सेनापतियों, श्रेष्ठियों, सामन्तों, प्रशासकों, व्यापारी वर्गों, प्रजा की सभी जातियों के श्रावक श्राविकाओं द्वारा चैत्य वसति, जिन मन्दिर, मठ आदि के निर्माण, साधु साध्वियों के भोजन पान आदि की व्यवस्था और मन्दिरों की पूजा के निमित्त आचार्यों, मन्दिरों, मठों, वसतियों के स्वामी प्रबन्धक अथवा पौरोहित्य करने वाले श्रमणों श्रमणाग्रणियों को भूमि दान, भवन दान और

धनराशि का दान दिये जाने के आचार्यों भट्टारकों, अथवा श्रमणों द्वारा मठों, मन्दिरों, तीर्थों, वसतियों आदि का आधिपत्य अथवा स्वामित्व अंगीकार करने के अगणित उल्लेख भरे पड़े हैं। तीर्थंकरों के मन्दिरों की प्रतिष्ठा अथवा पूजा आदि से भी उन धर्मसंघों को सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने ज्वालामालिनी, पद्मावती आदि देवियों के, गोम्मटेश्वर की स्वतन्त्र मूर्तियां बनवा इनके पृथक् स्वतन्त्र मन्दिर बनवाने की नव्य नूतन प्रथा का प्रचलन किया। केवल यही नहीं, अपितु मान सम्मान एवं लोकैषणाओं से ओतप्रोत मानस वाले उन उत्तरवर्ती काल में पनपे एवं प्रसिद्धि पाये हुए जैन धर्म संघों के महत्वाकांक्षी आचार्यों ने मन्त्र, तन्त्र, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प, आदि का आविष्कार कर अधिकाधिक संख्या में लोगों को अपना अनुयायी बनाने एवं लोकमत को अपनी ओर आकर्षित करने के साथ-साथ अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु राजनीति में, शासन संचालन में, सक्रिय भाग लेना भी प्रारम्भ कर दिया। जर्नल आफ दी बम्बई ब्रान्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम १० पृष्ठ २६० एफ एफ के अनुसार सौं—दत्ति से प्राप्त ईस्वी सन् १२२८ के अभिलेख के अनुसार वेणु ग्राम (साम्प्रत कालीन वेलगांव) के रट्टवंशी राजा कार्त्तवीर्य एवं उसके पुत्र राजा लक्ष्मीदेव के राजगुरु जैनाचार्य मुनिचन्द्र ने इन राजाओं के राज्य संचालन और सैनिक अभियानों में सक्रिय भाग लेकर इन रट्टवंशी राजाओं के राज्य की सीमाओं का विस्तार कर रट्ट राज्य को एक शक्तिशाली राज्य का रूप दिया। उक्त शिलालेख के लेखानुसार जैनाचार्य मुनिचन्द्र धर्मनीति के साथ-साथ रणनीति के भी विशारद् थे। सर्वोच्च सम्मान के योग्य एवं सभी मन्त्रियों में सर्वोच्च सुयोग्य मन्त्री एवं शक्तिशाली रट्टवंशी राज्य के निर्माता अथवा संस्थापक जैनाचार्य मुनिचन्द्र ने अपनी उच्च कोटि की प्रशासनिक योग्यता एवं उदारता के गुण से अपने आपको अन्य सभी मन्त्रियों में सर्वाग्रणी सिद्ध किया।[1]

देवर्द्धिगणि से उत्तरवर्त्ती काल में बदली हुई सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इस प्रकार लोकप्रिय एवं बहुजन सम्मत बने श्रमण

---

१. Munichandra's activities were not confined to the sphere of Religion alone. Besides being a spiritual guide and political advisor of the Royal House Hold, he appears to have taken a leading part not only in the administrative affairs, but also in connection with the military Campaigns of the kingdom. He is stated to have expanded the boundries of the Ratta territory and established their authority on a firm footing. Both Laxmi Deo IInd and his father Kart Virya IV were indebted to this divine for his sound advice and political wisdom. Munichandra was well versed in sacred lore and proficient in military science. "Worthy of respect, most able among ministers, the establisher of the Ratta King Munichandra surpassed all others in capacity for administration and in generosity". (Jainism in south India in some jaina Epigraphs—By P.B. Desai Page 114-115)

संघ के आचार्यों ने राजनीति में खुलकर भाग लिया। जैन संघ के कतिपय धर्माचार्यों ने नये राज्यों एवं नये राजवंशों की स्थापना तक की। इस प्रकार राजवंशों की स्थापना करते समय और उन राजवंशों के राज्य विस्तार के समय उन राजाओं को आचार्यों ने युद्धभूमि में अन्तिम दम तक डटे रहने की भी प्रेरणा दी। इस प्रकार राजवंशों एवं राज्यों की स्थापना के साथ-साथ उन्हें शक्तिशाली बनाने तथा सीमा विस्तार करने में कतिपय आचार्यों ने अपने शिष्य राजाओं को सक्रिय सहयोग और विजय अभियानों में परामर्श तक भी दिया। इस प्रकार के अनेक उल्लेख मध्ययुगीन शिलालेखों में उपलब्ध होते हैं। आचार्य सुदत्त ने (बी. ए. सेलोटोर के अभिमतानुसार अपरनाम आचार्य वर्द्धमानदेवने)[1] उन पर आक्रमण करने के लिये झपटते हुए चीते की ओर इंगित कर अपने पास बैठे यदुवंशी क्षत्रियकुमार सल् को आदेश दिया:—

"पोय्सल् ! अर्थात् हे सल् ! इस चीते को मार डालो।"

सल् ने सुदत्त आचार्य द्वारा दी गई चामर की मूठ से चीते को मार डाला। आचार्य सुदत्त क्षत्रियकुमार सल् के इस अद्भुत साहसपूर्ण शौर्य से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस क्षत्रियकुमार का नाम पोय्सल् रक्खा और उसे सभी भांति की सहायता एवं परामर्श प्रदान कर होय् सल् (पोय् सल्) राज्य की स्थापना की और उसे बनवासी राज्य का अधिपति बनाया। आचार्य सुदत्त ने होय्सल् राज्य के प्रथम राजा सल्, उसके पुत्र विनयादित्य (प्रथम) और विनयादित्य के उत्तराधिकारी नृपकाम इन तीनों राजाओं की उनके राज्यकाल में होय्सल् राज्य को एक शक्तिशाली राज्य बनाने में सभी भांति की सहायता की।[2]

शान्ति देव नामक आचार्य ने होय्सल् वंश के राजा विनयादित्य (द्वितीय) को विपुल लक्ष्मी (राज्यलक्ष्मी) प्राप्त करने में बड़ी सहायता की।[3]

काणूरगण के आचार्य सिंहनन्दी ने दडिग् और माधव नामक राजकुमारों को सभी विद्याओं की शिक्षा दे उन्हें अपने हाथों से राजमुकुट पहना कर एक शक्ति-

---

१. क–वर्द्धमान मुनीन्द्रस्य, विद्यामन्त्र प्रभावतः।
शार्दूलं स्ववशीकृत्य, होय्सलोऽपालयद्धराम्॥
(जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ लेख संख्या ६६७ पृष्ठ ५१९)

ख– मीडियेवल जैनिज्म पेज ६४

२. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख संख्या ३०१

३. यस्योपास्यपवित्र पाद कमल द्वन् द्वन् नृपः पोय्सलो,
लक्ष्मीं सन्निधिमानयत् स विनयादित्यः कृताज्ञाभुवः।
कस्तस्यार्हति शान्तिदेव यमिनस्सामर्थ्यमित्थं तये,
.... ॥५१॥
[जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख संख्या ५४ (६७)]

शाली जैन राज्य, गंग-राज्य की स्थापना की। उन्हें गंग-राज्य के प्रथम राजा के रूप में सिंहासन पर बैठाने के पश्चात् जिन सात बातों का उपदेश दिया उन सात शिक्षाओं में अन्तिम शिक्षा यह थी कि : "युद्ध भूमि में कभी पीठ मत दिखाना।" उन्होंने गंग राजवंश के प्रथम राजा दडिग् और माधव को सावधान करते हुए कहा था कि इन सात शिक्षाओं में से किसी एक भी शिक्षा का यदि उल्लंघन करोगे, पीठ दिखाकर रणभूमि से जिस दिन पलायन कर जाओगे उसी दिन से तुम्हारा राजवंश नष्ट हो जायेगा।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती काल में प्रसिद्धि पाये हुए इन धर्मसंघों के पंच महाव्रतधारी आचार्यों ने, साधुओं ने राजाओं, राजवंशों, अमात्यों, सामन्तों, राज्याधिकारियों, श्रीमन्तों, श्रेष्ठियों और प्रजा के सभी वर्गों को अधिकाधिक संख्या में अपना शिष्य, अनुयायी एवं समर्थक बनाने तथा अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अनेक प्रकार के तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि कल्पों, अनेक प्रकार के देव देवियों की मूर्तियों, मन्दिरों और चमत्कारपूर्ण तथाकथित सिद्धियों की परिकल्पना कर उनके माध्यम से प्रभुत्व, सत्ता, ऐश्वर्य, कीर्त्ति और विपुल वैभव प्राप्त करना प्रारम्भ किया। अपने अभीप्सित मनोरथों की सिद्धि के लिये लोकप्रवाह इनकी ओर उद्वेलित सागर के समान सब ओर से उमड़ पड़ा। देश के इस छोर से उस छोर तक जन-मानस में भौतिक कामनाओं से अनुप्राणित अन्धविश्वास की एक अदम्य लहर तरंगित हो उठी। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में पूजा प्रतिष्ठा जाप (याप), मन्त्र सिद्धि, यन्त्रसिद्धि आदि अनुष्ठानों में अहर्निश व्यस्त और वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित श्रमण धर्म को अपनी सुविधा एवं इच्छानुसार स्वरूप प्रदान करने वाले इन मध्ययुगीन विभिन्न नामधारी श्रमण संघों के चैत्यालयों, मठों, मन्दिरों, वसतियों, यक्षायतनों, ज्वालामालिनी, अम्बिका, पद्मावती प्रभृति देवियों के मन्दिरों और उपाश्रयों में स्वर्णमुद्राओं, रजत मुद्राओं एवं मणि माणिक्यादि की अहर्निश वृष्टि होने लगी। जो श्रमण जीवन सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी रत्नत्रयी की आराधना एवं तप संयम के माध्यम से मुक्ति की साधना के लिये समर्पित होना चाहिये था, वह पावन श्रमण जीवन भौतिक लालसाओं के लोभ में अन्ध बने लोक प्रवाह को समर्पित हो गया। इन मध्ययुगीन धर्म संघों के आचार्यों अथवा श्रमणों द्वारा मन्त्र, तन्त्र आदि विद्याओं के माध्यम से किस प्रकार की कार्यसिद्धि की जाती थी एतदर्थ सहस्रशः उदाहरणों में से एक उदाहरण राष्ट्रकूट वंशीय नरेश गोविन्द तृतीय के समय का इस प्रकार है :—

"ईसा की नौ वीं शताब्दी के मुनि अर्क कीर्त्ति ने कुनंगल प्रदेश के प्रशासक विमलादित्य को अपने मन्त्रबल द्वारा भीषण प्रेतबाधा से सदा सर्वदा के लिये विमुक्त कर दिया। इस चमत्कार से प्रसन्न होकर सम्पूर्ण गंग मण्डल के अधिराज एवं राष्ट्रकूट राज्य के सामन्त चाकिराज ने अपने स्वामी राष्ट्रकूट राज राजेश्वर गोविन्द

तृतीय से प्रार्थना कर जाल मंगल नामक एक ग्राम जैन मुनि अर्ककीर्ति को प्रीतिदान के रूप में दिलवाया।[1]

राजाओं, महामात्यों, सेनापतियों, सामन्तों, श्रेष्ठियों और अधिकाधिक संख्या में जन समुदायों को अपना-अपना भक्त और अनुयायी बनाने की इस प्रकार के विभिन्न संगठनों के रूप में गठित धर्म संघों के आचार्यों एवं श्रमणों में होड़ सी लग गई। जिस संघ के आचार्य ने सबसे बड़े राजा को अपना अनुयायी, भक्त अथवा शिष्य बना लिया, वही सबसे बड़ा आचार्य और उस आचार्य का संघ ही सबसे बड़ा एवं सबसे श्रेष्ठ संघ माना जाने लगा। धर्म संघ की श्रेष्ठता और आचार्य की महानता का यही मापदण्ड लोक में सर्वमान्य बन गया। जो आचार्य राजगुरु बन गया वही लोकगुरु माना जाने लगा। इस प्रकार की स्थिति में इस प्रकार के धर्मसंघों के आचार्य और साधु रात-दिन इसी उधेड़बुन में रहने लगे कि किन उपायों से राजा को अपना अनुयायी बनाया जाय, अधिकाधिक लोगों को अपना भक्त बनाया जाय। इस प्रकार देवर्द्धिगणि से उत्तरवर्त्ती काल में राज सम्पर्क और लोक सम्पर्क के माध्यम से भव्यातिभव्य जिन मन्दिरों, मठों, बसतियों, शासनदेवियों, आदि के मंदिरों के अधिकाधिक संख्या में निर्माण करवा जनमत को अपनी ओर आकर्षित करना ही इन धर्मसंघों के आचार्यों, भट्टारकों एवं साधुओं की दैनन्दिनी का प्रायः प्रमुख अंग रह गया था।

भगवान महावीर के धर्म संघ के उस समय के प्रमुख अंग माने जाने वाले श्रमण संघों की इस प्रकार की शोचनीय दशा को देखकर विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षधर एक श्रमण ने अपने शोकोद्गार निम्नलिखित रूप में प्रकट किये :—

गड्डरि पवाहओ जो पइ नयरं दीसए बहुजणेहिं।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।

सो होइ दव्वधम्मो, अपहाणो नेव निव्वुई जणइ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ।।७।।

पढमगुणठाणे जे जीवा, चिट्ठंति तेसि सो पढमो।
होइ इह दव्वधम्मो, अविसुद्धो बीयनायेण ।।१०।।

अविरइ गुणठाणाइसु जे य ठिया तेसि भावओ बीओ।
तेण जुया ते जीवा, हुंति सवीया अओ सुद्धो ।।११।।

अर्थात् आज जो भेड़ चाल से प्रत्येक नगर में बहुत से लोगों द्वारा जिनगृहों जिन मन्दिरों के निर्माण आदि कार्य करवाये जा रहे हैं, वे सब सूत्र विरुद्ध और अशुद्ध हैं। वह केवल अप्रधान धर्म है जो निवृत्ति का जनक मोक्षदायक नहीं है। शुद्ध धर्म

---

१. एपिग्राफिका कर्णाटिका वाल्यूम १२ जी बी, पी. पी. ३०–१

तो वस्तुतः इससे भिन्न दूसरा ही है। जो प्रतिश्रोतगामियों अर्थात् लोकप्रवाह के प्रतिकल आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले महापुरुषों द्वारा आचरित एवं प्रशंसित है। प्रथम गुणस्थान में जो जीव संस्थित हैं, उनके लिये यह प्रथम द्रव्यधर्म है, जो वीज-न्याय मूल-न्याय अथवा बोधिबीज सम्यक्त्व के अभाव की दृष्टि से अविशुद्ध है। जो जीव अविरत नामक चौथे गुणस्थान में स्थित हैं उनके लिए तो वह भाव पूजा नामक दूसरा धर्म ही आचरणीय और श्रेयस्कर है, जो वस्तुतः प्रतिश्रोतगामी तीर्थंकर आदि महापुरुषों द्वारा सेवित एवं आचरित होने के कारण विशुद्ध और वास्तविक धर्म है। क्योंकि उससे युक्त जीव सबीज अथवा बोधिवीज सम्यक्त्व सहित होते हैं अतः वह दूसरा आध्यात्मिक धर्म ही विशुद्ध धर्म है।

देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती काल में, जिस समय जैनागमों में प्रतिपादित जैनधर्म की शाश्वत सत्य सिद्धान्तों से प्रतिकूल आचरण करने वाले चैत्यवासी एवं भट्टारक आदि धर्म संघों का सर्वत्र प्राबल्य था, इन संघों के चरमोत्कर्ष काल में भी तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा वताये गये जैनधर्म के मूलभूत आध्यात्मिक सिद्धान्तों एवं विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के निर्दोष श्रमणाचार के पक्षधर किसी श्रमणोत्तम ने इन पंक्तियों में उक्त द्रव्य परम्पराओं के उत्कर्ष काल में उनके द्वारा प्रचालित भेड़चाल तुल्य लोकप्रवाह पर शोकपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते हुए मूल विशुद्ध जैन धर्म का, शाश्वत सत्य श्रमण परम्परा एवं श्रमणोपासक परम्परा के मूल स्वरूप का अतीव सहज सुन्दर शैली में चित्रण किया है। जैनधर्म के शाश्वत सत्य मूल स्वरूप में आडम्बर के लिये कहीं कोई किंचित्मात्र भी स्थान नहीं था, वह तो पूर्णतः आध्यात्मिकता की आधारशिला पर आधारित था। उसमें केवल आध्यात्मिकता ही आध्यात्मिकता ओतप्रोत थी।

जैनधर्म और श्रमणाचार के मूल सिद्धान्तों से विपरीत श्रमणाचार एवं धर्म के स्वरूप को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत कर सुदृढ़ तथा शक्तिशाली वने इन नियत निवासी धर्मसंघों के उत्कर्ष काल में एवं एकाधिकार काल में हुई जिन शासन की विशुद्ध श्रमण परम्परा की दयनीय दशा से दुखित विधि पक्ष के आचार्य भावसागर सूरि ने विक्रम सम्वत् १५६० के आसपास की अपनी रचना "श्री वीर वंश पट्टावली अपर नाम विधि पक्ष गच्छ पट्टावली" में अपनी अन्तरव्यथा इन शब्दों में अभिव्यक्त की है :—

दुस्सह दूसमवसओ, साह पसाहाहिं कुलगणाइं हिं।
विज्जा किरिया भट्ठा, सासणमिह गुत्तरहियं च ॥१६॥

अर्थात् दुस्सह दुष्षम नामक पंचम आरक के दुष्प्रभाव के परिणामस्वरूप आदिकाल से एकता के सूत्र में आबद्ध चला आ रहा प्रभु महावीर का धर्म संघ भिन्न-भिन्न गच्छों शाखाओं एवं कुलों एवं गणों में विभक्त हो छिन्न-भिन्न हो

गया, अध्यात्म विधाएं प्रणष्ट तथा विशुद्ध क्रियाएं भ्रष्ट हो गईं। अर्थात् साधु साध्वी श्रावक श्राविका वर्ग अपने आदर्श कर्त्तव्यों से च्युत हो गये और यह जिन शासन अर्थात् महावीर का धर्मसंघ सूत्र रहित हो गया। चतुर्विध संघ के साधु साध्वी श्रावक श्राविका इन चारों वर्गों के सदस्यों का आचार व्यवहार सर्वज्ञ प्रणीत आगमों में प्रदर्शित व प्रतिपादित मूल विशुद्ध मार्ग से विपरीत हो गया।

मध्ययुगीन मन्दिरों, तीर्थों, वसतियों, चैत्यालयों आदि से उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों, अभिलेखों आदि के अध्ययन द्वारा उस युग के श्रमणसंघों, उनके आचार्यों और मुनियों के विशुद्ध श्रमणाचार से विपरीत शिथिलाचारपूर्ण आचरण से, द्रव्य संग्रह की प्रवृत्ति से और आगम साहित्य में प्रतिपादित जैनधर्म के अध्यात्मपरक एवं अहिंसा मूलक महान् सिद्धान्तों के अध्ययन के पश्चात् इतिहास के मर्मज्ञ एवं तटस्थ विद्वान् ने उपरिवर्णित आचार्यों के लिये उनकी अन्तर्दशा के द्योतक उद्गारों के अनुरूप ही अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है :—

"......................Thus, the distinction between Jain monks and priests gradually disappeared from the 7th., 8th. centuries. The change in usual practice, of priesthood would have surely made them the sole master of enormous wealth, acquired from endowments made by the Jain devotees.

The above analysis of the nature of Jaina monks in Karnataka shows how far they departed from the precepts of their founder Mahavira, who denounced the infallible authority of the priest class among the Hindus and great emphasis on the purity of soul rather than the observances of ritualistic formalism. The rituals introduced by the Jaina teachers of Karnataka were not in keeping with the original puritan character of Jainism. The introduction of rituals also affected the Jaina vow of Ahinsa (non-injury). In the course of performing worship and rituals; the Jaina devotees occasionally committed acts of injury to unseen germs in water, flowers, etc., which were used in the worship of Jina. The offering of Homa or fire oblation and Arti or waving the lamp round the Jina killed small insects."[१]

इन्हीं विद्वान् ऐतिहासज्ञ ने मध्ययुगीन धर्मसंघों द्वारा परम्परागत श्रमण जीवन में मूल श्रमणाचार अथवा श्रमण चर्या में किये गये परिवर्तनों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"The most important change which affected the Jainas in Karnataka related to the way of their living. The wandering mode of life, originally intended for the monk community, yielded place to permanent habitation of the Jaina monks in Jaina monasteries. The Digambara teachers of

१. जैनिज्म इन अरली मिडिएवल कर्नाटका, वाई रामभूषणप्रसादसिंह, पेज ५१

Karnataka induced the people to erect monasteries and temples and endow them with rich gifts for proper maintenance. The Jaina devotees showed equal zeal for building residences for the Jaina ascetics. Gradually Jaina monasticism organised itself under the authoritative control of the Chief Pre-ceptors, who were generally the recipients of gifts on behalf of the Jain temples and monestic establishments.

In the new monasticism, the preceptors wielded much authority over the monks and nuns. As the latter were solely dependent upon the former for their subsistence, they had to be loyal towards the preceptors. The preceptors also commanded respect of the lay devotees of all classes. Pujya Pada Jinsena, Gun Bhadra, Som Deo, Ajit Sen, Sudatta, Vardhaman Deo and Muni Chandra were some of the prominent Jaina teachers, who exerted profound influence upon the kings and princes of Mysore in their own times. They now tendered advice not only on spiritual matters, but also on worldly affairs. They took active interest in the politics of Karnataka. This obviously ment a break with the past, when the monks led a solitary life in the old monasticism. In any case, old norms were being freely violated".[१]

मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में अपने पुरातात्विक अध्ययन के निष्कर्ष के रूप में अभिमत व्यक्त करते हुए इन्हीं इतिहासविद् सिंह महोदय ने लिखा है :—

"In the earliest phase of their history the Jainas and the Buddhists launched a systematic campaign against the cult of ritual and sacrifice as destructive of all morals, and laid great stress on the purification of soul for the attainment of Nirvana or salvation. They denied the authority of God over human actions. Unlike the Hindus, they did not accept God as the Creator and Destroyer of the Universe. Contrary to the popular view they held that every soul possesses the virtue of Parmatma or God and attains this status as soon as it frees itself from the worldly bondage.

Naturally the early Jains did not practice image worship, which finds no place in the Jain canonical literature. The early Digambara texts from Karnataka do not furnish authentic information on this point and the description of their Mool Gunas and Uttar Gunas meant for lay worshippers do not refer to image worship. But idol worship first appeared in the early centuries of the Christian Era, and elaborate rules were developped for performing the different rituals of Jaina worship during early medieval times.

Samant Bhadra, who belongs to the early century of the Christian Era, was probably the first to lay down worship as the religious duty of a layman.

---

१. Jainism in Early Medieval Karnataka, by Ram Bhushan Prasad singh, pages 135-136, published by Motilal Banarasidass, Delhi—Varanasi-Patna, first edition, Delhi, 1975.

He included it among the Shiksha Vratas or Educative vows and gave it a place of some importance in his rules for Jain house holders.[१]

From this time the Jaina teachers further developed their system of worship. Som Deo included it among samayik Shiksha Vrata or the customary worship and devoted a full chapter to the Jaina system of worship."[२]

ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरवर्त्ती काल में जैन श्रमणों एवं श्रमण संघों में जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों के विपरीत शुद्ध श्रमणाचार के प्रतिकूल आचरण का प्राचुर्य क्यों हो गया ? शिथिलाचार, द्रव्य संग्रह, मन्दिरों के पौरोहित्य ग्रहण आदि की वृत्ति क्यों और किस प्रकार उत्पन्न हो गई ? उनका श्रमण जीवन पूर्व काल के श्रमणों के एकान्तप्रिय, परिभ्रमणशील एवं आध्यात्मिक श्रमण जीवन से प्रतिकूल दिशागामी क्यों बन गया ? इन सब प्रश्नों पर क्षीर नीर विवेक दृष्टि से गहन अध्ययन के पश्चात् विद्वान् ऐतिहासज्ञ श्री रामभूषण प्रसादसिंह ने निष्कर्ष के रूप में जो उपरि उद्धृत विचार व्यक्त किये हैं वे सार रूप में इस प्रकार हैं :—

"जिन कारणों से मध्ययुग के श्रमणों ने मन्दिरों के पौरोहित्य को ग्रहण किया, उन कारणों को ज्ञात करना कोई कठिन कार्य नहीं है। जैन श्रमणों के मन मस्तिष्क में बढ़ती हुई द्रव्य संग्रह की लालसा, संघ में सत्ता सम्पन्न प्रमुख पद प्राप्त करने की अभिलाषा और उनकी उत्तरोत्तर शिथिलाचार की ओर उन्मुख हुई वृत्ति ने उन्हें श्रमण धर्म से भ्रष्ट करने वाले पौरोहित्य के कार्य को पुरोहितों से छीनकर अपने अधिकार में लेने के लिये विवश किया। इस प्रकार अपने हाथ में लिये हुए पौरोहित्य कार्य ने उन श्रमणों को उस अपार सम्पत्ति और वैभव का स्वामी बना दिया जो श्रद्धालु भक्तों द्वारा जिन मन्दिरों को भेंट की गई बहुमूल्य सम्पत्ति के रूप में उन्हें प्राप्त होती रहती थी।

जैन साधुओं की इस प्रकार की प्रभुसत्ता प्राप्त करने की लालसा के साथ-साथ शिथिलाचारपरक अर्थ लोलुप वृत्ति ने उन्हें भगवान् महावीर के आध्यात्मिक सिद्धान्तों से कितने कोसों दूर फेंक दिया, यह प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को सहज ही विदित हो जाता है। भगवान् महावीर ने धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते समय हिन्दू समाज में एकाधिपत्य के रूप में छाई हुई पौरोहित्य वृत्ति का घोर विरोध करने के साथ-साथ भौतिक अनुष्ठानों के स्थान पर आत्म शुद्धि पर बल दिया था। जिन भौतिक अनुष्ठानों का भगवान् महावीर ने तीव्र विरोध कर निराकरण किया था, उन भौतिक अनुष्ठानों का जैनधर्म संघ में प्रचलन करते समय मध्य युग के जैनधर्म

---

१. S.P. Brahmachari, Gribastha Dharma, V. 119, page 144

२. Jainism in Early Medieval Karnataka, Page 23 published by Motilal Banarasi Dass, Delhi in the first edition 1975.

गुरुओं एवं धर्माचार्यों ने जैन धर्म के उन पवित्र आध्यात्मिक मूल सिद्धान्तों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जो आत्मशुद्धि के अमोघ साधन थे अथवा हैं। जैनधर्म संघ में उन मध्ययुगीन धर्माचार्यों द्वारा किये गये द्रव्य पूजा के भौतिक अनुष्ठानों के प्रचलन से जैनधर्म के प्राणभूत अहिंसा के मूल सिद्धान्त पर वस्तुतः कुठाराघात हुआ। द्रव्य पूजा करते समय भौतिक अनुष्ठानों के माध्यम से जो भक्तगण पूजा के प्रयोग में लाये जाने वाले पानी और पुष्पादि में विद्यमान अगणित सूक्ष्म जीवों की हिंसा करते हैं जो दृष्टिगोचर नहीं होते, द्रव्य पूजा में किये जाने वाले होम से, अगरबत्ती धूप आदि सुगन्धित द्रव्यों के प्रज्वलन से और प्रज्वलित प्रदीप को जिनमूर्ति के समक्ष घुमाने से अनुष्ठान करने वाला भक्त वायु अग्नि आदि जीव निकायों के असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा करता है। जैनों में मूर्ति पूजा का प्रादुर्भाव ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुआ और मध्ययुग में पूजा के नियमों और अनुष्ठानों को विस्तृत अथवा विशद् रूप दिया गया। समन्तभद्र (विक्रम की सातवीं आठवीं शताब्दी) ही सम्भवतः पहले आचार्य थे, जिन्होंने मूर्तिपूजा को शिक्षाव्रत में सम्मिलित कर इसे श्राद्ध वर्ग (श्रावक श्राविका वर्ग) का धार्मिक कर्त्तव्य निर्द्धारित किया। सोमदेव (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) ने मूर्ति पूजा को सामायिक शिक्षा व्रत में स्थान दिया।"

प्राचीन काल में वीर निर्वाण सम्वत् १००० तक जैन श्रमणों का श्रमण जीवन उच्च आदर्श से ओतप्रोत, कठोर मर्यादाओं से पूर्ण रूपेण मर्यादित, सर्वज्ञ प्रणीत जिनागमों में प्रतिपादित श्रमण धर्म के अनुरूप था। चतुर्विध संघ द्वारा सर्वमान्य महान् जैनधर्म का स्वरूप भी पूर्वधरकाल में जैनागमानुसार ही था। किन्तु मध्ययुग में जैन धर्म के स्वरूप में परिवर्तन और श्रमणों के श्रमणाचार में शैथिल्य आदि दोषों का प्रादुर्भाव एवं प्राबल्य किन कारणों से हुआ इस पर प्रकाश डालते हुए इन्हीं विद्वान् लेखक ने लिखा है :—

"मूलतः जैनागमों में श्रमण श्रमणी वर्ग के लिये अप्रतिहत विहार व वर्षावास को छोड़ शेष ऋतुओं में अनियत निवास का विधान है। मध्य युग में परीषहभीरु श्रमण श्रमणी वर्ग ने अप्रतिहत विहार अथवा अनियत निवास की मूल श्रमण चर्या का परित्याग कर एक ही स्थान पर नियत निवास को अंगीकार कर लिया। इस परिवर्तन के साथ ही उन श्रमणों ने अपने एक ही स्थान पर स्थायी नियत निवास के लिए अपने भक्तों को चैत्य, मठ, श्रमणवसतियां, श्रमणी वसतियां आदि बनाने में विपुल पुण्यलाभ का उपदेश देकर इनका निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। नगर-नगर ग्राम ग्राम में मठ चैत्यादि के निर्माण करवाये गए। उन चैत्यों, मठों और वसतियों में श्रमण श्रमणियों ने नियत निवास प्रारम्भ कर दिया। शनैः शनैः उन चैत्यों मठों, मुनि वसतियों और श्रमणी वसतियों आदि का प्रबन्ध उन श्रमण समूहों के आचार्यों व भट्टारकों आदि ने अपने हाथ में लिया और श्रमण श्रमणियों के लिये सभी प्रकार के समुचित प्रबन्ध एवं उन मठादि की भली भांति व्यवस्था हेतु उन

मठाधीशों, चैत्याधीशों ने मन्दिरों, चैत्यों और मठों के नाम पर भेंट, द्रव्यदान, भूमिदान, ग्रामदान आदि ग्रहण करने प्रारम्भ कर दिये। मठों, चैत्यों, बस्तियों और मुनि आवासों के नवोदित आधिपत्य व्यवस्था में समस्त श्रमण श्रमणी वर्ग के साधु साध्वियों पर उन मठाधीशों चैत्याधिपतियों का पूर्णरूपेण स्वामित्व अथवा आधिपत्य माना जाता था क्योंकि उन चैत्य मठादि में रहने वाले सभी साधु साध्वियों को अपने-अपने अधीश आचार्यों की कृपा पर ही निर्भर रहना पड़ता था। उन साधु साध्वियों का अपने-अपने आचार्यों के प्रति पूर्णरूपेण स्वामिभक्त रहना अनिवार्य था। भेंट एवं दान में प्राप्त धन की वृद्धि के साथ-साथ उन आचार्यों का वैभव बढ़ा और वैभव की अभिवृद्धि के साथ भक्त समाज पर उनका वर्चस्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। लोक सम्पर्क और राज सम्पर्क बढाकर उन्होंने प्रजाजनों के सभी वर्गों और राजा महाराजाओं पर भी अपना प्रभाव जमा लिया। पूज्यपाद् जिनसेन, गुणभद्र, सोमदेव, अजितसेन, सुदत्त, मुनिचन्द्र आदि प्रमुख आचार्यों का अपने-अपने समय के राजाओं एवं राजकुमारों पर गहरा प्रभाव था। मध्ययुग के वे श्रमण एवं आचार्य केवल धर्म अथवा पारलौकिक विषयों के परामर्शदाता ही नहीं, अपितु गृहस्थों के इह लौकिक कार्य कलापों के परामर्शदाता भी थे। वे जैन आचार्य राजनीति में सक्रिय एवं उल्लेखनीय अभिरुचि लेते थे। मध्ययुग के जैनाच.र्यों और श्रमणों के इस प्रकार के कार्य कलापों, व लौकिक प्रपंचों से प्रलिप्त चर्याओं से स्पष्ट रूपेण स्वत: ही यह सिद्ध है कि उनका पुरातन पवित्र मूल श्रमण परम्परा से सम्बन्ध टूट गया था। इस बात से भी किसी को कोई मतभेद नहीं कि मध्ययुग की उन श्रमण परम्पराओं के श्रमणों और आचार्यों ने पुरातन पावन श्रमण धर्म की सभी मूल मर्यादाओं का खुले रूप में उल्लंघन किया, मर्यादाओं को तोड़ दिया।"

इन सब उपरिलिखित विक्रम की ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान काल तक के उद्धरणों से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि वीर निर्वाण सं० १००० एक हजार के पश्चाद्वर्त्ती काल में भ० महावीर के धर्म संघ में अनेक ऐसे श्रमण संघों का उद्भव, अभ्युत्थान एवं उत्कर्ष हुआ जिन्होंने जैन धर्म के मूल स्वरूप को, श्रमण धर्म की मर्यादाओं को, तोड़कर न केवल श्रमण धर्म के ही अपितु जैन धर्म के मूल स्वरूप को भी आमूल-चूल परिवर्त्तित कर उसका एक विकृत स्वरूप लोक के समक्ष प्रस्तुत किया। उन नई श्रमण परम्पराओं के प्राबल्य के परिणाम-स्वरूप मूल शुद्ध श्रमण परम्परा का इतना अधिक दुखद ह्रास हुआ कि वह मूल परम्परा अन्तर्प्रवाहिनी सरिता की तरह क्षीण और गौणरूप में ही अवशिष्ट रह गई।

जिन मध्ययुगीन श्रमण परम्पराओं ने जैन धर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में भौतिकता का, बाह्याडम्बरपूर्ण अनुष्ठानों एवं कर्म काण्डों का पुट देकर जैन धर्म के मूल स्वरूप में परिवर्तन किया, शास्त्र सम्मत विशुद्ध मूल श्रमणाचार में पौरोहित्य, चल अचल सम्पत्ति संग्रह, भेंट ग्रहण, भूदान, द्रव्यदान, ग्रामदान

आदि दानों का आदान और लोक सम्पर्क, राज सम्पर्क आदि अशास्त्रीय शिथिलाचार का पुट देकर परम्परागत मूल श्रमणाचार में आमूलचूल परिवर्तन किया और जिन परम्पराओं के प्रचार-प्रसार तथा प्राबल्य के परिणामस्वरूप जैन धर्म का परम्परागत महान् मूलस्वरूप धूमिल हो गया, विशुद्ध शास्त्रीय श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा का प्रवाह अत्यन्त क्षीण मन्द और गौण रूप में अवशिष्ट रह गया उन चैत्य वासी, भट्टारक, यापनीय आदि परम्पराओं का यथास्थान संक्षेप में परिचय देने का प्रयास किया जावेगा। जैन धर्म के मूल स्वरूप एवं शास्त्र सम्मत विशुद्ध श्रमण परम्परा के स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन करने वाली उन सभी परम्पराओं का परिचय प्रस्तुत करने से पूर्व भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा के वास्तविक स्वरूप का संक्षिप्त परिचय करवाना परमावश्यक समझकर उसका परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

— ❀ —

वीर निर्वाण से देवर्द्धि-काल तक

आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण से आगे का इतिहास प्रस्तुत करने से पूर्व इतिहास-प्रेमियों का ध्यान एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर आकर्षित करना आवश्यक है। वह तथ्य यह है कि आर्य सुधर्मा से आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने अर्थात् वीर नि० सं० १ से १००० तक जैन धर्म-मूल परंपरा में मूल प्रवाह में ही चलता रहा। उस एक हजार वर्ष की अवधि में भगवान् महावीर का चतुर्विध संघ प्रभु द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के अध्यात्मपरक एवं अहिंसामूलक मूल स्वरूप का ही उपासक रहा। *श्रमण—श्रमणी वर्ग एवं श्रमणोपासक -श्रमणोपासिका वर्ग के लिये आगमों* में जिस प्रकार के आचार का विधान किया गया है, उसी के अनुरूप आचरण एवं साधना करता हुआ चतुर्विध संघ एक दो साधारण अपवादों को छोड़ पूर्णतः एक सूत्र में अनुशासित रूप से चलता रहा। आर्य महागिरी के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर गणों एवं गच्छों का पृथक् अस्तित्व प्रारम्भ होने लगा। परन्तु उस समय के दीर्घदर्शी आचार्यों एवं श्रमणों ने उन विभिन्न इकाइयों के अस्तित्व को मान्य करते हुए भगवान् महावीर के धर्म संघ को सुदीर्घकाल के लिये एकता के सूत्र में आबद्ध रखने के सदुद्देश्य से वाचनाचार्य, युगप्रधानाचार्य और गणाचार्य जैसे सामन्जस्यकारी पदों का सृजन किया। यह ऐसी व्यवस्था थी कि जिसमें स्व—पर—कल्याण की आध्यात्मिक स्पर्द्धा के साथ-साथ सभी गण एवं गच्छ सह-अस्तित्वपूर्वक अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करते हुए अपना अस्तित्व स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में बनाए रख कर भी जिन शासन की अभिवृद्धि के लिये अहर्निश निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए स्व तथा पर के कल्याण में निरत रहे।

उन सभी गणों एवं गच्छों में से सर्वोच्च एवं विशिष्टतम प्रतिभा के धनी श्रमण को युगप्रधानाचार्य पद पर सर्वसम्मति से नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। धर्म के अभ्युत्थान, प्रचार, प्रसार, संरक्षण, संवर्द्धन तथा धर्म के शास्त्रोक्त मूल स्वरूप एवं विशुद्ध श्रमणाचार के संरक्षण आदि से सम्बन्धित नीतियों के विषय में युगप्रधानाचार्य के निर्देशों अथवा आदेशों को सभी गणों एवं गच्छों के आचार्यों द्वारा शिरोधार्य किया जाकर अपने-अपने श्रमण-श्रमणी समूह से उन आदेशों का पालन करवाया जाना अनिवार्य रखा गया।

इसी प्रकार आगमों के अध्ययन के लिये सभी गणों तथा गच्छों में से छांट कर सुयोग्यतम आगमनिष्णात श्रमणश्रेष्ठ को वाचनाचार्य पद पर अधिष्ठित किये

जाने की व्यवस्था की गई। सभी गणों एवं गच्छों के कुशाग्रबुद्धि सुयोग्य शिक्षार्थी साधु उस वाचनाचार्य से आगमों की वाचनाएं ग्रहण करते।

आर्य महागिरी के उत्तरवर्ती काल से आर्य देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक गणाचार्यों के साथ-साथ युग प्रधानाचार्य और वाचनाचार्य परम्परा अबाध गति से निरन्तर निरवच्छिन्न रूप से चलती रही। इसी कारण जैन धर्म का मूल स्वरूप और आगमानुसारी विशुद्ध मूल आचार भी आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक सुचारु रूपेण यथावत् बना रहा। इस प्रकार की समुचित व्यवस्था के कारण गणों और गच्छों की अनेकता के उपरान्त भी भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ की एकता अक्षुण्ण बनी रही। अनेकता में एकता का यह एक आदर्श प्रयोग सिद्ध हुआ।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० सं० ६०९ में दिगम्बर संघ, लगभग उसी अवधि में यापनीय संघ और वीर नि० सं० ८५० के आस-पास की अवधि में चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था। किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक ये सभी संघ अपने-अपने क्षेत्र में सह अस्तित्वपूर्वक कार्यरत् रहे। उपर्युक्त १००० वर्ष की अवधि में इन सब संघों में परस्पर कोई उल्लेखनीय संघर्ष जैसी स्थिति का उल्लेख जैन साहित्य में कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इस प्रकार वीर नि० सं० १ से १००० तक भगवान् महावीर का धर्म संघ जैन धर्म के मूल स्वरूप और मूल आचार का उपासक रहा, इसका प्रमुख कारण यही रहा कि उस अवधि में पूर्व-ज्ञान के वेत्ता महान् आचार्यों के तप—तेज—ज्ञान और अद्‌भुत् प्रतिभा-सम्पन्न वर्चस्व के कारण आगम से भिन्न आचार-विचार वाली परम्पराएं अपनी जड़ नहीं जमा पाई।

यद्यपि आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय तक की पृथक्-पृथक् कालावधि में निर्ग्रन्थ संघ सौधर्मगच्छ, कोटिक गच्छ, वनवासी गच्छ वसतिवासी आदि नामों से भी अभिहित किया जाता रहा, तथापि इसका मूल निर्ग्रन्थ रूप उस १००० वर्ष की अवधि में भी अक्षुण्ण बना रहा। आज भी जैन श्रमण 'निर्ग्रन्थ' और जैनागम 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' के नाम से विख्यात हैं। निर्ग्रन्थ का सीधा सा अर्थ है ग्रन्थि रहित। ग्रन्थि दो प्रकार की है—द्रव्य ग्रन्थि और भावग्रन्थि। द्रव्य ग्रन्थि अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि सभी प्रकार के परिग्रह और भावग्रन्थि-क्रोध, मान, माया, लोभ, ममत्व आदि कषाय। जो इन दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से रहित है, उसका नाम है निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन श्रमण। उन निर्ग्रन्थों के आचार का तथा प्राणीमात्र के कल्याणमार्ग का प्रतिपादन करने के लिये जिन सूत्रों-सिद्धान्तों व आगमों की रचना की गई, वे निर्ग्रन्थ प्रवचन कहलाये।

देवर्द्धिगरिण के स्वर्गारोहण काल अर्थात् वीर नि. सं. १००० तक भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ-श्रमण अपने पूर्वधर आचार्यों से अनुशासित मूल परम्परा में रहते हुए निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रतिपादित जैनधर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक मूलरूप की उपासना और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते रहे। यद्यपि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है वीर नि. सं. ८५० के आस-पास कतिपय निर्ग्रन्थ श्रमण निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रतिपादित श्रमणोचित आचार, आस्थाओं और उग्र विहार को तिलांजलि दे अपनी इच्छानुसार चैत्यों-जिनमन्दिरों का निर्माण करवा कर उनमें स्थिरवास-नियतवास करने के साथ ही साथ अनेषणीय, अकल्पनीय, आधाकर्मी आहार भी लेने लग गये थे, तथापि मूल निर्ग्रन्थ परम्परा के महान् प्रतापी, आगमनिष्णात त्यागी, तपस्वी, उग्रविहारी तथा प्रकाण्ड विद्वान् पूर्वधर आचार्यों की विद्यमानता एवं उनके प्रबल प्रभाव के कारण वे निर्ग्रन्थ प्रवचन से प्रतिकूल आस्था और आचार वाले शिथिलाचारी चैत्यवासी अपने १५० वर्ष के अथक् प्रयास के उपरान्त भी जैन समाज के मानस में कोई विशेष स्थान अथवा सम्मान तव तक प्राप्त करने में असफल ही रहे।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण के अन्तिम समय तक जैन धर्म का शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध आध्यात्मिक मूल रूप अक्षुण्ण बना रहा और विशुद्ध श्रमणाचार में भी किसी प्रकार का उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया किन्तु देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् भगवान महावीर के श्रमण-श्रमणी संघ की ही नहीं अपितु चतुर्विध संघ की, जैनधर्म के मूल विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप की और विशुद्ध श्रमणाचार की भी स्थिति शनैः शनैः अति दयनीय होती गई। देवर्द्धि के स्वर्गारोहण काल तक निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रतिपादित जैनधर्म के मूल स्वरूप, मूल आचार, मूल आस्थाओं एवं मान्यताओं का उपासक भगवान महावीर का धर्मसंघ सुसंगठित, सुदृढ़, तेजस्वी, बहुजनमान्य तथा सबल था और चैत्यवासी संघ निर्बल, नगण्य एवं अत्यल्प जन-मान्य था। परन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धि के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्ती काल में चैत्यवासी संघ का शनैः शनैः जोर बढ़ने लगा। धीरे-धीरे एक समय ऐसा आया कि वह चैत्यवासी संघ सशक्त, सुदृढ़, देश-व्यापी एवं बहुजनमान्य बन गया और जैन धर्म के मूल स्वरूप, विशुद्ध मूल श्रमणाचार की मान्यताओं एवं आस्थाओं का उपासक प्रभु वीर का मूल धर्म संघ निर्बल, विघटित और अत्यल्प-जन-मान्य होता चला गया। चैत्यवासियों ने और उनके पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए भट्टारकों, यापनीयों और श्रीपूज्यों ने जैन धर्म के शास्त्रोक्त मूल स्वरूप, आगमों में प्रतिपादित मूल श्रमणाचार और यहां तक कि श्राद्धवर्ग के आचार-विचार और दैनिक धर्मकृत्यों तक में स्वेच्छानुसार निर्ग्रन्थ प्रवचन की भावनाओं के प्रतिकूल आमूलचूल परिवर्तन कर धर्म के मूल स्वरूप को ही विकृत कर दिया। उनके आडम्बरपूर्ण जनमनरंजनकारी आकर्षक अभिनव विधाओं, स्वेच्छानुसार प्रकल्पित आयोजनों का जनमानस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सभी ओर सभी वर्गों के ल

"तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण पूयणाए जाइ जरा मरण मोयणाए,..............................कोहा, माणा, माया, लोभा, हास्स, रती, अरती, सोय, वेदत्थी, जीव कामत्थ धम्म हेउं सवसा, अवसा, अट्ठा अणट्ठाए हिंसंति मंद बुद्धी।"

इसमें स्पष्ट रूप से प्रभु ने कहा है—हिंसा चाहे अर्थ, काम या धर्म के लिये जन्म-जरा-मृत्यु से छुटकारा अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये की जाय, वह अहित और अबोधि की ही कारण है। वैदिक परम्परा ने जैसे यज्ञ की हिंसा में दोष नहीं माना, जैन धर्म इस प्रकार धर्म कार्य में की गई हिंसा को निर्दोष नहीं मानता। जैन शास्त्र में संघ रक्षा के लिए किसी लब्धि की शक्ति का उपयोग करना पड़े तो उसके लिए भी आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि आवश्यक मानी गई है।

तीर्थंकर महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित धर्म के इस स्व-पर कल्याणकारी स्वरूप को सर्वात्मना सर्वभावेन प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा के साथ हृदयंगम कर मुमुक्षु साधक पंच महाव्रत रूप श्रमण-धर्म (पूर्ण धर्म) में दीक्षित होते और उस समय सर्वप्रथम पहले महाव्रत की निम्नलिखित प्रतिज्ञा करते हैं :—

"पढमं भंते महव्वयं पच्चक्खामि, सव्वं पाणाइवायं, से सुहुमं वा बायरं वा पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"[1]

अर्थात्—हे भगवन्! प्रथम महाव्रत में मैं प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्त होता हूं। चाहे सूक्ष्म हो अथवा बादर, त्रस हो या स्थावर, किसी भी जीव का मैं न तो स्वयं प्राणातिपात—हनन करूंगा, न दूसरों से करवाऊंगा और न करने वाले का अनुमोदन ही करूंगा। हे भगवन्! मैं जीवन-पर्यन्त तीन करण और तीन योग से मन, वचन और काया से, इस पाप से पीछे की ओर क्रमण करता हूं—पीछे हटता हूं। आत्मसाक्षी से इस पाप की निन्दा करता हूं, गुरु साक्षी से गर्हणा करता हूं तथा अपनी आत्मा को हिंसा के पाप से पृथक् करता हूं।

हिंसा नहीं करने व न कराने का फल

किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का अल्प अथवा अधिक संताप पहुंचाने पर, उसकी हिंसा करने पर, उसे किस प्रकार का कष्ट होता है, उसको स्वानुभूति के रूप में अनुभव करने का उपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया है कि प्रत्येक व्यक्ति सदा-सर्वदा अपने अनुभव से इस बात को सोचे :—

"यदि कोई व्यक्ति डंडे से, मुष्टिका से, अस्थि से, ढेले से; ईंट के टुकड़े से अथवा ठीकरे से मुझे मारता है, पीटता है, अंगुली आदि दिखाकर भय उत्पन्न

---

[1] आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५ (भावना अध्ययन)

करता है, कोड़े आदि से ताड़ना करता है, संताप पहुंचाता है, क्लेश उत्पन्न करता है अथवा किसी प्रकार का उपद्रव करता है, यहां तक कि, यदि कोई मेरा एक रोम भी उखाड़ता है, तो मैं उस हिंसाकारी दुःख को भयजनक अनुभव करता हूं।"

इसी प्रकार अपने अनुभव के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को सदैव यह भली-भांति समझना चाहिये कि सभी प्राण–भूत–जीव एवं सत्त्व भी डण्डे आदि से पीटे जाने पर, आहत किये जाने पर, धमकाये जाने पर, अशन-पान को रोककर परितप्त किये जाने पर, सताये अथवा उद्विग्न किये जाने पर, यहां तक कि एक बाल के उखाड़ने पर भी दुःख का अनुभव करते हैं। जैसे ताड़न-तर्जन आदि से मुझे दुःख होता है, ठीक उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है। यह भलीभांति जानकर, समझकर किसी भी प्राण-भूत-जीव एवं सत्त्व को न कभी मारना चाहिये, न किसी अन्य द्वारा मरवाना चाहिये, न बलपूर्वक पकड़ना चाहिये, न परिताप देना चाहिये और न उन पर किसी प्रकार का प्राणापहारी अथवा दुःखप्रद उपद्रव ही करना चाहिये। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है :—

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा,
स ब्रह्मचारिस्फुरितं परेषाम् ॥११॥ स्याद्वाद मंजरी ॥

हिंसा करने वाले और प्राण-भूत-जीव एवं सत्त्व की हिंसा का उपदेश करने वाले संसार की विभिन्न योनियों में छेदन-भेदन प्राप्त करते, विविध वेदनाओं और कष्टों को अनुभव करते हुए अनादि अनन्त चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करेंगे। जैसा कि कहा है :—

"तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति-- सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा.......ते आगन्तु छेयाए...... जाव ते आगंतु जाइ जरा मरण जोणिजम्मण.........भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति.......णो बुज्भिस्संति जाव णो सव्व दुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला.......।"[1]

इस प्रकार जान कर मेधावी पुरुष स्वयं षट्काय के जीवों को हिंसा करे नहीं, करवावे नहीं, करने वाले को भला समझे नहीं। जिसको षट्काय के जीवों की हिंसा का यह रूप ज्ञात है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है। जैसा कि कहा है :—

"तं परिण्णाय मेहावी, णेव सयं छज्जीवणिकाय–सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं छज्जीवणिकाय–सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीवणिकाय–सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।"[2]

---

[1] सूत्र कृतांग, अ० १

[2] आचारांग, अ० १, १–७

चराचर निखिल प्राणिवर्ग के सच्चे मित्र प्रभु महावीर ने सभी भव्यों को हिंसा से, पर–पीड़ाकारक कार्यों से बचते रहने का उपदेश देते हुए फरमाया :—

"सव्वेपाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं..........।"

अर्थात्—सब प्राणियों को जीवन प्रिय है, सभी जीव सुख की अभिलाषा रखते हैं, दुःख सबको प्रतिकूल है, अनिष्ट है। सभी प्राणियों को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है। सभी प्राणी जीवन की कामना करने वाले हैं, सभी जीवों को जीवन प्रिय है। अतः प्राणिवध को भयंकर समझकर निर्ग्रंथ इसका परिवर्जन करते हैं। जैसा कि कहा है :—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।। दशवैका० ।।६।।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में भी स्पष्ट रूपेण षट्जीवनिकाय के आरम्भ-समारम्भ से विज्ञों को पृथक् रहने का उपदेश दिया गया है :—

एएहिं छहिं कायेहिं तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा काय वक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ।।[1]

अर्थात् विद्वान् पुरुष इन छहों जीव-निकायों को 'ज्ञ' परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा इनके आरम्भ समारम्भ का मन, वचन और काया से त्याग करें।

सूत्रकृतांग सूत्र के पुण्डरीकाध्ययन में बताया गया है कि जो ये त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, उनका जो स्वयं आरम्भ-समारम्भ नहीं करता है, दूसरों से आरम्भ-समारम्भ नहीं करवाता और न दूसरे आरम्भ-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन ही करता है, वह साधु दारुण दुःखदायी कर्मबन्ध से निवृत्त हो जाता है, शुद्ध संयम में स्थित होता और पाप से परिनिवृत्त हो जाता है। वह मूल पाठ इस प्रकार है :—

"से भिक्खू जो इमे तस थावरा पाणा भवंति–ते णो सयं समारंभई, णो अण्णेहिं समारंभावेई, अण्णे समारंभंते वि ण समणुजाणइ-इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिये पडिविरते ।[2]

इसके विपरीत पृथ्वी अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस—इन छः जीव

---

[1] सूत्र कृतांग, श्रु० १, अ० ६, गा०६
[2] सूत्र कृतांग, पुण्डरीकाध्ययन।

निकायों के आरम्भ समारम्भ द्वारा प्राणि हिंसा करते, इसी प्रकार दूसरों से आरम्भ-समारम्भ करवाते, प्राणिहिंसा करवाने वाले तथा दूसरों द्वारा की जाने वाली हिंसा का अनुमोदन करते, वे धर्माध्यक्ष–धर्मोपदेशक अपनी आत्मा का तथा दूसरों का उद्धार नहीं कर सकते, अपितु वे सुदीर्घ काल तक संसार में अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए भटकते रहते हैं।

इसी तथ्य को सूत्र कृतांगसूत्र में एक रोचक रूपक द्वारा बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया गया है, जो इस प्रकार है :—

"एक बड़ी ही मनोहर पुष्करिणी है। वह अथाह जल और अगाध कीचड़ से भरी है। पुष्करिणी में अति सुन्दर और मनोहारी सुगन्धयुक्त अनेक श्वेत कमल-पुष्प हैं। उस पुष्करिणी के बीचोंबीच एक बड़ा ही नयनाभिराम प्रियदर्शी, सुरभि एवं रसयुक्त पद्मवर पुण्डरीक है।

पूर्व दिशा से एक पुरुष उस पुष्करिणी के पूर्वीय तट पर आता है। पुष्करिणी के मध्यभाग में स्थित श्रेष्ठ एवं सुन्दर श्वेत कमल को देखकर उसका मन लालायित हो उठता है। उस श्वेत कमल को लेने के दृढ़ संकल्प के साथ वह पूर्व दिशा से आया हुआ व्यक्ति पुष्करिणी में प्रवेश कर उस पद्मपुण्डरीक की ओर बढ़ता है। वह पुरुष पुण्डरीक तक नहीं पहुंच पाता, तट और पुण्डरीक के बीच में ही गहरे कीचड़ में फंस कर हिलने-डुलने में भी असमर्थ हो दुःखी हो जाता है।

उसी समय दक्षिण दिशा से दूसरा पुरुष उस पुष्करिणी के तट पर आया। उसने पद्मवर पुण्डरीक और पूर्व दिशा से आये हुए पुरुष को कीचड़ में फंसा देखा, तो उसने कहा—"यह पुरुष अकुशल है, पद्मवर पुण्डरीक को लेना नहीं जानता, इसीलिये कीचड़ में फंस गया है। पर मैं कुशल-तत्वज्ञ हूं, श्रम करना जानता हूं। मैं इस श्वेत कमल को अवश्य प्राप्त करूंगा।" अपने इस दृढ़ संकल्प के साथ वह भी पुष्करिणी में उतरा, पर तट तथा श्वेत कमल के बीच पहुंचते-पहुंचते वह भी अति गहन कीचड़ में बुरी तरह फंस गया और पश्चात्ताप करने लगा।

तदनन्तर पश्चिम दिशा से तीसरा पुरुष पुष्करिणी के पश्चिमी तट पर आया। वह भी पंक में फंसे दोनों पुरुषों की आलोचना, आत्मश्लाघा एवं पद्मवर पुण्डरीक को लेने का संकल्प करने के पश्चात् उस पुष्करिणी में प्रविष्ट हुआ। वह तीसरा पुरुष भी पुण्डरीक और तट के बीच उस पुष्करिणी के गहरे पंक में ऐसा फंसा कि एक डग भी आगे, पीछे अथवा दायें, बायें हिलने-डुलने में असमर्थ हो गया। वह भी अपने किये पर पछताने लगा।

उसी समय चौथा पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के उत्तरी तट पर पहुंचा। उसने भी पद्मवर पुण्डरीक को प्राप्त करने के प्रयास में मार्ग में ही कीचड़

में फंसे हुए उन तीनों पुरुषों को अकुशल तथा अपने आपको दक्ष एवं सक्षम बताते हुए उस पुण्डरीक को प्राप्त करने की अभिलाषा से उस पुष्करिणी में प्रवेश किया, पर वह भी श्वेत कमल तक नहीं पहुंच सका, तट और पद्मवर पुण्डरीक के बीच में ही पुष्करिणी के घोर दलदल में फंस गया।

कुछ ही क्षणों के अनन्तर पांचवां पुरुष--एक साधु किसी दिशा अथवा विदिशा से पुष्करिणी के पास पहुंचा। वह छः काय के जीवों के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी, राग-द्वेष से रहित और मुमुक्षु था। उसने भी पद्मवर पुण्डरीक को तथा उसके लेने के प्रयास में गहन कीचड़ के बीच फंसे हुए चार पुरुषों को देखा। उसने कहा:—"ये चारों ही पुरुष पुण्डरीक को प्राप्त करने की अभिलाषा से सहसा पुष्करिणी में प्रविष्ट हो गये और कीचड़ में फंस गये। वस्तुतः ये अकुशल हैं। ये सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग को बिना जाने ही इस पंकपूर्ण पुष्करिणी में प्रविष्ट हो गये हैं। वास्तव में ये तत्वज्ञानविहीन और पुण्डरीक को प्राप्त करने की विधि से अनभिज्ञ हैं। मैं पुण्डरीक को प्राप्त करने की विधि जानता हूं। इस सुन्दर श्वेत कमल को मैं अवश्य ही प्राप्त करूंगा। पर इनके समान मैं इस सरोवर में प्रवेश नहीं करूंगा, कीचड़ में नहीं फंसूंगा। मैं इस पुष्करिणी के दलदलपूर्ण जल से दूर रहकर ही इस पद्मवर पुण्डरीक को प्राप्त करूंगा। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर उस मुमुक्षु साधु ने उस पुष्करिणी के तट पर खड़े रह कर ही उस पद्मवर पुण्डरीक को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे पद्मवर पुण्डरीक! ऊपर उठो, इस कीचड़ और जल से ऊपर उठो और इधर आ जाओ।

उस सर्व भूत-हित में निरत और राग-द्वेष रहित साधु के प्रभावपूर्ण उद्बोधक वचन को सुनकर पद्मवर पुण्डरीक तत्क्षण पुष्करिणी के दलदल को छोड़कर तट पर खड़े उस साधु के चरणों में आ पहुंचा।"

पुण्डरीक के इस रूपक के माध्यम से प्रभु ने बताया कि चौदह रज्जू प्रमाण इस लोक (संसार) रूपी पुष्करिणी में विभिन्न प्रकार की जीव-योनि के जीव रूपी कमल तथा मानव रूपी पुण्डरीक कमल भरे हैं। संसार रूपी पुष्करिणी के कर्मरूपी जल के कारण जीव रूपी कमल विविध योनियों में उत्पन्न होते हैं। वे संसार रूपी पुष्करिणी के काम-भोग रूपी कीचड़ में फंसे रहते हैं। चारों दिशाओं से आये हुए पुरुष वस्तुतः अहिंसामूलक धर्म से अनभिज्ञ, अन्य तीर्थिक अकुशल धर्मोपदेष्टा हैं। वे संसारी प्राणियों के उद्धार का दम्भ भरते हुए स्वयमेव संसार रूपी पुष्करिणी के काम-भोग रूपी कीचड़ में फंस जाते और अनन्त काल तक दुःख पाते हैं।

संसार रूपी पुष्करिणी का तट धर्म-तीर्थ है। पांचवां पुरुष वस्तुतः किसी भी कुल से श्रमणधर्म में दीक्षित साधु है। वह षट् जीवनिकाय के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी अर्थात् त्रिकरण-त्रियोग से सभी प्रकार की हिंसा का परित्यागी और

तीर्थंकरों द्वारा बताये हुए धर्ममार्ग पर चलने वाला राग-द्वेष रहित मुमुक्षु है। वह धर्मतीर्थ पर ही स्थित एवं संसार रूपी पुष्करिणी के कीचड़ रूपी काम-भोगों (विषय-कषायों) से दूर रह कर पद्मवर पुण्डरीक के समान पुण्यशाली भव्य जीवों को वीतरागवाणी का शब्द-उपदेश सुनाता है। उपदेश द्वारा उन्हें पुष्करिणी के तट रूपी धर्मतीर्थ पर आने के लिये आह्वान करता है। संसार रूपी पुष्करिणी के कर्म रूपी जल एवं विषय-कषाय एवं काम-भोग रूपी कीचड़ से उन भव्यों को बाहर निकाल कर ऊपर उठने—मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।

इस रूपक के द्वारा यही बताया गया है कि षट्जीवनिकाय के आरम्भ-समारम्भ से होने वाली सभी प्रकार की हिंसा के त्यागी ही अहिंसामूलक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का उपदेश देकर स्वयं मुक्त होने के साथ-साथ दूसरों को मुक्त कर सकते हैं।

यह है जैन धर्म का शाश्वत मूल स्वरूप। इसके प्रथम दिग्दर्शन में ही षट्जीवनिकायों के आरम्भ-समारम्भ के त्याग का और विश्वबन्धुत्व एवं प्राणि-वात्सल्य का कितना स्पष्ट उपदेश, निर्देश व मार्गदर्शन है। तीर्थंकर प्रभु महावीर का यह उपदेश, यह निर्देश और यह मार्गदर्शन वस्तुतः अनिवार्यरूपेण प्रत्येक श्रमण के लिये जिनाज्ञा के रूप में शिरोधार्य तथा प्रत्येक जैन के लिये यथाशक्य आचरणीय एवं पूर्णतः श्रद्धेय होना चाहिये। जो साधक जैनधर्म के इस स्वरूप को हृदयंगम कर जिनेश्वर के उपदेश को आज्ञा के रूप में शिरोधार्य कर अपने साधना-जीवन में जिस अनुपात से उसका पालन करता है, वह उसी अनुपात से अपने कर्मबन्धनों को काटता है। इसके विपरीत जो साधक इस मूल स्वरूप से भिन्न आचरण अथवा उपदेश करता है, वह भयावहा भवाटवी में सुदीर्घ काल तक भटकता रहता है। इन दोनों ही प्रकार की अवस्थाओं में साधक को मिलने वाले फलों का स्पष्ट रूपेण चित्रण करने वाला एक बड़ा ही सारगर्भित उदाहरण महानिशीथ में उपलब्ध होता है। उसका सारांश इस प्रकार है :—

"अनन्त अतीत पूर्व हुण्डावसर्पिणी काल में असंयती-पूजा नामक आश्चर्य हुआ। उसके प्रभाव से सर्वतोव्यापी शिथिलाचार के संक्रान्तिकाल में भी पंच महाव्रतधारी कुवलयप्रभ नामक एक आचार्य ने घोरातिघोर अपयश को तो सहर्ष स्वीकार कर लिया परन्तु रक्षणीय प्राणातिपात-विरमण रूप अपने प्रथम महाव्रत में किसी भी प्रकार का दोष नहीं आने दिया। सर्वतोव्यापी घोर शिथिलाचार के युग में शिथिलाचारी चैत्यवासियों ने आचार्य कुवलयप्रभ की अलौकिक प्रतिभा, विशिष्ट त्याग-वैराग्यपूर्ण जीवन और तपश्चर्या का अनुचित लाभ उठाने की अभिलाषा से उनसे प्रार्थना की—"भगवन्! यदि आप हमारे इस क्षेत्र में आगामी चातुर्मासिक अवधि में विराजें तो आपके उपदेश से अनेक भव्य नव्य जिनालयों का निर्माण हो सकता है।" महानिशीथ का वह मूल पाठ इस प्रकार है :—

"जहाणं भयवं ! जइ तुममिहइं एक्कवासारत्तियं चाउम्मासियं पउंजियं-ताणमिच्छाए अणेगे चेइयालगे भवंति णूणं तुज्झाणत्तीए। ता कीरउ अणुग्गहमम्हाणं इहेव चाउम्मासियं।"

भवभीरु आचार्य कुवलयप्रभ ने विचार किया—"मैंने जिनप्ररूपित आगमानुसार पंच महाव्रतों को अंगीकार किया है। सर्वविध प्राणातिपात-विरमण रूप प्रथम महाव्रत अंगीकार करते समय मैंने पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस-काय-इन षट्जीवनिकायों के आरम्भ-समारम्भ रूप प्राणातिपात का तीन करण और तीन योग से जीवनपर्यन्त सर्वथा त्याग किया है। जिनालयों के निर्माण में इन सभी षट् जीवनिकायों का आरम्भ-समारम्भ होना अवश्यंभावी है। जिनालयों के निर्माण का उपदेश देना तो दूर, यदि मैंने वचन मात्र से भी निर्माण कार्य का अनुमोदन कर दिया तो मैं अपने प्रथम महाव्रत का भंग कर दूंगा और उस महाव्रत भंग के घोर पाप के परिणामस्वरूप मैं अनन्त काल तक जन्म-जरा-मरण आदि असह्य दुःखों से परिपूर्ण भयावहा भवाटवी में भटकता रहूंगा।"

ऐसा विचार कर कुवलयप्रभ आचार्य ने उन शिथिलाचारी चैत्यवासियों के प्रार्थनापूर्ण प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—"भो भो पियंवए ! जइ वि जिणालये, तहावि सावज्जमिणं, णाहं वायमित्तेणं पि आयरिज्जा।"

अर्थात्—"हे प्रियवादियो ! यद्यपि तुम जिनालयों के निर्माण की बात कह रहे हो, तथापि यह कार्य सावद्य कर्मयुक्त है—दोषपूर्ण है, अतः मैं वचनमात्र से भी इस प्रकार का आचरण नहीं करूंगा—इस प्रकार के सावद्य कार्य में किसी भी तरह किंचित्मात्र भी भागीदार नहीं बनूंगा।"

आचार्य कुवलयप्रभ का उपर्युक्त कथन और आचरण—दोनों ही शुद्ध सिद्धान्त के अनुसार और मूल आगमों में प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप के अनुरूप थे।

ऐसे घोर संक्रान्तिकाल में, जिस समय चारों ओर आगमविरुद्ध आचार-विचार वाले शिथिलाचारियों-चैत्यवासियों का बोलबाला हो, उस समय शिथिलाचारियों के सुदृढ़ गढ़ में, उनके सम्मुख भरी सभा में उनकी आशावल्लरी पर तुषारापात तुल्य एवं उनके अस्तित्व को ही चुनौती देने जैसी आगमानुसारी जैन धर्म के स्वरूप की बात कहना वस्तुतः बड़े ही साहस का कार्य था, प्रवचन के प्रति उत्कट भक्ति का अनुपम उदाहरण था। जिनवाणी का यथातथ्य रूपेण निरूपण कर जिन-प्रवचन के प्रति आचार्य कुवलयप्रभ ने जो उत्कट भक्ति प्रदर्शित की, उसके सम्बन्ध में महानिशीथकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

"एवं च समयसारपरं तत्त' जहट्ठियं, अविवरीयं, णीसंकं, भणमाणेण तेसिं मिच्छदिट्ठी लिंगीणं साहुवेस धारीणं मज्झे गोयमा ! आसकलियं तित्थयरनामकम्म-गोयं तेणं कुवलयपभेणं एकभवावसेसी कओ भवोयही ।"

अर्थात्—इस प्रकार वीतराग अर्हत् प्ररूपित शास्त्र के परम सारभूत तथ्य को उन मिथ्यादृष्टि केवल वेष और नामधारी साधुओं के समक्ष निःशंक भाव से प्रस्तुत करते हुए उस आचार्य कुवलयप्रभ ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन कर संसार को मात्र एक भवावशिष्ट ही कर दिया ।

उन शिथिलाचारी चैत्यवासियों ने आचार्य कुवलयप्रभ के इस आगमानुसारी कथन को अपने कल्पित धर्म-स्वरूप पर वज्राघात तुल्य समझ कर रुष्ट हो आचार्य कुवलयप्रभ का नाम सावद्याचार्य रख दिया और सर्वत्र उनका वही नाम प्रसिद्ध कर दिया ।

यह तो हुआ जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप आचरण और प्ररूपण का फल ।

इसके विपरीत जैन धर्म के स्वरूप का, जिन प्रवचन का वास्तविकता से भिन्न विपरीत प्ररूपण का फल भी महानिशीथ में बताया गया है । उस उल्लेख का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :—

"कालान्तर में साधुओं द्वारा मन्दिरों के निर्माण और जीर्णोद्धार के प्रश्न को लेकर उन्हीं शिथिलाचारी चैत्यवासियों में परस्पर विवाद उत्पन्न हो गया । उसके निर्णय के लिए उन्होंने उसी सावद्याचार्य को बुलाया । उनके स्थान पर सावद्याचार्य के आने पर भावावेश में एक आर्या ने सब के समक्ष सावद्याचार्य को वंदन करते हुए उनके चरणों का अपने मस्तक से स्पर्श कर लिया । सावद्याचार्य ने उन चैत्यवासियों के समक्ष आगमों का वाचन प्रारम्भ किया । एकदा शास्त्रवाचन के समय -

जत्थित्थी कर फरिसं, अंतरिय कारणे वि उप्पन्ने ।
अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूल गुणं मुक्कं ।।

अर्थात् – जिस गच्छ में किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित हो जाने पर भी यदि स्वयं तीर्थंकर भी स्त्री का स्पर्श करे तो वह गच्छ मूल गुण से रहित है ।

इस गाथा को छोड़ देने या दूसरा ही अर्थ करने का विचार कुवलयप्रभ के मन में आया पर दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करने की अपेक्षा अपयश सहन कर उन्होंने गाथा का वास्तविक अर्थ सुना दिया ।

इस गाथा का अर्थ बताते समय चैत्यवासियों ने आर्या द्वारा किये गये

उनके चरण-स्पर्श की घटना को याद दिलाते हुए कुवलयप्रभ से कहा—"इस तरह तो आप भी श्रमण के मूल गुण से रहित हैं।"

कुवलयप्रभ बड़े असमंजस में पड़ गये। उन्होंने सोचा—ये लोग पहले ही मेरा नाम सावद्याचार्य रख चुके हैं। अब तो ये लोग मेरा बुरे से बुरा नाम रख कर मुझे तिरस्कृत करेंगे। बहुत सोच-विचार के पश्चात् कुवलयप्रभ ने तिरस्कार एवं अपयश से डर कर अपवाद मार्ग का सहारा लेते हुए कहा—

"एगन्ते मिच्छत्तं, जिणाण आणा अणेगन्ता।"

अर्थात्—तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा उत्सर्ग और अपवाद—इन दो मूल आधारों पर अवस्थित है। एकान्त का नाम ही मिथ्यात्व है। जिनेश्वरों की आज्ञा तो अनेकान्त है।

इस प्रकार जिनवचन के अर्थ की अन्यथा रूप से प्ररूपणा कर उन्हीं कुवलयप्रभ ने अति घोर कर्मों का बन्धन कर लिया और वह चौदह रज्जु प्रमाण लोक में नारक, तिर्यंच, मनुष्य आदि दुःखपूर्ण विविध योनियों में अनन्त काल तक भटकता रहा। तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के शासन काल में वह कुवलयप्रभ का जीव महाविदेह क्षेत्र में जाकर मुक्त हुआ।

आगमों के उपरिलिखित उल्लेखों से यह स्पष्टतः प्रमाणित हो जाता है कि जैन धर्म में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। जैन आगमों में अहिंसा को "भगवती अहिंसा" के नाम से भगवन् तुल्य सम्मानास्पद संबोधन से संबोधित किया गया है और अरिहंत प्रभु के समान "दीवोत्ताणं सरण गइ पइट्ठा" जैसे उच्चतम विशेषणों से अहिंसा भगवती की स्तुति की गई है।

आगमों में अहिंसा को संसार के समस्त प्राणिसमूह के लिये ममता मयी मां की गोद, प्यासों के लिये पानी, भूखों के लिए भोजन और रोगियों के लिये औषधि से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है।

अधिक क्या कहा जाय, जैनधर्म का भव्य भवन अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित है। यदि कोई व्यक्ति जैन धर्म के भव्य भवन की आधार-शिला अहिंसा को इसके नीचे से खिसकाने, किंचित् मात्र भी इधर-उधर करने अथवा उसे तिल मात्र भी खण्डित करने का प्रयास करता है, तो उसका वह प्रयास इस भव्य भवन को ही भूलुंठित करने के तुल्य होगा।

यह है जैनधर्म के विराट् मूल स्वरूप की एक झलक।

वीर निर्वाण पश्चात् प्रभु के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी के समय से प्रभु के २७ वें पट्टधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण स्वर्गारोहण काल तक

की एक हजार वर्ष की अवधि में जैन धर्म का यही स्व-पर हितावह एवं विश्व-कल्याणकारी सनातन स्वरूप ही अक्षुण्ण रूप से भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ में परमोपास्य एवं परमाराध्य रहा।

उक्त एक हजार वर्ष की अवधि में जैन धर्म के उपरिवर्णित शाश्वत सनातन स्वरूप की ही तरह प्रभु महावीर के श्रमण-श्रमणी वर्ग का आचार-गोचर भी जैसा शास्त्रों में वर्णित है, उसी प्रकार का विशुद्ध और अक्षुण्ण रहा।

सुधर्मा स्वामी के आचार्यकाल से देवर्द्धि के आचार्य काल तक किस प्रकार का विशुद्ध श्रमणाचार रहा और देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर चैत्यवासियों ने उस श्रमणाचार में स्वेच्छानुसार आमूलचूल परिवर्तन कर किस प्रकार उसे विकृत बना दिया, दोनों में आकाश-पाताल की तरह किस प्रकार का घोर अन्तर रहा है, इसका सहज ही प्रत्येक जिज्ञासु को बोध हो सके इस दृष्टि से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के आचार्यकाल तक अक्षुण्ण रहे विशुद्ध श्रमणाचार का स्वरूप यहां संक्षेप में दिग्दर्शित किया जा रहा है।

जैन श्रमण का मूल आचार

दशवैकालिक सूत्र के 'महाचार' नामक छठे अध्ययन में भगवान् महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग के साध्वाचार का अतीव सुन्दर रूप से सांगोपांग वर्णन किया गया है।

श्रुत-चारित्र रूप धर्म एवं मोक्ष के अभिलाषी निर्ग्रन्थ श्रमणों के समग्र आचार को कर्मरूपी शत्रुओं के लिये भयंकर तथा कायरों के लिये दुर्धर बताते हुए उसमें कहा गया है कि मुक्तिपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहने की उत्कृष्ट अभिलाषा वाले जैन श्रमणों का आचार ऐसा उन्नत और दुष्कर है कि उस प्रकार का आचार जिन-शासन के अतिरिक्त अन्यत्र-अन्य मत-मतान्तरों में न तो कभी अतीत काल में रहा है, न वर्तमान में है और न भविष्य काल में कभी कहीं रहेगा ही।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पंच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन—त्याग रूप व्रत, इन छः व्रतों का पालन करना, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छः जीवनिकायों की रक्षा करना, अकल्पनीय पदार्थों को कभी ग्रहण न करना, गृहस्थ के पात्र में भोजन—पानादि नहीं करना, पलंग पर न बैठना, गृहस्थ के आसन पर न बैठना, कभी स्नान न करना और शरीर की शोभा-सज्जा का त्याग करना—ये साधु आचार के अठारह स्थान हैं। ये अठारहों स्थान प्रत्येक साधु के लिये अनिवार्य रूपेण पालनीय हैं। चाहे कोई साधु बालक हो अथवा वृद्ध, स्वस्थ हो अथवा अस्वस्थ, सभी साधुओं को सभी अवस्थाओं में इन सभी अठारह स्थानों का—इन अठारह गुणों का अखण्ड—देश विराधना और सर्व विराधना से रहित एवं निर्दोष रूप से पालन करना चाहिये।

इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पांच महाव्रत और रात्रि-भोजन त्याग रूप छठा व्रत—ये श्रमणाचार के छः स्थान हुए।

निर्ग्रन्थ श्रमण मन, वचन एवं काया रूप तीन योगों से और कृत, कारित तथा अनुमोदना रूप तीन करण से पृथ्वीकाय की हिंसा न स्वयं करे, न दूसरों से करवाये और न पृथ्वीकाय की हिंसा करने वालों की अनुमोदना ही करें।

जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा करता है, वह पृथ्वीकाय की हिंसा करते समय पृथ्वीकाय के जीवों के साथ साथ पृथ्वीकाय के आश्रित, चक्षुओं से दिखाई देने वाले और चक्षुओं से दिखाई नहीं देने वाले अनेक प्रकार के त्रस एवं स्थावर जीवों की भी हिंसा करता है। इसी कारण साधु के लिये यह परमावश्यक है कि नरक आदि दुर्गतियों में भटकाने वाले इन दोषों को जानकर वह जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का पूर्ण-रूपेण त्याग करे।

यह श्रमणाचार का सातवां स्थान (अर्थात् श्रमण का सातवां गुण) है।

साधु अपकाय (जलकाय) के जीवों की तीन करण और तीन योग से न स्वयं हिंसा करे, न दूसरों से करवाये और न करने वालों की अनुमोदना ही करे। अपकाय की हिंसा करने वाला व्यक्ति तदाश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष एवं अचाक्षुष त्रस और स्थावर जीवों की भी हिंसा करता है। अतः इन दोषों को दुर्गतिवर्द्धक जान कर साधु जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का त्याग करें। यह श्रमणाचार का आठवां स्थान है।

श्रमणाचार का नौ वां (९वां) स्थान है अग्निकाय के जीवों की तीन करण और तीन योग से कदापि हिंसा न करना। इस नवम स्थान में बताया गया है कि साधु अपने जीवन में अग्नि प्रज्वलित करने की कदापि इच्छा तक न करें। क्योंकि यह महा पापकारी कार्य है। अग्नि को प्रज्वलित करने का कार्य लोहे के सभी प्रकार के विनाशकारी शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा अत्यधिक घातक और तीक्ष्ण है। सभी प्राणियों के लिये इसको सहन कर लेना अत्यन्त दुष्कर है। क्योंकि अग्नि दशों ही दिशाओं में रहे हुए जीवों को जला कर भस्म कर सकती है। इसमें किंचित्मात्र भी सन्देह नहीं कि अग्नि प्राणियों के लिये भीषण संहारकारिणी है। अतः साधु प्रकाश के लिये अथवा शीत निवारण आदि कार्यों के लिये अग्नि का किंचित्मात्र भी आरम्भ न करे। दुर्गतिवर्द्धक इन सब दोषों को ज... र साधु जीवन-पर्यन्त तीन करण और तीन योग से अग्निकाय के सम... त्याग करें।

श्रमण के आचार का दसवां स्थान है वायुक... ीवों की हिंसा करण और तीन योग से त्याग करना। तीर्थंकरों ... आरम्भ

को भी अग्निकाय के आरम्भ के समान घोर पापपूर्ण जाना और माना है। अतः षट्काय के प्रतिपालक मुनियों को वायुकाय का समारम्भ कदापि नहीं करना चाहिये। न तो मुनि स्वयं ताल के पंखे वा पत्ते से अथवा वृक्ष को हिला कर अपने ऊपर हवा करना चाहते हैं, न किसी दूसरे से हवा करवाना चाहते हैं और न हवा करने वाले की अनुमोदना ही करते हैं। साधु के पास जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि संयमोपकरण हैं उनसे भी वे वायु की उदीरणा नहीं करते। वे इन संयमोपकरणों को इस प्रकार यतनापूर्वक धारण करते हैं, जिससे कि वायु काय की विराधना न हो।

इसलिये नरक आदि दुर्गतियों में भटकाने वाले इन दोषों को जानकर साधु जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का त्याग करे।

निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार का ११वां स्थान है—तीन करण और तीन योग से वनस्पतिकाय की न स्वयं हिंसा करना, न दूसरे से वनस्पतिकाय की हिंसा करवाना और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करना।

निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार के १२वें स्थान में बताया गया है कि साधु तीन करण और तीन योग से जीवन-पर्यन्त न तो स्वयं त्रसकाय की हिंसा करे, न दूसरे से करवाये और न करने वाले का अनुमोदन ही करे। इसमें यह भी बताया गया है कि त्रस काय की हिंसा करने वाला व्यक्ति त्रस काय के आश्रित चाक्षुष और अचाक्षुष अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों की भी हिंसा करता है। इसलिये नरक आदि दुर्गतियों के वर्द्धक इन दोषों को जानकर साधु जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करे।

श्रमणाचार के १३वें स्थान में आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि ये चार पदार्थ कल्पनीय हों तभी लेने का और यदि ये साधु के लिये अकल्पनीय हों तो उन्हें ग्रहण नहीं करने का निर्देश है। नित्य आमन्त्रित करके दिया जाने वाला पिण्ड, साधु के लिये मोल लिये हुए, साधु के निमित्त बनाये हुए, और साधु के लिए सामने लायें हुए आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि पदार्थ साधु के लिए अकल्पनीय एवं अग्राह्य हैं। जो साधु इस प्रकार के अकल्पनीय आहार आदि चार पदार्थों को ग्रहण करता है, उसके सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि वह साधु उन पदार्थों के निर्माण में हुई हिंसा की अनुमोदना करता है। इसीलिये संयम में सुस्थिर एवं सुदृढ़ और धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले जैन श्रमण वस्तुतः साधु के लिए क्रय किये हुए, साधु के निमित्त बनाये हुए, साधु के लिए सम्मुख लाये हुए एवं पूर्वामन्त्रण के साथ दिये जाने वाले आहार, पानी आदि को कदापि ग्रहण नहीं करते हुए संयम का यथा विधि विशुद्ध रूप से पालन करते हैं।

श्रमणाचार के १४वें स्थान में निर्देश है कि साधु गृहस्थ के भाजन—कांसी

पीतल आदि के (बने किसी भी) पात्र में कभी आहार पानी न करे। यदि वह गृहस्थ के पात्र में भोजन-पान करता है तो वह आचार धर्म से भ्रष्ट माना जाता है। क्योंकि तीर्थंकर प्रभु ने केवल ज्ञान द्वारा देखा है कि गृहस्थ के पात्र में साधु के भोजन करने पर साधु के संयम की विराधना होती है। गृहस्थ के जिस पात्र में साधु ने भोजन आदि किया हो उस पात्र को गृहस्थ सचित्त जल से धोयेगा, उससे अप्काय की हिंसा होगी, उन पात्रों के धोये हुए पानी को गृहस्थ अयतनापूर्वक इधर-उधर गिरायेगा, उससे बहुत से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होगी। (उस हिंसा के पाप का भागी साधु भी होगा) इस प्रकार गृहस्थ के पात्र में साधु द्वारा भोजन किये जाने की दशा में साधु को पश्चात् कर्म और पुरः कर्म दोष लगने की सम्भावना रहती है, अतः जैन मुनि को गृहस्थ के बरतन में कदापि भोजन नहीं करना चाहिए।

श्रमणाचार के पन्द्रहवें स्थान में साधु के लिए निर्देश है कि तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा का पालन करने वाले श्रमण वेत्र (बेंत) आदि से बने पलंग, कुर्सी, खाट, पीढ़, रूई की गद्दी, मसनद और आरामकुर्सी पर न तो बैठें और न सोयें ही, क्योंकि यह साधुओं के लिए अनाचरणीय एवं अनाचार स्वरूप है। उपर्युक्त प्रकार के पलंग आदि में गहरे छिद्र होने के कारण उनमें रहे बेइन्द्रिय आदि प्राणियों का प्रतिलेखन होना कठिन हैं। इन सब दोषों को देखते हुए मुनि को इस प्रकार के पलंग आदि का सदा सर्वदा के लिए त्याग करना चाहिए।

श्रमण के आचार के सोलहवें स्थान में मधुकरी हेतु भ्रमण करते हुए साधु को गृहस्थ के घर पर बैठने का निषेध किया गया है। गृहस्थ के घर पर बैठने से साधु को दोष लगने की सम्भावना के साथ-साथ मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ के घर पर बैठने से साधु के ब्रह्मचर्य महाव्रत के नष्ट होने, प्राणियों के वध से संयम के दूषित होने, चारित्र पर सन्देह, गृहस्थ के प्रकोप और भीख मांगने के लिए आए हुए भिखारी को भिक्षा में अन्तराय की सम्भावना रहती है। भिक्षाचरी के लिए गया हुआ साधु यदि गृहस्थ के घर पर बैठता है तो साधु के ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती, स्त्रियों के विशेष संसर्ग के कारण ब्रह्मचर्य व्रत में शंका उत्पन्न हो सकती है। अतः कुशील को बढ़ाने वाले इस स्थान को श्रमण दूर से ही पूर्णतः परिवर्जित कर दे। हां, जराभिभूत, रोग-ग्रस्त और तपस्वी—इन तीन प्रकार के साधुओं में से किसी भी साधु को कारणवश गृहस्थ के घर पर बैठना कल्पता है, अर्थात् शारीरिक निर्बलता आदि के कारण जराजर्जरित, रोगी अथवा तपस्वी साधु मूर्छा आदि के कारण गृहस्थ के घर पर विवशता की स्थिति में बैठ सकता है।

जैन साधु के आचार में सत्रहवां स्थान—(साधु के सत्रहवें गुण के रूप में) यावज्जीवन अस्नान नामक घोर व्रत है। इस व्रत में साधु के लिए यावज्जीवन स्नान

का पूर्ण-रूपेण निषेध किया गया है। इस व्रत में बताया गया है कि कोई भी साधु चाहे वह रोगी हो अथवा निरोग—यदि स्नान करने की इच्छा करता है तो वह साध्वाचार से भ्रष्ट हो जाता है और उसका संयम मलिन हो जाता है। क्योंकि खार वाली पोली भूमि में और फटी हुई दरारों वाली भूमि में सूक्ष्म प्राणिसमूह होते हैं, अतः यदि साधु उष्ण जल से अथवा शीतल जल से स्नान करता है तो उन जीवों की हिंसा होना अवश्यंभावी है। इस प्राणिवध के दोष को जानकर शुद्ध संयम का पालन करने वाला साधु ठण्डे अथवा उष्ण जल से कभी स्नान नहीं करे। जीवन-पर्यन्त वह अस्नान नामक घोर व्रत का पालन करे। संयमी श्रमण को स्नान, चन्दनादि का विलेपन, लोध्र, पद्मपराग—कुंकुम—केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का अपने शरीर पर मर्दन, विलेपन आदि कदापि नहीं करना चाहिए।

श्रमणाचार का अन्तिम और अठारहवां स्थान, श्रमण के अठारहवें गुण के रूप में—जीवन-पर्यन्त शरीर की शोभा—विभूषा—साज-सज्जा का त्याग रूपी दुश्चर तप है। इसमें कहा गया है कि नग्न अर्थात् जिनकल्पी अथवा प्रमाणोपपेत वस्त्र रखने वाले स्थविरकल्पी, द्रव्य और भाव दोनों ही रूप से मुण्डित, बढ़े हुए नख एवं केश वाले तथा पूर्ण-रूपेण उपशान्त विषय-वासना वाले साधु को शरीर की शोभा, साज-सज्जा तथा शृंगार से कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। अपने शरीर की साज-सज्जा, विभूषा, शृंगार आदि द्वारा शोभा बढ़ाने से साधु को ऐसे घोर चिकने कर्मों का बन्ध होता है, जिससे वह जन्म, जरा, मरण के भय रूपी जल से ओत-प्रोत भयावह और अति दुस्तर संसार सागर में गिर पड़ता है।

शरीर की साज-सज्जा, शृंगार विभूषा आदि द्वारा शोभा बढ़ाने सम्बन्धी संकल्प-विकल्पों को ज्ञानी पुरुष चिकने कर्मबन्ध का कारण और पाप-पुंजों की उत्पत्ति का हेतु मानते हैं, अतः छहों जीव निकाय के रक्षक—त्राता मुनियों को अपने शरीर की शोभा-विभूषा का मन में विचार तक भी नहीं करना चाहिए।

श्रमणाचार के इन अठारह स्थानों का यथावत् पालन करने वाले, जीव और अजीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता, सत्रह प्रकार के संयम के पालक, मोह-ममत्व रहित, आर्जवता (सरलता) आदि गुणों से विभूषित और बारह प्रकार के तप में रत रहने वाले निर्ग्रन्थ मुनि पूर्वकृत पाप कर्मों को विनष्ट और नवीन पापकर्मों का बन्ध नहीं करते हुए अपनी आत्मा पर लगे कषाय आदि मल को पूर्ण-रूपेण नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार के सर्वदा उपशान्त, मोह-ममता विहीन, निष्परिग्रही, अध्यात्म विद्या के उपासक एवं अनुष्ठाता, यशस्वी, शरद्पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान निर्मल मुनि समस्त कर्मों का पूर्ण-रूपेण क्षय करके सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं अथवा कुछ कर्म अवशिष्ट रहने पर वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

यह है शरद्पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र सी दुग्ध-धवला, स्वच्छ, अच्छ, विमल

और समुज्ज्वल चांदनी के समान उस विशुद्ध श्रमणाचार का शाश्वत, सनातन स्वरूप, जिसका अनादि काल से विश्वेश्वर, विश्वबन्धु, जगदैकत्राता तीर्थंकर प्रभु तीर्थप्रवर्तन के समय भव्यों को दिग्दर्शन कराते आये हैं और जिसका पालन आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल से भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के आचार्य काल तक अक्षुण्ण रूप से भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के श्रमणों द्वारा पालन किया जाता रहा है।

धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप में परिवर्तन का एक अति प्राचीन उल्लेख

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में प्रभु के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी के आचार्यकाल (वीर नि०सं० १) से २७ वें पट्टधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहणकाल (वीर नि०सं० १०००) तक धर्म और श्रमणाचार का जो विशुद्ध मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहा, शास्त्रीय आधार पर संक्षेप में उसका सारभूत दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

धर्म और आचार के उस मूल स्वरूप में कब और किन परिस्थितियों में किस प्रकार का परिवर्तन आया, इस प्रकार की जिज्ञासा का प्रत्येक विज्ञ विचारक के मन में उत्पन्न होना नितान्त सहज स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि वीर नि०सं० १००० से उत्तरवर्ती काल का जैन इतिहास प्रस्तुत करने से पूर्व धर्म और आचार के मूल स्वरूप में आये परिवर्तन के सम्बन्ध में प्रमाण पुरस्सर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जाय। इससे प्रत्येक पाठक की जिज्ञासा भी शान्त होगी और आगे के इतिहास के अनेक उलझन भरे तथ्यों की पृष्ठभूमि को समझने में भी इतिहासप्रेमी पाठकों और विचारकों को पर्याप्त सहायता मिलेगी।

धर्म के मूल स्वरूप और मूल श्रमणाचार में परिवर्तन किन परिस्थितियों में होता है, इसको भली भांति हृदयंगम कराने वाला एक अति प्राचीन काल का उल्लेख महानिशीथ में उपलब्ध होता है। परिवर्तन के अनुरूप परिस्थिति के साथ-साथ महानिशीथ के उस आख्यान में यह भी बताया गया है कि उन परिस्थितियों में धर्म के मूल और श्रमणाचार के मूल स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन आता है। स्थानांग सूत्र के दशवें स्थान में दश आश्चर्यों का जो उल्लेख है, उनमें भी इस प्रकार के परिवर्तन की परिस्थिति और कारणों की ओर संकेत किया गया है, पर वह आगम का मूल पाठ वस्तुतः सारगर्भित सूत्र के रूप में अति संक्षिप्त है। महानिशीथ के उस उल्लेख में उस शास्त्रीय उल्लेख के अनुरूप ही अनेक तथ्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, अतः महानिशीथ के उस उद्धरण का अविकल हिन्दी रूपान्तर यहां दिया जा रहा है :—

"भगवान् महावीर -- "हे गौतम ! इस ऋषभादि चौबीसी से अनन्तकाल पूर्व अतीत में जो एक अन्य चौबीसी हुई थी, उसमें मेरे समान ही सात मुण्ड हाथ के शरीरोत्सेध वाले, संसार के लिये आश्चर्यस्वरूप, देवेन्द्रों द्वारा वन्दित एवं संसार में सर्वोत्तम धर्मश्री नामक चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। उनके तीर्थकाल में सात आश्चर्य घटित हुए। उन धर्म श्री तीर्थङ्कर के निर्वाण के पश्चात् कालान्तर में असंयतों की पूजा सत्कार करवाने वाले आश्चर्य का प्रवाह प्रारम्भ हुआ। उसमें गतानुगतिक लोकप्रवाह के कारण मिथ्यात्व दोषवशात् बहुसंख्यक जनसमूह को असंयतों की पूजा में अनुरक्त जान कर शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ तथा त्रिविध मद से विमुग्धमती नामधारी आचार्यों एवं महत्तरों ने अपने-अपने श्रावक-श्राविकाओं से धन ले ले कर अपनी अपनी इच्छानुसार सैकड़ों स्तम्भों से सुशोभित चैत्यालय बनवाये और वे गर्हित कुलक्षणों वाले 'यह मेरा है, यह मेरा है' यह कहते हुए उन चैत्यालयों में रहने लगे। वे उन चैत्यालयों में निवास कर अपने बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम को भुला कर बल–वीर्य–पुरुषाकार–पराक्रम के स्वयं में विद्यमान होते हुए भी घोर अभिग्रहों एवं अनियत-अप्रतिहत विहार का परित्याग कर शिथिल हो, संयमादि की शुद्धि से पीछे की ओर हटकर, इह लोक तथा परलोक के अपवाद की उपेक्षा करते हुए दीर्घकाल तक संसार में भटकना स्वीकार कर उन मठों, देवालयों में ममत्व मूर्च्छाभाव से विमुग्ध एवं अहंकार से अभिभूत हो, स्वयमेव पुष्प-मालादि से देवार्चन करने लगे। उन्होंने समस्त आगम-शास्त्र के सारभूत सर्वज्ञों के इस वचन को बहुत दूर एक ओर फैंक दिया, जो इस प्रकार है :— "सब जीवों को, सब प्राणियों को, सब भूतों को, सब सत्वों को न तो मारना चाहिये, न संताप पहुंचाना चाहिये, न परिताप पहुंचाना चाहिये, न बद्ध-अवरुद्ध करना चाहिये, न उन्हें विराधना पहुंचानी चाहिये, न कष्ट पहुंचाना चाहिये और न उद्वेग ही पहुंचाना चाहिये। जो भी सूक्ष्म, जो भी बादर, जो भी त्रस, जो भी पर्याप्ता, जो भी अपर्याप्ता, जो भी स्थावर, जो भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अथवा जो भी पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, उन्हें एकान्ततः न मारा जाय और न संताप आदि पहुंचाया जाय, यह सुनिश्चित है और है सत्य-तथ्य। उसी प्रकार वायु, अग्नि आदि के समारम्भ को मुनि सब भांति, सब प्रकार से सदा-सर्वदा वर्जित करे। यही धर्म ध्रुव अर्थात् अटल है, शाश्वत है, नित्य है और यही धर्म खेदज्ञों-सर्वज्ञों ने समस्त लोकों के लिये बताया है, प्रवेदित किया है।"

गौतम :—"हे प्रभो ! जो कोई साधु अथवा साध्वी, निर्ग्रन्थ अथवा अणगार द्रव्यस्तव करता है, उसे क्या कहा जाता है ?"

भ० महावीर :—"हे गौतम ! जो कोई साधु, साध्वी अथवा निर्ग्रन्थ अणगार द्रव्य-स्तव करता है, वह अजयी, असंयत, देवभोगी, देवार्चक और यहां तक कि उन्मार्गगामी, शील को दूर फैंकने वाला, कुशील अथवा स्वच्छन्दाचारी कहा जाता है।"

"हे गौतम ! इस प्रकार अनाचार में प्रवृत्त हुए उन आचार्यों के बीच में मरकतमणि के समान देहकान्तिवाले कुवलयप्रभ नामक एक महातपस्वी अणगार थे। वह अणगार जीवादि तत्वों के गूढ़ ज्ञान तथा शास्त्रों के तलस्पर्शी ज्ञान से सम्पन्न थे। उसे संसार सागर की विभिन्न जीव योनियों में उत्पन्न हो भटकने का बड़ा भय था। यद्यपि वह समय सर्वथा, सब प्रकार से धर्मतीर्थ अथवा जिनप्रवचन की आसातना करने वाले आचरण का युग अथवा काल था तथापि बहुसंख्यक स्वधर्मियों में प्रवर्तमान उस प्रकार के असमंजसकारी अनाचार की स्थिति में भी वह तीर्थङ्करों की आज्ञा के विपरीत कोई कार्य नहीं करता।..............."

..........." गौतम ! इस प्रकार विचरण करता हुआ, वह अणगार एक दिन सदा एक ही नियत स्थान (मठ—देवालय) में रहने वाले उन लोगों के आवास स्थान में आया।"...............

..........."गौतम ! कुवलयप्रभ को अन्यत्र विहारार्थ उद्यत देखकर उन कुलक्षण सम्पन्न, लिंगोपजीवी, आचारभ्रष्ट, उन्मार्गगामी, शिथिलाचारियों ने उस अणगार से कहा—"भगवन् ! यदि आप हमारे यहां एक चातुर्मासिक वर्षावासावधि तक रहें तो आपकी आज्ञा से सहज ही अनेक चैत्यालय बन जायें। अत : आप यहीं चातुर्मास करने की हम पर कृपा करें।"

"गौतम ! यह सुनकर उस महानुभाव कुवलयप्रभ ने कहा— "हे प्रियभाषियों ! यद्यपि तुम जिनालयों की बात कह रहे हो, तथापि यह सावद्य अर्थात् पापपूर्ण कार्य है, अत: मैं तो वचनमात्र से भी इस प्रकार का आचरण नहीं करूंगा। उन मिथ्यादृष्टि, वेषमात्र से साधु कहे जाने वाले वेषधारियों के बीच में निःशंकभाव से सिद्धान्त के सारभूत तत्व को यथावत् अविपरीत रूपेण कहते हुए हे गौतम ! उस कुवलयप्रभ अणगार ने तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र का उपार्जन कर भवसागर को एक भवावशिष्ट मात्र कर लिया।"

"उस समय वहां के संघ में एक बात को पकड़ कर, उसी का पुनः पुनः प्रलाप करने वाले अति वाचाल लोगों का जमघट था। उन पापबुद्धि वेषधरों एवं उनके उपासकों ने अनर्गल प्रलाप के साथ-साथ अट्टहास करते हुए परस्पर एक मत हो, एक-दूसरे के करतल पर तालीदान पूर्वक दुरभिसंधि की और उस महा तपस्वी कुवलयप्रभ का नाम सावज्जायरिय (सावद्याचार्य) रख दिया। इस प्रकार वाणी और कर्ण-परम्परा से उसका यह सावद्याचार्य नाम ही सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया।"

"गौतम ! इस प्रकार के अप्रशस्त-अपशब्द से सम्बोधित अथवा पुकारे जाने पर भी वह कुवलयप्रभ किंचितमात्र भी कुपित नहीं हुआ।"

"कालान्तर में एक दिन, सद्धर्म से पराङ्मुख, सागार एवं अणगार-दोनों ही

प्रकार के धर्म से भ्रष्ट, वेषमात्र से प्रव्रजित उन दुराचारियों में परस्पर आगम सम्बन्धी विचार-विनिमय होने लगा कि श्रावकों के अभाव में श्रमण ही नूतन मठों-देवालयों का निर्माण तथा क्षति-ग्रस्त मठ-देवालय आदि का जीर्णोद्धार करवायें और अन्यान्य जो भी करणीय कार्य हैं, उनका निष्पादन करें। इस प्रकार के निर्माण और जीर्णोद्धार के कार्य करने वाले साधु को भी किसी प्रकार का दोष लगने की सम्भावना नहीं है। उन लोगों में से कतिपय कहने लगे कि केवल संयम ही मोक्ष में ले जाने वाला है, जबकि उनमें से अन्य लोग कहने लगे—"प्रासाद-मण्डन, पूजा, सत्कार, बलि विधान आदि से तीर्थ का उत्थान होता है और तीर्थ का उत्थान करना ही मोक्षगमन है।"

इस प्रकार तत्वज्ञान से अनभिज्ञ पापाचारी, जिसे जो साध्य था अथवा जिसे जो अच्छा लगा, उसी का उच्च स्वरों में उच्छृंखलता-उद्दण्डतापूर्वक प्रलाप करने लगे और उनका विवाद संघर्ष का रूप धारण कर गया। उनमें कोई शास्त्र का मर्मज्ञ नहीं था, जो युक्त अथवा अयुक्त पर विचार कर प्रमाण प्रस्तुत करता। परस्पर एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हुए उनमें से कतिपय लोग कहने लगे कि अमुक-अमुक लोग अमुक-अमुक गच्छ के अनुयायी हैं। कुछ लोग कहने लगे—"तुम अमुक-अमुक लोग अमुक-अमुक गच्छ के मानने वाले हो।" अन्ततोगत्वा उन्हीं में से कुछ लोगों ने कहा—"इस प्रकार के निरर्थक वितण्डावाद से कोई निष्कर्ष नहीं निकलने वाला है, इस विषय में सावद्याचार्य का निर्णय हम सबके लिये प्रामाणिक होगा।" उन सब ने इस बात पर स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—"ऐसा ही हो, सावद्याचार्य को शीघ्रातिशीघ्र बुलाया जाय।"

"तदनन्तर गौतम! उन लोगों ने संदेशवाहक भेज कर उस सावद्याचार्य को बुलवाया। सुदूरस्थ प्रदेश से अप्रतिहत विहार करता हुआ सावद्याचार्य सात मास में उन लोगों के यहां पहुंचा। वहां एक साध्वी ने अति कठोर घोर तपश्चरण से शोषित तथा अस्थिचर्ममात्रावशिष्ट शरीर वाले एवं तपस्तेज से दैदीप्यमान सावद्याचार्य को ज्योंही देखा, त्योंही उसका अन्तःकरण आश्चर्य से ओतप्रोत हो गया और वह मन ही मन विचारने लगी—"अहो! क्या यह महानुभाव कहीं साक्षात् अरिहन्त अथवा मूर्तिमान धर्म ही तो नहीं हैं! अधिक क्या कहा जाय देवेन्द्रों से वन्दित महापुरुषों द्वारा भी इनके चरणयुगल वन्दनीय हैं।" इस प्रकार विचार कर परा भक्ति वशात् भाव-विभोर हो आदक्षिणा-प्रदक्षिणा कर वह सहसा अपने शिर से उसके पादयुगल का संस्पर्श करती हुई सावद्याचार्य के चरणों में गिर पड़ी। गौतम! उस आर्या द्वारा सावद्याचार्य को किये गये उस प्रणमन को उन दुराचारियों ने देख लिया।"

"तदुपरान्त उन दुराचारियों द्वारा अभिवन्दित होता हुआ वह सावद्याचार्य जिस प्रकार तीर्थंकरों ने उपदेश दिया था, उसी प्रकार गुरु से प्राप्त उपदेश के

अनुसार उन्हें नित्यप्रति अनुक्रमश : सूत्रों के अर्थ का व्याख्यान सुनाने लगा। वे लोग भी उसका उसी प्रकार श्रद्धान करने लगे। इस प्रकार सूत्रार्थ का व्याख्यान करते करते ग्यारहों अंग और चौदह पूर्व रूपी द्वादशांगी श्रुतज्ञान का नवनीत तुल्य सारभूत, सकल पापपुंज का परिहार एवं आठों कर्मों का समूल नाश करने वाला तथा गच्छ की मर्यादा का प्रवर्तक महानिशीथ श्रुतस्कन्ध का यही पांचवां अध्ययन व्याख्यान के प्रसंग में आया। गौतम! इस पंचम अध्ययन की व्याख्या करते समय यह गाथा आई :—

जत्थित्थिकर—फरिसं अंतरिय कारणे वि उप्पन्ने ।
अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूल गुण मुक्कं ।।

अर्थात्— जिस गच्छ में किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित होने की दशा में भी यदि स्वयं तीर्थंकर भी स्त्री का स्पर्श करे तो वह गच्छ मूल गुणरहित है।"

"गौतम ! इस गाथा के आने पर वह सावद्याचार्य सशंक एवं उद्विग्न हो सोचने लगा—"यदि मैं इस गाथा का यथावत् वास्तविक अर्थ बताता हूं तो उस आर्या ने वन्दन करते समय जो अपने मस्तक से मेरे पैरों का स्पर्श किया था, वह इन सभी लोगों ने देखा था अत: जिस प्रकार पहले इन लोगों ने मेरा नाम सावद्याचार्य रख दिया था, उसी प्रकार अब भी मुद्रांकन तुल्य मेरा कोई और भी अप्रशस्त नाम रख देंगे, जिसके परिणामस्वरूप मैं सर्वत्र अपूज्य हो जाऊंगा। यदि मैं सूत्रार्थ को यथार्थ से भिन्न किसी और ही रूप में बताता हूं तो उससे तो प्रवचन की बड़ी भारी आसातना होगी । ऐसी दशा में अब मुझे यहां क्या करना चाहिए ? क्या मैं इस गाथा को विना अर्थ किये यों ही छोड़ दूं अथवा इसका भिन्न रूप से अर्थ कर दूं ? हाय हाय ! ये दोनों ही कार्य उचित नहीं हैं, क्योंकि आत्म-कल्याण चाहने वालों के लिये ये दोनों ही कार्य अत्यन्त घृणास्पद हैं। अत: सिद्धान्त में यह स्पष्टत: कहा गया है कि जो भी साधु द्वादशांगी रूपी श्रुतज्ञान के किसी पद, अक्षर, मात्रा और यहां तक कि एक बिन्दु को भी कहीं कभी भूल, स्खलना, प्रमाद, आशंका अथवा भयवशात् छोड़ दे, छुपा दे, यथार्थ से भिन्न रूप में प्ररूपणा करे, सूत्रार्थ का संदिग्ध रूप में व्याख्यान करे अथवा अनुयोग का विहित विधि से विपरीत विधि में व्याख्यान करे तो वह साधु अनन्तकाल तक संसार में भटकता रहेगा । तो भले ही अब जो कुछ भी होना है, वह हो जाय, पर मैं तो सूत्रार्थ का उसी रूप में व्याख्यान करूंगा, जैसा कि उसका वास्तविक अर्थ है और जैसा कि मैंने अपने गुरु से सुना है।"

"गौतम ! इस प्रकार का निश्चय कर उसने इस गाथा के प्रत्येक शब्द एवं प्रत्येक पद की पूर्णत: विशुद्ध एवं यथार्थ रूप में व्याख्या करदी। गौतम ! उसी समय उन दुष्ट एवं अशिष्ट लक्षण लांछित लोगों ने कहा—"यदि इस गाथा का

यह अर्थ है तो तुम भी मूल गुण-विहीन हो। तुम्हें स्मरण होना चाहिए कि उस दिन उस आर्या ने तुम्हें वन्दन करते समय अपने मस्तक से तुम्हारे चरणों का स्पर्श किया था।"

"गौतम ! यह सुनते ही अपयश के भय से उस सावद्याचार्य का मुख म्लान हो गया। "पहले तो इन लोगों ने मुझे सावद्याचार्य की संज्ञा दी, अब न मालूम ये लोग मेरा बुरे से बुरा क्या नाम रखेंगे और मैं संसार में अपूज्य और निन्द्य हो जाऊंगा। अब मैं अपयश से बचने के लिए इन्हें क्या सफाई दूं।" इस प्रकार विचार करते हुए उसे तीर्थंकर के इन वचनों का स्मरण आया—"जो कोई आचार्य, गणधर, महत्तर, गच्छाधिपति अथवा श्रुतधर हो, वह सर्वज्ञ, अनन्त ज्ञानियों द्वारा जिन जिन पापायतनों का प्रतिषेध किया गया है, उन सबको शास्त्र के अनुसार भली-भांति समझ कर उन पाप स्थानों का किसी भी रूप में न तो स्वयं सेवन करे और न उनका सेवन करने वालों का अनुमोदन ही करे। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, हास्य, गर्व-दर्प, प्रमाद, अभाव, चूक अर्थात् स्खलनावशात् दिन में अथवा रात में एकाकी अथवा परिषद् में बैठे हुए, सुप्तावस्था अथवा जागृत अवस्था में मन, वचन एवं काय-योग—इन तीनों योगों द्वारा अथवा इन तीनों में से किसी एक के द्वारा भी, जो कोई इन पदों का विराधक होगा, वह भिक्षु पुनः पुनः निन्दनीय, गर्हणीय, लताड़ने योग्य, घृणास्पद, समस्त लोक में प्रताड़ित–पराभूत, विविध व्याधियों के मन्दिर तुल्य शरीर वाला होकर एकान्त दुःखपूर्ण नरक आदि योनियों में उत्कृष्ट स्थिति की आयु भोगता हुआ अनन्तकाल तक संसार सागर में भटकता रहेगा। अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता हुआ वह कभी कहीं पर एक क्षण मात्र के लिये भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।"

"ऐसी स्थिति में प्रमाद के वशीभूत हुए मुझ पापी, अधमाधम, सत्वहीन कापुरुष के समक्ष यह जो घोर संकट उपस्थित हुआ है, इसका कोई युक्तिसंगत प्रत्युत्तर देने में मैं असमर्थ हूं। यदि मैं सूत्रार्थ से विपरीत उत्तर देता हूं तो परलोक में अनन्तकाल तक भवभ्रमण करता हुआ घोर दारुण दुःखानुबन्धी अनन्त दुःखों का भागी बन जाऊंगा। हाय ! मैं कितना दुर्भाग्यशाली हूं।" इस प्रकार के विचारों में सावद्याचार्य को डूबा हुआ देखकर गौतम ! उन दुराचारी पापिष्ठ, दुष्ट श्रोताओं ने समझ लिया कि यह मृषावाद के भय से दुविधा में फंस गया है—अर्थात् एक ओर मूलगुण-रहित होने का डर और दूसरी ओर जो गाथा का अर्थ बताया है, उससे मुकरने पर मृषावाद का डर है। उसे संक्षुब्ध और किंकर्त्तव्यविमूढ़ देखकर उन दुष्ट श्रोताओं ने उससे कहा:—"जब तक इस संशय को नहीं मिटा दिया जायगा, तब तक व्याख्यान नहीं उठेगा। आप यहीं बैठे रहकर कदाग्रह को नष्ट करने में समर्थ ठोस एवं प्रबल युक्तियों से इस प्रश्न का समाधान कीजिये।"

"इस पर सावद्याचार्य ने मन ही मन सोचा—"समाधानकारी उत्तर दिये

बिना मुझे इनसे छुटकारा मिलने वाला नहीं है। पर क्या समाधान रखूं ?" यह सोचकर वह पुनः विचारमग्न हो गया।"

"गौतम ! इस पर उन दुराचारियों ने सावद्याचार्य से पुनः कहा—"चिन्ता-सागर में डूबे हुए किस कारण बैठे हो ? शीघ्र ही इसका स्पष्टीकरण करो। वह समाधान सूत्रसम्मत और निर्दोष होना चाहिये।"

"तदनन्तर मन ही मन संतप्त होते हुए सावद्याचार्य ने कहा—"तीर्थंकरों ने इसी कारण कहा है कि अयोग्य को सूत्र का ज्ञान नहीं देना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार कच्चे घड़े में डाला गया जल उस घड़े का विनाश कर देता है, उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को सिद्धान्त का रहस्य बताया जाय तो वह सिद्धान्त का रहस्य उस अयोग्य व्यक्ति का सर्वनाश कर डालता है।"

"इस पर उन लोगों ने पुनः कहा—"इस प्रकार अंट-शंट, असम्बद्ध एवं दुर्भाषापूर्ण प्रलाप क्यों कर रहे हो ? यदि समाधान नहीं कर सकते तो इस पूज्य आसन से नीचे उतरो और हमारे इस स्थान से शीघ्र ही बाहर निकल जाओ। दैव (भाग्य) कैसा रुष्ट हुआ है कि समस्त संघ ने तुम जैसे व्यक्ति को भी प्रामाणिक मानकर सिद्धान्तों पर प्रवचन करने की अनुज्ञा प्रदान की है।"

"गौतम ! तत्पश्चात् सावद्याचार्य ने पुनः बड़ी देर तक मन ही मन चिन्ता से जलते हुए अन्य कोई समाधान न पा सुदीर्घ काल तक संसार में भटकना स्वीकार कर कहा—"तुम लोग कुछ भी नहीं समझते। आगम वस्तुतः उत्सर्ग और अपवाद—इन दो मूल आधारों पर अवस्थित है। एकान्त का नाम ही मिथ्यात्व है। जिनेश्वरों की आज्ञा तो अनेकान्त है।"

"सावद्याचार्य के इस वचन को सुनते ही गगन में घुमड़ती हुई वर्षा ऋतु की प्रथम घन-घटा के गर्जन को सुनकर जिस प्रकार मयूर मुदित हो मधुर आलाप करते हुए नाच उठते हैं, ठीक उसी प्रकार उन दुष्ट श्रोताओं के मन-मयूर नाच उठे और उन्होंने सावद्याचार्य का बड़ा सम्मान करते हुए उनके उन वचनों की भरि-भूरि-श्लाघा की।"

"गौतम ! इस एक ही वचन—दोष से उस सावद्याचार्य ने अनन्त-संसारित्व का वन्ध कर लिया और उस महा क्षुद्र संघ के जमघट के समक्ष उस पाप की आलोचना न करने के कारण अनन्त संसार का भागी वना……।"[1]

---

1. गोयमा ! णं इओ य उसभादि तित्थंकर चउवीसगाए अणंतेणं कालेणं जा अतीता अन्ना चउवीसगा तओ एग वयण दोसेणं गोयमा ! निवंधिऊणाणंत संसारियत्तणं……। ……महानिशीथ. अ० ५ (अप्रकाशित)

महानिशीथ का यह उल्लेख सभी दृष्टियों से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें अन्यत्र अनुपलभ्य अनेक ऐतिहासिक तथ्य भरे पड़े हैं। अधिकांश आचार्य और श्रमण सामूहिक रूप से विशुद्ध श्रमणाचार और श्रमण के मूल गुणों को तिलांजलि दे मिथ्यात्वी और मिथ्यात्व के पोषक बन जाते हैं। उनमें श्रमण के योग्य गुणों का लेशमात्र भी नहीं रहता। केवल वेष मात्र से वे नाम मात्र के साधु होते हैं। असंयति-पूजा नामक उस आश्चर्य के प्रभाव से श्रावक-श्राविका वर्ग भी बहुत बड़ी संख्या में उन्हीं नाम मात्र के साधु वेषधारी असंयतियों का उपासक और अनुयायी बन जाता है। तीर्थंकरों की आज्ञा की अवहेलना कर वे अपने अपने श्रावक-श्राविका वर्ग से धन लेकर भव्य और विशाल चैत्यों का निर्माण करवा कर, उन चैत्यालयों को अपनी निजी सम्पत्ति वना लेते हैं। वे असंयति साध्वाचार का पूर्णतः परित्याग कर साधु के लिये परमावश्यक कर्त्तव्य अप्रतिहत विहार, निर्दोष भिक्षाचरी, परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग आदि उत्तम गुणों को तिलांजलि दे अपने अपने चैत्यों में नियत निवास और आधाकर्मी आहार आदि ग्रहण कर साधुत्व पर कलंक कालिमा पोत देते हैं। शास्त्रों में तीर्थंकरों का स्पष्ट आदेश है कि कोई भी श्रमण धर्म के लिये, स्वर्ग के लिये, अपवर्ग के लिये अथवा कर्मबन्धन को काटने के लिये भी पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस काय की हिंसा न करे, न किसी दूसरे से इन षड्जीवनिकाय के जीवों की कदापि हिंसा करवाये और जो लोग धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये, जन्म, जरा, मृत्यु से सदा के लिये छुटकारा पाने के लिये हिंसा करते हैं, उनके इस हिंसा कार्य की तीन करण और तीन योग से कभी किसी भी दशा में अनुमोदना नहीं करें।

परन्तु तीर्थंकरों की इस विश्वबन्धुत्व से ओतप्रोत, विश्व के सचराचर समस्त प्राणियों के लिये कल्याणकारिणी आज्ञा का उल्लंघन कर वे मिथ्यात्व-दोष-ग्रस्त नाम मात्र के आचार्य और साधु जिनमन्दिरों का निर्माण करवाते हैं और इस प्रकार चैत्यालयों के निर्माण कार्य में होने वाली पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति और त्रस – इन षड्जीवनिकायों की घोर हिंसा के पाप से अनन्त काल तक दुःखपूर्ण दुर्गतियों से ओतप्रोत भवभ्रमण के अधिकारी वनते हैं। वे यह नहीं सोचते कि तीर्थ-करों ने धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष तक के लिये षड्जीव निकाय के जीवों की त्रिकरण त्रियोग से हिंसा करने, करवाने और करने वाले की अनुमोदना तक करने का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। तीर्थंकरों की इस आज्ञा के अनुसार साधु षड्जीव निकाय के संहारकारी चैत्यनिर्माण आदि कार्य के लिये वचनमात्र से भी संकेत तक नहीं कर सकता।

महानिशीथ के उपर्युल्लिखित आख्यान में यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'असंयति-पूजा' नामक आश्चर्य के प्रभावकाल में यद्यपि चारों ओर मिथ्यात्व दोष-ग्रस्त असंयतों और उनके अनुयायियों का अत्यधिक प्रभाव और वर्चस्व रहता है

तथापि विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले स्व-पर हितसाधक सच्चे श्रमणों का स्वल्पाधिक मात्रा में अस्तित्व अवश्य रहता है और वे सच्चे क्रियानिष्ठ श्रमण निर्ग्रन्थ प्रवचन का सर्वज्ञ—वीतराग प्रभु की वाणी का यथावत् उपदेश देते हैं।

महानिशीथ के इस आख्यान में सिद्धान्त के सारभूत तत्व का यथार्थ रूप में—यथावत् स्वरूप में प्रतिपादन का उत्कृष्ट फल और यथार्थ रूप से भिन्न रूप में प्रतिपादन का अनन्त दुःखानुबन्धी एवं सर्वस्व-विनाशकारी दुष्फल भी बताया गया है।

"तीर्थंकर की आज्ञा उत्सर्ग और अपवाद के रूप में अनेकान्त है। एकान्त तो मिथ्यात्व है।" उपर्युक्त आख्यान में सावद्याचार्य के इस कथन का उल्लेख है जो कि उन्हें अपने बचाव का और कोई रास्ता न दिखने पर मजबूरी की दशा में कहना पड़ा था। सावद्याचार्य के इस कथन को सुन कर चैत्यवासियों के हर्षातिरेकवशात् प्रफुल्लित-प्रमुदित होने का भी इस आख्यान में उल्लेख है। यह कथन गूढ़ रहस्य से ओतप्रोत और गम्भीरता पूर्वक मननीय एवं विचारणीय है। चैत्यवासी वस्तुतः सावद्याचार्य के मुख से यही कहलवाना चाहते थे। इसमें जो गूढ़ रहस्य भरा हुआ है वह यह है कि तीर्थंकर महाप्रभु की यह स्पष्ट रूप से आज्ञा है कि साधु षड्जीव-निकाय के जीवों के आरम्भ समारम्भ का कोई भी कार्य न करे, न उस प्रकार का कार्य वह दूसरे से करवाये, और न ही इस प्रकार का कार्य करने वाले का अनुमोदन ही करे। प्रत्येक साधु के लिये तीर्थंकर प्रभु का यह उपदेश जीवन-पर्यन्त अपरिहार्य अनिवार्य रूपेण पूर्णतः पालनीय है, सदा-सर्वदा शिरोधारणीय है। इसमें किसी भी प्रकार के अपवाद के लिये किंचित्मात्र भी स्थान नहीं है। प्रभु के इस आदेश का जो साधु एकान्ततः पालन नहीं करता, उसमें अपवाद को अवकाश देने की चेष्टा करता है, वह वस्तुतः श्रमणत्व से भ्रष्ट हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति की कामना से बढ़ कर तो कोई कामना हो ही नहीं सकती। तो फिर महाप्रभु ने मोक्ष-प्राप्ति के लिये भी षड्जीवनिकाय में से किसी भी निकाय के एक भी जीव की हिंसा करने का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है।

इस प्रकार की स्थिति में चैत्यवासियों द्वारा चैत्यालयों का निर्माण करवाना जिनाज्ञा का स्पष्टतः उल्लंघन करना ही है। पर चैत्यवासियों को यह सब स्वीकार नहीं था। वे जिनाज्ञा में, आगम-वचन में-सिद्धान्त में—अपवाद का प्रावधान रख कर चैत्यालयों के निर्माण को मोक्षप्राप्ति का साधन स्वयं तो मानते ही थे पर इसके साथ-साथ दूसरों से भी मनवाना चाहते थे, इसके लिये प्रयास करते रहते थे। उन्होंने आचार्य कुवलयप्रभ से आकस्मिक विचित्र स्थिति में अनायास ही हुए प्रमाद का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया। उपयुक्त अवसर पर उन्होंने कुवलयप्रभ को घोर धर्मसंकट में डाला। इस सब के पीछे उनका सुनिश्चित और सुनियोजित उद्देश्य यही था कि कुवलयप्रभ जैसे आगम-मर्मज्ञ, त्यागी, तपस्वी, निस्पृह और शास्त्राज्ञानुसार विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमणश्रेष्ठ के मुख से

अपने अनुयायियों के समक्ष जिनाज्ञा के सम्बन्ध में भी उत्सर्ग और अपवाद की बात येन केन प्रकारेण कहलवा कर अपने पक्ष की प्रतिष्ठा बढ़ायें। चैत्यवासी तो अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हो गये पर जिनाज्ञा में, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरों के वचन में उत्सर्ग और अपवाद की दोषपूर्ण बात कहने के फलस्वरूप, विशुद्ध श्रमण परम्परा के प्रतीक होते हुए भी आचार्य कुवलयप्रभ अनन्तकाल तक नरक, तिर्यंच आदि योनियों में भटकने के भागी बन गये।

इस आख्यान में स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि संसार सागर को एक भवावशिष्ट मात्र कर लेने वाला महान् साधक भी निर्ग्रन्थ प्रवचन की, तीर्थंकरों की वाणी की अयथार्थ रूप में निरूपणा करने से अनन्त काल तक भयावहा भवाटवी में भटकने जैसी दुर्दशा से ग्रस्त हो जाता है।

"इतिहास अपने आपको दोहराता है" इस उक्ति के अनुसार—इतिहास के घटनाचक्र का पुनः पुनः परावर्तन होता रहता है। तदनुसार अनन्त अवसर्पिणियों पूर्व की किसी एक अवसर्पिणी में असंयती—पूजा नामक आश्चर्य के प्रवाहकाल में चैत्यवासियों द्वारा धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप में जिस प्रकार की, परिवर्तन करने की, विकृतियां उत्पन्न करने की घटनाएं घटित हुईं, ठीक उसी प्रकार की घटनाएं प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में भी हमारे यहां घटित हुई हैं। विचारपूर्वक देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान महावीर के निर्वाण से लगभग ८५० वर्ष पश्चात् अस्तित्व में आये चैत्यवासी संघ को लक्ष्य कर अनन्त अतीत के इस आख्यान को महानिशीथ में स्थान दिया गया है।

इस आख्यान से यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासी परम्परा का जन्म किन परिस्थितियों में और कब हुआ।

आज अधिकांश जैन धर्मावलम्बी वस्तुतः चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित की गई द्रव्य पूजा अथवा द्रव्य परम्परा से ही कतिपय अंशों में प्रभावित हैं।

चैत्यवासी परम्परा द्वारा धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप में किस-किस प्रकार के परिवर्तन किये गये, इस सम्बन्ध में यथासम्भव प्रकाश डालने का अब प्रयास किया जायगा।

धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप में चैत्यवासी परम्परा द्वारा किये गये परिवर्तन

यों तो वीर नि० सं० ८५० के आसपास ही कतिपय निर्ग्रन्थ श्रमण, निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रतिपादित श्रमणोचित आचार और आस्थाओं तथा उग्र विहार को तिलांजलि दे अपनी इच्छानुसार जिन चैत्यों—जिनमन्दिरों का निर्माण करवा कर, उनमें स्थिरवास नियतवास करने के साथ ही साथ अनेषणीय, अकल्पनीय आधा-

कर्मी आहार लेने लग गये थे, तथापि मूल निर्ग्रन्थ परम्परा के आगम निष्णात त्यागी, तपस्वी, उग्रविहारी पूर्वधर आचार्यों की विद्यमानता के कारण वे निर्ग्रन्थ प्रवचन से प्रतिकूल आस्था और आचार वाले शिथिलाचारी चैत्यवासी जैन समाज के मानस में कोई शीर्ष स्थान अथवा सम्मान उस समय तक प्राप्त करने में असफल रहे।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल (लगभग वीर नि० सं० १०००) तक वे आगम विरुद्ध आस्था और शिथिलाचार फैलाने में असमर्थ रहे। चैत्यवासियों की इस असफलता का प्रमाण हमें नवांगी वृत्तिकार अभयदेव सूरि द्वारा रचित 'आगम अट्ठोत्तरी' की निम्नलिखित गाथा से मिलता है :—

देवड्ढि खमासमण जा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा ॥

अर्थात्— देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक तो भाव परम्परा (भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल परम्परा) अक्षुण्ण रूप से चलती रही, यह मैं जानता हूं। पर देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर साधु प्रायः शिथिलाचारी बन गये और उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराएं स्थापित कर दी गईं— प्रचलित कर दी गईं।

पूर्वापर ऐतिहासिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में नीर-क्षीर विवेकपूर्ण सम दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अभयदेव सूरि के निर्णायक आन्तरिक उद्गार भली-भांति तथ्यपूर्ण प्रतीत होते हैं। वस्तुतः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् भगवान् महावीर के श्रमण-श्रमणी संघ की ही नहीं अपितु चतुर्विध संघ की भी स्थिति पूर्वापेक्षया अधिकांशतः विपरीत हो गई।

देवर्द्धि के स्वर्गारोहण काल तक निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप, मूल आचार, मूल आस्थाओं एवं मान्यताओं का उपासक धर्मसंघ सुसंगठित, सुदृढ़, तेजस्वी, बहुजनमान्य तथा सबल रहा और चैत्यवासी संघ नितान्त निर्बल, नगण्य रहा। उस समय तक यह बहुजनमान्य नहीं बन पाया। परन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होने के थोड़े समय बाद ही चैत्यवासी संघ का बड़ी तीव्र गति से सर्वत्र विस्तार हुआ। चैत्यवासी संघ सशक्त, सुदृढ़, देशव्यापी एवं बहुजनमान्य बन गया। चैत्यवासी संघ के प्रबल प्रचार के फलस्वरूप मूल आचार की मान्यताओं एवं आस्थाओं का उपासक धर्मसंघ निर्बल, विघटित एवं अत्यल्प जनमान्य होता चला गया।

अन्तिम पूर्वधर और अन्तिम वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्ती काल के घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है

कि चैत्यवासियों ने देवर्द्धि के स्वर्गस्थ हो जाने पर अपनी परम्परा का प्रचार-प्रसार व्यापक रूप में प्रबल वेग से प्रारम्भ किया। आकर्षक एवं आडम्बरपूर्ण स्वकल्पित नित-नये धार्मिक आयोजनों, परिपाटियों एवं अनुष्ठानों की रचनाओं के साथ-साथ चैत्यवासियों ने साधुवर्ग की सुविधा के लिए ऐसे १० नियम बनाये, जिनसे किसी भी व्यक्ति के मुण्डित हो जाने पर किसी भी प्रकार के कष्ट का सामना नहीं करना पड़े और सभी प्रकार के भोगोपभोगों की सुविधाएं उन्हें सरलता से सुलभ हो सकें। चैत्यवासियों द्वारा चैत्यवासी परम्परा के साधुओं के लिये बनाये गये उन नियमों को जैन संघ में प्रसारित किया गया और चैत्यवासी परम्परा के प्रत्येक सदस्य के लिये उन १० नियमों का पालन अनिवार्य घोषित किया गया। उस चैत्यवासी परम्परा का भारत के अधिकांश क्षेत्रों में लगभग ७०० वर्षों तक पूर्ण वर्चस्व रहा। पर उस परम्परा की मान्यताओं पर पूर्ण प्रकाश डालने वाला कोई साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। विक्रम सं० १५०० के आस-पास ही यह परम्परा लुप्तप्राय: हो गई। इस परम्परा के आचार्यों अथवा विद्वानों द्वारा बनाये गये इस परम्परा के नियमों एवं मान्यताओं से सम्बन्धित कृतियों में से एक भी कृति आज उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि काल के प्रभाव से यह चैत्यवासी परम्परा भी अछूती न रही। उसका वह विपुल साहित्य भी कालक्रम से आज विलुप्त हो चुका है। इस प्रकार की स्थिति में चैत्यवासी परम्परा के किसी ग्रन्थ के आधार पर, चैत्यवासी परम्परा की मान्यताओं की जिस सांगोपांग परिचय की अपेक्षा की जा सकती थी, वह तो सम्भव नहीं लगती। पर महानिशीथ में जिस प्रकार इस परम्परा का संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है उसी प्रकार का थोड़ा बहुत परिचय "वसतिवास परम्परा" के साहित्य में भी यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। विक्रम की १२वीं शताब्दी के "वसतिवास परम्परा" के प्रभावक आचार्य जिनवल्लभ सूरि ने चैत्यवासी परम्परा की मान्यताओं का खण्डन करते हुए ४० श्लोकों के "संघपट्टक" नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी।[1] उसी 'संघपट्टक' नामक ग्रन्थ के आधार पर चैत्यवासी परम्परा द्वारा चैत्यवासी परम्परा के साधुओं के लिये बनाये गये उन १० नियमों का विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) साधु औद्देशिक अर्थात् श्रमण—श्रमणियों के लिये बनाया गया सदोष आहार ग्रहण कर सकता है। उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं। क्योंकि पूर्वकाल में महान् वैभवशाली उदारमना, दानी तथा परम भक्त श्रावक होते थे अत: उस समय के साधुओं को एषणीय निर्दोष आहार मिल जाता था। किन्तु आधुनिक काल में राजविप्लवों, युद्धों, दुष्कालियों, दुस्समाकाल—के प्रभाव आदि आदि कारणों से अधिकांश श्रावक वर्ग दरिद्र हो गया है। ऐसी स्थिति में सुसंहनन और शक्ति विहीन साधुवर्ग को श्रद्धालु श्रावकों द्वारा साधु के लिये बनाये गये आहार

---

[1] जिनवल्लभ सूरि ने वि० सं० ११२५ में जिनचन्द्र सूरि द्वारा रचित "संवेगरंगशाला" नामक ग्रन्थ का संशोधन किया, इस प्रकार का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। —सम्पादक

को लेने में कोई दोष नहीं है। रूक्ष भोजन देने वाले तो मिल सकते हैं पर उस से आजकल के साधु अपने शरीर को बनाये नहीं रख सकते। इसलिये कोई श्रद्धालु श्रावक साधु के लिये घृत एवं पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करता है तो धर्म के साधन रूप शरीर को सशक्त बनाये रखने के लिये इस प्रकार का औद्देशिक आहार अथवा घृत आदि लेने में कोई दोष नहीं। इस प्रकार का औद्देशिक आहार देने से श्रावक को भी पुण्य होगा।[1]

(२) साधु को सदा के लिये जिनमन्दिर में ही नियत वास करना चाहिये। आगमों में साधुओं के लिये उद्यानवास का विधान है पर अब लोगों के आवागमन से रहित तथा गुप्त द्वार वाले उस प्रकार के उद्यान नष्ट हो गये हैं। जो हैं, उनमें आम्र मंजरी के रसास्वादन से उन्मत्त हुई कोकिलों के कामोद्दीपक 'कुहू' 'कुहू' के सुमधुर स्वरालाप से तथा प्रफुल्लित मालती पुष्पों की सुमधुर मादक सुगन्ध से मुनियों के मन विचलित हो सकते हैं। उन उद्यानों में कामी-कामिनियों के युगलों के केलिक्रीड़ार्थ आते रहने के कारण स्त्री-संसर्ग की आशंका रहती है। जिनमन्दिर वस्तुतः जिनेन्द्र प्रभु की मूर्तियों के लिये बनाये जाते हैं, अतः साधुओं को जिन-मन्दिर में रहने से न तो आधाकर्मी दोष ही लगेगा और न स्त्री-संसर्ग की आशंका ही रहेगी। वसति से दूरस्थ शून्य उद्यानों में ठहरने से चोर, लुटेरों द्वारा धर्मोपकरणों के चुराये जाने की भी आशंका बनी रहती है। साधुओं के रहने योग्य उद्यानों के नष्ट हो जाने के कारण ही आर्य रक्षित ने वीर नि० सं० ६२० में सुविहित साधुओं के बल, बुद्धि, मेधा आदि की हानि देख कर साधुओं के लिये चैत्यवास कल्पनीय बताया। चैत्यवास निरवद्य है, गीतार्थ महापुरुषों द्वारा सेवित है, अतः चैत्य में नियत निवास साधुओं के लिये किसी प्रकार दोषपूर्ण नहीं। हरिभद्रसूरि जैसे महान् ग्रन्थकार ने भी चैत्यवास का प्रतिपादन किया है। समरादित्य कथा में उल्लेख है कि जिनमन्दिर के प्रतिश्रय में रही हुई एक साध्वी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। चैत्यों में साधुओं के नियतनिवास से चैत्यों के नष्ट होने और तज्जन्य तीर्थोच्छेद का भय भी नहीं रहता। वसतिवास—अर्थात् पर गृह-निवास में तो आधाकर्मी दोष और स्त्रीसंसर्ग के कारण ब्रह्मचर्य के भंग होने की प्रबल आशंका भी बनी रहती है। परगृहवास की दशा में साधुओं के अमृततुल्य सुमधुर स्वाध्याय घोष को सुन कर और ब्रह्मचर्य के तेजपुंज से दैदीप्यमान अतीव

---

[1] (क) अऔद्देशिक भोजनं.............................। श्लोक सं० १

(ख) षट्कायानुपमृद्य निर्दयमृपीनाधाय यत्साधितम्,
शास्त्रेषु प्रतिषिध्यते यदसकृन्निस्त्रिंशताधायितम्।
गोमांसाद्युपमं यदाहुरथ यद्भुक्त्वा यतिर्यात्यधः,
स्तत्को नाम जिघित्सतीह सघृणः संघादि भक्ति विदन् ॥६॥

—संघपट्टक (जिनवल्लभसूरि)

सुन्दर स्वरूप को देख कर विरहिणी युवतियां उन पर मुग्ध हो उन्हें पथभ्रष्ट कर सकती हैं, तथा गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों के स्मरण हो जाने से साधुओं के ब्रह्मचर्य व्रत के भंग होने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। पर जिनमन्दिरों में निवास करने पर इन सब आशंकाओं की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अतः इस प्रकार की स्थिति में साधुओं को वसतिवास— परगृहवास एवं उद्यानवास का परित्याग कर चैत्यों में ही नियत-निवास करना चाहिये।[1]

(३) वसति में, परगृह में अथवा उद्यान में निवास करने अथवा ठहरने वाले साधुओं का पूरी तरह विरोध कर चैत्यवासी साधु खुलकर इस प्रकार का प्रचार-प्रसार करें कि साधु को वसति में कभी निवास नहीं करना चाहिये। वसतिवास का खण्डन यह कह कर किया जाय :—

न वि किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्ध' वा वि जिणवरिंदेहिं।
मुत्तुं मेहुणभावं, न सो विणा रागदोसेहिं ।।
थीवज्जियं वियाणइ इत्थीणं जत्थ काण रूवाणि।
सद्दा य न सुव्वंति, ता विय तेसिं न पेच्छेहि ।।
बंभवयस्स अगुत्ती, लज्जानासो य पीइवुड्ढी य।
साधु तवोवणवासो, निवारणं तित्थपरिहाणी ।।

शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्यं 'मुनीनां'
न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संविधेया।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्र—
प्रहतशमतनुत्रं चित्तमप्युन्नतानाम् ।।

इन सब बिन्दुओं को दृष्टिगत रखते हुए स्त्रीसंसक्त परगृहवास साधुओं के लिए नितान्त हानिकर और चैत्यों में साधुओं का नियतनिवास साधुओं के लिए परम हितकर है। चैत्यों में नियत निवास करने वाले साधुओं के जीवन में स्त्रीसम्पर्क और उपर्युक्त किसी प्रकार के दोषों के प्रसंग की कोई सम्भावना ही नहीं रहती।

---

[1] (क) ....जिनगृहे वासो.
....।।५।।

(ख) गायद्गन्धर्व नृत्यत् पणरमणिरणद्वेणुगुंजन्मृदंग—
प्रेंखत्पुष्पस्रगुद्यन्मृगमदलसदुल्लोचचंचज्जनौघे।
देवद्रव्योपभोगध्रुवमठपतिताशातनाभ्यस्त्रसंतः,
संतः सद्भक्तियोग्य न खलु जिनगृहेऽर्हन्मतज्ञा वसन्ति ।।७।।
—संघपट्टकसटीक (जिनवल्लभसूरि)
(प्रकाशन :—श्रावक जेठालाल दलसुख अहमदाबाद ई. सन् १९०७)

स्वामित्व में ग्रहण नहीं करेंगे तो चैत्यों के उच्छेद एवं जिन शासन के लुप्त होने जैसा प्रसंग उपस्थित हो सकता है ।[1]

(७) साधु ऐसे गादी-तकियों एवं सिंहासनों पर भी बैठें, जिनका कि प्रतिलेखन—प्रमार्जन संभव नहीं । इस प्रकार के गादी-तकियों तथा सुन्दर सिंहासनों पर साधुओं के बैठने से प्रवचन की प्रभावना होती है । गणधर देव भी राजाओं द्वारा दिये गये सिंहासनों अथवा पादपीठों पर बैठते थे ।

एक राजा के अन्तःपुर की रानियों ने आर्य वज्र स्वामी की व्याख्यान—लब्धि की तो प्रशंसा की किन्तु यह कहा कि उनकी रूप-सम्पदा अति साधारण है । इस पर वज्र स्वामी ने दूसरे दिन यति के लिये अकल्पनीय सोने के कमलाकार सिंहासन पर बैठ कर अपने भव्य व्यक्तित्व को प्रकट करते हुए देशना दी । उसके परिणामस्वरूप प्रवचन की प्रभावना हुई । इससे सिद्ध है कि आचार्यों को प्रवचन की प्रभावना हेतु गादी-तकिये, सिंहासन आदि पर बैठना चाहिये ।[2]

(८) साधु अपने श्रावकों को अपने ही गच्छ में रहने का (शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से) आग्रह करे । अन्यथा साधुओं द्वारा श्रावकों को अपनी अपनी ओर खींचते रहने से बड़ा ही अशोभनीय वातावरण उत्पन्न हो जायेगा । पारस्परिक कलह के कारण जिन–शासन की हानि होगी । अतः साधुओं को चाहिये कि अपने गच्छ के श्रावकों को अपने गच्छ में ही सदा सुस्थिर बने रहने का आग्रह करें ।[3]

---

१. (क) स्वीकारोऽर्थगृहस्थचैत्यसदन
……………………………………।।५।।
(ख) चैत्यस्वीकरणे तु गर्हिततमं स्यात् माठपत्यं यते—
रित्येवं व्रतवैरिणीति ममता युक्ता न मुक्त्यर्थिनाम् ।।१०।।

२. (क)……..ईषत् प्रेक्षिताद्यासनम् ।
……………………………………।।५।।
(ख) भवति नियतमत्रासंयमः स्याद्विभूषा,
नृपतिककुदमेतल्लोकहासश्च भिक्षोः ।
स्फुटतर इह संगः सातशीलत्वमुच्चै—
रिति न खलु मुमुक्षोः संगतं गव्दिकादि ।।११।। —संघपट्टक

३. दुःप्रापा गुरुकर्म्मसंचयवतां सद्धर्मबुद्धि नृणां,
जातायामपि दुर्लभः शुभगुरुः प्राप्तः स पुण्येन चेत् ।
कर्तुं न स्वहितं तथाप्यलममी गच्छस्थिति व्याहताः
कं ब्रूमः कमिहाश्रयेमहि कमाराध्येम किं कुर्महे ।। १४ ।।

(६) साधु इस प्रकार की क्रियाओं का स्वयं आचरण करें तथा ऐसे विधि-विधानों का उपदेश एवं प्रचार-प्रसार कर लोगों से उन क्रियाओं का पालन करवाएं जो शनैः शनैः मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली हैं। यदि इस प्रकार की क्रियाओं का, (विधि-विधानों का) आगमों में उल्लेख नहीं है, तो आगमों की उपेक्षा करें। आगमों में यदि उन क्रियाओं का निषेध है तो आगम-वचन का अनादर करके भी उन क्रियाओं को स्वयं करता रहे तथा दूसरों से उन क्रियाओं का आचरण करवाता रहे। क्योंकि भगवान् का सिद्धान्त अनेकान्त है। अमुक कार्य एकान्ततः करना ही चाहिये और अमुक कार्य एकान्ततः नहीं करना चाहिये, ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश जैन सिद्धान्त में नहीं है। अनेक अकरणीय कार्यों के करने और अनेक करने योग्य कार्यों के नहीं करने का उल्लेख भी आगमों में अनेक स्थानों पर है। जिनेश्वर ने न तो किसी कार्य के करने की आज्ञा दी है और न किसी कार्य के करने का एकान्त निषेध ही किया है। अतः इस काल के साधुओं को आगम में नहीं आई हुई ऐसी बातों का आचरण एवं उपदेश करना चाहिये जो सुखपूर्वक की जा सकें और मोक्ष की ओर बढ़ा सकें।[1]

(१०) उपर्युक्त इन ६ नियमों का पालन न करने वाले अन्य सब साधुओं के प्रति चैत्यवासी साधुओं को अनादर एवं विरोधपूर्ण द्वेषदृष्टि रखनी चाहिये। क्योंकि चैत्यों में न रह कर पर घर, वसति, उद्यान आदि में रहने वाले साधु केवल अपने आपको ही धर्मनिष्ठ, गुणसम्पन्न मानते तथा अन्य सभी साधुओं को दोषी बताते हुए अद्ययुगीन संघ को न मानकर, उसकी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का दूर से ही त्याग करने वाले हैं। ये पर-घर अथवा वसति-वासी साधु लोग व्यवहार से नितान्त अनभिज्ञ हैं अतः ये संघ से बाहर (बहिष्कृत) हैं। इन सब कारणों से ये लोग मूलतः नष्ट कर देने योग्य हैं—इस प्रकार का द्वेष इनके प्रति रखना ही समुचित और हितकर है।[2]

आकाश और पाताल का अन्तर

प्राणिमात्र के अनन्य परममित्र, विश्वबन्धु, अगाध करुणासिन्धु—सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों ने किसी भी काल, किसी भी समय में कदापि नहीं बदलने वाला

---

[1] किं दिग्मोहमिता किमंधबधिराः किं योगचूर्णीकृताः,
किं देवोपहताः किमंगठगिताः किं वा ग्रहावेशिताः।
कृत्वा मूर्ध्नि पदं श्रुतस्य यदमी दृष्टोरु दोषा अपि,
व्यावृत्तिं कुपथाज्जड़ा न दधते सूयंति चैतत् कृते ॥ १७ ॥ —संघपट्टक

[2] सम्यग्मार्गपुषः प्रशान्तवपुषः प्रीतोल्लसच्चक्षुषः,
श्रामण्यर्द्धिमुपेयुषः स्मयजुषः कंदर्पकक्षप्लुषः।
सिद्धान्ताध्वनि तस्थुषः शमजुषः सत्पूज्यतां जग्मुषः,
सत्साधून् विदुषः खलाः कृतदुषः क्षम्यन्ति नोद्यद्रुषः ॥ ३१ ॥ —संघपट्टक

धर्म एवं श्रमणाचार का जो अपरिवर्तनीय शाश्वत सनातन स्वरूप जन-जन को बताया है, उसका शास्त्रों के आधार पर यथावत् भली-भांति दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

तीर्थेश्वर भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि के आधार पर उनके गणधरों द्वारा गुम्फित शास्त्रों में धर्म का और श्रमणाचार का जो शाश्वत सनातन स्वरूप प्रतिपादित किया गया था, उस मूल स्वरूप में चैत्यवासियों ने किस प्रकार और कैसा परिवर्तन किया, यह भी चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचालित, और प्रसारित दश नियमों के उल्लेख के रूप में विस्तार के साथ वता दिया गया है।

शास्त्रों में प्रतिपादित, धर्म और श्रमणाचार के उपरिवर्णित स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में चैत्यवासियों द्वारा प्रचलित किये गये धर्म एवं श्रमणाचार के स्वरूप को विहंगम दृष्टि से देखने से विदित हो जाता है कि इन दोनों में उसी प्रकार का अन्तर है, जिस प्रकार का कि आकाश और पाताल में। ऐसा कह दें तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। दोनों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर तो पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासियों द्वारा परिकल्पित यह धर्म और श्रमणाचार का स्वरूप वस्तुतः जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों से बिल्कुल प्रतिकूल और जैनतत्वाभास मात्र ही है। चैत्यवासियों द्वारा किये गये इन दश नियमों के प्रचार-प्रसार को वस्तुतः सर्वज्ञप्रणीत आगमों के विरुद्ध एक सुनियोजित विद्रोह कहा जा सकता है अपनी कपोलकल्पनाओं पर आधारित इन दश नियमों से चैत्यवासियों ने सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म और श्रमणाचार के मूल में परिवर्तन कर धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप को ही विकृत कर दिया। इन नियमों में से एक भी नियम ऐसा नहीं, जो शास्त्रसम्मत हो। ये सब के सब नियम शास्त्रों से पूर्णतः विपरीत हैं। प्रत्येक नियम में शास्त्रों के प्रति घोर अनादर, अवज्ञा और उपेक्षा कूट-कूट कर भरी हुई है। इन नियमों में जैनधर्म के प्राणभूत महान् सिद्धान्त अहिंसा, आध्यात्मिकता और अपरिग्रह का तो वड़ी ही निर्दयतापूर्वक गला घोंट दिया गया है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु की शाश्वत सत्य अवितथ वाणी से ग्रथित आगमग्रन्थों में जो जैन धर्म का, श्रमण-श्रमणियों और श्रावक श्राविकाओं का अध्यात्म परक परम पुनीत निर्मल स्वरूप चित्रित किया गया है, उस पर इन अशास्त्रीय दश नियमों के दश वड़े-वड़े कुत्सित काले धब्बे लगाकर चैत्यवासियों ने धर्म और आचार के उस निर्मल स्वरूप को मलिन ही नहीं पूर्णतः विकृत कर दिया। शास्त्रों में वर्णित जैन धर्म के स्वरूप के संदर्भ में चैत्यवासियों द्वारा अपनी कपोल कल्पना से रचित इन दश नियमों के तुलनात्मक विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्यवासियों ने रत्नत्रयी जटित धर्म रूपी स्वर्ण घट में से अहिंसा आध्यात्मिकता और अपरिग्रह रूपी अमृत को धूलि में उंडेल कर उस स्वर्णघट में घोर आरम्भ-समारम्भपूर्ण हिंसा और वाह्याडम्बर का हलाहल विष भर दिया है, जो आत्म-विनाशकारी होने के परिणामस्वरूप प्राणियों को अनन्त काल तक संसार में भ्रमण कराने वाला भी है।

उत्तरकालीन धर्मसंघ में विकृतियों के प्रादुर्भाव और विकास की पृष्ठभूमि

वीर नि० सं० १००० से उत्तरवर्ती काल में, भगवान् महावीर के अध्यात्म-परक धर्मसंघ में भौतिकतापरक जो द्रव्य परम्पराएं जैन धर्मावलम्बियों के मानस पर, जनमानस पर उत्तरोत्तर छाती ही गईं, उन द्रव्य परम्पराओं के प्रादुर्भाव के पीछे जैसा कि साधारणतया समझा अथवा कहा जाता है, एक मात्र शिथिलाचार अथवा मान-सम्मान, यश-कीर्ति प्राप्ति की आकांक्षा ही मूल कारण व प्रमुख कारण रहा है, ऐसा तो एकान्ततः नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण प्रकाश में आते हैं। वे हैं:—

(१) धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु आचार्य सुहस्ती और मौर्य सम्राट् सम्प्रति का अनुसरण कर राजाओं, मन्त्रियों आदि से आचार्यों एवं श्रमणों की सम्पर्क साधना।

(२) अपने धर्मसंघ को जीवित रखने अथवा एक प्रभावकारी धर्मसंघ बनाये रखने के उद्देश्य से चमत्कार प्रदर्शन द्वारा, जनमानस, धनिक वर्ग और प्रमुखतः राजन्यवर्ग को अपनी ओर आकर्षित करना, अपना अनुयायी बनाना।

(३) दुष्कालों के भीषण परिणामों से अपने प्राणों की रक्षा के साथ-साथ भोजन की सुगम-सरल स्थायी एवं स्वायत्तशासी व्यवस्था करना।

(४) अन्य धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव से जैन धर्म की रक्षार्थ अन्य धर्मों के धार्मिक अनुष्ठानों को आत्मसात् कर उनका अनुसरण करना।

(५) अनुष्ठानों, आयोजनों आदि के माध्यम से अधिकाधिक लोगों को अपने धर्मसंघ की ओर आकर्षित करने के लिये आडम्बरपूर्ण जनमन-रंजनकारी नित नये धार्मिक अनुष्ठानों, आयोजनों, उत्सवों, महोत्सवों आदि का आविष्कार एवं प्रचार-प्रसार।

(६) अन्य धर्मावलम्बियों के धार्मिक विद्वेष से अपने धर्मसंघ और स्वधर्मी बन्धुओं की रक्षार्थ राज्याश्रय प्राप्ति हेतु धर्माचार्यों द्वारा अनुष्ठान, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, कल्प आदि का प्रयोग एवं राजनीति तथा सत्ता के संचालन में सक्रिय योगदान आदि-आदि।

ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रायः सभी द्रव्य परम्पराओं के उद्भव और उत्कर्ष की पृष्ठभूमि में उपरि वर्णित छह कारणों में से कोई न कोई कारण अवश्य रहा है, इस बात की सुस्पष्ट रूप से पुष्टि होती है।

जब तक बड़े-बड़े सम्राट्, राजा-महाराजा जैन धर्म के अनुयायी रहे तब तक जैनधर्म खूब फला-फूला, यह एक संयोग की बात होने के साथ-साथ एक ऐतिहासिक तथ्य भी है।

अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ को मार कर पाटलीपुत्र के सिंहासन पर बैठे पुष्यमित्र शुंग ने जिस समय बौद्धों के साथ-साथ जैनों पर भी अत्याचार करने प्रारम्भ किये तो उस समय कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर जैनधर्मानुयायियों की रक्षा की। जैन धर्मावलम्बी चोल, चेर, पाण्ड्य आदि दक्षिण के राजवंशों के शैव हो जाने और उनके द्वारा जैन साधुओं के सामूहिक संहार और बलात् करवाये गये जैनों के सामूहिक धर्म-परिवर्तन से जब जैनधर्म का दक्षिण में अस्तित्व तक संकट में पड़ गया तो कलभ्रों ने चोल, चेर और पाण्ड्य इन तीनों सशक्त दक्षिणी राजसत्ताओं को परास्त कर जैन धर्मावलम्बियों की और जैन धर्मसंघ की रक्षा की।[1]

जैनधर्म के प्रभाव को बढ़ाने के लिए आर्य वज्र, आर्य समित, ब्रह्मदीपकसिंह आदि आचार्यों ने समय-समय पर अपने विद्याबल से राजाओं, राजसत्ताओं एवं प्रजाजनों को प्रभावित कर जनमानस पर जैनधर्म का वर्चस्व स्थापित किया। प्राचीन काल में सिद्धसेन दिवाकर ने राजसत्ता को प्रभावित कर जैन धर्म के वर्चस्व में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की।

इन सब ऐतिहासिक तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी से उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने भी अपने विद्याबल से राजाओं को प्रभावित कर उनमें से कतिपय को जैनधर्मावलम्वी, कतिपय को जैनधर्म का संरक्षक और कतिपय को जैनधर्म के प्रति उदारतापूर्ण सौहार्द्र रखने वाला बनाया। केवल इतना ही नहीं अपितु संक्रान्तिकाल में जैनधर्म की रक्षा के लिए दूरदर्शी जैनाचार्यों ने जैनधर्म के पक्षधर राजवंश की अनिवार्य आवश्यकता को अनुभव करते हुए होय्सल् (पोय्सल्) राजवंश, गंगराजवंश आदि जैन धर्मावलम्बी राजवंशों की स्थापना तक की।[2] उस संक्रान्तिकाल में उन आचार्यों का एकमात्र लक्ष्य यही था कि जैनराजवंशों की स्थापना के साथ-साथ उन्हें सभी दृष्टियों से शक्तिशाली राजसत्ता के रूप में प्रकट कर के अथवा जैनेतर राजसत्ताओं को जैनधर्म संघ का संरक्षक बनाकर जैनों एवं जैनसंघ की चहुंमुखी श्रीवृद्धि की जाय। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के

---

[1] स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म, बाइ एम. एस. रामास्वामी आयंगर, चेप्टर III.

[2] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के "होय्सल राजवंश" एवं "गंगराजवंश" नामक अध्याय।

लिये उन आचार्यों ने समय की पुकार को ध्यान में रखते हुए अपने उच्च श्रमणादर्शों का बलिदान तक किया। संघ तथा जैन धर्म को जीवित रखने के लिए उन आचार्यों ने अनेक प्रसंगों पर ऐसे कार्य भी किये जो जैन श्रमण मात्र के लिए परम्परा से ही पूर्णतः त्याज्य माने गये हैं।

समष्टि के हित के लिए, धर्म पर अथवा धर्मसंघ पर आये संकटों की घड़ियों में श्रमणों के लिए अपवाद मार्ग के अनेक उदाहरण जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि धर्मसंघ पर आये अन्यायपूर्ण संकटों के क्षणों में श्रमणश्रेष्ठों ने समय-समय पर धर्मसंघ की घोर संकट से रक्षा के लिये अपवाद रूप में श्रमणाचार में निषिद्ध आचरण किया। किन्तु संकट के टल जाने पर उन महाश्रमणों ने अपने उस श्रमणधर्म से विपरीत अपवादस्वरूप सदोष आचरण के लिए प्रायश्चित कर उस दोष अथवा दुष्कृत का शोधन किया। अति पुरातन काल में लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार ने लब्धि का चमत्कार प्रकट कर श्रमणसंघ की रक्षा की। महासती सरस्वती पर आये घोर संकट से उनकी रक्षा के लिए आर्य कालक (वीर नि० सं० ३३५ से ३७६) ने शक्तिशाली इतर राज्यसत्ता की सहायता से अत्याचारी गर्दभिल्ल को राज्यच्युत किया। अपने उस अपवाद स्वरूप दोषपूर्ण आचरण के लिए उन्होंने प्रायश्चित ग्रहण कर आत्मशुद्धि की। किन्तु वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी के अनन्तर इससे नितान्त भिन्न स्थिति रही।

वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी से उत्तरवर्ती आचार्यों ने धर्मसंघ पर संकट के बादल मण्डराने पर समय-समय पर अपवाद मार्ग का अवलम्बन किया किन्तु अपने इस आचरण के लिए प्रायश्चित लेने के स्थान पर उन आचार्यों ने उस अपवाद मार्ग को अपनी श्रमण परम्परा और अपने श्रमण जीवन का आवश्यक स्थायी अंग बनाकर तदनुकूल आचरण को श्रमण जीवन के लिए कल्पनीय ही मान लिया। इसका दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अपवाद मार्ग पग-पग पर अधिकांश श्रमण परम्पराओं के श्रमण जीवन का एक प्रकार से अनिवार्य अंग बन गया और शनैः शनैः टीकाओं, चूर्णियों, भाष्यों आदि में स्थान पाते-पाते इस प्रकार का अपवाद मार्ग किसी विरले ही श्रमण संघ को छोड़ शेष सभी श्रमण संघों एवं श्रमणों के जीवन पर ऐसा छा गया कि वह उनकी दैनिक श्रमणचर्या का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यक कर्त्तव्य बन गया। इस प्रकार देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् गौण बनी विशुद्ध श्रमण परम्परा को छोड़ शेष सभी श्रमण परम्पराओं में अपवाद मार्ग ने उत्सर्ग मार्ग का स्थान ग्रहण कर लिया और इस जैनधर्म के मूल स्वरूप के साथ-साथ मूल विशुद्ध श्रमणाचार भी शास्त्रीय विधानों से नितान्त भिन्न स्वरूप में प्रायः सर्वत्र प्रचलित हो गया। तीर्थंकरों ने जैनधर्म में उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार के मार्गों को स्थान दिया है। किन्तु अपवाद मार्ग को विशिष्ट प्रकार की अपरिहार्य परिस्थितियों में ही अपनाने की छूट दी है। उत्सर्ग मार्ग एक पुनीत

कर्त्तव्य है तो अपवाद मार्ग मजबूरी अथवा परवश अवस्था में किया गया एक ऐसा कार्य जो कर्त्तव्य की परिधि से कोसों दूर है।

पूर्वधरकाल की समाप्ति के अनन्तर अर्थात् देवर्द्धि क्षमाश्रमरण से उत्तरवर्ती काल के आचार्यों द्वारा निर्मित टीकाओं, चूर्णियों, भाष्यों आदि जैन वांग्मय में अपवाद मार्ग का बाहुल्य है। इस प्रकार के वांग्मय में विहित अपवाद मार्ग न तो ग्राह्य ही है और न मान्य ही। क्योंकि जिस प्रकार चतुर्दश पूर्वधर अथवा दश पूर्वधर द्वारा रचित आगम ही मान्य एवं प्रमाणित होता है, उसी प्रकार अपवाद मार्ग भी वे ही मान्य हो सकते हैं जो चतुर्दश पूर्वधर अथवा दश पूर्वधर द्वारा किये गये हों। आगमों में उत्सर्ग मार्ग के सम्बन्ध में एक स्पष्ट उल्लेख है :—

जत्थित्थि कर फरिसं, अंतरिय कारणे वि उप्पन्ने।
अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुण मुक्कं ॥

अर्थात्—यदि स्वयं कोई तीर्थंकर किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित होने पर भी स्त्री का स्पर्श करे तो वह गच्छ (श्रमणसंघ) मूल गुण से रहित है।

इस उत्सर्ग मार्ग में कमल प्रभाचार्य (चैत्यवासियों द्वारा दिया गया अपर नाम सावद्याचार्य) को :—

"एगंते मिच्छत्थं, जिणाण आणा अणेगंता।"

इस गाथार्द्ध के माध्यम से अपवाद मार्ग का आरोपण करने के परिणामस्वरूप किस प्रकार असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल तक नरक तिर्यंच आदि योनियों में भटकते हुए दारुण दुःख भोगने पड़े,[1] इस ओर यदि वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी से उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने ध्यान दिया होता तो संभवतः वे अपनी-अपनी सुविधानुसार अपनी-अपनी द्रव्य परम्पराओं की शास्त्रीय मान्यताओं से नितान्त भिन्न स्वकल्पित मान्यताओं के अनुसार अपवाद मार्ग का विधान नहीं करते। वस्तुस्थिति यह है कि देवर्द्धिगणि के स्वर्गारोहण के अनन्तर भस्मग्रह के प्रभाव अथवा हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से अथवा परीषहभीरुतावशात् अथवा पूजा—मान—प्रतिष्ठा—यशकीर्ति की कामना अथवा जैनधर्म के ह्रास को रोकने तथा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार—उत्कर्ष की कामना से अपवाद मार्ग का अवलम्बन ले जैन धर्म संघ में अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ। उन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों एवं श्रमण-श्रमणियों ने महानदियों के जलप्रवाह की भांति अपवादों का प्रवाह प्रवाहित कर श्रमणाचार के मूल स्वरूप में यथेप्सित

---

[1] महानिशीथ, अप्रकाशित—सावद्याचार्य का आख्यान।
(प्रति—आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, लालभवन, जयपुर में उपलब्ध)

परिवर्तन के साथ-साथ जैन धर्म के आत्मा तुल्य मूलभूत आध्यात्मिक स्वरूप में भी आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। चैत्यवास, मठवास, मन्दिरवास एवं अध्यात्मपरक भावअर्चना के विपरीत द्रव्य अर्चना के सभी उपकरण, सभी साधन, समस्त विधि-विधान वस्तुतः उत्सर्ग मार्ग पर छा जाने वाले अपवाद मार्ग की ही उपज हैं।

इस प्रकार अपवाद मार्ग के आधार पर अवलम्बित इन चैत्यवासी आदि परम्पराओं का बीजारोपण वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के उषःकाल में ही हो चुका था किन्तु देवर्द्धिक्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पूर्व वे न तो लोकप्रिय ही हो सकीं और न प्रसिद्धि को ही प्राप्त कर सकीं। भगवान् महावीर के धर्मसंघ की अध्यात्ममूलक भावपरम्परा के वर्चस्व के समक्ष पूर्वधर काल में ये द्रव्य परम्पराएं नगण्य रूप में गौण ही बनी रहीं। पूर्वज्ञान के धनी आचार्यों के त्याग, तप, तेज और ज्ञान के प्रकाश के समक्ष ये द्रव्य परम्पराएं मात्र ज्योतिरिंगण—खद्योत अथवा उड्गण तुल्य कहीं कहीं सीमित क्षेत्रों में ही येन केन प्रकारेण अपना अस्तित्व बनाये रहीं किन्तु देवर्द्धिगणि श्रमाश्रमण के दिवंगत होने के अनन्तर पूर्वज्ञान के धनी आचार्य के अभाव में चैत्यवासी परम्परा जैसी द्रव्य परम्पराओं का प्रभाव बढ़ने लगा। लोगों पर बढ़ते हुए अपने प्रभाव से प्रोत्साहित होकर इन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों ने यह अनुभव किया कि उत्तरोत्तर निरन्तर द्रुत से द्रुततर गति से परिवर्तित होती हुई शारीरिक, मानसिक, आर्थिक सामाजिक, बौद्धिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के वातावरण में जन मानस को परोक्ष आध्यात्मिक उपलब्धियों की अपेक्षा तत्काल जन मन रंजन कारी आयोजनों, ऐहिकसुखोपभोग प्रदायी चमत्कारों से यथेप्सित रूप से मोड़ दिया जा सकता है। अपने इस अनुभव के आधार पर अपने समय में वदलते हुए बौद्धिक एवं धार्मिक धरातल में लोक प्रवाह को अपने धर्म संघ की ओर आकर्षित करने के लिए उन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों ने लोक रंजन हेतु आडम्बरपूर्ण धार्मिक आयोजनों अनुष्ठानों, उत्सवों आदि का और तत्काल लौकिक लाभ पहुंचाने हेतु यन्त्र मन्त्र तन्त्र जप जाप अनुष्ठान आदि के माध्यम से जन मानस पर एकाधिपत्य एकाधिकार स्थापित करने का प्रबल वेग से प्रयास प्रारम्भ कर दिया। उन्हें अपने इस प्रयास में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। आडम्बरपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान—आयोजनों और चमत्कारों के वल पर उन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों ने न केवल जनमानस को अपितु राजन्यवर्ग को भी अपनी ओर आकर्षित करने में अपने श्रमण आदर्शों को भुला परम्परा से प्रवाहित होते आ रहे अपने धर्मसंघ के मूल स्वरूप में ही उसके विधि-विधान में ही पूर्णतः परिवर्तन कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि तीर्थ प्रवर्तन काल से चली आ रही जैन धर्म की विशुद्ध श्रमण परम्परा का वर्चस्व समाप्त हो गया और वह क्षीण से क्षीणतर होते होते नितान्त एक नगण्य गौण परम्परा के रूप में ही कहीं-कहीं अवशिष्ट रह गई। चारों ओर इन द्रव्य परम्पराओं का वर्चस्व हो गया। इन

द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों ने राजसत्ता के सहारे अनेक क्षेत्रों में विशुद्ध परम्परा के श्रमण श्रमणियों का प्रवेश तक निषिद्ध करवा दिया। विशुद्ध श्रमण परम्परा का नाम तक लोग भूल गये। इन द्रव्य परम्पराओं द्वारा लोक प्रसिद्ध किया गया धर्म संघ ही विशुद्ध धर्मसंघ के रूप में जाना माना जाने लगा और द्रव्य परम्परा के प्रवर्त्तक इन द्रव्य साधुओं का स्वरूप ही लोक में विशुद्ध श्रमण परम्परा के श्रमणों के रूप में रूढ़ हो गया।

इतना सब कुछ होते हुए भी विशुद्ध श्रमण परम्परा का स्रोत एक क्षीणतोया नदी के रूप में प्रवाहित होता ही रहा। कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। इसके साथ ही साथ इन द्रव्य परम्पराओं के अन्दर से भी समय समय पर अनेक आत्मार्थी श्रमणों ने शिथिलाचार के विरुद्ध विद्रोह कर क्रियोद्धार करने के अनेक वार अनेक रूपों में प्रयास किये। उनके इन प्रयासों पर यथाक्रम यथावसर प्रकाश डाला जायेगा।

इन द्रव्य परम्पराओं के चरमोत्कर्ष काल में अनेक आचार्यों द्वारा भगवान् महावीर के धर्म संघ के मूल आध्यात्मिक स्वरूप और इन द्रव्य परम्पराओं द्वारा लोक में रूढ कर दिये गये विकृत श्रमण स्वरूप कें बीच सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयास किया गया, इसकी साक्षी महानिशीथ सूत्र देता है। द्रव्य परम्परा और भाव परम्परा के संगम का जो उल्लेख महानिशीथ में उपलब्ध होता है उस पर आगे यथा स्थान विशद् रूपेण प्रकाश डालने का प्रयास किया जावेगा।

कतिपय प्राचीन उल्लेखों से यह अनुमान भी किया जाता है कि वीर निर्वाण सम्वत् १००० से वीर निर्वाण सम्वत् १७०० की अवधि के बीच क्षीण सलिला सरिता के रूप में अवशिष्ट रही भाव श्रमण परम्परा कभी कभी उत्ताल तरंगों सी तरंगित भी हुई किन्तु उन द्रव्य परम्पराओं के प्रबल वर्चस्व के परिणाम स्वरूप उसका उभरा हुआ वेग पुनः शान्त हो गया।

इस प्रकार वीर निर्वाण सम्वत् १००० से १७०० तक के जैन धर्म के इतिहास पर ये द्रव्य परम्पराएं ही छाई रहीं। अतः इन परम्पराओं का इतिहास यथाशक्य यथोपलब्ध रूप में दिये विना जैन धर्म का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा। इस दृष्टि से विशुद्ध श्रमण परम्परा का क्रमिक इतिहास प्रारम्भ करने से पूर्व इन द्रव्य परम्पराओं के उद्भव और उत्कर्ष का इतिहास यथाशक्य यथोपलब्ध रूप में दिया जा रहा है।

चैत्यवासी परम्परा का उद्भव, उत्कर्ष और एकाधिपत्य

जैसा कि पहले बताया जा चुका है—"दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्ट-गामिणं" आचारांग सूत्र के इस वचन और "अणुपुव्वेण महाघोरं कासवेण

पवेइयं"— सूत्रकृतांग के इस सूत्र के अनुसार श्रमणधर्म का जीवनपर्यन्त शास्त्राज्ञानुसार विशुद्ध रूप से पालन करना, तलवार की तीखी धार पर नंगे पांव अथवा जाज्वल्यमान अंगारों पर चलने के समान अति दुष्कर एवं परम दुस्साध्य है। (यह वस्तुतः अनुपम साहसी सिंह तुल्य पराक्रम वाले नरसिंहों का ही काम है, न कि कापुरुषों का।)

जिस अलौकिक धैर्य, शौर्य और साहस के साथ श्रमण भगवान् महावीर ने अपने साधनाकाल में मुमुक्षुओं के लिए प्रतीकात्मक विशुद्ध एवं परम दुस्साध्य श्रमणाचार का पालन किया, उसे आगम में अनुपमेय कहा है। कैवल्य की प्राप्ति के अनन्तर उन प्रभु महावीर द्वारा स्थापित चतुर्विध तीर्थ के प्रमुख अंग श्रमण-श्रमणी वर्ग ने भी अद्भुत् साहस के साथ प्रभु के पदचिन्हों पर चलते हुए विशुद्ध श्रमणाचार का पालन किया। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भी उनका धर्मसंघ शताब्दियों तक सतत् जागरूक रहकर शास्त्राज्ञानुसार विशुद्ध श्रमणाचार का ही पालन करता रहा।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के प्रभाव से शारीरिक संहनन, संस्थान, शक्ति, साहस, शौर्य, सहिष्णुता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, बुद्धिबल, अनासक्ति, आस्तिक्य और अनहंकार आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणों का अनुक्रम से उत्तरोत्तर ह्रास होता गया, त्यों-त्यों धीरे-धीरे इस परम पुनीत श्रमण परम्परा में भी काल प्रभाव से विकारों का प्रवेश प्रारम्भ हो गया।

यों तो प्रत्येक अवसर्पिणीकाल अपकर्षोन्मुख—ह्रासोन्मुख होता है। उसमें सभी पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श में, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम में, शारीरिक संहनन, संस्थान आदि आदि गुणों में और संक्षेप में कहा जाय तो जितनी भी अच्छाइयां हैं, उनमें अनुक्रमशः अनन्तगुना ह्रास होता जाता है। परन्तु प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल वस्तुतः हुण्डावसर्पिणी काल है। हुण्डावसर्पिणी काल का अर्थ है भोंड़े से भोंडा, भद्दे से भद्दा निकृष्ट अवसर्पिणी काल। ऐसा हुण्डावसर्पिणी काल अर्थात् निकृष्ट ह्रासोन्मुख काल अनन्त अवसर्पिणियों के बीत जाने के पश्चात् आता है। वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अवसर्पिणी और हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव के साथ-साथ असंयती-पूजा नाम के आश्चर्य ने भी अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया। इन तीनों अशुभ योगों के साथ ही साथ भगवान् महावीर के निर्वाण के समय जो २००० वर्ष तक अपना प्रभाव प्रकट करने वाला भस्मग्रह लगा था, उसका भी प्रभाव बढ़ने लगा।

इस प्रकार अवसर्पिणीकाल, हुण्डावसर्पिणीकाल, असंयती-पूजा नामक आश्चर्य और भस्मग्रह—इन चार घोर अमंगलकारी योगों के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप सतत् प्रवाहमान जैन परम्परा को ऐसे दुर्दिन देखने पड़े जैसे अनन्त अतीत काल की साधारण अवसर्पिणियों में कभी नहीं देखने पड़े थे।

इन घोर अमंगलकारी योगों के कारण बुरी तरह बदली हुई सामाजिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों में अभाव आदि अनेक कठिनाइयों के कारण जिन श्रमणों ने शिथिलाचार की शरण ली, उन्हें उस समय के लोगों द्वारा तत्काल लोकनिन्दा का भाजन होना पड़ा। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि जैन आगमों में विशुद्ध श्रमणाचार का विशद् एवं यथावत् रूप विद्यमान था एवं उस पर चलने वाला श्रमण श्रमणी समूह भी उस समय तक बहुत वड़ी संख्या में विद्यमान था। शिथिलाचार की ओर झुके परीषह भीरु श्रमणों ने लोकदृष्टि में गिरती हुई अपनी प्रतिष्ठा को बचाने एवं अपने मिथ्या अहं की पुष्टि के लिये अनेक नये-नये मार्ग खोजने प्रारम्भ किये। अन्य संप्रदायों के बढ़ते आडम्बरों और आकर्षणों के बीच श्रमणाचार की शास्त्र कथित परम्परा का साधारण साधकों के लिए पालन करना अति कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव समझकर तत्कालीन आचार्यों ने समयानुसार सुविधाजनक मार्ग निकालने का विचार कर चैत्यवास और भक्तिभाव की छाया में नया मार्ग ढूंढ निकाला। उन्होंने भोले-भाले अन्ध-श्रद्धालु लोगों को जादू, टोना, यन्त्र, मन्त्र आदि थोथे चमत्कारों एवं भौतिक प्रलोभनों में फंसा कर उन्हें अपने भक्त बनाना प्रारम्भ किया। वे कहने लगे कि कलिकाल की वदली हुई परिस्थितियों में आगमविहित श्रमणाचार का पालन नितान्त असम्भव है। केवल कठोर तपश्चरण, परीषहसहन, परिग्रह परित्याग, भिक्षाटन, अप्रतिहत विहार आदि ही मोक्ष के साधन हों, ऐसी बात नहीं है। इन अति दुष्कर कार्यों के अतिरिक्त चैत्य-निर्माण, चैत्यवन्दन पूजन, अर्चन, तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, प्रभावना वितरण आदि-आदि अनेक जनमनरंजनकारी सरल, सुकर कार्यों से भी, मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जब लोगों ने पहली वार यह सुना तो धीरे-धीरे लोग शिथिलाचारी श्रमणों की ओर आर्कषित होने लगे। वस्तुतः कष्टभीरुता और स्खलना सदा से ही मानवस्वभाव की वहुत वड़ी दुर्वलता रही है। केवल परम विरक्त, प्रबुद्ध एवं सच्चे मुमुक्षु ही पग-पग पर कष्टों से भरे कण्टकाकीर्ण मुक्तिपथ के लक्ष्यवेधी—पारगामी पथिक वन सकते हैं। अवोध जनसाधारण तो कष्टपूर्ण पथ से सदा कतराता और आडम्बरपूर्ण सहज सुगम मार्ग का ही अनुगमन करता आया है।

शिथिलाचार की ओर उन्मुख हुए उन श्रमणों ने इस प्रकार अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को कुछ सीमा तक वचाये रखने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने धर्म के नाम पर अनेक ऐसे आडम्बरपूर्ण एवं आकर्षक नित-नये विधि-विधानों का प्रचलन किया, जिनका आगमों में कहीं कोई विधान तो दूर, उल्लेख तक नहीं है। सर्वप्रथम किसी स्थान विशेष पर तीर्थंकरों की निषद्याओं अथवा तीर्थंकरों के निर्वाणानन्तर उनके पार्थिव शरीर के अन्तिम संस्कार-स्थलों पर निर्मित स्तूपों

(थूभों) पर पाषाणमूर्तियों की एवं आयाग-पट्टों की स्थापना की गई ।[1] तदनन्तर मन्दिरों का निर्माण प्रतिष्ठा-महोत्सव, तीर्थयात्राओं आदि बहुजनाकर्षक लोकरंजनकारी आयोजनों का प्रचलन किया गया। ऐसे आयोजनों के अवसरों पर प्रभावनाओं का वितरण भी अन्य तीर्थिकों की देखादेखी प्रारम्भ किया गया।

इन आयोजनों, उत्सवों और प्रभावनाओं के माध्यम से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में पर्याप्त सफलता मिली।

इससे उत्साहित हो उन वेषधारी श्रमणों ने भगवान् महावीर के परम्परागत मूल धर्म संघ से भिन्न अपना एक पृथक् 'धर्मसंघ' बनाने का निश्चय किया।

वीर नि० सं० ८५० में चैत्यवासी संघ की स्थापना की गई। चैत्यवासी संघ का श्रमण-श्रमणी वर्ग चैत्यवासी नाम से पहचाना जाने लगा। चैत्यवासी साधुओं ने अप्रतिहत विहार का परित्याग कर चैत्यों में ही नियत निवास प्रारम्भ कर दिया। उन चैत्यवासी साधुओं ने अपने भक्तजनों से द्रव्य लेकर अपने-अपने मन्दिर बनवाये। उन मन्दिरों में ही भगवान् को भोग लगाने के नाम पर बड़ी-बड़ी पाकशालाएं बनवा कर उन पाकशालाओं से आधाकर्मी आहार लेना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे वीर नि० सं० ८५० में खुले रूप में नियमित रूप से चैत्यों में रहना और आधाकर्मी आहार लेना प्रारम्भ हो गया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वीर नि० सं० १००० तक पूर्वधर महान् आचार्यों की विद्यमानता में तो श्रमणाचार की परिपालना में शिथिल बने उन श्रमणों द्वारा संस्थापित नवीन मान्यताओं वाला चैत्यवासी संघ, अनुयायियों की संख्या, प्रचार-प्रसार एवं क्षमता की दृष्टि से भगवान् महावीर के अध्यात्म-परायण मूल धर्मसंघ की तुलना में गौण ही बना रहा। वह मूल धर्मसंघ के पूर्वधर आचार्यों के वर्चस्व के कारण देशव्यापी प्रचार-प्रसार नहीं पा सका। किन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के अनन्तर इस नवीन मान्यता वाले चैत्यवासी धर्मसंघ की शक्ति बड़े प्रबल वेग से बढ़ने लगी। अन्य तीर्थिकों की देखादेखी और उनके प्रचार-प्रसार को देखकर उन्होंने भी मूर्तियों की प्रतिष्ठापना मन्दिरों के निर्माण, मन्दिरों में वाद्यवृन्दों के साथ संगीत, भजन एवं कीर्तन, उद्यापन, रथयात्रा, संघयात्रा और पंचकल्याणक महोत्सव आदि आयोजन प्रारम्भ किये। मन्दिरों में विविध वाद्ययन्त्रों की तान और ताल के साथ सधे

---

[1] मथुरा के कंकाली टीले से निकला कनिष्क सं० ७६ (वीर नि० सं० ६८४) का प्राकृत लेख सं. ५६ :—अ. १ सं. ७० ६—वर्ष ४ दि. २० एतस्यां पूर्व्वायां कोट्टियेगणे वइरायां शाखायां....२ को अय वृघहस्ति अरहतो णन्दि (आ) वर्तस प्रतिमं निवर्तयति व....भार्य्ये श्राविकाये (दिनाये) दानं प्रतिमा वोद्धे थुपे देवनिर्मिते प्र....

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ. ४२—४३ मा.णि. दि. ग्रन्थ. समिति

हुए कण्ठों से तरंगित हुई सुमधुर स्वर लहरियों से विमुग्ध हुए लोग उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में इन मन्दिरों में जाने लगे। शनैः शनैः वाद्य यन्त्रों की समधुर धुन के साथ गाये जाने वाले भजनों और कीर्तनों के माध्यम से मन्दिरों में भक्तिरस की सरिताएं प्रवाहित होने लगीं। गायक भी और श्रोता भी क्षण भर के लिए लौकिक जंजालों को भूल कर भक्ति के रस में डूबने-झूमने लगे। यही सबसे बड़ा, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे प्रबल कारण था, जिससे लोकप्रवाह मन्दिरों की ओर हठात् उमड़ पड़ा। इससे लोगों को कुछ समय के लिए शान्ति के साथ-साथ मन्दिरों की आवश्यकता का और शनैः शनैः मन्दिरों-मूर्तियों के औचित्य का भी अनुभव होने लगा।

भव्य मूर्तियों से सुशोभित मन्दिरों के दर्शन से भक्त-जन अपनी चक्षु इन्द्रियों को, सुगन्धित धूपों की एवं भीनी-भीनी सुगन्ध वाले विविध वर्णों के सुमनों की सुगन्ध से अपनी घ्राणेन्द्रिय को, भक्तिरस से ओतप्रोत स्वरलहरियों से अपनी श्रवणेन्द्रिय को और भक्ति सुधा से अपने मानस को तृप्त करने के लिए इस प्रकार के भव्य आयोजनों में अधिकाधिक संख्या में सम्मिलित होने लगे।

विशाल संघों के साथ तीर्थयात्राओं में भी नये-नये ग्रामों, नगरों के साथ-साथ लता-गुल्मों और विशाल वृक्षराजियों से आच्छादित वनों, पर्वत-श्रेणियों तथा कल-कल निनाद करते हुए झरनों, सरिताओं आदि के प्राकृतिक दृश्यों को देखने का प्रलोभन, आकर्षण भी लोगों को स्थान-स्थान पर आयोजित तीर्थयात्राओं में सम्मिलित होने का कारण बना।

इस प्रकार नये सिरे से नयी उमंगों और उत्साह के साथ प्रारम्भ किये गये इन नवीन विधि-विधानों एवं आयोजनों से चैत्यवास बड़ा ही लोकप्रिय होने लगा। उन चैत्यवासियों के अन्ध श्रद्धालुओं ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देकर चैत्यवासी संघ को सुदृढ़, सक्षम और सबल बनाया। लोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक संख्या में चैत्यवासियों के अनुयायी और परम भक्त बनने लगे। अपने भक्तों की संख्या अपने संघ की सबलता और अपने संघ द्वारा प्रचलित किये गये नित्य नये आयोजनों और विधि-विधानों की लोकप्रियता से प्रोत्साहित हो चैत्यवासियों ने चैत्यवासी श्रमणों के जीवन को सुसम्पन्न गृहस्थों के जीवन से भी अधिक सुखोपभोगपूर्ण, सरल, निश्चिन्त और सभी भांति सुसाध्य बनाने के उद्देश्य से ऐसे दश नियम भी बनाये जो शास्त्रों में वर्णित श्रमणाचार से पूर्णतः विपरीत थे। उन दश नियमों का पिछले अध्याय में विस्तार के साथ उल्लेख किया जा चुका है, अतः यहां उनके सम्बन्ध में पुनः प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं।

चैत्यवासियों ने उन दश नियमों का पालन प्रत्येक चैत्यवासी साधु के लिए अनिवार्य बनाकर और अपनी कपोल कल्पनानुसार बनाये गये नये-नये

विधि-विधानों एवं अनेक प्रकार की अशास्त्रीय मान्यताओं का प्रचार-प्रसार कर जैन धर्म के मूल स्वरूप में ही आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया।

प्रभु महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन के समय से लेकर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने तक जैन धर्म और श्रमणाचार का जो रूप अक्षुण्ण रहा था, उसमें चैत्यवासियों द्वारा कैसा आमूल चूल परिवर्तन किया गया और धर्म एवं श्रमणाचार के स्वरूप में किस किस प्रकार की विकृतियां उत्पन्न की गई, इस सम्बन्ध में संघ पट्टक की प्रस्तावना में बड़ा अच्छा प्रकाश डाला गया है। उस प्रस्तावना के एतद्विषयक कतिपय उद्धरण यहां यथावत् प्रस्तुत किये जा रहे हैं। संघपट्टक की प्रस्तावना में लिखा है :—

"आ रीते भगवान् थी आठ सौ पचास वर्ष चैत्यवास स्थपायो तो पण तेनं खरेखरू जोर वीर प्रभु एक हजार वर्ष बीत्यां केडे बधवा मांड्युं। आ अरसा मां चैत्यवास ने सिद्ध करवा माटे आगम नां प्रतिपक्ष तरीके निगम नां नाम तले उपनिषदो नां ग्रन्थो गुप्त रीते रचवा मां आव्या अने तेओ दृष्टिवाद नामना बारमां अंग नां त्रुटेला ककड़ा छे एम लोको ने समझाववा मां आव्युं। ए ग्रन्थों मां एवुं स्थापना करवां मां आव्युं छे के आज काल नां साधुओए चैत्य मां वास करवो व्याजबी छे तेमज तेमणे पुस्तकादि नां जरूरी काम मां खप लागे माटे यथायोग्य पैसा टका पण संघरवा जोइए। इत्यादि अनेक शिथिलाचार नी तेओ ए हिमायत करवा मांडी अने जो थोड़ा घणां वसतिवासी मुनिओ रहिया हता तेमनी अनेक रीते अवगणना करवा मांडी।

देवर्द्धिगणि पर्यन्त साधुओ नो मुख्य गच्छ एकज हतो, छतां कारण-परत्वे तेने जूदा जूदा नाम थी ओलखवा मां आवेल छे। जेम के सरुआत मां तेना मूल स्थापक सुधर्म गणधर ना नाम पर थी ते सौधर्म गच्छ कहेवातो हतो। त्या केड़े चौदमा पाटे समंतभद्र सूरिए वनवास स्वीकार्या एटले ते वनवासी गच्छ कहेवायो। त्यार केड़े कोटि मन्त्र जाप ना कारणे ते कोटिक गच्छ कहेवायो। छतां तेमा अनेक शाखाओं अने कुलो थया पण तेओ परस्पर अविरोधी हता। केम के कोई ने पण पोतानां गच्छ नो या शाखा नो या कुल नो अहंकार अथवा ममत्वभाव न हतो। पण चैत्यवास शुरु थतां तेमणे स्वगच्छ नां वखाण अने पर गच्छ नीं हेलना करवा मांडी एटले अरसपरस विरोधी गच्छों उभा थया।

गच्छ शब्द नो मूल अर्थ ए छे के गच्छ अथवा गण—एटले साधुओंनुं टोलुं। माटे गच्छ शब्द कंई खराव नथी, पण गच्छ माटे अहंकार ममत्व के कदाग्रह करवो तेज खराव छे। छतां चैत्यवास मां तेवो कदाग्रह वधवा मांड्यो। आ ऊपर थी तेओ मां कुसंप वध्यो, एक्य त्रुट्युं। हवे एक गच्छ मां थी चौरासी गच्छ थई पड्या। तेओ एकमेकने तोडवा मंड्या अने आ रीते समाधिमय धर्म नां स्थाने कलह कंकासमय अधर्म नां वीज रोपायां।

पांचवां आरा रूप अवसर्पिणी काल एटले पड़तो काल तो हमेशा आव्या करे पण अगाउ कांई आ जैनधर्म मां आवी धांधल ऊभी थई नथी पण हमणानो पड़तो काल साधारण रीते पड़ता काल नां करतां कइंक जूदी तरेह नो होवा थी ते हुंड एटले अतिशय भुंडो होवा थी तेने हुंडावसर्पिणी काल कहेवा मां आव्यो छे। आवो काल अनन्ती अवसर्पिणिओं बीततांज आवे छे। तेवो आ चालू काल थयो छे। ते साथे वीर प्रभु नां निर्वाण वखते बे हजार वर्ष नो भस्मग्रह बेठेलो ते साथे मल्यो, तेमज तेनी साथे असंयतीपूजा रूप दसवों अछेरो पोतानुं जोर बतावबा लाग्यो। एम चारे संयोगो भेगा थवा थी आ चैत्यवास रूप कुमार्ग जैन धर्म नां नामें चौमेर फैलावा मांड्यो। गुरुओ स्वार्थी थई योग्यायोग्य नो विचार पड़ते मुकी जो हाथ मां आव्यो तेने मूंडी ने पोता नां वाड़ा बधारवा मांड्या अने छेवटे वेचाता चेला लई विना वैराग्ये तेमने पोता नां वारस तरीके नीमवा मांड्या।

हवे कहेवत छे के यथा गुरुस्तथा शिष्यो, यथा राजा तथा प्रजा। ते प्रमाणे गुरुओ शिथिल थतां तेमनां ताबा नीचेना यतियो तेमना करतां पण वधुं शिथिल थया। तेओ दवा, दारू, डो, धागा बगैर करी ने लोको ने वश मां राखवा लाग्या, वेपार करवा लाग्या तथा खेतर-वाड़ी सुद्धां करवा तत्पर थया। तेम छतां तेओ पोता ने महावीर प्रभुना वारस चेलाओ तरीके ओलखावी पोतां नुं भान साचववा मांड्या।

आणीमेर तेमनां रागी श्रावको आंधला बनी तेमना पंजा मां सपड़ाई तेओ जे कांई ऊंधूं चतुं समभावे ते वधु बगैर विचारे अने वगर तकरारे हां जी हां जी करी स्वीकारवा लाग्या। कारण के लोको नो मुख्य भाग हमेशा भोलो रहे। ते थी तेवा भोलाओ ने, कपटी वेषधारी चैत्यवासिओ अनेक बाहनां ऊभा करी ने ठगवा मांड्या।

आवी गड़बड़ थोड़ाज वखत मां बहु वधी पड़ी एटले देवद्धिगणि नां पछी ५५ वर्ष स्वर्गवासी थयेला हरिभद्रसूरिए महानिशीथनो उद्धार करतां चैत्यवास नो सारी रीते तिरस्कार कर्यो छे। सदरहु हरिभद्रसूरि चैत्यवासिओं नां मंडल मां दीक्षित थया हता छतां परम विद्वान् होवा थी तेमणे तेमनां पक्षनुं खूब खंडन कर्युं छे।[1]

---

[1] प्रस्तावनाकार ने यह उल्लेख कतिपय ग्रन्थकारों के भ्रान्तिपूर्ण उल्लेख के आधार पर कर दिया है। वस्तुतः वीर नि० संवत् १०५५ में स्वर्गस्थ हुए हारिल सूरि अपर नाम हरिभद्र ने महानिशीथ का उद्धार नहीं किया था। इसका उद्धार याकिनी महत्तरासूनु, भवविरह हरिभद्रसूरि ने किया था, जो कि वीर नि०सं० १२५५ में विद्यमान थे। विस्तार के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का ही २६वें युगप्रधान हारिलसूरि का विवरण। महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन की पुष्पिका एवं प्रभावक चरित्र हरिभद्रसूरिचरितम् का श्लोक सं० २१६।

—सम्पादक

आ मामलो एटले लगण बध्यो के निर्ग्रन्थ मार्ग विरल थई पड्यो, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर तालां देवाया। अने कपोलकल्पित ग्रन्थो तेमनी जग्याए ऊभा करवा मां आव्या। एटलूं ज नहीं पण विक्रम संवत् ८०२ नी साल मां वनराज चावड़ा ए ज्यारे अणहिलपुर पाटण वसाव्युं त्यारे तेमनां चैत्यवासी गुरु शीलगुणसूरिए तेनां पासे थी एवो रुक्को लखावी लीधो के आ राज नगर मां अमारा पक्षनां यतिओ सिवाय वसतिवासि साधुओ दाखल थवा नहि देवा।"

संघपट्टक की प्रस्तावना के उपर्युक्त उल्लेखों और पिछले अध्याय में प्रस्तुत किये गए महानिशीथ के उल्लेखों से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासियों ने भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित एवं प्रवर्तित धर्म के मूल स्वरूप तथा श्रमणाचार में आमूलचूल परिवर्तन कर किस प्रकार इसे कलुषित और विकृत कर दिया। चैत्यवासियों ने धर्म की प्राणभूता आध्यात्मिकता, अहिंसा, अपरिग्रह, गुणपूजा, निरन्जन निराकार, शुद्ध, बुद्ध, विमुक्त और सत्यं शिवं सुन्दरम् स्वरूप वाले आत्मदेव की आध्यात्मिक उपासना, भावपूजा को छोड़-छिटका कर, उसे पूर्णतः उपेक्षित और विस्मृत कर इनके स्थान पर भौतिकता, हिंसा, परिग्रह, द्रव्यार्चन — जड़पूजा को धर्म के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान कर के शास्त्रों में प्रतिपादित शुद्ध श्रमणाचार के स्वरूप को बुरी तरह कलंकित और कलुषित बना दिया। चैत्यवासियों द्वारा बनाये गए इन दश नियमों में (महानिशीथ में वर्णित उनके शास्त्र विरुद्ध आचार विचार और संघपट्टक मूल एवं उसकी प्रस्तावना में वर्णित उनके अनाचारपूर्ण श्रमणाचार को एक बार देखने, पढ़ने मात्र से ही सुस्पष्ट दिखाई देते चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपनी कपोल कल्पना से चैत्यवासी परम्परा के श्रमणों के लिये आविष्कृत श्रमणाचार में) वस्तुतः शास्त्रों में प्रतिपादित श्रमणाचार के गुणों में से किसी एक भी गुण को स्थान नहीं दिया गया। इसके विपरीत शास्त्रों में विशुद्ध श्रमणाचार के जितने दोष बताये गये हैं, उनमें से प्रायः सभी बड़े-बड़े दोषों को अपनी परम्परा के श्रमणों के आचार में प्रमुख स्थान दे दिया गया। उदाहरण-स्वरूप देखा जाए तो शास्त्रों में साधु द्वारा सर्वप्रथम अंगीकार किये जाने वाले प्रथम महाव्रत अहिंसा में षड्जीवनिकाय के जीवों के आरम्भ-समारम्भपूर्ण सभी प्रकार के कार्यों को जीवन-पर्यन्त त्रिकरण एवं त्रियोग से न करने, न करवाने और न अनुमोदन करने का स्पष्ट विधान है, परन्तु चैत्यवासी परम्परा ने अपने साधुओं के लिए जो श्रमणाचार अपनी कल्पनानुसार और शास्त्रों को एक ओर ताक में रखकर निर्धारित किया उसमें, साधुओं के लिए यह अनिवार्य रखा गया कि वे चैत्यों में ही नियत वास करें। चैत्यों का निर्माण करवाकर उन्हें अपनी सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करें। चैत्यों के निर्माण जीर्णोद्धार आदि घोर आरम्भ-समारम्भपूर्ण कार्यों में मन, वचन, कर्म से सक्रिय भाग लेना चैत्यवासी साधु के लिए किसी प्रकार का दोष नहीं माना गया। इसके विपरीत इन सब कार्यों को करवाने की चैत्यवासी साधुओं को खुली छूट दी गयी। शास्त्रों में साधु के लिए आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का एकान्ततः निषेध है, इसके

बिलकुल विपरीत चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपने श्रमणों के लिये बनाये गये दश नियमों में से प्रथम नियम में ही चैत्यवासी साधु को आधाकर्मी आहार ग्रहण करने की खुली छूट देते हुए कहा गया है कि आधाकर्मी आहार ग्रहण करने में साम्प्रत-युगीन साधु को किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगता। इतना ही नहीं जिन चैत्यों में चैत्यवासी साधु नियत निवास करते थे उन चैत्यों में भगवान् को भोग लगाने के लिए उनके द्वारा पाकशालाएं चलाई जाती थीं। उन पाकशालाओं में से चैत्यवासी साधुओं को यथेप्सित भोजन सर्वदा लेते रहने का भी स्पष्ट निर्देश था।

शास्त्रों में श्रमणाचार का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसमें साधु के लिए आवश्यक धर्मोपकरण के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के रखने का पूर्णतः निषेध है। साधु वस्तुतः अपरिग्रह महाव्रत का धारक होता है अतः उसे रुपया पैसा आदि सभी प्रकार के परिग्रह से सदा जीवन-पर्यन्त दूर रहने का स्पष्ट निर्देश है। पर इसके विपरीत चैत्यवासी साधुओं के लिए चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गए नियमों में से नियम सं० ४ में चैत्यवासी साधु को धन रखने की छूट देते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

"साधु अपने पास धन का संग्रह करें। यद्यपि शास्त्रों में साधु के लिए धन रखने का निषेध है, तथापि साम्प्रतकालीन साधुओं के लिए धन रखना उचित और आवश्यक हो गया है।"

चैत्यवासियों ने सर्वज्ञप्रणीत आगमों की अपेक्षा भी अपनी कपोल-कल्पना को, अपनी दिमागी उपज को सर्वोपरि प्रामाणिक मानते हुए चैत्यवासी साधुओं के लिए बनाये गये दस नियमों में से नौवें नियम में तो आगमों के विरुद्ध एक प्रकार से खुला विद्रोह ही घोषित कर दिया था। नियम सं० ६ में लिखा है :—

"साधु इस प्रकार की क्रियाओं का स्वयं आचरण करें तथा उन क्रियाओं के विधि-विधानों का उपदेश एवं प्रचार-प्रसार कर लोगों से उन क्रियाओं का पालन करवायें जो शनैः शनैः मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली हैं। यदि इस प्रकार की क्रियाओं का, बातों का, विधि-विधानों का आगमों में उल्लेख नहीं है, तो आगमों की उपेक्षा करें। आगमों में यदि उन क्रियाओं का निषेध है तो आगम वचन का अनादर करके भी उन क्रियाओं को स्वयं करता रहे तथा दूसरों से उन क्रियाओं का आचरण करवाता रहे। क्योंकि भगवान् का सिद्धान्त अनेकान्तमय है। अमुक कार्य एकान्ततः करना ही चाहिये और अमुक कार्य एकान्ततः नहीं करना चाहिये, ऐसा कोई निर्देश जैन सिद्धान्त में नहीं है। अनेक अकरणीय कार्यों के करने और अनेक करने योग्य कार्यों के न करने का उल्लेख आगमों में अनेक स्थानों पर है।"

इस नियम के बन जाने के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा में शास्त्रीय मर्यादा नाम की कोई चीज नहीं बची। चैत्यवासी साधु को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई कि जिस को वह अच्छा समझे अथवा अच्छा कह दे वही कार्य चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों के लिए मुक्ति की ओर ले जाने वाला धर्मकार्य स्वीकार्य हो। शास्त्र में यदि उस कार्य के करने का निषेध है, उसे रसातल की ओर ले जाने वाला बताया गया है तो भी चैत्यवासी परम्परा का अनुयायी उस की ओर कोई ध्यान नहीं दे अपितु पूर्णतः उस शास्त्रवचन की अवहेलना करे।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गये नियमों को ध्यान में रखते हुए चैत्यवासी परम्परा द्वारा निर्धारित अथवा स्वीकृत धर्म के स्वरूप पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाए तो निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकरों ने संसार के प्राणिमात्र के कल्याण के लिये जिस जिन धर्म का उपदेश दिया था, उस शाश्वत सनातन जैन धर्म से पूर्णतः विपरीत (पूर्णतः भिन्न कोई दूसरा ही) धर्म को चैत्यवासियों ने जैन धर्म के नाम पर प्रचलित किया था। चैत्यवासियों ने उस अपने कपोलकल्पित धर्म का नाम जैन धर्म तो अवश्य रखा परन्तु वस्तुतः उसे जैन धर्म नहीं कह कर जैनाभास धर्म कहना ही उचित हो सकता है।

यह तो निर्विवाद है कि आजीवन असिधारा पर चलने तुल्य अति दुष्कर एवं घोर दुस्साध्य विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना में अक्षम परीषहभीरु श्रमणों ने शिथिलाचार की शरण लेकर चैत्यवास परम्परा को जन्म दिया। शिथिलाचार की पंकिल भूमि से इसका प्रादुर्भाव हुआ और शिथिलाचार की शिथिल नींव पर ही चैत्यवासी परम्परा का विशाल भवन खड़ा किया गया।

स्वयं द्वारा आचरित शिथिलाचार के औचित्य की जनमानस पर छाप जमाने के लिये चैत्यवासी परम्परा के संस्थापकों ने अपनी उन अशास्त्रीय मान्यताओं की पुष्टि में उपर्युक्त १० नियमों के अतिरिक्त निगम के नाम पर उपनिषदों के समान आगमों के प्रतिपक्षी अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया।[1] भोले लोगों को समझाया गया कि ये विच्छिन्न हुए दृष्टिवाद के अंश हैं। उन ग्रन्थों में अपनी मान्यताओं के अशास्त्रीय और जैन सिद्धान्त के पूर्णतः प्रतिकूल होते हुए भी उन्हें शास्त्रीय और जैन सिद्धान्तानुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया गया। उन ग्रन्थों में नयी-नयी मान्यताओं का, चैत्य-निर्माण, प्रतिमा-निर्माण, चैत्य परिपाटी, प्रतिमाओं में प्राण प्रतिष्ठा, प्रतिमा पूजा विधि, तीर्थ माहात्म्य, तीर्थयात्रा आदि-आदि के सम्बन्ध में अनेक नये-नये विधि-विधानों का विस्तार के साथ समावेश किया गया। प्रत्येक धार्मिक कृत्य के साथ अर्थ प्रधान वाह्य कर्मकाण्डों का पुट और वाह्याडम्बरों का संपुट

---

[1] चैत्यवासी परम्परा के साथ ही उनके वे ग्रन्थ भी प्रायः लुप्त हो गये प्रतीत होते हैं।

—सम्पादक

लगाया गया। चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव के समय से इसके अभ्युदय-उत्कर्ष और चरमोत्कर्ष काल तक चैत्यवासियों द्वारा सर्वज्ञ प्रणीत जैन धर्म के स्वरूप में समय-समय पर इस प्रकार के उत्तरोत्तर अधिकाधिक यथेच्छ परिवर्तन-परिवर्द्धन किये जाते रहे।

स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन मनन-स्तवन, आत्मरमण रूपी भाव-पूजा के स्थान पर द्रव्यपूजा का प्रचलन कर चैत्यवासियों ने उसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। चैत्यवासियों ने लौकिक एवं पारलौकिक प्रलोभनों के माध्यम से जनमानस को अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सवों, महोत्सवों, यात्रा संघों, और प्रतिष्ठा महोत्सवों आदि की ओर आकृष्ट करने का निरन्तर प्रयास किया। सामाजिक सम्मान एवं उभयलौकिक प्रलोभनों से लुब्ध हो लोक-प्रवाह बाह्याडम्बर एवं द्रव्यपूजा की ओर उमड़ पड़ा। सब ओर—ग्राम ग्राम, नगर-नगर बड़े आडम्बरों के साथ चैत्यालयों की प्रतिष्ठाएं की जाने लगीं, और छोटे बड़े सभी प्रकार के धर्मकृत्यों को बड़े ही आडम्बर के साथ उत्सवों और महोत्सवों के रूप में निष्पन्न किया जाने लगा। इस प्रकार के आयोजनों के अवसर पर नारियलों से ले कर मोहरों तक की प्रभावनाएं बांटी जाने लगीं। मन्दिर निर्माण, जीर्णोद्धार, संघयात्रा एवं प्रभावना आदि के प्रश्न को लेकर उस समय लोगों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा प्रबल से प्रबलतर होती गई—लोगों में होड़ सी लग गई।

उस समय के लोक-प्रवाह को भेड़चाल की संज्ञा देते हुए तत्कालीन परिस्थिति का निम्नलिखित प्राचीन गाथाओं में बड़ा ही स्पष्ट चित्रण किया गया है :—

गड्डरि-पवाहओ जो, पइ नयरं दीसए बहुजणेहिं।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
सो होइ दव्वधम्मो, अपहाणो नेव निव्वुई जणइ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ।।७।।
पढ़म गुणठाणे जे जीवा, चिट्ठंति तेसि सो पढ़मो।
होइ इह दव्व धम्मो, अविसुद्धो बीयनायेणं ।।१०।।
अविरइ गुणठाणाईसु, जे य ठिया ते सि भावओ बीओ।
तेण जुया ते जीवा, हुंति सबीया अओ सुद्धो ।।११।।[1]

अर्थात्—आज जो भेड़चाल के समान प्रत्येक नगर में बहुत से लोगों द्वारा जिन गृहों—जिन मन्दिरों के निर्माण आदि कार्य करवाये जा रहे हैं, वे सूत्रविरुद्ध और अशुद्ध हैं। वह तो केवल मिथ्या धर्म है, जो निवृत्ति का जनक अर्थात् मोक्ष-

[1] ये गाथाएं भी इस बात का प्रबल प्रमाण है कि चैत्यवासियों के चरमोत्कर्ष काल में भी भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के श्रमण विद्यमान थे और वे लोगों को धर्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश देते रहते थे। —सम्पादक

दायक नहीं है। शुद्ध धर्म तो वस्तुतः इससे भिन्न दूसरा ही है, जो प्रतिस्रोतगामियों अर्थात् भौतिक प्रवाह के प्रतिकूल आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले महापुरुषों-तीर्थंकरों द्वारा आचरित एवं प्रशंसित है। प्रथम गुण स्थान (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) में जो जीव संस्थित हैं, उनके लिए यह प्रथम द्रव्यधर्म है, जो बीजन्याय-मूल न्याय अथवा बोधिबीज-सम्यक्त्व के अभाव की दृष्टि से अविशुद्ध है। जो जीव अविरत नामक चौथे गुणस्थान में स्थित हैं, उनके लिए तो वह भावपूजा नामक दूसरा धर्म ही आचरणीय और श्रेयस्कर है, जो वस्तुतः प्रतिस्रोतगामी तीर्थंकर आदि महा-पुरुषों द्वारा सेवित व आचरित होने के कारण विशुद्ध और वास्तविक धर्म है क्योंकि उससे युक्त जीव सबीज अर्थात् बोधिबीज-सम्यक्त्व सहित होते हैं। अतः दूसरा आध्यात्मिक धर्म ही शुद्ध धर्म है।"

इन पंक्तियों में चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष काल में भेड़ चाल तुल्य लोक-प्रवाह पर खेदपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए मूल विशुद्ध जैन धर्म का, विशुद्ध श्रमणाचार का और शाश्वत सत्य हमारी प्राचीन विशुद्ध श्रमणोपासक परम्परा के वास्तविक एवं मूल स्वरूप का अतीव सहज सुन्दर चित्रण किया गया है। उसमें भौतिकता और आडम्बर के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था। उसमें सब कुछ आध्यात्मिक ही आध्यात्मिक था। सर्वज्ञ प्रणीत जिनागमों में जैन धर्म के जिस चिरन्तन शाश्वत सत्य मूल स्वरूप का भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसी के अनुरूप इन गाथाओं में भी धर्म के वास्तविक स्वरूप का चित्रण किया गया है।

चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गये उन दश नियमों और विच्छिन्न हुए दृष्टिवाद के नष्ट होने से बचे तथाकथित कड़खों अथवा अंशों के रूप में निर्मित किये गये निगमों ने श्रमणाचार को, जिसे कि आगमों में "दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं"—इस सूत्र से अति दुष्कर बताया गया है, उसे अति सुकर ही नहीं अपितु एक अच्छे से अच्छे समृद्ध सद्गृहस्थ से भी अधिक ऐश्वर्यशाली और सुखोप-भोगपूर्ण बना दिया। इस प्रकार चैत्यवासियों द्वारा श्रमणाचार के अति दुष्कर शास्त्रीय नियमों के सरलीकरण किये जाने और श्रमणजीवन को ऐश्वर्यशाली और सभी भांति सुखोपभोग पूर्ण बना दिये जाने का द्रुतगामी तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी परम्परा के श्रमणों और श्रमणियों की संख्या में उत्तरोत्तर आशातीत अभिवृद्धि होती गई। चैत्यवासी आचार्यों के पास द्रव्य की किसी प्रकार की कमी नहीं थी। अतः उन्होंने छोटे-छोटे बच्चों को खरीद-खरीद कर अपनी-अपनी शिष्य परम्पराओं को प्रतिस्पर्द्धा की भावना से बढ़ाना प्रारम्भ किया।

एक ओर तो श्रमणाचार के नियमों में सरलीकरण से श्रमण-श्रमणियों की संख्या में अपूर्व अभिवृद्धि होने लगी और दूसरी ओर चैत्यवासियों द्वारा चैत्य-निर्माण, प्रतिमा प्रतिष्ठा, रथ यात्रा, तीर्थों की संघ यात्रा आदि कार्यों में दिखाये गये लौकिक एवं पारलौकिक प्रलोभनों एवं समाज में प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्ति

की भूख ने धनिकवर्ग को चैत्यवासियों का ऐसा परम आज्ञाकारी उपासक बना दिया जो किसी भी क्षण किसी भी चैत्यवासी आचार्य के इंगितमात्र पर द्रव्य को पानी की तरह बहाने को समुद्यत रहता। चैत्यवासियों द्वारा धर्म के नाम पर प्रवर्तित आडम्बरपूर्ण और चहल-पहल तथा तड़क-भड़क भरे नित नये आयोजनों से मध्यम वर्ग के साथ-साथ जन-साधारण भी चैत्यवासियों की ओर आकर्षित हुआ। अभाव-अभियोगों से ग्रस्त वर्ग को इस प्रकार के धार्मिक आयोजनों के अवसर पर बांटी जाने वाली प्रभावनाएं लोगों को चैत्यवास की ओर आकर्षित करने में प्रमुख कारण रहीं।

इस प्रकार समाज के प्रायः सभी वर्गों को चैत्यवासियों ने अपनी ओर आकर्षित करने में सफलता प्राप्त की। लोकप्रवाह अध्यात्म धरातल से हटकर बाह्याडम्बरपूर्ण द्रव्य पूजा के भौतिक धरातल की ओर उमड़ पड़ा। अंगुलियों पर गिने जाने योग्य लोगों को छोड़ शेष सभी लोग तप, त्याग, सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि गुणों से ओत-प्रोत जैनधर्म के अध्यात्मप्रधान विशुद्ध स्वरूप को भूल गये—विसर गये। वे चैत्यवासियों द्वारा प्रदर्शित जन-मन-रंजनकारी बाह्याडम्बरपूर्ण एवं परमाकर्षक द्रव्यार्चन, द्रव्यपूजा, द्रव्यस्तव अथवा द्रव्यधर्म को ही वास्तविक धर्म जानने और मानने लगे मानो शास्त्रों में प्रतिपादित धर्म के वास्तविक स्वरूप से और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा से जैसे उन लोगों का किसी प्रकार का कोई वास्ता ही नहीं रहा हो। इस प्रकार की स्थिति में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल श्रमण परम्परा के श्रमणों, श्रमणियों, श्रमणोपासकों एवं श्रमणोपासिकाओं की संख्या सहज ही शनैः शनैः क्षीण से क्षीणतर होते-होते अन्ततोगत्वा कितनी नगण्य रह गई होगी।

विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के लिये वह काल वास्तव में कितना बड़ा संक्रान्ति काल रहा होगा, इसका अनुमान चैत्यवासियों की बाढ़ में बहने से किसी न किसी प्रकार बचे रहे छुट-पुट ऐतिहासिक उल्लेखों से लगाया जा सकता है। अपने श्रीमन्त उपासकों के अर्थबल एवं अन्यान्य साधनों के माध्यम से चैत्यवासियों ने राज्याश्रय प्राप्त कर भारत के अनेक भू-भागों पर अपनी परम्परा का एकाधिपत्य स्थापित करने एवं विशुद्ध श्रमणाचार का पालन तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश करने वाली मूल श्रमण परम्परा का अस्तित्व तक मिटा डालने के उद्देश्य से समय-समय पर अनेक प्रकार के उपाय किये। उन उपायों में से सबसे अधिक प्रभावकारी और भयंकर उपाय उन्होंने यह किया कि येन-केन-प्रकारेण राजगुरु का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर राजाओं से इस प्रकार की राजाज्ञाएं प्रसारित करवा दीं कि उनके राज्य की सीमा में चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी परम्परा के साधु एवं साध्वियां प्रवेश तक नहीं कर पायें। राजाओं से इस प्रकार की निषेधाज्ञाएं प्रसारित करवाये जाने

का एक पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण आज भी उपलब्ध है कि विक्रम सम्वत् ८०२ में अणहिलपुर पाटण के राजा वनराज चावड़ा के गुरु चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि ने राजा से राजाज्ञा प्रसारित करवा कर चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियों को छोड़ शेष सभी अन्य परम्पराओं के साधु-साध्वियों का पाटण राज्य की सीमा में प्रवेश तक बन्द करवा दिया था। उस राजाज्ञा का वि० सं० ८०२ से लगभग वि० सं० १०७५ पर्यन्त निरन्तर २७५ वर्ष तक अणहिलपुर पाटण के सम्पूर्ण राज्य में पूरी कड़ाई के साथ पालन किया गया। इससे विश्वास किया जाता है कि अणहिलपुर पाटण ही की तरह जहां-जहां उन दिनों चैत्यवासियों का वर्चस्व रहा होगा, जिन-जिन राज्यों में चैत्यवासी राजमान्य हुए होंगे, उन सभी राज्यों में भी चैत्यवासियों ने अपने प्रभाव को और अर्थबल को उपयोग में लेकर इस प्रकार की राजाज्ञाएं निश्चित रूप से प्रसारित करवाई होगीं।

जिन राज्यों में चैत्यवासियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ, उन राज्यों में विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के श्रमणों एवं श्रमणियों के प्रवेश तक को रोकने वाली राजकीय निषेधाज्ञाएं प्रसारित करवा कर ही चैत्यवासियों ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली। उन्होंने उन राज्यों में विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के नामशेष तक मिटाने के पूरे प्रबल प्रयास करने में भी किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। जिन राज्यों में पौने तीन-तीन सौ वर्षों जैसी सुदीर्घावधि तक एक ही परम्परा का पूर्ण एकाधिपत्य रहे, पूर्ण वर्चस्व रहे– पूरा बोलबाला रहे, अन्य परम्परा के किसी भी साधु को उन राज्यों की सीमा तक में नहीं घुसने दिया जाय, उन क्षेत्रों में क्या दूसरी परम्पराओं का नामशेष तक भी अवशिष्ट रह सकता है? कदापि नहीं। यही कारण था कि जिन राज्यों में चैत्यवासी परम्परा का दो-दो, तीन-तीन शताब्दियों तक पूर्ण वर्चस्व और पूर्ण एकाधिपत्य रहा, उन राज्यों में विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा का कोई अनुयायी और यहां तक कि नाम लेने वाला तक नहीं रहा।

इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्त कर चैत्यवासी परम्परा भारत के विभिन्न भागों में प्रसूत हुई, फैली और फली फूली। वीर निर्माण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो चैत्यवासी परम्परा का भारत के अधिकांश भागों में पूर्ण वर्चस्व और एक प्रकार से पूर्ण-रूपेण एकाधिपत्य रहा। जिन राज्यों में चैत्यवासियों ने अपनी परम्परा से भिन्न श्रमण परम्परा के श्रमण-श्रमणियों का राजाज्ञाओं द्वारा प्रवेश तक निषिद्ध करवा दिया, उन क्षेत्रों में रहने वाले जैनधर्मावलम्बियों को विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के श्रमण-श्रमणियों के दर्शन तक दुर्लभ हो गये। उन प्रदेशों के निवासी न केवल विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले सतत विहारी श्रमणों को ही अपितु मूल श्रमण परम्परा के स्वरूप तक को भूल गये।

वे लोग तो चैत्यवासियों को ही भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के सच्चे श्रमण, श्रमणों के लिए सर्वथा हेय शिथिलाचार को ही विशुद्ध श्रमणाचार और उन चैत्यवासियों द्वारा प्रचालित अशास्त्रीय नये-नये आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों तथा धर्म के नाम पर जारी किये गये भौतिक कार्यकलापों-अनुष्ठानों, कार्यक्रमों को ही जैन धर्म का वास्तविक मूल स्वरूप जानने और मानने लगे। अहिंसा, अपरिग्रह सम, सम्वेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था, यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चरण, शास्त्रवाचन, भिक्षाटन आदि अनिवार्य, अपरिहार्य और एकान्ततः आवश्यक मूल कर्तव्यों का भी साध्वाचार में कोई स्थान हो सकता है, इस बात की कल्पना तक सर्वसाधारण के मस्तिष्क में नहीं रही। साधुओं द्वारा चैत्यों का अपनी कल्पना की ऊंची ऊंची उड़ानों के अनुरूप निर्माण करवाना, उन चैत्यों का स्वामित्व ग्रहण करना, उनमें आजीवन नियत निवास करना, चैत्यों की विशाल भोजनशालाओं में भगवान् के भोग के नाम पर स्वेच्छानुसार सुस्वादु षड्रस भोजन बनवा उससे अपना उदरपोषण करना, अपने पास सोना, चांदी, हीरा, पन्ना, माणिक, मोती, रुपया, पैसा, भूमि आदि विपुल परिग्रह रखना, चैत्यों में धूप, दीप, नैवेद्य, फल, फूल, पुष्पमाला, वाद्यवादन, संगीत आदि का प्रबन्ध करना, रथयात्रा, तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा आदि अनेक प्रकार के आडम्बरपूर्ण, उत्सवों तथा महोत्सवों का आयोजन करना, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि के बल पर जनसाधारण को चमत्कृत कर अपनी महानता सिद्ध करना आदि कार्यकलापों को ही उस समय का जनसमूह श्रमणाचार का प्रमुख कर्त्तव्य और जैन धर्म का महत्तम मूल स्वरूप मानने लगा।

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से वीर नि० सं० १५५४ तक यही स्थिति रही कि चैत्यवासी परम्परा ही लोकदृष्टि में जैनधर्म की सच्ची प्रतिनिधि और मूल परम्परा के रूप में मान्य रही। चैत्यवासी परम्परा के श्रमण आगम-प्रतिपादित श्रमण धर्म से उन्मुख होने पर भी उस समय के राज और समाज पर छाये हुए थे। वे ही सच्चे जैन श्रमण माने जाते रहे। जिन क्रियाओं को, जिन कार्यकलापों को शास्त्रों में घोर पापाचार बताया गया है, उन्हीं को चैत्यवासी परम्परा द्वारा धार्मिक क्रिया के रूप में स्वीकृत कर लिये जाने पर लोग उन्हीं को जैन धर्म के वास्तविक एवं सिद्धान्तसम्मत मूल धार्मिक कृत्य जानते और मानते रहे। वीर निर्वाण की ११वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में, जब से चैत्यवासी परम्परा का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ तभी से जैन धर्म की मूल मान्यताओं व उपासनाओं की एवं विशुद्ध एवं शास्त्रीय श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के श्रमणों की संख्या उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतर होती चली गई। वीर नि० की सोलहवीं शताब्दी के तृतीय चरण में तो यह स्थिति हो गई कि मूल श्रमण परम्परा के श्रमण भारतवर्ष के उत्तरवर्ती क्षेत्र में अथवा सुदूरस्थ किसी क्षेत्र विशेष में ही इनी गिनी संख्या में अवशिष्ट रह गये।[1]

[1] सम्बन्धित टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

वीर नि० की १६ वीं शताब्दी में वनवासी परम्परा के आचार्य उद्योतन सूरि की भारत के उत्तरवर्ती क्षेत्र में विद्यमानता के इस उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि चैत्यवासियों के चरमोत्कर्ष काल में भी भगवान् महावीर द्वारा स्थापित चतुर्विध तीर्थ का मूल स्वरूप विद्यमान रहा। चैत्यवासी परम्परा द्वारा जैन धर्म के मूल स्वरूप तथा मूल श्रमणाचार को विकृत कर दिये जाने और चैत्यवासियों के सर्वग्रासी एकाधिपत्य के उपरान्त भी जैन धर्म का मूल स्वरूप एवं श्रमण परम्परा चैत्यवासी परम्परा के बाह्याडम्बरपूर्ण घटाटोप में गौण और गुप्तप्राय: तो अवश्य हो गये पर लुप्त नहीं हुए। जो मूल श्रमण परम्परा का प्रवाह वीर नि० सं० १००० तक उत्ताल तरंगों से उद्वेलित किसी महानदी के वेग के समान प्रवाहित होता रहा, वह चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्षकाल में उस रूप में नहीं रहा, मन्द हो गया, मन्दतर भी हो गया पर वह अवरुद्ध नहीं हुआ, लुप्त नहीं हुआ। षष्ठम आरक में गंगा नदी के क्षीण प्रवाह के समान मूल श्रमण परम्परा का प्रवाह चैत्यवासी परम्परा के उस परमोत्कर्ष के संक्रान्तिकाल में भी मन्द-मन्द मन्थर गति से प्रवाहित होता ही रहा। निहित स्वार्थ अथवा पूर्वाग्रहग्रस्त अन्य परम्पराओं के अनुयायिओं ने मूल श्रमण परम्परा की उस अति क्षीणावस्था को लुप्तावस्था की संज्ञा दे डाली। पर यत्र तत्र बिखरे पड़े ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में एक बात स्पष्ट है कि उस ६००-७०० वर्ष के घोर संक्रान्तिकाल में भी मूल श्रमण परम्परा न केवल जीवित ही रही अपितु प्रबुद्ध भी रही।

महानिशीथ के तीन आख्यान — सावद्याचार्य का आख्यान, वज्रस्वामी और तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थित उनके ५०० शिष्यों का आख्यान और द्रव्यार्चन एवं भावार्चन का आख्यान—ये तीन आख्यान इस बात के प्रमाण हैं कि भगवान् महावीर द्वारा तीर्थप्रवर्तन के समय धर्म का जो स्वरूप प्रकट किया गया था, धर्म के

१.(क) अभोहर देशे जिनचन्द्राचार्या देवगृहवासिनश्चतुरशीतिस्थावलकनायका आसन्। तेषां वर्धमान नामा शिष्य:। तस्य च सिद्धान्तवाचनां गृह्णतश्चतुरशीति-राशातना: समायाता:। ताश्च परिभावयत इयं भावना मनसि समजनि-"यद्येता रक्ष्यन्ते तथा भद्रं भवति।" व्रतगुरोश्च निवेदितम्। गुरुणा चिंतितं "अस्य मनो न मनोहरम्" इति ज्ञात्वा सूरिपदे स्थापित:। तथापि तस्य मनो न रमते चैत्यवासगृहे स्थातुम्। ततो गुरो: सम्मत्या निर्गत्य कतिचिन् मुनिसमेतो ढिली वा दली प्रभृति देशेषु समायात। तस्मिन् प्रस्तावे, तत्रैवोद्द्योतनाचार्य सूरिवर आसीत्। तस्य पार्श्वंसम्यगाग मतत्वं बुद्ध्वा उपसम्पदं गृहीतवान्। ... .खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि पृष्ठ १.

(ख) अहन्नया कयाई सिरिवद्धमाणसूरिआयरिया अरन्नचारिगच्छनायगसिरि उज्जोयण सूरिपट्टधारिणो.......।—वही, पृ० ८६

उसी मूल स्वरूप के उपासक मूल श्रमण परम्परा के श्रमण उस घोर संक्रान्तिकाल में भी विद्यमान थे और शास्त्रों में प्रतिपादित धर्म के मूल स्वरूप को वे समय-समय पर लोगों के समक्ष उस संक्रान्तिकाल में भी बड़ी निर्भीकता के साथ रखते थे। उस संक्रान्तिकाल में मूल श्रमण परम्परा के श्रमणों की विद्यमानता के प्रमाण तो इस प्रकार उपलब्ध होते हैं किन्तु देवर्द्धिगणि श्रमाश्रमण के पश्चात् मूल श्रमण परम्परा की—वाचनाचार्य परम्परा और वीर नि० सं० १००० तक प्रचलित रही गणाचार्य परम्पराओं की पट्टावलियां आज जैन वांग्मय में कहीं उपलब्ध नहीं होती। जिस वाचनाचार्य परम्परा के महान् आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने १४ वर्ष तक अथक प्रयास करके मूल अंगों, उपांगों एवं आगमों को लिपिबद्ध करवाया, पुस्तकारूढ़ कर जैन धर्मावलम्बियों पर असीम उपकार किया, उन महान् उपकारी देवर्द्धि क्षमाश्रमण का उत्तराधिकारी आचार्य कौन हुआ इसका उल्लेख आज सम्पूर्ण जैन वांग्मय में खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता, उनके किसी शिष्य, प्रशिष्य अथवा प्रशिष्यानुप्रशिष्य तक का नाम भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। यह स्थिति बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण और आश्चर्यजनक है।

वीर नि० सं० ९८० से ९९४ तक निरन्तर चौदह वर्षों के कठोर परिश्रम से आर्य देवर्द्धि ने आगमों को पुस्तकारूढ़ करवाया। इतना बड़ा कार्य विशाल शिष्य समुदाय की सहायता के बिना सम्पन्न होना कदापि सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होते ही वाचनाचार्य परम्परा अथवा आगमलेखन में उनके सहायक आर्य कालक आदि की शिष्य परम्पराएं हठात् ही विलुप्त हो गई हों, इस पर तो कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। वस्तुतः ऐसा होना सम्भव भी प्रतीत नहीं होता कि शताब्दियों तक जैन संघ में बहुजन सम्मत, बहुजन मान्य और परमपूज्य रही वाचनाचार्य परम्परा जैसी सुविख्यात मूल श्रमण परम्परा देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होते ही सहसा विलुप्त हो जाय। चैत्यवासी परम्परा के अभ्युदय, समुत्थान और उत्कर्ष काल के घटनाचक्र को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर वाचनाचार्य परम्परा के साथ-साथ मूल श्रमण परम्परा की गणाचार्य परम्पराओं का भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाने के उपरान्त भी अनेक शताब्दियों तक इन परम्पराओं के श्रमण-श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं का अस्तित्व रहा। ज्यों-ज्यों मूल श्रमण परम्परा की इन विभिन्न धाराओं का उत्तरोत्तर क्रमिक ह्रास होता गया, त्यों-त्यों उनकी पट्टपरम्पराओं को लोग भूलते गये। इन परम्पराओं के श्रमणोपासकों की संख्या जब क्षीण से क्षीणतर होती चली गई तो इन परम्पराओं की पट्टावलियां भी शनैः शनैः विलुप्त होती गईं। यह भी सम्भव है कि जिन-जिन राज्यों में राजाज्ञाएं प्रसारित करवा कर चैत्यवासी परम्परा ने मूल श्रमण परम्परा के साधु-साध्वियों का प्रवेश तक निषिद्ध करवा दिया था, उन राज्यों के धर्मस्थानों में रहीं मूल श्रमण परम्परा

की पट्टावलियों को चैत्यवासियों ने नष्ट करवा दिया हो। उस संक्रान्तिकाल के घटनाचक्र के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस संक्रान्तिकाल में अनेक प्रदेशों के, अनेक राज्यों एवं क्षेत्रों के जैनधर्मावलम्बी सामूहिक रूप से चैत्यवासी परम्परा के अनुयायी बने। उस प्रकार की स्थिति में उन प्रदेशों में रहीं मूल श्रमण परम्परा की पट्टावलियों के नष्ट किये जाने अथवा नष्ट हो जाने की भी प्रबल सम्भावना अनुमानित की जाती है। यही कारण है कि देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर अनेक शताब्दियों तक मूल श्रमण परम्परा के अविच्छिन्न गति से क्रमिक क्षीण और क्षीण से क्षीणतम रूप में प्रवहमान रहने पर भी उस मूल श्रमण परम्परा की देवर्द्धिगणि के उत्तरवर्त्तीकाल की पट्टपरम्पराएं अथवा पट्टावलियां आज कहीं उपलब्ध नहीं होतीं। स्वयं भगवान् महावीर के मुखारविन्द से प्रकट हुई इस दिव्य ध्वनि—"गौतम मेरा धर्मसंघ पंचम आरक के अवसान काल के अन्तिम दिन तक रहेगा"—के अनुसार, जिसका कि भगवती सूत्र में स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है तथा महानिशीथ के उपरिवर्णित तीन उल्लेखों एवं खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली में विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए वनवासी परम्परा के आचार्य उद्योतन सूरि के उल्लेख आदि परस्पर एक-दूसरे से भली-भांति परिपुष्ट प्रमाणों से यह पूर्णत: सिद्ध होता है कि मूल श्रमण परम्परा और जैन धर्म का मूल स्वरूप ये दोनों ही तीर्थप्रवर्तन काल से आज तक अविच्छिन्न रूप से निरन्तर प्रवहमान एक धारा के रूप में चले आ रहे हैं। ये दोनों इन विगत ढाई हजार वर्षों की सुदीर्घावधि में गौण अथवा गुप्त अवश्य हुए पर लुप्त कभी नहीं हुए।

जैन धर्म के मूल आध्यात्मिक स्वरूप और मूल श्रमण परम्परा के गौण अथवा गुप्त होने में मुख्य कारण काल प्रभाव के साथ-साथ चैत्यवासी परम्परा ही रही।

चैत्यवासी परम्परा में भी ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों विघटनकारी मतभेद उत्पन्न होते गये। कालान्तर में चैत्यवासी परम्परा में भी भिन्न-भिन्न मान्यताओं वाले गच्छों की उत्पत्ति हुई। छोटे-छोटे गच्छों की तो गणना करना भी कठिन कार्य था, बड़े-बड़े प्रमुख गच्छों की संख्या भी चौरासी (८४) तक पहुंच गई।[1] प्रत्येक गच्छ के आचार्य और अनुयायी दूसरे गच्छों को अपने गच्छ से हीन और अपने गच्छ को ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि एवं सबसे बड़ा सिद्ध करने में प्रयत्नशील

---

१. इह गाथाअत्थं चिंतिऊण संसाराओ विरत्तो नीसरिऊण अणहिल्लपुरपट्टणे गओ। तत्थ चुलसी पोसहसाला, चुलसी गच्छवासिणो भट्टारगा वसंति। जिणवल्लहो जत्थ जत्थ पोसहसालाए गच्छइ पुच्छइ, पिच्छइ, कत्थवि चित्तरइ न जायइ।

—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि:, पृ० ६०

(ख) अवोहरदेशे जिनचन्द्राचार्या देवगृहनिवासिनश्चतुरशीतिस्थावन्नकनायका आसन्। वही, पृष्ठ १

रहने लगे। जिसके स्वामित्व में बड़े से बड़े भव्य चैत्य हों, जिसके छत्र, चामर, सिंहासनादि राजसी चिन्ह रजतनिर्मित, स्वर्णिम और रत्नजटित हों, जिसके चैत्य में मोटे से मोटे गद्दे, मसनदें तथा बेसकीमती रंगबिरंगे चित्रों से सुशोभित रेशमी एवं मखमली कालीनें हों, बड़ी से बड़ी जागीर के समान जिस चैत्यवासी आचार्य के आय के स्रोत अधिकाधिक विपुल हों, जिसको चारों ओर से शिष्यों-प्रशिष्यों और भक्तों की बड़ी से बड़ी भीड़ घेरे हुए हो, जिसके चैत्यों की पाकशालाओं में अन्नपूर्णा के भण्डार की तरह गरिष्ठ से गरिष्ठ सुस्वादु षड्रस व्यंजन प्रचुर से प्रचुर मात्रा में बनाये जाते हों, जिसके पास सर्वाधिक बाह्याडम्बर की सामग्री, विपुल ऐश्वर्य, सुखोपभोग की सामग्री, अतुल धन सम्पदा अमित वैभव और अपरिमित परिग्रह हो, वही सबसे बड़ा गच्छ तथा उस गच्छ का आचार्य सबसे बड़ा आचार्य माना जाने लगा। बड़प्पन के इस मापदण्ड के परिणामस्वरूप भव्यातिभव्य मन्दिरनिर्माण, विशाल संघयात्रा, अद्भुत आडम्बरपूर्ण रथयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, घंटा-घड़ियालों आदि विविध वाद्ययन्त्रों के तुमुल घोष के साथ प्रातः सायं देवार्चन और एक-दूसरे से अधिक मूल्य की प्रभावनाएं बांटने आदि की सभी चैत्यवासी गच्छों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धापूर्ण होड़ सी लग गई। श्रमणों के लिये परमावश्यक स्वाध्याय, ध्यान, शास्त्रवाचन, अध्यात्मचिन्तन-मनन आदि दैनिक कर्त्तव्यों को ताक में रखकर चैत्यवासी आचार्य, साधुवर्ग, साध्वीवर्ग और उनके उपासक श्रावक-श्राविकावर्ग इन आरम्भ-समारम्भ एवं आडम्बरपूर्ण क्रियाकलापों को ही मोक्ष प्राप्ति का धर्मसंघ के अभ्युत्थान का साधन समझ कर अहर्निश इन भौतिक प्रपंचों में ही जुट गये।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पण्डित जिनेश्वरगणि द्वारा अपने गुरु वर्द्धमानसूरि को प्रार्थना के रूप में कहे गये—"अस्मिन् प्रस्तावे विज्ञप्तं पण्डित जिनेश्वरगणिना—"भगवन्! ज्ञातस्य जिनमतस्य किं फलम्, यदि कुत्रापि गत्वा न प्रकाश्यते। गूर्जरत्रादेशः प्रभूतो देवगृहवास्याचार्यव्याप्तः श्रूयते। अतस्तत्र गम्यते।"[1] इस वचन से निर्विवादरूपेण यही प्रकट होता है कि वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक के चैत्यवासियों के उत्कर्ष काल में जैन समाज एक पीढ़ी से अनेक प्रपीढ़ियों तक प्रतिदिन नितान्त बाह्याडम्बरपूर्ण उपर्युक्त कार्यकलापों को धार्मिक कृत्यों के रूप में करते रहने के कारण वस्तुतः द्रव्यार्चन का, द्रव्यपूजा का पूर्णरूपेण अभ्यस्त हो गया था। चैत्यवासियों द्वारा धर्म के नाम पर प्रचालित किये गये अशास्त्रीय विधि-विधान एवं अन्यान्य आडम्बरपूर्ण कार्यकलाप जैन समाज में धार्मिक कृत्यों के रूप में रूढ़ हो गये थे। जैन धर्मावलम्बियों का एक बहुत बड़ा भाग धर्म की मूल आत्मा आध्यात्मिकता को एक प्रकार से भूल सा गया था। चैत्यवासियों द्वारा अशास्त्रीय तथाकथित धर्ममार्ग

---

[1] खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलिः, पृष्ठ १

पर आरूढ़ किये गये भूले भटके लोगों को, जैन धर्मावलम्बियों को धर्म का सच्चा स्वरूप बताने के लिए जिनेश्वरगणि ने अपने गुरु वर्द्धमानसूरि से प्रार्थना की।

पण्डित जिनेश्वरगणि की प्रार्थना को स्वीकार कर वर्द्धमानसूरि ने अपने १७ साधुओं के साथ दिल्ली से गुजरात की ओर विहार किया। विहारक्रम से पल्ली (सम्भवतः पाली-मारवाड़) होते हुए कालान्तर में वे अनहिलपत्तन पहुंचे। वहां सुसाधुओं का भक्त एक भी श्रावक नहीं था जिससे कि वे रहने के लिये स्थान की याचना करते।[1] ऐसी स्थिति में वे नगर के बाहर एक मण्डपिका (छतरी) में उतरे और स्वाध्याय ध्यानादि आवश्यक धर्मकृत्यों में निरत हो गये। उस छतरी में धूप और भूख-प्यास को सहन करते हुए कुछ समय तक ठहरने के पश्चात् जिनेश्वरगणि ने अपने गुरु से निवेदन किया—"भगवन्! इस प्रकार बैठे रहने से तो कोई कार्य होने वाला नहीं है।"

वर्द्धमानसूरि ने पूछा—"तो फिर क्या किया जाय ? सौम्य !"

जिनेश्वरगणि ने निवेदन किया—"भगवन्! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं उस विशाल भवन में जाऊं, जो यहां से दिखाई दे रहा है।"

गुरु की आज्ञा प्राप्त कर पण्डित जिनेश्वरगणि उस भवन की ओर प्रस्थित हुए। वह भवन अनहिलपत्तन राज्य के महाराजा दुर्लभ राज के राजपुरोहित का था। बात ही बात में पण्डित जिनेश्वरगणि के पाण्डित्य से राजपुरोहित बड़ा प्रभावित हुआ। उसने जिनेश्वरगणि से पूछा :—"आप कहां से आये हैं और कहां ठहरे हैं ?" जिनेश्वरगणि ने कहा—"हम दिल्ली से आये हैं और बाहर एक खुली छतरी में ठहरे हैं। यह प्रदेश हमारे विरोधियों से भरा पड़ा है, यहां हमारा कोई उपासक नहीं है। हम १८ साधु हैं।"

यह सुनकर राजपुरोहित ने अपने भवन के एक भाग में उन्हें ठहरने की अनुमति प्रदान की। वर्द्धमानसूरि अपने १७ शिष्यों सहित राजपुरोहित के भवन के एक भाग में आकर ठहरे। पुरोहित के सेवकों ने उन साधुओं के साथ जाकर उन को ब्राह्मणों के घर बताये जहां से उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार भिक्षा प्राप्त हुई। उसी समय सारे नगर में यह बात फैल गई कि पत्तन में वसतिवासी साधु आये हुए हैं। चैत्यवासियों ने उन वसतिवासी साधुओं के आगमन की बात सुनते ही उन्हें वहां से निकलवा देने हेतु षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ कर दिया। सारे नगर में और राजभवन एवं राजसभा तक में अपने चाटुकारों के माध्यम से चैत्यवासियों ने यह

---

१. ....क्रमेणानहिलपत्तने प्राप्ताः। उत्तरिता मण्डपिकायाम्। तस्मिन् प्रस्तावे तत्र प्राकारो नास्ति, सुसाधुभक्त श्रावकोऽपि नास्ति यः स्थानादि याच्यते। तत्रोपविष्टानां घर्मो निकटीभूतः। वही, पृष्ठ २

अफवाह फैला दी कि दुर्लभराज के राज्य को हथियाने की इच्छा से मुनिवेष में किसी शत्रु राजा के गुप्तचर अनहिलपुरपत्तन में आये हुए हैं। जब दुर्लभराज के कानों तक यह बात पहुंची तो उन्होंने अपने राजपुरुषों से पूछा कि वे गुप्तचर कहां हैं? राजपुरुषों ने कहा—"देव! वे लोग आपके राजपुरोहित के घर में ठहरे हुए हैं।"

महाराज दुर्लभराज ने तत्काल राजपुरोहित को बुलाकर कहा—"नगर के घर-घर में यह बात फैली हुई है कि किसी शत्रुराजा के गुप्तचर मुनिवेष में यहां आये हुए हैं। यदि वे वस्तुतः किसी के गुप्तचर हैं तो उन्हें आपने अपने घर में स्थान किस कारण दिया?" राजपुरोहित ने दुर्लभराज से निवेदन किया—"देव! उन लोगों पर इस प्रकार का दुष्टतापूर्ण दूषण किसने लगाया है? मैं लाख पारुष्य दांव पर लगाता हूं कि ऐसी बात कहने वाला कोई भी व्यक्ति यदि उनमें एक भी दूषण सिद्ध करने की क्षमता रखता हो तो सम्मुख आये और अपनी बात को सिद्ध करे।" पूरी राज्यसभा में सन्नाटा सा छा गया। राजपुरोहित की चुनौती को स्वीकार करने वाला कोई भी व्यक्ति वहां दृष्टिगत नहीं हुआ। पुरोहित की चुनौती को स्वीकार करने के लिये जब कोई भी व्यक्ति सम्मुख नहीं आया तो राजपुरोहित ने कहा—"राजन्! वे सभी साधु वस्तुतः सशरीरी धर्म के समान हैं, उनमें किसी प्रकार का कोई भी दूषण नहीं है।"

राजपुरोहित की बात सुनकर राजा दुर्लभराज पूर्णतः आश्वस्त एवं सन्तुष्ट हुए।

राजसभा में उपस्थित सूराचार्य आदि चैत्यवासी आचार्यों ने राज-पुरोहित की बात सुन कर परस्पर मन्त्रणा की कि इन वसतिवासी साधुओं को येन केन प्रकारेण वाद में पराजित कर यहां से निकलवा देना चाहिये। रोग को उठते ही नष्ट कर देना, यही बुद्धिमत्ता है। इस प्रकार विचार कर उन चैत्यवासी आचार्यों ने राजपुरोहित से कहा—"आपके घर में ठहरे हुए यतियों से हम विचार-चर्चा करना चाहते हैं।"

राजपुरोहित ने उत्तर दिया—"उनको पूछकर जैसी भी स्थिति होगी उससे मैं आपको अवगत करा दूंगा।"

राजपुरोहित घर गया और वर्द्धमान सूरि को वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए कहा—"महात्मन्! आपके विपक्षी आपके साथ चर्चा करना चाहते हैं।"

श्रीवर्द्धमानसूरि ने कहा—"बिलकुल ठीक है। आपको इसमें किंचित् मात्र भी डरने की आवश्यकता नहीं। आप तो उनसे केवल यही कहिए कि यदि आप शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो महाराज दुर्लभराज के समक्ष जो स्थान उन्हें उपयुक्त लगे उसी स्थान पर वे हमारे साथ वाद-विवाद करें।"

राजपुरोहित ने चैत्यवासी आचार्यों के पास जाकर जैसा वर्द्धमान सूरि ने कहा था वही कहा। चैत्यवासी आचार्यों ने सोचा कि छोटे से लेकर बड़े से बड़े राज्याधिकारी तक सभी लोग हमारे वशवर्ती हैं, अतः उनसे किसी भी प्रकार का भय नहीं है। ऐसी स्थिति में राजा के समक्ष ही शास्त्रार्थ हो जाय। इस प्रकार विचार कर चैत्यवासी आचार्यों ने सबके समक्ष कहा—"अति विशाल पंचाशरीय देवमन्दिर में अमुक दिन शास्त्रार्थ होगा।"

राजपुरोहित ने राजा दुर्लभराज से एकान्त में कहा—"राजन्! दिल्ली से आये हुए मुनियों के साथ चैत्यों में नियत निवास करने वाले यहां के चैत्यवासी मुनि चर्चा करने के लिये समुत्सुक हैं। ऐसा शास्त्रार्थ न्यायवादी राजा के समक्ष हो तभी शोभा देता है। इसलिए शास्त्रार्थ के समय वादस्थल पर आपकी कृपापूर्ण उपस्थिति सादर प्रार्थनीय है।"

दुर्लभराज ने स्वीकृति प्रदान करते हुए राजपुरोहित से कहा—"वस्तुतः यह समुचित है। हम वादस्थल पर अवश्य ही उपस्थित रहेंगे।"

तदनन्तर विक्रम सम्वत् १०८४ में शास्त्रार्थ के लिए निश्चित दिन और निश्चित समय पर पंचाशरीय देवमन्दिर में सूराचार्य आदि ८४ ही आचार्य अपनी वरिष्ठता के अनुरूप सिंहासनों पर बैठे। राजा दुर्लभराज भी राजसिंहासन पर उपविष्ट हुए।

राजा ने पुरोहित को सम्बोधित करते हुए कहा—"पुरोहित जी! अपने उन साधुओं को लाइये।"

राजपुरोहित ने घर जाकर वर्द्धमानसूरि से निवेदन किया—"महात्मन्! सभी आचार्य अपने शिष्यपरिवार सहित वादस्थल पर आ बैठे हैं। महाराज दुर्लभ-राज भी पंचाशरीय मन्दिर में आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। राजा ने उन आचार्यों को ताम्बूल समर्पित कर सम्मानित किया है।"

सुधर्मास्वामी आदि सभी युगप्रधानों का हृदय में ध्यान धर कर श्री वर्द्धमानसूरि भी अपने पण्डित जिनेश्वरसूरि आदि कतिपय आगम निष्णात मुनियों को साथ लेकर पंचाशरीय मन्दिर की ओर प्रस्थित हुए। वहां पहुंचने पर राजा द्वारा प्रदर्शित स्थान पर पण्डित जिनेश्वर द्वारा बिछाये गये आसन पर वर्द्धमानसूरि बैठे और उनके चरणों के पास ही जिनेश्वरगणि भी बैठ गये। राजा दुर्लभराज आचार्य वर्द्धमानसूरि को ताम्बूल अर्पण के लिये समुद्यत हुए। यह देख कर वर्द्धमानसूरि ने कहा—"राजन्! साधु के लिए ताम्बूलचर्वण करना और ताम्बूल-ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है क्योंकि धर्म-नीति में ब्रह्मचारियों, साधुओं व विधवाओं के लिये ताम्बूलचर्वण, अत्यन्त निन्दनीय और निषिद्ध बताया गया है।"

न्यायवादी होने के कारण मान जाएंगे कि इनके उपासकों के अभाव में वसति-वासियों को यहां नहीं रहने दिया जाना चाहिये। इस प्रकार की बात जब उन सब राज्याधिकारियों ने महाराज दुर्लभराज के समक्ष कही तो तत्काल श्री जिनेश्वर सूरि ने कहा—"इनमें से कोई श्रीकरणाधिकारी का गुरु है, कोई मन्त्री का, तो कोई पटवों आदि का। इस प्रकार इन सब चैत्यवासी आचार्यों का किसी न किसी से सम्बन्ध है, पर हम नवागन्तुकों का किससे सम्बन्धहै ?" इस पर दुर्लभराज ने दृढ़ स्वर में कहा—"आपका हम से सम्बन्ध है।"

जिनेश्वरसूरि ने पुनः कहा—"महाराज! इनमें से प्रत्येक आचार्य का किसी न किसी से सम्बन्ध होने के कारण ये सब किसी न किसी के गुरु हैं पर आज तक यहां के लोगों में से हमारा किसी के साथ सम्बन्ध न होने के कारण हमारा न तो किसी से कोई सम्बन्ध ही है और न हम किसी के गुरु ही हैं।"

यह बात सुन कर राजा दुर्लभराज ने तत्काल उन नवागन्तुक वसतिवासी मुनियों को अपना गुरु बनाया। उन्हें अपना गुरु बनाने के पश्चात् राजा ने कहा—"हमारे गुरु इस प्रकार नीचे क्यों बैठें ? क्या हमारे पास गद्दियां नहीं हैं। मेरे इन गुरुओं में से प्रत्येक गुरु को रत्नजटित वस्त्रों से निर्मित सात सात गद्दियां दी जायं।"

राजा का इंगित पाकर ज्यों ही राजभृत्य उन वसतिवासी साधुओं के लिये गद्दियां लाने को उठे त्यों ही जिनेश्वरसूरि ने कहा— "महाराज! साधुओं के लिये गद्दी पर बैठना अकल्पनीय है। क्योंकि धर्मनीति में कहा है :—

भवति नियतमेवासंयमः स्याद्विभूषा,
नृपतिककुद ! एतल्लोकहासश्च भिक्षोः ।
स्फुटतर इह संगः सातशीलत्वमुच्चै—
रिति न खलु मुमुक्षोः संगतं गव्दिकादि ॥

अर्थात् गद्दी पर बैठने से साधु को अपने संयम में निश्चित रूप से असंयम के दोष लगते हैं। गद्दी पर बैठना विभूषा की गणना में भी आता है और विभूषा साध के लिये एकान्ततः वर्जित है। हे नृपशिरोमणि ! गद्दी पर बैठने से साधु लोगों में हंसी का पात्र बनता है। क्योंकि साधु का मूल गुण है त्याग और गद्दी वस्तुतः भोग और वैभव की प्रतीक है। गद्दी पर बैठने से ममत्वभाव के उद्गम के कारण साधु का मूल गुण निस्संगता समाप्त हो उसमें संग अर्थात् आसक्ति का दोष उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ ही साथ गद्दी पर बैठने से साधु में उच्चकोटि का शैथिल्य आ जाता है। इन सब दोषों को दृष्टिगत रखते हुए साधु के लिये गद्दी पर बैठना किसी भी प्रकार संगत नहीं, वर्जित ही माना गया है।"

महाराज दुर्लभराज ने जिनेश्वरगणि से पूछा—"आप लोग किस (प्रकार के) स्थान में रहते है ?"

जिनेश्वरगणि ने उत्तर दिया—"महाराज! विपक्षियों का जहां प्राबल्य हो, वहां हमें रहने के लिये स्थान मिल ही कैसे सकता है ।"

दुर्लभराज ने अपने एक राज्याधिकारी की ओर इंगित करने के साथ साथ जिनेश्वरगणि से कहा—"करडीहट्टी में संततिविहीनावस्था में मृत" श्रेष्ठि का जो विशाल भवन है, उस भवन में आप रहें ।" तत्क्षण उन वसतिवासी साधुओं के लिये उस भवन में ठहरने की व्यवस्था कर दी गई ।

राजा ने जिनेश्वरसूरि से पुनः पूछा—"आपका भोजन कहां और किस प्रकार होता है?"

जिनेश्वरगणि ने उत्तर दिया—"महाराज ! भोजन भी रहने के स्थान के समान ही दुर्लभ है ।"

दुर्लभराज—"आप कितने साधु हैं ?"

जिनेश्वरगणि—"महाराज ! हम १८ साधु हैं ।"

दुर्लभराज—एक हस्तिपिण्ड (एक हाथी की जिससे क्षुधातृप्ति हो जाय, उतने परिमाण की भोजन सामग्री) से आप सब तृप्त हो जायेंगे ?"

जिनेश्वरगणि:—"राजन्! राजपिण्ड साधुओं के लिये कल्पनीय नहीं है। शास्त्रों में साधु को राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध किया गया है ।"

दुर्लभराज—"अच्छा, ऐसी बात है तो मेरा एक आदमी भिक्षाटन के समय आपके साथ हो जायेगा, इससे आपको सर्वत्र भिक्षा सुलभ हो जायगी ।"

तदनन्तर शास्त्रार्थ में अपन विपक्षी चैत्यवासी आचार्यों को पराजित कर वर्द्धमानसूरि ने अपने शिष्यपरिवार सहित राजा और नागरिकों के साथ वसति में प्रवेश किया । इस प्रकार विक्रम सम्वत् ८०२ में अणहिलपुरपत्तन के राजा वनराज चावड़ा के गुरु चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि ने चैत्यवासी परम्परा के अतिरिक्त अन्य सभी परम्पराओं के साधु—साध्वियों के पाटण राज्य की सीमा में प्रवेश तक पर प्रतिबन्ध लगाने वाली राजाज्ञा वनराज से प्रसारित करवाई थी, उस निषेधाज्ञा को लगभग २७५ वर्ष पश्चात् विक्रम सम्वत् १०७५ के आसपास वर्द्धमानसूरि ने तत्कालीन पत्तनपति दुर्लभराज से निरस्त करवा कर गुजरात प्रदेश में प्रथम बार पुनः वसतिवास की स्थापना की ।

चैत्यवासी उन वसतिवासी साधुओं को वाद में पराजित कर पाटन राज्य से बाहर निकलवाना चाहते थे पर वे स्वयं ही वसतिवासियों से वाद में पराजित हो गये। इस प्रकार वर्द्धमानसूरि को पाटण से बाहर निकलवाने के अपने पहले उपाय में वे असफल रहे। वाद से पूर्व चैत्यवासियों ने उन वसतिवासियों पर किसी शत्रु राजा के गुप्तचर होने का आरोप लगाकर उन्हें राज्य से बाहर निकलवाने का षड्यन्त्र किया था, उसमें भी उनको असफलता मिली। तदनन्तर चैत्यवासियों के उपासक राज्याधिकारियों ने राजा के समक्ष यह बात रखी कि क्योंकि इनके कोई उपासक यहां नहीं हैं अतः ऐसी स्थिति में उन वसतिवासियों को पाटण में रहने का कोई अधिकार नहीं। उनका यह उपाय भी निष्फल रहा क्योंकि स्वयं राजा उन वसतिवासियों का उपासक बन गया।

अपने इन उपायों में असफल रहने के उपरान्त भी वे चुप नहीं बैठे। उन्होंने परस्पर मन्त्रणा कर वसतिवासियों को पाटण से बाहर निकलवाने का एक और षड्यन्त्र रचा। उन चौरासी चैत्यवासी आचार्यों ने अपने अपने उपासकों से कहा कि राजा अपनी पटरानी की कोई भी बात नहीं टालता। अतः तुम लोग अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार ले कर राजा की पट्टमहिषी के पास जाओ और उसे उन अमूल्य उपहारों से प्रसन्न कर इन वसतिवासियों को पाटण की सीमा से बाहर निकलवाओ। अपने अपने आचार्यों के आदेश को शिरोधार्य कर समस्त राज्याधिकारी वर्ग अनेक प्रकार के बहुमूल्य आभरणालंकार, वस्त्र, फल, फूल, मेवा मिष्टान्नादि से भरे अनेकों बड़े-बड़े पात्र, गट्ठर, टोकरे आदि ले कर पटरानी की सेवा में उपस्थित हुए। उन बहुमूल्य उपहारों को प्राप्त कर रानी बड़ी प्रसन्न हुई। उस अधिकारी वर्ग ने पटरानी को प्रसन्न देख वसतिवासियों को राज्य की सीमा से बाहर निकलवाने हेतु अपना अभीप्सित मनोरथ पटरानी के समक्ष रखना प्रारम्भ किया। ठीक उसी समय दुर्लभराज ने किसी परमावश्यक कार्यवशात् अपने एक भृत्य को पटरानी के पास भेजा। वह भृत्य संयोगवश मूलतः दिल्ली का निवासी था। चैत्यवासियों के उपासकों द्वारा भेंट किये गये बहुमूल्य विपुल उपहारों को देखते ही वह समझ गया कि उसके प्रदेश से आये हुए साधुओं को राज्य की सीमा से बाहर निकलवाने के लिए षड्यन्त्र किया जा रहा है। उसने वसतिवासी साधुओं की सहायता करने का संकल्प किया। पटरानी को राजा का सन्देश सुना कर वह भृत्य राजा के पास लौट गया। उसने राजा से निवेदन किया—"देव ! मैंने पटरानीजी की सेवा में आपका सन्देश प्रस्तुत कर दिया। परन्तु देव ! मैंने वहाँ अद्भुत कौतुक देखा। जिस प्रकार यहाँ अर्हत् की मूर्ति के समक्ष विविध वलि नैवेद्यादि प्रस्तुत किये जाते हैं, उसी प्रकार रानी अर्हत् स्वरूपा बनी हुई हैं और उनके समक्ष अनेक प्रकार के बहुमूल्य आभूषण वस्त्रालंकार, फल, मेवे, मिष्टान्नादि के ढेर लगे हुए हैं।"

यह सुनते ही राजा ने सारी स्थिति को भांप लिया और उन्होंने मन ही मन विचार किया—"जिन न्यायवादियों को मैंने अपने गुरु के रूप में अंगीकार किया है, उनका पीछा ये चैत्यवासी लोग अब भी नहीं छोड़ रहे हैं।" यह विचार कर राजा ने अपने भृत्य को आज्ञा दी—"शीघ्रतापूर्वक पटरानी के पास जाओ और जाकर उनसे मेरा यह संदेश कहो :—"महाराज ने कहलवाया है कि जो कुछ आपको उपहार के रूप में भेंट किया गया है, उसमें से यदि एक सुपारी तक भी आपने ग्रहण कर ली तो न आप मेरी रहेंगी और न मैं आपका।"

भृत्य ने तत्काल पटरानी के समक्ष उपस्थित हो उन्हें राजा का सन्देश यथावत् कह सुनाया। राजा का सन्देश सुनते ही रानी बड़ी भयभीत हुई। उसने उन सभी उपहार भेंट करने वालों से आदेश और आक्रोश भरे स्वर में कहा—"जिस-जिस के द्वारा जो जो वस्तु यहाँ लाई गई है वह तत्काल उन सब वस्तुओं को यहाँ से अपने-अपने घर ले जायँ। मुझे इन वस्तुओं से कोई प्रयोजन नहीं है।"

सभी अधिकारी तत्काल अपनी-अपनी वस्तु उठाकर अपने-अपने घर की ओर लौट गये। इस प्रकार चैत्यवासियों का यह षड्यन्त्र भी असफल रहा।

तदनन्तर परस्पर विचार-विमर्श कर उन्होंने यह निश्चय किया कि "यदि राजा दूसरे प्रदेश से आये हुए मुनियों को बहुमान देते हैं तो हम सब लोग देव-सदनों को शून्य कर किसी अन्य प्रदेश में चले जायेंगे और इस प्रकार का निश्चय कर वे चैत्यवासी चैत्यों को छोड़कर अन्यत्र चले गये।

महाराज दुर्लभराज को जब यह बात विदित हुई तो उन्होंने कहा—यदि उन लोगों को यहाँ रहना अच्छा नहीं लगता तो जहाँ चाहें, वहीं जायं। देवगृहों में पूजा के लिए ब्रह्मचारियों को भृति देकर रख दिया गया। सभी देवों की पूजा नियमित रूप से की जाने लगी। चैत्यवासी वस्तुतः सब प्रकार की सुविधाओं एवं सुखोपभोग की सामग्री से युक्त चैत्यों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर रह नहीं सकते थे अतः कुछ ही समय पश्चात् वे सब के सब चैत्यवासी किसी न किसी बहाने से पुनः अपने-अपने चैत्यगृहों में लौट आये। उधर श्री वर्द्धमान सूरि बिना किसी रोक-टोक के अनुक्रमशः सभी क्षेत्रों में विचरण करने लगे।"

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली के उपर्युल्लिखित विस्तृत उल्लेख से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं :—

(१) वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक गुजरात में चैत्यवासियों का पूर्णतः एकाधिपत्य था।

(२) उस समय गुजरात में मूल श्रमण परम्परा का उपासक एक भी श्रमणोपासक विद्यमान नहीं था ।[1]

(३) भगवान् महावीर द्वारा धर्मतीर्थ की स्थापना के समय से ही जैन संघ में सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर की वाणी के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित आगम ही प्रामाणिक माने जाते हैं । चैत्यवासियों के परमोत्कर्ष के संक्रान्तिकाल में वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी तक जैन धर्म के मूल स्वरूप के उपासक तथा मूल श्रमण परम्परा के श्रमण गणधरों द्वारा ग्रथित एवं चतुर्दशपूर्वधरों द्वारा द्वादशांगीमें से सार रूप में दृब्ध आगमों को ही प्रामाणिक मानते थे। खरतरगच्छ के आद्य संस्थापक श्री वर्द्धमान सूरि ने अनहिलपत्तन के महाराजा दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में भी यही बात कही कि वे केवल गणधरों द्वारा ग्रथित एवं चतुर्दशपूर्वधर आचार्यों द्वारा द्वादशांगी में से दृब्ध आगमों को ही प्रामाणिक मानते हैं, न कि अन्य (टीका, चूर्णि, भाष्य, अवचूर्णि अथवा निर्युक्ति आदि) किसी ग्रन्थ को ।[2]

---

१. (क) अन्यत्र स्थानं न लभ्यते, विरोधिरुद्धत्वात् । पृ० २

(ख) राज्ञोक्तम्—"कुत्र यूयं निवसथ ?" तैरुक्तम्—"महाराज ! कथं स्थानं विपक्षेषु सत्सु ।·········युष्माकं भोजनं कथम् ?" तदपि पूर्ववद् दुर्लभम् ।

(ग) तर्हि महाराज ! कः कस्यापि सम्बन्धी जातो, वयं न कस्यापि । ततो राज्ञा आत्म-सम्बन्धिनो गुरवः कृताः ।

—खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली पृष्ठ ४

ततो मुख्य सूराचार्येणोक्तम्—"ये वसतौ वसन्ति मुनयस्ते षड्दर्शनबाह्या प्रायेण । षड्दर्शनानीह क्षपणकजटीप्रभृतीनि—इत्यर्थनिर्णयाय नूतनवादस्थलपुस्तिका वाचनार्थम् गृहीता करे । तस्मिन् प्रस्तावे "भाविनि भूतवदुपचारः ।" इति न्यायाच्छ्रीजिनेश्वर-सूरिणा भणितम्—"श्री दुर्लभ महाराज ! युष्माकं लोके किं पूर्वपुरुष विहिता नीतिः प्रवर्तते अथवा आधुनिक पुरुषदर्शिता नूतना नीतिः ?" ततो राज्ञा भणितम्—"अस्माकं देशे पूर्वजवर्णिता राजनीतिः प्रवर्तते नान्याः ।" ततो जिनेश्वर सूरिभिरुक्तम्—"महा-राज ! अस्माकं मतेऽपि यद् गणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्गः स एव प्रमाणी-कर्तुं युज्यते नान्यः ।" ततो राज्ञोक्तम्—"युक्तमेव !" ततो जिनेश्वरसूरिभिरुक्तम्—"महाराज ! वयं दूरदेशादागताः पूर्वपुरुषविरचित—स्वसिद्धान्तपुस्तकवृन्दं नानीतम् । एतेषां मठेभ्यो महाराज ! यूयमानयत पूर्व—पुरुषविरचित सिद्धान्तपुस्तकगण्डलकम् येन मार्गामार्ग निश्चयं कुर्मः ।" ततो राज्ञोक्तास्ते—युक्तम् वदन्त्येते, स्वपुरुषान् प्रेषयामि, यूयम् पुस्तकसमर्पणे निरोपं दद्ध्वम् । "ते च जानन्त्येषामेव पक्षो भविष्यतीति तूष्णीं विधाय स्थितास्ते । ततो राज्ञा स्वपुरुषाः प्रेषिताः—शीघ्रं सिद्धान्त पुस्तकगण्डलकं

(शेष पृष्ठ ६६ के टिप्पणी-स्थल पर देखिये)

वि. सं. १५०३ में महान् धर्मोद्धारक श्री लोंकाशाह ने भी ठीक इसी भाँति निर्युक्तियों, वृत्तियों, चूर्णियों, भाष्यों आदि को अमान्य और अप्रामाणिक बताया था। अपने ३४ बोलों में उन्होंने चूर्णियों आदि को अप्रामाणिक एवं अमान्य ठहराते हुए ३४ प्रमाण दिये हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि चैत्यवासी परम्परा के विधि-विधानों से कतिपय अंशों में प्रभावित विभिन्न श्रमण परम्पराओं ने वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी के पश्चात् चूर्णियों, निर्युक्तियों, टीकाओं आदि को प्रामाणिक मानना प्रारम्भ किया।

(4) विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण कभी ताम्बूल ग्रहण नहीं करते थे।[1]

(५) विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी तक के संक्रान्तिकाल में भी गद्दी का उपयोग करना श्रमण धर्म के विरुद्ध समझते थे, *जबकि चैत्यवासी अपनी परम्परा के उद्भव काल से* लेकर अवसान काल तक गद्दियों और बहुमूल्य उच्च सिंहासनों परबैठना मान्य कर रहे थे।[2]

(६) खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी में वसतिवासी साधु राजपिण्ड अथवा औद्देशिक आहार, पानी आदि

(पृष्ठ ६८ का शेष)

मानयत। शीघ्रमानीतम्। आनीतमात्रमेव छोटितम्। तत्र देवगुरुप्रसादाद् दशवैकालिकं चतुर्दशपूर्वधरविरचितं निर्गतम्। तस्मिन् प्रथममेवेयं, गाथा निर्गता अन्नट्ठं पगडं लेणं, भइज्ज सयणासणं। उच्चारभूमिसम्पन्नं, इत्थी पसुविवज्जियं। एवंविधायां वसतौ वसन्ति साधवो न देवगृहे। राज्ञा भावितं युक्तमुक्तम्।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलिः, पृ० ३

१. राजा च ताम्बूलदानं दातुं प्रवृत्तः। ततः सर्वलोकसमक्षे भणितवन्तो गुरवः—"साधूनां ताम्बूलग्रहणं न युज्यते राजन्। यत उक्तम्–ब्रह्मचारियतीनां च विधवाना च योपिताम्। ताम्बूल-भक्षणं विप्रा ! गोमांसान्न विशिष्यते॥

ततो विवेकीलोकस्य समाधिर्जाता गुरुपु विषये। वहीं, पृ० ३

२. ततो राजा भणति—"सर्वेषां गुरुणां सप्त-सप्तगब्दिका रत्नपटी—निर्मिताः, किमित्य-स्मद्गुरूणां नीचैरासने उपवेशनं, किमस्माकं गब्दिका न सन्ति ?" ततो जिनेश्वरसूरिणा भणितम्—"महाराज ! साधूनां गब्दिकोपवेशनं न युज्यते। यत उक्तम्।"........

—खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलिः, पृ० ४

ग्रहण नहीं करते थे। वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण कर मधुकरी के माध्यम से निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करते थे।[1]

(७) खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलिः के "ततो वादं कृत्वा विपक्षान् निर्जित्य राज्ञा राजलोकैश्च सह वसतौ प्रविष्टाः। वसतिस्थापना कृता प्रथमं गूर्जरत्रा देशे।" इस उल्लेख से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी में समस्त गुजरात प्रदेश में पूर्ण-रूपेण चैत्यवासी परम्परा का ही एकाधिपत्य था। वहां जैन धर्म के शास्त्रीय मूल स्वरूप को मानने वाला और मूल श्रमण परम्परा का उपासक एक भी व्यक्ति नहीं था। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के लगभग पौने छः सौ वर्ष पश्चात् गुजरात में वर्द्धमानसूरि और जिनेश्वरसूरि ने प्रथम बार वसतिवास की स्थापना की।

इस प्रकार भारत के बहुत बड़े भाग पर अपने छह सौ-पौने छह सौ वर्षों के एकाधिपत्य के पश्चात् अनहिलपुरपत्तन महाराजाधिराज दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वर सूरि के साथ हुए शास्त्रार्थ में चैत्यवासी परम्परा के सूराचार्य प्रभृति चौरासी आचार्यों की पराजय के दिन से ही चैत्यवासी परम्परा अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् ह्रास की ओर उन्मुख हुई।

यद्यपि चैत्यवासी परम्परा की इस प्रथम पराजय के पश्चात् उसका (चैत्यवासी परम्परा का) प्रमुख गढ़ गुजरात ढहना प्रारम्भ हो गया था तथापि मारवाड़, मेवाड़ आदि अनेक प्रदेशों में चैत्यवासियों का जैन समाज पर पूर्ण प्रभुत्व और एकान्ततः एकाधिपत्य था। विक्रम सं० ११६७, आषाढ़ शुक्ला ६ के दिन चित्तौड़ में अभयदेव सूरि के पट्टधर व सूरिपद पर अधिष्ठित और वि० सं० ११६७ की कार्तिक कृष्णा १२ की रात्रि में स्वर्गस्थ हुए[2] जिन वल्लभसूरि को मेवाड़ में विधिमार्ग की स्थापना में चैत्यवासियों के किस प्रकार के अत्युग्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, व कैसे चैत्यवासी श्रावकों की एक उग्र भीड़ लाठियाँ लेकर जिन वल्लभसूरि की हत्या करने के लिये उमड़ पड़ी एतद्विषयक उल्लेखों से[3] यह

---

१. "यूयं कति साधवः सन्ति ?" "महाराज ! अष्टादश।" "एकहस्तिपिण्डेन सर्वे तृप्ता भविष्यन्ति।" ततो भणितं जिनेश्वरसूरिणा—"महाराज ! राजपिण्डो न कल्पते, साधूनां निषेधः कृतो राजपिण्डस्य।" "तर्हि मम मानुषेऽग्रे भूते भिक्षापि सुलभा भविष्यति।"—वही, पृष्ठ ४

२. श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे श्री जिनवल्लभगणिर्निवेशितः सं० ११६७ आषाढ सुदि ६ चित्रकूट वीरविधि चैत्ये।—खरतर० बृ०गु०पृ० १४

३. एटले श्री जिनवल्लभसूरि पर चैत्यवासिओ अतिशय गुस्से थई ५०० जण लाकड़िओ लई तेमने मार मारवा तेमने मुकामे आव्या, परन्तु चितोड़ ना राणाए तेमने तेम करतां अटकाव्या।
—संघपट्टक की प्रस्तावना, पृ० ६—

स्पष्टतः प्रकट होता है कि विक्रम की बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भी चैत्यवासी अनेक क्षेत्रों में जैन समाज पर छाये हुए थे। मेवाड़ मारवाड़ आदि अनेक क्षेत्रों में उस समय तक चैत्यवासी परम्परा का जैन समाज पर पूर्ण प्रभुत्व और एकाधिपत्य था। जिनवल्लभसूरि जब चित्तौड़ नगर में पहुंचे तो उन्हें रहने के लिये स्थान तक भी नहीं दिया गया।[1]

अनहिलपत्तन में चैत्यवासियों को पराजित करने के पश्चात् जिनेश्वरसूरि ने गुजरात प्रदेश में निर्बाध रूप से अप्रतिहत विहार कर चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों को वसतिवासी परम्परा का अनुयायी बनाया। वि. सं. ११०८ में श्री जिनेश्वरसूरि ने "गाथासहस्री" नामक ग्रन्थ की रचना की और इसके कुछ ही समय पश्चात् वे स्वर्गवासी हुए। जिनेश्वरसूरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् अभयदेवसूरि उनके पट्ट पर आसीन हुए। अभयदेवसूरि ने ६ आगमों की टीकाओं की रचना की। अपने गुरु के समान अभयदेवसूरि ने भी वसतिवास का प्रचार-प्रसार कर चैत्यवासी परम्परा के गढ़ों को ढहाने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन किया।

अभयदेवसूरि ने स्वर्गस्थ होने से पूर्व यह निश्चय कर लिया था कि उनके पश्चात् सूरिपद पर अधिष्ठित होने के योग्य जिनवल्लभ ही है किन्तु प्रारम्भ में वह कूर्चपुरीय चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वर सूरि का शिष्य था अतः ऐसे समय इसे सूरिपद पर अधिष्ठित किया गया तो गच्छ के अधिकांश श्रमण एवं श्रमणोपासक इससे सहमत न होंगे। यह विचार कर अभयदेवसूरि ने वर्द्धमानाचार्य को गुरुपद पर अधिष्ठित किया और जिनवल्लभ को अपनी उपसम्पदा प्रदान की। अभयदेव-सूरि ने अपने अन्तिम समय में प्रसन्नचन्द्राचार्य को एकान्त में अपने विचारों से अवगत कराते हुए यह निर्देश दिया कि समय आने पर जिनवल्लभ को वे उनके उत्तराधिकारी के रूप में सूरिपद पर अधिष्ठित करें। पर वे भी अपने जीवनकाल में उपर्युक्त कारणवशात् ही संभवतः जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि के पट्टधर के रूप में सूरि पद पर अधिष्ठित नहीं करा सके। प्रसन्नचन्द्राचार्य ने भी अभयदेवसूरि की भांति ही अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में देवभद्राचार्य को अभयदेवसूरि की अन्तिम इच्छा से अवगत कराते हुए उचित समय पर जिनवल्लभ को सूरिपद पर आसीन करने की अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में उल्लेख है कि अभयदेव सूरि ने अपने अन्तिम समय में वर्द्धमानाचार्य को गुरुपद पर अधिष्ठित किया और जिनवल्लभ को अपनी उपसम्पदा दे यथेच्छ विहार करने की आज्ञा प्रदान की। अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर कतिपय दिनों तक जिनवल्लभ पत्तन और उसके आस

---

१. स्थानं याचितास्तत्रत्यश्राद्धाः। तैश्च भणितं चण्डिका मठोऽस्ति यदि तत्र तिष्ठथ। ततो जिनवल्लभगणिना ज्ञातमशुभबुद्ध्या भणन्त्येते तथापि तत्रापि........।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलिः, पृ० १०

पास के क्षेत्रों में विचरण करते रहे और कुछ समय पश्चात् उन्होंने पत्तन से चित्तौड़ की ओर विहार किया। अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए वे चित्तौड़ पहुँचे। चित्तौड़ में उन्होंने अनेक चैत्यवासी श्रमणोपासकों को वसतिवासी परम्परा का श्रमणोपासक बनाया और आसोज कृष्ण १३ के दिन उन्होंने चित्तौड़ में एक घर में २४ तीर्थङ्करों के चित्रों से मंडित एक चतुर्विशतिजिनपट्टक रखकर भगवान् महावीर के गर्भापहारक नामक छठे कल्याणक महोत्सव को मनाने की प्रथा प्रचलित की।[1] परम्परा से तीर्थङ्करों के पंच कल्याणक ही माने गये हैं, पर जिनवल्लभ आचार्य ने चित्तौड़ में सर्वप्रथम छठा कल्याणक मनाने की प्रथा का प्रचलन किया। आचार्य जिनवल्लभ ने इस छठे कल्याणक का प्रचलन किस संवत् में किया। इस सम्बन्ध में जैन वांग्मय में अन्यत्र तो कोई उल्लेख नहीं मिलता पर आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान-भण्डार, जयपुर में, संकलित प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रियों के रजिस्टर में एक प्राचीन पत्र की प्रतिलिपि में, इस सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है :—

(संवत्) "११३५ नवांगवृत्तिकर्त्ता अभयदेव—कूर्चपुरीय गच्छे जिनेश्वरसूरि शिष्य जिनवल्लभ चित्रकूटे ६ कल्याणक प्ररूपी मत काढ्यो।"

इससे अनुमान किया जाता है कि वि० सं० ११३५ में हुई इस घटना से कुछ वर्ष पूर्व वि० सं० ११२९ से ११३४ के बीच किसी समय अभयदेवसूरि का स्वर्गवास हुआ और उनके स्वर्गस्थ होने के ३८ अथवा ३३ वर्ष पश्चात् देवभद्र आचार्य ने आचार्य जिनवल्लभ को उनकी जराजीर्ण अन्तिम अवस्था में विक्रम सं० ११६७ आषाढ़ सुदि ६ के दिन चित्तौड़ में सूरिपद पर अधिष्ठित किया। वे केवल तीन मास और २१ दिन तक ही सूरि पद पर रहे। विक्रम सं० ११६७ की कार्तिक कृष्णा १२ की रात्रि में वे स्वर्गवासी हुए।[2] वे जीवनपर्यन्त चैत्यवासी परम्परा की

---

१. ततः सर्वे श्रावकाः गुरुणा सह देवगृहे गन्तुं प्रवृत्ताः। ततो देवगृहस्थितयार्यिकया गुरून् श्राद्धसमुदायेनागच्छता दृष्ट्वा पृष्टम्—को विशेषोऽद्य ? केनापि कथितम्—वीर-गर्भापहारषष्ठकल्याणकपूजाकरणार्थं समागच्छन्ति। तयाचिन्ति—पूर्वं केनापि न कृत-मेते करिष्यन्ति, न युक्तम्।....मयामृतयायदि प्रविशत। श्राद्धैरुक्तम्—वृहत्तरसदनानि सन्त्येकस्योपरि चतुर्विशति जिनपट्टकं धृत्वा....सर्वं धर्म प्रयोजनं क्रियते। गुरुणा भणि-तम् "युक्तमेव।" तत आराधितम् विस्तरेण कल्याणकम्।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलिः पृ०, १०

२. तस्मिन् प्रस्तावे देवभद्राचार्या विहारक्रमं विदधाना अणहिलपत्तने समायाताः। तत्राग-तैश्चिन्तितम्—"प्रसन्नचंद्राचार्येण पर्यन्तसमये भणितं ममाग्रे—"भवता श्री जिनवल्लभ-गणिः श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे निवेशनीयः।" स च प्रस्तावोऽद्य। ततः श्री नागपुरे श्री जिनवल्लभगणेर्विस्तरेण लेखः प्रेषितः—त्वया शीघ्रं समुदायेन सह चित्रकूटे समा-

(शेष पृष्ठ १०३ पर)

शक्ति को क्षीण करने और वसतिवासी परम्परा की अभ्युन्नति के लिये प्रयत्न करते रहे। उन्होंने चैत्यवासी परम्परा की अशास्त्रीय मान्यताओं पर मर्मान्तिकारी प्रहार करने वाले "संघपट्टक" नामक ग्रन्थ की रचना की।

जिनवल्लभसूरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी दादा जिनदत्तसूरि ने भी चैत्यवासी परम्परा की शक्ति को क्षीण करने और वसतिवासी परम्परा की शक्ति को बढ़ाने का जीवन-पर्यन्त अथक प्रयास किया। उन्होंने अनेक क्षत्रीय परिवारों को सामूहिक रूप से जैन धर्मावलम्बी बनाया।

जिनदत्तसूरि के स्वर्गस्थ होने पर उनके उत्तराधिकारी जिनपति सूरि ने भी वि० सं० १०८४ में वर्द्धमानसूरि और पं० जिनेश्वरगणि द्वारा चैत्यवासियों के विरुद्ध प्रारंभ किये गये अभियान को उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ाया। वे जीवन भर चैत्यवासी परम्परा के समूलोन्मूलन के लिये प्रयत्नशील रहे। आपने श्री जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित ४० श्लोकात्मक 'संघपट्टक' नामक ग्रन्थ पर तीन हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना की। आपके द्वारा प्रतिबोधित एवं प्रशिक्षित नेमिचन्द्र भांडागारिक नामक एक विद्वान् श्रावक ने भी प्राकृत भाषा में १६० गाथाओं के 'षष्टिशतक' नामक ग्रन्थ की रचना कर चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव को समाप्त करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। जिनपतिसूरि ने भारत के सुदूरस्थ स्थलों का अप्रतिहत विहार कर चैत्यवासी परम्परा को खोखला कर दिया। आपके पास नेमिचन्द्र भण्डारी के पुत्र ने श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की जो आगे जाकर जिनपतिसूरि के उत्तराधिकारी जिनेश्वरसूरि के नाम से विख्यात हुए। जिनेश्वरसूरि ने भी जीवन भर चैत्यवासी परम्परा से संघर्ष करते हुए उसकी जड़ों को झकझोर डाला। आपने जिनदत्तसूरि द्वारा रचित संदोहदोहावली नामक ग्रन्थ पर टीका की रचना कर चैत्यवासियों के चैत्यों को अनायतन ठहराया और अनेक क्षेत्रों में चैत्यवासियों का पराभव किया।

इस प्रकार वि० सं० १०८४ में दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के पराभव के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा का प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतर होता ही

(पृष्ठ १०२ का शेष)

गन्तव्यम्, येन वयमागत्य चिन्तितप्रयोजनं कुर्मा। ततः समागताः जिनवल्लभगणयः सपरिवाराः। तेऽपि तथैव समागता देवभद्रसूरयः। पंडित सोमचन्द्रोऽप्याकारितः परम् नागन्तुं शक्तः। इदानीं श्री देवभद्र सूरिभिः श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे श्री जिनवल्लभ गणिर्निवेशितः, सं० ११६७ आषाढ़ सुदि ६, चित्रकूटे वीरविधिचैत्ये।....क्रमेण ११६७ संवत्सरे कार्तिककृष्णाद्वादश्यां रजन्यांश्चरमयामे दिनत्रयमनशनं विधाय "श्री जिनवल्लभसूरयश्चतुर्थदेवलोकं प्राप्ताः।

—खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलिः, पृ० १८—

शिथिलाचार की ओर उन्मुख हुए इस प्रकार के युग में शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणी वर्ग को और मुख्यत: विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षपाती परीषहभीरु श्रमणवर्ग को विशुद्ध श्रमणाचार में सुस्थिर करने के उद्देश्य से भवभीरु सच्चे श्रमणों ने परस्पर विचार-विमर्श कर शास्त्रों और महानिशीथ आदि छेद सूत्रों से निर्यूढ गच्छाचार पइण्णय जैसे आगमिक ग्रन्थों को आदर्श मान कर विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिये एक सर्वसम्मत समाचारी का निर्माण किया। सभी श्रमणों के लिये समान आचार का निर्धारण करने वाली उस समाचारी को सुविहित आचार की संज्ञा दी गई। उस "सुविहित आचार" समाचारी का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग को सुविहित के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस प्रकार मूल परम्परा के विभिन्न गणों और गच्छों के श्रमण-श्रमणियों का, उस समय शिथिलाचार की ओर सामूहिक रूप से उन्मुख हुए श्रमण-श्रमणी वर्ग से एक भिन्न वर्ग बन गया। कालान्तर में उस सुविहित समाचारी का पालन करने वाले उस वर्ग ने एक परम्परा का रूप धारण कर लिया और लोक में उस परम्परा को "सुविहित परम्परा" के नाम से पहचाना जाने लगा।

सुविहित परम्परा

विशुद्ध श्रमणाचार को "सुविहित आचार" और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणियों के लिये "सुविहियाणम्" शब्द का प्रयोग किस समय से किया जाने लगा, इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिये हमें सम्पूर्ण जैन वांग्मय का विहङ्गम दृष्टि से अवलोकन करना होगा। इस दृष्टि से मूल आगमों का आलोडन करने पर विदित होगा कि मूल आगमों में न तो श्रमणों के लिये कहीं सुविहित शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है और न श्रमणाचार केलिये ही। प्राचीन आगमिक साहित्य में से महानिशीथ, गच्छाचार पइण्णय और तित्थोगाली पइण्णय में विशुद्ध आचार सम्पन्न श्रमण-श्रमणियों के लिये "सुविहियाणम्" शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। "महानिशीथ सूत्र" के पांचवें अध्ययन में सुविहित साधुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख विद्यमान है :—

"जहा—इच्छायारेणं न कप्पई तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं।"

अर्थात् सुविहित परम्परा के श्रमणों को (अपनी इच्छानुसार) तीर्थयात्रा के लिये जाना कल्पनीय नहीं है।

"गच्छाचार पइण्णय" में सुविहित साधुओं का जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

आरंभेसु पसत्ता, सिद्धन्त—परंमुहा विसयगिद्धा।
मुत्तं मुणिणो गोयम ! वसिज्ज मज्झे सुविहियाणं ॥१०४॥

अर्थात् जो साधु आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में प्रलिप्त-प्रसक्त अथवा संलग्न हैं, जो सर्वज्ञ तीर्थङ्कर प्रभु द्वारा प्ररूपित और गणधरों द्वारा ग्रथित सिद्धान्तों से विपरीत आचरण एवं उपदेश करते हैं और जो विषय-कषायों के दलदल में फंसे हुए हैं, ऐसे नाममात्र के साधुओं की संगति का परित्याग कर हे गौतम! सुविहित साधुओं के बीच में रहना चाहिये।

"तित्थोगाली पइण्णय" नामक प्राचीन ग्रंथ में सुविहित श्रमणों के उल्लेख के साथ ही साथ "सुविहित गणि" (सुविहित आचार्य) का भी उल्लेख विद्यमान है।

सुविहित श्रमणों सम्बन्धी तित्थोगाली पइण्णय का उल्लेख इस प्रकार है :–

पाडिवतो नामेण अणगारो, तह य सुविहिया समणा।
दुक्खपरिमोयणट्ठा, छट्ठट्ठम तवे काहिन्ति ॥६८२॥

अर्थात्—पाडिवत (प्रातिव्रत) नामक अणगार (आचार्य) और सुविहित श्रमण गण सब प्रकार के दुःखों का अन्त करने के लिए बेले और तेले की तपस्याएँ करेंगे।

सुविहित गणि (आचार्य) के सम्बन्ध में तित्थोगाली पइणणय का उल्लेख इस प्रकार है :—

को वि कयसज्झातो, समणो समणगुणनिउण चिंतइओ।
पुच्छइ गणि सुविहियं अइसयनाणि महासत्तं ॥७०२॥[1]

अर्थात्—श्रमण गुणों (श्रमणों के आचार) की परिपालना में कुशल और चिंतनशील कोई एक श्रमण स्वाध्याय करने के पश्चात् अतिशयज्ञानी और महान् सत्वशाली सुविहित आचार्य से प्रश्न करता है।

महानिशीथ सूत्र, गच्छाचार पइण्णय और तित्थोगाली पइण्णय-इन तीनों ग्रन्थों के रचनाकाल और इन तीनों के रचनाकारों के सम्बन्ध में पुरातत्वविद् अथवा विद्वान् अभी तक किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच पाये हैं। तथापि यह सुनिश्चितरूपेण सिद्ध हो गया है कि सड़ जाने और दीमकों द्वारा खा लिये जाने के कारण खण्ड-विखण्डित हुए महानिशीथ सूत्र की जीर्ण प्रति से याकिनी महत्तरासूनुः

[1] पं० श्री कल्याण विजयजी म० एवं गजसिंह राठोड़ द्वारा सम्पादित "तित्थोगाली पइण्णय"

णाण विणय पहाणेहिं, पंचहिं सएहिं जो सुविहियाणं ।
पाओवगओ महप्पा, तमज्ज वइरं नमंसामि ।।२०८।।

इसी प्रकार राजगच्छ के आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने अपनी वि० सं० १३३४ की रचना 'प्रभावक चरित्र' में भी सुविहित श्रमणों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :—

ददे शिक्षेति तैः श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभिः ।
विघ्नं सुविहितानां स्यात्, तत्रावस्थानवारणात् ।।४४।।

इससे उत्तरवर्ती काल के जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर "सुविहित आचार", "सुविहित श्रमण", "सुविहित साधुवर्ग" आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। विक्रम सं० १६१७ कार्तिक सुदि ७ शुक्रवार के दिन पाटण नगर में खरतरगच्छीय आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने सभी गच्छों के गीतार्थ आचार्यों एवं मुनियों को एकत्रित कर तपागच्छीय श्री विजयदानसूरि के शिष्य उपाध्याय धर्मसागर द्वारा रचित 'तत्वतरंगिणी वृत्ति' में उल्लिखित अनेक अंशों को उत्सूत्र घोषित किया। वहां एकत्रित बारह आचार्यों और प्रायः सभी गच्छों के गीतार्थ श्रमणों ने धर्मसागर को बुलाया, समझाया पर वह अपनी मान्यता पर अड़ा रहा। परिणामतः वहां एकत्रित आचार्यों एवं श्रमणों ने उपाध्याय धर्मसागर को निन्हव घोषित कर संघ से बहिष्कृत कर दिया। उस घोषणापत्र में भी खरतरगच्छीय साधुओं के लिये "सुविहित साधु-वर्ग" का प्रयोग किया गया है।[1]

चैत्यवासी परम्परा के जन्म के पश्चात्कालीन इन उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि मूल श्रमणाचारी आचार्यों ने शिथिलाचार में लिप्त हुई चैत्यवासी परम्परा के प्रचार-प्रसार के कारण श्रमण-श्रमणी वर्ग में बढ़ते हुए शिथिलाचार को रोकने एवं मूल श्रमणपरम्परा तथा जैन धर्म के अध्यात्मपरक मूल स्वरूप की सुरक्षा के उद्देश्य से विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले सभी श्रमणों के लिये एक समाचारी का निर्धारण किया। अभेद एवं मतैक्य प्रकट करने की दृष्टि से उस नवनिर्धारित समाचारी को पालने एवं मानने वाले सभी श्रमण-श्रमणियों को विना किसी गण अथवा गच्छ के भेदभाव के "सुविहित" नाम से सम्वोधित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार एक समाचारी का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग ने मूल श्रमण परम्परा में शिथिलाचार के प्रवेश को रोकने

---

1. आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञानभण्डार, जयपुर का रजिस्टर सं. १, जिसमें अनेक ज्ञान-भण्डारों एवं स्थानों से श्री गजसिंह राठौड़ द्वारा विपुल ऐतिहासिक सामग्री संकलित की गई है। पृ० १५० एवम् १८३। (अप्रकाशित)

के साथ-साथ चैत्यवासी परम्परा की आंधी से धर्म के मूल स्वरूप और मूल श्रमण परम्परा को बचाये रखने का संगठित रूप में पूरा प्रयास किया। उनके इस सुसंगठित प्रयास से मूल श्रमण परम्परा नष्ट होने से बची और चैत्यवासियों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप क्रमशः क्षीण और क्षीणत्तर होते हुए भी उस संक्रान्तिकाल में वह जीवित रह सकी। धर्म के मूल स्वरूप और मूल श्रमणाचार की रक्षार्थ एक समाचारी के माध्यम से संगठित एवं एकजुट हुए सभी गणों और गच्छों के उस श्रमण-श्रमणी वर्ग को सुविहित परम्परा की संज्ञा दी गई। चैत्यवासियों की सर्वग्रासी भीषण आंधी से विशुद्ध श्रमणाचार तथा धर्म की रक्षा करने के कारण सुविहित परम्परा की प्रतिष्ठा बढ़ी और चैत्यवासी परम्परा के परमोत्कर्ष काल में भी अवशिष्ट रही अथवा अस्तित्व में आई हुई तथा उससे उत्तरवर्ती काल में समय-समय पर प्रकट हुई सभी श्रमण परम्पराओं ने अपना स्रोत सुविहित परम्परा से जोड़ते हुए अपने आपको सुविहित परम्परा का ही अंग होना प्रकट किया।

श्रमण परम्परा अथवा श्रमणाचार के लिये आगमों में कहीं भी सुविहित शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव के पश्चात् निर्मित हुए जैन वांग्मय में ही श्रमणों, आचार्यों एवं श्रमणाचार के लिये सुविहित शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में उपलब्ध होता है। इस प्रकार की परिस्थिति में ऊपरिवर्णित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव, प्रचार-प्रसार और परमोत्कर्ष के परिणामस्वरूप ही मूल श्रमण परम्परा को सुविहित परम्परा की संज्ञा दी गई।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव, परमोत्कर्ष और प्रभाव का यह सुपरिणाम हुआ कि भिन्न-भिन्न गच्छों अथवा गणों के श्रमण सुविहित परम्परा--अर्थात्—भली-भांति विधिपूर्वक प्रतिपादित परम्परा के एक सूत्र में आवद्ध हुए। वस्तुतः सुविहित परम्परा के नाम पर किसी नवीन परम्परा को जन्म नहीं दिया गया था। अपितु भिन्न-भिन्न गणों अथवा गच्छों में विभक्त मूल परम्परा के श्रमणों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिये मूल श्रमण परम्परा को ही यह एक तासूचक दूसरा नाम दिया गया।

प्रथम दुष्परिणाम

चैत्यवासी परम्परा की बाढ़ में धर्म और श्रमण परम्परा के मूल स्वरूप को पर्याप्त अंशों में सुरक्षित रख कर कालान्तर में सुविहित परम्परा भी संभवतः शनैः शनैः अशक्त और क्षीण होते-होते चैत्यवासी परम्परा के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव की तुलना में नगण्य सी ही रह गई। कालचक्र का प्रभाव बड़ा ही विचित्र है। अपने आपका सुविहित परम्परा के नाम से परिचय देने वाली, चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष काल में उभरी हुई, कतिपय परम्पराओं के कार्यकलापों, मान्यताओं, वि-

विधानों एवं दैनन्दिनी के विवरणों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो सुविहित परम्परा शताब्दियों तक चैत्यवासियों द्वारा प्रचलित की गई शास्त्रविरुद्ध मान्यताओं का विरोध करती रही, प्रबल पौरुष और साहस के साथ शास्त्रीय मान्यताओं, मूल श्रमणाचार और धर्म के शास्त्र सम्मत स्वरूप का न केवल परिपालन ही अपितु प्रचार-प्रसार भी करती रही; उसी सुविहित परम्परा के नाम पर पनपी हुई वे परम्पराएं भी चैत्यवासियों द्वारा प्रचालित बाह्याडम्बरपूर्ण विधि-विधानों, और आचार-विचार की ओर धीरे धीरे आकृष्ट होने लगीं। इसके पीछे एक बहुत बड़ा कारण रहा, वह था चैत्यवासी परम्परा का सुदीर्घकालीन एकाधिपत्य।

दूसरा दुष्परिणाम

चैत्यवासी परम्परा के व्यापक प्रभाव का दूसरा दूरगामी दुष्परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासियों द्वारा श्रमणों के लिये अपनी कपोल कल्पनानुसार निर्मित किये गये शास्त्राज्ञा से पूर्णतः प्रतिकूल दश नियमों के प्रचलन के कारण विशुद्ध श्रमणाचार के स्वरूप में भी और भावपूजा के स्थान पर द्रव्यपूजा और बाह्याडम्बरपूर्ण भौतिक विधि-विधानों को प्राधान्यता देने के कारण प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म के मूल स्वरूप में भी अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो गयीं। श्रमण जीवन विपुल वैभवशाली सुसमृद्ध गृहस्थ के जीवन से भी अधिक भोगपूर्ण, ऐश्वर्यशाली, समृद्धि सम्पन्न और सौख्य प्रदायी बन गया। धर्म की प्राणस्वरूपा आध्यात्मिकता को धर्म में से निकाल कर उसके स्थान पर भौतिकता को कूट-कूट कर भर दिया गया। सुख-समृद्धिपूर्ण ऐश्वर्यशाली श्रमणजीवन, का जो स्वरूप चैत्यवासियों ने प्रस्तुत किया, उससे भोगलिप्सु लोग अधिकाधिक संख्या में चैत्यवासी श्रमणसमुदाय की ओर आकृष्ट हुए और इस प्रकार चैत्यवासियों के श्रमणों की संख्या में स्वल्पकाल में ही आश्चर्यजनक अभि-वृद्धि हो गई। दूसरी ओर चैत्यवासियों द्वारा दिये गये ऐहिक और पारलौकिक प्रलोभनों तथा आडम्बरपूर्ण आकर्षक विधि-विधान, अनुष्ठान के आयोजनों से जन-साधारण सामूहिक रूप से चैत्यवासी परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार थोड़े समय में ही चैत्यवासी परम्परा के उपासकों की संख्या में भी सब ओर से आशातीत अभिवृद्धि हुई। अनेक प्रदेशों में तो चैत्यवासी परम्परा का जैनों पर एक छत्र एकाधिपत्य सा हो गया। धर्म का स्वरूप भी आमूल-चूल बदल दिया गया। अनेक क्षेत्रों के निवासी तो जैन धर्म के मूल स्वरूप को और मूल श्रमण परम्परा को पूरी तरह भूल ही गये। मूल श्रमण परम्परा, जिसे उस संक्रान्तिकाल में सुविहित परम्परा का नाम दिया गया था, वह अनेक क्षेत्रों में लुप्त और कतिपय क्षेत्रों में लुप्तप्रायः सी हो गई। अधिकांश क्षेत्रों के जैनधर्मावलम्बी और शेष क्षेत्रों का प्रायः पूरा का पूरा जन-साधारण चैत्यवासियों को ही वास्तविक जैन श्रमण और चैत्यवासियों द्वारा विकृत किये गये धर्म के स्वरूप को ही वास्तविक जैन धर्म

समझने लगे। धर्म का, चैत्यवासियों द्वारा आमूल-चूल परिवर्तित और विकृत स्वरूप ही वास्तविक सच्चे जैन धर्म के रूप में रूढ़ हो गया। चैत्यनिर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, ध्वजारोपण, देवार्चन, मूर्ति के समक्ष नृत्य-संगीत, कीर्तन, रथयात्रा, तीर्थयात्रा, प्रभावना, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, पुष्पहार, केसर, चन्दन आदि से प्रतिमा का पूजन आदि तक ही जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप सीमित माना जाने लगा। कभी अल्प तो कभी अधिक, कुल मिलाकर लगभग एक हजार वर्ष तक यही स्थिति बनी रही। ये ही कृत्य जैनधर्म के मूल धार्मिक कृत्य हैं, इन धार्मिक कृत्यों को नित्य नियमित रूप से करने वाला व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है, मुक्ति शीघ्र ही उसका वरण कर लेती है, इन धार्मिक कृत्यों को कर लेने के पश्चात् कुछ भी करना अवशिष्ट नहीं रह जाता, इस प्रकार की दृढ़ धारणा जन-जन के मन और मस्तिष्क में चैत्यवासियों द्वारा भर दी गई।

वीर निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि की अन्तिम शताब्दि के पूर्वार्द्ध में चैत्यवासी परम्परा के विलुप्त हो जाने के उपरान्त भी लोगों के मन और मस्तिष्क में यही भावना घर किये रही। चैत्यवासी परम्परा के ह्रास के प्रारम्भ काल से ही चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन में संलग्न श्रमण परम्पराओं के श्रमणों ने इस बात का पूरा-पूरा प्रयास किया कि चैत्यवासी परम्परा के सम्पूर्ण संस्कार लोगों के मन-मस्तिस्क से निकल जायं, किन्तु एक हजार वर्षों की पीढ़ी-प्रपीढ़ी से उन विधि-विधानों का पूर्णत: अभ्यस्त जनमानस चैत्यवासियों द्वारा डाले गये संस्कारों को नहीं छोड़ सका। उन संस्कारों को छुड़ाने का प्रयास करने वाले भी अपने अभियान में असफल रहे। इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि धर्म और श्रमण परम्परा के मूल स्वरूप में अनेक विकृतियां जो उत्पन्न हो गई थीं, वे स्थायी रूप धारण कर गई।

तीसरा दुष्परिणाम

चैत्यवासी परंपरा के उत्कर्ष काल में, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के कुछ समय पश्चात् ही जनमानस को चैत्यवासी परंपरा द्वारा प्रचलित किये गये आकर्षक विधि-विधानों, बाह्याडम्बरपूर्ण धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों आदि की ओर उन्मुख हुआ देख कर शिथिलाचार की ओर झुके हुए कतिपय श्रमण समूहों ने जनमानस में अपनी स्थिति बनाये रखने के उद्देश्य से चैत्यों में नियत निवास, औद्देशिक भोजन आदि कुछ बातों को छोड़कर चैत्यवासियों द्वारा प्रचालित किये गये कतिपय विधि-विधानों और आडम्बरपूर्ण धर्मकृत्यों को थोड़े परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया था। लोक में उनकी स्थिति देखकर सुविहित परम्परा के अनेक श्रमणों ने भी उनका अनुसरण किया। इस प्रकार सुविहित परम्परा और चैत्यवासी परम्परा के बीच का एक और श्रमणवर्ग अस्तित्व में आया। जिस प्रकार चैत्यवासियों ने अपनी मान्य-

ताओं को उचित सिद्ध करने के लिये अनेक नये ग्रन्थों की रचनाएं की थीं, ठीक उसी प्रकार मूल श्रमण परम्परा और चैत्यवासी परम्परा के बीच के उस श्रमणवर्ग ने अपनी उन मान्यताओं की पुष्टि में, जिनका कि शास्त्रों में उल्लेख तक नहीं है, भाष्यों, निर्युक्तियों, चूर्णियों, अवचूर्णियों, टीकाओं, जीवन चरित्रों, कथानकों आदि का लेखन प्रारम्भ किया। अपनी इन नवीन कृतियों में अपनी मान्यताओं के अनुरूप उदाहरणों, कथानकों, गद्य-पद्यांशों आदि का समावेश कर अपनी नूतन मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का उन्होंने पूर्ण प्रयास किया। लोगों को अधिकाधिक संख्या में अपनी ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से सुविहित परम्परा के जिन-जिन श्रमणों ने जितनी अधिक मात्रा में चैत्यवासियों द्वारा प्रचलित की गई मान्यताओं को कुछ हेर-फेर के साथ अपनी मान्यता के रूप में अपनाया था, उन्होंने स्वलिखित उन चूर्णियों, भाष्यों, निर्युक्तियों, टीकाओं आदि को शास्त्रों के समकक्ष स्थान दे उन्हें मान्य किया।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव का तीसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि मूल परम्परा में जहां आगमों को ही परम प्रामाणिक माना जाता था, वहां आगमों से भिन्न ग्रन्थों को भी आगमों के ही समान प्रामाणिक मानने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। आगम साहित्य में स्पष्ट उल्लेख है कि गणधरों द्वारा वीतरागवाणी के आधार पर ग्रथित शास्त्रों और चतुर्दशपूर्वधर अथवा दशपूर्वधरों द्वारा द्वादशांगी में से निर्यूढ़ शास्त्रों को ही परम प्रामाणिक माना जाय। किन्तु चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव के कारण उन आचार्यों-द्वारा रचित चूर्णि, भाष्य, टीका आदि ग्रन्थों को भी शास्त्रों के समान ही मान्य किया गया जिन आचार्यों को पूर्वों के ज्ञान की बात तो दूर एकादशांगी के उन भागों अथवा अंशों का भी ज्ञान नहीं था, जो अंश उनके समय से पूर्व ही नष्ट हो चुके थे, इन ग्रन्थोंको आगमों के समकक्ष मानने वालों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

चौथा दुष्परिणाम

लोगों को अधिकाधिक संख्या में अपनी ओर आकृष्ट करने अथवा अपना अनुयायी बनाने के उद्देश्य से सुविहित परम्परा के जिन-जिन श्रमणों ने जितनी अधिक मात्रा में चैत्यवासियों की मान्यताओं को थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ अपनी मान्यता के रूप में अपनाया था, वे उन नवनिर्मित भाष्यों, निर्युक्तियों, चूर्णियों और टीकाओं आदि को लोक-प्रवाह के अनुरूप समझ कर उतने ही अधिक उन चूर्णियों आदि की ओर आकृष्ट हुए। शनैः शनैः प्रायः सभी गच्छों के श्रमणों में लोक-प्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति जागृत होने लगी और वे शास्त्रीय उल्लेखों को अधिक महत्व न देकर अपने पक्ष की पुष्टि और अपनी अशास्त्रीय मान्यताओं के औचित्य को सिद्ध करने के लिये निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं के उल्लेखों को ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करने लगे।

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार विक्रम सं० १०८४ में अणहिलपट्टण के महाराजा दुर्लभराज की सभा में सूराचार्य आदि चैत्यवासी आचार्यों के साथ हुए जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ के समय तक वनवासी उद्योतनसूरि के शिष्य वर्द्धमान सूरि की परम्परा के श्रमण केवल गणधरों और चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित शास्त्रों को ही प्रामाणिक मानते थे, इनके अतिरिक्त अन्य किसी की रचना को वे प्रामाणिक नहीं मानते थे। परन्तु कालान्तर में श्रमणों में लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और प्रायः सभी श्रमण परम्पराएं चूर्णियों आदि को भी शास्त्रों के समान ही प्रामाणिक मानने लगीं।

दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ हुए उस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ में जिनेश्वरसूरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वे केवल गणधरों और चतुर्दशपूर्वधरों द्वारा रचित शास्त्रों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इनको छोड़ शेष किसी कृति को, किसी ग्रन्थ को वे प्रामाणिक नहीं मानते। केवल एक इसी प्रमुख युक्ति अथवा मुख्य मान्यता के आधार पर जिनेश्वरसूरि ने उस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की। खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि के एतद्विषयक उल्लेख को पढ़ने से तो सहज ही यह विदित होता है कि वर्द्धमानसूरि की परम्परा के श्रमण उस समय तक केवल गणधरों द्वारा ग्रथित और चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ़ शास्त्रों को ही प्रामाणिक मानते थे। दश पूर्वधरों द्वारा रचित आगमों को भी वे प्रामाणिक नहीं मानते थे। सम्भवतः श्रमणों में लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति के बढ़ने का ही यह परिणाम था कि उन्हीं वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि की परम्परा के पट्टधर आचार्य और श्रमण कालान्तर में ऐसे आचार्यों की रचनाओं को भी शास्त्रों के समान ही प्रामाणिक मानने लगे, जिन्हें एक पूर्व का भी ज्ञान नहीं था।

जिस लोकप्रवाह को मनीषी आचार्यों ने भेड़चाल की संज्ञा दी है, उसी लोक-प्रवाह के अनुकूल, अनुरूप भाष्यों, चूर्णियों, निर्युक्तियों, टीकाओं आदि की रचनाएं की गईं। उत्तरवर्ती काल के उन आचार्यों ने अपनी इन रचनाओं से वीतरागवाणी—शास्त्राज्ञा अथवा शास्त्रीय उल्लेखों की अपेक्षा लोकप्रवाह को अधिक महत्व देते हुए उन मान्यताओं की पुष्टि की, जिनका कि शास्त्रों में या तो स्पष्ट निषेध है अथवा कहीं कोई उल्लेख तक नहीं है पर लोक प्रवाह में प्रचलित हैं।

इसी कारण वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब चैत्यवासी परम्परा समाप्त हो गई तो उस समय चैत्यवासी परम्परा के जितने भी अनुयायी थे वे बिना किसी हिचक के निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों एवं टीकाओं आदि को शास्त्रों के समान ही प्रामाणिक मानने वाली श्रमण परम्पराओं के अनुयायी बन गये। क्योंकि चैत्यवासियों ने अपने श्राद्धवर्ग अर्थात् श्रावक-श्राविका वर्ग के लिए जो विधि-विधान, अनुष्ठान, धार्मिक कृत्य आदि आदि निर्धारित किये थे वे प्रायः सबके

सब यत्किंचित् फेर-बदल के साथ, चूर्णियों आदि को प्रामाणिक मानने वाली परम्पराओं में ज्यों के त्यों मिलते हैं। उन्हें यहां यह विशेषता मिली कि उन सभी मान्यताओं को इन परम्पराओं में चूर्णियों, भाष्यों आदि के माध्यम से येन केन प्रकारेण शास्त्रीय बाना पहना दिया गया था। चैत्यवासी परम्परा के श्रमणों के लिये—चैत्य में नियत निवास, औद्देशिक भोजन, चैत्यों का स्वामित्व, रुपया, पैसा, परिग्रह रखना आदि के सम्बन्ध में जो दश नियम बनाये थे, उनसे उस श्राद्धवर्ग को कुछ भी लेना-देना नहीं था। उन्हें तो चैत्यवासियों द्वारा अपने श्राद्ध-वर्ग के निमित्त निर्मित विधि-विधानों और मान्यताओं से ही मतलब था, जो उन्हें चूर्णियों को प्रामाणिक मानने वाली अन्य परम्पराओं में प्रायः उसी रूप में उपलब्ध हो गईं।

श्वेताम्बर परम्परा में मोटे रूप से दो विभाग

इस प्रकार पश्चाद्वर्ती श्रमण परम्पराओं की लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उनके उपासकों की संख्या में तो आशातीत वृद्धि हुई पर चैत्यवासी परम्परा के लुप्त हो जाने के अनन्तर भी, उसके द्वारा जो विकृतियां धर्म के शास्त्रीय स्वरूप में उत्पन्न कर दी गईं थीं, वे प्रायः उसी रूप में बनी रहीं। चैत्यवासी परम्परा तो समाप्त हो गई पर उसके अवशेष उसकी श्राद्धवर्ग सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में बने रहे।

इस सबका घातक परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी परम्परा के अवसान के अनन्तर भी जैन संघ मोटे तौर पर इन दो विभागों में विभक्त ही रहा :—

१. पहला विभाग तो निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, अवचूर्णियों और टीकाओं को शास्त्रों के समान प्रामाणिक मानने वाला। और

२. दूसरा विभाग निर्युक्तियों, चूर्णियों आदि को (सम्पूर्ण रूप से) प्रामाणिक नहीं मानने वाला।

इन दो विभागों में से पहला विभाग चैत्यवासियों के पतनोन्मुख काल में विक्रम की १५वीं शताब्दी तक बहुजनसम्मत और अनुयायियों की संख्या की दृष्टि से सशक्त रहा।

दूसरा विभाग विक्रम की १५वीं शताब्दी के अन्त तक अतिस्वल्प संख्यक अनुयायियों की दृष्टि से नितान्त गौण और अशक्त रहा। किन्तु विक्रम की १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल से यह उभरने लगा और उत्तरोत्तर इसका प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा।

—०—

५

भट्टारक परम्परा

भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव :—प्राचीन जैन साहित्य के अध्ययन एवं मनन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही संघों में देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के स्वर्गस्थ होने से पूर्व वीर निर्वाण सम्वत् ८४० के आस-पास ही भट्टारक परम्परा का बीजारोपण तो हो गया था किन्तु वीर निर्वाण की ११वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही संघों में नवोदित परम्पराएं प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकीं, गौण ही बनी रहीं ।

श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारकों ने प्रारम्भ में परम्परा के आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार और चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार के बीच के मध्यम मार्ग को अपनाया । इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के भट्टारकों ने भी गिरि-गुहावास व वनवास का परित्याग कर प्रारम्भ में चैत्यों में और चैत्याभाव में ग्राम-नगर आदि के बहिर्भागस्थ गृहों में निवास करना प्रारम्भ किया । उग्र विहार रूप परम्परागत परिभ्रमणशील श्रमण जीवन का इन दोनों संघों की भट्टारक परम्पराओं के श्रमणों ने त्याग कर समान रूप से सदा एक ही स्थान पर नियत निवास अंगीकार किया ।

आगमानुसारी श्रमणाचार से नितान्त भिन्न अपने इस आचरण की उपयोगिता, उपादेयता अथवा सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से दोनों ही संघों के भट्टारकों ने अपने-अपने मठों-मन्दिरों में "सिद्धान्त शिक्षण शालाएं" खोलकर उनमें बालकों—किशोरों को शनैः शनैः व्यावहारिक, धार्मिक और सैद्धान्तिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया ।

इस प्रकार के निःशुल्क शिक्षण से बच्चों में ज्ञान-वृद्धि और धर्म के प्रति प्रेम देखकर जनमानस बड़ा प्रभावित हुआ । भावी पीढ़ी के लिए इस प्रकार के प्रशिक्षण को परमोपयोगी समझकर नगरवासियों अथवा ग्रामवासियों ने श्रीमन्तों से धन संग्रह कर मठ, मन्दिर, चैत्यालय, उपाश्रय, निषिधियां और उनके विस्तीर्ण प्रांगणों में छात्रावासों, विद्यालयों और भोजनशालाओं का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया । दोनों परम्पराओं के भट्टारक अपने-अपने भक्तों द्वारा मन्दिरों के साथ निर्मापित विशाल आवासों को बस्तियों, निषिधियों अथवा मठों का नाम देकर उनमें रहने लगे । प्रारम्भिक अवस्था में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के भट्टारकों के इन आवासों को मठों के नाम से ही अभिहित किया जाता रहा ।

किन्तु कालान्तर में पृथक्-पृथक् पहिचान के लिये श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारकों को श्रीपूज्य जी, इनके आवासों अर्थात् श्रीपूज्य जी के सिंहासन पीठों को आश्रम, मन्दिर जी आदि नामों से और दिगम्बर परम्परा के भट्टारकों के सिंहासन पीठों को मठ, नसियां (निसिहियां—निषिधियां), बस्तियां (वसदियां) आदि नामों से अभिहित किया जाने लगा। यों तो प्रारम्भिक काल में दोनों परम्पराओं के भट्टारकों के सिंहासन पीठ भारत के सभी प्रान्तों के विभिन्न भागों में रहे किन्तु आगे चल कर श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारकों का उत्तर-भारत तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत में और दिगम्बर परम्परा का मुख्यतः दक्षिण-भारत में वर्चस्व रहा।

दोनों परम्पराओं के भट्टारकों ने[1] अपने-अपने भक्तों द्वारा निर्मापित मठों, सिंहासन पीठों का स्वामित्व प्राप्त कर उनमें नियत निवास करते हुए शिक्षण संस्थानों में जैन कुलों के बालकों को और विशेषतः अन्य वर्गों के साधारण स्थिति के गृहस्थों के बालकों को शिक्षण देना प्रारम्भ किया। स्वल्प काल में ही चैत्यवासियों, दिगम्बर भट्टारकों और श्वेताम्बर भट्टारकों के ये शिक्षण संस्थान बड़े लोकप्रिय हो गये। इस प्रकार के शिक्षण संस्थानों में उच्चकोटि के शिक्षण हेतु, इन शिक्षण संस्थानों के सम्यक् रूपेण संचालन हेतु एवं छात्रों के समुचित शिक्षण भरण-पोषण आदि की समस्या के स्थायी समाधान हेतु श्रेष्ठियों, सामन्तों एवं राजाओं ने उन संस्थानों के संस्थापक भट्टारकों को मठों, मन्दिरों, चैत्यों, सिंहासन पीठों आदि के नाम पर बड़ी-बड़ी धन राशियों, आवास भूमियों, कृषि भूमियों, ग्रामों और चौकी-चुंगी से होने वाली राजकीय आय के निश्चित अंशों के दान प्रारम्भ किये।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि इन शिक्षण संस्थानों में से अनेक शिक्षण संस्थान वर्तमान काल के विश्वविद्यालयों के स्तर के जैन संस्कृति के उच्चकोटि के शिक्षा केन्द्र वन गये। इन शिक्षण संस्थानों के सर्वश्रेष्ठ स्नातकों को भट्टारकों के सिंहासन पीठों पर मण्डलाचार्यों, भट्टारकों आदि के सर्वोच्च पद पर आसीन किया जाने लगा और विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न स्नातकों को देश के विभिन्न भागों में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए प्रचारक वनाकर भेजा जाने लगा।[3] यापनीय परम्परा का विश्वविद्यालय के स्तर का शिक्षण संस्थान वर्तमान मैसूर नगर के आस-पास था।

---

[1] खरतर गच्छ वृहद्गुर्वावली में श्वेताम्बर भट्टारकों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

[2] इसी प्रकरण में आगे प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

[3] (a) There is epigraphic evidence to show that there was a reputed Jain University at Teru Cheharanathumalai. From the inscriptions found

(शेष पृष्ठ ११९ पर)

इस प्रकार के शिक्षण संस्थान चैत्यवासी परम्परा, श्वेताम्बर भट्टारक परम्परा, दिगम्बर भट्टारक परम्परा और यापनीय परम्परा के लिए वरदान सिद्ध हुए। इन शिक्षण संस्थानों से न्याय, व्याकरण, साहित्य, सभी भारतीय दर्शनों, जैन दर्शन, संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और प्रान्तीय भाषाओं का उच्चकोटि का प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए विद्वान् स्नातक देश के कौने-कौने में फैल गये और अपनी अपनी परम्परा का प्रचार करने लगे। यापनीय चैत्यवासी और श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं के उन उद्भट विद्वानों ने अपनी अपनी परम्परा के प्रचार के साथ-साथ अपनी-अपनी परम्परा के नव-निर्मित सिद्धान्तों, पूजादि विधानों, अनेक कर्म-काण्डों, अनुष्ठानों, कल्पों, मन्त्र-तन्त्रों आदि के बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण भी किया।

कालान्तर में जिस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के विलुप्त होने के साथ ही उस परम्परा के पोषक ग्रन्थ भी विलुप्त हो गये, उसी प्रकार यापनीय परम्परा का अधिकांश साहित्य भी उस परम्परा के लुप्त होने पर विलुप्त हो गया। आज चैत्यवासी परम्परा के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाला यद्यपि एक भी ग्रन्थ कहीं उपलब्ध नहीं होता फिर भी चैत्यवासी परम्परा के अस्तित्व के अनेक प्रमाण जैन वाङ्मय में उपलब्ध हैं। जैसे कि दुर्लभराज की सभा में अरण्यचारी गच्छ नायक[1] उद्योतनसूरि के शिष्य श्री वर्द्धमानसूरि एवं उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि में और चैत्यवासी परम्परा के मुख्य आचार्य सूराचार्य में हुए शास्त्रार्थ का उल्लेख जिसमें चैत्यवासी परम्परा के इस प्रकार के ग्रन्थों की विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख निम्नलिखित रूप में आज भी विद्यमान है :—

"ततो मुख्य सूराचार्येणोक्तम्—"ये वसती वसन्ति मुनयस्ते षड्दर्शन बाह्याः प्रायेण। षड्दर्शनानीह क्षपणकजटि प्रभृतीनि इत्यर्थनिर्णयाय नूतनवादस्थलपुस्तिका वाचनार्थं गृहीता करे।"[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट ही है कि चैत्यवासी परम्परा के अपनी मान्यताओं के अनेक ग्रन्थ थे। ठीक इसी प्रकार यापनीय परम्परा के भी अपनी मान्यता के अनेक ग्रन्थ थे।

(पृष्ठ ११८ का शेष)

at Kalugumalai we find that a number of disciples trained by the priesters of this University went in different directions to preach Jain Dharma.

—The Forgotten History of the Land's End by S. Padmanabhan

(b) South Indian Inscriptions Volume V Nos. 321, 324, 326. A. R. No. 32 35 and 37 of 1894.

१. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली, पृष्ठ ८६

२. वही—पृष्ठ ३

वस्तुतः तो यापनीय परम्परा के ग्रन्थों की संख्या गणनातीत थी। मूलाराधना, स्त्री मुक्ति, केवलिभुक्ति आदि ग्रन्थ तथा विजयोदया टीका के उद्धरण आज भी जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। ठीक इसी प्रकार भट्टारक परम्परा के विद्वानों ने भी अपनी परम्परा की मान्यताओं के अनुरूप साहित्य का निर्माण करना प्रारम्भ किया।

भट्टारक परम्परा के तत्वावधान में विशाल पैमाने पर सुव्यवस्थित एवं सुगठित रूप से संचालित शिक्षण संस्थानों में उच्चकोटि का शिक्षण प्राप्त करने वाले स्नातकों में से जो भट्टारक पद पर आसीन हुए उन्होंने और अन्य विद्वानों ने न्याय, व्याकरण दर्शन महाकाव्य आदि सभी विषयों पर उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की। इन परम्पराओं के उन दिग्गज विद्वानों द्वारा निर्मित साहित्य का और उनके द्वारा किये गये धर्म प्रचार का जनमानस पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर भट्टारक परम्पराएं भी चैत्यवासी परम्परा के समान सुदृढ़, शक्तिशाली और लोक प्रिय बन गईं। देश के विस्तीर्ण भागों में इनका वर्चस्व स्थापित हो गया।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा, श्वेताम्बर भट्टारक परम्परा, दिगम्बर भट्टारक परम्परा और यापनीय संघ—इन चारों परम्पराओं के बढ़ते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप जैन धर्म का विशुद्ध मूल आध्यात्मिक स्वरूप एवं तदनुरूप विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल परम्परा का प्रवाह और प्रभाव अनुक्रमशः क्षीण होता गया। देवर्द्धि क्षमा श्रमण के स्वर्गस्थ होने के कुछ वर्षों पश्चात् तो क्षीणतर होते-होते सुप्त प्रायः गुप्त—प्रायः हो गया ऐसा भी कह दें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

उस घोर संक्रान्ति काल में भी मूल परम्परा पूर्णतः लुप्त नहीं हुई। इस तथ्य की साक्षी देती है—"गड्डरि पवाहओ जो ···", देवड्ढि खमासमण जा परं परं····", "सासणमिणं सुत्तरहियं च" आदि गाथाएं, जिनका उल्लेख ऊपर यथा स्थान किया जा चुका है।

लिंग पाहुड़ में सम्भवतः ऊपर चर्चित चारों परम्पराओं के श्रमणों, भट्टारकों एवं आचार्यों आदि के आगम विरुद्ध श्रमणाचार तथा दैनन्दिन कार्यकलापों की समुच्चय रूप से आलोचना करते हुए ही लिखा गया है :—

"जो जोडेज्ज विवाहं, किसिकम्म वाणिज्ज जीवघादं च।"

अर्थात्—इन साधु नामधारियों (भट्टारकों, चैत्यवासियों यापनीयों आदि) द्वारा वैवाहिक गठबन्धन, भूमि की जुताई, बुवाई, सिंचाई, गुड़ाई, लुणाई, दांय, खेती के काम की वस्तुओं का क्रय, कृषि उपज का विक्रय, इन कार्यों में पृथ्वी, अप तेजस्, वायु, वनस्पति तथा त्रस—इन षड्जीव निकायों के असंख्य-अनंत अथवा

अनन्त जीव समूहों का घात किया जाता है, किशोर-किशोरियों, तरुण-तरुणियों को विवाह के गठबन्धन में जोड़ा जाता है।

भट्टारक परम्परा का जन्म किस समय हुआ--इस सम्बन्ध में इतिहास के विद्वान् अद्यावधि किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाये हैं। प्रायः सभी विद्वान् इस प्रश्न के सम्बन्ध में एक स्वर से यही कहते आये हैं कि भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल के सम्बन्ध में अभी तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण साधिकारिक रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

किन्तु जैन वाङ्मय का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर कतिपय ऐसे तथ्य उपलब्ध होते हैं, जिनसे भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल का निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। उन तथ्यों में से पहला तथ्य है लिंग-पाहुड़ की उपर्युल्लिखित गाथा का अंश। लिंग-पाहुड़ के सम्बन्ध में मान्यता है कि यह आचार्य कुन्द-कुन्द की रचना है और लिंग-पाहुड़ की इस गाथा में उल्लिखित विवरण से यह भी निर्विवाद रूपेण फलित हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय आगमानुसार विशुद्ध मूल श्रमणाचार से प्रतिकूल श्रमणाचार का पालन करने वाली चैत्यवासी, भट्टारक आदि परम्पराएं शक्तिशाली धर्मसंघ के रूप में लोकप्रिय अथवा चर्चा का विषय बन चुकी थीं। ऐसी स्थिति में इन परम्पराओं के प्रादुर्भाव, काल को निर्धारित करने से पहले आचार्य कुन्द-कुन्द के समय का निर्धारण करना परमावश्यक हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बंध में पुष्ट प्रमाणों के अभाव के कारण विद्वानों में अभी तक मतैक्य नहीं हो सका है। न्यायशास्त्री पं. गजाधर लाल जी जैन[1] और डा. के. बी. पाठक[2] ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय शक संवत् ४५० अर्थात् वीर नि० सं. १०५५ माना है। पं. नाथूराम प्रेमी इन्हें ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी के पूर्व का आचार्य अनुमानित नहीं करते। डा. ए. एन. उपाध्ये ने आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में ऊहापोह पुरस्सर एक तो ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का, दूसरे--दूसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् का, **तीसरे**--ईसा की तीसरी शताब्दी के मध्य का और **चौथे**--ईसा की प्रथम दो शताब्दियों का--इस तरह भिन्न-भिन्न समय अनुमानित करने के पश्चात् अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है--"उपलब्ध सामग्री के इस विस्तृत पर्यवेक्षण के पश्चात् मैं विश्वास करता हूं कि कुन्दकुन्द का समय ई. सन् का प्रारम्भ है।"[3]

---

१. समय प्राभृत, प्रथम संस्करण, ई. सन् १६१४ की प्रस्तावना, पृष्ठ ८

२. समय प्राभृत और षट्प्राभृतसंग्रह-माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बम्बई, पृष्ठ १० की प्रस्तावना, पृष्ठ १५

३. कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह की आंग्ल भाषा में प्रस्तावना, पृष्ठ ३६.

इस ग्रंथमाला के सूत्रधार (जैनाचार्य श्री हस्तीमल जी म.) ने एतद्विषयक सभी ऐतिहासिक तथ्यों के अवलोकन के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण सं. १००० तदनुसार वि. संवत् ५३०, ई. सन् ४७३ और शक सं. ३९५ के आस-पास का अनुमानित किया है।[1] आचार्य श्री ने अनेक ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाणों से आचार्य कुन्दकुन्द का जो समय अनुमानित किया है, उसकी पुष्टि एक और ऐतिहासिक प्रमाण से होती है। वह प्रमाण है नियमसार की गाथा संख्या सत्रह। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ 'नियमसार' की गाथा सं. १७ में लिखा है :—

चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा, सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि चारों गतियों के जीवों के भेद के विषय में विस्तृत जानकारी लोक विभाग से की जाय। इस गाथा से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि "लोक विभाग" नामक ग्रन्थ की रचना आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व हो चुकी थी। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'लोक विभाग' नामक ग्रन्थ की रचना किस समय की गई ? जैन वाङ्मय के ग्रन्थों की प्राचीन एवं प्रामाणिक सूची में "लोक विभाग" नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख है, एक तो प्राकृत भाषा में दृब्ध 'लोक विभाग' का और दूसरा उसी के संस्कृत रूपान्तर 'लोक विभाग' का। प्राकृत भाषा में ग्रथित लोक विभाग आज कहीं उपलब्ध नहीं है। किन्तु सिंह सूरर्षि ने प्राकृत भाषा के उस 'लोक विभाग' नामक ग्रन्थ का संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद किया, वह आज उपलब्ध है। प्राकृत भाषा में निबद्ध मूल 'लोक विभाग' के रचयिता आचार्य सर्वनन्दि का सुनिश्चित समय बताते हुए सिंह सूरर्षि ने मूल लोकविभाग का संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत करते हुए अपनी इस रचना (संस्कृत) 'लोक विभाग' में लिखा है :—

विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ॥१॥
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्य राष्ट्रे,
शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनि सर्वनन्दिः ॥२॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे कांचीश सिंहवर्मणः।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥

अर्थात्—पाण्ड्य राष्ट्र के पाटलिक नामक ग्राम में काञ्चीपति सिंह वर्मा के राज्य के बीसवें वर्ष में मुनि सर्वनन्दि ने शक सं. ३८० (वि. सं. ५१५, ई. सन् ४५८, वीर नि. सं. ९८५) में लोक विभाग की रचना की।

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृष्ठ ७५६-७६८

इस लोक विभाग नामक ग्रन्थ में चतुर्गतिक जीवों के भेद का जो वर्णन किया गया है, उससे विशेष जानकारी लोकविभाग से करने का कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी कृति नियमसार में संकेत किया है। इससे आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ माला के भाग २ में अभिव्यक्त किये गये अभिमत की पुष्टि के साथ-साथ यह सिद्ध होता है कि वीर नि० सं० ६८५ की यह रचना आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष थी और वे इससे पूर्ववर्ती काल के आचार्य नहीं, अपितु लोक विभाग के रचनाकार सर्वनन्दि के समकालीन अथवा उत्तरवर्ती काल के अर्थात् ईसा की पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आचार्य थे।

इन ऐतिहासिक तथ्यों से यह फलित होता है कि शिथिलाचार को प्रश्रय देने वाली भट्टारक आदि परम्पराएं वीर निर्वाण सं. ६८५ से पूर्व ही अपनी जड़ें जमा चुकी थीं और इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व ही एक सुदृढ़ धर्मसंघ का रूप धारण कर चुकी थीं।

चैत्यों में नित्य निवास को खुले रूप में अंगीकार करने वाली चैत्यवासी परम्परा के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर ही सम्भवतः श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही संघों के साधुओं का गिरिगुहाओं, निर्जन वन्य प्रदेश अथवा एकान्त में स्थित यक्षायतनों, शून्यघरों को त्याग कर ग्रामों में ग्रामस्थ चैत्यों में रहने की ओर झुकाव हुआ और उन्होंने परम्परागत श्रमणाचार में स्वयं द्वारा किये गये इस परिवर्तन को सहेतुक-सकारण एवं समुचित सिद्ध करने का प्रयास करते हुए कहा भीः—

> कलौ काले वने वासो, वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
> स्थीयते च जिनागारे, ग्रामादिषु विशेषतः ॥[1]

अर्थात्—उत्तम मुनियों को कलिकाल में वनवास नहीं करना चाहिये। वनवास को त्याग कर जिनमन्दिरों और विशेषकर ग्रामादि में रहना ही उनके लिए उचित है।

यह चैत्यवासियों द्वारा अपनी परम्परा के श्रमण-श्रमणियों के लिये बनाये गये १० नियमों में से नियम संख्या २ का ही अनुसरण था, जिसमें कि **वनवास** के दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है।

[1] आचार्य शिवकोटि द्वारा रचित 'रत्नमाला'।
सिद्धर वसदि के लेख सं. १०५ (शक सं. १३२०) के अनुसार ये **आचार्य शिवकोटि,** समन्तभद्र के प्रमुख शिष्य और पट्टधर थे। ये विक्रम की सातवीं-**आठवीं शताब्दी** में हुए हैं। कन्नड़ भाषा में 'वड्ढाराधने' नामक एक प्राचीन **रचना मूडबिद्री** ताड़ पत्रीय संग्रह में ग्रन्थ सं० ३०७ पर उपलब्ध है। यह रचना **दक्षिण में बड़ी** रही है। अब यह प्रकाशित भी हो चुकी है।

इस ग्रंथमाला के सूत्रधार (जैनाचार्य श्री हस्तीमल जी म.) ने एतद्विषयक सभी ऐतिहासिक तथ्यों के अवलोकन के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण सं. १००० तदनुसार वि. संवत् ५३०, ई. सन् ४७३ और शक सं. ३९५ के आस-पास का अनुमानित किया है।[१] आचार्य श्री ने अनेक ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाणों से आचार्य कुन्दकुन्द का जो समय अनुमानित किया है, उसकी पुष्टि एक और ऐतिहासिक प्रमाण से होती है। वह प्रमाण है नियमसार की गाथा संख्या सत्रह। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ 'नियमसार' की गाथा सं. १७ में लिखा है :—

चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा, सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि चारों गतियों के जीवों के भेद के विषय में विस्तृत जानकारी लोक विभाग से की जाय। इस गाथा से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि "लोक विभाग" नामक ग्रन्थ की रचना आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व हो चुकी थी। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'लोक विभाग' नामक ग्रन्थ की रचना किस समय की गई ? जैन वाङ्मय के ग्रन्थों की प्राचीन एवं प्रामाणिक सूची में "लोक विभाग" नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख है, एक तो प्राकृत भाषा में दृब्ध 'लोक विभाग' का और दूसरा उसी के संस्कृत रूपान्तर 'लोक विभाग' का। प्राकृत भाषा में ग्रथित लोक विभाग आज कहीं उपलब्ध नहीं है। किन्तु सिंह सूरर्षि ने प्राकृत भाषा के उस 'लोक विभाग' नामक ग्रन्थ का संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद किया, वह आज उपलब्ध है। प्राकृत भाषा में निबद्ध मूल 'लोक विभाग' के रचयिता आचार्य सर्वनन्दि का सुनिश्चित समय बताते हुए सिंह सूरर्षि ने मूल लोकविभाग का संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत करते हुए अपनी इस रचना (संस्कृत) 'लोक विभाग' में लिखा है :—

विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ॥१॥
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्य राष्ट्रे,
शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनि सर्वनन्दिः ॥२॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे कांचीश सिंहवर्मणः।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥

अर्थात्—पाण्ड्य राष्ट्र के पाटलिक नामक ग्राम में काञ्चीपति सिंह वर्मा के राज्य के बीसवें वर्ष में मुनि सर्वनन्दि ने शक सं. ३८० (वि. सं. ५१५, ई. सन् ४५८, वीर नि. सं. ९८५) में लोक विभाग की रचना की।

---

[१] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृष्ठ ७५६-७६८

ही के किसी समय में चतुर्विध जैन महासंघ दो ही नहीं अपितु श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय—इन तीन टुकड़ों में विभक्त होने लगा ।[1]

श्रमण-श्रमणी संघ के उपर्युक्त तीन विभागों में विभक्त हो जाने के उपरान्त भी यदि श्रावक-श्राविका संघ तीन विभागों में विभक्त न होकर पहले की ही तरह एकता के सूत्र में सुदृढ़ रूपेण आबद्ध रहता तो अन्ततोगत्वा एक न एक दिन, तीन इकाइयों में विभक्त श्रमण-श्रमणी संघ को भी सुनिश्चित रूपेण पुन: एकता के सूत्र में आबद्ध होना पड़ता और विभेद के रूप में संघ के विघटन की प्रक्रिया सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती ।

वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अंकुरित हुए विभेद के परिणामस्वरूप अशक्तता एवं क्षीणता की ओर प्रवृत्त हुए जैन संघ की नवोदित विभिन्न इकाइयों में प्रारम्भ में प्रच्छन्नरूपेण शनै: शनै: स्खलनाओं का सूत्रपात होने लगा । स्खलनाओं की ओर प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप 'गतानुगतिको लोक:' इस लोकोक्ति के अनुसार साधु-साध्वी वर्ग में शिथिलाचार द्रुत गति से व्यापक रूप ग्रहण करने लगा । इस प्रकार विशुद्ध श्रमणाचार से स्खलना की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणी वर्गों ने परस्पर गठबन्धन कर अपने-अपने पृथक्-पृथक् संगठन बनाने प्रारम्भ किये ।

श्रावक-श्राविका वर्ग को अधिकाधिक संख्या में अपनी-अपनी ओर आकर्षित कर अपने-अपने पक्ष को प्रवल बनाने के प्रयास होने लगे । अपने-अपने अभिनव रूपेण आविष्कृत आचार-विचार और कार्य-कलापों तथा विधि-विधानों आदि को औचित्य का परिधान पहनाने के लिए कलिकाल के बदले हुए समय का सहारा लिया जाने लगा और लोगों को समझाया जाने लगा :—"अब ऐसा समय नहीं रहा कि प्रतिदिन अप्रतिहतरूपेण आज यहां तो कल वहां—इस प्रकार विहार किया जाय, नीरस, रूक्ष भिक्षान्न से—धर्माराधन के एकमात्र अनिवार्य साधन शरीर को असमय में ही अशक्त, कृष और जर्जरित कर दिया जाय । इधर-उधर निरन्तर भटकते रहने की अपेक्षा एक स्थान पर नियत निवास कर बड़े-बड़े लोककल्याणकारी

---

[1] (क) छव्वाससयाईं, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥२५५०॥ विशेषावश्यक भाष्य ॥

(ख) छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो, सेवडो संघो हु वलहीए ॥५२॥ भावसंग्रह ॥

(ग) कल्लाणे वर णयरे, दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे ॥ (वि० सं० २०५)
जावणिज्ज संघ भावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥२६॥ दर्शनसार ॥

दिगम्बर विद्वान् स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी ने दर्शनसार के इस अभिमत को प्रामाणिक न मानते हुए इन तीनों संघों की उत्पत्ति साथ-साथ ही मानी है ।

यह था परीषह-भीरु श्रमणों का विशुद्ध श्रमणाचार से स्खलना का प्रारम्भ। जिस भांति उच्चतम ऊंचाई तक पहुंचे हुए पर्वतारोही को उसकी रंचमात्र सी एक कदम की भी स्खलना कुछ ही क्षणों में उसे पर्वतराज के उच्चतम शिखर से नीचे धरातल पर ला देती है, क्षण भर की अपनी थोड़ी सी असावधानी के कारण जैसे वह कुशल पर्वतारोही अपने अति दुष्कर कठोरतम श्रम से शिखर पर पहुंच कर भी धरातल पर आ लुढ़कता है एवं वहां की मिट्टी में मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिकता के उच्चतम सिंहासन पर आरूढ़ होने की उत्कण्ठा लिये साधना के सौपान पर आरोहण करने वाले साधक की किंचित् मात्र स्खलना का भी वस्तुतः यही परिणाम होता है।

वीर निर्वाण की छटी शताब्दी के अन्त तक श्रमण भगवान् महावीर का श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध तीर्थ उन प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमिक आदर्शों पर पूर्ण निष्ठा के साथ सजग रह कर अपने उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा। भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रमणाचार एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं के विपरीत किसी प्रकार की स्खलना के लिये चतुर्विध संघ ने अपने अन्दर किसी प्रकार की सम्भावना नहीं रखी। यदि कभी किसी श्रमण का, श्रमणी का, श्रमणवर्ग का अथवा किसी श्रमणी वर्ग का प्रभु द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों के प्रति अनास्थामूलक स्खलना का किंचितमात्र भी कदम उठा तो सदा सजग रहने वाले चतुर्विध संघ ने प्रथम तो उसे शान्ति और सहृदयता के साथ समझा बुझा कर स्खलना के लिए प्रायश्चित कराने एवं सत्पथ पर लाने का प्रयास किया और यदि समुचित प्रयास के उपरान्त भी अपने हठाग्रह पर ही अड़ा रहा तो सम्पूर्ण चतुर्विध संघ ने उसकी स्खलना के अपराध के दण्ड-स्वरूप संघ से उसे निकाल बाहर किया। चतुर्विध संघ द्वारा प्रभु महावीर की विद्यमानता के समय से लेकर वीर निर्वाण की छटी शताब्दी तक स्खलना की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणियों को समझाये जाने, पुनः सत्पथ पर आरूढ़ किये जाने और सब भांति समझाने के उपरान्त भी पुनः सत्पथ पर आरूढ़ न होने वालों को संघ द्वारा संघ से बहिष्कृत घोषित किये जाने के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। प्रभु के प्रथम निह्नव जमालि से लेकर अन्तिम सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल—इन सात निह्नवों और उनके अनुयायियों को समझाने, सत्पथ पर लाने और समझाने के अनन्तर भी सत्पथ पर न आने वालों को अन्ततोगत्वा संघ से बहिष्कृत किये जाने के उल्लेख चतुर्विध संघ की ऐसी सतत् जागरूकता के ज्वलन्त उदाहरण हमें आगमों एवं आगमेतर प्राचीन साहित्य में आज भी उपलब्ध होते हैं।

जैन धर्म में संघ को सर्वोपरि स्थान दिया जाता रहा है। संघ जब तक सजग, सशक्त एवं अविभक्त रहा, तब तक उसमें किसी प्रकार की स्खलना अथवा शैथिल्य को पनपने देने का किसी भी प्रकार का अवकाश नहीं रहा। किन्तु वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रथम दशक में और तदनन्तर उसके आस-पास

ही के किसी समय में चतुर्विध जैन महासंघ दो ही नहीं अपितु श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय—इन तीन टुकड़ों में विभक्त होने लगा।[1]

श्रमण-श्रमणी संघ के उपर्युक्त तीन विभागों में विभक्त हो जाने के उपरान्त भी यदि श्रावक-श्राविका संघ तीन विभागों में विभक्त न होकर पहले की ही तरह एकता के सूत्र में सुदृढ़ रूपेण आबद्ध रहता तो अन्ततोगत्वा एक न एक दिन, तीन इकाइयों में विभक्त श्रमण-श्रमणी संघ को भी सुनिश्चित रूपेण पुनः एकता के सूत्र में आबद्ध होना पड़ता और विभेद के रूप में संघ के विघटन की प्रक्रिया सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती।

वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अंकुरित हुए विभेद के परिणामस्वरूप अशक्तता एवं क्षीणता की ओर प्रवृत्त हुए जैन संघ की नवोदित विभिन्न इकाइयों में प्रारम्भ में प्रच्छन्नरूपेण शनैः शनैः स्खलनाओं का सूत्रपात होने लगा। स्खलनाओं की ओर प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप 'गतानुगतिको लोकः' इस लोकोक्ति के अनुसार साधु-साध्वी वर्ग में शिथिलाचार द्रुत गति से व्यापक रूप ग्रहण करने लगा। इस प्रकार विशुद्ध श्रमणाचार से स्खलना की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणी वर्गों ने परस्पर गठबन्धन कर अपने-अपने पृथक्-पृथक् संगठन बनाने प्रारम्भ किये।

श्रावक-श्राविका वर्ग को अधिकाधिक संख्या में अपनी-अपनी ओर आकर्षित कर अपने-अपने पक्ष को प्रबल बनाने के प्रयास होने लगे। अपने-अपने अभिनव रूपेण आविष्कृत आचार-विचार और कार्य-कलापों तथा विधि-विधानों आदि को औचित्य का परिधान पहनाने के लिए कलिकाल के बदले हुए समय का सहारा लिया जाने लगा और लोगों को समझाया जाने लगा :—"अब ऐसा समय नहीं रहा कि प्रतिदिन अप्रतिहतरूपेण आज यहां तो कल वहां—इस प्रकार विहार किया जाय, नीरस, रूक्ष भिक्षान्न से—धर्माराधन के एकमात्र अनिवार्य साधन शरीर को असमय में ही अशक्त, कृष और जर्जरित कर दिया जाय। इधर-उधर निरन्तर भटकते रहने की अपेक्षा एक स्थान पर नियत निवास कर बड़े-बड़े लोककल्याणकारी

---

[1] (क) छव्वाससयाइं, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥२५५०॥ विशेषावश्यक भाष्य ॥

(ख) छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो, सेवडो संघो हु वलहीए ॥५२॥ भावसंग्रह ॥

(ग) कल्लाणे वर णयरे, दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे ॥ (वि० सं० २०५)
जावणिज्ज संघ भावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥२६॥ दर्शनसार ॥

दिगम्बर विद्वान् स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी ने दर्शनसार के इन अभिमत को प्रामाणिक न मानते हुए इन तीनों संघों की उत्पत्ति साथ-साथ ही मानी है।

कार्य किये जा सकते हैं। अन्यत्र नियत निवास करने की अपेक्षा चैत्य बनवा कर उनमें रहना धर्म-साधना के साथ-साथ धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से तथा धर्म की व्युच्छित्ति को रोकने के दृष्टिकोण से भी सर्वथा उपयुक्त ही होगा। नित्य नियमित प्रभुपूजा, संकीर्तन, सैद्धान्तिक शिक्षण, उपदेश आदि के कारण वे चैत्य आगे चल कर धर्म के सुदृढ़—स्थायी गढ़ और शिक्षा के केन्द्र बन जायेंगे। जिनेन्द्र प्रभु को प्रातः सायं भोग लगाने के निमित्त जो भोज्य सामग्री तैयार की जायगी उससे चैत्य में नियत निवास करने वाले साधुओं का सुचारु रूपेण भरण-पोषण भी हो जायगा और वे आधाकर्मी आहार के दोष से भी सदा बचे रहेंगे। इस प्रकार चैत्यों के निर्माण और उनमें भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध करने के लिये जो श्रावक एवं श्राविका वर्ग धनराशि का दान करेंगे, वे महान् पुण्य के भागी हो सहज ही स्वर्ग-अपवर्ग के अधिकारी बन सकेंगे।[1]

लोगों ने पहली बार सुना कि बिना किसी प्रकार की तपश्चर्या, परीषह-सहन, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान अथवा संयम-साधना के, बिना किसी प्रकार के कायक्लेश के, केवल पैसे खर्च करके भी स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है, शनैः शनैः शाश्वत सुखधाम मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है, तो उनके रोम-रोम में उत्साह की उमंग तरंगित हो उठी।

स्वर्ग का सुख कौन नहीं चाहता, मुक्ति किसे प्रिय नहीं ? उन नवोदित परम्पराओं के धर्मगुरुओं के मुख से इस प्रकार का आश्वासन मिलते ही श्रीमन्त भक्तजनों में स्वर्गापवर्ग प्राप्ति की एक प्रकार से होड़ सी लग गई। उन साधुओं के आवास-स्थलों पर चारों ओर से श्रद्धालु श्रावक-श्राविका वर्ग वसुधारा की वृष्टि-सी करने लगे।

भट्टारक परम्परा के तीन रूप एवं उनका काल-निर्णय

अपने प्रादुर्भाव काल से लेकर आज तक भट्टारक परम्परा ने समय-समय पर मुख्य रूप से तीन बार अपने रूप बदले हैं। यही कारण है कि इसके उद्भव काल के सम्बन्ध में आज तक सभी विद्वानों ने यही कहा है कि—भट्टारक परम्परा कब से प्रारम्भ हुई इस सम्बन्ध में ठोस प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

भगवान् महावीर के धर्म संघ में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संघों के रूप में विभेद उत्पन्न होने से पश्चाद्वर्ती जैन वाङ्मय के अध्ययन से चैत्यवासी परम्परा के जन्मकाल के साथ-साथ भट्टारक परम्परा के उद्भव काल के भी स्पष्ट रूप से संकेत मिलते हैं। वस्तुतः वीर निर्वाण सं. ६०९ के लगभग हुए संघ भेद

[1] देखिए 'संघ पट्टक' मूल और उसकी वृत्ति।

के थोड़े समय पश्चात् ही चैत्यवासी परम्परा के बीज अंकुरित हो गये थे और ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रारम्भिक प्रादुर्भाव काल में ही श्वेताम्बर दिगम्बर एवं यापनीय—इन तीनों संघों के इक्के-दुक्के श्रमणों ने अपनी-अपनी परम्परा के न्यूनाधिक अनुरूप ही श्रमणधर्म का परिपालन करते हुए चैत्यों में निवास करना प्रारम्भ कर दिया था।

भट्टारक परम्परा का प्रथम स्वरूप

इस प्रकार की परिपाटी को अपनाने वाले इन तीनों संघों के अत्यल्प संख्यक श्रमणों ने प्रारम्भ में चैत्यों में निवास करना तो प्रारम्भ कर दिया किन्तु उन्होंने चैत्यवासियों के समान नियत-निवास को स्वीकार नहीं किया था। वर्षावासावधि को छोड़ शेष आठ मास के काल में वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते थे। इस प्रकार मुक्त अथवा दिवंगत महापुरुषों के पार्थिव शरीर के दाह-स्थलों पर पुरातन काल में बने स्तूपों-चैत्यों में अथवा देवायतनों में निवास करते हुए विचरण करने वाले इन तीनों ही संघों से पृथक् हुए श्रमणों की—इन तीनों सुगठित संघों के अनुशासन में रहने वाले श्रमणों से भिन्न पहिचान के लिये उन्हें समुच्चय रूपेण 'भट्टारक' नाम से अभिहित किया जाने लगा। इनकी संख्या अति स्वल्प होने, इनके संघ के न होने तथा सुगठित संघों के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा-भक्ति-निष्ठा होने के कारण प्रारम्भिक काल में उन भट्टारकों को जन-सम्पर्क साधना आवश्यक हो गया। इस प्रकार उनका जनसम्पर्क की ओर झुकाव उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया। यह था भट्टारक परम्परा का प्रारम्भिक और पहला स्वरूप।

अब मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार की भट्टारक परम्परा प्रारम्भ किस समय हुई। भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल के सम्बन्ध में विचार करना परमावश्यक है क्योंकि भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव का प्रमुख कारण चैत्यवासी परम्परा ही रही है और भट्टारक परम्परा के जन्मदाता उपर्युक्त तीनों संघों के श्रमण प्रारम्भ में चैत्यवासी परम्परा के पदचिह्नों पर ही चले हैं।

'संघपट्टक-सवृत्ति' के उल्लेखानुसार चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव वीर नि. सं. ८५० में हुआ। संघपट्टक की भूमिका में जिनवल्लभ ने चैत्यवासी परम्परा की उत्पत्ति का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा हैं—"वीर नि. ८५० के आस पास कुछ मुनियों ने उग्रविहार छोड़कर चैत्यों में, मन्दिरों में रहना प्रारम्भ कर दिया।"

पट्टावली समुच्चयकार ने—"द्व्यशीत्यधिकाष्टशत (८८२) वर्षातिक्रमे चैत्यस्थितिः"— इस वाक्य के द्वारा चैत्यवास के उत्पन्न होने का समय वीर नि. सं. ८८२ माना है। किन्तु जैन वाङ्मय में एतद्विषयक इतस्ततः उल्लिखित घटना-क्रम के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे पर्याप्त समय पूर्व और एक सूत्र में आबद्ध एवं सुसंगठित जैन संघ में विभेद की उत्पत्ति के साथ ही अथवा कुछ ही

वर्षों पश्चात् चैत्यवासी परम्परा के अंकुर प्रकट हो गये। चैत्यवासी परम्परा के उदयकाल में ही अथवा तत्काल पश्चात् ही श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनों ही संघों के इने-गिने महत्वाकांक्षी अथवा कारण वशात् अपने संघ से असंतुष्ट श्रमणों ने चैत्यवासी श्रमणों के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए इन तीनों ही संघों में भट्टारक परम्परा के बीज का वपन कर दिया। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :—

वीर नि. सं. ६०९ में भगवान् महावीर का धर्म संघ श्वेताम्बर दिगम्बर और यापनीय-इन तीन भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त हो गया यह एक विद्वज्जन सम्मत अभिमत है "छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति"—इस उक्ति के अनुसार उस विभेद के पश्चात् धर्म संघ के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई और दो तीन दशकों के अन्दर ही अन्दर एक नई परम्परा—चैत्यवासी परम्परा धर्म संघ में प्रकट हुई। इसका प्रमाण है उपाध्याय देवचन्द्र का जीवन वृत्त।

विक्रम की १४वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र ने ऐतिहासिक महत्व के अपने ग्रन्थ 'प्रभावक चरित्र' (वि.सं.१३३४) के 'सर्व देवसूरि चरितम्' में वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चैत्यवासी परम्परा के अस्तित्व का उल्लेख करते हुए लिखा है—"वनवासी आचार्य सर्वदेवसूरि वाराणसी से सिद्ध क्षेत्र शत्रुंजय की ओर विहार करते हुए सप्तशती प्रदेश (कोरण्टक ७०० राज्य) की राजधानी कोरण्टक नगर में आये। वहां श्री महावीर चैत्य में नियत निवास करने वाले चैत्यवासी उपाध्याय देव चन्द्र रहते थे। आचार्य सर्व देवसूरि ने कतिपय दिनों तक कोरण्टक नगर में रहकर उपाध्याय देवचन्द्र और उसके आज्ञानुवर्ती चैत्यवासी श्रमणों को धर्मोपदेश द्वारा समझा बुझा कर बनवासी परम्परा का श्रमण बनाया। चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर वनवास स्वीकार करने के पश्चात् उपाध्याय देव चन्द्र ने कठोर तपश्चरण किया। उपाध्याय देवचन्द्र की तपोनिष्ठा एवं विद्वत्ता की ख्याति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई। इसके परिणामस्वरूप उपाध्याय देवचन्द्र को, सोलहवें गणाचार्य सामन्तभद्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि. सं. ६७० के आस पास गणाचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया और वे वृद्ध देव सूरि के नाम से एक महान् प्रभावक आचार्य के रूप में लोक प्रसिद्ध १७वें गणाचार्य हुए।[1]

---

[1] कांश्चित्प्रबोध्य तं चैत्यव्यवहारममोचयत् ॥१०॥
स पारमार्थिकं तीव्रं, धत्ते द्वादशधा तपः।
उपाध्यायस्ततः सूरि-पदे पूज्यैः प्रतिष्ठितः ॥११॥
श्री देवसूरिरित्याख्या, तस्य ख्यातिं ययौ किल।
श्रूयन्तेऽद्यापि वृद्धेभ्यो, वृद्धास्ते देवसूरयः ॥१२॥
—प्रभावक चरित्र, १३ श्री मानदेव सूरि चरितम्, पृ. ११८

आचार्य प्रभाचन्द्र ने वि. सं. १३३४ तदनुसार वीर नि.सं. १८०४ में प्रभावक चरित्र की रचना की। आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में स्पष्टतः लिखा है कि इन प्रभावक आचार्यों में से कतिपय आचार्यों का चरित्र प्राचीन ग्रन्थों से और कतिपय का श्रुतधर (वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध) मुनियों के मुख से सुन-सुन कर उन्होंने संकलित किया है। 'श्री मान देवसूरि चरितम्' में वृद्ध देव सूरि के सम्बन्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रयुक्त—"श्रूयन्तेऽद्यापि वृद्धेभ्यो, वृद्धास्ते देव सूरयः ।" इस पद से स्पष्ट रूपेण प्रकट होता है कि वृद्ध देव सूरि के विषय में उन्होंने जो यह लिखा है—"वे पूर्व में चैत्यवासी परम्परा के उपाध्याय थे, कालान्तर में सर्व देवसूरि से प्रतिबोध पाकर उन्होंने वनवास स्वीकार किया"—यह सब कुछ विवरण उन्हें कहीं लिखित में नहीं अपितु ज्ञानवृद्ध मुनियों से—जनश्रुति—अथवा अनुश्रुति के रूप में ही प्राप्त हुआ हो।

किसी अन्य ठोस प्रमाण के अभाव में, जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, जन-श्रुतियाँ तो पूर्णतः प्रामाणिक नहीं मानी जातीं किन्तु मुनि मण्डल में कर्ण-परम्परा से चली आ रही अनुश्रुतियों की तो लोक में प्रामाणिक कोटि में ही गणना की जाती रही है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने वृद्ध देव सूरि के सम्वन्ध में किंवदन्ती अर्थात् जनश्रुति के आधार पर नहीं अपितु ज्ञानवृद्ध श्रमणों में कर्ण परम्परागत अनुश्रुति के आधार पर लिखा है। इस प्रकार की स्थिति में यह मानना होगा कि वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही वीर नि. सं. ६४०-६५० के आस-पास चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था, तभी इस परम्परा में अनेक वर्षों तक नियत-निवासी रह चुकने के पश्चात् उपाध्याय देवचन्द्र चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर वनवासी परम्परा के श्रमण बने और वे वीर निर्वाण सं. ६७० के आस पास देवचन्द्र से वृद्ध देव सूरि के नाम से प्रसिद्ध हो आचार्य सामन्त भद्र के उत्तराधिकारी १७ वें गणाचार्य बने।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वीर नि. सं. ६४० से ६५० की अवधि के बीच किसी समय चैत्यवासी परम्परा के साथ अथवा थोड़े से अन्तर से भट्टारक परम्परा भी पृथक् इकाई के रूप में संभवतः तीनों संघों में प्रचलित हो गई थी।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा प्राचीन काल में सम्मत ७२ आगमों[1] में से ३१ वें छेद सूत्र महानिशीथ में जो सावद्याचार्य का प्रकरण है, उसमें असंयती पूजा और चैत्यवासियों की आगम विरुद्ध मान्यताओं, प्ररूपणाओं और विशुद्ध श्रमण परम्परा से पूर्णतः विपरीत उनके आचरण पर विशद प्रकाश डाला गया है। महानिशीथ

---

[1] श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा द्वारा वर्तमान काल में ३२ आगम ही मान्य हैं। उनमें महानिशीथ की गणना तो की गई है किन्तु वर्तमान में उपलब्ध हरिभद्र द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ महानिशीथ मान्य नहीं किया गया है।

के चैत्यवासी परम्परा विषयक उल्लेखों से भी यही प्रमाणित होता है कि चैत्यवासी परम्परा वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही बड़ी लोकप्रिय बहुजन सम्मत और सशक्त परम्परा के रूप में अस्तित्व में आ चुकी थी।

जहां तक अधिकांशतः लुप्तप्रायः मूल महानिशीथ के रचना-काल का सम्बन्ध है, इसकी तीर्थप्रवर्तन काल से ही आगमिक साहित्य में गणना की जाती रही है। नन्दी सूत्र के उल्लेखानुसार वल्लभी-वाचना में इसे भी पुस्तकारूढ़ किया गया था। इसकी प्राचीन प्रतियों में उपलब्ध उल्लेख से ऐसा प्रकट होता है कि महानिशीथ की एक मात्र मूल प्रति हरिभद्र सूरि नामक आचार्य को मिली। वह प्रति स्थान-स्थान पर सड़ी-गली, दीमकों द्वारा खाई हुई एवं नितान्त खण्डित-विखण्डित रूप में आचार्य हरिभद्र को उपलब्ध हुई थी। आचार्य हरिभद्र ने उसके स्थान-स्थान पर खण्डित-विखण्डित स्थलों को—अंशों को पढ़ा और उन्हें लगा कि जैन धर्म का वह एक अनमोल ग्रन्थरत्न है। उन्होंने इस अनमोल आगम का उद्धार करने का दृढ़—संकल्प किया। महामेधावी आगम निष्णात आचार्य हरिभद्र ने अथक परिश्रम कर उस जीर्ण-शीर्ण प्रति की प्रतिलिपि करना प्रारम्भ किया। जो भाग पढ़ने में आये उनको यथावत् रूपेण लिख कर और जो भाग दीमकों द्वारा खा लिये गये थे अथवा सड़-गल कर नष्ट हो गये थे, उन स्थलों पर उन्होंने संभवतः अपनी संविग्न-परम्परा की मान्यताओं को दृष्टिगत रखते हुए अपने आगम ज्ञान तथा बुद्धि बल से आवश्यकतानुसार उपयुक्त एवं विषय से सुसम्बद्ध वाक्य, वाक्यांश, पृष्ठ अथवा पृष्ठसमूह जोड़कर महानिशीथ का उद्धार किया—अभिनव रूप से आलेखन सम्पन्न किया। इस प्रकार वर्तमान में जो महानिशीथ का स्वरूप है, वह आचार्य हरिभद्र द्वारा संस्कारित स्वरूप है। अतः कोई भी विद्वान् यह कहने की स्थिति में नहीं है कि आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में महानिशीथ का जो आलेखन किया गया था, उसमें से आ. हरिभद्र द्वारा पुनरालिखित, परिवर्तित, परिवर्द्धित, अधिकांशतः विलुप्त वर्तमान काल में उपलब्ध महानिशीथ में सभी पूर्ववत् अथवा यथावत् है।

इतना-सब कुछ होते हुए भी यह तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि दीमकों द्वारा खाई गई खण्डित-विखण्डित महानिशीथ की जो प्रति आचार्य हरिभद्र सूरि को मिली, उसके आदि एवं अन्त के अंशों के समान मध्य भाग के अंश अपेक्षा-कृत कम ही क्षति-ग्रस्त हुए होंगे। इस युक्ति-संगत अनुमान के आधार पर यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महानिशीथ के मध्य भाग में उल्लिखित सावद्याचार्य का आख्यान, तीर्थयात्रा विषयक अति पुरातन वज्राचार्य का आख्यान और द्रव्यार्चना-भावार्चना विषयक आख्यान—ये तीन आख्यान जिस रूप में माथुरी वाचना के आधार पर देवर्द्धि के तत्वावधान में हुई वल्लभी वाचना (द्वितीय) के समय लिखे गये थे, वे कम क्षतिग्रस्तावस्था में अथवा यथावत् रूप में ही हरिभद्र सूरि को मिले होंगे और महानिशीथ का उद्धार करते समय उन्होंने इन

तीनों आख्यानों को केवल अपनी संविग्न परम्परा की मुख्य मान्यताओं के पुट के साथ यथावत् रूप में जिस अवस्था में थे, उसी मूल अवस्था में लिख लिये होंगे।

यहाँ एक और अति महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी में जो आगमों का लेखन वीर निर्वाण सं. ९८० में प्रारम्भ किया जाकर वीर नि. सं. ९९४ में सम्पन्न किया गया, वह वीर नि. सं. ८२४ के आस-पास मथुरा में आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान में हुई आगम-वाचना के आगमों को आधार मान कर तथा आचार्य नागार्जुन के तत्वावधान में उसी समय वल्लभी में हुई वाचना को दृष्टिगत रखते हुए किया गया था। इससे यह फलित होता है कि महानिशीथ की जीर्ण-शीर्ण खण्डित-विखण्डित अवस्था में जो प्रति आचार्य हरिभद्र को प्राप्त हुई, उसमें उल्लिखित सावद्याचार्य का आख्यान उस प्रति के मध्य भागस्थ होने के कारण सम्भवतः वीर नि. सं. ८२४ और उसके पश्चात् वीर नि. सं. ९८० से ९९४ तक हुई आगम वाचनाओं में सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया प्रामाणिक पाठ हो।

इन सव महत्वपूर्ण तथ्यों के संदर्भ में विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि महानिशीथ में सावद्याचार्य (कमल प्रभ आचार्य) के आख्यान में चैत्यवासी परम्परा पर जो विशद प्रकाश डाला गया है, वह न केवल वीर नि.सं. ९८० में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में हुई आगम वाचना के समय का अपितु वीर नि. सं. ८२४ में हुई आर्य स्कंदिल और नागार्जुन के तत्वावधान में हुई आगम वाचनाओं से भी पूर्व का हो सकता है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि स्कंदिली वाचना और नागार्जुनीया वाचना से पर्याप्त समय पूर्व, वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में ही चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था और स्कंदिली वाचना के समय तो वह परम्परा न केवल जन-जन की चर्चा का विषय अपितु समग्र श्रमण संघ और महान् आचार्यों के लिये भी चर्चा का विषय बन चुकी थी।

महानिशीथ अभी तक जर्मनी के अतिरिक्त अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रतियां भी अति स्वल्प संख्या में हैं। जो प्रतियाँ हैं, वे भी प्राचीन लेखन शैली में लिखित होने के कारण प्राकृत भाषा के विद्वानों के लिये भी कठोर श्रम के पश्चात् ही बोधगम्य हैं। इन कारणों से विद्वानों का जितना ध्यान इस महानिशीथ में वर्णित विषयों की ओर आकर्षित होना चाहिये था, उतना नहीं हो पाया है। इसके परिणामस्वरूप इस पर अपेक्षित शोध भी नहीं हो पाई है।

कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् वीर नि. सं. १००० से १०५५ तक युग प्रधानाचार्य पद पर रहे हरिभद्र सूरि (हारिल सूरि) ने दीमकों द्वारा खाई गई खण्डित प्रति से महानिशीथ

का उद्धार किया। इसके विपरीत कतिपय शोधरुचि विद्वानों का अभिमत है कि वीर नि. सं. १२२७ से १२९७, तद्नुसार विक्रम सं. ७५७ से ८२७ के बीच की अवधि में आचार्य पद पर रहे अनेक आगमों के टीकाकार, समराइच्च कहा, ललित विस्तरा आदि शताधिक ग्रन्थों के रचनाकार एवं महान् दार्शनिक याकिनी महत्तरासूनु भवविरह विद्याधर कुल के आचार्य हरिभद्रसूरि ने महानिशीथ का उद्धार किया।

महानिशीथ का शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से गहन अध्ययन न कर पाने के कारण कुछ विद्वानों ने वीर नि. सं. १०५५ में स्वर्गस्थ हुए युगप्रधान आचार्य हारिल-अपर नाम हरिभद्रसूरि को महानिशीथ का उद्धारक माना है। यह भ्रान्ति नाम-साम्य के कारण हुई है। यदि उन विद्वानों का ध्यान महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन की समाप्ति पर दी गई पुष्पिका की ओर जाता तो वे इस प्रकार का अभिमत व्यक्त नहीं करते। द्वितीय अध्ययन की पुष्पिका में स्पष्ट उल्लेख है कि भव-विरह याकिनी महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्र द्वारा खण्डित-विखण्डित प्रति के आधार पर पुनरुद्धरित महानिशीथ की प्रति की आचार्य सिद्ध सेन, वुड्ढवाई, हारिल गच्छ के आचार्य यक्षदत्त महत्तर—आचार्य यक्षसेन और जिनदास गणि महत्तर आदि ने सराहना करते हुए उसे मान्य किया। ये सभी आचार्य भवविरह याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्र सूरि के समकालीन थे।[1]

विद्याधर कुल के आचार्य जिनदत्त के शिष्य याकिनी महत्तरासूनु आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने अपनी कृति—'संबोध प्रकरण' में चैत्यवासियों, भट्टारकों मठाधीशों आदि के वर्चस्व के कारण जैन संघ में उत्पन्न हुई विकृतियों का महानिशीथ के उल्लेखों के अनुरूप ही मार्मिक चित्रण करते हुए लिखा है :—

कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ।
सोवाहणो य हिंडइ, बन्धइ कडिपट्टमकज्जे ॥१४॥

"ये कायर साधु लुंचन नहीं करते, प्रतिमा वहन करने में शर्माते, अपने अंग-प्रत्यंग का मैल उतारते, पद त्राण पहन कर चलते, फिरते और बिना किसी प्रयोजन के ही कटिवस्त्र बांधते हैं। ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं। पूजा के लिये आरम्भ एवं देव द्रव्य का उपभोग करते हैं। जिनमन्दिर, शालाएं आदि चुनवाते रंग-बिरंगे सुगन्धित एवं धूपवासित सुन्दर वस्त्र पहन कर घूमते और स्त्रियों के समक्ष गाते हैं। ये कुसाधु साध्वियों द्वारा लाये गये पदार्थ खाते, जल, फल फूल आदि संचित्त द्रव्यों का उपभोग करते और दिन में दो-तीन बार भोजन करते तथा पान लवंगादि भी चबाते रहते हैं। ये लोग मुहूर्त निकालते, निमित्त बताते और

---

[1] विस्तृत जानकारी के लिये इसी ग्रन्थ में दिया हुआ हारिल सूरि का प्रकरण द्रष्टव्य है।
—सम्पादक

भक्तों को भभूति भी देते हैं। सुस्वादु भोजन के लिये ये लोगों की झूठी प्रशंसा-खुशामद करते और सामूहिक भोजों में मिष्टान्न सुस्वादु व्यंजन ग्रहण करते हैं। जिज्ञासुओं को पुनः पुनः पूछने पर भी सच्चा धर्म नहीं बताते। ये लोग स्नान करते हैं, शृंगार करते हैं, सुगन्धित तेल-इत्र-फुलेल का उपयोग करते और स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी सदा दूसरों की आलोचना करते रहते हैं। इस प्रकार की विकृतियों से ओतप्रोत स्थिति में भी —

बाला वयंति एवं, वेसो तित्थयराण एसो वि।
नमणिज्जो धिद्धि अहो, सिरं सूलं कस्स पुक्करिमो ।। ७६।।

अर्थात् कुछ अनभिज्ञ-नासमझ लोग कहते हैं कि यह भी तीर्थंकरों का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिये। अहो ! उन्हें पुनः पुनः धिक्कार है। शोक ! मैं अपने इस शिरशूल की पुकार किसके आगे करूं ?"

इस प्रकार 'महानिशीथ' और 'संबोध प्रकरण' में उल्लिखित जैन धर्म संघ में उत्पन्न हुई विकृतियों के वर्णन वस्तुतः समुच्चय रूप से मठाधीशों, श्री पूज्यों, भट्टारकों और चैत्यवासियों से ही सम्बन्धित हैं।

याकिनी महत्तरा सूनु से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए आचार्य कुन्द कुन्द ने (जिनके समय के सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वानों में भी मतवैभिन्य है, मतैक्य नहीं) भी लिंग पाहुड़ में—

"जो जोडेज्ज विवाहं किसिकम्मवाणिज्ज जीवघादं च ।"

यह उल्लेख किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्द कुन्द के समय में मठवासी परम्परा, चैत्यवासी परम्परा और भट्टारक परम्परा ये तीनों ही प्रकार की परम्पराएं देश के प्रायः सभी भागों में फैल गई थीं, लोकप्रिय एवं बहुजन सम्मत हो जाने के फलस्वरूप महान् आचार्यों तक के लिये चिन्ता एवं चर्चा का विषय बन चुकी थीं।

ये सब, वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के मध्य भाग से लेकर वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध दशक (वीर निर्वाण सं. १२९७) तक के प्राचीन उल्लेख इस ऐतिहासिक तथ्य के प्रबल साक्षी हैं कि वीर नि. सं. ६२० से ६५० के बीच की अवधि में चैत्यवासी परम्परा के साथ साथ भट्टारक परम्परा का भी जन्म हो गया होगा। श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनों संघों के कतिपय साधुओं ने वनवास, एकान्तवास अथवा गिरिगुहावास का तथा अध्यात्म साधना के पथ का त्याग कर चैत्यवास, वस्तिवास और जनसम्पर्क साधना प्रारम्भ कर दिया था।

इस प्रकार भट्टारक परम्परा का चैत्यवासी परम्परा के साथ ही

प्रादुर्भाव तो देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने से लगभग ३५० वर्ष पूर्व ही हो गया था। किन्तु महान् प्रभावक पूर्वधर आचार्यों की विद्यमानता और अधिकाँश श्रावक-श्राविका वर्ग में अध्यात्म परक आगमानुरूपी विशुद्ध धर्म और विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा के कारण चैत्यवासी एवं भट्टारक परम्परा के श्रमण जैन समाज में कोई विशेष सम्मान के भाजन नहीं बन सके। इसी कारण उनमें से अधिकांश साधु किसी एक स्थान पर सदा के लिये नियत निवास न कर प्रायः विहरूक ही रहे।

इन भट्टारकों ने भूमिदान, द्रव्यदान लेना और रुपया पैसा आदि परिग्रह रखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनों संघों के श्रमणों में से जो जो श्रमण पृथक् हो भट्टारक बने, उन्होंने प्रारम्भ में अपना वेष उसी संघ के श्रमणों के समान रखा जिससे कि वे पृथक् हुए थे। दिगम्बर परम्परा के भट्टारकों ने अपवाद रूप में अनग्न रहना प्रारम्भ कर दिया था। यह था भट्टारक परम्परा का प्रारम्भ काल का प्रथम स्वरूप। लगभग वीर निर्वाण सं. ६४० से लेकर वीर नि.सं. ८८०-८२ तक भट्टारक परम्परा का सामान्यतः यही स्वरूप रहा।

ई. सन् २०० से २२० (वीर नि.सं. ७२७ से ७४७) के बीच की अवधि में सिंहनन्दि नामक आचार्य ने दड़िग और माधव (राम और लक्ष्मण) नामक दो इक्ष्वाकुवंशीय राजकुमारों को अनेक विद्याओं में पारंगत कर उनके माध्यम से दक्षिण में जैन धर्मावलम्बी गंग राजवंश की स्थापना की। सिंह नन्दि द्वारा किये गये कार्य-कलापों (जिनका कि सविस्तार उल्लेख आगे गंग राजवंश के प्रकरण में दिया गया है) को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि वे यापनीय परम्परा के भट्टारक थे। एक पंच महाव्रतधारी श्रमण से तो, चाहे वह श्वेताम्बर, दिगम्बर अथवा यापनीय परम्परा का क्यों न हो, कभी इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती कि वह किसी राजा को उसके सैनिक अभियान में साथ दे अथवा युद्ध में पीठ न दिखाने अथवा युद्ध में डटे रहने का उपदेश दे। पर उन्होंने ऐसा ही सब कुछ किया।

भट्टारक-परम्परा का दूसरा स्वरूप

वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टारकों ने अपने संघों को सुगठित करना प्रारम्भ किया। लोक सम्पर्क बढ़ाने के परिणामस्वरूप उनके संगठन सुदृढ़ होने लगे। मन्दिरों में नियत निवास कर भट्टारकों ने किशोरों को जैन सिद्धान्तों का शिक्षण देना प्रारम्भ किया। औषधि, मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग से जन-मानस पर अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया। भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु जन-मानस का झुकाव भट्टारकों की ओर होने लगा। अपने पाण्डित्य एवं चमत्कारपूर्ण कार्यों के बल पर कतिपय भट्टारकों ने राजाओं को भी अपनी

ओर आकर्षित किया। उन्होंने राजसभाओं में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किये। कतिपय भट्टारकों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। राजाओं द्वारा सम्मानित होने तथा राजगुरु बनने के परिणाम स्वरूप भट्टारकों का सर्व-साधारण पर भी उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ने लगा। जन सहयोग प्राप्त होने पर भट्टारकों ने बड़े-बड़े जिन मन्दिरों के निर्माण, उच्च सैद्धान्तिक शिक्षा के शिक्षण केन्द्रों के उद्घाटन, संचालन आदि अनेक उल्लेखनीय कार्य अपने हाथों में लिए। उन प्रशिक्षण केन्द्रों से उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान् स्नातकों ने धर्म समाज और साहित्य के क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। अनुमानतः वीर निर्वाण सं. १०१० के आसपास इक्ष्वाकु (सूर्यवंशी) कदम्बवंश के राजा शिवमृगेश वर्मा द्वारा अर्हत्प्रोक्त सद्धर्म के आचरण में सदा तत्पर श्वेताम्बर महा श्रमण संघ के उपभोग हेतु, निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के उपभोग के लिए तथा अर्हत् शाला परम पुष्कल स्थान निवासी भगवान् अर्हत् महाजिनेन्द्र देवता के लिए दिये गये काबबंग नामक गांव के दान से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि जिन श्वेताम्बर, दिगम्बर, एवं यापनीय संघों के आचार्यों श्रमणों ने भूमि दान ग्राम दान लेना प्रारम्भ कर दिया था, वे वस्तुतः भट्टारक परम्परा के सूत्रधार थे।[1] विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले पंच महाव्रतधारी पूर्णरूपेण अपरिग्रही श्रमणों के लिए इस प्रकार भूमिदान ग्रहण करना पूर्णतः शास्त्र विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर और दिगम्बर महाश्रमण संघ ने कदम्ब नरेश शिव मृगेश वर्मा द्वारा श्रमणों अथवा श्रमण संघ के उपभोग के लिए दिये गये दान को स्वीकार किया—इससे यही फलित होता है कि-इस अभिलेख में यद्यपि भट्टारक शब्द का उल्लेख नहीं है तथापि भट्टारकों के अनुरूप उनके ग्रामदानादि ग्रहण करने के आचरण से यही सिद्ध होता है कि वे श्वेताम्बर दिगम्बर अथवा यापनीय अथवा कूर्चक संघ वस्तुतः भट्टारक संघ ही थे। उन संघों ने वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक अपने संघ के नाम से पूर्व भट्टारक विशेषण भले ही नहीं लगाया हो पर उनके आचार-विचार और कार्यकलाप भट्टारक-आचार-विचार वृत्ति की ओर उन्मुख हो चुके थे।

यहां एक बड़ा ही महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखने योग्य यह है कि मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से कनिष्क संवत ५ तदनुसार वीर नि० सं० ६१० से ई. सन् ४३३ तदनुसार वीर नि. सं. ९६० तक के जो शिला-लेख उपलब्ध हुए हैं, उन शिला-लेखों में आयाग-पट्टों, दीप-स्तम्भों के निर्माण, जिनेश्वरों की मूर्तियों की स्थापना आदि के उल्लेख तो हैं किन्तु न तो किसी आचार्य द्वारा अथवा मुनि द्वारा किसी प्रकार के दान के ग्रहण किये जाने का कोई उल्लेख है और न कहीं भट्टारक परम्परा का नामोल्लेख तक ही।

---

१. इंडियन ऐंटीक्वीटीज वाल्यूम ७, पेज ३७-३८ नं० ३७ तथा जैन शिला लेख संग्रह, भाग २, लेख सं. ९८, पृष्ठ ६९–७२

इससे यही प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा के बीज तक का वपन नहीं हुआ था। भट्टारक परम्परा उस समय तक दक्षिण में और पश्चिम-दक्षिण दिग्विभाग में ही उदित हुई थी।

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् तो प्रायः सभी संघों के आचार्यों, भट्टारकों और श्रमणों एवं कुरत्तियार के नाम से प्रसिद्ध कतिपय श्रमणी-मुख्यों द्वारा भूमिदान, भवन दान, ग्राम दान, करों के अंश दान, चुंगी की राजकीय आय के अंश दान, व्यापारी संघों की आय के अंशदान, द्रव्य दान, मुनियों को असन-पान-वस्त्र-पात्रादि चार प्रकार के दान दिये जाते रहने की नियमित व्यवस्था के लिए क्षेत्र दान-ग्राम दान-भूमिदान ग्रहण किये जाने के उल्लेखों से इतने शिला लेख भरे पड़े हैं कि उनकी केवल गणना करने में भी पर्याप्त समय और श्रम की आवश्यकता है। इस प्रकार के दान ग्रहण करने वाले आचार्यों एवं भट्टारकों की छोटी-छोटी पट्टावलियां, उनके संक्षिप्त पट्टक्रम भी अनेक शिला लेखों में उपलब्ध होते हैं।

भट्टारकों की जो पट्टावलियां उपलब्ध हुई हैं, उनके कालक्रम पर शोधपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर यह विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी में ही भट्टारक परम्परा उस प्रथम स्वरूप में उदित हो चुकी थी, जिस प्रथम स्वरूप पर ऊपर विस्तार के साथ प्रकाश डाल दिया गया है। अधिक गहराई में न जाकर केवल इंडियन एण्टीक्यूरी के आधार पर इतिहास के विद्वानों द्वारा काल क्रमानुसार तैयार की गयी भट्टारक परम्परा के प्रमुख संघ-नन्दि संघ की पट्टावलि के आचार्यों की नामावलि के शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन-पर्यालोचन पर भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि संघ-भेद (वीर नि. सं. ६०६) के तीन चार दशक पश्चात् ही भट्टारक परम्परा का एक धर्म संघ के रूप में बीजारोपण हो चुका था।

भट्टारक परम्परा के उद्भव, प्रसार एवं उत्कर्ष काल के विषय में युक्ति संगत एवं सर्वजन समाधानकारी निर्णय पर पहुंचने के लिए "नन्दिसंघ-पट्टावलि के आचार्यों की नामावलि" बड़ी सहायक सिद्ध होगी, इसी दृष्टि से उसे आदि से अन्त तक यथावत् रूपेण यहां उद्धृत किया जा रहा है:—

नन्दि संघ की पट्टावलि के आचार्यों की नामावलि

(इण्डियन एन्टीक्यूरी के आधार पर)

१. भद्रबाहु द्वितीय [1] (४)
२. गुप्ति गुप्त (२६)
३. माघनन्दि (३६)
४. जिनचन्द्र (४०)

[1] श्रवण बेल्गुल की पार्श्वनाथ वस्ति के शिलालेख में वर्णित द्वितीय भद्रबाहु

५. कुन्दकुन्दाचार्य (४६)
६. उमास्वामि (१०१)
७. लोहाचार्य (१४२)
८. यशःकीर्ति (१५३)
९. यशोनन्दि (२११)
१०. देवनन्दि (२५८)
११. जयनन्दि (३०८)
१२. गुणनन्दि (३५८)
१३. वज्रनन्दि (३६४)
१४. कुमारनन्दि (३८६)
१५. लोकचन्द्र (४२७)
१६. प्रभाचन्द्र (४५३)
१७. नेमचन्द्र (४७८)
१८. भानुनन्दि (४८७)
१९. सिंहनन्दि (५०८)
२०. श्री वसुनन्दि (५२५)
२१. वीरनन्दि (५३१)
२२. रत्ननन्दि (५६१)
२३. माणिक्यनन्दि (५८५)
२४. मेघचन्द्र (६०१)
२५. शान्ति कीर्ति (६२७)
२६. मेरुकीर्ति (६४२)

ये २६ उपर्युक्त आचार्य दक्षिण देशस्थ भद्दिलपुर के पट्टाधीश हुए।

२७. महाकीर्ति (६८६)
२८. विष्णुनन्दि (७०४)
२९. श्री भूषण (७२६)
३०. शीलचन्द्र (७३५)
३१. श्री नन्दी (७४९)
३२. देशभूषण (७६५)
३३. अनन्तकीर्ति (७६५)
३४. धर्मनन्दि (७८५)
३५. विद्यानन्दि (८०८)
३६. रामचन्द्र (८४०)
३७. राम कीर्ति (८५७)
३८. अभयचन्द्र (८७८)
३९. नरचन्द्र (८९७)
४०. नागचन्द्र (९१६)
४१. नयनन्दि (९३९)
४२. हरिनन्दि (९४८)
४३. महिचन्द्र (९७४)
४४. माघचन्द्र (९९०)

उपर्युल्लिखित महाकीर्ति से माघचन्द्र तक १८ आचार्य उज्जयिनी के पट्टाधीश हुए।

४५. लक्ष्मीचन्द्र (१०२३)
४६. गुणनन्दि (१०३७)
४७. गुणचन्द्र (१०४८)
४८. लोकचन्द्र (१०६६)

ये चार आचार्य चन्देरी (बुन्देल खण्ड) के पट्टाधीश हुए।

४९. श्रुतकीर्ति (१०७९)
५०. भावचन्द्र (१०९४)
५१. महाचन्द्र (१११५) ये ३ आचार्य भेलसा (भूपाल) सी. पी. के पट्टाधीश हुए।
५२. माघचन्द्र (११४०) यह आचार्य कुण्डलपुर (दमोह) के पट्टाधीश हुए।
५३. ब्रह्मनन्दि (११४४)
५४. शिवनन्दि (११४८)
५५. विश्वचन्द्र (११५५)
५६. हृदिनन्दि (११५६)
५७. भावनन्दि (११६०)
५८. सूरकीर्ति (११६७)

५९. विद्याचन्द्र (११७०)	६०. सूरचन्द्र (११७६)
६१. माघनन्दि (११८४)	६२. ज्ञाननन्दि (११८८)
६३. गंगकीर्ति (११९९)	६४. सिंहकीर्ति (१२०६)

ये १२ आचार्य बारां के पट्टाधीश हुए।

६५. हेमकीर्ति (१२०९)	६६. चारुनन्दि (१२१६)
६७. नेमिनन्दि (१२२३)	६८. नाभिकीर्ति (१२३०)
६९. नरेन्द्रकीर्ति (१२३२)	७०. श्री चन्द्र (१२४१)
७१. पद्म (१२४८)	७२. वर्द्धमानकीर्ति (१२५३)
७३. अकलंकचन्द्र (१२५६)	७४. ललितकीर्ति (१२५७)
७५. केशवचन्द्र (१२६१)	७६. चारुकीर्ति (१२६२)
७७. अभयकीर्ति (१२६४)	७८. वसन्तकीर्ति (१२६४)[1]

इण्डियन एण्टीक्वेरी की जो पट्टावली मिली है, उसमें उपर्युक्त १४ आचार्यों का पट्ट ग्वालियर में होना लिखा है किन्तु वसुनन्दी श्रावकाचार में इनका चित्तौड़ में होना लिखा है। परन्तु चित्तौड़ के भट्टारकों की अलग की पट्टावली है, उसमें ये नाम नहीं पाये जाते। सम्भव है कि ये आचार्य ग्वालियर में ही हुए हैं। उनको ग्वालियर की पट्टावली से मिलाने पर निर्णय किया जा सकता है।

७९. प्रख्यातकीर्ति (१२६६)	८०. शुभकीर्ति (१२६८)
८१. धर्मचन्द्र (१२७१)	८२. रत्नकीर्ति (१२९६)
८३. प्रभाचन्द्र (१३१०)	ये ५ आचार्य अजमेर में हुए।
८४. पद्मनन्दि (१३८५)	८५. शुभचन्द्र (१४५०)
८६. जिनचन्द्र (१५०७)	ये ३ आचार्य दिल्ली में पट्टाधीश हुए।

इनके पश्चात् पट्ट २ भागों में विभक्त हो गया। एक गद्दी नागौर में स्थापित हुई और दूसरी चित्तौड़ में।

चित्तौड़ पट्ट के आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं :—

८७. प्रभाचन्द्र (१५७१)	८८. धर्मचन्द्र (१५८१)
८९. ललितकीर्ति (१६०३)	९०. चन्द्रकीर्ति (१६२२)
९१. देवेन्द्रकीर्ति (१६६२)	९२. नरेन्द्रकीर्ति (१६९१)
९३. सुरेन्द्रकीर्ति (१७२२)	९४. जगत्कीर्ति (१७३३)

---

१. कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे (माण्डलगढ़-मेवाड़-राजस्थान) श्री वसन्त कीर्तिना स्वामिना चर्यादि वेलायां तट्टी सादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चतीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवादवेषः।

. षट्प्राभृतटीका श्रुत सागर सूरीया, पृष्ठ २१—

९५. देवेन्द्रकीर्ति (१७७०) ९६. महेन्द्रकीर्ति (१७९२)
९७. क्षेमेन्द्रकीर्ति (१८१५) ९८. सुरेन्द्रकीर्ति (१८२२)
९९. सुखेन्द्रकीर्ति (१८५९) १००. नयनकीर्ति (१८७९)
१०१. देवेन्द्रकीर्ति (१८८३) १०२. महेन्द्रकीर्ति (१९३८)

नागौर भट्टारकों की नामावली :—

१. रत्नकीर्ति (१५८१) २. भुवनकीर्ति (१५८६)
३. धर्मकीर्ति (१५९०) ४. विशालकीर्ति (१६०१)
५. लक्ष्मीचन्द्र [........] ६. सहस्रकीर्ति
७. नेमीचन्द्र ८. यशकीर्ति
९. भुवनकीर्ति १०. श्री भूषण
११. धर्मचन्द्र १२. देवेन्द्रकीर्ति
१३. अमरेन्द्रकीर्ति १४. रत्नकीर्ति
१५. ज्ञान भूषण १६. चन्द्रकीर्ति
१७. पद्मनन्दि १८. सकल भूषण
९१. सहस्रकीर्ति २०. अनन्त कीर्ति
२१. हर्षकीर्ति २२. विद्या भूषण
२३. हेमकीर्ति—यह आचार्य १९१० माघ शुक्ला द्वितीया सोमवार को पट्ट पर बैठे। इनके पश्चात्
२४. क्षेमेन्द्रकीर्ति २५. मुनीन्द्रकीर्ति
२६. कनककीर्ति

नन्दि संघ की यह पट्टावलि वस्तुतः भट्टारक परम्परा की मूल पट्टावली है। इस पट्टावली के क्रम संख्या 3 पर उल्लिखित आचार्य माघनन्दी नन्दि संघ के मूल पुरुष अथवा आचार्य थे। और उनके नन्दी-अन्त नाम के आधार पर इस संघ का नाम नन्दि संघ प्रचलित हुआ। इस पट्टावली के सभी आचार्यों के लिये इसमें सात बार पट्टाधीश विशेषण और २ बार भट्टारक विशेषण का प्रयोग किया गया है। भट्टारक परम्परा के बलात्कार गण की पट्टावली में भी इस परम्परा के भट्टारकों के पूर्णतः वे ही नाम दिये हैं जो इसमें हैं।[1] अनेक शिलालेखों में भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस पट्टावली में जिन आचार्यों के नाम दिये हुए हैं वे भट्टारक थे। क्रम सं० ८४ पर उल्लिखित पद्मनन्दी का पट्टाभिषेक उनके गुरु प्रभाचन्द्र ने किया।[2] इन्हीं भट्टारक पद्मनन्दी के तीन शिष्यों से तीन भट्टारक परम्पराएं और उनसे अनेक शाखाएं प्रशाखाएं प्रचलित हुई।[3]

१. भट्टारक सम्प्रदाय" (जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, पृष्ठ २)
२ वही पृष्ठ ९१
३ वही पृष्ठ ९५

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि नन्दी संघ की यह पट्टावली वस्तुत : भट्टारक परम्परा की ही पट्टावली है और इस पट्टावली के तीसरे आचार्य माघनन्दी ही उस प्रथम स्वरूपवाली भट्टारक परम्परा के प्रवर्तक थे, जिस पर ऊपर विशद रूपेण प्रकाश डाला गया है।

इस पट्टावली के अतिरिक्त एक और भी बहुत बड़ा प्रबल प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करने वाला है कि उपरि वर्णित प्रथम स्वरूप की भट्टारक परम्परा के जनक आदि भट्टारक वस्तुतः भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य एवं आचार्य गुप्ति गुप्त के शिष्य माघनन्दी थे। वह प्रबल प्रमाण यह है कि इस पट्टावली में भट्टारक परम्परा का पांचवां पट्टाधीश आचार्य कुन्द कुन्द को बताया गया है, जो निर्विवाद रूपेण दिगम्बर परम्परा के पुनरुद्धारक, महान् क्रान्तिकारी पुनः संस्थापक माने गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दादा गुरु द्वारा संस्थापित भट्टारक परम्परा की नव्य नूतन मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह किया। वे माघनन्दी के शिष्य जिनचन्द्र के पास भट्टारक परम्परा में ही दीक्षित हुए। मेधावी मुनि कुन्द कुन्द ने अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् दिगम्बर परम्परा द्वारा सम्मत आगमों के निदिध्यासन-चिंतन-मनन से जब जिनेन्द्र-प्रभु द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप और तीर्थंकरों द्वारा आचरित श्रमण धर्म को पहिचाना तो उन्हें अपने प्रगुरु माघनन्दि द्वारा संस्थापित धर्म और श्रमणाचार विषयक मान्यताएं धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप के अनुरूप प्रतीत नहीं हुईं। उन्होंने संभवतः अपने प्रगुरु, गुरु और भट्टारक संघ द्वारा सम्मत उन कतिपय अभिनव मान्यताओं के समूलोन्मूलन और पुरातन मान्यताओं की पुनर्संस्थापना का संकल्प किया। इस प्रकार की अवस्था में गुरु-शिष्य के बीच, भट्टारक संघ और क्रान्तिकारी मुनिपुंगव कुन्द कुन्द के बीच क्रमशः विचार भेद, मनोमालिन्य, संघर्ष और अलगाव (पृथक्त्व) का होना स्वाभाविक ही था। प्रमाणाभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि वे स्वयं ही अपने गुरु से पृथक् हुए अथवा संघ द्वारा पृथक् किये गये। कुछ भी हो वे पृथक् हुए और जैसा कि उत्तरकालवर्ती सभी क्रियोद्धारकों—धर्मक्रान्ति के सूत्रधारों ने किया, ठीक उसी प्रकार मुनिपुंगव कुन्द कुन्द ने भी अपने गुरु और संघ की मान्यताओं के विरुद्ध क्रांति का शंखनाद फूंका। उस धर्म क्रान्ति में, उस क्रियोद्धार में कुन्द कुन्द को पर्याप्त सफलता मिली। भूली-बिसरी प्राचीन मान्यताओं की उन्होंने अपेक्षाकृत कड़ी कट्टरता के साथ पुनः संस्थापना की। स्वयं द्वारा की गई धर्मक्रान्ति की परिपुष्टि के लिये उन्होंने अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचनाएं कीं जो आज भी दिगम्बर परम्परा में आगम तुल्य मान्य हैं।

अपने गुरु से, अपने प्रगुरु द्वारा संस्थापित भट्टारक संप्रदाय से पृथक् हो जाने के कारण ही आचार्य कुन्द कुन्द ने कहीं अपने गुरु का नामोल्लेख तक नहीं किया है। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार आचार्य कुन्द कुन्द की

जितनी कृतियां उपलब्ध हैं, उनमें से किसी एक में भी आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने गुरु का नामोल्लेख तक नहीं किया है।

जिस प्रकार आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने गुरु का, साक्षात गुरु का अथवा विद्या गुरु का नामोल्लेख नहीं किया, उसी प्रकार भट्टारक परम्परा के आचार्य वीर सेन (धवलाकार वि. सं ८१६, ८३०), जिनसेन (जयधवलाकार, वि.सं. ८३७), गुणभद्र, लोकसेन (उत्तर पुराणकार वि.सं. ९५५) ने, हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन (विक्रम की नववीं शताब्दी) ने तथा तिलोयपण्णत्तिकार यतिवृषभ (वि.सं.५३५) ने अपने ग्रन्थों में आचार्य कुन्द कुन्द का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जाता है कि आचार्य कुन्द कुन्द भट्टारक परम्परा से पृथक् हुए थे अथवा पृथक् किये गये थे।

भगवान् महावीर के धर्म संघ के महान् आचार्य स्थूल भद्र ने चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु से १० पूर्वों का पूर्णरूपेण तथा शेष चार पूर्वों के सूत्र मात्र का अध्ययन कर श्रुत परम्परा को विलुप्त होने से बचाकर धर्म संघ की महती सेवा की। इसी कारण जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के भक्तों द्वारा नित्य प्रति निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से उनका सादर स्मरण किया जाता है:—

मगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतम:प्रभु।
मंगलं स्थूलिभद्राद्या:, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं।

उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा की प्राचीन मान्यताओं का पुनरुद्धार कर पुन: स्थापना करने के कारण आचार्य कुन्द कुन्द का, दिगम्बर परम्परा के भक्तों द्वारा प्रतिदिन भक्ति सहित निम्नलिखित रूप में स्मरण किया जाता है :—

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतम प्रभु:।
मंगलं कुन्द-कुन्दाद्या:, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं॥

इन सब तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि वीर निर्वाण की आठवी शताब्दी के अन्तिम समय से लेकर वीर नि० की १०वीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच किसी समय भट्टारक परम्परा के दूसरे स्वरूप की स्थापना हुई।[१]

इस पट्टावली में 'नन्दि' और 'कीर्ति' अन्त नाम वाले आचार्यों का बाहुल्य है। प्राय: सभी विद्वानों का, इतिहासविदों का अभिमत है कि नन्द्यन्त और कीर्त्यन्त नाम पूर्व काल में प्राय: यापनीय आचार्यों एवं श्रमणों के होते थे। अत: अनुमान किया जाता है कि भट्टारक परम्परा की इस पट्टावली में उस समय के

---

१. आचार्य माघनन्दी और आचार्य कुन्द कुन्द के समय के लिये आचार्य हस्ती मल जी मा. द्वारा रचित "जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २", पृष्ठ ७२८ से ७६८ द्रष्टव्य है।

महान् प्रभावक यापनीय परम्परा के भट्टारकों के भी नाम सम्मिलित कर लिये गये हों।

उपरिलिखित पट्टावली में प्रारम्भ के भट्टारकों का जो समय दिया गया है वह ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। उदाहरण के तौर पर भद्रबाहु द्वितीय का समय ई० सन् ४ उल्लिखित है किन्तु प्राचीन पुष्ट प्रमाणों से इनका समय दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य मान्य धवला आदि ग्रन्थों से अंगधर काल अर्थात् वीर नि. सं. ६८३ के पर्याप्त समय पश्चात् का सिद्ध होता है।

आचार्य विमल सेन के शिष्य आचार्य देव सेन द्वारा रचित भाव संग्रह में इन नैमित्तिक भद्रबाहु का समय विक्रम सं. १३६ तदनुसार वीर नि. सं. ६०६ उल्लिखित है।[1]

इन नैमित्तिक भद्रबाहु से पर्याप्त समय पश्चात् हुए आर्य माघनन्दि का समय वीर निर्वाण की आठवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक और नौवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच का सिद्ध होता है।[2]

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही अनुमान किया जाता है कि भट्टारक परम्परा का एक संघ के रूप में उदय (जिसे भट्टारक परम्परा के दूसरे स्वरूप की संज्ञा दी जा सकती है) वीर नि.सं. ७८४ के आस पास हुआ।

भट्टारक परम्परा के इस दूसरे स्वरूप के आचार्यों का क्रम सेन संघ (पंच स्तूपान्वयी) आचार्य वीर सेन (विक्रम सं. ८३० तदनुसार वीर नि. सं. १३००) के प्रगुरू भट्टारक चन्द्र सेन से इस परम्परा के ५२ वें भट्टारक वीर सेन (विक्रम सं. १९३६ से १९९५ तदनुसार वीर नि.सं. २४०६–२४६५) तक क्रमबद्ध उपलब्ध होता है।[3]

इस भट्टारक परम्परा के आचार्य वीर सेन ने षट्खण्डागम की धवला टीका, कषाय पाहुड़ की जयधवला २० हजार श्लोक प्रमाण, आचार्य जिन सेन ने जयधवला ४० हजार श्लोक प्रमाण, पार्श्वाभ्युदय आदि पुराण, उनके शिष्य गुण-

---

[1] छत्तीसे वरिस सए, विक्कम रायस्स मरण पत्तस्स।
सौरट्ठे उप्पण्णो, सेवड़ संघो हु वल्लहीए॥ ५२॥
आसी उज्जेणीणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण॥
जाणिय सुणिमित्तधरो, भणियो संघो णिओ तेण॥ ५३॥ —भावसंग्रह

[2] जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ ७६४

[3] भट्टारक सम्प्रदाय, प्रो. वी. पी. जोहरापुरकर, पृष्ठ १–३८

भद्र ने उत्तर पुराण आदि महान् ग्रन्थों की रचना कर जिनशासन की महती सेवा और उल्लेखनीय प्रभावना की है। इस परम्परा के पूर्वाचार्य प्रारम्भ में प्रायः नग्न, तदनन्तर अर्द्ध नग्न और एकवस्त्रधारी रहते थे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से सवस्त्र रहने लगे।

भट्टारक परम्परा का तीसरा स्वरूप

भट्टारक परम्परा का तीसरा स्वरूप है मुख्य रूप से सवस्त्र ही पञ्च महाव्रतों की श्रमण दीक्षा और मठाधिपत्य। भट्टारक परम्परा के इस तीसरे स्वरूप की संस्थापना ई. सन् १११० से ११२० के बीच किसी समय शिलाहार वंशीय कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य और उनके महासामन्त निम्बदेव की सहायता से उनके गुरु महा मण्डलेश्वर आचार्य माघनन्दी ने कोल्हापुर में की।

भट्टारक परम्परा की पृष्ठभूमि: – चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव, उत्कर्ष एकाधिपत्य, अपकर्ष और शनैः शनैः तिरोहित होने के सम्बन्ध में शोध के माध्यम से खोज कर प्राप्त की गई नवीन सामग्री के आधार पर विस्तृत विवरण एतद्विषयक पिछले अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है। सम्पूर्ण सावद्य योगों के पूर्ण त्यागी, निष्परिग्रही, तपस्वी तथा आगमानुसार कठोर श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमणों की मूल परम्परा के अधिकांश श्रमण भी चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव एवं उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तरोत्तर किस प्रकार शनैः शनैः शिथिलाचारी और सुसमृद्ध श्रीमन्त गृहस्थों से भी अधिक परिग्रही बन गये, यह आद्योपान्त पूरा विवरण भी चैत्यवासी परम्परा के परिचय विषयक अध्याय में विस्तार के साथ बता दिया गया है। अब प्रस्तुत अध्याय में भट्टारक परम्परा का यथाशक्य शोधपूर्ण परिचय विस्तारपूर्वक दिया जा रहा है, जिसका कि शताब्दियों तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में वर्चस्व रहा और वर्तमान में भी एक धर्मसंघ के रूप में सक्रिय है।

पिछले एक अध्याय में शोध के अनन्तर चैत्यवासी परम्परा की रीति-नीतियों एवं अन्यान्य कार्यकलापों का परिचय दिया गया है। उसके साथ भट्टारक परम्परा की रीति-नीतियों एवं अधिकांश कार्यकलापों का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्टतः यही प्रतीत होता है कि चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्षकाल में ही सर्वप्रथम सुदूर दक्षिण में भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ और भट्टारक परम्परा भी अपने प्रादुर्भाव काल से लेकर उत्कर्षकाल तथा अपकर्षकाल तक न्यूनाधिक चैत्यवासी परम्परा के ही पदचिन्हों पर चलती रही। चैत्यवासी परम्परा तो अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् शनैः शनैः क्षीण होते होते विक्रम सं० ११६७ की कार्तिक कृष्ण १२ की रात्रि में स्वर्गस्थ हुए जिनवल्लभसूरि के द्वारा इसके विरुद्ध किये गये प्रबल प्रचार के परिणामस्वरूप अति क्षीण और विक्रम की १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही पूर्णतः विलुप्त हो गई

किन्तु भट्टारक परम्परा अद्यावधि पर्यन्त भी एक सबल धर्म संघ के रूप में दक्षिणी प्रदेशों में विद्यमान है। आज चैत्यवासी परम्परा का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित संघपट्टक नामक ४० श्लोकों के मूल ग्रन्थ और उसकी टीका के आधार पर चैत्यवासी परम्परा की कतिपय मान्यताओं को संकलित कर उन पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु भट्टारक परम्परा के तो अद्यावधि पीठ तक विद्यमान हैं और इस परम्परा की मान्यताओं पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार इन दोनों परम्पराओं की मान्यताओं पर यत्किंचित् प्रकाश डालने वाली सामग्री के परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों परम्पराओं में मोटे रूप से केवल नामभेद का ही मूल अन्तर दृष्टिगोचर होता है। छत्र, चामर, सिंहासन, गद्दिका आदि आदि राजचिन्हों के साथ साथ गज, रथ, शिविकाएं, वाहन, दास, दासी, सोना, चांदी आदि विपुल परिग्रह चैत्यवासी परम्परा के आचार्य भी रखते थे और भट्टारक परम्परा के आचार्य भी। चैत्यवासियों के स्वामित्व में विशाल चैत्य होते थे तो भट्टारकों के स्वामित्व में सुविशाल मठ और चैत्य दोनों ही। चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों के पास अचल सम्पत्ति में से ग्राम एवं कृषिभूमि तथा चल सम्पत्ति में से गाय, भैंस, बैल आदि रहते थे कि नहीं, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण अद्यावधि उपलब्ध जैन वांग्मय में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भट्टारकों के पास, दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के भट्टारकों के अधिकार में ग्राम, कृषि भूमि, गाय, भैंस, बैल, आदि रहते थे, इस बात के अनेक पुष्ट प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। जैन जगत् के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् दलसुख भाई मालवणियां ने भी इसके प्रमाण स्वरूप अपने स्वयं के अनुभव सुनाते हुए लिखा है :—
"मैंने अपने अध्ययन काल में जयपुर में यतिजी को बग्घी गाड़ी में बैठकर जाते हुए रोज देखा है। मुंह पर मुंह पत्ति भी लगी देखी है।"

राजाओं एवं कोट्यधीशों के पहनने योग्य बहुमूल्य जरी के काम के और रेशमी वस्त्र चैत्यवासी परम्परा के आचार्य भी पहनते थे और भट्टारक परम्परा के आचार्य भी। इसी प्रकार राज्याश्रय भी चैत्यवासी और भट्टारक इन दोनों ही परम्पराओं को प्राप्त था।

वर्तमान काल में जनसाधारण की प्रायः यही धारणा है कि भट्टारक परम्परा का प्रचलन केवल दिगम्बर संघ में ही हुआ। परन्तु वस्तु स्थिति इससे भिन्न रही है क्योंकि श्वेताम्बर और यापनीय संघों में भी भट्टारक परम्परा प्राचीन काल में प्रचलित हुई थी। दिगम्बर परम्परा के भट्टारकों के समान यापनीय एवं श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारकों के भी अनेक स्थानों पर पीठ थे। यह भी अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर यापनीय और श्वेताम्बर इन—तीनों ही संघों में भट्टारक परम्परा का प्रचलन, नगण्य अन्तर को छोड़ लगभग एक ही समय में हुआ।

भट्टारक "परम्परा का उद्भव" काल :—अब सर्वप्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भट्टारक परम्परा शताब्दियों तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रही और दक्षिणी प्रदेशों में जिसके आज भी सुदृढ़ पुरातन पीठ विद्यमान हैं, उस वर्चस्विनी भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव वस्तुतः कब, कहां और किन परिस्थितियों में हुआ ?

इस सम्बन्ध में अद्ययुगीन विद्वानों ने भट्टारक परम्परा से सम्बन्धित उपलब्ध ऐतिहासिक उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में, ऊहापोह चिन्तन मनन करने के पश्चात् यही अभिमत व्यक्त किया है कि भट्टारक परम्परा की स्थापना किस आचार्य के द्वारा किस समय, किन परिस्थितियों में और कहां [किस स्थान] पर की गई, इस सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से कुछ भी कहना असंभव है । आधुनिक विद्वानों द्वारा यथाशक्य शोध के पश्चात् जो अभिमत व्यक्त किया गया है, वह इस प्रकार है :—

"इस ग्रन्थ [भट्टारक सम्प्रदाय] के विभिन्न प्रकरणों के प्रारम्भिक परिच्छेदों से ज्ञात होगा कि अधिकांश भट्टारक परम्पराओं के ऐतिहासिक उल्लेख चौथी शताब्दी से प्राप्त होते हैं । इसलिये भट्टारक प्रथा अमुक आचार्य ने अमुक समय प्रारम्भ की, यह कहना असम्भव है ।"[१]

इस प्रकार भट्टारक परम्परा के जन्मकाल के सम्बंध में अब तक की गई खोज के आधार पर अभिव्यक्त किया गया यह एक पहला अभिमत है । इस स्पष्ट अभिमत के अतिरिक्त परस्पर एक दूसरे से भिन्न दो और अस्पष्ट अभिमत भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें भट्टारक परम्परा का स्पष्टतः नामोल्लेख तो नहीं है किन्तु उनमें परम्पराविशेष के श्रमणों के आचार-व्यवहार का जो उल्लेख किया गया है, वह भट्टारक परम्परा के आचार-विचार-व्यवहार आदि से मिलता-जुलता है ।

उन शेष दो अस्पष्ट अभिमतों में से पहला अभिमत है देवसेन नामक आचार्य का । आचार्य देवसेन ने प्राचीन गाथाओं का संग्रह-संकलन कर विक्रम सं. ९९० में[२] **"दर्शनसार"** नामक ५१ गाथाओं के एक अतिलघुकाय ग्रन्थ की रचना

की। दिगम्बर परम्परा के इतिहासविदों तथा इतिहास में अभिरुचि रखने वाले दूसरे विद्वानों ने भी कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों के निर्णय के सम्बन्ध में देवसेन के 'दर्शनसार' को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। भट्टारक परम्परा का प्रत्यक्ष रूप से नाम न लेकर परोक्ष रूप में संभवतः इसी परम्परा के उद्भव-काल के सम्बन्ध में आचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' में लिखा है :—

सिरि पुज्जपाद सीसो, दाविड़संघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदि, पाहुडवेदी महासत्तो ।। २४ ।।

अप्पासुय चणयाणं, भक्खणदो वज्जिदो मुणिंदेहिं।
परिरइयं विवरीयं, विसेसियं वग्गणं चोज्जं ।। २५ ।।

वीएसु णत्थि जीवो, उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
सावज्जं ण हु मण्णइ, ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ।। २६ ।।

कच्छं खेत्तं वसहिं, वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयल णीरे, पावं पउरं स संजेदि ।। २७ ।।

पंच सए छव्वीसे, विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स।
दक्खिण महुरा जादो, दाविड संघों महामोहो ।। २८ ।।

अर्थात्—श्री पूज्यपाद के दुष्ट शिष्य वज्रनन्दि ने द्राविड़संघ की स्थापना की। यह वज्रनन्दि प्राभृतों का ज्ञाता और महासत्वशाली था। अप्राशुक चने खाने का जब उसे मुनियों ने वर्जन किया तो उसने जिनेन्द्र के प्रवचनों से विपरीत प्रायश्चित आदि के नवीन शास्त्रों की रचना की। बीजों में जीव नहीं होते, उद्भ्रशन अथवा प्राशुक नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार की उसने प्ररूपणा की। वह वज्रनन्दि सावद्य असावद्य को नहीं मानता और न गृहीकल्पित आदि को ही मानता है। वज्रनन्दि का द्रविड़संघ खेती बाड़ी के माध्यम से, वसतियों के निर्माण से तथा व्यापार आदि करवा कर जीवनयापन करता। शीतल कच्चे जल में स्नान करता हुआ प्रचुर पाप का संचय करता। महाराजा विक्रम के देहावसान के ५२६ वर्ष (वीर नि० सं० ९९६) पश्चात् दक्षिण मथुरा में महामोहपूर्ण द्रविड़ संघ उत्पन्न हुआ।

[पृष्ठ १४५ का शेष]

स्थापना की। इन दोनों पदों की ओर ध्यान देते तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० सं० ९०९ मानने जैसी भूल नहीं करते। क्योंकि वि० सं० ९५३ में घटित घटना का उल्लेख वि० सं० ९०९ में दृब्ध ग्रन्थ में नहीं हो सकता। वास्तव में गाथा सं० ५० में 'णवसए णवए' के स्थान पर 'णवसए णवईए' होना चाहिये। उसी दशा में यह संगत होगा कि वि० सं० ९९० में रचित ग्रन्थ में वि० सं० ९५३ में घटित घटना का उल्लेख किया गया।

—सम्पादक

द्रविड़ संघ के जिस प्रकार के आचरण का, मठ–मन्दिर, वसति–निर्माण, शीतल जल से स्नान और कृषि वाणिज्य आदि से जीवन-यापन का उल्लेख आचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' में किया है, ठीक उसी से मिलता-जुलता आचरण भट्टारकों का था, यह एक निर्विवाद तथ्य है। इस प्रकार द्रविड़ संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो यह उल्लेख दर्शनसार में मिलता है, वह एक प्रकार से परोक्ष-रूपेण भट्टारक परम्परा की उत्पत्ति का ही उल्लेख प्रतीत होता है। इस प्रकार भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में अस्पष्ट अथवा स्पष्ट जो भी माना जाय यह दूसरा अभिमत है।

बिना किसी परम्परा विशेष का नामोल्लेख किये, भट्टारक परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीसरा उल्लेख श्रुतसागरसूरि का षट्प्राभृत टीका का उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :—

"कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादि वेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुंचतीत्युपदेशः कृतः संयमिनामित्यपवादवेषः।"[1]

अर्थात्—कलिकाल में मुनियों को नग्न देख कर म्लेच्छादिक उपद्रव करते हैं। इस कारण मण्डप दुर्ग में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने भिक्षाटन के समय मुनियों को चटाई अथवा तापड़ एवं चादरा आदि से शरीर को (नग्नता को) ढंक (आच्छादित) कर भिक्षाचरी करने और भिक्षाचरी कर चुकने के अनन्तर पुनः चादर आदि का परित्याग करने का उपदेश दिया। यह अपवाद वेष है।

इस उल्लेख में भट्टारक परम्परा का कहीं कोई नाम नहीं दिया गया है। ऐसी स्थिति में यह कह देना कि वसन्तकीर्ति स्वामी ने भट्टारक परम्परा की स्थापना की—किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इस कथन का मूल्य एक निराधार अनुमान से अधिक नहीं आँका जा सकता। इसके अतिरिक्त भट्टारक परम्परा के आचार्यों की जो शोधपूर्ण सूची श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने अपनी रचना "भट्टारक संप्रदाय" के परिशिष्ट ३ में दी है, उसके अनुसार भट्टारक वसन्त-कीर्ति के केवल दो उल्लेख उपलब्ध हुए हैं। पहला उल्लेख है बलात्कारगण मन्दिर अंजनगांव का और दूसरा उल्लेख है "जैन सिद्धान्त भास्कर, त्रैमासिक, भा० १, किरण ४, पृ० ५२ का। पहला उल्लेख वि. सं. १२६४ का है, जो इस प्रकार है :—

"संवत् १२६४ माह सुदि ५ वसन्तकीर्तिजी, गृहस्थ वर्ष १२, दीक्षा वर्ष २०, पट्ट वर्ष १, मास ४, दिवस २२, अन्तर दिवस ८, सर्व वर्ष ३३ मास ५ बघेर-वाल जाति, पट्ट अजमेर।"[2]

---

1. षट् प्राभृत टीका पृष्ठ ३१
2. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक २२३, पृ० ८६

दूसरा उल्लेख इस प्रकार है :—

सैद्धान्तिकाभयकीर्तिर्वनवासी महातपा ।
वसन्तकीर्तिर्व्याघ्रांह्रिसेवितः शीलसागरः ॥२१॥[1]

वसन्तकीर्ति के समय के सम्बन्ध में सूचना देने वाला बलात्कार गण मन्दिर, अंजनगांव का उपरिवर्णित केवल एक ही लेख है, और वह लेख है सं. १२६४ का। ऐसी स्थिति में वि. सं. १२६४ में हुए वसन्तकीर्ति को भट्टारक परम्परा का संस्थापक आचार्य मानना वस्तुतः किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि विक्रम की १३ वीं शती से बहुत पहले की अनेक ग्रन्थप्रशस्तियों एवं लेखों से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि इससे अनेक शताब्दियों पूर्व भट्टारक परम्परा के अनेक आचार्यों ने अनेकों महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएं की थीं, जिनमें भट्टारक जिनसेन और भट्टारक गुणभद्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

भट्टारक वीरसेन ने विक्रम सं. ८३० में षट्खण्डागम-टीका धवला[2] की, भट्टारक जिनसेन ने शक सं. ७५६ (वि. सं. ८६४) में कषाय पाहुड की टीका जय धवला[3] की और भट्टारक गुणचन्द्र ने शक सं. ८२० (वि. सं. ६५५) उत्तर पुराण[4] की रचना की थी। ऐसी स्थिति में वसंतकीर्ति स्वामी ने भट्टारक सम्प्रदाय की स्थापना की, यह कथन तो नितांत अविश्वसनीय एवं अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है। आचार्य देवसेन द्वारा दर्शन सार में किया गया उपर्युल्लिखित उल्लेख स्पष्टतः द्रविड़ संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में है न कि भट्टारक परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में। अतः दर्शनसार के इस उल्लेख से भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव का समय निर्णीत करने का प्रयास कल्पना की उडान से अधिक और कोई महत्व नहीं रखता।

---

१. 'भट्टारक सम्प्रदाय'—लेखांक २२४ पृ० ८६

२. ....भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥
अट्ठतीसम्हि सासिय, विक्कमरायम्हि एसु संगरमो।
पासे सुतेरसीए, भावविलग्गे धवलपक्खे ॥—धवला प्रशस्ति—

३. एकोनषष्टि समधिक सप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता, जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥
—कसायपाहुड टीका जयधवला—प्रशस्ति—

४. ....
गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीण कालानुरोधेण ॥२०॥
शकनृपकालाभ्यन्तर विंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
.... ॥३५॥
.... ।
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत् पुराणम् ॥३६॥
—उत्तरपुराण—प्रशस्ति—

ऐसी स्थिति में आधुनिक विद्वानों के इस अभिमत पर ही विश्वास कर संतोष कर लेने को मन करता है कि "भट्टारक परम्परा की स्थापना किसने, किस समय और किस स्थान पर की, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना असंभव है।" खोज का क्षेत्र विस्तीर्ण है। शोधकर्त्ताओं की दृष्टियां भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। संभव है कुछ तथ्यों के महत्व पर शोधकर्त्ताओं की दृष्टि न पहुंची हो, उनकी दृष्टि से वे ओझल रह गये हों अथवा दृष्टि में आ जाने पर भी उनकी शोध दृष्टि में उन्हें वे उपयोगी प्रतीत न हुए हों। ऐसी स्थिति में कुछ और प्रयास करने पर अन्धकार में विलीन कुछ तथ्यों को प्रकाश में लाया जा सकता है, इस विषय में कोई नवीन उपलब्धि की जा सकती है। इस आशा का अवलम्बन ले इस दिशा में कुछ और खोज और छानबीन की गई।

ऐतिहासिक तथ्यों की खोज के अभियान में गवर्नमेंट ओरियेन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी बिल्डिंग, मद्रास की हस्तलिखित प्रतियों के संग्रह को देखते समय कन्नड़ भाषा के लगभग २५० वर्ष पूर्व लिखे गये 'जैनाचार्य परम्परा महिमा, नामक एक प्राचीन ग्रन्थ को देखने का अवसर मिला। वहां के अधिकारियों के सौजन्य से इस कन्नड़ लिपि में लिखे ग्रन्थ की देवनागरी लिपि की प्रति प्राप्त हुई। उसे पढ़ा तो उसमें भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव के साथ-साथ किन परिस्थितियों में, किस समय और किसने भट्टारक परम्परा को आधुनिक परिवेश में सर्वप्रथम जन्म दिया इन सब बातों का स्पष्ट एवं सुविस्तृत विवरण उपलब्ध हो गया। इस विस्तृत विवरण के साथ उसमें भट्टारक सम्प्रदाय के मुख्य पीठाधीश दक्षिणाचार्य पट्ट परम्परा के आचार्यों की अनुक्रमशः नामावली और कतिपय आचार्यों का आवश्यक परिचय भी दिया गया है। अनुष्टुप छन्द के ३४९ श्लोकों के इस ग्रन्थ में भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव से पूर्व की परम्परा का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है जो इस प्रकार है :—

भट्टारक परम्परा से पूर्व :—"महामहिम गणाधिनाथ गौतम के पश्चात् उनकी लोकाचार्य (प्रभु महावीर के सम्पूर्ण संघ के एक मात्र आचार्य) परम्परा के श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् की लोकाचार्य परम्परा में अष्टांग निमितज्ञ आगम निष्णात अर्हद्बलि आचार्य हुए। बहुत से मुनियों के साथ जिस समय वे उज्जयिनी में थे, उस समय वर्षाकाल के आगमन से पूर्व अर्हद्बलि की आज्ञानुसार अनेक मुनि वर्षावास हेतु विभिन्न प्रदेशों में चले गये और कतिपय मुनि उनके साथ उज्जयिनी में ही रहे। वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर विभिन्न प्रदेशों में गये हुए वे मुनि अपने-अपने शिष्य समूह सहित उज्जयिनी लौटे और आचार्य अर्हद्बलि को वन्दन-नमन कर समुचित स्थान पर बैठ गये। उन्होंने अर्हद्बलि से निवेदन किया—आचार्य भगवन्! हम लोग अपने-अपने शिष्य समूह सहित पुनः आपकी सेवा में लौट आये हैं। "अपने-अपने शिष्य समूह सहित" इन शब्दों को सुनते ही आचार्य अर्हद्बलि ने अनुभव किया—यह सब काल का प्रभाव है

कि इन श्रमणों के मन में ममीकार ने घर कर लिया है। यह शिष्य वर्ग मेरा है, वह शिष्य वर्ग उसका है, इस प्रकार के ममत्वभाव से तो धर्म का ह्रास होगा और अंततोगत्वा धर्म की अवनति हो जायेगी।" इस तरह विचारकर उन्होंने पृथक्-पृथक् गणों की व्यवस्था करते हुए कहा—"जो मुनिमुख्य पूर्व दिशा से आये हैं, वे आज से पूर्वाचार्य, दक्षिण दिशा से आये हैं, वे दक्षिणाचार्य, पश्चिम दिशा से आये हैं, वे पश्चिमाचार्य और जो उत्तर दिशा से आये हैं वे उत्तराचार्य के नाम से अभिहित किये जायेंगे। पूर्वाचार्य के संघ का नाम सेन संघ, दक्षिणाचार्य के संघ का नाम नन्दिसंघ, पश्चिमाचार्य के संघ का नाम सिंह संघ और उत्तराचार्य के संघ का नाम देवसंघ होगा।" इस प्रकार अर्हद्बली आचार्य ने श्रमण संघ को चार संघों में विभक्त किया।

इस प्रकार चार गणों की स्थापना के पश्चात् दक्षिणाचार्य विरुदधर महाप्राज्ञ आचार्य चन्द्रगुप्त नन्दिसंघ के अधिनायक आचार्य हुए, जिनके बारे में यह प्रसिद्ध था कि आचार्य चन्द्रगुप्त के उग्र तपश्चरण के प्रभाव से उनके तपोवन में मृग—व्याघ्रादि पशु पारस्परिक जन्मजात वैर को भुलाकर साथ-साथ रहते थे। वन देवता उन महातपस्वी आचार्य की अहर्निश सेवा उपासना करते रहते थे। उनका वचनमात्र ही व्यन्तर—बाधा, सिंह-व्याघ्रादि पशुओं के प्राणापहारी उपसर्ग और सभी प्रकार के स्थावर—जंगम विष आदि का निवारण करने में महामन्त्र तुल्य समर्थ था। उन महामुनि आचार्य चन्द्रगुप्त के अन्वय में अर्थात् वंश में लोक—प्रसिद्ध आचार्य पद्मनन्दि हुए।

उन पद्मनन्दि आचार्य के ही कुन्दकुन्द और उमास्वाति ये दो नाम बताये जाते हैं। लोग उन्हें गृध्रपिच्छाचार्य के नाम से भी जानते और चारण (खेचरी) ऋद्धि से सम्पन्न मानते थे। इन कुन्द कुन्द आचार्य के आचार्यकाल में नन्दिसंघ में संयोगवशात् सभी मुनि देशीय[1] अर्थात् उस युग में 'देश' नाम से प्रसिद्ध स्थान विशेष के गृहस्थों में से ही श्रमण धर्म में दीक्षित हुए थे, इस कारण नन्दिसंघ का नाम आ० कुन्दकुन्द के आचार्यकाल में ही लोकों में देशी गण के गुणवाचक नाम से प्रसिद्ध अथवा रूढ़ हो गया।[2]

---

१. कहीं-कहीं कोई क्षेत्र आज भी देश के नाम से पहचाना जाता है।

२. कुन्दकुन्दस्य कालेऽस्य, नन्दिसंघे हि केवलम्।
सर्वेऽपीतीह देशीयाः, संजाताः मुनिपुंगवाः ॥७५॥
तस्माद्देशीय गणेत्याख्यानं लोकात्समागतम्।
कुण्डकुन्द-मुनीन्द्रस्य, काले तत्संघ संगतम् ॥७६॥

—जैनाचार्य परम्परा महिमा, हस्तलिखित प्रति, ओरियेन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स, लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी (मेकेन्जे कलेक्शन्स)।

आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य वीरनन्दि आचार्य पद पर आसीन हुए। वीरनन्दि के शिष्य-श्रमणों की संख्या ५००१ थी। इन्हीं ने चम्पापुर में चन्द्रप्रभ (चरित्र) नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की। आचार्य वीरनन्दि के पश्चात् उनके पट्टधर गोल्लाचार्य हुए। गोल्लाचार्य कुमारावस्था में ही दीक्षित हो गये थे। तपश्चरण के प्रभाव से उन्हें किसी लब्धिविशेष की उपलब्धि हो गई। विशिष्ट लब्धि की प्राप्ति के कारण उनके अन्तर्मन में सत्ता एवं ऐश्वर्य के सांसारिक सुखोपभोग के प्रति मोह जागृत हुआ। श्रमणत्व का परित्याग कर लब्धि के प्रभाव से वे गोल्ल प्रदेश के अधिपति बन गये और महाराजा गोल्लाचार्य के नाम से प्रख्यात हुए।

उन गोल्लाचार्य के राजसिंहासनारूढ़ हो जाने पर अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सिद्धान्ताग्रणी उनके पट्टधर आचार्य हुए। ये पद्मनन्दि कौमारदेव के नाम से विख्यात हुए।

इन कौमारदेव के पश्चात् **उनके शिष्य शाकटायन आचार्य पद पर आसीन हुए। देशीय गण के सकल विद्यावारिधि महाविद्वान् आचार्य शाकटायन ने शाकटायन शब्दानुशासन और उसकी अमोघवृत्ति की रचना की।**[1] इन प्रकाण्ड विद्वान् शाकटायन के पट्टधर कुलभूषण हुए। उन कुलभूषण आचार्य के गुरुभ्राता (शाकटायन के ही शिष्य) पण्डिताचार्य विरुदधर प्रभाचन्द्र हुए जिन्होंने शाकटायन सूत्र पर सवा लाख श्लोक प्रमाण न्यास मार्तण्ड की तथा न्यास कुमुद चन्द्रोदय नामक तर्कशास्त्र की रचना की। धाराधिनाथ राजा भोज सदा इनकी पूजा-सेवा करते थे।

आचार्य कुलभूषण के पश्चात् पण्डिताचार्य प्रभाचन्द्र के अग्रज देवनन्दी आचार्य पद पर आसीन हुए, जो समस्त शास्त्रों के पारगामी विद्वान् थे। उनका बुद्धिवैभव अलौकिक एवं अनुपम था, इसी कारण जिनेन्द्र बुद्धि के नाम से तथा आपके चरण सरोज देवताओं एवं राजा-महाराजाओं द्वारा पूजित होने के कारण पूज्यपाद के नाम से भी आपकी ख्याति सर्वत्र प्रसृत हुई। पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि विरुद के धारक इन्हीं श्री देवनन्दी आचार्य ने विना किसी अन्य की सहायता के श्रुतसागर का मथन कर "जैनेन्द्र" व्याकरण का उद्धार किया। ज्ञानपिपासुओं के कल्याण के लिये आपने पाणिनीय सूत्रों पर भी वृत्ति की रचना की। इन्हीं आचार्य देवनन्दी ने तत्वार्थसूत्र-टिप्पण, पूजाविधि संहिता, ज्योतिष शास्त्र सुज्ञान दीपिका, छन्द शास्त्र पर सद्वृत्त कल्पद्रुम और वैराग्यरस से ओतप्रोत समाधिशतक आदि ग्रन्थों की रचनाएं कीं। पादलेप-औषधि के प्रभाव से गगनमार्ग में गमन करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने महा विदेह क्षेत्र में जाकर तत्र विराजित तीर्थंकर भगवान् श्रीमन्धर स्वामी के दर्शन किये। तीर्थंकर प्रभु से वहां अपने कतिपय संशयों का समाधान कर वे पुनः आकाश मार्ग से भरत-क्षेत्र में लौट आये। आकाश-मार्ग से लौटते

---

१. शाकटायन शब्दानुशासन, अमोघवृत्ति सहित के कर्त्ता शाकटायन यापनीय थे।

समय सूर्य की प्रखर किरणों के तीव्र ताप से उनके नेत्रों की ज्योति लुप्तप्राय: हो गई। बंकापुर के जिनालय में आपने शान्तिनाथ भगवान् के स्तोत्र की रचना की। उस स्तोत्र के प्रभाव से आपकी खोई हुई नेत्र-ज्योति आपको पुन: प्राप्त हो गई। दृष्टि की पुन: प्राप्ति के पश्चात् आपने जिनवाणी के प्रवचनामृत की वर्षा करते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। जिनशासन-प्रभावक आचार्य अकलंक, कुलभूषण और योगीन्द्र ये आपके समसामयिक अथवा गुरुभाई थे।

पूज्यपाद जिनेन्द्रबुद्धि के पश्चात् कुलचन्द्र को आचार्य पद पर आसीन किया गया। कुलचन्द्र के पश्चात् उनके पट्टधर आचार्य माघनन्दि हुए। उन्हें लोग जैन-सिद्धान्त-चक्रवर्ती एवं कोल्लापुर-मुनीश्वर के नाम से भी अभिहित किया करते थे। माघनन्दि मन, वचन, कायगुप्ति से गुप्त, विशुद्ध श्रमणाचार के परिपालक और निमित्तशास्त्र के पारदृश्वा विद्वान् आचार्य थे।

विकट परिस्थितियों में भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव :— आचार्य माघनन्दि के समय में, कोल्लापुर के राजसिंहासन पर वीर शिरोमणि राजाधिराज महाराजा गण्डादित्य आसीन था। उसको सुविशाल चतुरंगिणी सेना का सेनापति निम्बदेव नामक सामन्त था। सेनापति निम्बदेव उच्च कोटि का रणनीति-विशारद यशस्वी योद्धा था।

एक दिन महाराजा गण्डादित्य अपने वशवर्ती राजाओं, सामन्तों एवं प्रधानों के साथ राजसभा में बैठा हुआ था। धर्म चर्चा के प्रसंग में चक्रवर्ती भरत के वैभव, उनके द्वारा निर्मित करवाये गये चैत्यालयों, प्रतिष्ठा विधि आदि के विवरण सुनकर राजा गण्डादित्य अतीव प्रमुदित हुआ। अवसर के ज्ञाता सेनापति निम्बदेव ने अपने स्वामी को परम प्रसन्न मुद्रा में देखकर उनसे निवेदन किया—"राज राजेश्वर! बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके चरणों में मस्तक झुकाते हैं। आपका ऐश्वर्य एवं वैभव अनुपम है। इस कलिकाल में आप ही चक्रवर्ती हैं। अत: आप भी भरत चक्रवर्ती के समान चैत्यादि का निर्माण प्रतिष्ठा आदि धर्म कार्यों से जैनधर्म की अभिवृद्धि कीजिये।"

अपने सेनापति का सुझाव गण्डादित्य को अत्यन्त रुचिकर लगा। उसने अपने पुरोहित एवं प्रधानों को तत्काल आदेश दिया कि चैत्यालयों का निर्माण करवाया जाय। महाराजा गण्डादित्य के आदेशानुसार स्थान-स्थान पर चैत्यों के योग्य सभी भांति श्रेष्ठ भूमि के चयन के साथ ही चैत्यों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। और इस प्रकार कुछ ही समय में कोल्लापुर नगर के विभिन्न भागों में, महाराज गण्डादित्य की आकांक्षा के अनुरूप कुल मिलाकर ७७० सुन्दर चैत्यों का निर्माण सम्पन्न हुआ। अपनी इच्छा के अनुरूप चैत्य निर्माणकार्य के सम्पन्न होने पर महाराजा गण्डादित्य अपने सेनापति आदि प्रधानों के साथ आचार्य माघ-

नन्दि की सेवा में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन आदि के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने विनयपूर्वक आचार्य माघनन्दि से निवेदन किया "काम-क्रोध-मद-मोह-अज्ञान-तिमिर विनाशक दिनमणे ! पूज्य आचार्यदेव ! आपके कृपा प्रसाद से ७७० चैत्यालयों का निर्माण हो चुका है। अब आप विचार कर जैसा उचित समझें, वही करें।"

आचार्य माघनन्दि ने कहा—"राजन् ! इन विषम परिस्थितियों में तुम्हारे इस पाषाण संग्रह पर क्या विचार किया जाय। इस विपुल व्यय का आखिर फल क्या है ?" [1]

आचार्य माघनन्दि की बात सुनकर गण्डादित्य भयोद्रेक से क्षण भर के लिए अवाक् रह गया। अपने आपको आश्वस्त कर उसने कहा—"आचार्य-प्रवर ! इससे बढ़कर अन्य और क्या शुभ काम है ? मैं तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता। कृपा कर आप ही बताइये। क्योंकि गुरु का उपदेश ही गृहस्थों के लिये मार्गदर्शक, आदर्श और आचरणीय है।

गण्डादित्य के मुर्झाये हुए मन को उल्लास से आपूरित करते हुए मन्द मुस्कान के साथ आचार्य माघनन्दि ने कहा—"राजन् ! आराधकों के अभाव में, भला आज तक कहीं आराध्य अस्तित्व में रहे हैं ? जिनबिम्ब आराध्य हैं और उनकी आराधना के लिए भव्य आराधकों की आवश्यकता सदा रहती है। लोगों को बोध दिया जायगा तभी तो वे प्रबुद्ध हो जिनदेव के आराधक बनेंगे। यह तो तुम जानते ही हो कि संसार में तीर्थंकर भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी भव्य स्वयंबुद्ध नहीं होता। लोगों को धर्म का बोध कराने के लिये साधुओं की, धर्मोपदेशकों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। भव्यजन-प्रतिबोधक साधुओं के अभाव में लोगों को बोध कैसे होगा और वे जिनाराधक साधक किस प्रकार बनेंगे ? साधुओं के अभाव की आज की स्थिति में बोधक साधुओं को तैयार करना ही जिनशासन की प्रभावना का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।"[2] इस कलिकाल में लोग राजाओं के अधीन होते हैं। आज साधुओं का अभाव होता जा रहा है। अतः "राजन् ! आप आगम-

---

[1] इत्युक्ते नरपाले हि, मुनीन्द्रोऽप्यब्रवीत् पुनः।
इदानीमवधार्य किं, तव पाषाणसंग्रहे ।।११८।।
किमस्ति फलमेतेन, व्ययेनेति प्रचोदिते। .... ।।११६।। जैनाचार्य पर० म०

[2] तस्माद् बोधक एवात्र, मुख्यं मार्गव्यवस्थितौ।
बोधकेन विना किंचिन्न हि कार्यं जगत्त्रये ।।१२५।।
कार्यमस्ति समालोच्यं, तद्वच्मि समनन्तरम्।
प्रतिष्ठां कुरु कृत्वेतत्, पूर्वं शास्त्रावलम्बनम् ।।१२६।।
—जैनाचार्य परम्परा महिमा, (अप्रकाशित)—

ज्ञान को धारण करने योग्य सुपात्रों को चुन-चुन कर श्रमणत्व अंगीकार करने के लिये उन्हें प्रेरणा कीजिये। और इस प्रकार साधु तैयार कर जिनशासन की प्रभावना का कार्य करिये।"

महाराजा गण्डादित्य को अपने आचार्य का इस प्रकार का निर्देश रुचिकर लगा। उसने कुछ विचार कर कहा—"आचार्य देव ! सुपात्र कैसे होने चाहिये ? सुयोग्य पात्रों के चयन के पश्चात् उन्हें शास्त्राध्ययन कराने एवं श्रमणत्व अंगीकार करने के लिये किस प्रकार कृतसंकल्प बनाना चाहिये ? इस कार्य के निष्पादन के लिये आप कृपा कर मुझे आद्योपान्त पूरी विधि स्पष्टतः समझाइये।"

आचार्य माघनन्दि ने कहा—"राजन् ! शास्त्रज्ञान को धारण करने के लिये योग्य सुपात्र वही है, जो स्वस्थ, निरालस्य, सुतीक्ष्णबुद्धि, उत्कृष्ट स्मरणशक्तियुक्त, सर्वकार्यकुशल, वाक्पटु और वाह्याभ्यन्तर दोनों ही दृष्टियों से विशुद्ध हो। इस प्रकार के सुपात्र को प्राप्त करने का जहां तक प्रश्न है, इसमें उत्कृष्ट नीतिनैपुण्य एवं सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम ऐसे सुपात्र को सम्मान तथा अनुदान से आकर्षित करने का प्रयास करना चाहिये। यदि सम्मान-अनुदान से भी वह सुपात्र प्राप्त न हो सके तो उसे फिर किसी व्याज अर्थात् प्रपंचपूर्ण उपाय से येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर ही लेना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार व्याज के माध्यम से उसका प्राप्त करना भी उसके लिए, उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए हितकर ही सिद्ध होगा। इस प्रकार संयमसाधना एवं जिनशासन की प्रभावना कर भव्य भक्त देव, देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि पदों के सौख्योपभोग के अनन्तर अन्ततोगत्वा मोक्ष का अधिकारी भी हो सकता है।"[1]

आचार्य माघनन्दि से इस प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त कर गण्डादित्य वड़ा सन्तुष्ट हुआ और सेनापति निम्बदेव एवं प्रधानामात्यादि के साथ राजप्रासाद में लौट आया।

कतिपय दिनों के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने एक दिन अपने नगर के श्रावकों को राज्यसभा में ससम्मान आमन्त्रित कर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"महानुभावो ! आप सब जैन धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाले सम्माननीय श्रावक हैं। आप लोग ही वस्तुतः भवभ्रमण से उद्धार करने वाले धर्म के आधारस्तम्भ हैं। आपके विना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं। क्योंकि विना आधार के भी भला कहीं कभी कोई आधेय अस्तित्व में रहा है। इसी कारण आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इसके आधारभूत अवलम्बन वने हुए हैं। यह तो आप सभी भली-भांति

---

[1] सन्मानमनुदानं वा, व्याजान्नरमसाधिते। ताभ्यां हि तदुपायं भूववनाथाधिनायक ॥१३३॥
सुरोरगनरेन्द्राणां, लब्ध्वा परमवैभवम्। मोक्षानुगमनं तस्य व्यवस्था नरनायक ॥१३४॥
—जैनाचार्य परम्परा महिमा, अप्रकाशित—

जानते ही हैं कि धर्म-प्रभावना धर्म के अभ्युदय एवं अभ्युत्थान का प्रमुख अंग है और धर्म की प्रभावना शास्त्र के बिना कभी संभव नहीं। शास्त्र भी उसके ज्ञान को धारण करने वाले सुपात्र के बिना सक्षम नहीं। ऐसी स्थिति में आपको मेरे साथ सहयोग कर शास्त्रों के ज्ञान को धारण करने में पूर्णतः समर्थ सुपात्र उपलब्ध कराने का अन्तर्मन से प्रयास करना चाहिए। यह कार्य निश्चित रूप से स्वर्ग तथा अपवर्ग का सौख्य प्रदान कराने वाला है। सर्वप्रथम मैं स्वयं धर्मसंघ को इस कार्य हेतु अपना पुत्र धर्मसन्तति के रूप में समर्पित करता हुआ आपसे भी सानुरोध निवेदन करता हूं कि आप लोग भी अपना एक-एक पुत्र धर्मसंघ को धर्मसन्तति के रूप में समर्पित कर धर्मसंघ की धर्मसन्तति की अभिवृद्धि में सहायक बनें।"

नृपति गण्डादित्य की इस घोषणा से हर्षोत्फुल्ल हो दण्डनायक ने तत्काल सबको सम्बोधित करते हुए कहा—"सबके अन्तर्मन को आनन्दित कर देने वाली हमारे नरेश्वर की घोषणा वस्तुतः हम सबके लिये परम कल्याणकारिणी एवं अनुकरणीय है। हमें इसे अपने स्वामी के आदेश के रूप में शिरोधार्य करना चाहिये। मैं भी सहर्ष अपना एक पुत्र संघ को समर्पित करता हूं। मैं आशा करता हूं कि आप सब भी अपना एक-एक पुत्र संघ को समर्पित कर हमारे धर्मनिष्ठ नरेश्वर का अनुसरण करेंगे।"

अपने महाराजाधिराज और दण्डनायक की बात सुनकर समस्त श्रावक समूह शोकाकुल हो गया। मन्द-सम्भाषण पूर्वक परस्पर विचार-विमर्श कर वे श्रावक जन अत्यन्त दैन्यपूर्ण स्वर में कहने लगे—"हे नरनाथ! प्रत्युत्तर देने में तो हम समर्थ नहीं हैं, आपसे केवल प्रार्थना ही करते हैं कि पुत्रों के अतिरिक्त अन्य जो भी आप चाहें, हम से ले लें। संसार के सारभूत पदार्थ—पुत्रों को दे देने के पश्चात् हमारे पास रहेगा ही क्या? इससे तो अच्छा है कि आप हमें ही श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान करवा दीजिये। आप ही हमारे भाग्यनिर्माता हैं।" इस प्रकार सामूहिक रूप से आलाप—संलाप प्रलाप करते हुए वे सब साष्टांग प्रणाम करते हुए भूमि पर लुण्ठन करने लगे।

यह देख कर महाराज गण्डादित्य ने तत्काल उन सब श्रावकों को केवल ताम्बूलमात्र प्रदान कर विदा कर दिया। उन सब को विदा करने के पश्चात् महाराज गण्डादित्य ने अपने सेनापति निम्बदेव के साथ मन्त्रणा की और वे दोनों इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सम्मान एवं अनुदान से तो अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि होना असंभव प्रतीत हो रहा है अतः अब किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया है। कतिपय दिनों तक समुचित उपाय के विषय में सोच-विचार करने के पश्चात् गण्डादित्य को एक उपाय ध्यान में आया। राज्य की एवं प्रजा की सुरक्षा के व्याज (बहाने) से उसने एक सुदृढ़ एवं विशाल गढ़ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करवाया। दिन भर जो निर्माण कार्य होता, उसे रात्रि को

निस्तब्धता में नितान्त गुप्त रीति से गिरवा दिया जाता। यही क्रम कतिपय दिनों तक चलता रहा। विश्वस्त लोगों के माध्यम से जनसाधारण में सर्वत्र यह प्रचार करवा दिया गया कि राज्य एवं प्रजा की सुरक्षा के लिये यह गढ़ बनवाया जा रहा है। यह भूमि सर्वलक्षणसम्पन्न किशोरों–युवकों का बलिदान मांगती है। बलिदान न देने के कारण दिन में किया हुआ निर्माणकार्य रात्रि में ढह जाता है।

इस प्रकार का समुचित प्रचार हो जाने के पश्चात् राजा गण्डादित्य ने अपने दण्डनायक एवं राज्याधिकारियों को आदेश दिया कि प्रजा की सुरक्षा की दृष्टि से परमावश्यक इस गढ़ के निर्माण के लिये सुलक्षण सम्पन्न बालकों की बहुत बड़ी संख्या में बलि देना अनिवार्य हो गया है। अतः उत्तमोत्तम सुलक्षणों से सम्पन्न बालकों को चुन-चुन कर राजप्रासाद में एकत्रित किया जाय।

राजा का आदेश होते ही नागरिकों के घरों से सुलक्षणसम्पन्न बालकों को बलात् पकड़-पकड़ कर राजभवन में एकत्रित किया जाने लगा। बलि हेतु अपने अपने बालक के बलात् पकड़ लिये जाने के कारण उन बालकों के माता-पिता करुण क्रन्दन करने लगे। नगर में सर्वत्र हाहाकार, भय और आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया।

पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार कुछ पुरुषों ने उन विक्षुब्ध एवं करुण क्रन्दन करते हुए मातृपितृ वर्ग को आचार्य माघनन्दि के समक्ष अपनी करुण पुकार प्रस्तुत करने का परामर्श दिया। तदनुसार वे सब लोग एकत्रित हो आचार्य माघनन्दि की सेवा में उपस्थित हुए। अपने आचार्य देव के चरणकमलों में साष्टांग प्रणाम करते हुए उन्होंने करुण स्वर में उनके समक्ष निवेदन करना प्रारम्भ किया—"आचार्य भगवन्! आपकी छत्रच्छाया में रहते हुए भी हमें यह दुस्सह्य दारुण दुःख क्यों भोगना पड़ रहा है? अब हम इस घोर दुःख को सहन करने में असमर्थ हैं, अतः अब आप कृपा कर हम सब को निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दीजिये। हमारे प्राणाधार पुत्रों को बलात् पकड़-पकड़ कर राजप्रासाद में बन्द कर दिया गया है। आपने यदि हम पर दया नहीं की तो आज ही हमारे प्राणप्यारे पुत्रों का बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जायेगा। हम सब आपकी शरण में हैं। केवल आप ही हमारी रक्षा करने में समर्थ हैं। हम पर दया कीजिये दयासिन्धो!"

श्रावकों की सब बातें सुनने के पश्चात् आचार्य माघनन्दि ने कहा—"भव्यगण! आप सब बुद्धिशाली श्रावक हो और इस बात को भली-भांति जानते हो, समझते हो कि राजा ही विपरीत अथवा पराङ्मुख हो जाय तो उस दशा में किया ही क्या जा सकता है। इतना सब कुछ होते हुए भी आपकी यह विनती भी टाली नहीं जा सकती, इसके लिये कोई न कोई उपाय करना होगा।

कुछ क्षण चिन्तन-मुद्रा में रह कर आचार्य माघनन्दि ने समागत जन-समूह को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप लोग चिन्ता का परित्याग कर मैं जो उपाय बता रहा हूं, उसे ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कि तुम्हारे पुत्रों के प्राणों को भी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचे और तुम्हारी कीर्ति भी संसार में चिर-काल तक स्थायी रहे। आप लोग तो राजा के समक्ष केवल इतना ही कह देना—"राजन्! हम इन बालकों के माता-पिता अपने इन आत्मजों को सदा-सर्वदा के लिये धर्मसन्तति के रूप में श्रमणधर्म की दीक्षा हेतु धर्मसंघ को समर्पित करते हैं।" बस, आप लोगों द्वारा यह कह दिये जाने के अनन्तर शेष कार्य में स्वयं कर लूंगा। इस घोर संकट से बचने का केवल यही एक उपाय मुझे सूझ रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय आपके ध्यान में हो तो आप लोग बताओ।"

आचार्य माघनन्दि का कथन सब को आशाप्रद, रुचिकर एवं प्रीतिकर लगा। उन सबका शोक क्षण भर में ही तिरोहित हो गया। कृतज्ञतापूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—"भगवन्! समस्त कुल को पवित्र करने और संसार में कीर्ति का प्रसार करने वाला आपका यह सभी भाँति हितकर वचन किसे प्रिय एवं ग्राह्य नहीं होगा? भगवन् आपका यह सुखद सुन्दर सुझाव हमें स्वीकार है, आप कृपा कर ऐसा ही करें।"

श्रावक-श्राविकावर्ग की स्वीकारोक्ति सुन कर आचार्य माघनन्दि को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होंने तत्काल महाराजा गण्डादित्य को बुलवाया और कुछ क्षण उसके साथ एकान्त में परामर्श करने के पश्चात् बालकों के मातृ-पितृवर्ग को बुलाकर उनके समक्ष ही राजा गण्डादित्य को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन्! ये धर्मपरायण श्रावक-श्राविका गण आप जैसे धर्म परायण राजा के राज्य में भी किस कारण शोकाकुल हो रहे हैं? आप तो दयालु एवं धर्मपरायण हैं। ये सभी लोग अपने-अपने पुत्रों को श्रमणधर्म में दीक्षित करने के लिये हमें देना चाहते हैं। ऐसी दशा में वे सभी बालक इसी समय से भावोपचार रूप में मुनि ही माने जाने चाहिये। अब आप स्वयं ही सोचिये कि उपचारत: मुनि कहे जाने वाले बालकों की बलिवेदि पर बलि द्वारा हत्या कर आप अपने जैनत्व को किस प्रकार बचाये रख सकेंगे?"

गण्डादित्य ने अपने गुरु आचार्य माघनन्दि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"आचार्यवर्य! आपका कथन तो ठीक है किन्तु राज्य और प्रजा की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक निर्माणाधीन दुर्ग की क्या दशा होगी?"

आचार्य माघनन्दि ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—"राजन्! मैं मन्त्रशक्ति द्वारा उसका गिरना रोक दूंगा। मेरे ऊपर विश्वास कर आप उस दुर्ग की चिन्ता छोड़ दीजिये।"

राजा गण्डादित्य ने कहा—"देव ! मुझे आप पर अटूट आस्था है। आप इन बालकों को सहर्ष श्रमणधर्म में दीक्षित कर लीजिये।"

राजा द्वारा सहमति प्रकट किये जाने पर तत्क्षण उन सब बालकों को वहां लाया गया। स्नान कराने के उपरान्त आचार्य माघनन्दि ने उन्हें पूर्वाभिमुख बैठा कर सब लोगों के समक्ष राजराजेश्वर गण्डादित्य से कहा—"सुनो राजन् ! ये सभी बालक महापुरुषों द्वारा धारण की जाती रही श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। कहां तो वैराग्य के रंग में पूर्णत: रंग जाने के कारण प्रबुद्ध, धीर वीर, गम्भीर पुरुषों द्वारा धारण किये गये पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक अति दुष्कर पंच महाव्रत और कहां ये निर्बल सुकुमार बालक ? तथापि देश, काल और शक्ति के अनुसार इन्हें केवल भाव निर्ग्रंथ धर्म की दीक्षा दी जा रही है। ये सब अल्पवयस्क बालक हैं, इसीलिये इन्हें द्रव्य-दीक्षा नहीं दी जा रही है। सोना, चांदी, लोह और बैंत के वलय वाले चार प्रकार के पिच्छ माने गये हैं। लीलाप्रिय सहज बालस्वभाववश ये लोग स्वर्ण अथवा रजत वलय के पिच्छों को इधर उधर रख कर भूल भी सकते हैं, अत: इनके लिये बैंत के वलय तथा बैंत की ही डण्डी से युक्त पिच्छ उपयुक्त होंगे। आज तक यह व्यवस्था रही है कि श्रमण-दीक्षा के समय उस श्रमण का नाम वही रखा जाता था जो कि गृहस्थ जीवन में उसका नाम होता था। अब उस व्यवस्था को बदल कर श्रमणत्व अंगीकार कर लेने पर उसका पूर्व नाम न रख कर अन्य नाम रखा जायेगा।"[1]

---

१. तथापि दीयते देश कालशक्त्यनुसारत: ।
शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्त संमतम् ।। १७७ ।।
एतेषां भावनैर्ग्रन्थ्यमेव शक्ति-प्रचोदितम् ।
अति बाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम् ।। १७८ ।।
सौवर्ण राजतं लौहमयं वेत्रान्वितं च वा ।
मतं वलयपिच्छं हि, यथायोग्यं न चान्यथा ।। १७९ ।।
यस्मादिमे विस्मरन्ति, लीलासंकल्पचोदिता: ।
वेत्रदण्डान्वितं पिच्छं, तस्मात्तद्वलयान्वितम् ।। १८० ।।
इयत्कालं मुनीनां हि, पूर्वनामसमर्पणम् ।
न तथेत: परं नामान्तरमेव निरूप्यते ।। १८१ ।।
इति नामपरावृत्ति, कृत्वा चोच्चमपि स्फुटम् ।
उत्थायैते हि मुनयो, नमस्कुर्वन्तु शीघ्रत: ।। १८२ ।।
इत्युक्त्वाहूय तान्सर्वान्, नामकीर्तनपूर्वकम् ।
दत्वाशिषं हि कृतवान् शास्त्रारम्भमपि स्फुटम् ।। १८३ ।।

—जैनाचार्य परम्परा महिमा [अप्रकाशित]

इस प्रकार की व्यवस्था के अनन्तर आचार्य माघनन्दि ने उन सब बालकों को द्रव्य मुनिलिंग की दीक्षा न देकर केवल भाव मुनित्व की ही दीक्षा दी और उच्च स्वर से उसी समय उनका नामपरावर्तन कर दिया। श्रमणधर्म की भाव-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन नवदीक्षित मुनियों ने क्रमशः नवीन नाम के उच्चारण के साथ गुरु द्वारा सम्बोधित किये जाने पर अपने गुरु का वन्दन नमन किया। आचार्य माघनन्दि ने अपने उन नवदीक्षित ७७० मुनियों को आशीर्वाद दे उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करवाना प्रारम्भ किया।

तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दि ने राजराजेश्वर गण्डादित्य को उन नव-निर्मित ७७० चैत्यालयों की प्रतिष्ठा करने की अनुज्ञा प्रदान की। गण्डादित्य ने स्थान-स्थान पर अति सुन्दर एवं विशाल तोरणों का निर्माण करवा नगर को सजवाया। सभी मन्दिरों के शिखरों पर इन्द्रध्वज तुल्य ध्वजाएं लगवाईं। मन्दिरों के मुख्य द्वारों, दीवारों एवं कंगूरों पर रंगबिरंगी नितरां अतीव सुन्दर पताकाएं लहराने लगीं। तदनन्तर महाराज गण्डादित्य ने पूर्ण ठाट-बाट के साथ उन सब मन्दिरों की प्रतिष्ठाएं करवाईं। निम्बदेव ने अभ्यर्थिजनों को यथेप्सित दान दे समस्त संघ एवं प्रजा को सभी भांति सन्तुष्ट किया।

उन नूतन मुनियों का अध्ययनक्रम निर्बाध गति से उत्तरोत्तर प्रगति करने लगा। आचार्य माघनन्दि के चरणों में बैठ कर उन नये साधुओं ने गणित छन्द, काव्य, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र, शब्दशास्त्र, कवित्व, नाट्य-शास्त्र, गमक, वक्तृत्वकला, आदि सभी विद्याओं एवं शास्त्रों का बड़ी ही निष्ठा के साथ अध्ययन किया। इस प्रकार वे सब के सब ७७० मुनि सभी विद्याओं के पारंगत प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। उन ७७० विद्वान् मुनियों में से १८ मुनि सिद्धान्त शास्त्रों के पूर्ण पारंगत विशिष्ट विद्वान् बने। शेष सभी मुनि तर्क शास्त्र में ऐसे निपुण हो गये कि उनके द्वारा एक वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिवादी घबराने लग जाते थे।

एक दिन आचार्य माघनन्दि ने महाराजा गण्डादित्य को बुलाकर कहा—"निश्चक्र चक्रवर्तिन्! आपकी सहायता एवं सहयोग से सकल शास्त्रों में निष्णात ये ७७० महा विद्वान् मुनि जिनशासन की सेवा के लिये समुद्यत एवं कृतसंकल्प हैं। जिस प्रकार भरत आदि चक्रवर्तियों ने जिनशासन का उद्धार किया, वस्तुतः उसी प्रकार आपने भी जिनशासन का उद्धार किया है। आपके द्वारा निर्मित ये ७७० चैत्य आज वस्तुतः प्राकृत शाश्वत चैत्यों के समान धरातल पर सुशोभित हो रहे हैं। देखा जाय तो आपका जन्म सफल हो गया है, आप कृतकृत्य हो गये हैं। वैभव, धैर्य, शौर्य, गाम्भीर्य आदि गुणों में आपके समान और कोई राजा दृष्टिगोचर नहीं होता।"

"अब यह सुनिश्चित है कि भविष्य में इस कलिकाल में जिनशासन के प्रति निष्ठा रखने वाले तथा सत्य–शौच–सदाचारपरायण राजा न होकर किरात, म्लेच्छ, यवन आदि हीन कुलों के दुष्ट राजा होंगे। भविष्य में श्रावक पूर्व काल की तरह धर्मनिष्ठ एवं सत्यवादी न होकर काल के कुप्रभाव से उन म्लेच्छ राजाओं के दुराचारानुकूल स्वेच्छाचारी, मूर्ख, गुरुनिन्दक, महाधूर्त और कुमार्गगामी होंगे। इस प्रकार के मूर्ख, स्वेच्छाचारी एवं कुमार्गगामी श्रावकों पर केवल आचार्य ही अनुग्रह–निग्रहात्मक अनुशासन रख सकेंगे, क्योंकि उस भावीकाल में सन्मार्गगामी राजाओं का अस्तित्व तक भी नहीं रहेगा।"

"इस प्रकार की अवश्यम्भावी भविष्य की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए अब आचार्यों के पास सिंहासन, छत्र, चामरादि राजचिन्हों, भृत्यों और चांदी, सोना आदि धन का होना परम आवश्यक है। किन्तु यह सब कुछ आपकी सहायता के बिना नहीं हो सकता। अतः आपको ही यह सब व्यवस्था करनी है।"[1]

आचार्य माघनन्दि की यह बात सुन कर नृपति गण्डादित्य ने कहा—"स्वामिन्! दिगम्बरों को यह सब किस प्रकार शोभा देगा?"

आचार्य माघनन्दि ने कहा—"सुनो राजन्! प्राचीन काल में तीर्थंकरों के भी छत्र, चामर, आकाश-गमन आदि बहिरंग अतिशय होते थे। इस सम्बन्ध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। समय के प्रवाह को दृष्टिगत रखते हुए केवल मत-निर्वाह अर्थात् जैन धर्म को एक जीवित धर्म रखने के अभिप्राय से ही यह सब कुछ करना परमावश्यक हो गया है।"[2]

---

[1] पार्थिवाज्ञानुगाः सर्वे, श्रावका सत्यभाषिताः।
जैनमार्गे चरन्त्यैवमुत्तरत्र न ते ततः ॥२०१॥
स्वेच्छाचाररताः मूर्खा वक्राश्च गुरुनिन्दकाः।
तदा कुमार्गवशगाः, श्रावका कालदोषतः ॥२०२॥
इदानीं श्रावका सर्वे, मनुकाल मृगोपमाः।
भाविनस्ते महाधूर्ताः, ह्येतत्कालमृगोपमाः ॥२०३॥
निग्रहानुग्रहौ तेषामाचार्येणैव नान्यथा।
यतः सन्मार्गगा नैव, वर्तन्ते पार्थिवास्ततः ॥२०४॥
तदर्थं राजचिह्नैश्च, भाव्यं भृत्यैर्धनैरपि।
आ ार्यस्य हि तत्सर्वं, त्वत्सहायेन नान्यथा ॥२०५॥
—जैनाचार्य परम्परा महिमा हस्तलिखित प्रति

[2] गुरुणोक्तं वचः श्रुत्वा, नरेन्द्रः पुनरब्रवीत्।
स्वामिन्! दिगम्बराणां तच्छोभते कथमित्यपि ॥२०६॥

भट्टारक परम्परा के प्रथम आचार्य का पट्टाभिषेक—गुरु वचनों को शिरोधार्य कर महाराज गण्डादित्य ने उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए निवेदन किया—"भगवन् ! आपके निर्देशानुसार मैं सब प्रकार की समुचित व्यवस्था कर दूंगा।"

तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दी के आदेशानुसार गण्डादित्य ने सकल आगम-निष्णात प्रकाण्ड विद्वान् मुनि सिंहनन्दि को आचार्य पद पर अभिषिक्त करने की पूर्ण तैयारियां की। आचार्य माघनन्दि ने (भट्टारक परम्परा के प्रथम आचार्य के रूप में) सिंहनन्दि को आचार्य पद पर नियुक्त किया। महाराज गण्डादित्य ने सिंहनन्दि का आचार्य पद पर पट्टाभिषेक किया। महाराजा गण्डादित्य ने आचार्य सिंहनन्दि का आचार्य पद पर अभिषेक करते समय उन्हें (आचार्य सिंहनन्दि को) एक अत्युत्तम शिविका (पालकी), रत्नजटित पिच्छ, चँवर और छत्र आदि राजचिन्ह प्रदान किये। विविध वाद्ययन्त्रों के घोष के साथ महाराज गण्डादित्य ने आचार्य सिंहनन्दि की नगर में शोभायात्रा निकाल कर उनकी महती प्रभावना की। तदनन्तर राजा ने आचार्य सिंहनन्दि को विधिवत् चतुर्विध धर्म-संघ के संचालन के सर्वोच्च सत्तासम्पन्न सार्वभौम अधिकार प्रदान किये। महाराजेश्वर गण्डादित्य ने विभिन्न प्रान्तों तथा देश-देशान्तरों के राजा-महाराजाओं, जैन संघों एवं संघ नायकों को घोषणा-पत्र अथवा अधिकार-पत्र भेजे कि आचार्य सिंहनन्दि को मूल संघ के सर्वोच्च अधिकार सम्पन्न आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया है।

इस प्रकार सुदूरस्थ प्रदेशों में भी आचार्य सिंहनन्दि की प्रसिद्धि हो गई कि ये मूल-संघ के सर्वोच्च सर्वाधिकारसम्पन्न महान् आचार्य हैं।[2]

शृणु राजन् पुरा तीर्थंकरादीनामपि स्थिताः।
वहिरंग नभोयान, चामरादि विभूतयः ॥२०७॥

किं स्यात्वहु प्रसंगेन, कालशक्त्यनुसारतः।
क्रियते मतनिर्वाह–सिद्ध्यर्थं न तदिच्छया ॥२०८॥

२. इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा, नत्वा गुरुकुलप्रभुम्।
यन्निर्दिष्टं तदिच्छामीत्यब्रवीदति भक्तितः ॥२०९॥

तदाखिलादिशास्त्रज्ञं, सिंहनन्दिमुनीश्वरम्।
समाहूयाथ पट्टाभिषेकं कृत्वा ततः परम् ॥२१०॥

प्रदत्वा शिविकाच्छत्रचामरादि परिच्छदान्।
दत्वा रत्नमयं पिच्छं, चामरे च तथाविधे ॥२११॥

कारयित्वा पुरे नाना वाद्यैस्तस्य प्रभावनाम्।
सर्वाधिकारपदवीं दत्वेवाति प्रभावनः ॥२१२॥

तथा देशांतरस्थानां नरेन्द्राणां च लेखनम्।
भिन्नसंघाधिनाथानामपि प्रेषितवान्मुदा ॥२१३॥

श्री मूल-संघाचार्योऽयमिति सर्वप्रसिद्धिजम्।
तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम् ॥२१४॥

जैनाचार्य परम्परा महिमा (हस्तलिखित)

इस प्रकार की व्यवस्था से आ० माघनन्दि की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई।[1]

भट्टारक पीठों की सर्वप्रथम स्थापना—तत्पश्चात् आर्य माघनन्दि ने धर्म संघ (भट्टारक सम्प्रदाय) की समुचित व्यवस्था के लिए २५ पीठों की स्थापना की। उन सभी पीठों पर आर्य माघनन्दि ने अपने सुयोग्य एवं शास्त्रज्ञ विद्वान् शिष्यों को पीठाधीशों के पद पर नियुक्त किया। उन पच्चीसों पीठाधीशों को छत्र चामरादि चिन्हरहित चाँदी के सिंहासन और काष्ठ की पादुकाएं प्रदान की गईं। उन पच्चीसों ही पीठाधीशों को सम्बोधित करते हुए आचार्य माघनन्दि ने कहा—"तुम सब लोग आचार्य सिंहनन्दि के सेवक हो।[2] तुम सब लोग अपने-अपने पीठों पर जाकर जिनशासन का प्रचार-प्रसार करो।" उन सबने भी अपने आचार्यदेव की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने-अपने पीठ पर जाकर वे जिनशासन की सेवा में निरत हो गये।

एक समय आचार्य सिंहनन्दि अपने विशाल शिष्यसमूह से परिवृत्त हो विविध वाद्ययन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों एवं जय-जयकार के गगनभेदी निर्घोशों के साथ दक्षिण मथुरा गये। वहां के महाप्रतापी एवं शौर्यशाली महाराजा राचमल्ल तथा उनके महामात्य चामुण्डराय ने आचार्य श्री की अगुवानी करते हुए महामहोत्सव के साथ उनका दक्षिण मथुरा में नगरप्रवेश करवाया। राजाधिराज राचमल्ल ने आचार्य श्री को वहां एक चैत्यालय में ठहराया। महाराजा राचमल्ल प्रतिदिन आचार्य सिंहनन्दि के उपदेश सुनता और उनके प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रखता था। आचार्य सिंहनन्दि दक्षिण मथुरा (मदुरा) में रहते हुए सद्धर्म का अनेक वर्षों तक प्रचार-प्रसार करते रहे। आचार्य सिंहनन्दि के ३०० शिष्यों में प्रमुख शिष्य देवेन्द्र कीर्ति प्रकाण्ड पण्डित और शास्त्रज्ञ थे। सिंहनन्दि के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आचार्य देवेन्द्रकीर्ति का गुरुभ्राता अजितसेन भी विद्वानों में अग्रणी और महान् प्रभावक था। अजितसेन को पण्डिताचार्य के पद से विभूषित किया गया। राजा चामुण्ड राज सदा उनकी सेवा में उपस्थित रहता था।

---

१. श्लोक संख्या २१४ के उत्तरार्द्ध "तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्।" से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दि ने अभिनव भट्टारक परम्परा को जन्म देते समय अपने शिष्य सिंहनन्दि को प्रथम भट्टारकाचार्य बनाया और वे स्वयं यथावत् नन्दिसंघ के ही सदस्य बने रहे। इससे सर्वत्र उनका नाम हो गया अर्थात् उनकी कीर्ति फैल गई। वे भट्टारक परम्परा के जनक थे, पर उसके आचार्य नहीं बने।

—सम्पादक

२. राजतं पीठमेतेषां, पादुके दारुकल्पिते।
छत्रचामरशून्यं तद्राजचिन्हमितीड़ितम्॥२१६॥
प्रोक्त्वा तद्दापयित्वाथ, तानाहूय मुनीश्वरः।
आचार्यसेवका यूयमिति तेषां समब्रवीत्॥२१७॥

जैनाचार्य परम्परा महिमा (हस्तलिखित)

आचार्य देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी माघनन्दि (द्वितीय) को आचार्य पद प्रदान किया गया। माघनन्दि (द्वितीय) के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य नेमिचन्द्र को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया। आचार्य नेमिचंद्र ने राजा चामुण्ड को प्रतिबोध दिया।

श्रवण बेलगोल तीर्थ तथा वहां मुख्य पीठ की स्थापना

एक दिन शुभ मुहूर्त में महाराजा चामुण्डराय आचार्य श्री नेमिचंद्र और उनके शिष्य वर्ग के साथ बाहुबली की मूर्ति के दर्शनों की अभिलाषा लिये मदुरापत्तन से पोदनपुर की ओर प्रस्थित हुआ। उसके साथ उसकी विशाल वाहिनी और भृत्य गण भी थे। प्रयाण और स्थान-स्थान पर पड़ाव डालकर विश्राम करते हुए वे सब बेलगोल के पास पहुंचे। बेलगोल के पास गगनचुम्बी, गिरिराज, विन्ध्याचल को देख महाराज चामुण्ड ने वहां रात्रि-विश्राम के लिए पड़ाव डाला।

रात्रि की अवसान बेला में, राजा चामुण्ड के पूर्वार्जित पुण्यों के प्रताप से नख-शिख (आपादशीर्ष) शृंगार की हुई सपुत्रा कुष्माण्डिनी देवी ने स्वप्न में चामुण्डराज को दर्शन दे परम प्रसन्न मुद्रा में उससे कहा—"ओ महिप चामुण्डराज ! तुम सदल-बल इतनी दूरी पर अवस्थित पोदनपुर तक कैसे पहुंच सकोगे, अर्थात् वहां क्यों जा रहे हो ? रावण द्वारा अर्चित-पूजित गोम्मटेश की मूर्ति यहीं विन्ध्यगिरि के विशाल शिलाखण्डों से ढंकी हुई विद्यमान है। तुम्हारे द्वारा बांण के प्रयोग मात्र से गोम्मटेश तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे और तुम्हें दर्शन दे देंगे।" बस इतना ही कह कर देवी कुष्माण्डिनी अदृश्य हो गई।[1]

सूर्योदय होते ही महाराज चामुण्ड ने आचार्य नेमिचंद्र को अपना आद्योपान्त स्वप्न सुनाया और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर देवी द्वारा निर्दिष्ट स्थान में बांण चलाया। बांण चलाते ही सबको दर्शन देते हुए गोम्मटेश प्रकट हो गये। तत्काल महाराज चामुण्ड ने गोम्मटेश जिन की पूजा की। आचार्य नेमिचन्द्र ने शास्त्रों से सार ग्रहण कर गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार नामक तीन सारभूत उत्तम ग्रंथों की रचना की। वहीं बेलगोल पत्तन में राजा चामुण्डराज ने भी लोक-भाषा में त्रिषष्टि (शलाघ्य) पुरुष पुराण नामक पुराण की रचना की।

बेलगोल में गोम्मटेश के प्रकट होने, गोम्मटसार आदि सारत्रय उत्तम ग्रन्थों के प्रणयन तथा त्रिषष्टि पुरुष पुराण की रचना—इन तीनों कारणों से बेलगोल

---

१. अस्मिन् विन्ध्याचले स्थूल, शिलाखण्डस्तिराहितः।
स एव गोम्मटेशोऽस्ति, रावणेन समर्चितः ॥२२५॥
बाणप्रयोगमात्रेण, प्रसन्नस्तव जायते।
इति वाचं समुद्गर्य, तिरोभूत्वा गता हि सा ॥२२६॥

पत्तन में दक्षिणाचार्य प्रवर का महासिंहासन स्थापित कर वहां भट्टारक परम्परा का प्रमुख पीठ स्थापित किया गया। श्रवण बेलगोल के उस महा सिंहासन पर विराजमान आचार्य नेमिचन्द्र सुशोभित होने लगे।[1]

महाराजा चामुण्ड अपने उन आचार्यदेव नेमिचन्द्र के पादप्रक्षालन एवं उनकी अर्चा-पूजा के लिये सदा समुद्यत रहता था। महाराज चामुण्ड ने १,९६,००० (एक लाख छ्यानवे हजार) मुद्राओं की प्रतिवर्ष आय वाला विशाल भूखण्ड गोमटेश को भेंट के रूप में सदा-सर्वदा के लिए समर्पित किया।[2] महाराज चामुण्ड ने श्रवणबेलगुल में नन्दीश्वर महापूजा आदि अनेक भव्य महोत्सव आयोजित किये। उन महोत्सवों के कारण श्रवणबेलगुल नगर सदा धर्मनगर का रूप धारण किये रहता था।

इस प्रकार गोमटेश्वर तीर्थ की स्थापना, श्रवणबेलगुल में दक्षिणाचार्य के प्रधान पीठ की प्रतिष्ठापना और अनेक महोत्सवों के आयोजनों के पश्चात् चामुण्डराज अपने गुरु दक्षिणाचार्य श्री नेमिचन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर शंख नादों एवं दुन्दुभि आदि नानाविध वाद्यों के निर्घोषों के साथ श्रवणबेलगुल से सदलबल प्रस्थित हो अपने राज्य की राजधानी दक्षिण मथुरा (मदुरा) पहुंचा और गोमटेश जिन के चरणयुगल का स्मरण करता हुआ न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। महाराज चामुण्ड की सेना में ८००० हाथी, १०,००,००० अश्वारोही और अगणित पदाति सुभट थे।[3]

उधर सिद्धान्तदेव आचार्य नेमिचन्द्र श्रवणबेलगुल में रहते हुए तीर्थ का अभिवर्द्धन एवं धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। वे जिनेन्द्र मार्ग के सार्वभौम सर्वोच्च अधिकार एवं सत्ता सम्पन्न अधिनायक आचार्य थे।

---

[1] दक्षिणाचार्यवर्यस्य, तस्माद्वेल्गुलपत्तनम्।
महासिंहासनस्थानं, जातं सौख्याकरं यतः ॥२४३॥
तद्वेल्गुल महासिंहासनासीनो मुनीश्वरः।
नेमिचन्द्राख्य सिद्धान्त देवो गुणनिधिर्वभौ ॥२४४॥
जैनाचार्य परम्परा महिमा (हस्तलिखित)

[2] षण्णवत्यन्वितं भक्त्या, सहस्रं लक्षपूर्वकम्।
राज्यं चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य संददौ ॥२४६॥
नियुतं षण्णवत्युद्ध, सहस्रान्वितमादरात्।
राज्यं चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य संददौ ॥२४७॥

[3] अष्टौ दन्तिसहस्राणि, दशलक्ष तुरंगमाः।
भटानां गणना नैव, तद्भूपाल वलाम्बुधौ ॥२५१॥
—जैनाचार्य परम्परा महिमा—

आचार्य श्री नेमिचन्द्र के पश्चात् कलधौतनन्दि दक्षिणाचार्य के पद पर अधिष्ठित किये गये। आचार्य कलधौतनन्दि के पश्चात् हुए कतिपय दक्षिणाचार्यों के नाम, "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक लघु ग्रन्थ में निम्नलिखित क्रम से दिये गये है—

माघनन्दि (तृतीय), मेघचन्द्र, अभयचन्द्र, बालचन्द्र, माघनन्दि (चतुर्थ), गण्डविमुक्त, गुणचन्द्रदेव, हेमसेन पण्डित, वादिराज, मेघचन्द्र (द्वितीय), गुणचन्द्र, नयकीर्ति, कनकनन्दि पण्डित, भानुकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, जयकीर्ति, गोपनन्दि, (जिनकी पालकी को व्यन्तर वहन करते थे), माघनन्दि (पंचम), वासव सुचन्द्र (जो चालुक्य राज की सेना में बाल सरस्वती के नाम से विख्यात थे), विशालकीर्ति, दामनन्दि, गुणनन्दि, मलधारी, श्रीधराचार्य, सुतनन्दि, माधवचन्द्र, उदयचन्द्र, मेघचन्द्र (इनके समय से बालचन्द्र पण्डिताचार्य पद पर विराजमान रहे), अभयनन्दि, सोमदेव, ललितकीर्ति, कल्याणकीर्ति, महेन्द्रचन्द्र, शुभकीर्ति, जिनेन्द्रचन्द्र, यशःकीर्ति, वासवचन्द्र, चन्द्रनन्दि, सुबाहु पण्डिताचार्य, वृषेन्द्रसेन, महेन्द्रसेन, धर्मसेन, कुलभूषण, नन्दिपण्डित, माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती (षष्ठम), विशदकीर्ति, शुभचन्द्र, चारुकीर्ति, माघनन्दि (सप्तम), अभयचन्द्र, बालचन्द्र और रामचन्द्र।

इस भांति जिस प्रकार रोहणगिरि से अनमोल रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार मुनिरत्नों की खान स्वर्णबेलगुल के मुख्य पीठ से अनेक महान् आचार्यों का उदय हुआ। ये सभी आचार्य विपुल विद्या वैभव के धनी और शाप तथा अनुग्रह दोनों ही विद्याओं में सक्षम थे। यह श्रवणबेलगुल मुख्य पीठ के सिंहासन का ही चमत्कार था कि जो भी मुनि आचार्य पद पर अभिषिक्त हो इस सिंहासन पर बैठता, वही इस सिंहासन की शक्ति से स्वतः ही शापानुग्रह—समर्थ और अद्भुत् विद्यावैभव-सम्पन्न हो जाता था।

भट्टारक रामचन्द्र के पश्चात् श्रवणबेलगुल के सिंहासन पर भट्टारक शिरोमणि देवकीर्ति हुए। तदनन्तर भट्टारक देवचन्द्र हुए, जिनके द्वार पर छोटिंग नामक यक्ष सदा बैठा रहकर इनके द्वारपाल का कार्य करता था। वैताली सदा इनके चरण युगल की सेवा करती थी और अनेकों व्यन्तर इनकी पालकी को उठाते थे। अनेक भूतगण उनका आदेश पालने के लिए सदा तत्पर रहते थे। देवचन्द्र के पश्चात् उनके शिष्य चारुकीर्ति आचार्य पद पर आसीन हुए। ये चारुकीर्ति भट्टारकों में सूर्य के समान थे। चारुकीर्ति वस्तुतः अद्भुत् प्रतिभासम्पन्न थे अतः इनकी कलिकाल गणधर के नाम से चारों ओर ख्याति फैल गई थी। महाराजा बल्लाल के प्राणों की रक्षा करने के कारण आपकी यशोपताका सुदूर प्रान्तों तक फहराने लगी थी।

एकदा महाराजाधिराज बल्लाल के राजप्रासाद में ज्वालामुखी के समान

एक भीषण बिवर (बिल) प्रकट हुआ। उस बिल में से अग्नि की भीषण ज्वालाएं निकलने लगीं, बड़े-बड़े अंगारे निकल कर चारों ओर फैलने लगे। उस बिल में से इतना अधिक धुंआ निकलने लगा कि प्रासाद और गगन-मण्डल उस धुएं से इस प्रकार छा गया जैसे कि वर्षाकाल में घुमड़ती हुई घनघटाओं से आकाश आच्छादित हो गया हो। उस बिल से जो प्रलयंकर दृश्य उत्पन्न हुआ, वह इतना वीभत्स था कि उसे देखते ही लोग मूर्च्छित हो जाते थे। उस ज्वालामुखी की शान्ति के लिए अनेक उपाय सोचे गये। मिथ्या दर्शनियों ने उसकी शान्ति का उपाय बताते हुए राजा से कहा कि इस बिल को महिष, बकरों आदि पशुओं के रक्त से भर दिया जाय। बिना पशुओं के रक्त के यह बिल बन्द होने वाला नहीं है। राजाधिराज वल्लाल इस पापकृत्य के नाम मात्र से कांप उठा। उसने भट्टारक चारुकीर्ति की सेवा में उपस्थित हो संकट से रक्षा की प्रार्थना की। चारुकीर्ति भट्टारक ने कुष्माण्डिनी देवी का आह्वान कर कुष्माण्डों से उस बिल को भर दिया और उस पर सिंहासन जमा कर वे उस पर बैठ गये। तत्काल ज्वालामुखी बिल द्वारा उत्पन्न घोर संकट नष्ट हो गया। अंग आदि अनेक देशों के राजाओं ने साष्टांग प्रणाम कर चारुकीर्ति की स्तुति की और उन्हें "वल्लालराज सज्जीव रक्षक" के विरुद से विभूषित कर छहों दर्शनों की उपासक सम्पूर्ण प्रजा का स्थापनाचार्य घोषित किया।

इन भट्टारक चारुकीर्ति के आचार्यकाल में जिनशासन की प्रतिष्ठा पराकाष्ठा पर पहुंच गई। जन-जन के अन्तर्मन पर चारुकीर्ति के नाम की गहरी छाप अंकित हो गई। चारुकीर्ति के नाम के चमत्कार को दृष्टि में रखते हुए यह नियम बना दिया गया कि कालान्तर में श्रवण बेल्गुल के सिंहासन पर अभिषिक्त होने वाले सभी भट्टारकों का नाम चारुकीर्ति ही रखा जाय।[1]

भट्टारक देवचन्द्र के शिष्य उन चारुकीर्ति के पश्चात् कतिपय चारुकीर्ति नाम के भट्टारक हुए। उनके पश्चात् चारुकीर्ति नामक एक अन्य आचार्य हुए। वेंकटार्य राजा की विनति स्वीकार कर वे चारुकीर्ति भट्टारक एक बार भल्लातकी पत्तन गये। वहां भैरव नामक एक राजा भी आपकी सेवा में आया। भट्टारक चारुकीर्ति ६ मास तक भल्लातकीपत्तन में रहे। भैरव नामक राजा सदा उनके दर्शन प्रवचनश्रवण करता। उसके अन्तर्मन में चारुकीर्ति आचार्य के प्रति प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हुई और उसने यह नियम ग्रहण कर लिया कि वह जीवनभर भ० चारुकीर्ति के चरणों की पूजा किये विना भोजन नहीं करेगा। ६ मास पश्चात् जब वे भट्टारक चारुकीर्ति पुनः श्रवणबेल्गुल आने के लिए उद्यत हुए तो राजा भैरव ने कहा—"आचार्यदेव ! मुझे भी आप श्रमणधर्म की दीक्षा दे दीजिये। अन्यथा आपके चले जाने पर तो मुझे अपने नियम की रक्षा के लिए आमरण अनशन ही

[1] श्रवण बेल्गुल में अद्यावधि यही नियम प्रचलित है।
—सम्पादक

करना पड़ेगा। इस विकट समस्या को सुलझाने के लिए भ० चारुकीर्ति ने अपने एक शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बना, उसे चारुकीर्ति नाम देकर वहां रख दिया। तदनन्तर चारुकीर्ति भट्टारक पुनः स्वर्णबेल्गुल लौट आये। इस प्रकार भल्लातकी में भी भट्टारकों की एक शाखा स्थापित हो गई। ये चारुकीर्ति भट्टारक महाराजा वल्लाल के प्राणों की रक्षा करने वाले चारुकीर्ति के पश्चात् उनके २५वें पट्टधर हुए।

"जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक लघु ग्रन्थ के रचनाकार भी चारुकीर्ति हैं और उन्होंने अपने आपको उन चारुकीर्ति का ३१वां पट्टधर बताया है, जिन्होंने कि महाराजा वल्लाल के प्राणों की रक्षा की थी।

"जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक ३४६ श्लोकों के हस्तलिखित लघु ग्रन्थ के आधार पर जो भट्टारक परम्परा पर प्रकाश डाला गया है, उसमें वर्णित आचार्य माघनन्दि, गण्डरादित्य राज-राजेश्वर, राजा वल्लाल, महासामन्त निम्ब-देव, आचार्य माघनन्दि का विशाल शिष्य परिवार आदि-आदि प्रायः सभी पात्र वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले पुरातात्विक ठोस प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। महासामन्त निम्बदेव द्वारा निर्मित कोल्हापुर की रूप नारायण वसदि में तथा कोल्हापुर संभाग के कागल नामक नगर के समीपस्थ होन्नूर के जैन मन्दिर में और कुण्डी प्रदेशस्थ सांगली विभाग के तेरदाल नगर के नेमिनाथ मन्दिर में मिले शिलालेखों से इन सब की ऐतिहासिकता के साथ-साथ भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव एवं माघनन्दि, वल्लाल, गण्डरादित्य (गण्डादित्य) निम्बदेव आदि का समय भी ऐतिहासिक आधार पर सुनिश्चित होता है। वे ऐतिहासिक तथ्य इस प्रकार हैं :--

(१) कोल्हापुर सम्भाग में कागल नगर के समीपस्थ होन्नूर नगर के जैन मन्दिर में एक मूर्ति के आयाग पट्ट पर उट्टंकित शिलालेख में ऐतिहासिक महत्व की अनेक बातों पर प्रकाश डाला गया है। उस शिलालेख में महामण्डलेश्वर वल्लाल देव एवं गण्डरादित्य द्वारा इस मन्दिर को दिये गये एक बड़े दान का उल्लेख है, जो साधु-साध्वियों के खान-पान की व्यवस्था हेतु दिया गया था। इस शिलालेख के लेखानुसार बम्मगावुण्ड नामक गृहस्थ द्वारा इस मन्दिर का निर्माण करवाया गया। वह बम्मगावुण्ड रात्रिमती नाम की एक जैन साध्वी का गृहस्थ शिष्य था। इससे यह तथ्य प्रकाश में आता है कि तामिलनाडु के समान कर्णाटक प्रदेश में भी जैन साध्वियों का एक ऐसा संघ था जो जैनाचार्यों के समान ही श्रावक वर्ग पर अपना पूर्ण प्रभाव एवं वर्चस्व रखता था और पुरुषों को अपना परम भक्त, अनुयायी और यहां तक कि गृहस्थ शिष्य भी बनाता था। तामिलनाड में प्राप्त प्राचीन शिलालेखों में अनेक ऐसी साध्विमुख्याओं, महान् साध्वियों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जो बड़े-बड़े संघों की आचार्य --बड़े-बड़े संघों यहां तक कि साधुओं, साध्वियों, श्रावकों

एवं श्राविकाओं के संघों की सर्वेसर्वा संचालिकाएं थीं। इनमें संघ कुरत्तीगल नामक संघाधिपा का नाम उल्लेखनीय है, जो एक संघ की प्रमुखा अर्थात् आचार्या थीं।[1] उनमें तिरुमलै कुरत्ती (तिरुमलै जैन संघ की गुरुणी अथवा आचार्या) नामक ऐसी महान् साध्वी थी जो विशाल जैन संघ की आचार्या थीं। उन आचार्या तिरुमल कुरत्ती (गुरुणी) के एक एनाडिकुट्टनन नामक साधु शिष्य का उल्लेख भी तामिलनाड से प्राप्त एक शिलालेख में उपलब्ध होता है।[2] इन शिलालेखों में से एक शिलालेख में एक ऐसी तिरुपरत्ती कुरत्ती नामक साध्वी प्रमुखा का उल्लेख भी है जो भट्टारक पद पर आसीन पट्टिनी भट्टार नामक साध्वी भट्टारक की शिष्या थी।[3]

आगम साहित्य में और प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के आगमेतर साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता, जिसमें एक साध्वी को स्वतन्त्र रूप से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप संघ की संचालिका, आचार्य-भट्टारक अथवा गुरुणी के पद पर अधिष्ठित किया गया हो। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही संघों में एक साध्वी को चाहे वह कितनी भी विदुषी; वयोवृद्धा अथवा ज्ञानवृद्धा क्यों न हो; आचार्य पद पर अधिष्ठित नहीं किया जाता। इन दोनों संघों में कहीं ऐसा विधान उपलब्ध नहीं होता कि एक साध्वी एक पुरुष को श्रमण धर्म में दीक्षित कर उसे अपना शिष्य बना सकती हो।

इन शिलालेखों से आभास होता है कि दक्षिणापथ में "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" अर्थात् स्त्रियां भी पुरुषों के समान उसी भव में मोक्ष पा सकती हैं"—इस बात पर विशेष बल देने वाले, इस बात का दक्षिणापथ में प्रबल प्रचार करने वाले यापनीय संघ का कर्णाटक प्रान्त के समान तामिलनाडु में भी प्राबल्य रहा हो और साध्वी आचार्यों द्वारा संचालित वे संघ यापनीय संघ के अभिन्न अंग रहे हों। इस विषय में गहन शोध की आवश्यकता है। विषयान्तर के भय से यहाँ इस विषय पर विशेष न कह कर यापनीय संघ विषयक अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

इस शिलालेख में यह भी बताया गया है कि इस मन्दिर को जो दान दिया गया, वह कराड़ के शिलाहार वंशोय दो राजकुमारों–महामण्डलेश्वर वल्लाल देव और गण्डरादित्य (गुरु परम्परा महिमा में गण्डादित्य नाम दिया हुआ है, जो छन्द की दृष्टि से गण्डरादित्य का संस्कृत रूपान्तर प्रतीत होता है) द्वारा दिया गया। इस

---

१. South Indian Inscription Vol. V (Inscription No. 319, 322, 323).

२. " " No. 370.

३. " " No. 372.

शिलालेख में मूल संघ के "पुन्नागवृक्षमूलगण" का उल्लेख वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।[1] क्योंकि 'पुन्नागवृक्षमूलगण' का सम्बन्ध सामान्य रूपेण अनेक शिलालेखों में यापनीय संघ के साथ उपलब्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोल्हापुर सम्भाग में यापनीय संघ बड़ा लोकप्रिय था।

इस शिलालेख में यद्यपि किसी संवत् अथवा तिथि आदि का उल्लेख नहीं है, तथापि पुरातत्त्वविद् विद्वानों ने इसे ई. सन् १११० के आस-पास का माना है।

(२) कुण्डी प्रान्त के तेरिदाल नगर में रट्ट राजवंशीय महामाण्डलिक गोङ्क ने भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया और वहां जैन साधुओं के भोजन आदि की व्यवस्था के लिये ई. सन् ११२३–२४ के आस-पास एक बड़े भू-भाग का दान उस मन्दिर को दिया। यह भू-दान महामाण्डलिक गोङ्क द्वारा रट्टवंशीय राजा कार्त्तवीर्य (द्वितीय) की विद्यमानता में दिया गया और इस अवसर पर आचार्य माघनन्दि सैद्धांतिक को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया। वे माघनन्दि आचार्य कोल्हापुर प्रान्तीय मुनि संघ के अधिष्ठाता मण्डलाचार्य और कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के सर्वेसर्वा मठाधीश थे। वे मूल संघ कुन्दकुन्दान्वय, देशिगण, पुस्तक गच्छ के आचार्य और कुलचन्द् देव के शिष्य थे। उन आचार्य माघनन्दि का शिष्य संघ सुविशाल था।

भूदान विषयक उपर्युक्त शिलालेख में माघनन्दि के शिष्यों में से प्रमुख शिष्यों—कनकनन्दि, श्रुतकीर्ति त्रैविद्य, चन्द्रकीर्ति पण्डित, प्रभाचन्द्र पण्डित और वर्द्धमान के नामों का उल्लेख है। आचार्य माघनन्दि के विषय में इस शिलालेख में उल्लेख है कि वे महासामन्त निम्बदेव के धर्मगुरु थे। महासामन्त निम्बदेव ने अपने स्वामी गण्डरादित्य (गण्डादित्य) के एक विरुद 'रूपनारायण' नाम पर 'रूपनारायण' वसदि का निर्माण करवाया। महाराजा गण्डरादित्य के अनेक विरुदों (उपाधियों—उपनामों) में 'रूपनारायण' भी एक लोकप्रसिद्ध विरुद था। इसी शिलालेख के नीचे कालान्तर में उट्टंकित अभिलेख के अनुसार इसी मन्दिर के एक शिलालेख में उल्लेख हैं कि गोंक द्वारा इस मन्दिर के निर्माण और भूदान के ६० वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् ११८२ के आस-पास व्यापारियों के 'अय्यावले पांच सौ' नामक महासंघ ने व्यापारी मण्डियों में इस मन्दिर की स्थायी आर्थिक व्यवस्था के निमित्त एक प्रकार का धार्मिक शुल्क लगा दिया। ई० सन् ११८७ में महासेनापति तेजुगी दण्डनायक के पुत्र भाई देव ने, जो कि कुण्डी प्रान्त का प्रशासक था, इस मन्दिर को भूमि और भवनों का दान दिया।[2]

---

१. Lbid, Vol. XI, pp. 1477

२. *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs by P. B. Desai,* p. 119.

(३) कोल्हापुर नगर के शुक्रवारी नगर द्वार के निकटस्थ पार्श्वनाथ मन्दिर के पास से उपलब्ध हुए एक शिलालेख में भी कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य, उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव और इनके धर्मगुरु आचार्य माघनन्दि का उल्लेख है। इस शिलालेख में उट्टंकित है कि शिलाहार वंशीय महाराजा गण्डरादित्य के शासनकाल में उनके महासामन्त निम्बदेव ने कोल्हापुर में पहले 'रूपनारायण' नामक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया। निम्बदेव एक निष्ठावान जैन धर्मावलम्वी एवं जैन धर्म के नियमों का पालन करने वाले अग्रणी श्रावक थे। जैन धर्म के प्रसार एवं उत्कर्ष के लिये निम्वदेव ने अपने धर्मनिष्ठ जीवन के प्रारम्भिक काल में सर्वप्रथम रूपनारायण मन्दिर और तदनन्तर भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर का निर्माण कवडे गोल्ला बाजार में करवाया। 'अय्यावले पांच सौं' नामक एक व्यापारिक महासंघ ने मण्डियों में क्रय-विक्रय पर एक धार्मिक शुल्क लगाकर उससे होने वाली स्थायी आय का इस मन्दिर को ई० सन् ११३५ के आस-पास के विक्रम संवत् में दान दिया। व्यापारियों के महासंघ ने मन्दिर की स्थायी व्यवस्था के लिये यह दान आचार्य माघनन्दि के शिष्य एवं रूपनारायण वसदि के मठाधीश आचार्य श्रुतकीर्ति त्रैवेद्य को प्रदान किया।[1]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि कोल्हापुर नरेश महाराज गण्डरादित्य की अनेक उपाधियों में से 'रूपनारायण' भी एक उपाधि थी और इस प्रकार निम्बदेव ने अपने स्वामी रूपनाराण उपाधिधर महाराज गण्डरादित्य के नाम पर रूपनारायण वसदि का निर्माण करवाया था। वर्तमान काल में कोल्हापुर के शुक्रवारी नामक प्रवेश द्वार के पास जो भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर है, वह संभवतः निम्बदेव द्वारा निर्मापित प्राचीन मन्दिर का ही भग्नावशेष है।

शुक्रवारी दरवाजे के पास के उसी उपरिवर्णित स्थान से एक और दूसरा शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जिसमें उल्लेख है कि ई० सन् ११४३ में हाविर हरिलगे में माघनन्दि के शिष्य वासुदेव ने पार्श्वनाथ के मन्दिर की आधारशिला रखी और इस मन्दिर के लिए कराड़ के शिलाहार वंश के कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य के पुत्र ने धनराशि प्रदान की।[2]

(४) शिलाहार वंशीय कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य के पुत्र महाराजा विजयादित्य ने ई० सन् ११५० में मडलूर स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर के जीर्णोद्धार एवं उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भूखण्ड एवं भवनों का दान

---

[1] एपिग्राफिका इण्डिका, XIX पृष्ठ 30 ff.

[2] Ibid Vol. III pp 207 ff.
Jainism in South India & Some Jaina Epigraphs, by P. B. Desai page 120 के आधार पर —सम्पादक

दिया । इस प्रकार का उल्लेख कागल क्षेत्र के बामनी ग्राम से प्राप्त हुए शिलालेख में है । इस शिलालेख के अनुसार विजयादित्य ने यह दान आचार्य माघनन्दि के एक विद्वान् शिष्य अर्हन्नन्दि सिद्धान्त देव को दिया ।[१]

(५) कोल्हापुर नगर के शुक्रवार नगर द्वार के पास जैन मन्दिर के एक शिलालेख सं० ३२० और कागल नगर के समीपस्थ बामणी गाँव के जैन मन्दिर के दरवाजे पर अवस्थित शिलालेख सं० ३३४ में शिलाहार वंशीय राजाओं की वंशावलि उल्लिखित है । उसका क्रम इस प्रकार है :—(१) शीलहार महाक्षत्रिय जतिग, (२) गोंकल, (३) मारसिंह, (४) गूवल-गंगदेव, बल्लाल देव, ओज देव, (५) गण्डरादित्य, (६) विजयादित्य । इन लेखों में शिलाहार राजाओं को जीमूतवाहन का वंशज बताया गया है और क्षुल्लकपुर का उल्लेख है । ये दोनों शिलालेख क्रमशः शक सं. १०६५ (ई० सन् ११४३) और १०७३ (ई० सन् ११५१) के हैं ।[२]

(६) कोल्हापुर के, विभिन्न शिलालेखों में कोल्हापुर, कोलगिर और क्षुल्लकपुर ये ४ नाम उट्टंकित मिलते हैं । कोल्हापुर का क्षुल्लकपुर नाम इस नगर में भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव की उस अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना को महत्व देते हुए ही रखा गया प्रतीत होता है, जिसका कि उल्लेख मेकेन्जी के संग्रह में उपलब्ध "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नाम की हस्तलिखित पुस्तक में विद्यमान है, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आई है । भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव पर प्रकाश डालने वाली उस ऐतिहासिक घटना का विवरण ऊपर प्रस्तुत कर दिया गया है कि आचार्य माघनन्दि, कोल्हापुर नृपति गण्डरादित्य और उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव की अभिसन्धि से आचार्य माघनन्दि को ७७० (सात सौ सत्तर) कुलीन, कुशाग्रबुद्धि, स्वस्थ, सुन्दर एवं सशक्त किशोर, शिष्यों के रूप में मिले । सिद्धान्तों एवं सभी विद्याओं का शिक्षण देने से पूर्व ही आचार्य माघनन्दि ने अपने उन ७७० शिष्यों को भावनिर्ग्रन्थ दीक्षा देते समय कहा था :—

गण्डादित्य नराधीश ! शृणु सर्वेऽपि बालकाः ।
इमे दीक्षां हि गृह्णन्ति, महद्भिः पुरुषैर्धृताम् ।।१७५।।
क्व महाव्रतमेतद्धि, सुविरक्ति प्रबोधितैः ।
महाधीरैर्धृतं क्वैते, बालकाः बल वर्जिताः ।।१७६।।
तथापि दीयते देश-काल शक्त्यनुसारतः ।
शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्त सम्मतम् ।।१७७।।
एतेषां भाव नैर्ग्रन्थ्यमेव शक्ति प्रचोदितम् ।
अति बाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम् ।।१७८।।

---

[१] एपिग्राफिका इण्डिका, वोल्यूम III, पृष्ठ २११ एफ एफ

[२] जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख सं० ३२० और ३३४, पृष्ठ ४३-४३ और ६५-६८

सौवर्णं राजतं लौहमयं वेत्रान्वितं च वा।
मतं वलयपिच्छं हि, यथा योग्यं न चान्यथा ॥१७९॥
यस्मादिमे विस्मरन्ति, लीलासंकल्प चोदिताः।
वेत्र दण्डान्वितं पिच्छं, तस्मात्तद्वलयान्वितम् ॥१८०॥

सोना, चांदी और लोहे के वलय से वेष्टित वेत्रदण्ड युक्त पिच्छ हाथ में लिये और वस्त्र धारण किये हुए भाव—निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म में दीक्षित एक साथ ७७० मुनियों के विशाल जनसमूह को कोल्हापुर में देखकर हर्षविभोर उपस्थित जनसमूह ने अवश्यमेव कहा होगा—"अहो ! आज तो यह कोल्हापुर वस्तुतः क्षुल्लकपुर बन गया है। शिलालेखों में क्षुल्लकपुर के नाम से कोल्हापुर के उल्लेख से भी "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

उपरिवर्णित शिलालेखों में आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य आचार्य माघनन्दि, महाराजा गण्डादित्य और उनके महासामन्त निम्बदेव से सम्बन्धित जो उल्लेख हैं, ठीक उसी प्रकार का वर्णन "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक अप्रकाशित एवं हस्तलिखित पुस्तक में भी विद्यमान है। इन दोनों में परस्पर कितना साम्य है, इसका विद्वान् तुलनात्मक दृष्टि से पर्यालोचन कर सकें, इस अभिप्राय से "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक पुस्तक में उल्लिखित एतद्विषयक श्लोक यहां उद्धृत किये जा रहे हैं:—

कुलभूषण योगीन्द्रः सधर्मा सम्प्रकीर्तिताः।
एते हि तस्य पट्टेऽभूत कुलचन्द्रो मुनीश्वरः ॥९९॥
तस्य पट्टे हि संजातो, माघनन्दीति विश्रुतः।
जैनसिद्धान्त चक्रेशः, कोल्लापुर मुनीश्वरः ॥१००॥
त्रिगुप्ति भूषितः सोऽपि, सकलाचार संयुतः।
सर्वतन्त्र स्वतन्त्रात्मा, नैमित्तिकविधौ विधिः ॥१०१॥
तस्मिन्कोल्लापुरे सर्व - भूमीश्वरनतक्रमः।
वीरचूड़ामणिर्भाति, गण्डादित्यो नरेश्वरः ॥१०२॥
तस्य सेनापतिः पुण्य मूर्तिः कीर्ति विभासुरः।
श्री निम्बदेव सामन्तो, वीर सीमन्तिनीपतिः ॥१०६॥

भट्टारक परम्परा के पीठाधीश आचार्यों के पास भव्य भवन, भृत्य, भूमि, चल-अचल सम्पत्ति, विपुल धनराशि, छत्र, चामर, सिंहासनादि राजचिह्नों एवं शिविका आदि रखने का भी प्रावधान आचार्य माघनन्दि ने रखा। यथा :—

तदर्थं राजचिह्नैश्च, भाव्यं भृत्यैर्धनैरपि।
आचार्यस्य हि तत्सर्वं, त्वत्सहायेन नान्यथा ॥२०५॥

तदाखिलादि शास्त्रज्ञं, सिंहनन्दि मुनीश्वरम् ।
समाहूयाथ पट्टाभिषेकं कृत्वा ततः परम् ।।२१०।।

प्रदत्वा शिबिकाच्छत्र, चामरादि परिच्छदान् ।
दत्वा रत्नमयं पिच्छं—चामरे च तथाविधे ।।२११।।

कारयित्वा पुरे नाना वाद्यैस्तस्य प्रभावनाम् ।
सर्वाधिकार पदवीं, दत्वैवाति प्रभावतः ।।२१२।।

तथा देशान्तर स्थानां, नरेन्द्राणां च लेखनम् ।
भिन्नसंघाधिनाथानामपि प्रेषितवान्मुदा ।।२१३।।

आचार्य माघनन्दि कितने प्रतापी, यशस्वी, लोकप्रिय एवं कुशल प्रभावक आचार्य थे, इस सम्बन्ध में यशस्वी अग्रगण्य पुरातत्वविद् विद्वान् स्व० श्री पी. बी. देसाई और "जैनाचार्य परम्परा महिमा" के शताब्दियों पूर्व हुए रचनाकार भट्टारक चारुकीर्ति (३१वें) के उल्लेखों में कितना साम्य है। यह द्रष्टव्य एवं मननीय है। स्व० श्री देसाई ने अपनी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति—'Jainism In South India & Some Jaina Epigraphs' के पृष्ठ १२१ पर लिखा है :—

Maghanandi of the Roopa Narayan temple of Kolhapur was an eminent personality in the history of Jaina church of this area, & he contributed immensely to the prosperity of the faith by his erudition & efficient administration of the ecelesiastical organisations under him & through the able band of his scholarly desciples, during his long regime of nearly three generations.

और चारुकीर्ति (३१वें) ने अपनी रचना "जैनाचार्य परम्परा महिमा" में लिखा है :—

श्री मूलसङ्घाचार्योऽयमिति सर्व प्रसिद्धिजम् ।
तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम् ।।२१४।।

धर्माचाराय कृतवान्पञ्चविंशति पीठिकाः ।
तत्तद्योग्यान्स्थापयित्वा, शिष्यान्शास्त्रविशारदान् ।।२१५।।

राजतं पीठमेतेषां पादुके दारुकल्पिते ।
छत्र चामर शून्यं तद्राजचिह्नमितीडितम् ।।२१६।।

प्रोक्त्वा तद्वापयित्वाथ, तानाहूय मुनीश्वरः ।
आचार्य सेवकाः यूयमिति तेषां समब्रवीत् ।।२१७।।

आचार्य माघनन्दि ने युवावय के अपने ७७० शिष्यों को सिद्धांतों के साथ साथ व्याकरण, छन्दशास्त्र, ज्योतिष आदि सभी प्रकार की विद्याओं का उच्च कोटि

का प्रशिक्षण दे कर भारत के विभिन्न भागों में २५ भट्टारक पीठ (आचार्य पीठ) स्थापित कर जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और भट्टारक परम्परा के विस्तार के लिये देश के कोने-कोने में भेजा। माघनन्दि द्वारा बड़े पैमाने पर किये गये उस देशव्यापी सामूहिक अभियान के परिणामस्वरूप मध्य युग में भट्टारक परम्परा एक बहुजन सम्मत सबल संगठन बन गई और देश के अति विशाल भू-भाग पर इसका उल्लेखनीय वर्चस्व छा गया।

इतिहास के विद्वानों, शोधार्थियों एवं इतिहास में अभिरुचि रखने वालों के लिये यह तथ्य चिन्तनीय, मननीय, पर्यालोचनीय एवं आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक सूक्ष्म दृष्टि से विचारणीय है कि दिगम्बर परम्परा के परम्परागत श्रमणाचार ही नहीं अपितु श्रमण वेष का पूर्णतः परित्याग कर देने के उपरान्त भी भट्टारक परम्परा के मूर्द्धन्य आचार्यों, मण्डलाचार्यों, पीठाधीशों एवं साधुओं ने अपनी परम्परा के नाम—मूल-संघ, कौण्ड-कौण्डान्वय (कुन्द-कुन्दान्वय), देशीगण और पुस्तक गच्छ आदि वही रखे जो दिगम्बर परम्परा में प्रचलित थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भट्टारक परम्परा के कर्णधारों ने पूर्व से प्रचलित इन नामों को अपनाने में यापनीय संघ के आचार्यों एवं यापनीय संघ के भट्टारकों का अनुसरण किया हो। यह स्मरणीय है कि मध्ययुग में कौण्ड-कुण्ड स्थान यापनीयों, भट्टारकों एवं दिगम्बरों का गढ रहा है।

दिगम्बर परम्परा के भट्टारकों और यापनीय संघ के अनेक गणों तथा गच्छों द्वारा दिगम्बर संघ के गणों, गच्छों आदि के नाम अपना लिये जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि दिगम्बर, यापनीय और भट्टारक—इन तीनों परम्पराओं के मध्य युगीन आचार्यों, आचार्य परम्पराओं को पृथक्-पृथक् रूप से पहिचाननाछांटना, इनकी परम्पराओं के आचार्यों की क्रमवद्ध नामावलि तैयार करना, आज के शोधार्थियों के लिए अति दुष्कर ही नहीं अपितु नितान्त असम्भव कार्य हो गया है।

उदाहरण के लिये आचार्य माघनन्दि का नाम अथवा इनके द्वारा अभिनव रूप में संस्थापित भट्टारक परम्परा के किसी भी आचार्य का नाम ले लिया जाय, इन सब ने अपनी परम्परा की पहिचान—मूल संघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशी गण और पुस्तक गच्छ के नाम से दी है। परन्तु क्या कोई भी इतिहास का विद्वान् इस परम्परा के प्राचीन आचार्यों और आचार्य माघनन्दि तथा उनके द्वारा स्थापित भट्टारक परम्परा के आचार्यों को एक ही परम्परा के आचार्य मानने को तैयार है? कभी नहीं। इस भट्टारक परम्परा के आचार्यों ने और स्वयं आचार्य माघनन्दि ने मन्दिरों, वसदियों, मठों आदि का पौरोहित्य किया, साधुओं के आहार आदि की व्यवस्था के लिए, मन्दिरों, वसदियों के निर्माण, पुनर्निर्माण, जीर्णोद्धार अथवा पूजा-अर्चा आदि की व्यवस्था के लिये ग्राम-दान, भूमि-दान, द्रव्य-दान आदि ग्रहण किये। इन आचार्यों द्वारा ग्रहण किये गये ग्राम-दान, भूमि-दान आदि दान का

प्राचीन अभिलेखों से विस्तृत विवरण तैयार किया जाय तो हजारों पृष्ठ की पुस्तक भी अपर्याप्त रहेगी। इस प्रकार दान ग्रहणकरने वाले मठों, मन्दिरों एवं वसदियों में नियत निवास करने और स्वर्ण सिंहासन, छत्र-चामरादि का उपभोग करने वाले भट्टारक परम्परा के आचार्यों और गिरि-गुहाओं में साधनापूर्ण जीवन जीने वाले निष्परिग्रही आचार्यों को एक ही परम्परा का मानना वस्तुतः उन निष्परिग्रही आचार्यों के साथ अन्याय होगा।

आचार्य माघनन्दि का समय

उपलब्ध शिलालेखों में सर्वप्रथम आचार्य माघनन्दि का एक प्रख्यात एव समर्थ मण्डलाचार्य के रूप में सांगली क्षेत्र के तेरदाल नगर के भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर में रट्टवंशीय मुख्य माण्डलिक गोंक द्वारा दिये गये भूमिदान के शिलालेख में अंकित है। इस मन्दिर के निर्माण के पश्चात् इसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर रट्टवंशीय राजा कार्त्तवीर्य द्वितीय और कोल्हापुर के लोक विश्रुत मण्डलाचार्य माघनन्दि को विशेष रूप से तेरदाल में आमन्त्रित किया गया था और वे दोनों ही उक्त शिलालेख के उल्लेखानुसार उस प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय तेरदाल में उपस्थित हुए थे। इस शिलालेख पर वर्ष विक्रम सं. ११८० तदनुसार ई. सन् ११२३-२४ अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य माघनन्दि की कीर्ति ईसा की १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही फैल चुकी थी। उस समय वे कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के अधिष्ठाता और कोल्हापुर राज्य के साथ-साथ उसके आस-पास के विशाल क्षेत्र के मण्डलाचार्य अर्थात् सत्तासम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे। रूप नारायण वसदि का निर्माण कोल्हापुर के शिलाहार वंशीय राजा गण्डरादित्य के महा सामन्त निम्बदेव ने तेरदाल में गोंक द्वारा निर्मापित नेमिनाथ के मन्दिर से पर्याप्त समय पूर्व करवाया था। रूपनारायण वसदि के निर्माण के पश्चात् निम्बदेव ने कोल्हापुर के कवड़ेगोल्ला बाजार में भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर भी बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख कोल्हापुर के शुक्रवारी दरवाजे के पास मिले एक शिलालेख में है। इस शिलालेख में इस मन्दिर की सर्वांगीण सुव्यवस्था के लिये व्यापारियों के "अय्यावले ५००" नामक महा-संघ ने अपने व्यापार की दैनन्दिन आय के अंश का दान वि. सं. ११९२ में सदा के लिये रूपनारायण वसदि के तत्कालीन अधिष्ठाता आचार्य श्रुतकीर्ति को दिया जोकि मण्डलाचार्य माघनन्दि के शिष्य थे।

उपर्युक्त दोनों शिलालेखों की तिथियों के सम्बन्ध में विचार करने पर विक्रम सं. ११८० तक आचार्य माघनन्दि की विद्यमानता और वि. सं. ११९२ से पूर्व उनका स्वर्गगमन अनुमानित किया जा सकता है।

कोल्हापुर के शिलाहारवंशीय महाराजा गण्डरादित्य और उनके महा-सामन्त सेनापति निम्बदेव का समय भी कोल्हापुर एवं उसके आस-पास के तेरदाल

से उपलब्ध हुए शिलालेखों से ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ई. सन् ११४३ के पहले तक का अनुमानित किया जा सकता है। क्योंकि तेरिदाल के ई. सन् ११२३–२४ के शिलालेख में तेरिदाल में नेमिनाथ-मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर माघनन्दि के साथ इन दोनों का उल्लेख है। कोल्हापुर के शुक्रवारी मुख्यद्वार के समीप से उपलब्ध हुए ई. सन् ११४३ के शिलालेख में दान-दाता के रूप में गण्डरादित्य के स्थान पर उसके पुत्र महाराजा विजयादित्य का उल्लेख है। इससे गण्डरादित्य और निम्बदेव का समय ई. सन् ११२३ से ११४३ के बीच का तो पूर्णरूपेण सुनिश्चित ही है।

इन सब पुरातात्विक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आनुमानिक रूपेण यह सिद्धप्राय: हो जाता है कि आचार्य माघनन्दि, महाराजा गण्डरादित्य और महासामन्त निम्बदेव की अभिसन्धि के परिणामस्वरूप जिन ७७० किशोरों को सवस्त्र श्रमण के रूप में दीक्षित कर उन्हें उच्चकोटि का शिक्षण दे, उनमें से योग्यतम मुनियों को अनुक्रमश: मुख्य भट्टारक पीठ तथा विभिन्न प्रदेशों में नव-संस्थापित पच्चीस (२५) भट्टारक पीठों के भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित अधिष्ठित किये जाने की यह आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच के किसी समय में घटित हुई।

उच्च कोटि का प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए उन ७७० विद्वान् एवं पूर्ण यौवन सम्पन्न श्रमणों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में शंकराचार्य के पीठों के अनुरूप अभि-नव रूपेण संस्थापित पच्चीस भट्टारक पीठों के माध्यम से जैनधर्म का अदम्य उत्साह और पूरे वेग के साथ प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। ये भट्टारक पीठ देश के विभिन्न प्रदेशों के ऐसे मध्यवर्ती महत्वपूर्ण स्थानों में संस्थापित किये गये, जहां से उस प्रदेश की चारों दिशाओं में अवस्थित सभी ग्रामों एवं नगरों में धर्म प्रचार कार्य का सुचारु रूपेण संचालन-संरक्षण-संवर्द्धन एवं निरीक्षण किया जा सकता था।

उन पच्चीसों भट्टारक पीठों के पीठाधीश भट्टारकों एवं उनके आज्ञानुवर्ती लगभग साढ़े सात सौ विद्वान् एवं युवक श्रमणों ने उन-उन प्रदेशों के राजाओं, सामन्तों, राज्याधिकारियों एवं श्रीमन्तों के सहयोग से अतुल उत्साह एवं प्रगाढ़ निष्ठा के साथ जैन धर्म का एवं अपनी सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया। उन भट्टारकों और उनके अधीनस्थ विशाल श्रमण समूह के सामूहिक प्रयास एवं राज्याश्रय के परिणामस्वरूप प्रजा के सभी वर्गों से प्राप्त सहयोग का द्रुतगति से ऐसा प्रभाव हुआ कि ईसा की १२ वीं शताब्दी में भट्टारक परम्परा एक देशव्यापी सुदृढ़ धर्मसंगठन के रूप में उभर आई। राजपरिवारों और सभी वर्गों के श्रीमन्तों

ने ग्रामदान, भूमिदान, सम्पत्तिदान आदि के रूप में उन भट्टारकों, भट्टारक पीठों, उनके द्वारा संचालित विद्यालयों, संस्थानों आदि को मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता प्रदान की ।

राजाओं के समान ही छत्र, चामर, सिंहासन, रथ, शिविका, दास, दासी, भूमि-भवन आदि चल-अचल सम्पत्ति और विपुल वैभव के धनी भट्टारक अपने-अपने पीठ से विद्या के प्रसार के साथ धार्मिक शासक के रूप में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे । उन भट्टारक पीठों द्वारा संचालित विद्यापीठों में शिक्षा प्राप्त स्नातकों ने धर्म प्रचार के क्षेत्र के समान ही साहित्य निर्माण के क्षेत्र में भी अनेक उल्लेखनीय कार्य किये । जैन धर्म के मूल स्वरूप में श्रमणों के शास्त्रीय मूल विशुद्ध स्वरूप में विकृतियों के सूत्रपात्र के लिए उत्तरदायी होते हुए भी भट्टारक परम्परा द्वारा किये गये इन सब कार्यों का लेखा-जोखा करने के पश्चात् यदि यह कहा जाय कि एक प्रकार के उस संक्रान्तिकाल में भट्टारक परम्परा ने जैन धर्म को एक जीवित धर्म के रूप में बनाये रखने में बड़ा ही श्लाघनीय कार्य किया, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

भट्टारक परम्परा–अनेक परम्पराओं का संगम

प्रारम्भिक मध्य युग में भट्टारक परम्परा के श्वेताम्बर (संघ की भट्टारक परम्परा) और दिगम्बर (संघ की परम्परा) ये दो भेद तो स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं । श्वेताम्बर संघ की भट्टारक परम्परा कालान्तर में श्रीपूज्य परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हो गई । इस प्रकार केवल दिगम्बर संघ की भट्टारक परम्परा ही भट्टारक परम्परा के नाम से अभिहित किये जाने तथा उसका और कोई दूसरा भेद अवशिष्ट न रह जाने के कारण केवल एक वही भट्टारक परम्परा दिगम्बर परम्परा के अंग के रूप में समझी जाने लगी । प्रसिद्ध विद्वान् दलसुख भाई मालवणिया का मत है कि श्वेताम्बरों में श्रीपूज्य की अपेक्षा यति परम्परा कहना अधिक उपयुक्त होगा ।

यह सब कुछ होते हुए भी प्राचीन शिलालेखों से यह अनुमान किया जाता है कि आज भट्टारक परम्परा का रूप है, वह वस्तुतः पूर्वकाल में समय-समय पर चैत्यवासी, यापनीय, श्वेताम्बर और दिगम्बर इन चारों ही परम्पराओं की कतिपय विभिन्न मान्यताओं का न्यूनाधिक संगम रहा है ।

चैत्यवासी परम्परा का प्रभाव—अपने जन्मकाल में भट्टारक परम्परा ने चैत्यवासी परम्परा की प्रायः सभी प्रमुख मान्यताओं को अपनाया । दिगम्बर परम्परा द्वारा साधु के लिए अनिवार्य माने गये नग्नता के सिद्धान्त का परित्याग कर चैत्यवासी परम्परा के समान अपनी परम्परा के साधुओं के लिए सवस्त्र रहना

भट्टारक परम्परा ने मान्य किया। उग्र विहार के स्थान पर मठों, वसदियों में नियत निवास, अपरिग्रह के स्थान पर चैत्यों का स्वामित्व तथा सोना, चांदी, धन, धान्य, ग्राम, भूमि, भवन आदि परिग्रह का विपुल संग्रह, अहिंसा मूलक निरारम्भ के स्थान पर हिंसामूलक आरम्भ-समारम्भ, चैत्यनिर्माण, आध्यात्मिक भावभक्ति के स्थान पर जन्म, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृषाविहीन, अजरामर, निरंजन-निराकार, अक्षय, अव्याबाध-अनन्त शाश्वत सुख में विराजमान सिद्ध-बुद्ध-वीतराग जिनेन्द्र प्रभु का पाषाण, काष्ठ धातुओं की मूर्तियों में आह्वान, उनका पत्र-पुष्प-फल-तोय-धूप-दीप-नैवेद्य-घण्टा-घडियाल से पूजन-अर्चन, उन्हें मेवा मिष्टान्नादि का भोग-समर्पण, भिक्षाटन के स्थान पर जित्क्षुत्पिपास अलख-अगोचर प्रभु को भोग लगाने के निमित्त मन्दिरों की भोजनशालाओं में निर्मित सुपक्व-सुस्वादु षड्रस गरिष्ठ भोजन से अपने उदर का भरण-पोषण आदि ये सभी श्रमणाचार-विरोधी आचरण एवं आडम्बरपूर्ण द्रव्यपूजा के विधि विधान भट्टारक परम्परा ने चैत्यवासियों से ग्रहण किये। अधिकाधिक लोगों को अपनी परम्परा की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से मन्दिरों में विविध वाद्यवृन्दों की सम्मोहक स्वर लहरियों की धुन-तान-ताल पर संगीत-संकीर्तन आदि के आयोजनों के पश्चात् बड़ी-बड़ी प्रभावनाओं का वितरण भी भट्टारक परम्परा को चैत्यवासी परम्परा की ही देन थी। अतिविशाल भव्य जिन मन्दिरों में नितरां मनोरंजक आयोजनों-प्रभावनाओं से आकर्षित जैन-अजैन-सभी वर्गों के नर-नारियों की, भक्तों की भाव विभोर भीड़ को देखकर हर्षातिरेक से गद्गद् हुए भट्टारकों ने उन मन्दिरों का निर्माण कराने वाले अपने भक्तों को यह कहना भी चैत्यवासी आचार्यों से ही सीखा—"जिन शासन की जड़ें पाताल में पहुँच रही हैं। न केवल जैन अपितु अजैनों के जनौघ भी भक्तिवशात् मन्त्रमुग्ध की भांति उद्वेलित सागर की उत्ताल तरंगों के समान हमारे इन मन्दिरों, वसदियों, मठों की ओर जिनेन्द्र प्रभु की शरण में खिंचे चले आ रहे हैं। इनका निर्माण करवाकर आप लोगों ने अगाध पुण्य का संचय कर लिया है, अक्षय कीर्ति अर्जित कर ली है। अब स्वर्ग के कपाट तो आप लोगों के हितार्थ सदा-सर्वदा के लिए खुल ही गये हैं। यदि आप लोग इसी प्रकार अधिकाधिक मन्दिरों, वसदियों, तीर्थों का निर्माण करवाते रहे, इन्हें मुक्त हस्त हो दान देते रहे तो सुनिश्चित रूपेण मुक्ति के सन्निकट पहुँचते जाओगे और अन्ततोगत्वा एक न एक दिन बड़े-बड़े योगियों के लिए भी दुर्लभ मुक्ति-साम्राज्य के स्वामी सहज ही बन जाओगे।"

वीर नि० सं० ६०९ में और उसके आस-पास भगवान् महावीर के अति विशाल एवं सुदृढ़ धर्म संघ के श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय (यापुलीय अथवा गोप्य)—इन तीन भिन्न-भिन्न इकाइयों में विभक्त हो जाने और चैत्यवासी परम्परा के जन्म (वीर नि० सं० ८४०) के पश्चात् भी लगभग डेढ़ सौ वर्ष (वीर नि० सं० १०००) तक विभिन्न इकाइयों के रूप में गठित हुए तीनों संघों के अधिकांश श्रमणों ने अपनी-अपनी परम्परा द्वारा यत्किंचित् वैभिन्य के साथ निर्धारित साधुवेष

और मूल श्रमणाचार में कोई विशेष अथवा आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया। अपने अपने परम्परागत वेश एवं श्रमणाचार को साधारण हेर-फेर के साथ अपनाये रखा।

वीर नि० सं० १००० के उत्तरवर्ती काल में पूर्वज्ञान जैसे विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न आचार्यों के न रहने के कारण चैत्यवासियों का जनसाधारण पर प्रभाव द्रुत वेग से बढ़ने लगा। चैत्य वासियों द्वारा अपनाये गये चित्ताकर्षक एवं आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों–तौर-तरीकों के परिणामस्वरूप चैत्यवासी परम्परा लोकप्रिय होती हुई जन-जन के मानस पर छाने लगी। श्वेताम्बर दिगम्बर और यापनीय–इन तीनों संघों के बहुसंख्यक अनुयायियों का झुकाव चैत्यवासी परम्परा की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते रहने के फलस्वरूप इन तीनों परम्पराओं के अनुयायियों की संख्या क्षीण होने के साथ-साथ नये दीक्षार्थियों के न मिलने के कारण साधुओं और साध्वियों की संख्या भी क्षीण होने लगी। इससे इन तीनों परम्पराओं के कर्णधार आचार्यों को अपनी-अपनी परम्परा के विलुप्त हो जाने की आशंका हुई। गहन चिन्तन-मनन और विचार-विनिमय के पश्चात् उन्होंने अपनी-अपनी परम्परा के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये उस समय के लोक प्रवाह और बदले हुए समय की मांग को दृष्टिगत रखते हुए चैत्यवासी परम्परा के अनेक कार्य-कलापों द्रव्यार्चना के विधि-विधानों, तौर-तरीकों आदि को कतिपय नवीनताओं के साथ अपनाते हुए अपने वेश एवं श्रमणाचार में भी आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। इस प्रकार भट्टारक परम्परा पर चैत्यवासी परम्परा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

भट्टारक परम्परा पर यापनीय परम्परा का प्रभाव

प्राचीन अभिलेखों के गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन से भट्टारक परम्परा पर यापनीय परम्परा के प्रभाव के अनेक ऐसे आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश में आते हैं, जिनकी ओर पुरातत्वविदों का ध्यान अद्यावधि आकर्षित नहीं हो पाया है। उनमें से कतिपय तथ्यों पर यहां प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा—

(१) सबसे पहला आश्चर्यकारी तथ्य तो यह है कि भट्टारक परम्परा का प्रमुख पीठ अथवा सिंहासन पीठ श्रवण बेलगोल भी सर्वप्रथम यापनीय परम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा संस्थापित किया गया और संसार प्रसिद्ध बाहुबली गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा भी इन्हीं यापनीय परम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र ने गंग राजवंश के महाप्रतापी राजा राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं महामन्त्री चामुण्ड राय के द्वारा करवायी। आचार्य नेमिचन्द्र महामन्त्री चामुण्डराय के गुरु गोम्मटसार के रचयिता और यापनीय परम्परा के काणूरगण के मेषपाषाण गच्छ के आचार्य थे।

अजित तीर्थंकर पुराण तिलकम् के रचयिता महाकवि रन्न (ई० सन् ६६३) ने अपनी इस महान् कृति के बारहवें अध्याय के पद्य संख्या २१ में आचार्य नेमिचन्द्र का परिचय देते हुए लिखा है :—

"श्री नेमिचन्द्र मुनिगल काणूरगण तिलकरवर शिष्यर सद्विद्या निलयण तानोदिसे कुसलनादन अण्णिगदेवम् ।"

कन्नड़ भाषा के महाकवि रन्न के इस उल्लेख की पुष्टि कल्लूरगुड्ड–शिमोगा परगना के सिद्धेश्वर मन्दिर की पूर्व दिशा में पड़े एक शिलालेख से भी होती है कि मेष पाषाण गच्छ, काणूरगण का ही गच्छ था । इस शिला लेख में काणूरगण के आचार्य सिंहनन्दि को जैन धर्म के कट्टर अनुयायी–प्रबल पोषक एवं प्रारम्भ से अन्त तक जैन धर्म का पालन करने वाले, जैन धर्म को पूर्णरूपेण संरक्षण देने वाले गंग राजवंश का संस्थापक बताते हुए काणूरगण मेषपाषाण गच्छ के १३ आचार्यों की पट्टावली भी दी गई है ।[१] ईसा की चौथी शताब्दी से दशवीं–ग्यारहवीं शताब्दी तक संगठित, प्रभावशाली और राज्यमान्य रहे यापनीय संघ को कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट, रट्ट आदि राजाओं का राज्याश्रय प्राप्त रहा । काणूरगण यापनीय संघ का ही गण था । इसके मेष पाषाण गच्छ और तिन्त्रिणीक गच्छ–ये दो गच्छ वड़े ही प्रसिद्ध गच्छ थे । यापनीय संघ के श्रीमूल मूलगण, पुन्नाग वृक्ष मूलगण, कनकोपलगण, कुमुदी (कौमुदी) गण, सूरस्थगण, मडुव अथवा कोटि मडुव गण, वण्डियूरगण आदि अनेक गण थे । यापनीय संघ के इन गणों और गच्छों के अनेक शिलालेख स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं । ऐसी स्थिति में काणूर गण को यापनीय संघ का गण मानने में किसी प्रकार की शंका के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता ।[२]

दिगम्बर परम्परा के शोधप्रिय विद्वान् श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने काणूर गण को यापनीय संघ का गण सिद्ध करते हुए अपना अभिमत व्यक्त किया है :— मेष पाषाण का अर्थ है मेषों के बैठने का पाषाण । ·······तिन्त्रिणीक एक वृक्ष का नाम है । ये पाषाणान्त और वृक्षपरक नाम इस गण के यापनीय संघ के साथ पूर्व सम्बन्ध की स्मृति दिलाते हैं ।[३]

---

१ लेख संख्या २७७, जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ पृष्ठ ४०८-४२६

२ लेख संख्या २१६, २६७, २७७, २६०, ३५३—काणूर गण का मेष पाषाण गच्छ, लेख संख्या २०६, २६३, ३१३, ३७७, ५००, ३८६, ४०८, ४३१, ४५६, ५८२
—जैन शिलालेख संग्रह

३ जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३ की प्रस्तावना, पृष्ठ ५६.

जैन इतिहास के विद्वान् एवं कर्णाटक के यशस्वी पुरातत्वज्ञ स्व. श्री पी. वी. देसाई ने भी पुन्नागवृक्ष मूल गरण, कुमुदी गरण, कण्डूर गरण और कारेय गरण–इन गरणों को यापनीय संघ का ही माना है।[1]

इन ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि क्राणूर गरण (काणूर-गरण कण्डूरगरण) यापनीय संघ का गरण था और चामुण्ड राय के गुरु आचार्य नेमिचन्द्र मूलतः क्राणूर गरण के आचार्य थे।

आचार्य नेमिचन्द्र गंगवंशी महाराजा राचमल्ल के महामन्त्री एवं सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे, दक्षिण मदुरा से चामुण्डराय अपने गुरु के साथ बाहुबली की प्राचीन मूर्ति के दर्शन के लिए प्रस्थित हुए। श्रवण बेल्गुल में उन्होंने बाहुबली की मूर्ति के सम्बन्ध में स्वप्न देखा। प्रातःकाल अपने गुरु आचार्य नेमिचन्द्र के साथ परामर्श कर उनके निर्देशानुसार सब कार्य सम्पन्न कर बाहुबली (गोम्मटेश्वर) को प्रकट करने में समर्थ हुए। उसके पश्चात् आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार की रचना की और चामुण्डराय ने उन्हें श्रवण बेलगोल के मुख्य पीठ का पीठाधीश बनाया–इन सब बातों का उल्लेख प्राचीन ताड़पत्रीय ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

तच्छिष्यो नेमिचन्द्रार्यः, सिद्धान्ताम्भोधि पारगः।
येन सम्बोधितः क्षिप्रं, चामुण्डः पृथिवीपतिः ॥२२९॥
नेमिचन्द्र मुनीन्द्रेण, साकमुक्त्वा महीपतिः ॥२३७॥
तदनुज्ञां परिग्राह्य, दृष्ट्वाबाण प्रयोगतः।
गोमटाधीश्वरं प्राज्ञः, पूजयामास तं जिनम् ॥२३८॥
चामुण्डाध्ययनार्थं हि, तत्र बेल्गुल पत्तने।
सारं संगृह्य सिद्धांतान्नेमिचन्द्रो महामुनिः ॥२३९॥
सारत्रयमितिख्यातं, कृतवान्शास्त्रमुत्तमम्।
तद्गोमट त्रिलोकोद्य, लब्धिसार समाह्वयम् ॥२४०॥
तद् बेल्गुल महासिंहासनासीनो मुनीश्वरः।
नेमिचन्द्राख्यसिद्धान्त देवो गुणनिधिर्बभौ ॥२४४॥
षण्नवत्यन्वितं भक्त्या, सहस्र लक्षपूर्वकम्।
राज्यं चामुण्ड भूपालो, गोमटेशस्य संददौ ॥२४६॥
बेल्गुलाख्यं महातीर्थं, वर्धयन्मुनिपुंगवः।
नेमिचन्द्राख्य सिद्धान्त देवः संतोषतः स्थितः ॥२५३॥[2]

---

१ Jainism in South India & Some Jaina Epigraphs, pages 99, 142, 143 etc.

२ जैनाचार्य परम्परा महिमा (अप्रकाशित) हस्तलिखित प्रति, "आचार्य श्री विनय चंद्र ज्ञान भण्डार, शोध प्रतिष्ठान, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर ३.

भट्टारक परम्परा के अभिनव रूप से उद्भव, उत्कर्ष आदि के सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश डालने वाले "जैनाचार्य-परम्परा महिमा" नामक हाल ही में प्रकाश में आये ग्रन्थ के उपर्युद्धृत उद्धरणों से निर्विवाद रूपेण यह सिद्ध होता है कि गोमटेश्वर (बाहुबली) की आश्चर्यकारी मूर्ति के निर्मापयिता एवं प्रतिष्ठापक चामुण्ड राय के गुरु आचार्य नेमिचन्द्र वेल्गुल भट्टारक पीठ के आचार्य रहे, उन्होंने श्रवण वेल्गुल तीर्थ को लोक प्रसिद्ध बनाया। 'अजित तीर्थंकर पुराण तिलकम्' के रचनाकार कन्नड़ भाषा के महाकवि रन्न के उल्लेखानुसार आचार्य नेमिचन्द्र काणूर गण के आचार्य थे। काणूर गण वस्तुतः यापनीय परम्परा का, यापनीय संघ का गण था, यह भी उपर्युल्लिखित प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों से सिद्ध हो चुका है।

इन सब प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि भट्टारक परम्परा एक समय यापनीय परम्परा के आचार्यों के संचालन में भी रही और उसके परिणामस्वरूप यापनीय परम्परा का प्रभाव भी भट्टारक परम्परा पर रहा।

२. यहां ऐतिहासिक दृष्टि से आत्यन्तिक महत्व का तथ्य भी प्रत्येक मनीषी के लिए मननीय है कि चैत्यवासी परम्परा के जन्म काल से लेकर यापनीय परम्परा के उत्कर्ष काल तक विभिन्न जैन संघों द्वारा केवल तीर्थंकरों की मूर्तियों का ही निर्माण करवाया जाता रहा। तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ-साथ उनके यक्ष-यक्षणियों की मूर्तियों की स्थापना भी तीर्थंकरों के मन्दिरों में की जाने लगी। तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य मुक्तात्माओं अथवा देव-देवियों के पृथक् रूप से मन्दिर बनाने की अथवा उनकी मूर्तियों की प्रतिष्ठापना की परम्परा नहीं रही। यापनीय परम्परा के उत्कर्ष काल में ज्वालामालिनि, पद्मावती आदि देवियों की पृथक् रूपेण मूर्तियां बनाई जाने लगीं, उनके पृथक् (स्वतन्त्र) मन्दिरों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर इस बात की पुष्टि होती है कि श्रवण बेल्गुल में बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठापना में यापनीय परम्परा का भी प्रभाव रहा है।[1]

भट्टारक पद पर साध्वियां

तीर्थंकरों द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन काल से लेकर जैन-धर्म संघ के श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विभागों में विभाजन के समय तक और इस प्रकार के विभाजन के

---

१. Since a temple had been dedicated in honour of this deity in this tract and provision made for her worship.

....The preceptors of the Yapaniya sect seem to have played a substantial role in the spread of the Jvalini Cult.

....We may recall here the teachers of the Yapaniya order in the Sedan and Navalgund areas; who were versed in the occult lore and votaries of the deity Jvalamalini.

—Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs
—by P. B. Desai Page 173

पश्चात् भी दोनों धर्म संघों में आज तक एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता कि साध्वियों का कोई स्वतन्त्र संघ रहा हो। किसी साध्वी को कभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी सम्पूर्ण संघ के सर्वोच्च पद—आचार्य पद पर अथवा भट्टारक पद पर अधिष्ठित किया गया हो—इस प्रकार का भी कोई उदाहरण नहीं मिलता। न इस प्रकार का ही कोई उदाहरण मिलता है कि इन दोनों परम्पराओं में किसी साध्वी अथवा साध्वी प्रमुखा ने किसी पुरुष को साधु धर्म में दीक्षित कर अपना शिष्य बनाया हो। तीर्थ प्रवर्तन काल से लेकर आज तक यही परम्परा चली आ रही है कि चतुर्विध संघ साधु वर्ग में से ही किसी योग्यतम साधु को आचार्य पद पर आसीन करता है और उस परम्परा के सभी साधु और सभी साध्वियां संघ द्वारा नियुक्त किये गये आचार्य के अधीन रहती हैं। साधुवर्ग और साध्वी वर्ग के लिये उस आचार्य की आज्ञा सर्वोपरि और सदा शिरोधार्य रहती है। किन्तु सुन्दर पाण्ड्य से पूर्व मदुरा के पाण्ड्य शासन काल और उसके पूर्व तथा उत्तरवर्ती काल के शिलालेखों में साध्वियों के स्वतन्त्र संघ, भट्टारक साध्वियों, पट्टिनी कुरत्तियार (पट्टधर अथवा आचार्य गुरुणी), तिरुमले कुरत्ती (गुरुणी) के उल्लेख देख कर और उनके साधु शिष्यों को देख कर आश्चर्य का पारावार नहीं रहता। उनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जा रहा है—

१. South Indian Inscriptions Vol.v के लेख सं. ३७० में तिरुमलै कुरत्ती (तिरुमलै के जैन संघ की गुरुणी) का और उसके एक एनाडि कुट्टनन नामक पुरुष साधु का उल्लेख है। इस लेख से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि तिरुमलै की वह गुरुणी एक स्वतन्त्र चतुर्विध संघ की अधिष्ठाता आचार्या अथवा भट्टारिका थीं और उनके श्रमण-श्रमणियों के संघ में साधु (पुरुष साधु) भी शिष्य रूप में उनके आज्ञानुवर्ती थे।

२. इसी जिल्द के लेख संख्या ३७२ में तिरुपरुत्ती कुरत्ती का उल्लेख है जो पट्टिनी भट्टार (प्रमुख स्त्री भट्टारिका) की शिष्या थी।

३. इसी वोल्यूम के लेख सं. ३२२–३२३ में संग कुरत्तिगल (संघ गुरुणी) का और उसकी साध्वी शिष्या शिरिविपैय कुरुत्तियार का उल्लेख है। वह एक स्वतन्त्र संघ की आचार्या, अधिष्ठात्री अथवा अध्यक्षा थीं।

४. लेख सं. (इसी वोल्यूम के) ३५५–५६ में नालकूर अमलनेमी (साध्वी) भट्टार की शिष्या नालकूर कुरत्ती (गुरुणी भट्टार) का और उसकी एक शिष्या नाट्टिकप्पटारार (नाट्यक भट्टार) का उल्लेख है।

५. लेख सं. ३२४–३२६ में तिरुचारणत्तु कुरत्तिगल (श्री चारण पर्वत की पूज्य अध्यक्षा गुरुणी) का उल्लेख है।

६. लेख सं. ३७१ में मम्मइ कुरत्ति और उसकी साध्वी शिष्या अरट्टनेमि कुरत्ती का उल्लेख है।

७. लेख सं. ३९४ में मिअलूर कुरत्ति का उल्लेख है, जो कि पैरूर कुरत्ति (पैरूर की गुरुणी आचार्या) अथवा भट्टारिका की शिष्या और करैकान नाडु स्थित पिडानकुडी निवासी मिगैकुमान की पुत्री थी।

८. तिरुचारणम् पर्वत की पट्टिनी भट्टार के शिष्य वर्गुण द्वारा एक शिलाचित्र उट्टंकित करने का तिरुचारणार पर्वत के गुहाचित्रों में एक उल्लेख विद्यमान है।

इन सब शिलालेखों एवं गुहाचित्रों आदि से एक अत्यन्त आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश में आता है कि तामिलनाडु में—सुदूर दक्षिण में प्राचीन काल में जैनों के सुदृढ़ केन्द्र थे और साध्वियों के ऐसे स्वतन्त्र संघ थे जिनकी भट्टारक, आचार्य अथवा सर्वसत्ता सम्पन्न संचालिकाएं साध्वियां ही थीं।

ये साध्वियों के संघ श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर परम्परा के हों यह तो कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि इन दोनों संघों में परम्परा से, प्रारम्भ काल से लेकर वर्तमान काल तक साध्वियों के समूहों को साधु आचार्यों के ही अधीन रखा जाता रहा है। इन दोनों संघों में साध्वियों को आचार्य पद पर अधिष्ठित करने अथवा भट्टारिका पद प्रदान करने की किसी भी काल में परम्परा नहीं रही। इन दोनों संघों के समग्र आगमिक एवं आगमेतर साहित्य के आलोडन पर भी इस प्रकार का कहीं कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता, जहां किसी साध्वी को ऐसे सर्वाधिकार सम्पन्न एवं स्वतन्त्र आधिकारिक पदों पर आसीन किया गया हो।

इन सव तथ्यों पर तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक मनीषी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि उपरिवर्णित भट्टारिकाएं, पट्टिनियाँ, कुरत्तियाँ, संघ संचालिकाएं-साध्वी मुख्याएं श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों ही संघों से भिन्न किसी अन्य ही जैन संघ की श्रमणी प्रमुखाएं होंगीं।

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय के आलोडन एवं निदिध्यासन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्त्रियों को पुरुषों के समान इस प्रकार का साधिकार सम्मान देने वाला अन्य कोई धर्मसंघ नहीं अपितु यापनीय संघ ही हो सकता है और वे भट्टारिकाएं पट्टिनियाँ, जिनका कि उल्लेख उपर्युल्लिखित शिलालेखों में उपलब्ध होता है, यापनीय संघ की अथवा यापनीय संघ के द्वारा प्रोत्साहित साध्वी समूह की ही हो सकती हैं। कर्णाटक का इतिहास साक्षी है कि यापनीय संघ ने स्त्रियों को सर्वाधिक प्रोत्साहन दिया। दक्षिणापथ में दिगम्बर संघ का उसी प्रकार का वर्चस्व रहा जिस प्रकार का कि उत्तरापथ में श्वेताम्बर संघ का रहा। दिगम्बर संघ ने

अपनी इस मान्यता का दक्षिण में प्रचार किया—"स्त्रीणां न तद्भवे मोक्षः" अर्थात् स्त्रियां अपने उसी भव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं। इसके विपरीत यापनीय संघ ने श्वेताम्बर संघ की "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" अर्थात् स्त्रियों की उसी भव में जन्म-जरा-मृत्यु से सदा सर्वदा के लिए मुक्ति हो सकती है, इस मान्यता के प्रचार के साथ-साथ साध्वियों को साधुओं के समान अधिकार देने में श्वेताम्बर संघ को भी पीछे छोड़ दिया। यापनीय संघ ने साध्वियों को भी साधुओं के ही समान स्वतन्त्र रूप से संघ संचालन का, नर-नारी वर्ग को समान रूप से अपना गृहस्थ शिष्य के रूप में अनुयायी बनाने तथा स्त्री एवं पुरुषों को समान रूप से श्रमणधर्म में दीक्षित कर अपना शिष्य बनाने का अधिकार दिया। उन्होंने जैन संघ के अनेक कठोर नियमों को सरल बना उदार नीति का अवलम्बन लेते हुए देश-काल और मानव-मनोवृत्ति की बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप नियम बनाये। उन्होंने श्वेताम्बर संघ की मान्यता के अनुरूप "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" के समान ही "सग्रन्थानां मोक्षः" अर्थात् सवस्त्र रहते हुए भी साधक मोक्ष प्राप्त कर सकता है और "परशासने मोक्षः" अर्थात्—जैनेतर धर्म का अनुयायी भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है—इन मान्यताओं का प्रचार किया।

यापनीय आचार्यों ने इस गूढ़ रहस्य को भलीभांति पहचान लिया था कि यदि स्त्रियों की धार्मिक भावनाओं को, आध्यात्मिक भावनाओं को उभार कर उन्हें प्रोत्साहित किया जाय तो वे पुरुषों की अपेक्षा कई गुना अधिक धर्म प्रचार कर सकती हैं। यापनीय संघ के आचार्यों द्वारा स्त्रियों का इस प्रकार सम्मान बढ़ाया गया, स्त्रियों की धार्मिक भावनाओं को उभार कर उन्हें प्रोत्साहित किया गया और इस सबके साथ ही साथ कट्टरता का परित्याग कर धर्म सम्बन्धी नियमों में उदारता के साथ सरलीकरण किया गया। उन सब का परिणाम यह हुआ कि मध्य युग में जैनधर्म कर्णाटक प्रदेश का बहुजन सम्मत प्रधान धर्म बन गया। जैन धर्म के दिगम्बर आदि सब संघों से यापनीय संघ अधिक शक्तिशाली, अधिक लोकप्रिय बन गया। कर्णाटक में जैन धर्म की गहरी नींव लग गई। कर्णाटक प्रान्त में चारों ओर घर-घर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में जैन धर्म का वर्चस्व दृष्टि-गोचर होने लगा।

तामिलनाडु के मदुरा तिरुचारणम् मलै आदि क्षेत्रों में जो भट्टारिकाओं, पट्टिनियों, कुरत्तियों आदि के उल्लेख उपरिचर्चित शिलालेखों में उपलब्ध होते हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में तामिलनाडू में भी यापनीय संघ बड़ा लोकप्रिय संघ रहा था। यद्यपि इसका कोई ठोस प्रमाण तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु तामिलनाडु में साध्वियों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से संचालित संघों के अस्तित्व के उल्लेखों से यही अनुमान लगाया जाता है कि कर्णाटक के समान तामिलनाडु में भी यापनीयों का सुनिश्चित रूप से बड़ा प्रभाव रहा होगा। दिगम्बर संघ ने

साध्वियों को इस प्रकार के अधिकार दिये हों, इस बात की तो कल्पना तक भी नहीं की जा सकती ।

इन सब तथ्यों से यही प्रकट होता है कि भट्टारक परम्परा पर यापनीय संघ का न केवल प्रभाव ही पड़ा किन्तु इस संघ ने साध्वियों को साधुओं के समान ही पूर्ण अधिकारों के साथ भट्टारक पद पर आसीन कर भट्टारक परम्परा को किसी समय एक नया मोड़ भी दिया ।

३. भट्टारक परम्परा पर यापनीय संघ के प्रभाव का एक और प्रमाण उपलब्ध होता है । वह यह है कि तिरुचारणत्थुमलै में प्राचीन काल में जैन संघ का विश्वविद्यालय था, उस पर प्रकाश डालने वाले कलुगुमलै से जो बड़ी संख्या में शिलालेख मिले हैं, उनमें एक साध्वी भट्टारिका का उल्लेख है कि उस भट्टारिका ने उस विश्वविद्यालय में जैन सिद्धान्तों का उच्चकोटि का प्रशिक्षण दे विद्वान् स्नातकों को देश के विभिन्न प्रान्तों में धर्म के प्रचार के लिये भेजा ।[1]

इस सन्दर्भ में ढेरों (अगणित) शिलालेख शोधार्थियों के लिए गहन शोध के विषय हैं, जिनमें इस जैन विश्वविद्यालय से उच्च सैद्धांतिक शिक्षण प्राप्त स्नातक-स्नातिकाओं के नाम और सम्भवतः उनकी शैक्षणिक योग्यता अंकित की गई है । इन शिलालेखों में कतिपय कुरत्तिगल (गुरुणियों अर्थात् साध्वियों) के नाम भी अंकित प्रतीत होते हैं । पुरातत्वविदों एवं शोधप्रिय विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से South Indian Inscriptions (Texts), Volume V में बहुत बड़ी संख्या में संग्रहीत शिलालेखों में से तीन अभिलेख यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

नं. ३२१

(A. R. No. 32 of 1894)

In the same place

1. श्री मिरुमलुरुक्कु–
2. रत्तियार माना–
3. क्किआर तिरुचा–
4. रणत्थ [पडेइ] गल मै–
5. वित्त तिरुमेनी–

---

१. There is epigraphic evidence to show that there was a reputed Jaina University at Tiruchcharanathumalai. From the inscriptions found at Kalugumalai we find that a number of disciples trained by the priestess of this University went in different directions to preach Jain Dharma.

—The Forgotten History of the Land's End

—by S. Padmanabhan

नं. ३२४
(A. R. No. 35 of 1894)
In the same place

1. श्री कोत्तूर नाथु—
2. सिरु ओल्लघली—
3. सिद्दाइअंग कोरिआइ
4. सार्थि तिरुसार न–
5. थुक कुरत्तिगल से–
6. वित्त पडिमम्–

नं. ३२६
(A. R. No. 37 of 1894)
In the same place

1. श्री कोत्तूर नात्तु पे—
2. रोंम्पेरू र कु–
3. व्थंग कामनै साथि–
4. तिरुचर नत्थु–
5. क कुरुत्तिगल चेई–
6. त्त पडिमम्–

उपर्युद्धृत अभिलेखों में कुरुत्तिगल शब्द उल्लिखित है, उसका संस्कृत प्रारूप है, "आदरणीया गुरुणी" और "चेइत्त पडिमं" अथवा "सेवित पडिमं" शब्द जैन आगमों में उल्लिखित "प्रतिमाधारी–अर्थात् साधक की विशेष योग्यता 'प्रतिमा' से सम्पन्न ।"

दक्षिण भारत के अभिलेख (मूल) की जिल्द संख्या ५ में ऊपरिलिखित अभिलेखों के समान बहुत बड़ी संख्या में अभिलेख हैं। उन सब अभिलेखों का सूक्ष्म शोधपरक दृष्टि से अध्ययन परिशीलन परमावश्यक है। इन सब अभिलेखों के समीचीन अध्ययन निदिध्यासन से कुरत्तिगल तथा चेइत्त (सेवित) पडिमं और साध्वीसंघ के सम्बन्ध में किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य के प्रकाश में आने की संभावना है।

इस अध्याय में विस्तार के साथ जिन तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है, उन से यह तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि भट्टारक परम्परा पर, आज से पांच-छः शताब्दी पूर्व ही विलुप्त हुई चैत्यवासी परम्परा का और प्रमुख रूप से यापनीय परम्परा का प्रभाव पड़ा। यापनीयों पर श्वेताम्बर परम्परा का पर्याप्त प्रभाव रहा है, यह एक सर्वसम्मत तथ्य है। इस दृष्टि से परोक्ष रूपेण श्वेताम्बर परम्परा का प्रभाव भी भट्टारक परम्परा पर रहा।

उपरिवर्णित बातों पर विचार करने से एक और महत्वपूर्ण तथ्य जो प्रकाश में आता है, वह यह है कि मध्य युग में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनों ही संघों की भट्टारक परम्पराएं पृथक्-पृथक् रूप से अस्तित्व में रहीं। उनमें से यापनीय संघ की भट्टारक परम्परा उस संघ के विलुप्त होने के साथ ही समाप्त हो गई। श्वेताम्बर संघ की भट्टारक परम्परा अपने उद्भव काल से अल्प समय पश्चात् ही श्री पूज्य परम्परा और कालान्तर में यतिपरम्परा के रूप में परिवर्तित हो गई, जो वर्तमान काल में भी विद्यमान है। मध्य युग में उत्तर भारत में यति परम्परा का सर्वाधिक वर्चस्व एवं प्राबल्य रहा। इस प्रकार भट्टारक परम्परा के नाम से जो परम्परा आज विद्यमान है, वह केवल दिगम्बर आम्नाय की भट्टारक परम्परा ही है।

इस प्रकार भट्टारक परम्परा का स्वरूप वीर निर्वाण की सातवीं-आठवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक समय-समय पर मोटे रूप में तीन प्रकार का रहा। वीर निर्वाण की १०वीं शताब्दी से इस परम्परा का वर्चस्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा और वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् तो मुख्यतः दक्षिण में और सामान्य रूप से भारत के अनेक प्रान्तों में इस परम्परा का पर्याप्त वर्चस्व शताब्दियों तक छाया सा रहा।

निष्कर्ष :—प्राचीन शिलालेखों, ग्रन्थ-प्रशस्तियों, चैत्यवासी, यापनीय, भट्टारक आदि परम्पराओं द्वारा समय-समय पर किये गये कार्यों के उल्लेखों एवं अभिनव शोध के परिणामस्वरूप प्राप्त मध्ययुगीन जैन वांग्मय और मुख्यतः 'जैनाचार्य परम्परा महिमा' नामक अप्रकाशित पुस्तक के आधार पर इस प्रकरण में विस्तार पूर्वक जो प्रकाश डाला गया है, उसके निष्कर्ष के रूप में निम्नलिखित नवीन ऐतिहासिक तथ्यों को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है :—

१. श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन पृथक्-पृथक् तीन संघों के रूप में भगवान् महावीर के धर्मसंघ के विभक्त होने के समय ही जैन धर्म संघ में भट्टारक परम्परा का एक प्रकार से बीजारोपण हो चुका था।

२. द्वितीय भद्रबाहु नैमित्तिक (वीर नि० सं० १०३२) के प्रशिष्य माघनन्दि ने भट्टारक परम्परा को एक शक्तिशाली संघ का रूप दिया। आचार्य माघनन्दि और उनके शिष्य आचार्य जिनचन्द्र के आचार्य काल में भट्टारक-परम्परा का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

३. आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द ने भट्टारक परम्परा द्वारा प्रतिष्ठापित मान्यताओं और शिथिलाचार का डटकर विरोध किया। वे भट्टारक परम्परा में दीक्षित हुए थे किन्तु उन्होंने अपने गुरु जिनचन्द्र और भट्टारक परम्परा का परित्याग कर अभिनव धर्म क्रान्ति की। उन्होंने अध्यात्मपरक उपासना

और दिगम्बरत्व के कठोर नियमों को पुनः प्रतिष्ठापित किया। भट्टारक परम्परा और शिथिलाचार के विरुद्ध किये गये विरोध के परिणामस्वरूप ही इनके उत्तरवर्ती विद्वान् भट्टारक ग्रंथकारों ने आचार्य कुन्दकुन्द का धवला, जय धवला जैसे दिगम्बर परम्परा के आगम-तुल्य महान् ग्रन्थों में कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने साक्षात् गुरु का नामोल्लेख तक न करते हुए अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बताया है।

४. कौण्ड कुन्दान्वय—यह परम्परा केवल आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा की बोधक नहीं। भट्टारक, यापनीय, दिगम्बर आदि कतिपय परम्पराओं के मध्ययुगीन केन्द्र स्थल कौण्ड-कुण्ड नामक स्थान से भी 'कौण्ड-कुन्दान्वय' शब्द का सम्बन्ध रहा है।

५. आज के युग में भट्टारक परम्परा जिस रूप में विद्यमान है, इसको आचार्य माघनन्दि ने कोल्हापुर (क्षुल्लकपुर) नरेश गण्डरादित्य और उनके सामन्त सेनापति निम्बदेव की सहायता से ई० सन् १११० से ११२० के बीच के किसी समय में जन्म दिया।

६

यापनीय परम्परा

देवर्द्धि गरिण क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् भगवान् महावीर के मूल धर्म संघ में से पृथक् इकाई के रूप में अथवा पृथक् संघ के रूप में उदित हो सम्पूर्ण धर्म संघ पर कुछ समय के लिए पूर्ण वर्चस्व के साथ छा जाने वाली दक्षिणापथ की परम्पराओं में यापनीय परम्परा का अथवा यापनीय संघ का प्रमुख स्थान रहा है। प्राचीन शिलालेखों एवं जैन वांग्मय में इस परम्परा के यापनीय संघ यापुलीय संघ, यादनिक संघ और गोप्यसंघ—ये नाम भी उपलब्ध होते हैं। आज यह यापनीय परम्परा भारत के किसी भी भाग में विद्यमान नहीं है किन्तु इस परम्परा के विद्वान् आचार्यों व सन्तों द्वारा लिखित कतिपय ग्रन्थरत्न आज भी उपलब्ध हैं। इस परम्परा के उन ग्रन्थों में प्रमुख हैं यापनीय आचार्य शिवार्य द्वारा प्रणीत २१७० गाथाओं का विशाल ग्रन्थ "आराधना" और यापनीय आचार्य अपराजित सूरि द्वारा रचित उसकी विजयोदया टीका। अपराजित सूरि के नाम से विख्यात यापनीय आचार्य विजयाचार्य द्वारा निर्मित दशवैकालिक सूत्र की 'विजयोदया टीका' के उद्धरण भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त यापनीय आचार्य शाकटायन अपर नाम पाल्यकीर्ति द्वारा प्रणीत 'स्त्रीमुक्ति प्रकरण', 'केवलिभुक्ति प्रकरण' और 'शब्दानुशासन अमोघवृत्ति' ये तीन ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

इन्द्रश्चन्द्रः कासकृत्स्न्यापिसली शाकटायनः।
पाणिन्यमर जैनेन्द्राः, इत्यष्टौ हि शाब्दिका॥

संस्कृत साहित्य के इस लोकप्रसिद्ध श्लोक में शाकटायन को महान् शाब्दिक (वैयाकरणी) माना गया है।

मूलाचार में दृव्य तथ्यों के सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् कतिपय विद्वानों ने यह अभिमत अभिव्यक्त किया है कि इसके रचनाकार आचार्य वट्टकेर (ईसा की दूसरी शताब्दी) भी सम्भवतः यापनीय परम्परा के ही आचार्य थे।[1]

यापनीय परम्परा और उसके अनेक गच्छों से सम्बन्धित कुल मिलाकर ३१ शिलालेख केवल एक ही ग्रन्थमाला, जैन शिलालेख संग्रह–प्रथम, द्वितीय और

---

[1] दी जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन—श्री पद्मनाभ एस. जैनी, पृष्ठ ७६

तृतीय भाग में संकलित किये गये हैं। दक्षिण के यशस्वी इतिहासकार श्री पी. बी. देसाई ने अपने "जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स" नामक ग्रन्थ में पूरी खोज के पश्चात् जिन गणों अथवा गच्छों को यापनीय परम्परा का सिद्ध किया है और शिलालेखों से जो गण अथवा गच्छ यापनीय संघ के गण एवं गच्छ सिद्ध होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) **पुन्नाग वृक्ष मूल गण**—अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख वृक्ष मूल गण के नाम से भी उपलब्ध होता है।

(२) **बलात्कार गण**—बलहारि अथवा बलगार गण। बलगार, ऐसा प्रतीत होता है, दक्षिणापथ का कोई स्थान विशेष था। जिस प्रकार कोण्डकुन्द नामक स्थान से निकले यापनीय आचार्यों और दिगम्बर संघ के आचार्यों की परम्पराओं का नाम कौण्ड़कुन्दान्वय पड़ गया, उसी प्रकार बलगार नामक स्थान से निकले आचार्यों के गण का नाम बलहार, बलगारी और कालान्तर में बलात्कार गण पड़ गया।

(३) **कुमिदी गण**—गरग-मुगुद से प्राप्त शिलालेखों में यापनीय संघ के इस गण का नाम कुमुदि गण उल्लिखित है।

(४) **कण्डूर गण अथवा क्राणूर गण**—अदरगुची, होसूर, हुवली, हूली, हूल्लूर और सौंदत्ती से उपलब्ध शिलालेखों में कण्डूरगण का नाम प्राप्त होता है।

(५) **मडुवगण**—सेडम से प्राप्त शिलालेख में मडुवगण का नाम प्राप्त होता है।

(६) **वण्डियूर गण**—इस गण का नाम आडकी, सूड़ी, तेंगली और मनौली से प्राप्त शिलालेखों में उपलब्ध होता है।

(७) **कारेय गण और मेलाप अन्वय**—यह नाम बड़ली, हन्निकेरि, कलम्वाड और सौंदत्ती से प्राप्त शिलालेखों में उपलब्ध होता है।

(८) **कोटि मडुव गण**—यह मडुव गण का ही अपर नाम प्रतीत होता है। आन्ध्र प्रदेश से प्राप्त अम्मराज (द्वितीय) द्वारा दिये गये मलियपुण्डी दान के शिलालेख में मडुव अथवा कोटि मडुव गण, यापनीय संघ और नन्दिगच्छ का उल्लेख है। आन्ध्र प्रदेश में यापनीय संघ का एक मात्र यही शिलालेख अब तक उपलब्ध हो सका है।

(९) **मेष पाषाण गच्छ**—इस गच्छ के नाम का उल्लेख तट्टे केरे से प्राप्त लेख संख्या २१९, निदिगि से प्राप्त लेख संख्या २६७, कल्लूरगुड्डु से प्राप्त लेख संख्या २७७, पुरले से प्राप्त लेख संख्या २९९ और दीड़गुरु से प्राप्त लेख संख्या

३५३ में उपलब्ध होता है। मेष पाषाण वस्तुतः दक्षिणापथ के किसी स्थान विशेष का नाम था, उस स्थान से सम्बन्धित साधुसमूह के संगठन का नाम मेषपाषाण गच्छ पड़ा।

(१०) **तिन्त्रिणीक गच्छ**—इस गच्छ का नामोल्लेख कुप्पुटूरू के लेख सं० २०९, तिप्पूर के लेख सं० २९३, बुद्रि के लेख सं० ३१३, तेवरतेप्प के लेख सं० ३७७, एलेवाल के लेख संख्या ३८९, चिक्क मागड़ि के लेख संख्या ४०८, आद्रि के लेख संख्या ४३१, बन्दलिके के लेख सं ४५९ और बस्तिपुर के लेख संख्या ५८२ में है।[1]

(११) **कनकोत्पल सम्भूत वृक्षमूल गण**—वृक्ष मूल से सम्बन्धित जो गण हैं वे यापनीय परम्परा के नन्दिसंघ से सम्बन्धित हैं।

(१२) **श्रीमूल मूल गण**—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ के लेख संख्या १२१ में श्रीमूल मूल गण द्वारा अभिनन्दित नन्दिसंघ के एरेगित्तूर नामक गण के पुलिकल गच्छ के आम्नायों की छोटी सी नामावलि दी है।

(१३) **सूरस्थ गण**—इस गण का उल्लेख लेख सं० १८५, २९९, ३१८ और ४९० में है।

वृक्ष मूल से सम्बन्धित गण वस्तुतः यापनीय संघ के गण हैं, यह जो कतिपय विद्वानों का अभिमत है, इसकी पुष्टि अनेक अभिलेखों से होती है। उदाहरण के रूप में लेख संख्या १२४ में स्पष्ट उल्लेख है :—

"..................श्री यापनीयनन्दिसंघ पुंनागवृक्षमूलगणे श्री कीर्त्याचार्यान्वये बहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु व्रतसमितिगुप्तिगुप्तमुनिवृन्दवन्दितचरणः कुविलाचार्य आसीत्................।"[2]

इस उल्लेख से निर्विवादरूपेण यह तथ्य प्रकाश में आता है कि नन्दि संघ यापनीय परम्परा का एक प्रमुख संघ था और पुन्नागवृक्षमूलगण उस यापनीय परम्परा के नन्दिसंघ का एक प्रमुख गण।

कदम्ववंशी राजा मृगेश वर्मा (ई० सन् ४७०-४९०) और रविकीर्ति ने पलाशिका के यापनीय साधु-साध्वियों के लिए चातुर्मासावधि में भोजन की व्यवस्था तथा प्रतिवर्ष जिनेन्द्र देव की महिमा पूजा तथा अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के लिये पुरुखेटकग्राम आदि का दान दिया। इस प्राचीन अभिलेख और इसके उत्तरवर्ती

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग २ और ३

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, कड़ब से प्राप्त संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा में राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष का शक सं० ७३५ का लेख संख्या १२४, पृ० १३१

काल के उपरिवर्णित अभिलेखों से यही प्रकट होता है कि यापनीय संघ ईसा की चौथी शताब्दी से दशवीं-ग्यारवीं शताब्दी तक बड़ा ही राजमान्य संघ रहा है। कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट, रट्ट आदि राजवंशों के राजाओं ने अपने-अपने शासनकाल में इस संघ के विभिन्न गणों, गच्छों के आचार्यों तथा साधुओं को ग्रामदान, भूमिदान आदि के रूप में सहयोग देकर जैन धर्मसंघ को संरक्षण प्रदान किया। लगभग छः–सात शताब्दियों तक राजमान्य रहने के कारण यापनीय संघ की गणना मध्ययुग में कर्णाटक के प्रमुख एवं शक्तिशाली धर्म संघ के रूप में की जाती रही।

यापनीय संघ के गणों अथवा गच्छों से सम्बन्ध रखने वाले जिन ३१ अभिलेखों का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे सभी अभिलेख संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा में हैं, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीय संघ का सर्वाधिक वर्चस्व कर्णाटक प्रदेश और उसके आस-पास के क्षेत्रों में ही रहा।

कागवाड़ जैन मन्दिर के भौंहरे में विद्यमान शक संवत् १३१६ तदनुसार वि. सं. १४५१–वीर नि. सं. १६२१ के शिलालेख में यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र को 'तुलुवरराज्यस्थापनाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया है, इससे यह प्रमाणित होता है कि विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर १५वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग ग्यारह सौ-बारह सौ वर्षों तक यापनीय संघ राजमान्य संघ के रूप में प्रतिष्ठित रहा।

यापनीय संघ का प्रादुर्भाव कब हुआ, इसका संस्थापक प्रथम आचार्य कौन था, इसका किन परिस्थितियों में पृथक् इकाई के रूप में गठन किया गया और किस स्थान पर इसका गठन किया गया, इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर पुष्ट प्रमाणों के अभाव में अद्यावधि नहीं दिया जा सका है। इस स्थिति में भी इस संघ के सम्बन्ध में आज तक जितने अभिलेख एवं उल्लेख एकत्रित किये जा सके हैं, उनके आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर विभेद के उत्पन्न होने के समय अर्थात् वीर नि. सं. ६०६ के लगभग अथवा उसके एक दो दशक पश्चात् की अवधि के अन्दर-अन्दर ही इस संघ का पृथक् इकाई के रूप में गठन किया गया हो। प्राप्त उल्लेखों पर गहराई से विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के धर्मसंघ के परम्परागत पुरातन वर्चस्व को यथावत् बनाये रखने तथा इसकी शक्ति को किंचित्मात्र भी विघटित न होने देने के सदुद्देश्य से श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों संघों के बीच की कड़ी के रूप में इस यापनीय संघ का गठन किया गया।

बौद्ध, शैव, वैष्णव, आजीवक आदि अन्यान्य धर्मसंघों द्वारा समय-समय पर करवाये जाने वाले सामूहिक धर्मपरिवर्तनों के परिणामस्वरूप होने वाली हानि से

३५३ में उपलब्ध होता है। मेष पाषाण वस्तुतः दक्षिणापथ के किसी का नाम था, उस स्थान से सम्बन्धित साधुसमूह के संगठन का ना गच्छ पड़ा।

(१०) **तिन्त्रिणीक गच्छ**—इस गच्छ का नामोल्लेख कुप्पू सं० २०६, तिप्पूर के लेख सं० २६३, बुद्रि के लेख सं० ३१३, तेव सं० ३७७, एलेवाल के लेख संख्या ३८६, चिक्क मागड़ि के लेख संख्या के लेख संख्या ४३१, बन्दलिके के लेख सं ४५६ और बस्तिपुर के लेख में है।[1]

(११) **कनकोत्पल सम्भूत वृक्षमूल गण**—वृक्ष मूल से सम्बन्धि वे यापनीय परम्परा के नन्दिसंघ से सम्बन्धित हैं।

(१२) **श्रीमूल मूल गण**—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ १२१ में श्रीमूल मूल गण द्वारा अभिनन्दित नन्दिसंघ के एरेगित्तू के पुलिकल गच्छ के आम्नायों की छोटी सी नामावलि दी है।

(१३) **सूरस्थ गण**—इस गण का उल्लेख लेख सं० १८५, और ४६० में है।

वृक्ष मूल से सम्बन्धित गण वस्तुतः यापनीय संघ के गण हैं, यह विद्वानों का अभिमत है, इसकी पुष्टि अनेक अभिलेखों से होती है। रूप में लेख संख्या १२४ में स्पष्ट उल्लेख है :—

"...............श्री यापनीयनन्दिसंघ पुंनागवृक्षमूलगणे श्री की वहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु व्रतसमितिगुप्तिगुप्तमुनिवृन्दवन्दितचरणः आसीत्............।"[2]

इस उल्लेख से निर्विवादरूपेण यह तथ्य प्रकाश में आता है कि यापनीय परम्परा का एक प्रमुख संघ था और पुन्नागवृक्षमूलगण उ परम्परा के नन्दिसंघ का एक प्रमुख गण।

कदम्बवंशी राजा मृगेश वर्मा (ई० सन् ४७०-४६०) और पलाशिका के यापनीय साधु-साध्वियों के लिए चातुर्मासावधि में भोजन तथा प्रतिवर्ष जिनेन्द्र देव की महिमा पूजा तथा अष्टाह्निक महोत्सव म पुरुखेटकग्राम आदि का दान दिया। इस प्राचीन अभिलेख और इस

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग २ और ३

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, कड़व से प्राप्त संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा में ना प्रभूतवर्ष का शक सं० ७३५ का लेख संख्या १२४, पृ० १३१

आचार्यों ने अनेकानेक युक्तियां दी हैं। "स्त्रीणां न तद्भवे मोक्षः" अपनी इस मान्यता की पुष्टि हेतु कालान्तर में दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में जो ११ गाथाएं प्रक्षिप्त की गई हैं, वे जिज्ञासु विचारकों द्वारा पठनीय एवं मननीय हैं।

कतिपय उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये इस प्रकार के प्रचार से यह स्वाभाविक ही था कि नारीवर्ग के मानस में निराशा तरंगित होती।

महिलावर्ग की इस प्रकार की मनोदशा के परिणामस्वरूप जैन धर्मसंघ को किस प्रकार की क्षति हो सकती है, इस रहस्य को यापनीय संघ ने पहचाना। इसके साथ ही साथ यापनीय आचार्यों ने इस वास्तविक तथ्य को भी भलीभांति समझ लिया कि स्त्रियों को आध्यात्मिक पथ पर, धर्मपथ पर अग्रसर होने के लिए जितना अधिक प्रोत्साहित किया जायगा, उतना ही अधिक धर्मसंघ शक्तिशाली, सुदृढ़ और चिरस्थायी बनेगा। उनकी यह दृढ मान्यता बन गई थी कि धर्म, धार्मिक विचारों, धार्मिक क्रियाओं एवं उनके विविध आयोजनों के प्रति अटूट आस्था और प्रगाढ़ रुचि होने के कारण स्त्रियां धर्मसंघ की आधारशिला को एवं धर्म की जड़ों को सुदृढ़ करने में और धार्मिक विचारों का प्रचार-प्रसार करने में पुरुष वर्ग की अपेक्षा अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती हैं। जो धर्मसंघ महिला वर्ग की धर्म-भावनाओं को जागृत कर अथवा उसको उभार कर, महिलाओं को धर्म मार्ग पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रोत्साहित कर उनका विश्वास प्राप्त कर लेगा, वह धर्म शीघ्र ही सम्पूर्ण समाज का अग्रणी धर्म बन जायगा। इसे सही रूप में यापनीय संघ के आचार्यों ने पहिचाना और पहिचानकर श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य सिद्धान्त "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" का प्रचार प्रारम्भ किया। यापनीय परम्परा के आचार्यों, श्रमणों और श्रमणियों ने "स्त्री उसी भव में मोक्ष जा सकती है, इस सिद्धान्त पर बल देते हुए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में धर्म सभाओं में अपने उपदेशों में कहा :—

णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिय उप्पत्ती, णो असंखिज्जाउया णो अइक्रूरमई, णो ण उवसंतमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदि णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणट्ठाणरहिया णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं त्ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति।"[1]

"अर्थात् स्त्री कोई अजीव नहीं। न वह अभव्य है और न दर्शन विरोधिनी है। न स्त्री मानव योनि से भिन्न किसी अन्य योनि की है। वस्तुतः वह मानव

[1] स्त्रीमुक्ती यापनीय तन्त्रप्रमाणं-यथोक्तं यापनीय तन्त्रे-"णो खलु इत्थी अजीवो.... ।"
नन्दिन विरतन, पृ० ८०२।

जैन धर्मसंघ की रक्षा के लिए तथा अपने से भिन्न धर्मों के अनुयायियों को अपने धर्म के अनुयायी बनाने की आकांक्षा से विभिन्न धर्मावलम्बियों द्वारा आयोजित किये जाने वाले आकर्षक जनरंजनकारी धार्मिक अनुष्ठानों, भांति-भांति के आकर्षक धार्मिक आयोजनों, विधि-विधानों की ओर आकर्षित होते हुए स्वधर्मी बन्धुओं को अपने ही धर्म में स्थिर रखने के उद्देश्य से अन्य तीर्थिकों से मिलते जुलते नये-नये आकर्षक विधि-विधानों, अनुष्ठानों, आयोजनों का आविष्कार करने में यापनीय संघ ने सभी धर्मसंघों को बहुत पीछे रख दिया। अन्यान्य जैनेतर धर्मसंघों ने अपने धर्म के गढ़ के रूप में विशाल मन्दिरों का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया और अन्यान्य धर्मावलम्बियों के समान जैन धर्मावलम्बी भी उन धर्म संघों की ओर आकर्षित होने लगे तो यापनीय संघ ने उन जैनेतर संघों द्वारा निर्मापित मन्दिरों एवं मठों से भी अति भव्य मन्दिरों, मठों, साधु-साध्वियों के लिए विशाल वसतियों का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। जब अन्य धर्मावलम्बियों ने भौतिक प्रलोभनों के माध्यम से लोकमत को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए मन्त्र तन्त्रों, देव-देवियों की साधनाओं का सहारा लिया तो यापनीय भी इस दिशा में उन जैनेतर धर्मसंघों से सदा आगे ही रहे। यापनीयों ने भी मन्त्र-तन्त्रों और अनेक प्रकार के अनुष्ठानों तथा सिद्धियों का सहारा लिया। अधिकांश मन्त्र-तन्त्रों, यन्त्रों, पद्मावती, अम्बिका ज्वालामालिनी आदि देवियों के मन्दिरों का निर्माण कराना, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक कल्पों द्वारा लौकिक सिद्धि के अनुष्ठानों की जनमानस पर छाप जमाना यह सब अधिकांशतः यापनीय संघ की ही प्रत्युत्पन्नमति-सम्पन्न दूरदर्शिता का प्रतिफल था। परिस्थिति के अनुरूप उन्होंने श्रमणधर्म के सिद्धान्तों में यत्किंचित् परिवर्तन करना आवश्यक समझा तो वह भी किया। यापनीय संघ के आचार्यों ने ज्वालामालिनी देवी के स्वतन्त्र मन्दिर बनवाये, उसकी उपासना के भांति-भांति के अनुष्ठानों, जापों आदि को जैन प्रणाली का पुट देकर भौतिक सिद्धियों की प्राप्ति के इच्छुक जनमत को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। जैन धर्म के परम्परागत दुश्चर कठोर नियमों में आवश्यक परिवर्तन कर उनमें पर्याप्त ढील दी। अनेक धार्मिक नियमों को उन्होंने सरल बना दिया। उदाहरण स्वरूप इस सम्बन्ध में सुदत्त मुनि द्वारा सल् को दिया गया "पोय् सल्"—इस सिंह को मारो—यह आदेश ही पर्याप्त है। जिस समय दक्षिण के कर्णाटक प्रान्त में दिगम्बर परम्परा का पर्याप्त वर्चस्व था, उन्होंने बड़ी कड़ाई से इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि स्त्रियाँ उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकतीं। मुक्ति की राह में वस्त्र सबसे बड़ा बाधक-परिग्रह है, वस्त्रों का पूर्णतः परित्याग कर पूर्ण अपरिग्रह नग्नता स्वीकार किये बिना सिद्धि कभी प्राप्त की ही नहीं जा सकती। अपनी इस मान्यता पर अधिकाधिक बल देते हुए दिगम्बर परम्परा के कतिपय आचार्यों ने यहां तक कहना और उपदेश देना अथवा प्रचार करना प्रारंभ कर दिया कि स्त्रियों को श्रमणधर्म की दीक्षा न दी जाय। "स्त्रीणां न तद्भवे मोक्षः" अपनी इस मान्यता की पुष्टि में ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उत्तरवर्ती कतिपय

आचार्यों ने अनेकानेक युक्तियां दी हैं। "स्त्रीणां न तद्भवे मोक्षः" अपनी इस मान्यता की पुष्टि हेतु कालान्तर में दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में जो ११ गाथाएं प्रक्षिप्त की गई हैं, वे जिज्ञासु विचारकों द्वारा पठनीय एवं मननीय हैं।

कतिपय उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये इस प्रकार के प्रचार से यह स्वाभाविक ही था कि नारीवर्ग के मानस में निराशा तरंगित होती।

महिलावर्ग की इस प्रकार की मनोदशा के परिणामस्वरूप जैन धर्मसंघ को किस प्रकार की क्षति हो सकती है, इस रहस्य को यापनीय संघ ने पहचाना। इसके साथ ही साथ यापनीय आचार्यों ने इस वास्तविक तथ्य को भी भलीभांति समझ लिया कि स्त्रियों को आध्यात्मिक पथ पर, धर्मपथ पर अग्रसर होने के लिए जितना अधिक प्रोत्साहित किया जायगा, उतना ही अधिक धर्मसंघ शक्तिशाली, सुदृढ़ और चिरस्थायी बनेगा। उनकी यह दृढ मान्यता बन गई थी कि धर्म, धार्मिक विचारों, धार्मिक क्रियाओं एवं उनके विविध आयोजनों के प्रति अटूट आस्था और प्रगाढ़ रुचि होने के कारण स्त्रियां धर्मसंघ की आधारशिला को एवं धर्म की जड़ों को सुदृढ़ करने में और धार्मिक विचारों का प्रचार-प्रसार करने में पुरुष वर्ग की अपेक्षा अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती हैं। जो धर्मसंघ महिला वर्ग की धर्म-भावनाओं को जागृत कर अथवा उसको उभार कर, महिलाओं को धर्म मार्ग पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रोत्साहित कर उनका विश्वास प्राप्त कर लेगा, वह धर्म शीघ्र ही सम्पूर्ण समाज का अग्रणी धर्म बन जायगा। इसे सही रूप में यापनीय संघ के आचार्यों ने पहिचाना और पहिचानकर श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य सिद्धान्त "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" का प्रचार प्रारम्भ किया। यापनीय परम्परा के आचार्यों, श्रमणों और श्रमणियों ने "स्त्री उसी भव में मोक्ष जा सकती है, इस सिद्धान्त पर बल देते हुए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में धर्म सभाओं में अपने उपदेशों में कहा :—

णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिय उप्पत्ती, णो असंखिज्जाउया णो अइकूरमई, णो ण उवसंतमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदि णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणट्ठाणरहिया णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं त्ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगति।"[1]

"अर्थात् स्त्री कोई अजीव नहीं। न वह अभव्य है और न दर्शन विरोधिनी है। न स्त्री मानव योनि से भिन्न किसी अन्य योनि की है। वस्तुतः वह मानव

[1] स्त्रीमुक्तौ यापनीय तन्त्रप्रमाणं-यथोक्तं यापनीय तन्त्रे-"णो खलु इत्थी अजीवो.... ।" ललित विस्तरा, पृ० ४०२ ।

योनि का ही अभिन्न अंग मानव जाति की ही है। न नारी अनार्य देश की उत्पत्ति है, न असंख्यात वर्षों की आयुष्य वाली और अतिक्रूर मतिवाली है। नारी उपशान्तमोहा न हो ऐसी बात भी नहीं है। अथवा वह शुद्ध आचार वाली नहीं हो, ऐसी बात भी नहीं है। न स्त्री अशुद्ध बोधि वाली है और न व्यवसाय-अध्यवसाय विहीन ही है। नारी अपूर्वकरण की विरोधिनी भी नहीं और न नव गुणस्थानों से रहित ही है। इसी प्रकार स्त्री लब्धियों को प्राप्त करने में भी अयोग्य-अक्षम नहीं है और न वह अकल्याण की भाजन ही है। मुक्ति प्राप्ति के लिये परमावश्यक इन सभी योग्यताओं से सम्पन्न होते हुए भी स्त्री उत्तम धर्म की साधिका और मुक्ति की अधिकारिणी क्यों नहीं हो सकती ? हो सकती है और सुनिश्चित रूप से स्त्री भी पुरुषों के समान ही उसी भव में मोक्ष पा सकती है।"

यापनीय संघ के इस प्रचार का दक्षिणापथ में ऐसा अचिन्त्य-अद्भुत् प्रभाव पड़ा कि थोड़े ही समय में जैन धर्म का यह यापनीय संघ बड़ा ही लोकप्रिय और शक्तिशाली संगठन बन गया। "स्त्रियां उसी भवन में मोक्ष नहीं जा सकतीं" दिगम्बर परम्परा के आचार्यों द्वारा किये गये इस प्रचार से महिला वर्ग में जो एक प्रकार की निराशा घर किये हुए थी, वह यापनीय संघ के "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" इस प्रचार से पूर्ण रूपेण तिरोहित हो गई। नारि-वर्ग में एक बलवती आशा की किरण का अभ्युदय हुआ और वे पूरे उत्साह के साथ यापनीय आचार्यों, श्रमणों एवं श्रमणियों के मार्गदर्शन में, धर्माचरण में, धार्मिक आयोजनों में, धर्म के अभ्युदय एवं उत्कर्ष के लिए आवश्यक चैत्यनिर्माण, वसति निर्माण, तीर्थोद्धार, मन्दिरों के जीर्णोद्धार-पुनर्निर्माण आदि कार्यों में, तन, मन, धन से पूर्णतः सक्रिय सहयोग देने लगीं।

नारी जाति को धर्म-संघ में पुरुषों के समान अधिकार देने में यापनीय संघ वस्तुतः श्वेताम्बर संघ से भी आगे बढ़ गया। स्त्रियों को पूर्ण मनोयोग पूर्वक धर्म-मार्ग पर प्रवृत्त करने हेतु प्रोत्साहित करने के लिये स्त्रियों के साथ यापनीय संघ ने श्वेताम्बर आचार्यों से भी अधिक उदारता प्रदर्शित की। यापनीय संघ ने अपने धर्म-संघ के अभिन्न अंग साध्वी समूह के संचालन का सर्वोच्च अधिकार विदुषी एवं महती प्रभाविका साध्वियों को प्रदान कर उन्हें साधु-संघ के आचार्यों के समान ही साध्वी संघ की आचार्या के पद पर अधिष्ठित किया। वस्तुतः यह एक बड़ा ही क्रांतिकारी एवं अभूतपूर्व कदम था, जो यापनीय संघ ने उठाया।

यापनीय संघ के कर्णधारों द्वारा लिये गये इस समयोचित निर्णय के फलस्वरूप दक्षिणापथ के नारी समाज में नवजीवन की लहर के साथ धर्माभ्युदयकारी कार्यों में न केवल सहभागी होने की ही अपितु सर्वाग्रणी बनने की भी एक ऐसी अदम्य लहर तरंगित हो उठी कि समग्र दक्षिणापथ साधुओं के समान साध्वियों के नगरों के भी आवास-स्थलों, मठों, मन्दिरों, चैत्यालयों, वसतियों, गिरिगुहाओं,

अभिनव तीर्थस्थलों और भांति भांति के धर्मस्थानों से मण्डित हो गया। राजरानियों, अमात्यपत्नियों, अधिकारियों की अर्द्धांगिनियों, श्रेष्ठिपत्नियों और सभी वर्गों की महिलाओं ने व्रत, नियम, धर्माचरण, तपश्चरण के साथ-साथ भूमिदान, द्रव्यदान आहारदान, भवनदान आदि लोक-कल्याणकारी कार्यों में बड़ी उदारतापूर्वक उल्लेखनीय अभिरुचि लेकर जैन धर्म की महती प्रभावना की। इतना ही नहीं बहुत बड़ी संख्या में महिलाओं ने संसार को दुःख का सागर समझ कर जन्म, जरा मृत्यु के दारुण दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने हेतु श्रमणी धर्म में प्रव्रज्याएं भी ग्रहण कीं। साधुओं, साध्वियों, विरक्तों और गृहस्थ किशोरों को सैद्धांतिक शिक्षण देने के लिए अनेक स्थानों पर बड़े-बड़े शिक्षण संस्थानों, महाविद्यालयों की स्थापना हेतु मुक्त हस्त हो दान देने में महिला वर्ग अग्रणी रहा। प्राचीन शिलालेख आज भी इस बात की साक्षी देते हैं कि कर्णाटक प्रान्त में जैनधर्म के प्रचार प्रसार के लिये जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये, जैनधर्म-संघ को एक सबल संगठन बनाने के लिए, जैन-धर्म की प्रभावना—वर्चस्वाभिवृद्धि के लिये, जैन-धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिये और जैन-धर्म के प्रचार प्रसार के प्रवाह को चिरप्रवाही बनाये रखने के लिये दक्षिणापथ के सभी क्षेत्रों में, कोने-कोने में अनेक धर्मस्थानों का निर्माण महिला वर्ग ने करवाया।

उस समय साध्वियों के स्वतन्त्र संघों में साध्वियों की कितनी बड़ी संख्या होती थी, इस तथ्य का बोध हमें अनेक शिलालेखों से होता है। चोलवंशीय महाराजा आदित्य प्रथम के शासनकाल के, वेदाल से उपलब्ध ईसा के नवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के एक शिला लेख से पता चलता है कि अकेले बेडाल क्षेत्र में ई० सन् ८५० के आस-पास ६०० (नौ सौ) से भी अधिक साध्वियां विद्यमान थीं। वेडाल के इस शिलालेख में उल्लेख है कि ५०० (पांच सौ) साध्वियों की अधिनायक आचार्या कुरत्तियार कनकवीर के साथ किसी अन्य जैन संघ की वेडाल में ही विद्यमान ४०० (चार सौ) साध्वियों का मनोमालिन्य हो गया।[1] साध्वियों के उन दोनों शक्तिशाली संघों के बीच हुआ वह झगड़ा बढ़ते-बढ़ते बड़ा उग्र रूप धारण कर गया। इस शिलालेख में उल्लेख है कि वह कनकवीर कुरत्तियार (आचार्या) वेडाल के भट्टारक गुणकीर्ति की अनुयायिनी और शिष्या थी। गुणकीर्ति भट्टारक के धर्मसंघ के अनुयायियों अर्थात् उस आचार्या कनकवीरा कुरतियार के भक्तों ने अपनी गुरुणी के समक्ष उपस्थित हो उन्हें आश्वासन दिया कि वे उनके साध्वीसंघ की रक्षा और उनकी प्रतिदिन की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे।

इस शिलालेख में कनकवीरा कुरत्तियार के गुरु का नाम गुणकीर्ति भट्टारक उल्लिखित है और यापनीय संघ के साधुओं तथा आचार्यों के नाम के अन्त में प्रायः कीर्ति और नन्दि होता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि कुरत्तियार कनक-

[1] एस. आई. आई. (साउथ इण्डि० इन्स्क्रिप्शन्स) वोल्यूम ३. नं० ६२

वीरा का साध्वीसंघ यापनीय संघ का साध्वीसमूह था। ४०० साध्वियों के जिस समूह के साथ कुरत्तियार कनकवीरा का संघर्ष हुआ, वह अनुमानतः दिगम्बर परम्परा के द्रविड़ संघ का साध्वी समूह होगा। कुरत्तियार कनकवीरा का नाम भी तमिलवासियों के नाम से पूर्णतः भिन्न होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि कर्णाटक प्रदेश से यापनीय संघ का यह साध्वीसमूह तमिल प्रदेश में अपनी परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिए आया होगा। संभवतः कनकवीरा कुरत्तियार को और उसके साध्वीसमूह को यापनीय संघ के प्रचार-प्रसार में और अपने संघ को लोकप्रिय बनाने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई होगी। इसके परिणामस्वरूप अपने तमिलप्रदेश में अपनी परम्परा से अन्य परम्परा के साध्वीसमह की सफलता एवं उसके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर द्रविड़ संघ के साध्वीसमूह को सहज ही ईर्ष्या हुई होगी और यह ईर्ष्या ही शनैः-शनैः उग्र रूप धारण कर संघर्ष का रूप बन गई होगी। बहुत सम्भव है तमिल प्रदेश के उस द्रविड़ संघ की साध्वियों ने अपने भक्त-अनुयायियों को इस प्रकार का निर्देश दिया हो कि वे न तो उन साध्वियों के उपदेश को सुनें और न ही उन्हें आहार आदि का दान दें एवं यापनीय संघ की साध्वियों के सम्मुख उपस्थित हुई उस संकट की घडी में, उनके उपदेशों से प्रभावित हो जो तमिलवासी यापनीय संघ के अनुयायी बने उन्होंने कुरत्तियार कनकवीरा के साध्वी-समूह के रक्षण एवं भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेते हुए उन्हें आश्वस्त किया हो। तमिलनाडु के लिए उस समय यह धार्मिक असहिष्णुता की घटना बड़ी महत्त्व-पूर्ण घटना रही होगी, अतः इसका उल्लेख इस शिलालेख में किया गया प्रतीत होता है। कुरत्तियार कनकवीरा यापनीय संघ की ही साध्वीप्रमुखा रही होंगी, इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि साध्वियों को स्वतन्त्र संघ बनाने की स्वतन्त्रता यापनीय संघ के अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर संघ ने दी हो, इस प्रकार का एक भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन उल्लेख भारत के किसी भाग में आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

तमिलनाडु में स्वतन्त्र संघों की (जिनमें साधुवर्ग और साध्वीवर्ग दोनों ही प्रकार के वर्ग सम्मिलित थे) सर्वाधिकार सम्पन्न प्रमुखा अर्थात् आचार्या साध्वियां होती थीं, जिन्हें कुरत्तियार, कुरत्ति अथवा कुरत्तिगल के नाम से अभिहित किया जाता था। तमिलनाडु में इस प्रकार की कुरत्तियार के जो शिलालेख अब तक उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका संकलन साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स वोल्यूम ५.१ में किया गया है, उनमें से लेख संख्या ३२४ और ३२६ में तिरुच्चारणत्तु कुरत्तिगल का उल्लेख है। इसके शिष्य के रूप में वरगुण के नाम का उल्लेख है, जो सम्भवतः पाण्ड्य राजवंश का सदस्य था। इसी प्रकार लेख संख्या ३२२ और ३२३ में संघ कुरत्तिगल का उल्लेख है, जो सम्भवतः एक स्वतन्त्र साधु-साध्वीसंघ की संचालिका, अधिनायका अथवा आचार्या थीं। दक्षिण भारत के शिलालेखों की इसी जिल्द के लेख संख्या ३७० में तिरुमल्लै कुरत्ति का उल्लेख है, जो एनाडि कुट्टनन में रहती

थी। इसके एक साधु शिष्य का भी इस अभिलेख में उल्लेख है। इसी प्रकार उक्त जिल्द के ५ अन्य अभिलेखों में चिरुपोल्लल की पिच्चै कुरत्ति, मम्मई कुरत्ति, तिरुपरुत्ति कुरत्ति आदि गुरुणियों, संघ की संचालिका गुरुणियों का उल्लेख है।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि तमिलनाडु में जैन धर्मसंघ में ऐसे स्वतन्त्र संघ भी थे जिनकी सर्व सत्तासम्पन्न संचालिकाएं कुरत्तियार, कुरत्तिगल अथवा कुरत्ति होती थीं। ये कुरत्तियार यापनीय संघ की थीं अथवा किसी अन्य संघ की, इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने के कारण यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक संघ की ही थीं, किन्तु यापनीय संघ ने साधारणतः समग्र स्त्री समाज को और विशेषतः साध्वियों को जो साधुओं के समान अधिकार दिये उनसे यही अनुमान लगाया जाता है कि तमिलनाडु में भी ईसा की ८वीं ९वीं शताब्दी तक यापनीय संघ का बड़ा प्रभाव रहा हो। इस सम्बन्ध में शोधार्थियों से अग्रेत्तर गहन शोध की अपेक्षा है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता और दक्षिण भारत के ख्यातनामा इतिहासकार श्री पी. बी. देसाई ने इन कुरत्तियार का यापनीय संघ से सम्बन्ध होने की सम्भावना प्रकट करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :—

"The Kurattiyars of the Tamil Country constitute a surprisingly unique class by themselves. According to the conception of the Digambara School women are not entitled to attain Moksha in this life. The Yapaniyas, a well known sect of Jainism in the South and having some common doctrines both with Digambaras and Swetambaras, are characteristically distinguished for their view which advocates liberation or Mukti for women in this life "स्त्रीणां तद्भवे मोक्ष :" The factors that contributed to the growth of the institution of lady teachers in the Tamil land on such a large scale are not fully known. This subject requires further study and research."

यह तो एक सर्वसम्मत तथ्य है कि प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में मानवता के, कर्मयुग के आदि सूत्रधार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा किये गये तीर्थप्रवर्तन-काल से ही स्त्रियां धर्माचरण में पुरुषों से आगे रही हैं। चौबीसों तीर्थंकरों के साधुओं, साध्वियों, श्रावकों तथा श्राविकाओं की जो संख्याएं श्वेताम्बर परम्परा के आगमों एवं दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, उन पर प्रथम दृष्टिपात से ही यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है कि सभी तीर्थंकरों के धर्मसंघों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने सक्रिय रूप से धर्माचरण में कई गुना अधिक उत्साह से, अधिक संख्या में रुचि ली है। श्वेताम्बर परम्परा के आगमों के अनुसार तो चौबीसों तीर्थंकरों के धर्मसंघ में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए साधुओं तथा साध्वियों में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या पर्याप्त रूपेण अधिक है।

इस प्रकार परम्परा से ही नारीवर्ग की, धर्म के प्रति पुरुषों की तुलना में अधिक रुचि रही है। तथापि ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर १०वीं शताब्दी तक की जो पुरातत्व की सामग्री देश के विभिन्न भागों से उपलब्ध हुई है, उसके तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट रूप से यही तथ्य प्रकाश में आता है कि इस अवधि में कर्णाटक प्रदेश की स्त्रियों ने अन्य प्रदेशों की स्त्रियों की अपेक्षा धार्मिक कार्यों में अधिक संख्या में अभिरुचि प्रकट की। यह सब वस्तुतः यापनीय संघ द्वारा उस युग की परिस्थितियों के अनुकूल अपनायी गई सुधारवादी, समन्वयवादी एवं धर्माचरण के कठोर नियमों के सरलीकरण की नीति का ही प्रतिफल था। दिगम्बर परम्परा के आचार्यों द्वारा किये गये "स्त्रीणां न तद्भवे मोक्षः" की मान्यता के प्रचार के पश्चात् समन्वय नीति, सुधारवादी नीति का अथवा उदारतापूर्ण नीति का अनुसरण करते हुए यापनीयों द्वारा श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में प्रतिपादित जिन तीन प्रमुख मान्यताओं का प्रचार-प्रसार किया गया, वे निम्न हैं :—

(१) 'पर शासने मोक्षः'—अर्थात् जैनेतर मत में रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(२) 'सग्रन्थानां मोक्षः'—अर्थात् यह कोई अनिवार्य नियम नहीं कि वस्त्ररहितों का ही मोक्ष हो सकता है, वस्त्रसहित—सग्रन्थ—स्थविरकल्पी साधुओं का भी मोक्ष हो सकता है एवं गृहस्थाश्रमी साधक भी अपनी उत्कृष्ट साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

(३) 'स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः'—अर्थात् स्त्रियां भी पुरुषों के समान उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं।

उत्तर भारत के निवासियों की ही तरह दक्षिणापथ के निवासियों को भी यापनीय संघ के इन उपदेशों ने बड़ा प्रभावित किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यापनीय संघ की "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" इस घोषणा ने तो दक्षिण के नारी समाज में धर्म जागरण की एक तीव्र लहर उत्पन्न कर दी। इसका तत्काल सुन्दर परिणाम यह हुआ कि यापनीय संघ दक्षिण का एक शक्तिशाली और लोकप्रिय धर्मसंघ बन गया। कर्णाटक के अतिरिक्त अन्य दक्षिणी प्रान्तों में इस संघ का कितना व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ, इस सम्बन्ध में यद्यपि निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है तमिलनाडु के अकेले वेड़ाल क्षेत्र में एक साध्वी संघ की ५०० साध्वियों के समूह और उसके प्रतिपक्षी साध्वीसंघ की ४०० साध्वियों के समूह - इस प्रकार केवल एक ही क्षेत्र में ९०० की संख्या में साध्वियों और साध्वीसंघों की आचार्या कुरत्तियार की विद्यमानता के उल्लेख को देखकर तो यही अनुमान लगाया जाता है कि किसी

समय तमिलनाडु में भी नारी जाति को धर्म मार्ग पर अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा देने वाला यापनीय संघ एक लोकप्रिय और शक्तिशाली संघ के रूप में रहा होगा।

जो प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, उनके अध्ययन से यह तथ्य तो प्रकाश में आता है कि ईसा की चौथी से ११ वीं शताब्दी के बीच की सुदीर्घावधि में स्त्रियों की बहुत बड़ी संख्या ने कर्णाटक प्रदेश में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष के लिए अगणित उल्लेखनीय कार्य किये। दक्षिण के विभिन्न क्षेत्रों में महिला वर्ग द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए विशाल परिमाण में अपूर्व उत्साह के साथ व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, संलेखना (संथारा) आदि अध्यात्मपरक धर्माराधन और चैत्य, मठ, मन्दिर, वसदि, निषिधि-निर्माण आदि कार्यों के परिणामस्वरूप यापनीय संघ ईसा की चौथी से ग्यारहवीं शताब्दी तक की अवधि में कर्णाटक प्रदेश का एक प्रमुख एवं शक्तिशाली धर्मसंघ रहा।

इस सम्बन्ध में दक्षिण के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एवं इतिहासकार स्व० श्री पी. बी. देसाई ने अपनी पुस्तक "जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एन्ड सम जैन एपिग्राफ्स" में लिखा है :—

"**POSITION OF WOMEN:—** By for the most outstanding factor, more than any thing else, that might have contributed to the success of the Jaina faith in south India, appears to be the liberal attitude towards women evinced by the Yapanias. For, women are the most potent transmitters of the religious ideas and practices, particularly in India, and the teacher who is able to capture their religious propensities, rules the society. Inspite of their rather not ungenerous attitude towards women, entertained by the teachers of the Brahmanical schools and also of the Buddhist faith, I think, no emphatic assurance like "स्त्रीणां तद्भवे मोक्ष:", was ever held forth by them. Consequently women must have been induced, in large numbers, to follow the faith that gave them this assurance and quenched their spiritual yearnings.

We meet with a large number of women as lay followers of the Jaina Creed in the inscriptions of Karnataka and it is realised from their social status and religious activities that they played a distinguished role in the propagation of the faith. Besides these, we come accross a good many nuns also. [1]

---

१. जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स, पेज १६८

यापनीय संघ का उद्गम काल एवं इसका मूल स्रोत

यापनीय संघ का जन्म किस समय हुआ और इसके उद्गम स्रोत के रूप में कौनसी परम्परा रही, इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा विभिन्न मान्यताएं प्रकट की गई हैं और इस तरह यह प्रश्न अद्यावधि विवादास्पद ही बना हुआ है।

दिगम्बर परम्परा के दो आचार्यों ने यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल सूचनापरक उल्लेख किया है। उनमें प्रथम हैं आचार्य देवसेन। 'दर्शनसार' की प्रशस्ति के अनुसार देवसेन ने विक्रम संवत् ९९० में प्राचीन आचार्यों की गाथाओं का संकलन कर 'दर्शनसार' नामक ५१ गाथाओं की एक छोटी सी कृति की रचना की, जिसमें यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख है :—

"कल्लाणे वरणयरे, दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे।
जावणिय संघ भावो, सिरिकलसादो हु सेवड़दो ॥"

(दर्शनसार -गाथा संख्या २९)

अर्थात्—कल्याण नामक सुन्दर नगर में श्रीकलश नामक एक श्वेताम्बर साधु से विक्रम संवत् २०५ में यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई।

आचार्य देवसेन के इस उल्लेख के अनुसार दिगम्बर परम्परा में यह अभिमत प्रचलित है कि विक्रम सं. २०५ तदनुसार वीर नि. सं. ६७५ एवं ई. सन् १४८ में यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई। आचार्य देवसेन की इस मान्यता के अनुसार श्वेताम्बर दिगम्बर मत विभेद (श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि. सं. ६०९ और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि. सं. ६०६) के ६६ अथवा ६९ वर्ष पश्चात् यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई।

दर्शनसार के रचयिता देवसेन से पूर्ववर्ती देवसेन (आचार्य विमलसेन के शिष्य) ने अपनी रचना 'भाव संग्रह' में श्वेताम्बर परम्परा की वि. सं. १३६ (वीर नि. सं. ६०६) में उत्पत्ति होने का तो उल्लेख किया है किन्तु यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं दिया है।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य रत्ननन्दि ने भी वि. सं. १६२५ की अपनी कृति भद्रबाहुचरित्र में अर्द्ध फालक मत के रूप में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है, जो कतिपय अंशों में विक्रम की दशवीं शताब्दी के ग्रन्थकार भट्टारक हरिषेण द्वारा विक्रम सं. ९८९ की अपनी कृति वृहत् कथा कोष में किये गये अर्द्ध फालक मत की उत्पत्ति से मिलता-जुलता है। भट्टारक हरिषेण ने तो यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु आचार्य रत्ननन्दि ने बिना किसी कालनिर्देश के निम्नलिखित रूप में यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपनी कृति "भद्रबाहुचरित्र" में लिखा है :

तदातिवेलं भूपाद्यैः, पूजिता मानिताश्च तैः ।
धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम् ।। १५३ ।।
गुरुशिक्षातिगं लिंगं, नटवद् भण्डिमास्पदम् ।
ततो यापनसंघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ।। १५४ ।।

इस प्रकार आचार्य रत्ननन्दि ने श्वेताम्बर परम्परा से ही यापनीय संघ की उत्पत्ति बताई है, किन्तु इस संघ की उत्पत्ति किस सम्वत् में हुई, इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। आचार्य देवसेन के कथन से आचार्य रत्ननन्दि के कथन में यह अन्तर है कि आचार्य देवसेन ने कल्याण नामक नगर में श्रीकलश नामक आचार्य से यापनीय परम्परा की उत्पत्ति होने का उल्लेख किया है; जबकि देवसेन से ६३५ वर्ष पश्चात् हुए आचार्य रत्ननन्दि ने इस परम्परा के संस्थापक आचार्य का कोई नामोल्लेख न करते हुए केवल इतना ही लिखा है कि करहाटाक्ष नगर में श्वेताम्बरों से यापनीय परम्परा की उत्पत्ति हुई ।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने यापनीय संघ की उत्पत्ति श्वेताम्बर संघ से बताई है।

इसके विपरीत श्वेताम्बर आचार्य मलधारी राजशेखर ने अपनी एक महत्व-पूर्ण रचना 'षड्दर्शन समुच्चय' में यापनीय संघ को गोप्य संघ नाम से अभिहित करते हुए स्पष्ट शब्दों में दिगम्बर परम्परा का ही एक भेद बताया है। आचार्य राजशेखर ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—

दिगम्बराणां चत्वारो, भेदा नाग्न्यव्रतस्पृशः ।
काष्ठासंघो मूलसंघः, संघौ माथुरगोप्यकौ ।। २१ ।।

अर्थात् निर्वस्त्र रहने वाले दिगम्बरों के काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुरसंघ और गोप्य अर्थात् यापनीय संघ ये चार भेद हैं। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कहीं इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता कि दिगम्बर परम्परा में यह संघ किस समय उत्पन्न हुआ और इसका आद्य प्रवर्तक आचार्य कौन था।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य देवसेन द्वारा रचित 'दर्शनसार' की उपर्युद्धृत गाथा में श्वेताम्बर आचार्य श्रीकलश से विक्रम संवत् २०५ में यापनीय परम्परा के उत्पन्न होने की जो बात कही गई है, उस पर विचार करने और उसे तथ्यों की कसौटी पर कसने के अनन्तर तो आचार्य देवसेन का यह कथन तथ्यों से परे ही प्रतीत होता है। दर्शनसार की उपरिलिखित गाथा में यापनीय परम्परा की उत्पत्ति श्वेताम्बर संघ से बताई गई है किन्तु यापनीय संघ के जितने भी गणों, गच्छों अथवा संघों के नाम जो आज तक प्राचीन शिलालेखों, अभिलेखों, ताम्रपत्रों आदि में उपलब्ध हुए हैं, वे सब के सब दिगम्बर परम्परा के संघों, गणों, गच्छों एवं

अन्वयों के समान नाम वाले हैं। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी गण अथवा गच्छ के समान नाम वाला यापनीय परम्परा का एक भी गण अथवा गच्छ आज तक उपलब्ध हुई पुरातत्व सामग्री में प्राप्त नहीं हुआ है।

उदाहरण के रूप में देखा जाय तो इस अध्याय के प्रारम्भ में यापनीय परम्परा के संघों, गणों अथवा गच्छों के जो नाम दिये गये हैं, प्रायः वे ही अधिकांश नाम दिगम्बर परम्परा के संघों, गणों, गच्छों एवं अन्वयों के भी प्राचीन ग्रन्थों एवं प्राचीन ऐतिहासिक पुरातत्व सामग्री में आज भी उपलब्ध होते हैं। मूल संघ, मूल-मूल संघ, कनकोत्पलसंभूत संघ, पुन्नागवृक्षमूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, कण्डूर गण काणूर गण आदि संघों, गणों और अन्वयों के नाम इन दोनों (यापनीय और दिगम्बर) परम्पराओं में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं के संघों, गणों आदि के जितने भी नाम आज तक उपलब्ध हुए हैं, अधिकांश में परस्पर एक दूसरे के समान हैं। श्वेताम्बर परम्परा के संघों, गणों अथवा गच्छों के नामों से यापनीय परम्परा का एक भी संघ, गण, अथवा अन्वय मेल नहीं खाता।

जहां तक यापनीय संघ की उत्पत्ति का काल जो दर्शनसार की उपर्युद्धृत गाथा में बताया गया है, वह भी तथ्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आचार्य देवसेन ने यापनीय परम्परा की उत्पत्ति का समय विक्रम संवत् २०५ बताया है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि भगवान् महावीर के परम्परागत संघ में सर्वप्रथम जो श्वेताम्बर और दिगम्बर संघों के नाम से विभेद उत्पन्न हुआ, आचार्य देवसेन की मान्यतानुसार अथवा किन्हीं उन प्राचीन आचार्य के अभिमतानुसार, जिनकी कि गाथा का दर्शनसार में देवसेन ने संकलन किया है, उस विभेद के उत्पन्न होने के ६६ वर्ष पश्चात् यापनीय संघ उत्पन्न हुआ। आचार्य देवसेन का यह अभिमत भी तत्कालीन परिस्थितियों एवं एतद्विषयक घटनाचक्र के सन्दर्भ में विचार करने पर संगत प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में यहां निम्नलिखित तथ्यों पर विचार करना प्रासंगिक व उपयुक्त होगा :—

(१) यह तो एक निर्विवाद एवं सर्वसम्मत तथ्य है कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ अथवा ६०६ में भगवान् महावीर का महान् चतुर्विध संघ श्वेताम्बर संघ और दिगम्बर संघ के रूप में दो भागों में विभक्त हो गया था।

(२) वीर नि० सं० ६०९ में उत्पन्न हुए इस संघ भेद का जो सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह इस संघभेद की उत्पत्ति से ४२३ वर्ष पश्चात् का है, जो इस प्रकार है :—

सावत्थी उसभपुरं, सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरिमंतरंजिअ, रहवीरपुरं च णयराइं ॥ ७८१ ॥

पंचसया चुलसीया, छच्चेव सया णवोत्तरा हुंति ।
णाणुपत्ति य दुवे, उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ।। ७८३ ।।

आवश्यक निर्युक्ति की इन दो गाथाओं में अन्य घटनाचक्र के साथ यह बताया गया है कि वीर नि० सं० ६०६ में रथवीरपुर में दिगम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। आवश्यक निर्युक्ति के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु का समय प्रमाण पुरस्सर वीर नि० सं० १०३२ के आस-पास का निर्धारित किया जा चुका है।[1]

(३) भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् का एतद्विषयक उल्लेख है वीर नि० सं० १०५५ से १११५ तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की महान् कृति विशेषावश्यक भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति का, जो इस प्रकार है :—

छव्वास सयाइं, तइया, सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ।। २५५० ।।
रहवीरपुरं नगरं, दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य ।
सिवभूइस्सुवहिम्मि, पुच्छा थेराण कहणा य ।। २५५१ ।।
(विशे० भाष्य)

बोडिय सिवभूईओ, बोडियलिंगस्स होई उप्पत्ति ।
कोडिय कोट्टवीरा, परम्पराफासमुप्पन्ना ।। १५५२ ।।[2]
(वि० भा० बृ० वृ०)

(४) इससे उत्तरवर्ती उल्लेख है जिनदास महत्तर की वीर नि० सं० १२०३ की रचना आवश्यक चूर्णि का, जिसमें कि रथवीरपुर में वीर नि० सं० ६०६ में दिगम्बर परम्परा की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।[3]

(५) इस प्रकार संघभेद विषयक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जो उल्लेख हैं, वे क्रमशः वीर नि. सं. १०३२, वीर नि. सं. १०५५ से १११५ के बीच की अवधि तथा वीर नि. सं. १२०३ के हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संघभेद विषयक दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ बृहद्कथाकोष, दर्शनसार और भद्रबाहु चरित्र में जो उल्लेख हैं, वे क्रमशः वीर नि. सं. १४५६, १४६० और २०६५ के होने के कारण श्वेताम्बर परम्परा के

१. आवश्यक निर्युक्ति। भद्रबाहु द्वितीय के समय के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये देखिये जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३२५ से ३७८।
२. विशेषावश्यक भाष्य, स्वोपज्ञ वृहद् वृत्ति, पृष्ठ १०२०
३. आवश्यक चूर्णि—उपोद्घात निर्युक्ति, पृ० ४२७–४२८

उल्लेखों से क्रमशः सवा चार सौ से लेकर १०६३ वर्ष बाद के हैं। ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन और उनकी तुलना में दिगम्बर परम्परा के अर्वाचीन उल्लेखों में से किस परम्परा के उल्लेख प्रामाणिकता की सीमा के समीप हैं, इसका अनुमान कोई भी विज्ञ सहज ही लगा सकता है।

श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद किन परिस्थितियों में और किन कारणों से हुआ, इस सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इन दोनों परम्पराओं द्वारा बताये गये कारणों के तथ्यातथ्य के निर्णय का यह प्रसंग नहीं है। अभी तो हमें यापनीय परम्परा के उद्भवकाल पर विचार करना ही अभीष्ट है। ऐसी स्थिति में तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक होगा।

संघभेद के समय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य एवं श्रमण-श्रमणी समूहों ने एकादशांगी और अन्य आगमों को सर्वज्ञप्रणीत एवं गणधरों द्वारा ग्रथित बताते हुए उन्हें प्रामाणिक माना और उनमें जैन धर्म के स्वरूप, सिद्धान्तों एवं श्रमणाचार आदि का जिस रूप में विवरण दिया गया है, उसे ही प्रामाणिक तथा आचरणीय माना। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा के आचार्यों, श्रमणों आदि ने यह अभिमत व्यक्त करते हुए कि एकादशांगी विलुप्त हो गई है, एकादशांगी सहित सभी आगमों को अमान्य घोषित कर दिया। मूलतः इसी प्रश्न को लेकर भगवान् महावीर का महान् धर्म संघ दो भागों में विभक्त हो गया। दिगम्बर परम्परा की ओर से मुनियों के नग्न रहने के पक्ष में यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर स्वयं नग्न रहते थे अतः श्रमण को भी निर्वस्त्र ही रहना चाहिये। श्वेताम्बर परम्परा की ओर से मुनियों के लिए वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि धर्मोपकरणों की आवश्यकता पर बल दिया जाता रहा और अपनी इस बात की पुष्टि के लिए यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि द्वादशांगी के प्रथम एवं प्रमुख अंग आचारांग में मुनियों को एक वस्त्र, दो वस्त्र अथवा तीन वस्त्र, पात्र आदि रखने तथा साध्वियों को चार वस्त्र रखने का विधान किया गया है। इस प्रकार गणिपिटक के पांचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतमस्वामी के वस्त्र, पात्र मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणों का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

जिनप्रणीत आगमों में मुनियों के वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि धर्मोपकरणों का स्थान-स्थान पर उल्लेख देखकर ही संभवतः नग्न रहने वाले साधुओं के समूह ने उस काल में उपलब्ध आगमों को अमान्य ठहराते हुए इस प्रकार की मान्यता प्रचलित की कि दुष्षम आरक के प्रभाव से आगमों का लोप हो गया है। वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणों को धारण करने वाले साधु

समूह ने आगमों के विलुप्त हो जाने की बात को अस्वीकार करते हुए यही मान्यता अभिव्यक्त की कि आगमों के कलेवर में पूर्वापेक्षया कालप्रभावजन्य बुद्धिमान्द्य आदि अनेक कारणों से यत्किंचित् ह्रास अवश्य हुआ है, किन्तु जिस रूप में आज आगम अवशिष्ट हैं, वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग भगवान् महावीर की वाणी के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित ही हैं ।

इन दो प्रकार की मान्यताओं के परिणामस्वरूप भगवान् महावीर का संघ दो भागों में विभक्त हो गया । यह विभेद क्रमशः कटु से कटुतर होता हुआ कालान्तर में कहीं अतिगहन खाई का रूप धारण कर चिरस्थाई न हो जाय और उसके परिणामस्वरूप भगवान् महावीर का विश्वकल्याणकारी महान् धर्मसंघ कहीं विभिन्न इकाइयों में विभक्त हो छिन्न-भिन्न न हो जाय अथवा सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भ० महावीर की अमृतोपम दिव्यवाणी के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित परम श्रेयस्कर आगम लोक में सदा सर्वदा के लिए अमान्य न हो जायं, इस भावी आशंका से चिन्तित हो कतिपय दूरदर्शी नग्न, अर्द्धनग्न अथवा एक वस्त्रधारी महामुनियों ने दो संघों के रूप में विभक्त हो रहे महान् जैन संघ में समन्वय बनाये रखने के सदुद्देश्य से, दोनों पक्षों के साधुओं को जोड़े रखने वाली कड़ी के रूप में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों पक्षों के लिए सुग्राह्य हो सके, इस प्रकार का अपना एक समन्वयकारी पक्ष निम्नलिखित रूप में रखा :—

१. आचारांग सूत्र के निर्देशानुसार गोप्य गुप्तांगों को आच्छादित रखने हेतु सभी मुनि अल्प मूल्य वाला वस्त्र रखें ।

२. चर अथवा अचर सूक्ष्म जन्तुओं के प्राणों की रक्षा हेतु मयूर के सुकोमल पंखों से बना पिच्छ अथवा रजोहरण रखें ।

३. अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चरित्र, अनन्त आत्मबल एवं अनुपम-अपरिमेय शारीरिक बल के धनी तीर्थंकर प्रभु के अनुरूप स्वरूप धारण करने का एकान्त मूलक हठाग्रह अथवा कदाग्रह इस उत्तरोत्तर हीयमान काल के मुनि न करें क्योंकि तीर्थंकर प्रभु तीर्थप्रवर्तन के पश्चात् भिक्षाटन भी नहीं करते थे, मुनि विशेष के द्वारा पात्र में लाया हुआ आहार ही ग्रहण करते थे । वे पिच्छ (रजोहरण), पात्र, मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणों में से एक भी धर्मोपकरण धारण नहीं करते थे । ऐसी स्थिति में क्या एक भी मुनि आज ऐसा है, जो पिच्छ और पात्र (कमण्डलु) का परित्याग कर सकता हो ?

४. आज जो आगम उपलब्ध हैं, वे सर्वज्ञ प्रणीत हैं । वीतराग की वाणी को हृदयंगम कर गणधरों ने आगमों की रचना की है । प्रत्येक जैन के लिये, प्रत्येक

मुमुक्षु के लिये ये आगम परम प्रमाणभूत एवं परम मान्य हैं। इन आगमों को ही अमान्य घोषित कर दिया गया तो आध्यात्मिक पथ अन्धकाराच्छन्न हो जायगा।

५. एकान्ततः दिगम्बरत्व के पक्ष की पुष्टि हेतु वस्त्र को मुक्ति प्राप्ति में बाधक तत्व बताकर जो 'स्त्रीणां न तद्भवे मोक्षः' इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना का प्रयास किया जा रहा है, उसे निरस्त किया जाय। स्त्रियों में भी पुरुषों के ही समान अध्ययन, चिन्तन, मनन, तपश्चरण, संयमाराधन आदि सभी प्रकार की योग्यताएं हैं। सहनशक्ति, तपश्चरण आदि कतिपय गुण तो ऐसे हैं, जो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक और सबल हो सकते हैं। पुरुषों के समान स्त्रियां भी उसी भव में मोक्ष पा सकती हैं। अतः 'स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" यह सिद्धान्त सर्वमान्य होना चाहिये।

ऐसा प्रतीत होता है कि आगमानुसारिणी इन सब मान्यताओं के पक्षधर उन दूरदर्शी मुनियों ने अपनी इन मान्यताओं को भगवान् महावीर के धर्मसंघ के समक्ष रखा। प्रमाणाभाव में यह तो नहीं कहा जा सकता कि कितने श्रमण-श्रमणियों अथवा श्रावक-श्राविकाओं ने इन मान्यताओं का समर्थन अथवा विरोध किया, किन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जैन संघ इन समन्वयकारी मान्यताओं पर एक मत नहीं हो सका और उस प्रथम विभेद के समय ही भगवान् महावीर का महान् श्रमण संघ तीन विभागों में विभक्त हो गया। वीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ में ही श्वेताम्बर संघ, दिगम्वर संघ और यापनीय संघ (गोप्य संघ–यापुलीय संघ) इन तीन विभिन्न इकाइयों ने वीर नि० सं० ६०९ में ही अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप जैन धर्म का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार तत्कालीन घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से यही अनुमान किया जाता है कि वीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ में हुए संघभेद के समय में ही यापनीय संघ का उदय हो गया था।

स्व० श्री नाथूराम प्रेमी, जिनकी सभी वर्गों के जैन विद्वानों में एक निष्पक्ष चिन्तनशील विद्वान् के रूप में गणना की जाती रही है, उन्होंने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ में देवसेन आदि दिगम्वराचार्यों की—"श्वेताम्बर दिगम्वर मतभेद के ६९ वर्ष पश्चात् यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई"—इस मान्यता को निरस्त करते हुए अपना निष्पक्ष अभिमत निम्नलिखित रूप मे व्यक्त किया है:—

"यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनों ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समय के हैं, तो कुछ बड़ा दोष नहीं होगा। विशेषकर इसलिये कि सम्प्रदायों की उत्पत्ति की जो-जो तिथियां बताई जाती हैं, वे वहुत सही नहीं हुआ करतीं।"[1]

[1] जैन साहित्य और इतिहास—पृष्ठ ५६

संघ विभेद से ८५४ वर्ष पश्चात् हुए आचार्य देवसेन और संघ विभेद से १४८९ वर्ष पश्चात् हुए आचार्य रत्ननन्दि के उपरिलिखित यापनीय संघ की उत्पत्ति के समय से सम्बन्ध रखने वाले उल्लेख कितने प्रामाणिक हैं, इसका निर्णय कोई भी विचारक सहज ही कर सकता है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उपर्युक्त अभिमत व्यक्त किया गया है, वह केवल अनुमान पर ही नहीं अपितु तत्कालीन तथ्यों पर भी आधारित है। दश पूर्वधर आचार्य वज्र स्वामी के (वीर नि० सं० ५४८ में ५८४) समय में और आर्य रक्षित के (वीर नि०सं० ५८४ से ५९५) समय में भी आवश्यकतानुसार एकाधिक वस्त्र, पात्र रखने वाले मुनि और गोप्य अंगों को (गुप्तांगों को) आच्छादित रखने मात्र के उद्देश्य से, उस समय अग्रहार नाम से अभिहित किये जाने वाले वस्त्रखण्ड और परिमित एवं आवश्यक धर्मोपकरण रखने वाले मुनि एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध जैन संघ में विद्यमान थे, इस प्रकार के उल्लेख जैन वाङ्मय में आज भी उपलब्ध होते हैं। स्वयं आर्य वज्र वस्त्रपात्रधारी मुनिसंघ के आचार्य के शिष्य थे और दूसरी ओर आर्य वज्र के पास ९ पूर्वों के ज्ञान का अध्ययन करने वाले आर्य रक्षित, अग्रहार, परिमित पात्र और आवश्यक धर्मोपकरणों के धारक मुनिसंघ के आचार्य थे।[1] आचारांग, वियाह पण्णत्ति आदि प्रमुख अंगशास्त्रों के उल्लेखों के अनुसार तीर्थप्रवर्तन काल से ही भगवान् महावीर के संघ में वस्त्र-पात्रधारी साधु और अग्रहार आदि परिमित वस्त्र और परिमित पात्रादि धर्मोपकरणों के धारक मुनि—दोनों ही प्रकार के मुनि थे। पूर्वकाल में विशिष्ट अभिग्रहधारी जिन-कल्पी साधुओं के उल्लेख भी आगमों और आगमिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्य वज्र और आर्य रक्षित के आचार्यकाल में भी दोनों प्रकार के वेष वाले मुनियों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। इससे उत्तरवर्ती काल में अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् वीर नि० सं० १००२ से १०१७ तक सत्ता में रहे कदम्बवंशी राजा विजयशिव मृगेश वर्मा के राज्यकाल में भी दक्षिणापथ में दिगम्बर और श्वेताम्बर महासंघ की विद्यमानता के प्राचीन अभिलेख उपलब्ध होते हैं।

इण्डियन एन्टिक्वेरी, वोल्यूम ७, पृष्ठ ३७-३८ अभिलेख सं० ३७ में कदम्ब महाराजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्म द्वारा दिये गये दानपत्र की प्रतिलिपि विद्यमान है। उसमें निम्नलिखित उल्लेख है :—

"....आदिकालराजवृत्तानुसारी धर्ममहाराजः कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेश वर्म्म कालवंगग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान्। अत्र पूर्वमर्हच्छाला—परम पुष्कल-

[1] विस्तृत जानकारी के लिये देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, आचार्य वज्र और रक्षित के प्रकरण।

स्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य एकोभागः, द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्तसद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमण संघोपभोगायेति .... ।"[1]

अर्थात् आदि काल के राजा भरतचक्रवर्ती की नीतियों का अनुसरण करने वाले कदम्ब राजवंश के महाराजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्म ने कालवंग नामक ग्राम तीन भागों में विभक्त कर जैन संघों को दान में दिया। राजा ने उस कालवंग नामक ग्राम के तीन भाग कर एक भाग अर्हत्शाला परम पुष्कल स्थान निवासी साधुओं तथा अर्हत्भगवान् जिनेन्द्रदेवों के लिये, ग्राम का दूसरा भाग वीतराग प्रणीत सद्धर्म की परिपालना में अहर्निश तत्पर श्वेताम्बर महा श्रमणसंघ के उपभोग हेतु और अन्तिम तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के उपभोग हेतु प्रदान किया।

अनुमानतः विक्रम की ५वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण के इस अभिलेख से भी यही सिद्ध होता है कि वीर नि० सं० १००२ के आस-पास श्वेताम्बर मुनि और दिगम्बर मुनि—दोनों प्रकार के वेष वाले मुनि भारत के सुदूरस्थ दक्षिण प्रान्त में भी विद्यमान थे।

इसी प्रकार देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल में भी श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय और केवल अग्रहार धारण करने वाले तथा बाहर आने-जाने की आवश्यकता पड़ने पर ही कटिपट्ट को धारण करने वाले मुनि भी भारत के विभिन्न भागों में विद्यमान थे। इस प्रकार के उल्लेख विपुल मात्रा में जैनवांग्मय में आज भी उपलब्ध होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर ही कटिपट्ट धारण करने वाले अन्यथा केवल अग्रहार धारण करने वाले मुनि विद्यमान थे, इसकी साक्षी सम्बोध प्रकरण की निम्नलिखित गाथा देती है :—

> कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पड़िमाइ जल्लमुवरणेइ।
> सोबाहणो य हिण्डई, बंधइ कडिपट्टमकज्जे ॥

इस गाथा का अन्तिम चरण "बन्धइ कडिपट्टमकज्जे" अर्थात् अकारण ही कटिपट्ट कमर में बांधता है, इस बात का साक्षी है कि सम्बोध प्रकरण के रचनाकार आचार्य हरिभद्रसूरि के समय में अर्थात् विक्रम सं० ७५७ से ८२७—तदनुसार वीर नि० सं० १२२७ से १२९७ के बीच की अवधि तक ऐसे साधु विद्यमान थे।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि तीर्थप्रवर्तन काल से लेकर आचार्य हरिभद्रसूरि के समय तक निर्ग्रन्थ (विषय कषायों की ग्रन्थियों से विहीन) श्वेताम्बर, एक वस्त्र से लेकर तीन वस्त्र तक धारण करने वाले, केवल अग्रहार

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग दो, लेख सं० ९८, पृष्ठ ६९ से ७२

धारण करने वाले, केवल कटिपट्ट धारण करने वाले और दिगम्बर (निर्वस्त्र) मुनि भी भगवान् महावीर के श्रमणसंघ में विद्यमान थे।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अप्रतिहत विहार करते समय तथा भिक्षाटन करते समय अग्रहार अथवा कटिपट्ट धारण करने वाले मुनि संघभेद के समय अर्थात् वीर नि० सं० ६०६ में भी विद्यमान थे और उन्होंने भगवान् महावीर के संघ को छिन्न-भिन्न होने, छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटकर विघटित न होने देने के सदुद्देश्य से ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के बीच समन्वय बनाये रखने हेतु इन दोनों सम्प्रदायों के बीच का मध्यमार्ग अपनाया और उनका संघ यापनीय संघ—गोप्य संघ अथवा आपुलीय संघ के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।

यह है यापनीय संघ की उत्पत्ति का इतिहास जो श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो संघों में भगवान् महावीर के धर्मसंघ के विभक्त होने के समय अर्थात् वीर नि. सं. ६०६ में अथवा धर्मसंघ के विभक्त होने के एक दो दशक पीछे अस्तित्व में आया।

यापनीय संघ को मान्यताएं

यापनीय संघ की मान्यताएं क्या थीं, इस सम्बन्ध में पूर्ण अथवा सांगोपांग विशद् विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि आज यापनीय परम्परा कहीं अस्तित्व में नहीं है। उसकी समाचारी एवं मान्यताओं का अथवा उसके दैनन्दिन कार्यकलापों अर्थात् दिनचर्या का विस्तृत विवरण बताने वाला साहित्य भी आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल निम्नलिखित थोड़े से ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं :—

१. शिवार्य की मूलाराधना,

२. यापनीय आचार्य अपराजित अपर नाम विजयाचार्य द्वारा रचित (मूलाराधना की) विजयोदया टीका।

३. शाकटायन (पाल्यकीर्ति) द्वारा रचित स्त्रीमुक्ति प्रकरण,

४. यापनीय आचार्य अपराजितसूरि द्वारा रचित दशवैकालिकसूत्र की विजयोदया टीका के कतिपय उद्धरण

५. शाकटायन अपर नाम पाल्यकीर्ति द्वारा ही रचित केवली-मुक्ति प्रकरण

६. शाकटायन (पाल्यकीर्ति) द्वारा रचित शब्दानुशासन स्वोपज्ञ अमोघ-वृत्ति सहित।

७. हरिभद्रसूरि द्वारा रचित "ललितविस्तरा" में यापनीय परम्परा की मान्यताओं अथवा समाचारी के ग्रन्थ "यापनीय तन्त्र" के उद्धरण।

८. एपिग्राफिका कर्णाटिका आदि पुरातत्व के शोध ग्रन्थों में उपलब्ध यापनीय परम्परा और इसके गणों आदि से सम्बन्धित ३१ से ऊपर शिलालेख ताम्रानुशासन आदि।

९. जैन साहित्य में यत्र-तत्र विकीर्ण यापनीय संघ सम्बन्धी उल्लेख।

इस साहित्य के अवलोकन से यापनीय परम्परा की मान्यताओं के सम्बन्ध में जो थोड़े बहुत तथ्य प्रकाश में लाये जा सकते हैं, वे इस प्रकार हो सकते हैं :—

दिगम्बराचार्य रत्ननन्दि ने 'भद्रबाहुचरित्र' नामक अपनी रचना में उल्लिखित "धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम्।" इस श्लोकार्द्ध से यह स्वीकार किया है कि यापनीय संघ के साधु-साध्वियों और आचार्यों आदि का आचार-विचार श्वेताम्बर परम्परा के साधु-साध्वियों के अनुरूप था। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यापनीय परम्परा की मान्यताएं अधिकांश में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं से मिलती-जुलती थीं।

२. यापनीय संघ की मान्यताओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख यापनीय आचार्य एवं आठ महा वैयाकरणां में से पांचवें महान् वैयाकरणी शाकटायन द्वारा रचित, पूर्वकाल में अतीव लोकप्रिय व्याकरण 'शब्दानुशासन' की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति में उपलब्ध होते हैं। उन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि यापनीय संघ उन सभी आगमग्रन्थों (आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैकालिक आदि) को उसी प्रकार अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था जिस प्रकार कि श्वेताम्बर परम्परा प्रारम्भ से लेकर आज तक मानती आ रही है। 'अमोघवृत्ति' के वे महत्त्वपूर्ण उल्लेख इस प्रकार हैं :—

"एतमावश्यकमध्यापय", "इयमावश्यकमध्यापय।" (अमोघवृत्ति, १–२–२०३–२०४)

"भवता खलु छेदसूत्रं वोढव्यम्। निर्युक्तीरधीष्व निर्युक्ती–रधीयते।" (अमोघवृत्ति ४–४–११३–४०)

"कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकालाः पठिताः।" (अमोघवृत्ति ३–२–४७)
"अथो क्षमाश्रमणैस्ते ज्ञानं दीयते।" (अमोघवृत्ति १–२–२०१)

यापनीय संघ के इन्हीं महावैयाकरणी आचार्य शाकटायन-अपर नाम पाल्यकीर्ति ने जैसा कि पहले बताया जा चुका है "स्त्रीमुक्ति प्रकरण" और "केवलिभुक्ति प्रकरण" नामक दो लघु ग्रन्थों की रचना कर "स्त्री उसी भव में मोक्ष जा सकती है" और "केवली कवलाहार ग्रहण करते हैं" इन दोनों मान्यताओं को बड़े ही

यौक्तिक ढंग से सिद्ध किया है। यह तो सर्वविदित है कि दिगम्बर परम्परा "न स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" और "केवलिनः कवलाहारो न भवति", अर्थात् स्त्रियां उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकतीं और जिनको केवलज्ञान हो गया है, वे कवल यानि ग्रास के रूप में आहार (स्थूल आहार) नहीं करते—इन दो मान्यताओं को मानती और इन मान्यताओं का प्रचार करती है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि स्त्रियां उसी भव में मोक्ष जा सकती हैं और केवल ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् भी केवली कवलाहार ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार यापनीय परम्परा भी श्वेताम्बर परम्परा की ही तरह स्त्री-मुक्ति और केवलीभुक्ति के सिद्धान्त की पक्षधर थी, यह स्पष्ट है।

यापनीय आचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्ति) विक्रम की नवमीं शताब्दी के आचार्य थे। इनसे पूर्व के (विक्रम की आठवीं शताब्दी के) यापनीय आचार्य अपराजितसूरि (विजयाचार्य) ने विक्रम की पांचवीं शताब्दी के अपनी परम्परा के प्राचीन आचार्य द्वारा रचित २१७० गाथाओं वाले वृहत् ग्रन्थ आराधना (मूलाराधना) पर विजयोदया नाम की टीका की रचना की। इन्हीं यापनीय परम्परा के आचार्य अपराजितसूरि (विजयाचार्य) ने श्वेताम्बर और यापनीय—दोनों परम्पराओं द्वारा समान रूप से मान्य दशवैकालिकसूत्र पर भी विजयोदया नाम की टीका की रचना की। विजयोदया नाम की इन दोनों टीकाओं में से आराधना की विजयोदया टीका आज भी उपलब्ध है। दशवैकालिक पर लिखी गई पूर्ण विजयोदया टीका तो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके अनेक उद्धरण आज भी उपलब्ध एवं सुरक्षित हैं। आराधना की विजयोदया टीका में स्वयं अपराजितसूरि ने दशवैकालिकसूत्र पर स्वयं द्वारा लिखी गई विजयोदया टीका का उल्लेख करते हुए लिखा है :—दशवैकालिक टीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादि दोषा इति नेह प्रतन्यते। अर्थात् दशवैकालिक की विजयोदया टीका में उद्गमादि दोषों का वर्णन कर दिया गया है। अतः यहां पिष्ट-पेषण नहीं किया जा रहा है। अपराजितसूरि द्वारा आराधना की विजयोदया टीका में किये गये उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने पूर्वाचार्य की रचना "आराधना" की अपेक्षा जैनागम दशवैकालिकसूत्र को अधिक महत्त्व देते हुए आराधना पर टीका की रचना करने से पूर्व दशवैकालिक पर टीका की रचना की।

अपराजितसूरि अपर नाम विजयाचार्य ने आराधना की टीका में स्थान-स्थान पर अपने पक्ष की पुष्टि हेतु श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों के उद्धरण प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हुए मुनियों को धर्मोपकरण के रूप में वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछण, रखने, आवश्यकतानुसार एक, दो अथवा तीन वस्त्र रखने, उनकी प्रतिलेखना करने आदि का स्पष्ट शब्दों में

समर्थन किया है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में यापनीय आचार्य अपराजितसूरि ने आचारांगादि आगमों के उद्धरण अपने पक्ष की पुष्टि में दिये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. 'यद्यं वं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तत्कथं ?'

२. 'आचारप्रणिधौ भणितं'

३. 'प्रतिलेखेत् पात्रकम्बलं ध्रुवमिति, असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ?'

४. आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयो नाम, तस्य पंचमे उद्देशे एवमुक्तम्—"पड़िलेहेणं पादपुंछणं उग्गहं कदासणं अण्णदरं उवधिं पावेज्ज।"

५. वत्थेसणाए वुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज, पडिलेहणं बिदियं। एत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहण तिदियं। एत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं।

६. पुनश्चोक्तं तत्रैव—"आलाबुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं अप्पबीजं अप्पसरिदं तहा अप्पाकारं पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामीति" वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?

७. वरिसं चीवरधारी तेन परमचेलगो जिणो।

८. ण कहेज्ज धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिदि।

९. कसिणाइं वत्थकंवलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं इदि।

१०. द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते—"अह पुण एयं जाणेज्ज—पातिकते हेमंतेहिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठावेज्ज।"[1]

विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के यापनीय आचार्य शिवार्य द्वारा भगवती आराधना में उल्लिखित मेतार्य मुनि का आख्यान, अधिकांश गाथाएं और उद्धृत कल्प व्यवहार आदि श्रुतशास्त्र जिस रूप में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं उसी प्रकार उसी रूप में यापनीय परम्परा में भी मान्य थे।

---

[1] भगवती आराधना की गाथा संख्या ४२७ की यापनीय आचार्य अपराजित (विजयाचार्य) द्वारा रचित विजयोदया टीका।

इन उपरि लिखित तथ्यों एवं उद्धरणों से यह सिद्ध है कि प्रारम्भ में यापनीय परम्परा की मान्यताएं एवं आचार-विचार श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं और आचार-विचार के अधिकांशतः अनुरूप ही थे ।

दर्शनप्राभृत के टीकाकार दिगम्बराचार्य श्रुतसागरसूरि ने यापनीयों की मान्यताओं पर कुछ और अधिक प्रकाश डालते हुए दर्शन प्राभृत की टीका में लिखा है :—"यापनीयास्तु बेसरा इव उभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं पर—शासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति ।" अर्थात्—यापनीय लोग तो बिना नाथ (नाक की रस्सी) के बैलों की तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं की बातों को मानते हैं। वे लोग रत्नत्रय की पूजा करते हैं, कल्पसूत्र की वाचना करते हैं, स्त्रियों का उसी भव में मोक्ष होना मानते हैं। वे केवलियों का कवलाहार और जैनेतर धर्म के अनुयायियों का सग्रन्थावस्था अर्थात् सवस्त्रावस्था में भी मोक्ष मानते हैं।

इस उल्लेख में 'रत्नत्रयं पूजयन्ति' इस वाक्य को देखकर शोधार्थियों के मन में यह प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है कि क्या श्रुतसागरसूरि के समय में यापनीयों में कोई ऐसा साधुसमूह भी था जो तीर्थंकरों की मूर्ति के स्थान पर रत्नत्रय—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की पूजा करता था? श्रुतसागरसूरि द्वारा उल्लिखित यापनीयों की शेष सब मान्यताएं श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं के समान ही हैं।

दर्शन प्राभृत की टीका के उपर्युल्लिखित उद्धरण—'कल्पं च वाचयन्ति'—इस वाक्य को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बरों और यापनीयों की मान्यताओं में कोई अन्तर ही नहीं था, अथवा वे इस मान्यता की दृष्टि से तो श्वेताम्बरों के बिल्कुल समीप ही थे।

श्वेताम्बराचार्य गुणरत्न ने यापनीय साधुओं के वेष और उनके दो तीन कार्य-कलापों पर प्रकाश डालते हुए षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में लिखा है कि यापनीय संघ के मुनि नग्न रहते हैं, मोर की पिच्छी रखते हैं, पाणितलभोजी हैं, नग्न मूर्तियों की पूजा करते हैं तथा वन्दन-नमस्कार करने पर श्रावकों को 'धर्म-लाभ' कहते हैं।

'भगवती आराधना' (मूलाराधना) के गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन से यापनीय संघ की और भी अनेक प्रमुख मान्यताओं का पता चलता है। उदाहरण के रूप में मूलाराधना के 'विजहणाधिकार' की निम्नलिखित गाथाओं से विक्रम की पांचवीं शताब्दी में यापनीय परम्परा के साधुओं में प्रचलित एक आश्चर्यकारी रीति-नीति अथवा प्रचलन का पता चलता है :—

एवं कालगदस्स दु, सरीरमंतोवहिज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकए तं, पयं वि किं चंति जदणाए ।। १९९९ ।।
वेमाणिओ थलगदो, सम्मंमि जो दिसि य वाणवितरओ ।
गड्डाए भवणवासी, एस गदी से समासण्णे ।। २००० ।।

इन गाथाओं का सारांश इस प्रकार है :—यदि किसी साधु का देहावसान हो जाय तो साधु लोग ही उस शव को अपने कन्धों पर उठा कर दूर जंगल में एकान्त में ले जाकर यतनापूर्वक वहां रख दें और अपने स्थान पर लौट आवें ।

दूसरे दिन पुनः जंगल में उसी स्थान पर जायें और उसी शव की जांच पड़ताल करें । यदि वह शव जिस दशा में रखा गया था, उसी दशा में समतल भूमि पर मिले तो समझना चाहिये कि उस साधु का जीव वैमानिक देवों में उत्पन्न हो गया है । यदि शव किसी दूसरी दिशा की ओर मुड़ा मिले तो समझ लिया जाय कि वह जीव वाणव्यन्तर देव के रूप में उत्पन्न हो गया है । यदि वह शव किसी गड्ढे में पड़ा मिले तो समझना चाहिये कि उस साधु का जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न हो गया है ।

इन गाथाओं से यह सिद्ध होता है कि विक्रम की पांचवीं शताब्दी तक यापनीय संघ में यह परिपाटी अथवा प्रथा प्रचलित थी कि किसी साधु के दिवंगत हो जाने पर उसके शव को साधु ही अपने कंधों पर उठाकर जंगल में ले जाकर रख आते थे ।

वीर नि० सं० ५८४ (वि० सं० ११४) से वीर नि० सं० ५९५ (वि० सं० १२५) के बीच की अवधि में युगप्रधानाचार्य पद पर रहे आर्य रक्षित के समय में श्वेताम्बर परम्परा में भी इसी प्रकार की परिपाटी प्रचलित थी । किसी साधु का प्राणान्त हो जाने पर उसके शव को साधु ही अपने कन्धों पर उठा कर ले जाते थे और जंगल में यतनापूर्वक समतल भूमि पर रख आते थे। इस सम्बन्ध में प्रभावक चरित्र के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

अन्यदानशनात् साधौ, परलोकमुपस्थिते ।
संज्ञिता मुनयो देहोत्सर्गाय प्रभुणा दृढम् ।।१६९।।

गीतार्था यतयस्तत्र, क्षमाश्रमणपूर्वकम् ।
अहं प्रथमिकां चक्रुस्तत्तन्नूद्वहने तदा।।१७०।।

कोपाभासाद् गुरुः प्राह, पुण्यं युष्माभिरेव तत् ।
उपार्जनीयमन्यूनं, न तु नः स्वजनव्रजैः ।।१७१।।

श्रुत्वेति जनकः प्राह, यदि पुण्यं महद् भवेत् ।
अहं वहे प्रभुः प्राह, भवत्वेवं पुनः शृणु ।।१७२।।

उपसर्गा भवन्त्यस्मिन्नुह्यमाने ततो निजम् ।
किं तातमनुमन्येऽहमस्मिन् दुष्करकर्मणि ॥१७३॥

उपसर्गैर्यदि क्षुभ्येत, तन्नः स्यादपमंगलम् ।
विज्ञायेत्युचितं यत् तत्, तद् विधेहि समाधिना ॥१७४॥

वहिष्याम्येव किमहं निःसत्वो दुर्बलोऽथवा ।
एतेभ्यो मामकीना तन्न कार्या काप्यनिर्वृतिः ॥१७५॥

पुरा प्रत्यूहसंघातो, वेदमन्त्रैर्मया हतः ।
समस्तस्यापि राज्यस्य, राष्ट्रस्य नृपतेस्तदा ॥१७६॥

ततः संवोढुरस्यांशे, शवं शवरथस्थितम् ।
आचकर्षु र्निर्वसनं, शिशवः पूर्वरक्षिताः ॥१७७॥

अन्तर्दूनोऽप्यसौ पुत्र, प्रत्यूहभयतो न तत् ।
अमुंचत् तत उत्सृज्य, स्थण्डिले ववले रयात् ॥१७८॥

इन श्लोकों का सारांश यह है कि एक दिन एक साधु ने अपनी आयु का अवसान काल समीप समझ कर अशन-पानादि का परित्याग कर दिया और आलोचना-संलेखनापूर्वक प्राणोत्सर्ग किया । उसको निमित्त बना सोमदेव से कटिवस्त्र छुड़वाने के उद्देश्य से आर्य रक्षित ने एकांत में साधुओं से कहा—"मैं सन्त के समक्ष कहूंगा कि दिवंगत साधु के शव को जो उठा कर ले जाता है, उसे महान् फल होता है । कर्मों की विपुल निर्जरा होती है । इस पर पूर्वदीक्षित और विद्वान् दोनों ही प्रकार के सभी साधु यह कहें कि हम इस साधु के पार्थिव शरीर को वहन करेंगे ।" तदनन्तर आचार्य रक्षित के यह कहने पर कि साधु के शव को उठाकर ले जाने वाले को बहुत बड़ा फल मिलता है, सभी साधु उस शव को उठाने अथवा वहन करने के लिये उठ खड़े हुए और शव को उठाने के लिये तत्पर हो सभी क्रमशः कहने लगे "इस शव को मैं उठाऊंगा क्योंकि मैं पूर्वदीक्षित हूं । कोई कहने लगा कि मैं उठाऊंगा क्योंकि मैं ज्ञानवृद्ध हूं ।" इस पर कृत्रिम कोपपूर्ण स्वर में आर्य रक्षित ने उन साधुओं से कहा—"आप ही सब लोग कहते हैं कि हम शव को ढोयेंगे, तो क्या आप सब यह चाहते हैं कि मेरा कोई आत्मीय अपने कर्मों की निर्जरा न करे, केवल आप लोग ही निर्जरा कर लें ?"

यह सुन कर वयोवृद्ध सन्त सोमदेव ने आर्य रक्षित से पूछा "क्या पुत्र ! इस कार्य में विपुल निर्जरा होती है ?"

इस पर आचार्य ने कहा—"हां तात ! अवश्यमेव, इसमें कहना ही क्या है ।"

इस पर सोमदेव ने कहा—"तो मैं भी शव को अवश्य ही वहन करूंगा ।"

आचार्य रक्षित ने कहा—"इस कार्य में अनेक उपसर्ग होते हैं। बलाएं बच्चों के रूप में उपस्थित हो नग्न कर देती हैं। यदि उन उपसर्गों से आप कहीं विचलित हो गये तो मेरा अनिष्ट हो जायगा।"

सोमदेव का स्वाभिमान जागृत हो उठा और उन्होंने कहा—"मैं घोर से घोर उपसर्ग को सहन करने में समर्थ हूं। मैं कोई निस्सत्व व्यक्ति नहीं हूं। एक बार मैंने राज्य, राजा, प्रजा और राष्ट्र की वेदमन्त्रों के बल पर घोर दैवी आपत्ति से रक्षा की थी। मैं अवश्यमेव शव को उठाऊंगा।"

इस प्रकार आर्य रक्षित ने खन्त सोमदेव को सुदृढ़ एवं सुस्थिर कर दिया और अन्य साधुओं के साथ वृद्ध साधु सोमदेव ने भी उस स्वर्गस्थ साधु के शव को अपने कन्धों पर वहन किया।

जिस मार्ग से शव ले जाया जा रहा था, उस मार्ग में एक स्थान पर एक ओर आर्य रक्षित का साध्वी समूह खड़ा हुआ था। संकेतानुसार बालकों ने सोमदेव के कटिवस्त्र को उतारा और कटि प्रदेश के अग्रभाग की ओर एक सूत्र से बांध दिया। इस पर सोमदेव लज्जित तो हुए कि मार्ग में उनकी पुत्रवधुएं, पुत्रियां और दोहित्रियां आदि देख रही हैं, किन्तु अपने पुत्र के अनिष्ट की आशंका से शव को यथावत् ढोये हुए चलते रहे। शव को वे एकांत प्रदेश में ले गये और वहां समतल भूमि पर शव को रख अन्य साधुओं के साथ वहीं लौट आये जहां आर्य रक्षित विराजमान थे।

आराधना और प्रभावकचरित्र के उपर्युद्धृत उल्लेखों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में यापनीय और श्वेताम्बर दोनों संघों के साधुओं में समान रूप से यह परिपाटी प्रचलित थी कि दिवंगत साधु के शव को साधु-वर्ग कन्धों पर उठा कर जंगल में रख आता था।

स्वयं यापनीय परम्परा के आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रंथों के उपरिवर्णित उल्लेखों से यापनीय परम्परा की प्रमुख मान्यताओं एवं उस परम्परा के साधुओं के आचार-विचार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन सब उल्लेखों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यापनीय परम्परा की मान्यताएं, यापनीय परम्परा के साधुओं के आचार-विचार आदि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं और श्वेताम्बर परम्परा के आचार-विचार से दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा अधिक मेल खाते थे।

शाकटायन के शब्दानुशासन की अमोघवृत्ति के उल्लेखों और अपराजित सूरि द्वारा मूलाराधना की विजयोदया टीका में अपने पक्ष की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किये गये

आचारांगादि आगमों के उद्धरणों एवं अपराजित सूरि द्वारा निर्मित दशवैकालिकसूत्र की विजयोदया टीका से यह एक अतीव महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आता है कि यापनीय संघ आचारांग सूत्र से लेकर कल्प-सूत्र तक उन सभी आगमों को प्रामाणिक धर्मशास्त्र मानता था, जिनको श्वेताम्बर परम्परा मानती थी।

इन सब उल्लेखों पर विचार करने के अनन्तर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यापनीय परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा के बीच टकराव को किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं था। प्रारम्भिक स्थिति में यदि यह कहा जाय कि श्वेताम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा दोनों आगमानुसार ही धर्म के पालन एवं उपदेश में प्रायः समान थी तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यापनीय परम्परा द्वारा एक बहुत बड़ा परिवर्तन

यापनीय परम्परा की उपरि वर्णित मान्यताओं और उस परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग के आचार-विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीय परम्परा कतिपय शताब्दियों तक विहरूक अर्थात् अप्रतिहत विहारी ही रही। चातुर्मासकाल को छोड़ कर शेष वर्ष के आठ महीनों में वे देश के विभिन्न प्रदेशों में विचरण करते हुए धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे। पर कालान्तर में सम्भव है कि चैत्यवासियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर यापनीय संघ के साधु-साध्वियों ने, आचार्यो ने और अनुयायियों ने भी नियत निवास को अपने संघ के प्रचार के लिये परमावश्यक समझकर ईसा की चौथी शताब्दी में अपनाना प्रारम्भ कर दिया हो। मूल आगम में प्रतिपादित अप्रतिहत विहार को छोड़कर जो नियतनिवास अंगीकार किया गया यह जैनधर्म संघ में, श्रमणाचार एवं धर्म के स्वरूप में एक बहुत बड़े परिवर्तन का कारण बना।

नियत निवास को अंगीकार करने के कारण यापनीय परम्परा को भी अपने श्रमण-श्रमणियों के आवास हेतु वसतियों का निर्माण, मन्दिरों का निर्माण, धर्म के प्रचार हेतु विद्वानों को तैयार करने के लिए विद्यालयों आदि का निर्माण भी करवाना पड़ा। इन सब कार्यकलापों के लिये जब धन की आवश्यकता हुई तो यापनीयों ने भी श्रद्धालु भक्तों से एवं भक्त राजाओं से द्रव्य दान, भूमि-दान और ग्राम-दान आदि लेने प्रारम्भ कर दिये। ईसा की पांचवीं शताब्दी में कदम्बवंशी राजा श्री विजयशिवमृगेशवर्म ने कालवंग नाम ग्राम का एक तिहाई भाग, अर्हत शाला, परम पुष्कल स्थान-निवासी साधुओं तथा जिनेन्द्र देवों के लिये जो दिया, वह वस्तुतः यापनीय संघ के श्रमणों को ही दिया गया दान था। लेख संख्या ९९ (जैन शिलालेख संग्रह भाग २) में कदम्ब वंशी राजा शान्तिवर्मा द्वारा यापनीय संघ को पलाशिका नाम नगर में जिनालय के निर्माण के लिये दान दिये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार लेख संख्या १०० में कदम्बवंशी राजा शान्तिवर्मा के पौत्र रविवर्मा द्वारा

pilgrimage. One of the twin rocks now named after Swami Vivekananda, has been held in veneration from very ancient times. Apart from its having assumed the Swamiji's name latterly the rock has been traditionally known as "Shri Paadapaarai". Sripada means the sacred feet and paarai is rock. In all probability we can say that the Jain monks on the way to Ceylon consecrated a Shrine of Sripada on the rock which was part of the main land.

There is on the rock a projection, similar to a human foot in form and a little brownish in colour, which has traditionally been revered as a symbol of one of the Tirthankaras. The worship of foot prints is a common feature in Jainism. During his visit to the Mount Abu, Sir Monier Williams writes in his book—"Buddhism" that, "Jains are quite ardent foot-print-worshippers. Nearly every Shrine at the summit consisted of a little domed canopy of marble, covering two foot prints of some one of the 24 Tirthankaras (especially Parshwanath) impressed on a marble alter. Groups of worshippers bowed down before the shrines and deposited offerings of money, rice, almonds, raisins and spices on the foot marks." He opines that Jainism first introduced foot-print-worship in Indian religion. Practically the worship of foot prints is so closely connected to Jainism that no other religion can claim the origin of it. There are a number of references to foot print worship in ancient Tamil literary works of Jain authors. In Tamilnad the foot prints Gundagundacharya are revered in Ponnur hills and of Vamana Muni in Jain Kanchi. In Sravanabelgola the foot prints of Bhadrabahu and of Chandra Gupta Maurya have been inscribed and they are held in high esteem by the pilgrims.

The sacred rock bearing the foot prints of a Tirthankara played an important part in the life of Swamy Vivekanand. It has the same significance in his life as the Bodhi tree in the life of Lord Buddha. During his visit to Cape Comorin on the 25th December, 1892 Swamiji swam across the sea towards the rock nearly 200 yards from the land and sat there the whole night in deep meditation. It is said that the Gnana (ज्ञान) he received here lit up his path and this devine enlightenment transformed the simple monk into a great master builder of the nation as well as a great religious teacher of the world. Thereafter Sripaadapaarai began to be known as the Vivekananda rock. The sanctity of the place was thus enhanced by the holy visit of Swami Vivekanand."

"कन्याकुमारी की उपर्युक्त दो पहाड़ियों में से एक पहाड़ी पर जो पवित्र चरण उट्टंकित है, वह वस्तुतः तीर्थंकर (सम्भवतः भगवान् पार्श्वनाथ) का ही

चरण चिह्न है", अपने इस अभिमत की पुष्टि करते हुए एस. पद्मनाभन ने अपनी पुस्तक "फोरगोटन हिस्ट्री आफ दी लैंड्स एण्ड" में आगे लिखा है :—

Monuments found in these parts testify to the prevalence of Jainism in the olden days. There is epigrafic evidence to show that there were flourishing Jain settlements in Kottar, Kurandi, Tiruchcharanathumalai and Tirunandikka rai which are all in the present district of Kanyakumari. From the Jain vestiges and inscriptions found in Samanarmalai, Kalugumalai and Tiruchcharanathumalai in the districts of Madurai, Tirunelveli and Kanyakumari respectively, we learn that a large number of Jain monks who were there hailed from the above four places in Kanyakumari district, the erudite scholars and their disciples from these centres of learning left votive images cut on the rocks in different centres of Jain culture."

एस. पद्मनाभन द्वारा किये गये उपर्युल्लिखित उद्धरण का सारांश यह है कि कन्याकुमारी प्रदेश प्राचीनकाल में–जैन साधुओं, जैन विद्वानों, जैन धर्म के प्रचारकों एवं जैन दर्शन का शिक्षण केन्द्र था। कन्याकुमारी से उस समय जैन श्रमण, जैन विद्वान् भारत के विभिन्न भागों तथा लंका आदि विदेशों में भी जैन धर्म के प्रचार के लिए जाते ही रहते थे। कन्याकुमारी के सागर तट के पास समुद्र में जो दो पहाड़ियां है उनमें से एक पहाड़ी पर किसी महामानव के एक चरण का पवित्र चिह्न खुदा हुआ है। वह चरण चिह्न हल्के भूरे रंग का है। इस पद चिह्न के कारण वह पहाड़ी परम्परा से "श्रीपादपारै" के नाम से लोकों में प्रसिद्ध है। श्रीपाद का अर्थ है पवित्र चरण और "पारै" का अर्थ है पहाड़ी। वर्तमान कन्याकुमारी जिले के कोत्तर, कुण्डी, तिरुचरनत्तुमलै और तिरुनन्दिक्करै क्षेत्रों से जो पुरातत्व की सामग्री प्राप्त हुई है, उससे यह भलीभांति सिद्ध होता है कि इन चारों क्षेत्रों में प्राचीनकाल में जैन धर्मावलम्बियों की अति घनी और बड़ी ही समुन्नत वस्तियां थीं। श्रमणारमलै, कलुगुमलै एवं तिरुच्चरनत्तुमलै, जो कि क्रमशः मदुरइ, तिरुनेल्वेली और कन्याकुमारी जिलों में अवस्थित हैं, इन तीन क्षेत्रों से जो प्राचीन जैन धर्म सम्बन्धी अवशेष एवं शिलालेख आदि विपुल मात्रा में पुरातत्व विभाग को प्राप्त हुए हैं, उनसे हमें विश्वास होता है कि इन तीन क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में जो जैन श्रमण उस प्राचीन कालावधि में विद्यमान थे वे कन्याकुमारी जिले के उपरिलिखित कोत्तर, कुरण्डी आदि चार क्षेत्रों से आये थे। जैन सिद्धान्तों के उच्चकोटि के विद्वान् शिक्षाशास्त्रियों और उनके सकल विद्यानिष्णात स्नातक जब जैन संस्कृति के विश्वविद्यालय के स्तर के उन शिक्षा केन्द्रों से देश के विभिन्न भागों में गये तो वे एक सुदीर्घावधि तक उन विश्वविद्यालयों में अपनी उपस्थिति की आने वाली पीढ़ियों को चिरकाल तक स्मृति दिलाते रहने के उद्देश्य से वहां की पर्वतमालाओं की चट्टानों में अनेक मूर्तियां एवं शिलालेख उट्टंकित कर वहां छोड़ गये। इन सब पुरातात्विक साक्ष्यों से हमारे इस अनुमान पर आधारित विश्वास की पुष्टि

pilgrimage. One of the twin rocks now named after Swami Vivekananda, has been held in veneration from very ancient times. Apart from its having assumed the Swamiji's name latterly the rock has been traditionally known as "Shri Paadapaarai". Sripada means the sacred feet and paarai is rock. In all probability we can say that the Jain monks on the way to Ceylon consecrated a Shrine of Sripada on the rock which was part of the main land.

There is on the rock a projection, similar to a human foot in form and a little brownish in colour, which has traditionally been revered as a symbol of one of the Tirthankaras. The worship of foot prints is a common feature in Jainism. During his visit to the Mount Abu, Sir Monier Williams writes in his book—"Buddhism" that, "Jains are quite ardent foot-print-worshippers. Nearly every Shrine at the summit consisted of a little domed canopy of marble, covering two foot prints of some one of the 24 Tirthankaras (especially Parshwanath) impressed on a marble alter. Groups of worshippers bowed down before the shrines and deposited offerings of money, rice, almonds, raisins and spices on the foot marks." He opines that Jainism first introduced foot-print-worship in Indian religion. Practically the worship of foot prints is so closely connected to Jainism that no other religion can claim the origin of it. There are a number of references to foot print worship in ancient Tamil literary works of Jain authors. In Tamilnad the foot prints Gundagundacharya are revered in Ponnur hills and of Vamana Muni in Jain Kanchi. In Sravanabelgola the foot prints of Bhadrabahu and of Chandra Gupta Maurya have been inscribed and they are held in high esteem by the pilgrims.

The sacred rock bearing the foot prints of a Tirthankara played an important part in the life of Swamy Vivekanand. It has the same significance in his life as the Bodhi tree in the life of Lord Buddha. During his visit to Cape Comorin on the 25th December, 1892 Swamiji swam across the sea towards the rock nearly 200 yards from the land and sat there the whole night in deep meditation. It is said that the Gnana (ज्ञान) he received here lit up his path and this devine enlightenment transformed the simple monk into a great master builder of the nation as well as a great religious teacher of the world. Thereafter Sripaadapaarai began to be known as the Vivekananda rock. The sanctity of the place was thus enhanced by the holy visit of Swami Vivekanand."

"कन्याकुमारी की उपर्युक्त दो पहाड़ियों में से एक पहाड़ी पर जो पवित्र चरण उट्टंकित है, वह वस्तुत: तीर्थंकर (सम्भवत: भगवान् पार्श्वनाथ) का ही

२. पांचवें अंगशास्त्र भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) में गणधर इन्द्रभूति द्वारा पूछे गये ३६,००० प्रश्नों एवं भगवान् महावीर द्वारा दिये गये उत्तरों का विशद् वर्णन है। आध्यात्मिक अभ्युत्थान से सम्बन्ध रखने वाला एक भी विषय इन प्रश्नोत्तरों में अछूता नहीं रहा है। आत्मोन्नति विषयक सभी तथ्यातथ्यों का विवेचन इन प्रश्नोत्तरों में समाविष्ट है। इस तरह सभी प्रकार की जिज्ञासाओं का शमन एवं सन्देहों का निवारण करने वाले उन ३६ हजार प्रश्नोत्तरों में कहीं एक में भी जिनमन्दिर के निर्माण, उसके अस्तित्व अथवा जिनमूर्ति की पूजा का कोई उल्लेख नहीं है।

३. भगवती सूत्र के दूसरे शतक में तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों के सुसमृद्ध जीवन, उनकी धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था, उनके धार्मिक कार्यकलापों आदि का विशद् वर्णन किया गया है। उसमें भी जिनमन्दिर अथवा जिनमूर्ति की पूजा का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। भगवती सूत्र में एतद्विषयक विवरण निम्नलिखित रूप में है :—

"तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति अड्ढा, दित्ता, वित्थिन्न विपुल भवण सयणासण-जाण-वाहणाइण्णा बहुधण बहुजायरूव-रयया, आयोग-पयोगसंपउत्ता, विच्छड्डियविपुल-भत्तपाणा, बहुदासीदास-गो-महिस-गवेलयप्प-भूया, बहुजणस्स अपरिभूया, अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिकरण-बंध-मोक्खकुसला, असहेज्ज देवासुरनाग-सुवण्ण जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, णिग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया, निवितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिंजपेमा—अणुरागरत्ता, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, से से अणट्ठे, असियफलिहा, अवंगुयदुवारा, चियत्तंतेउरघरप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठमुदिट्ठ—पुण्णमासिणीसु परिपुण्णं पोसहं सम्मं अणु-पालेमाणा, समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइम—साइमेणं, वत्थ-पडिग्गह—कंबल—पायपुंछणेणं, पीठ—फलग—सेज्जासंथारएणं, ओसह भेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहि तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।"

अर्थात्—तुंगिया नगरी में बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। वे धनसम्पन्न और वैभवशाली थे। उनके भवन बड़े विशाल एवं विस्तीर्ण थे। वे शयन, आसन, यान, वाहन से सम्पन्न थे। उनके पास विपुल धन, चांदी तथा सोना था। वे रुपया व्याज पर देकर बहुत सा धन अर्जित करते थे। वे अनेक कलाओं में निपुण थे। उन श्रमणोपासकों के घरों में अनेक प्रकार के भोजन-पान आदि तैयार किये जाते थे। वे लोग अनेक दास-दासियों, गायों, भैंसों, एवं भेड़ों आदि से समृद्ध थे। वे जीव-अजीव के स्वरूप को एवं पुण्य और पाप को सम्यक्रूपेण जानते थे। वे

अध्याय के पिछले पृष्ठों पर विशद रूपेण प्रकाश डाला जा चुका है। इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि यापनीय परम्परा के अज्ञातनामा आचार्यों ने ही संभवतः सर्वप्रथम तीर्थंकरों के चरणयुगल की पूजा, उससे पूर्व अथवा पश्चात् श्रुतसागर-सूरि के उपरि उद्धृत—"रत्नत्रयं पूजयन्ति (यापनीयाः)" इस उल्लेख के अनुसार 'रत्नत्रयदेव' की पूजा और अन्ततोगत्वा कालान्तर में किसी समय मूर्तिपूजा प्रारम्भ की हो।

जहां तक यापनीयों की प्रारम्भिक मूल मान्यताओं का प्रश्न है वर्तमान में यद्यपि इस परम्परा की अथ से इति तक की सम्पूर्ण मान्यताओं का स्रोत "यापनीय तन्त्र" नामक विशाल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा है, तथापि मोटे रूप में यही कहा जा सकता है कि आचारांग सूत्र से लेकर दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, व्यवहार कल्प आदि तक जितने भी जैनागम आज उपलब्ध हैं, उन आगमों में उल्लिखित मान्यताएं ही इस संघ की मूल मान्यताएं थीं। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य सभी आगमों को यापनीय संघ परम प्रामाणिक मानता था—इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी भी निष्पक्ष विचारक को किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिये। स्वयं यापनीय संघ के आचार्यों द्वारा आचारांग आदि एकादशांगी, छेद सूत्रों आदि सभी जैनागमों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में समय-समय पर किये गये उल्लेखों का विस्तृत रूप से जो विवरण इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि यापनीय परम्परा के साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका सभी आचारांगादि जैन आगमों को पूर्णतः प्रामाणिक मानते थे।

इस तरह यापनीय परम्परा ने रत्नत्रय की पूजा, तीर्थंकरों के चरणचिह्नों की पूजा और मूर्तिपूजा को किस-किस समय किस क्रम से अपनाया, इस प्रश्न के समाधान के लिये आगमिक काल से लेकर यापनीय संघ के एक सुदृढ़ संघ के रूप में उभरने और कतिपय प्रदेशों में श्वेताम्बर संघ और दिगम्बर संघ से भी अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय बनने के समय तक की ऐतिहासिक घटनाओं पर पूर्णतः निष्पक्ष होकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :—

१. आचारांग आदि सभी आगमों में से किसी एक भी आगम में चतुर्विध तीर्थ के साधु, साध्वी, श्रावक अथवा श्राविका वर्ग के लिये समुच्चय रूप से अथवा व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार का एक भी उल्लेख गहन खोज के अनन्तर भी नहीं उपलब्ध होता, जिसमें यह कहा गया हो कि व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास, स्वाध्याय आदि आत्मोत्थान के दैनन्दिन कार्यों के समान, मूर्तिपूजा, मन्दिर निर्माण आदि कार्य भी प्रत्येक साधक के लिये अथवा सभी साधकों के लिये परमावश्यक अथवा अनिवार्य कर्त्तव्य हैं।

आचार्य भद्रबाहु को संघादेश शिरोधार्य कर उन साधुओं को पूर्वों की वाचना देना प्रारम्भ करना पड़ा। महामुनि स्थूलभद्र के अतिरिक्त शेष सब मुनि पूर्वों की वाचना लेने में असमर्थ रहे। स्थूलभद्र ने लगभग ८ पूर्वों की वाचना नेपाल में रहते हुए आचार्य भद्रबाहु से ली और नौवें तथा दशवें पूर्व की वाचना नेपाल से पाटलिपुत्र की ओर भद्रबाहु के विहार काल में तथा पाटलिपुत्र में ली। दश पूर्वों की वाचना पूर्ण होने पर दर्शनार्थ आई हुई अपनी बहिनों–महासाध्वी यक्षा एवं यक्षदिन्ना को मुनि स्थूलभद्र ने अपनी विद्या का चमत्कार बताया। इस घटना के परिणाम-स्वरूप आचार्य भद्रबाहु ने महामुनि स्थूलभद्र जैसे सुपात्र शिष्य को भी अन्तिम चार पूर्वों के ज्ञान के लिये अपात्र घोषित कर दिया। संघ द्वारा अनुनय-विनयपूर्ण अनुरोध करने पर उन्होंने महामुनि स्थूलभद्र को अन्तिम चार पूर्वों की केवल मूल पाठ की ही वाचना दी अर्थसहित वाचना फिर भी नहीं थी।

प्रथम आगमवाचना की इस ऐतिहासिक घटना से दो तथ्य प्रकाश में आते हैं। प्रथम तो यह कि उक्त प्रथम आगमवाचना में आगमों के परम्परागत पाठों को जिस प्रकार यथावस्थित रूप में व्यवस्थित किया गया था, उसी रूप में वे आगम-पाठ समय-समय पर हुई दूसरी, तीसरी और चौथी आगम वाचनाओं में व्यवस्थित किये जाते रहे। और दूसरा यह तथ्य प्रकाश में आता है कि प्रथम आगमवाचना के समय तक भी जैन धर्मसंघ में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। यदि उस समय मूर्ति पूजा का प्रचलन हो गया होता तो उस काल की मूर्तियां, मन्दिर अथवा उनके अवशेष अवश्यमेव ही कहीं न कहीं उपलब्ध होते।

९. द्वितीय आगमवाचना वीर नि० सं० ३२९ में कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल के प्रयास से कुमारीपर्वत पर हुई। उस आगमवाचना सम्बन्धी उपलब्ध प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों से भी यही प्रकट होता है कि वीर नि० सं० ३२९ तक भी जैनसंघ में मूर्तिपूजा का अथवा मन्दिर निर्माण का प्रचलन नहीं हुआ था। उस आगम वाचना के अनन्तर कुमारी पर्वत पर खारवेल महामेघवाहन द्वारा सुविहित परम्परा के श्रमणों के संघहित के कार्यों पर विचार-विमर्श करने हेतु एकत्र होने और बैठने के लिये एक संघायन के निर्माण का, निषद्या पर जाप की व्यवस्था करने का, यापकों की भृति निश्चित करने का तथा महारानी के लिये कुमारी पर्वत पर निषद्या के पास एक विशाल एवं भव्य विश्रामभवन बनवाये जाने का तो उल्लेख उपलब्ध होता है किन्तु किसी मूर्ति की स्थापना करने का, पूजा करने का अथवा मन्दिर के निर्माण का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।[1]

१०. तीसरी आगमवाचना वीर नि० सं० ८३० में युगप्रधान वाचनाचार्य आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान में मथुरा में हुई और जिस प्रकार चौथी अन्तिम

---

[1] हाथीगुंफा में उपलब्ध कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल के शिलालेख की पंक्ति नं० १५ और १६

के रूप में मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है, इससे यही फलित होता है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपनी किसी भी देशना में मूर्तिपूजा करने अथवा मन्दिर निर्माण करने का उपदेश नहीं दिया।

७. जैनधर्म अथवा आगम सम्बन्धी निर्वाणोत्तरकालीन प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं पर भी यदि निष्पक्ष रूपेण दृष्टिपात किया जाय तो यही तथ्य प्रकाश में आता है कि पहली आगमवाचना के समय से लेकर चौथी आगमवाचना तक की कालावधि में आगमानुसार विशुद्ध श्रमणाचार, श्रावकाचार एवं धर्म के मूल अध्यात्मप्रधान स्वरूप का पालन करने वाले जैन संघ में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरादि के निर्माण का प्रचलन नहीं हुआ था।

८. पहली आगम वाचना वीर नि० सं० १६० के आस-पास आर्य स्थूलिभद्र के तत्वावधान में पाटलीपुत्र में हुई। इस पहली आगमवाचना के सम्बन्ध में जैन वाङ्मय में कोई क्रमबद्ध विस्तृत विवरण वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं होता। "तित्थोगालीपइन्नय" नामक प्राचीन ग्रन्थ में अति संक्षेपतः केवल इतना ही विवरण उपलब्ध होता है कि भीषण दुष्काल के समाप्त हो जाने पर भारत के सुदूरस्थ विभिन्न भागों में गये हुए साधु पुनः पाटलिपुत्र में लौटे। दुष्कालजन्य संकटकालीन स्थिति में शास्त्रों के अनभ्यास के परिणामस्वरूप श्रुत परम्परा से कण्ठस्थ शास्त्रों के जिन पाठों को श्रमण भूल गये थे, उन पाठों को परस्पर एक दूसरे से सुनकर उन्होंने शास्त्रों के ज्ञान को पुनः व्यवस्थित किया। पाटलिपुत्र में हुई इस प्रथम आगम वाचना में एकादशांगी को पूर्ववत् व्यवस्थित एवं सुरक्षित कर लिया गया किन्तु बारहवें अंग दृष्टिवाद को व्यवस्थित करने में वह श्रमणसंघ पूर्णरूपेण असफल ही रहा, जो कि पाटलिपुत्र में एकत्रित हुआ था। उस समय समस्त श्रमणसंघ में चौदह पूर्वों के ज्ञान के धारक एक मात्र अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ही अवशिष्ट रह गये थे, परन्तु वे उस समय नेपाल प्रदेश में महाप्राण ध्यान की साधना में निरत थे।

इस प्रकार की स्थिति में बड़े विचार विनिमय के अनन्तर महा-मेधावी युवावय के श्रमण स्थूलभद्र को ५०० अन्य मेधावी मुनियों के साथ भद्रबाहु की सेवा में रहकर चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने और इस प्रकार श्रुतज्ञान की रक्षा करने के हेतु संघादेश से नेपाल भेजा गया। आचार्य भद्रबाहु उस समय उस अद्भुत चमत्कारी महाप्राण की साधना में निरत थे, जिसकी साधना के अनन्तर साधक अन्तर्मुहूर्त में ही सम्पूर्ण द्वादशांगी का परावर्तन (पुनरावर्तन) करने में समर्थ हो जाता है।[1] इस प्रकार की महती साधना में निरत रहने के उपरान्त भी

---

[1] यह कोई असम्भव अथवा असाध्य नहीं, दुस्साध्य अवश्य है क्योंकि स्वप्नशास्त्रियों के अभिमतानुसार लम्बे से लम्बा स्वप्न वस्तुतः कतिपय इने-गिने क्षणों का ही होता है। सुषुप्तावस्था में कुछ ही क्षणों के स्वप्न में प्राणी वर्षों में देखे जा सकने वाले दृश्य देख लेता है, इससे अनुमान किया जाता है कि महाप्राण ध्यान में यह संभव हो सकता है।

एवं पुरातात्विक अवशेषों ने निर्मूल कर दिया। क्योंकि आर्य स्कंदिल के स्वर्गस्थ होने के ६०—६४ वर्ष पश्चात् का एक शिलालेख जिस पर संवत्....९९ (कनिष्क संवत् २९९) तदनुसार वीर नि० सं० ९०४ उट्टंकित है, कंकाली टीले की खुदाई करते समय उपलब्ध हुआ है। महान् प्रभावक आचार्य स्कन्दिल लगभग वीर नि० सं० ८३० से ८४० तक—लगभग १० वर्ष तक मथुरा में रहे पर उनके किसी भी श्रमणोपासक अथवा श्रमणोपासिका द्वारा वीर निर्वाण की ८वीं शताब्दी से ९वीं शताब्दी के अन्त तक अर्हत् मूर्ति की प्रतिष्ठा अथवा अर्हत् मन्दिर का निर्माण नहीं करवाया, यह एक निर्विवाद तथ्य मथुरा के कंकाली टीले एवं अन्यान्य स्थानों से उपलब्ध शिलालेखों से प्रकट होता है।

आर्य स्कन्दिल ने जिस समय मथुरा में आगम — वाचना की, ठीक उसी समय आचार्य नागार्जुन ने भी दक्षिण आदि सुदूरस्थ प्रान्तों के मुनि—संघों को बल्लभी में एकत्रित कर आगम वाचना की। आर्य स्कन्दिल की भांति आचार्य नागार्जुन को भी उस आगम वाचना — उस अनुयोग—प्रवर्तन के समय लगभग १० वर्ष तक तो बल्लभी में रहना ही पड़ा होगा। आचार्य नागार्जुन भी यदि मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण तथा मूर्तिपूजा के पक्षधर होते तो उनके समय की उनके श्रमणोपासकों द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियों और मन्दिरों के अवशेष—शिलालेख आदि कहीं न कहीं अवश्यमेव उपलब्ध होते। परन्तु आज तक भारत के किसी भाग में इस प्रकार का न कोई शिलालेख ही उपलब्ध हुआ है और न कोई मूर्ति अथवा मन्दिर का अवशेष ही।

आर्य स्कन्दिल से लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुए कलिंग सम्राट् महा मेघवाहन खारवेल भिक्खुराय, के कुमारी पर्वत की हाथीगुंफा में उट्टंकित करवाये गये शिलालेख से भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि उसके शासन काल तक जैनधर्म संघ में मूर्तिपूजा, एवं मन्दिर निर्माण का प्रचलन नहीं हुआ था। खारवेल का यह शिलालेख जैनधर्म के सम्बन्ध में अब तक प्रकाश में आये हुए शिलालेखों में सबसे प्राचीन और सबसे बड़ा शिलालेख है। इसमें आज तक अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हुए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ खारवेल द्वारा अपने १३ वर्षों (वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ तक) के शासनकाल में किये गये सभी महत्वपूर्ण कार्यों का विवरण दिया गया है। वे महत्वपूर्ण कार्य इस शिलालेख में निम्नलिखित क्रम से उट्टंकित हैं :—

(तीसरी पंक्ति) :—अभिषिक्त होते ही अपने राज्य के प्रथम वर्ष में श्री खारवेल ने (पूर्व में आये) तूफान से गिरे (क्षतिग्रस्त) नगरद्वारों, नगरप्राकार और निवेसमनों (निवासगृहों) का संस्कार अर्थात् जीर्णोद्धार करवाया, कलिंग नगरी (राजधानी) के फव्वारों, इषितालों (पोखरों), तालाबों तथा बांधों को बंधवाया

आगमवाचना के समय देवर्द्धिक्षमाश्रमण को समस्त आगमों को पुस्तकारूढ़ करने के लिये वीर नि० सं० ६८० से ६६४ तक अर्थात् लगभग १४-१५ वर्षों तक वल्लभी में रहना पड़ा, उसी प्रकार आर्य स्कन्दिल भी वीर नि० सं० ८३० से ८४० तक आगम वाचना को सम्पन्न करने के लिए मथुरा में रहे। यदि जैनसंघ में सर्व-सम्मत रूप से मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता तो आर्य स्कन्दिल जैसे युगप्रवर्त्तक एवं श्रुतशास्त्र की रक्षा करने वाले महान् आचार्य के १० वर्ष तक मथुरा में ही रहने की अवधि में निश्चित रूप से अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा और जिन मन्दिरों का निर्माण उनके तत्वावधान में हुआ होता। पर स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। उस अवधि की बात तो दूर, उस पूरे शतक में एक भी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर के निर्माण का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

आर्य स्कन्दिल का नाम जैन इतिहास में अमर रहेगा। श्रुत शास्त्र की रक्षा कर उन्होंने संसार पर अविस्मरणीय अनुपम उपकार किया है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी गणों, गच्छों एवं सम्प्रदायों के अनुयायी सर्वसम्मत रूप से समवेत स्वर में उन्हें अपना महान् उपकारी पूर्वाचार्य मानते हैं। देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने भी नन्दिसूत्र के आदि मंगल में आपको प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक निम्नलिखित भावभरे शब्दों में वन्दन किया है :—

जेसिमिमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनगर निग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ।।३३।।

इसी प्रकार एक अज्ञातकर्तृक प्राचीन गाथा में भी आर्य स्कन्दिलाचार्य द्वारा की गई श्रुतरक्षा का उल्लेख उपलब्ध होता है। वह प्राचीन गाथा इस प्रकार है:—

दुभिक्खंमि पणट्ठे, पुणरवि मिलिय समणसंघाओ।
मिहुराए अणुओगो पवइयो खंदिलो सूरि ।।

अपने युग के लोकपूज्य, महान् अनुयोगप्रवर्त्तक, आगम मर्मज्ञ, श्रुतशास्त्र के रक्षक आचार्य स्कन्दिल के मानस में यदि जिनमन्दिर निर्माण अथवा मूर्तिपूजा के प्रति किंचित्मात्र भी स्थान अथवा आकर्षण होता तो उनके एक ही परोक्ष इंगित पर दश वर्ष के उनके मथुरावास काल में सहस्रों जिनमूर्तियों और सैकड़ों जिन-मन्दिरों का निर्माण हो जाता और कंकाली टीले की खुदाई में अथवा मथुरा के विभिन्न स्थलों में पुरातत्व विभाग द्वारा की गई खुदाइयों में उन मूर्तियों एवं मन्दिरों के अथवा शिलालेखों के अवशेष न्यूनाधिक मात्रा में अवश्यमेव पुरातत्व विभाग को प्राप्त होते। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। कंकाली देवी का मन्दिर और जैन बौद्ध स्तूप आचार्य स्कन्दिल के मथुरा प्रवास से पहले ही भूलुंठित हो कंकाली टीले का रूप धारण कर गये हों, इस प्रकार की आशंका को भी वहां से प्राप्त ऐतिहासिक

महाविजय प्रासाद नामक राजसन्निवास अड़तीस लाख (अठतीसाय सतसहसेहिं) की लागत का बनवाया ।

; दशवें वर्ष में उसने पवित्र विधानों द्वारा युद्ध की तैयारी करके देश जीतने की इच्छा से दण्ड, सन्धि एवं शाम नीति से उत्तरी भारत की ओर प्रस्थान किया । उस आक्रमण में बिना किसी क्लेश के आक्रान्त लोगों से मणि और रत्नों को प्राप्त किया ।

(११वीं पंक्ति) ग्यारहवें वर्ष में, पूर्व राजा द्वारा १३०० वर्ष पूर्व मंडप में निवेशित (एवं) समस्त (कलिंग) जनपद की मनभावन, मोटी लकड़ी के वड़े-वड़े पहियों वाली, तिक्त (नीम की) काष्ठ से निर्मित केतुभद्र की ऊंची और विशाल मूर्ति को उसने (खारवेल ने) उत्सव से निकाला ।

बारहवें वर्ष में....उसने उत्तरापथ—उत्तरी पंजाव और सीमान्त प्रदेश के राजाओं में त्रास उत्पन्न किया ।

(बारहवीं पंक्ति).... और मगध के निवासियों में विपुल भय उत्पन्न करते हुए उसने अपने हाथियों को गंगा पार कराया और मगध के राजा वृहस्पतिमित्र से अपने चरणों की वन्दना करवाई । नन्दराज द्वारा (पूर्व में) ले जाये गये कालिंग जिन (?? जन ??) सन्निवेश[1] (कालिंग जिन सन्निवेश ? अथवा कलिंग जन सन्निवेश ?)........गृहरत्नों और अंग तथा मगध के धन को भी वह (खारवेल) ले गया ।

(तेरहवीं पंक्ति)—उसने........जठरोल्लिखित (जिनके भीतर की ओर लेख लिखित हैं) उत्तम शिखर, सौ कारीगरों को भूमि प्रदान कर वनवाये और यह वड़े आश्चर्य की बात है कि वह पाण्ड्यराज से हस्तिनावों (हाथियों को ढोने वाली विशाल नावों) में सभी प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएं—घोड़े, हाथी, रत्न, माणिक्य, मौक्तिक और मणिरत्न खचाखच भरवा कर लाया । वहां रह कर........

(चौदहवीं पंक्ति)—उसने........के निवासियों को वश में किया ।

तदनन्तर तेरहवें वर्ष में (उसने) उन जप—जाप करने वालों को, सब सुपर्वतों में विजयी चक्र के समान अर्थात् श्रेष्ठ आदरणीय कुमारी पर्वत पर स्थित निषद्याओं (समाधियों) पर कुशल-क्षेम के लिये जप का जाप करने वाले लोगों को जप पूर्ण होने पर राजभृतियां वितरित कीं और उन्हें उसी प्रकार निषद्याओं पर

---

१. सर विलियम मोन्योर का संस्कृत से आंग्ल भाषा शब्दकोष देखें ।

(जीर्णोद्धार करवाया) सभी उद्यानों का प्रतिसंस्थापन, वातविहत वृक्षों, गुल्मों आदि के स्थान पर नये सिरे से वृक्षारोपण पूर्वक संस्कार—

(चौथी पंक्ति)—करवाया और अपने कलिंग राज्य की ३५ लाख प्रजा का रंजन किया। दूसरे वर्ष में सातकरिंग (राजा) की कोई चिन्ता न कर उसने पश्चिम देश को बहुत से हाथी, घोड़ों, पदातियों और रथों की एक विशाल सेना (चढ़ाई अथवा आक्रमण के लिये) भेजी। कृष्णवेणा नदी पर पहुंची हुई उसकी सेना ने मूषिकनगर को बहुत त्रस्त किया। तदनन्तर तीसरे वर्ष में,

(पांचवीं पंक्ति)—गन्धर्ववेद के पारंगत पण्डित उस (खारवेल) ने दम्प, नृत्य, गीत, वादित्र, संदर्शनों (तमाशों), उत्सवों, समाजों, (नाटक-दंगलों) आदि से नगरी को प्रमुदित किया। चौथे वर्ष में उन विद्याधराधिवासों को, जो पूर्व में कभी नहीं गिराये (विजित किये) गये तथा जो कलिंग के पूर्वज राजाओं द्वारा बनाये गये थे........(पराजित किया)...........उसने समस्त राष्ट्रिकों तथा भोजकों के मुकुटों को व्यर्थ कर उनके जिरह—बख्तरों अर्थात् लौह निर्मित कवचों—को तलवार के प्रहारों से दो पल्लों में काट कर उनके छत्र और भृंगारों को नष्ट भ्रष्ट एवं भूलुंठित कर उनके रत्न एवं बहुमूल्य सम्पत्ति का हरण कर उन राष्ट्रिकों एवं भोजकों से अपने चरणों की वन्दना करवाई। तदनन्तर अपने राज्य के पांचवें वर्ष में उसने नन्दराज (उदायी के उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन—प्रथम नन्द द्वारा अपने राज्य के १९ वें वर्ष तदनुसार नन्द सं० १९ और वीर नि० सं० ७९ में) द्वारा आज (हाथीगुंफा के इस शिलालेख के उट्टंकन काल से ३०० वर्ष पूर्व खुदवाई गई) नहर को तनसुलिय मार्ग से नगर (कलिंग राजधानी) में प्रविष्ट किया। (छठे वर्ष में यज्ञार्थ) अभिषिक्त हो उसने राजसूय यज्ञ कर सब करों को (सातवीं पंक्ति) क्षमा कर दिया। अनेक प्रकार के अनुग्रह पौर एवं जानपद (संस्थाओं) को प्रदान किये। सातवें वर्ष राज्य करते हुए वज्जित्रंश की धृष्टि नाम की गृहिणी (महारानी) ने मातृक पद को पूर्ण कर सुकुमार...........(पुत्र को जन्म दिया)...........

आठवें वर्ष में खारवेल ने बड़े प्राकार वाले गोरथगिरि पर एक बड़ी सेना द्वारा—

(आठवीं पंक्ति) आक्रमण कर के राजगृह को घेर लिया। उसके शौर्य के सन्नाद (इस समाचार) को सुन यवनराज डिमित (डिमिट्रियस) मथुरा (के घेरे) को छोड़कर (स्वदेश की ओर) लौट गया। (नौवें वर्ष में) उसने दिये........पल्लव युक्त—(नौवीं पंक्ति)—कल्पवृक्ष, सारथी सहित हय—गज—रथ और सब को अग्निवेदिका सहित गृह आवास एवं परिवसन। सब दान को ग्रहण कराये जाने के लिये उसने ब्राह्मणों की जाति पंक्ति (जातीय संगठनों) को भूमि प्रदान की। अर्हत् ....व........न....गिय--(१०वीं पंक्ति)........(क)....[....मान (ति—वि) उसने

महाविजय प्रासाद नामक राजसन्निवास अड़तीस लाख (अठतीसाय सतसहसेहिं) की लागत का बनवाया।

: दशवें वर्ष में उसने पवित्र विधानों द्वारा युद्ध की तैयारी करके देश जीतने की इच्छा से दण्ड, सन्धि एवं शाम नीति से उत्तरी भारत की ओर प्रस्थान किया। उस आक्रमण में बिना किसी क्लेश के आक्रान्त लोगों से मणि और रत्नों को प्राप्त किया।

(११वीं पंक्ति) ग्यारहवें वर्ष में, पूर्व राजा द्वारा १३०० वर्ष पूर्व मंडप में निवेशित (एवं) समस्त (कलिंग) जनपद की मनभावन, मोटी लकड़ी के बड़े-बड़े पहियों वाली, तिक्त (नींम की) काष्ठ से निर्मित केतुभद्र की ऊंची और विशाल मूर्ति को उसने (खारवेल ने) उत्सव से निकाला।

बारहवें वर्ष में....उसने उत्तरापथ—उत्तरी पंजाब और सीमान्त प्रदेश के राजाओं में त्रास उत्पन्न किया।

(बारहवीं पंक्ति).... और मगध के निवासियों में विपुल भय उत्पन्न करते हुए उसने अपने हाथियों को गंगा पार कराया और मगध के राजा वृहस्पतिमित्र से अपने चरणों की वन्दना करवाई। नन्दराज द्वारा (पूर्व में) ले जाये गये कालिंग जिन (?? जन ??) सन्निवेश[1] (कालिंग जिन सन्निवेश? अथवा कलिंग जन सन्निवेश?)........गृहरत्नों और अंग तथा मगध के धन को भी वह (खारवेल) ले गया।

(तेरहवीं पंक्ति)—उसने........जठरोल्लिखित (जिनके भीतर की ओर लेख लिखित हैं) उत्तम शिखर, सौ कारीगरों को भूमि प्रदान कर बनवाये और यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वह पाण्ड्यराज से हस्तिनावों (हाथियों को ढोने वाली विशाल नावों) में सभी प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएं—घोड़े, हाथी, रत्न, माणिक्य, मौक्तिक और मणिरत्न खचाखच भरवा कर लाया। वहां रह कर........

(चौदहवीं पंक्ति)—उसने........के निवासियों को वश में किया।

तदनन्तर तेरहवें वर्ष में (उसने) उन जप—जाप करने वालों को, सब सुपर्वतों में विजयी चक्र के समान अर्थात् श्रेष्ठ आदरणीय कुमारी पर्वत पर स्थित निषद्याओं (समाधियों) पर कुशल-क्षेम के लिये जप का जाप करने वाले लोगों को जप पूर्ण होने पर राजभृतियां वितरित कीं और उन्हें उसी प्रकार निषद्याओं पर

१. सर विलियम मोन्योर का संस्कृत से आंग्ल भाषा शब्दकोष देखें।

पूजा जप जाप में निरत रहने का आदेश दिया। उपासक अर्थात् श्रमणोपासक श्री खारवेल ने जीव और देह के भेद को परखा।[1]

(१५वीं पंक्ति)........सुकृति (स्व—पर—कल्याणकारी कार्यों में निरत रहने वाले) शास्त्रनेत्र (धारक) ज्ञानी अथवा ज्ञात (ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा के) तपस्वी ऋषि सुविहित श्रमणों के लिये संघायन (एकत्र होने का भवन) बनाया। अर्हत् निषद्या (अर्हत् की समाधि) के पास अनेक योजनों की दूरी से लाई गई, श्रेष्ठ खदानों से निकाली गई भारी भरकम शिलाओं से अपनी सिंहप्रस्थी रानी घुसियाघृष्टि के लिये विश्रामागार

(१६वीं पंक्ति)........पाटालिकाओं में वैडुर्यजटित ऊंचे स्तम्भों को पचहत्तर लाख पणों (मुद्राओं) के व्यय से प्रतिष्ठापित किया। मौर्य संवत्सर १६४ व्यतीत[2] होते-होते यह (शिलालेख) उट्टंकित करवाया जाता है।

वह क्षेमराज, वह बर्द्धराज, वह भिक्षुराज और धर्मराज कल्याणों को देखता हुआ, सुनता हुआ एवं अनुभव करता हुआ

(१७वीं पंक्ति)........गुणविशिष्ट कुशल, सब धर्मों का आदर करने वाला, सभी देवायतनों का संस्कार कराने वाला, अप्रतिहत रथसेना, हस्त्यारोही सेना, अश्वारोही सेना और पदातिसेना बाला, चक्रधुर (सेना में सबसे आगे-रहने वाला), सेना का संरक्षक, जिसकी सेना सदा विजय में प्रवृत्त रही, जो राजर्षि कुल में उत्पन्न हुआ, ऐसा वहाविजयी राजा था श्री खारवेल।

हाथीगुंफा में वीर नि. सं. ३७९ में उट्टंकित करवाये गये सर्वाधिक प्राचीन और सबसे बड़े जैन शिलालेख में वीर नि.सं. ३१६-१७ से ३२९ तक के अपने राज्य-काल में महामेघवाहन खारवेल द्वारा किये गये सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों का काल बद्ध विवरण दिया गया है। इस पूरे अभिलेख में एक भी नये जिन मन्दिर के निर्माण का, किसी एक भी प्राचीन जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार का, मूर्ति की प्रतिष्ठा का

---

१. जीव—देह सिरिका परिखिता "इस पद की संस्कृत छाया जीव—देह श्रीका परिक्षिता" होती है। इसका अर्थ है जीव और देह के भेद को समझा। सिरि अर्थात् श्री का एक अर्थ प्रकार और भेद भी होता है (पाइय सद्दमहण्णवो) यहां सिरिका शब्द भेद अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

२. अशोक ने कलिंग विजय के पश्चात् समस्त कलिंग राज्य में भी मौर्य सम्वत् का प्रचलन किया था, जैसा कि अप्रकाशित हिमवन्त स्थविरावली में लिखा है:—

"तयणंतरं वीराओ दोसयाहिय अउणचत्तालि वासेसु विइक्कंतेसु मगहा हिवो असोग णिवो कलिंग जणवयमाकम्म खेमराजं णिवं णियाणं मन्नावेइ। तत्थ णं से णिव गुत्त (गोय मौर्य) संवच्छरं पवत्तावेइ।"

हिमवन्त स्थविरावली की हस्तलिखित प्रति आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभण्डार, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर के संग्रह में है।

अथवा मूर्ति की पूजा का कहीं नाममात्र के लिए भी उल्लेख नहीं है। इस अभिलेख में कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल को प्रजा के क्षेम-कुशल के लिये सदा सतत निरत रहने के कारण 'क्षेमराज,' राज्य, राजकोष और प्रजा की सुख समृद्धि में सदा अभिवृद्धि करते रहने के कारण वर्द्धराज, भिक्षुओं,—जैन श्रमणों का परम भक्त रहने के कारण भिक्षुराज और मगधराज पुष्यमित्र के अत्याचारों से जैन धर्म की अथवा जैनधर्मावलम्बियों की रक्षा करने के कारण धर्मराज की विशिष्ट उपाधियों से विभूषित किया गया है। जिस प्रकार प्रगाढ़ विष्णुभक्ति के परिणामस्वरूप हिन्दु वैष्णव परम्परा के पुराणों में महाराज अम्बरीष को परम भागवत के पद से विभूषित किया गया है, उसी प्रकार कलिंगपति खारवेल को भी उनकी उत्कट अर्हत्भक्ति को देखते हुए यदि परमार्हत पद से विभूषित किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार के परमार्हत् जिन शासनसेवा आदि धार्मिक कार्य-कलापों में अत्यधिक रुचि रखने वाला महाराजा खारवेल अपने तेरह वर्षों के शासनकाल में राजप्रासादों, नगरद्वारों, नगर प्राकार, फव्वारों, तालों, बान्धों, बाग-बगीचों, उपवनों का जीर्णोद्धार, पुनर्निर्माण, संस्कार तो करवाये, नृत्यगीत, वाद्य, नाटक, उत्सव, संगोष्ठियों का आयोजन कर नगरनिवासियों का मनोरंजन करे, राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के पश्चात् अनेक प्रकार के जनकल्याणकारी कार्य करे, ब्राह्मणों को विपुलतर महार्ध्य चल-अचल सम्पत्ति का दान करे, अड़तीस लाख मुद्राओं के व्यय से महाविजय प्रासाद का निर्माण करवाये, केतुभद्र यक्ष की तिक्त काष्ठ से बनी अति विशालकाय मूर्ति को नगर में महोत्सवपूर्वक निकाले, अर्हत् निषद्या (अर्हत् समाधि) पर याप-जापकों द्वारा प्राणिमात्र के कुशल क्षेम के लिए जाप करवाये। याप-ज्ञापकों को राजभृत्तियां प्रदान कर उन्हें उसी प्रकार जप जाप में निरत रहने की आज्ञा दे और अपनी पट्टमहिषी धृष्टि के लिए अर्हत् समाधि के पास ही पचहत्तर लाख मुद्राएं व्यय कर रत्नजटित स्तम्भों वाला अतिरमणीय अतिविशाल विश्रामागार बनवाये पर एक भी मूर्ति की प्रतिष्ठा न करे, एक भी मन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार न करे, किसी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर की पूजा आदि के लिए एक भी राजभृति प्रदान न करे तो इससे यही सिद्ध होता है कि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्म में मूर्तिपूजा और मन्दिर–निर्माण का न केवल प्रचलन ही नहीं हुआ था अपितु मूर्तिपूजा के लिये धर्मकृत्यों में विधिविधान न होने के कारण किसी भी जैनधर्मावलम्बी के मन, मस्तिष्क एवं हृदय में इनके लिये कोई स्थान भी नहीं था। यदि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्मावलम्बियों में मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता, तो जहां खारवेल ने सुविहित परम्परा के श्रमणों के लिए संघायन का निर्माण करवाया, अर्हत्–समाधि (निषद्या) पर [illegible] जैन जप-जाप करने वालों के लिए राजभृत्तियां [illegible] उस रमणीय पवित्र पर्वत पर आगमन के [illegible] स्थल के समीप भव्य विश्रामागार बन[illegible] मन्दिर का निर्माण एवं मूर्ति की प्र[illegible]

पूजा व्यवस्था हेतु पुजारियों के लिये भूमिदान ग्रामदान आदि के रूप में राजभृति की व्यवस्था निश्चित रूप से करते एवं शिलालेख में अन्यान्य कार्यों का जिस प्रकार क्रमशः उल्लेख किया गया है उसी प्रकार इन आत्यंन्तिक महत्व के कार्यों का भी निश्चित रूप से उल्लेख किया जाता। इस शिलालेख की १७वीं पंक्ति में खारवेल को सर्वदेवायतन संस्कारक बताया गया है। यदि उसके राज्यकाल तक जैनों अथवा बौद्धों में मूर्तिपूजा एवं मन्दिर–निर्माण का प्रचलन हो गया होता तो वे जैन एवं बौद्ध मन्दिर भी तूफान में अवश्यमेव क्षतिग्रस्त होते और खारवेल तूफान में क्षतिग्रस्त हुए प्रासाद, प्राकार, राजमहल, उपवन, फव्वारों आदि की तरह उन जैन मन्दिरों व बौद्ध मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी अवश्य करवाता। इतना ही नहीं, यदि खारवेल के समय तक जैनों अथवा बौद्धों में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरनिर्माण का प्रचलन हो गया होता तो खारवेल जैसा परमार्हत एवं जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाला राजा कलिंग की राजधानी में और कुमारी पर्वत पर एक दो जैन मन्दिरों का नव्य-भव्य निर्माण तो अवश्यमेव ही करवाता। किन्तु शिलालेख साक्षी है कि ऐसा कुछ भी नहीं किया गया।

खारवेल के इस शिलालेख से प्रकाश में आये इन तथ्यों पर इतिहासज्ञ स्वयं विचारकर निर्णय करें कि वे किस सत्य की ओर इंगित कर रहे हैं।

खारवेल के इस शिलालेख से एक यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि वीर निर्वाण से लेकर इस शिलालेख के उट्टंकनकाल (वीर नि. सं. ३७६) तक मूर्तिपूजा और मन्दिर निर्माण का प्रचलन बौद्धों में भी नहीं हुआ था। यदि उपर्युक्त अवधि में बौद्धों में मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण का प्रचलन हो गया होता तो मौर्य सम्राट् अशोक जैसा अपने समय का बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा उपासक राजा कलिंग विजय के पश्चात् कलिंग में किसी भव्य बौद्ध मन्दिर अथवा प्रतिमा का निर्माण अवश्य करवाता और सर्वधर्मों के देवायतनों के संस्कार के विरुद से विभूषित खारवेल उस मन्दिर का जीर्णोद्धार अवश्यमेव करवाता तथा उस जीर्णोद्धार का उल्लेख इस शिलालेख में निश्चित रूप से होता। इसी प्रकार उपर्युक्त अवधि में किसी समय जैनधर्म में भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण को कोई स्थान मिला होता तो खारवेल के सिंहासनारूढ़ होने से केवल २६ वर्ष पहले स्वर्गस्थ हुआ मौर्य सम्राट् सम्प्रति भी कलिंग की राजधानी अथवा पवित्र कुमारी पर्वत पर अवश्यमेव जिनमूर्ति की प्रतिस्ठापना और जैन मन्दिर का निर्माण करवाता। खारवेल के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व कलिंग में आये तूफान में जिस प्रकार राजप्रसाद, भवन गोपुर, प्राकार आदि भूलुण्ठित अथवा क्षतिग्रस्त हुए, उसी प्रकार कोई न कोई जैन मन्दिर भी क्षतिग्रस्त होता और परमार्हत खारवेल द्वारा उसके जीर्णोद्धार का इस शिलालेख में अवश्य ही उल्लेख होता।

पर वस्तुस्थिति इससे पूर्णतः विपरीत है, क्योंकि खारवेल ने अपने १६ वर्ष के राज्यकाल में धर्मरक्षा, धर्माभ्युदय और लोककल्याण के अनेक कार्य किये पर

न किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा की, न एक भी मन्दिर का निर्माण करवाया और न केतुभद्र यक्ष की विशालकाय काष्ठमूर्ति के अतिरिक्त किसी मूर्ति अथवा मन्दिर के किसी उत्सव का ही आयोजन किया।

इस प्रकार इस शिलालेख में उल्लिखित तथ्य सत्यान्वेषी सभी धर्माचार्यों, इतिहासविदों, शोधार्थियों, गवेषकों और प्रबुद्ध तत्वजिज्ञासुओं को उन निर्युक्तियों, चूर्णियों, महाभाष्यों, पट्टावलियों एवं अन्याय ग्रन्थों के उन सभी उल्लेखों पर क्षीर-नीर-विवेकपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि से गहन विचार करने की प्रेरणा देते हैं, जिनमें मौर्य सम्राट् परमार्हत् सम्प्रति के लिये कहा गया है कि उसने तीनों खण्डों की पृथ्वी को जिनमन्दिरों से मण्डित कर दिया था।

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि खारवेल का हाथी गुंफा वाला उपरिवर्णित शिलालेख निर्युक्तियों, चूर्णियों भाष्यों एवं पट्टावलियों से अनेक शताब्दियों पूर्व का है। ये निर्युक्तियां आदि वस्तुतः इस शिलालेख से बहुत पीछे की कृतियां हैं। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम. ए. बार-एट ला ने तो इस शिलालेख के सम्बन्ध में यहां तक लिखा है :—

(१) "....पर ऐतिहासिक घटनाओं और जीवन चरित् को अंकित करने वाला भारतवर्ष का यह सबसे पहला शिलालेख है।[1]

(२) जैन धर्म का यह अब तक सबसे प्राचीन लेख है।[2]

(३) "मालूम रहे कि कोई जैनग्रन्थ इतना पुराना नहीं है, जितना कि यह लेख है।[3]

एक ओर तो वीर नि० की चौथी शताब्दी में उट्टंकित खारवेल के सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख में विविध धर्मकार्यों का विवरण होते हुए भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण का कहीं नामोल्लेख तक नहीं और दूसरी ओर इस शिलालेख से क्रमशः ८००, ९००, १३७० और इससे भी बड़े उत्तरवर्ती काल के भाष्यकारों,[4]

---

१. कलिंग चक्रवर्ती महाराज के शिलालेख का विवरण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९२८ में प्रकाशित), पृष्ठ २

२. वही पृष्ठ ६

३. वही पृष्ठ ११

४. अणुयाणे अणुयाति, पुप्फारुहणाइ उक्कीरणगाई।
पूयं च चेतियाणं, ते वि सरज्जेनु कारेंति ॥ ५७५४ ॥
निशीथ भाष्य, भाग ४, पृष्ठ १३१

चूरिणकारों,[1] परिशिष्ट पर्वकारों और पट्टावलीकारों[2] द्वारा स्थान-स्थान पर मूर्तिपूजा और जिनमन्दिर निर्माण के उल्लेखों के साथ-साथ खारवेल के सिंहासनारूढ़ होने से केवल २३ वर्ष पूर्व स्वर्गस्थ हुए सम्प्रति द्वारा स्थान-स्थान पर जिनमन्दिरों के निर्माण करवाये जाने और त्रिखण्ड की भूमि को जिनमन्दिरों से मण्डित कर दिये जाने के अनेकशः उल्लेख किये गये हैं।

वीर नि. सं. ३१६ से वीर नि. सं. ३२९ तक एक परम धर्मनिष्ठ जैन राजा के राज्यकाल में किये गये धर्मकार्यों एवं अन्यान्य प्रमुख कार्यों के विवरण में मूर्तिपूजा का, मन्दिर निर्माण का, रथयात्रा का, रथ पर पुष्पवर्षा का, रथ के आगे अनेक प्रकार के फलों, विविध खाद्य पदार्थों, कौड़ियों एवं वस्त्र आदि की उछाल का कोई उल्लेख नहीं और उस लेख से ८०० से लेकर १८०० वर्ष पश्चात् लिखे गये ग्रन्थों में मूर्तिपूजा, मन्दिर—निर्माण रथयात्रा आदि के उत्तरोत्तर अतिरंजित अभिवृद्धि के साथ उल्लेख हैं, यह एक इस प्रकार की स्थिति है जो सर्वसाधारण को हठात् बड़े असमंजस में डाल देने के साथ तत्वजिज्ञासुओं, तथ्य के गवेषकों एवं इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों के मन—मस्तिष्क में विचार—मन्थन उत्पन्न कर देती है।

यह तो एक सर्वसम्मत निर्विवाद सत्य है कि वीर निर्वाण के पश्चात् ३२९ (३१६ से ३२९ तक खारवेल का शासनकाल) से ३७९ (हाथीगुंफा के शिलालेख के उट्टंकन का अनुमानित काल) वर्ष की अवधि के बीच जो तथ्य शिला पर उट्टंकित किये गये हैं, वे वीर नि० सं० ११००, १२००, १७०० और २११६ में निबद्ध किये गये भाष्य, चूर्णि, परिशिष्टपर्व, तपागच्छ पट्टावली आदि ग्रन्थों के उल्लेखों की अपेक्षा निश्चित रूपेण अधिक प्रामाणिक एवं परम विश्वसनीय और तथ्यपरक हैं।

इन सब तथ्यों से अनुमान किया जाता है कि मूर्तिपूजा का प्रचलन चैत्यवासी परम्परा और यापनीय परम्परा ने कालान्तर में प्रारम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नत्रयदेव की पूजा के अनन्तर यापनीय परम्परा ने चरणचिन्हों की पूजा का और तदनन्तर मूर्तिपूजा एवं मन्दिर निर्माण आदि का प्रचलन किया।

---

१. अणुजाणं रहजत्ता तेसु सो राया अणुजाणंति भडचडगमहितो रहेण सह हिंडति, रहेसु पुप्फारुहणं करेंति, रहगतो य विविध फले खज्जगे य कवड्डग वत्थमादी य उक्खीरणं करेंति, अन्नेसि च चेइयघरठियाणं चेइया पूयं करेंति, ते वि य रायाणो एवं चेव मज्जेसु कारवेंति ।। ५७४७ की चूर्णि —वही निशीथचूर्णि।

२. तेन सम्प्रतिना त्रिखण्डमितापि महि जिनप्रासादमण्डिता विहिता। तपागच्छ पट्टावली। रचनाकाल वीर निर्वाण सम्वत् २११६ तदनुसार वि० सं० १६४६

श्रुतसागर सूरि द्वारा यापनीय परम्परा की मान्यताओं के सम्बन्ध में जो "रत्नत्रयं पूजयन्ति" वाक्य का प्रयोग किया गया है, इसकी पुष्टि, "चिक्क मागड़ि" में अवस्थित वसवण्ण मन्दिर के प्रांगण में जो एक स्तम्भ लेख विद्यमान है, उससे भी होती है। इस अति विस्तृत शिलालेख के अन्तिम भाग में रत्नत्रय देव की वसदि के सम्बन्ध में जो उल्लेख है वह निम्नलिखित रूप में है :—

..........."तत्पादपद्मोपजीवि श्रीमन्महा प्रधान बाहत्तर नियोगाधिपति महा प्रचंड दंडनायकं रेचि देवरसनामा गुण्लिय रत्नत्रय देवर वसदियाचार्य्यर् भानुकीर्त्ति सिद्धान्त देवरं बरिसि मुन्नं समधिगत पंच महा शब्द महामण्डलेश्वरं बनवासिपुरवराधीश्वरं पद्मावती देवी लब्धवरप्रसादं मृगमदामोदं माक्कोंल भैरवं कादम्ब कण्ठी........कामिनी लोलं हुसिवर शूलं निगलंक मल्लनसु हृत् सेल्ल गण्डर दावणि सुभट शिरोमणि इत्यखिल नामावली समालंकृतनप्प वाप्प देव........वलिय बाडं तलवेयं त्रिभोगाभ्यन्तर विशुद्धियि सर्व्व बाधा परिहारं सर्व्व नमश्यवागि परिकल्पिसिदुदं शक वर्ष नूर नालकनेय........सुद्ध पंचमी बुधवारदन्दा रत्नत्रय देवर-भिषेकाद्यंग भोग रंग भोगक्कं ऋषियराहार दानक्कं विद्यार्थिगल........वसदि पेस ....खण्ड स्पु (स्फो) टित जीर्णोद्धारक्कवेन्दु आ श्रीमन्मूल संघद काणूर गणद तिन्त्रिक गच्छद नुन्न वंशद श्रीमद् भानुकीर्त्ति सिद्धान्त..............कोट्टु.......... महाप्रधानं कृत जयाकर्षण विधानं धनुर्विद्या धनंजय नार्कण्णित रण रभस भीत भू ....द विद्याधरं काव्य कला धरनेनिप मुरारि केशद देवंगे धर्म्म प्रतिपालनमं सर्मापसिदनातनं प्रभावमेन्तेन्दोडे ।।"[1]

इसमें रत्नत्रय देव वसदि और रत्नत्रय देव के अभिषेक अंग भोग रंग भोग और वहां रहने वाले मुनियों के और विद्यार्थियों के आहार आदि की व्यवस्था हेतु मूल संघ काणूरगणतिन्त्रिणीक गच्छ नुन्नवंश के आचार्य भानुकीर्त्ति सिद्धान्तदेव को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे "रत्नत्रयं पूजयन्ति" इस उपर्युल्लिखित उल्लेख की पुष्टि होती है कि यापनीय संघ में रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र) देव की पूजा किये जाने का पूर्व काल में प्रचलन था। इस लेख में रत्नत्रय देव मन्दिर के जीर्णोद्धार का भी इस दान के कारण के रूप में उल्लेख होने से यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि शक सम्वत् (१) १०४ तदनुसार ईस्वी सन् (१) १८२ में जिस वक्त यह दान दिया गया, यह रत्नत्रय देव का मन्दिर अथवा वसदि का भवन अति प्राचीन होने के कारण जीर्ण शीर्ण हो चुका था। रत्नत्रय देव की वसदि के अति प्राचीन और जीर्ण शीर्ण होने के उल्लेख से भी यह अनुमान किया जाता है कि यापनीय परम्परा में प्रारम्भिक काल में तीर्थंकरों की मूर्त्ति के स्थान पर रत्नत्रय देव की पूजा की परिपाटी प्रचलित थी।

---

१. जैन शिलालेख संग्रह लेख सं० ४०८

इन सब के अतिरिक्त यापनीय परम्परा के विभिन्न गणों के आचार्यों की पट्टावलियों और अनेक लेखों में यापनीय परम्परा के आचार्यों को दिये गये भूमि दान, ग्रामदान, एवं उनकी भोजनादि की व्यवस्था के लिये किये गये क्षेत्रादि के दान से सम्बन्धित शिलालेख भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कम्बद हल्लि से प्राप्त शक सम्वत् १०४० के एक स्तम्भ लेख में यापनीय परम्परा के प्राचीन सूरस्थ गण के आचार्यों की एक छोटी-सी पट्टावलि उल्लिखित है, जो इस प्रकार है :

(१) आचार्य अनन्तवीर्य
(२) बालचन्द्र
(३) आचार्य प्रभाचन्द्र
(४) आचार्य कल्निले देव
(५) आचार्य अष्टोपवासी
(६) आचार्य हेमनन्दि
(७) आचार्य विनयनन्दि
(८) आचार्य एकवीर
(९) आचार्य पल्ल पण्डित अपर नाम अभिमानदानी।

इस पल्ल पण्डित को शाकटायन, व्याकरण (शब्दानुशासन) एवं उसकी अमोघवृत्ति के रचनाकार यापनीय आचार्य पाल्यकीर्त्ति अपर नाम शाकटायन की उपमा दी गई है।[1]

जिन शिलालेखों में यापनीय संघ के आचार्यों को अथवा यापनीय संघ को तथा यापनीय संघ के साधुओं के भोजन आदि की व्यवस्था के लिये राजाओं अथवा अन्य गृहस्थ भक्तों द्वारा भूमि, ग्राम, द्रव्यादि दान दिये गये हैं, उन सब का अति संक्षेप में यहां विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैन शिक्षा लेख संग्रह भाग १ में यापनीय संघ के सम्बन्ध में जो शिलालेखीय उल्लेख है वह इस प्रकार है :

१. लेख संस्या ५०० में सूर्य वंशी चोल कुल के महामण्डलेश्वर राजेन्द्र पृथ्वी कोंगाल्व ने मूल संघ काणूर गण तगरीगल् गच्छ के गण्ड विमुक्तदेव के लिये एक वसति का निर्माण करवाया और देव पूजन के लिये भूमि का दान करवाया।

२. लेख संख्या ४८६ शक सम्वत् १०४१ में गंग राजवंश के संस्थापक आचार्य सिंहनन्दि का उल्लेख किया गया है। जैन शिलालेख संग्रह भाग २ में याप-

1. लेख संख्या २६६, जैन शिला लेख संग्रह भाग २ पृष्ठ ३९९ से ४०३ प्रकाशन विक्रम सम्वत् २००९

नीय संघ, उसके गण आदि के सम्बन्ध में जो शिलालेखीय उल्लेख हैं वे इस प्रकार हैं :

१. लेख संख्या ९८ में श्री विजय शिव मृगेश वर्मा ने अर्हत् शाला परम पुष्कल स्थान निवासी साधुओं के लिये और जिनेन्द्र देवों के लिये तथा श्वेताम्बर एवं निर्ग्रन्थ महा श्रमण संघों के लिये कालबंग नामक ग्राम का दान किया।

२. लेख संख्या ९९ के अनुसार कदम्ब वंशी राजा रवि वर्मा ने यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्च्चक संघों को पलाशिका में भूमिदान दिया।

३. लेख संख्या १०० के अनुसार यापनीय तपस्वियों की चातुर्मासावधि में भोजन व्यवस्था के लिये पलाशिका नगरी में कदम्ब वंशी राजा रवि वर्मा द्वारा दान दिया गया।

४. लेख संख्या १०५ के अनुसार यापनीय संघों के लिये कदम्ब वंशी युवराज देववर्मा द्वारा भूमिदान दिया गया। इसमें 'यापनीय संघेभ्य' इस बहु वचन के प्रयोग से अनुमान किया जाता है कि यापनीय संघ में कई विभिन्न संघ थे।

५. लेख संख्या १४३ में धर्मपुरी के दक्षिण में स्थित एक जिन मन्दिर के लिये दान दिये जाने का उल्लेख है, जो मन्दिर यापनीय संघ के एक मुनि के अधिकार में था।

इस शिलालेख में यापनीय संघ के कोटिमडुव गण के नन्दि गच्छ के आचार्य जिननन्दि, उनके शिष्य आचार्य दिवाकर और उनके शिष्य आचार्य श्रीमन्दिर देव का उल्लेख किया गया है। इस लेख में दिवाकर नन्दि की "यत्केवलज्ञान निधिर्महात्मा स्वयं जिनानां सदृशो गुणौघैः" इस श्लोकार्द्ध से अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति की गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह यापनीय आचार्य अपने समय के कोई महान् प्रभावक आचार्य होंगे।

६. लेख संख्या १६० में यापनीय संघ के कंडूरगण के आचार्य मानिदेव की स्तुति की गई है। इनकी स्तुति से पहले कंडूरगण के आचार्य बाहुबलि, देवचन्द्र, बाहुबलि देवसिंह, रविचन्द्र स्वामी और शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव का तथा मानिदेव के पश्चात् प्रभाचन्द्र देव और बाहुबलि भट्टारक का नामोल्लेख किया गया है।

७. लेख संख्या १८५ में सूरस्थगण के आचार्य वज्रपाणि पंडितदेव और साध्वी प्रमुखा जाकीयब्बे का उल्लेख किया गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि सूरस्थगण यापनीय संघ का ही एक गण था।

जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ में यापनीय संघ के सम्बन्ध में जो शिलालेख हैं उनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है :

१. अभिलेख संख्या ३१३ में मूल संघ कौंडकुंडान्वय, क्राणूरगण के तित्रिणीक गच्छ के आचार्य रामनन्दि, पद्मनन्दि, मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव, आचार्य भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव के नाम शिष्य परम्परा से देने के पश्चात् कनक जिनालय के लिये राजा एक्कल द्वारा आचार्य भानुकीर्ति को भूमिदान देने का उल्लेख किया गया है।

२. अभिलेख संख्या ३५३ में मूल संघ, क्राणूरगण, मेषपाषाण गच्छ के आचार्य बालचन्द्र देव को हेगड़ि जक्कैय्य तथा उसकी पत्नि जक्कव्वे द्वारा दिडगुरु में एक चैत्यालय के बनवाने, उसमें सुपार्श्व प्रभु की मूर्त्ति की स्थापना करने, देव की पूजा करने तथा मुनियों के आहार की व्यवस्था करने के लिये भूमिदान किये जाने का उल्लेख है।

३. अभिलेख संख्या ३७७ में वनवासी मण्डल के कदम्ब वंशी राजा सोरिदेव के शौर्य वर्णन के साथ मूलसंघ कुण्ड कुण्डान्वय, क्राणूरगण, तीन्त्रिणिक गच्छ के मुनि चन्द्रदेव यमी के शिष्य आचार्य भानुकीर्ति को तेवरतप्प लोकगावुण्ड द्वारा भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इस लेख में भानुकीर्ति मुनि को वन्दनिका पुर का अधिपति बताया गया है।

४. अभिलेख संख्या ३८६ में एलम्वल्ली देकिसेट्टि द्वारा शान्ति नाथ वसदि के जीर्णोद्धार, जीयस् तथा श्रमणों की चारों जातियों के आहार का प्रवन्ध करने के लिये शान्तिनाथघटिकास्थानमण्डलाचार्य भानुकीर्त्ति सिद्धान्तदेव को दान देने का और भानुकीर्ति द्वारा अपने मन्त्रवादी शिष्य मकरध्वज को वह दान समर्पित कर देने का उल्लेख है।

ये आचार्य भानुकीर्ति उपरि लिखित अभिलेख संख्या ३७७ में वर्णित आचार्य चन्द्र देव के ही शिष्य थे।

५. अभिलेख संख्या ४३१ में मूल संघ, क्राणूर गण, तीन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य सकलचन्द्र भट्टारकदेव को महाप्रधान महादेव दण्डनायक द्वारा एरग जिनालय बनवाकर, उसमें शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा करके, महामण्डलेश्वर एक्कलरस की उपस्थिति में हिडगण तालाब के नीचे 'भेरुण्ड' दण्डे से नाप कर तीन मत्तल चांवल की भूमि, दो कोल्हू और एक दुकान का दान किये जाने का उल्लेख है। इस शिलालेख में यापनीय संघ के तिन्त्रीणिक गच्छ के आचार्यों की परम्परा भी उट्टंकित है, जो निम्न प्रकार से है :

(१) आचार्य पद्मनन्दि
(२) आचार्य रामनन्दि
(३) मुनिचन्द्र सिद्धान्तचक्रेश
(४) आचार्य कुलभूषण त्रैविद्य विद्याधर

(५) आचार्य सकलचन्द्र भट्टारक ।

६. अभिलेख संख्या ५८२ में मूल संघ, क्राणूर गण, तीन्त्रिणिक गच्छ, कौंड कुण्डान्वय के आचार्य श्री वासुपूज्यदेव और उनके शिष्य सकल चन्द्रदेव की प्रशंसा के साथ उन्हें कुरिग्गीहल्ली के गौड़ों द्वारा पारुष देव की वसति बनवा कर उसे दान करने का उल्लेख है।

७. अभिलेख संख्या ४५७ में पोय्सल् (होय्सल्) राजवंश के संस्थापक आचार्य सुदत्त का और उनके द्वारा क्षत्रिय कुमार सल् को चीते के मारने का आदेश देने का उल्लेख है।

इस अभिलेख में मूल संघ क्राणूरगण के आचार्य गुणचन्द्र का भी उल्लेख किया गया है।

८. अभिलेख संख्या ४५६ में श्री मूलसंघ क्राणूरगण तीन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य ललितकीर्ति के शिष्य आचार्य शुभचन्द्र के समाधिपूर्वक स्वर्गगमन और उनकी समाधि पर एक मण्डप खड़ा किये जाने का उल्लेख है।

९. अभिलेख संख्या ४०८ में मूल संघ, क्राणूर गण, तीन्त्रिणिक गच्छ, नुन्हवंश के आचार्य भानुकीर्त्ति को रत्नत्रयदेव की वसति के जीर्णोद्धार के लिये, जैसा कि पहले विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा चुका है, दान दिये जाने का उल्लेख है।

१०. अभिलेख संख्या ७२४, शक सम्वत् १६२१ तदनुसार ईस्वी सन् १६९९ का एक बड़ा ही ऐतिहासिक महत्व का अभिलेख है। यह अभिलेख हागलहिल्ली से प्राप्त हुआ है। इसमें उल्लेख है कि मूल संघ तीन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य आदिनाथ पण्डितदेव के श्रावक शिष्य, जोकि जाति से तेली था और जो तिप्पूर तीर्थ के हादिग वागिलु गांव का किसान था, और जिसका नाम चामगौड़ था, ने एक पत्थर का तेल निकालने का कोल्हू बनवाया।

इस अभिलेख से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि शक सम्वत् १६२१ अर्थात् ईस्वी सन् १६९९ तक यापनीय संघ एक धर्म संघ के रूप में, चाहे वह कितना ही निर्बल संघ क्यों न रह गया हो, विद्यमान था।

इन उपरिलिखित उल्लेखों से अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि यापनीय परम्परा के आचार्यों एवं साधु-साध्वियों द्वारा नियत निवास अंगीकार करने के पश्चात् ही भूमिदान, ग्रामदान आदि ग्रहण करने की प्रवृत्ति और मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

यापनीय परम्परा से सम्बन्धित जो शिलालेख उपलब्ध होते हैं उनके अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस परम्परा के आचार्यों एवं साधुओं ने जैन धर्म को एक जीवित धर्म के रूप में बनाये रखने के लिए नई से नई विधाओं का आविष्कार किया। किसी भी जैन अथवा जैनेतर धर्म संघ ने अपने धर्म संघ को सबल बनाने, अपने धर्म के प्रचार प्रसार अथवा लोक प्रवाह को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से जो-जो आडम्बरपूर्ण आयोजन, उत्सव महोत्सव आदि आविष्कृत किये, उन सब उपायों को बिना किसी हिचक के अपनाने में और धर्म प्रचार के उपायों का नवीनतम आविष्कार करने में यापनीय परम्परा के आचार्य एवं साधु साध्वीगण अन्य सबसे आगे ही रहे। उदाहरण के तौर पर मूर्तिपूजा के प्रारम्भिक काल में तीर्थंकरों की ही मूर्त्तियां प्रतिष्ठापित की जाती और तीर्थंकरों के ही मन्दिर बनवाये जाते थे, कालान्तर में तीर्थङ्करों के मन्दिरों में ही उनके यक्ष-यक्षणियों आदि की मूर्त्तियां जिन मन्दिर से बाहर रखी जाने लगीं। किन्तु अपने संघ के प्रचार के लिये यापनीयों ने इससे भी एक कदम आगे बढ़कर श्रवणबेलगोल में गंगवंशी महाराजा राचमल्ल के महामन्त्री एवं सेनापति चामुंडराय के माध्यम से यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र ने संसार प्रसिद्ध बाहुबली की विशाल मूर्ति का निर्माण करवा कर उसकी प्रतिष्ठा की। **आचार्य नेमिचन्द्र वस्तुतः यापनीय आचार्य थे, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।**

जब बौद्ध और अन्य धर्मावलम्बी तान्त्रिकों ने मन्त्र तन्त्र का सहारा लेकर अपने धर्मसंघों का प्रचार प्रसार करना प्रारम्भ किया तो यापनीय संघ उस दिशा में भी सबसे आगे ही रहा। यापनीय आचार्यों ने ही सर्वप्रथम ज्वालामालिनी देवी का स्वतन्त्र मन्दिर कर्नाटक में बनवाया। यापनीयों ने ही ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि कल्पों को कर्नाटक में सर्वाधिक लोकप्रिय बनाया।

पंच महाव्रत ग्रहण करते समय प्रत्येक जैन मुनि यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि वह त्रिकरण त्रियोग से सब प्रकार के सावद्य योगों का जीवनभर के लिए परित्याग करता है। वह छोटी से छोटी हिंसा न स्वयं करता है, न दूसरों से करवाता है और न छोटी से छोटी हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है किन्तु जिस समय लगभग ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में जैनधर्म राज्याश्रय से वंचित हो गया और उसके परिणामस्वरूप न केवल उसके प्रचार प्रसार में ही अवरोध आने लगे अपितु जैन संघ का ह्रास भी होने लगा तो आचार्य सिंहनन्दि ने दडिग् और माधव नामक दो क्षत्रिय पुत्रों को सभी विद्याओं में पारंगत कर उन्हें बनवासी राज्य के राजसिंहासन पर आसीन करने में पूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार जैन संघ के आचार्य सिंहनन्दि ने गंगराजवंश की स्थापना की। यह गंगराजवंश प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जैन धर्मावलम्बी रहा। श्रवणबेलगोल में बाहुबलि की मूर्त्ति का निर्माण करवाने वाले महामन्त्री चामुंडराय इसी गंगराजवंश के उत्तर कालवर्ती महाराजा

राचमल्ल के महासेनापति एवं महामन्त्री थे। गंगराजवंश की स्थापना के पश्चात् आचार्य सिंहनन्दि एक सैनिक अभियान में भी दडिग् और माधव के साथ रहे। यही नहीं, इस राजवंश की स्थापना के समय उन्होंने दडिग् और माधव को तथा उनकी भावी पीढ़ियों के राजाओं को जिन सात प्रतिज्ञाओं का पालन करते रहने के लिए निर्देश दिये उन सात प्रतिज्ञाओं में से छठी प्रतिज्ञा यह थी कि रणांगण से कभी पलायन नहीं किया जायगा। आचार्य सिंहनन्दि ने स्पष्ट शब्दों में गंगराजवंश के आदि राजा दडिग् और माधव को यह कहा था कि जिस दिन तुम अथवा तुम्हारे राजवंश का कोई भी राजा युद्ध में पीठ दिखाकर रणांगण से पलायन कर जायगा उसी दिन तुम्हारा राजवंश पराभव को प्राप्त हो जायगा। आचार्य सिंहनन्दि के इस उपदेश का गंगवंशी प्रायः सभी राजाओं ने अक्षरशः पालन किया। इस बात की साक्षी अनेक शिलालेख देते हैं। प्राचीन शिलालेखों में गंगवंश के अनेक राजाओं की प्रशंसा में इस प्रकार के उल्लेख आज भी उपलब्ध होते हैं कि इस वंश के अमुक-अमुक राजा के सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग रणांगण में लगे शस्त्रों के प्रहारों के चिह्नों से मण्डित थे।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है जैन साधु के लिये इस प्रकार का उपदेश देना नितान्त निषिद्ध है किन्तु तत्कालीन देश काल और समाज की परिस्थितियों को देखते हुए आचार्य सिंहनन्दि ने इस प्रकार का उपदेश देना धर्म की रक्षा के लिये आवश्यक समझा। यह आचार्य सिंहनन्दि यापनीय आचार्य थे। लेख संख्या २७७ में क्राणूरगण के इन आचार्य सिंहनन्दि की एक पट्ट परम्परा दी हुई है जो इस प्रकार है :—

१. आचार्य सिंहनन्दि (गंगराजवंश के संस्थापक)
२. अर्हद्वल्याचार्य
३. बेट्टददामनन्दि भट्टारक
४. मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव
५. गुणचन्द्र पण्डितदेव

६. शब्द ब्रह्म त्रैविद्य देव. (इस शब्द से अनुमान लगाया जाता है कि इन्होंने सांख्यों, वैष्णवों आदि को प्रभावित कर जैनधर्म के प्रति उनमें मैत्री और सद्भावना उत्पन्न की।)

७. प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव (ये महान् तार्किक एवं वादी थे। ये मूल संघ कोण्डकुन्दान्वय, क्राणूरगण तथा मेष पाषाण-गच्छ के आचार्य थे। इनके शिष्य माघनन्दि सिद्धान्त देव हुए।)

८.	माघनन्दि सिद्धान्त देव	(उनके शिष्य :—प्रभाचन्द्र द्वितीय हुए ।)
९.	प्रभाचन्द्र द्वितीय	(इनके सधर्मा (गुरुभ्राता) अनन्तवीर्य मुनि और मुनिचन्द्र मुनि थे। उनके शिष्य श्रुतकीर्ति हुए ।)
१०.	श्रुतकीर्त्ति	
११.	कनकनन्दि त्रैविद्य	(अनेक राजाओं की राजसभाओं में इन्हें त्रिभुवन मल्ल वादिराज की उपाधि से अलंकृत एवं सम्मानित किया गया । इनके सधर्मा—गुरुभ्राता माधवचन्द्र हुए ।)
१२.	माधवचन्द्र	
१३.	बालचन्द्र यतीन्द्र त्रैविद्य	
१४.	अनन्तवीर्य सिद्धान्तदेव	
१५.	मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव[1]	

क्राणूरगण यापनीय परम्परा का ही गण था इस बात की पुष्टि अनेक विद्वानों ने की है । कतिपय शिलालेखों में भी क्राणूरगण को यापनीय संघ का ही गण बताया गया है । इसके अतिरिक्त इसी शिलालेख में इस पट्ट परम्परा के सातवें पट्टधर प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को क्राणूर गण तथा मेष पाषाण गच्छ का आचार्य बताया गया है । मेष पाषाण गच्छ यापनीय संघ का ही गच्छ था । इसे इतिहास के सभी विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है । इन्हीं प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य बुधचन्द्र देव थे । आचार्य बुधचन्द्र देव की विद्यमानता में प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य बर्म देव और भुजबलगंग पेर्म्माडिदेव ने मंडलि की पहाड़ी पर अवस्थित उस प्राचीन बसदि का पुनर्निर्माण करवाया जिसे पूर्व काल में दडिग् और माधव ने आचार्य सिंहनन्दि के निर्देश पर बनवाया था ।

इसी यापनीय परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र ने रट्ट राजवंश की सीमाओं का विस्तार कर उसे एक शक्तिशाली राज्य का रूप प्रदान किया । महामण्डलेश्वर रट्टराज लक्ष्मीदेव द्वितीय, जो कि अपनी राजधानी वेणुग्राम (साम्प्रतकालीन बेलगांव) में रहकर रट्ट राज्य का संचालन कर रहे थे, द्वारा सौंदत्ती से प्राप्त एक शिलालेख में[2] इन आचार्य मुनिचन्द्र को एक कुशल राजनीतिज्ञ रणनीति निपुण और रट्ट महाराज्य का संस्थापक बताया गया है ।

---

1. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृष्ठ ४०८–४१६ लेख संख्या २७७
2. जे. बी. आर. ए. एस., वाल्यूम १० पेज २६०, एफ. एफ.

इस शिलालेख में आचार्य मुनिचन्द्र के एक शिष्य आचार्य लक्ष्मीदेव का भी नामोल्लेख किया गया है । इन आचार्य मुनिचन्द्र के नामोल्लेख के सम्बन्ध में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एवं इतिहासज्ञ पी. बी. देसाई ने लिखा है :—

"Lastly, we may notice one more inscription from Saundatti, which offers interesting details about the Jain teachers. The epigraph is dated A. D. १२२८ and refers itself to the reign of the Ratta Chief Maha Mandaleshwar Laxmi Deo II, who was governing the Kingdom from his capital Venugram (वेणुग्राम) or modern Belgaon (वेलगांव). The Jain teacher was Munichandra (मुनिचन्द्र), who is styled as the royal preceptor of the Ratta House (रट्ट राजगुरु). Munichandra's activities were not confined to the sphere of religion alone. Besides being a spiritual guide and political adviser of the royal house hold, he appears to have taken a leading part not only in the administrative affairs, but also in connection with the military campaigns of the kingdom (वर–वाहा–वलदिम–विरोधी–निपरम् बेंकोंगडन) he is stated to have expended the boundaries of the Ratta territories and established their authority on a firm footing. Both Laxmi Deo II and his father Kart Veerya IV (कार्त्त वीर्य चतुर्थ) were indebted to this divine for his sound advice and political wisdom. Munichandra was well versed in sacred lore and proficient in military science. "Worthy of respect, most able among ministers, the establishers of Ratta Kings, Munichandra surpassed all others in capacity for administration and in generousity."[१]

श्री देसाई द्वारा प्रस्तुत उपरिलिखित शिलालेख के सारांश से यह एक बड़ा ही विस्मयकारी तथ्य प्रकाश में आता है कि जिस प्रकार यापनीय संघ के आचार्य सिंहनन्दि ने गंग राजवंश की स्थापना की और उस राजवंश के आदि राजा और भावी राजाओं को युद्धभूमि में शत्रु के सम्मुख डटे रहने का उपदेश दिया, उसी प्रकार उनके उत्तरवर्ती यापनीय आचार्य मुनिचन्द्र उनसे भी चार कदम आगे बढ़ गये । उन्होंने रट्ट राजा लक्ष्मीदेव को प्रशासन चलाने में और राज्य विस्तार हेतु सैनिक अभियान प्रारम्भ करने और उन सैनिक अभियानों को सुचारु रूप से चलाने हेतु सक्रिय सहयोग तक दिया । एक पंच महाव्रतधारी आचार्य को इस शिलालेख में सर्वश्रेष्ठ सुयोग्य महामन्त्री, कुशल राजनैतिक परामर्शदाता और रणनीति विशारद तक बताया गया है । इससे यही प्रतीत होता है कि उस युग की आवश्यकता को समझकर जैन संघ को एक सशक्त संघ के रूप में बनाये रखने के

१. जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स बाई पी. बी. देसाई—पेज ११४, ११५ जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर द्वारा १९५७ में प्रकाशित ।

लिये एवं उसके प्रबल प्रचार प्रसार के सदुद्देश्य से राज्याश्रय प्राप्त करके उन यापनीय महान् आचार्यों ने श्रमण धर्म के प्रतिकूल कार्यों को करना भी स्वीकार किया।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है न केवल यापनीय परम्परा अपितु अन्य परम्पराओं के आचार्यों ने भी मुनिधर्म के विपरीत मार्ग का अनुसरण करते हुए ग्रामादि का दान स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय में मुनियों की भोजन व्यवस्था के लिये मन्दिरों के निर्माण एवं उनकी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आचार्यों द्वारा दान ग्रहण करना एक व्यापक और सर्वसम्मत कार्य हो चुका था। मन्दिरों का पौरोहित्य करना, उनकी व्यवस्था करना एवं उनका निरीक्षण करना आदि कार्य भी, जो कि वस्तुतः एक मुनि के लिये सदोष होने के कारण त्याज्य हैं, आचार्यों ने समय के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने हाथ में ले लिये थे। कलभावी नामक ग्राम (सम्पगांव तालुक) के रामलिंग मन्दिर के बाहर से प्राप्त हुए शक सम्वत् २६१ के एक शिलालेख में, जो शोध के पश्चात् ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का माना गया है, यह उल्लेख है कि पश्चिमी गंगवंश के राजा शिवमार ने कुमुदवाड़ (कलभावी) में एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया और उस मन्दिर की व्यवस्था के लिये वह पूरा का पूरा मेलाप अन्वय नामक ग्राम, कारेगण के आचार्य देवकीर्त्ति को दान में दे दिया गया। यह पहले बताया जा चुका है कि कारेगण यापनीय संघ का एक प्रमुख गण था। इस शिलालेख में कारेगण के कुछ आचार्यों के नाम दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं :

१. शुभकीर्त्ति, २. जिनचन्द्र, ३. नागचन्द्र, और ४. गुणकीर्त्ति।

यापनीय संघ के प्राचीन केन्द्र

ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास यापनीय संघ तामिलनाडु प्रदेश में कन्याकुमारी तक सक्रिय रहा। इस सम्बन्ध में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। किन्तु ईसा की चौथी पांचवीं शताब्दी में और उसके पश्चात् यापनीय संघ वस्तुतः कर्णाटक प्रान्त के उत्तरवर्ती भाग में ही एक सर्वाधिक लोकप्रिय धर्मसंघ के रूप में सक्रिय रहा। कर्णाटक प्रदेश से प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है कि पलासिका जो कि आज बेलगांव जिले का हलसी ग्राम है, यापनीय संघ का प्रचार-प्रसार का ईसा की पांचवीं व छठी शताब्दी में केन्द्र रहा। इसके पश्चात् ईसा की सातवीं शताब्दी में बीजापुर जिले का ऐहोल ग्राम केन्द्र रहा। इसके अनन्तर ईसा की दसवीं शताब्दी में तुमकुर जिले में अनेक स्थानों पर यापनीय संघ ने अपने मुनिसंघों की वसदियों का निर्माण कर उनको अपना केन्द्र बनाकर धर्म का प्रचार व प्रसार किया। इस प्रकार ईसा की दसवीं शताब्दी में तुमकुर जिले में भी यापनीय संघ का पूर्ण

प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसके पश्चात् यापनीय संघ धारवाड़ कोल्हापुर और वेलगांव इन सभी जिलों का प्रमुख एवं लोकप्रिय धर्मसंघ बन गया। आगे चलकर ईसा की ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में यापनीय संघ का धर्मप्रचार क्षेत्र केवल उत्तरी कर्णाटक में ही सीमित रह गया।

यापनीय संघ के आश्रयदाता राजवंश

कर्णाटक के गंग राजवंश के और पोय्सल् राजवंश के राजा प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जैन धर्मावलम्बी रहे। इनके अतिरिक्त कदम्ब वंश, राष्ट्रकूट वंश, रट्ट वंश, चालुक्य वंश, शान्तर वंश, कलचुरी वंश आदि अनेक राजवंशों के राजाओं ने समय-समय पर अपने शासनकाल में जैनधर्म को संरक्षण दिया और जैनधर्म के प्रचार प्रसार में इन राजवंशों के राजाओं ने मुक्त हस्त हो सहायता की।

पोय्सल् राज्य के संस्थापक आचार्य सुदत्त किस परम्परा के आचार्य थे इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव से सुनिश्चित रूपेण कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैसूर-धारवाड़ सौरभ कुपत्तूर हलसी आदि क्षेत्रों में ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी से ही यापनीय संघ का पूर्ण वर्चस्व रहा और कई राजवंशों की स्थापना के लिये एवं 'गंग राजवंश' जैसे जैन धर्मावलम्बी राजवंश की अभिवृद्धि के लिये, जैनाचार्यों ने, जो अनुमानतः यापनीय संघ के ही हो सकते हैं, बड़ी गहरी रुचि ली। जैनाचार्यों का अपने ऊपर वरद्हस्त होने के परिणामस्वरूप जैन राजवंशों ने जैन धर्म की अभिवृद्धि के लिये अपनी पीढ़ी प्रपीढ़ी तक जो-जो उल्लेखनीय कार्य किये, उनके विवरण दक्षिण के प्रायः सभी प्रान्तों से मुख्यतः कर्णाटक से प्राप्त हुए अभिलेखों, शिलालेखों एवं मूर्त्ति-लेखों आदि में भरे पड़े हैं जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन राजवंशों के प्रकरण में यथास्थान किया जायगा।

७

द्रव्य-परम्पराओं के प्रचार-प्रसार एवं उत्कर्ष में सहयोगी राजवंश

चैत्यवासी, भट्टारक एवं यापनीय प्रभृति द्रव्य परम्पराओं के प्रचार-प्रसार एवं संवर्द्धन में होय्सल (पोय्सल), कदम्ब, गंग एवं राष्ट्रकूट राजवंशों का बड़ा ही उल्लेखनीय योगदान रहा।

उन चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओं ने परम्परागत नितान्त अध्यात्मपरक, भावार्चनापरक जैन संघ को किस प्रकार नया मोड़ देकर आध्यात्मिक भावार्चना के स्थान पर द्रव्यार्चना-द्रव्यपूजा-प्रधान स्वरूप प्रदान किया, इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास इन द्रव्यपरम्पराओं के परिचय में किया जा चुका है। जिन राजवंशों को अपनी-अपनी द्रव्य-परम्परा का अनुयायी बनाकर अथवा जिन-जिन राजवंशों का आश्रय ग्रहण कर उन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों ने अपनी-अपनी परम्परा का प्रचार-प्रसार किया, जिन-जिन राजवंशों से उन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों, साधु-साध्वियों ने साधु-साध्वियों के आहार-विहार आवास आदि की व्यवस्था के लिये ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान आदि ग्रहण कर द्रुतगति से द्रव्य परम्पराओं का प्रचार-प्रसार एवं विस्तार करने में सफलता प्राप्त की, उन राजवंशों का एवं इन द्रव्य-परम्पराओं के उत्थान-उत्कर्ष के लिए उन राजवंशों द्वारा किये गये कार्यों का परिचय देना ऐतिहासिक आदि सभी दृष्टियों से परमावश्यक है।

जैन धर्म के परम पवित्र एवं परम मान्य आगम आज भी विद्यमान हैं, मध्य युग में भी विद्यमान थे। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट उन जैन आगमों में जैन धर्म के स्वरूप का, स्व तथा पर के लिये कल्याणकारी करणीय कार्यों-कर्त्तव्यों का, श्रमण-श्रमणियों, आचार्यों के लिये आचरणीय आचार-विचार-आहार-विहार एवं दैनन्दिन कार्य-कलापों का सुचारू रूपेण सुबोध्य शैली में सुस्पष्ट दिग्दर्शन विद्यमान है, उल्लिखित है। उन आगमिक उल्लेखों-आदेशों से नितान्त भिन्न एवं प्रायः प्रतिकूल दिशा में चलकर भी वे द्रव्य परम्पराएं मध्ययुग में किस प्रकार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होती गईं, लोकप्रिय होती गईं, उनके प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष में कौन सी शक्ति सहायक थी, इस दृष्टि से भी इन द्रव्य परम्पराओं को आश्रय अथवा प्रश्रय देने वाले राजवंशों का परिचय देना परमावश्यक है।

इस तथ्य को तो प्रत्येक विज्ञ विचारक बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के स्वीकार करेगा कि—"जैन संघ किस प्रकार एक शक्तिशाली धर्मसंघ के रूप में ससम्मान जीवित रह सकता है"— यह भावना उन मध्ययुगीन द्रव्य-परम्पराओं के सूत्रधारों के अन्तर्मन में ओत-प्रोत थी। इस प्रकार की पवित्र भावना उन द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों की सफलता में वस्तुतः बड़ी सहायक सिद्ध हुई। उन द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों, आचार्यों, श्रमण-श्रमणियों का इस दिशा में निष्ठापूर्ण अथक प्रयास व परिश्रम भी उनकी सफलता में प्रमुख सहायक रहा। यह सब कुछ होते हुए भी उन द्रव्य परम्पराओं को शक्तिशाली धर्म संघों के रूप में लोकप्रिय बनाने का अधिकांश श्रेय उन राजवंशों को ही दिया जा सकता है, जिन्होंने तन-मन-धन और जन से सहयोग देकर इन परम्पराओं के उत्कर्ष के लिये न केवल जीवन भर ही अपितु पीढ़ी प्रपीढ़ियों तक अथक प्रयास किया।

जिस समय पूर्व से पश्चिम और हिमालय से परेवर्ती सुदूर उत्तरवर्ती सीमाओं से लेकर दक्षिण सागर तट तक ही नहीं अपितु दक्षिण सागरवर्ती द्वीपों तक में प्रसृत—फैले हुए जैन संघ पर चारों ओर से एवं मुख्यतः दक्षिणापथ से विनाशकारी घोर संकट के बादल घुमड़-घुमड़ कर घिर उठे थे, उन संकट की घड़ियों में, उस घोर संक्रान्ति काल में इन द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों-आचार्यों ने समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रों में सत्तारूढ़ राजवंशों का आश्रय ग्रहण कर एवं आवश्यकता पड़ने पर पोय्सल (होय्सल), गंग जैसे अभिनव राजवंशों की स्थापना कर उनकी सहायता से जैन संघ को जीवित रखने में जैन संघ की रक्षा करने में जो उल्लेखनीय कार्य किये, वे सदा-सदा जैन इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगे।

जैन संघ सदा से आर्य धरा पर एक सुदृढ़ शक्तिशाली धर्मसंघ के रूप में रहा है। आदिकाल से इक्ष्वाकु वंश के राजाओं ने, तदनन्तर हरिवंश-यदुवंश, पौरववंश, शिशुनाग वंश, गर्दभिल्ल वंश, सातवाहन वंश, चेदिवंश एवं मौर्य वंश आदि अनेक यशस्वी राजवंशों के राजाओं ने समय-समय पर अपने-अपने शासन काल में विश्वबन्धुत्व की भावनाओं से ओत-प्रोत विश्वकल्याणकारी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार-पल्लवन उत्कर्ष के लिये जो-जो उल्लेखनीय कार्य किये उनका वीर नि० सं० १००० तक का सारूप में लेखा-जोखा इसी ग्रन्थमाला के प्रथम एवं द्वितीय भाग में प्रस्तुत किया जा चुका है।

वीर नि० सं० १००० के उत्तरवर्ती काल में समय-समय पर सातवाहन, चोल, चेर, पाण्ड्य, कदम्ब, गंग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, रट्ट, शिलाहार, पोयसल आदि राजवंशों ने जैनधर्म को आश्रय-प्रश्रय प्रदान कर इसके अभ्युदय उत्कर्ष के कार्यों में उल्लेखनीय योगदान दिया। ईसा की पांचवीं-छठी शताब्दी तक जैन धर्म मुख्य रूप

से दक्षिण पथ का एक प्रमुख, शक्तिशाली एवं बहुजन सम्मत धर्म रहा। अनेक शिलालेखों, पुरातात्विक अवशेषों एवं "जैन संहार चरितम्" आदि शैव परम्परा की प्राचीन साहित्यिक लघु कृतियों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि तमिलनाडु तथा आन्ध्र-कर्णाटक में शैव सम्प्रदाय एवं वैष्णव सम्प्रदाय के अभ्युदयोत्कर्ष से पूर्व जैन धर्म का दक्षिणी प्रान्तों में सर्वाधिक ही नहीं अपितु अत्यधिक वर्चस्व था। इस तथ्य के प्रतिपादक "जैन संहार चरितम्" के कतिपय स्थलों का हिन्दी रूपान्तर सामान्यत: सभी जिज्ञासुओं के लिये और विशेषत: इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों एवं शोधार्थियों के लाभार्थ यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"पूर्वकाल में पृथ्वी भर में श्रमण लोगों की संख्या अधिक मात्रा में थी। राजा और प्रजा सभी इस धर्म (जैन धर्म) में ऐक्यत्व को प्राप्त हो गये थे। इस (जैन) धर्म में लोगों की आस्था अधिक होने के कारण अन्य धर्म की बातें उन्हें रुचिकर नहीं लगती थीं। सब जगह अरिहन्त भगवान् की उपासना की जाती थी। तन पर के वस्त्र और शिर के केशों तक पर भी मोह नहीं रखने वाले एवं समस्त प्रकार की आशाओं-आकांक्षाओं से रहित होकर गिरिगुहाओं में एकान्त निवास पूर्वक तपश्चरण करने वाले तपोधन भी यही मानते थे कि अरिहन्त भगवान् ही सब कुछ हैं। सम्पूर्ण जनमानस में यही एकमात्र अटल आस्था थी कि पहले (लौकिक) सुख देकर अन्त में मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करने वाले अर्हन्त भगवान् ही सर्वोपरि सर्वस्व अर्थात् सब कुछ हैं।

इस प्रकार जब श्रमण धर्म अति उन्नत दशा में था, तब चोल मण्डल नामक प्रदेश के..........गांव में ब्राह्मण कुल में सुन्दर मूर्ति का जन्म हुआ। वे पांच वर्ष की वय में ही अपने जन्म-स्थान से निकलकर मदुरै (दक्षिण मथुरा-मदुरई) पहुंचे और वहीं रहने लगे। उस समय मदुरै नगर में स्थित ८००० श्रमण सन्त 'सोक्कनादर' नामक शिव मन्दिर के कपाटों को पर्याप्त समय पूर्व ही बन्द करवाकर अपने धर्म का प्रचार करने में संलग्न थे।

जब सुन्दर मूर्ति कुछ बड़े हुए तब किसी कारणवश वे शैव सन्त बन गये। उन्होंने अपने कर्त्तव्य के रूप में श्रमण धर्म के प्रचारकों को फांसी पर लटका कर शैव धर्म का उद्धार करने का संकल्प किया। शिव भगवान् के परम भक्त होने के कारण उन पर भगवान्शिव प्रसन्न हुए। शिव ने उन्हें वरदान दिया—"तुम श्रमणों का संहार कर शैव धर्म का प्रचार-प्रसार करोगे।"

शैव सन्त बनने के पश्चात् वे सुन्दरमूर्ति नायनार एवं ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति के नाम से विख्यात हुए। ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने (शिव द्वारा प्रदत्त) मोतियों से जड़ी पालकी में बैठकर श्रमण-संहार के लिये प्रस्थान किया।............

..........ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने पालकी में बैठे-बैठे ही बन्द कपाटों वाले शिवमन्दिर को देख कर अनेक स्तोत्रों से शिव की स्तुति की। तत्काल शिव मन्दिर के कपाट खुल गये। इस प्रकार उन्होंने अनेक बन्द पड़े शिव मन्दिरों के कपाटों को खोला। वे वैगै नदी के दक्षिणी कूल पर अवस्थित शैव मठ में ठहरे।..........

.........श्रुतिपुर के निवासियों ने ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति से प्रार्थना की—"हे धर्मोद्धारक! ....श्रमणों के द्वारा किये जा रहे अत्याचारों से हम लोग बड़े दुःखी एवं पतित अवस्था में हैं। इस भूमि के शासक राजा भी श्रमणों के पक्ष में हैं और बहुसंख्यक प्रजा भी श्रमणों की अनुयायी है। इस प्रकार की परिस्थितियों में शैव धर्म कैसे पनपेगा?.......... इस स्कंध नदी के दक्षिणी कूल पर इन श्रमणों का मन्दिर एवं मठ है। वे नगर बसा कर वास करते हैं। वे श्रमण कहते हैं "शैवों को आंखों से देखना और उनकी बात सुनना भी महापाप है।"..........

..........ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति की मोतियों से जटित पालकी, वृषभध्वज, श्वेत चामर एवं तेवारं का सघोष गान करते हुए शैव समूह के साथ ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति को देखते ही श्रमणों के तन-मन भय से प्रकम्पित हो उठे। वे श्रमण विचार करने लगे—"इस ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने मदुरै में ८००० श्रमणों को मौत के घाट उतार दिया। अब हमें क्या करना चाहिये?"

..........तब सभी श्रमण मिलकर विचार करने लगे—"अब हम लोगों के विनाश का समय आ गया है, अब हम में से एक भी जीवित नहीं बचेगा।.........।"

..........यह देख कर ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने राजा से कहा—"इन श्रमणों में से जो-जो अपने ललाट में भस्म लगाकर शैव बन जायं, उनको तो जीवन दान दे दिया जाय। जो भाल में भस्म लगाकर शैव न बनें उन श्रमणों को फांसी पर लटका दिया जाय।"..........

..........इस पर श्रमण धर्म में आस्था रखने वाले बहुसंख्यक श्रमण स्वयं फांसी पर चढ़ गये। कुछ लोग शैव बन गये तो कुछ लोग प्राण बचाकर वहां से तत्काल पलायन कर गये।"[1]

उपर्युद्धृत उल्लेखों से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि सुन्दर पाण्ड्य के शासनकाल में समस्त दक्षिणापथ में और विशेषतः तामिलनाडु में जैन धर्मावलम्बियों की गणना प्रबल बहुसंख्यक के रूप में की जाती थी।

---

१. ओरियन्टल ओल्ड मेनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मेकेन्जे कलेक्शन (मद्रास यूनिवर्सिटी परिसर) की ताड़पत्रीय "जैन संहार चरितम्" प्रति।

मदुरै में ज्ञान सम्बन्धर[१] से प्रतिस्पर्धा में जैन श्रमणों के पराजित हो जाने पर सुन्दर पाण्ड्य जैनधर्म का परित्याग कर शैव बन गया और उसने स्पर्धा की शर्त के अनुसार पराजित ५००० जैन श्रमणों को फांसी के फंदों पर लटका दिया।

इस दुर्भाग्यशालिनी घटना को इतिहास के अनेक विद्वानों ने केवल काल्पनिक न मानकर इसे एक ऐतिहासिक तथ्य की परिधि में आने वाली घटना माना है। मदुरै के मीनाक्षी मन्दिर की भित्तियों पर भित्तिचित्रों में श्रमण संहार की इस घटना को चित्रित किया गया है।[२]

पाण्ड्य राजवंश द्वारा जैन धर्म के स्थान पर शैवधर्म स्वीकार कर लिये जाने के पश्चात् चोलराजवंश ने भी शैव धर्म अंगीकार कर जैन धर्मानुयायियों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। उसके पश्चात् बसवा, एकांतद रमैया एवं रामानुजाचार्य द्वारा दक्षिणापथ में क्रमशः शैव एवं वैष्णव (रामानुज) सम्प्रदाय के प्रचार के एवं शैवों द्वारा जैनों पर किये गये सामूहिक लूट-खसोट हत्या एवं बलात् धर्म परिवर्तन के परिणामस्वरूप जो आन्ध्र प्रदेश शताब्दियों से जैनों का मुख्य गढ़ था, वहां से जैनों का अस्तित्व तक मिट गया। तमिलनाड में भी शताब्दियों से बहुसंख्यक के रूप में माने जाते रहे जैन धर्मावलम्बी अतीव स्वल्प अथवा नगण्य संख्या में ही अवशिष्ट रह गये।

इस प्रकार के संक्रांतिकाल में जैन धर्म की रक्षा करने में, जैन धर्म को एक सम्मानास्पद धर्म के रूप में बनाये रखने में जिन राजवंशों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया, उनमें से प्रमुख राजवंशों का, एवं उनके द्वारा जैनधर्म के अभ्युदय-उत्कर्ष के लिये किये गये कार्यों का संक्षेप में यहां परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है :—

---

१ Both he (K. V. Subrahmanya Aiyer) and Mr. Ramaswami Ayyangar would therefore place Tirugnansambandhar in the Seventh Century A. D-

—MEDIAEVAL JAINISM (Critical times) p. २७५

२ Here on the walls of the same temple are found paintings depicting the persecution and impaling of the Jainas at the instance of Tirujnana sambandhar. And what is still more unfortunate is that even now the whole tragedy is gone through at five of the twelve annual festivals at that famous Madura temple ?

—MEDIAEVAL JAINISM (Critical times) p. २७६

गंग राजवंश

(ईसा की दूसरी से ग्यारहवीं शताब्दी)

भारत के दक्षिण प्रदेश में जैन धर्म के प्रति श्रद्धा, आस्था एवं उदारतापूर्ण व्यवहार रखने वाले मध्ययुगीन राजवंशों में गंग राजवंश का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

गंग राजवंश का शासन काल बड़े अथवा छोटे रूप में, स्वतन्त्र राजाधिराज अथवा किसी अन्य महाराजाधिराज के वशवर्त्ती सामन्तों के रूप में, ईस्वी सन् १०३ से १६०० के आसपास तक रहा। इस राजवंश के शासन काल में इस राजवंश के राजाओं, रानियों, राजकुमारों, मन्त्रियों एवं सेनापतियों आदि के सहयोग से जैनधर्म दक्षिण भारत के प्रमुख एवं लोकप्रिय धर्म के रूप में पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। इस राजवंश के राजाओं ने अपनी राजधानी सर्वप्रथम कुवलाल (कोल्हार) में और तत्पश्चात् कावेरी के तट पर तलकाड़ में रक्खी। ईस्वी सन् १०६४ में चोलों द्वारा तलकाड पर अधिकार कर लिये जाने पर इस राजवंश की एक शाखा ने कलिंग में और कलिंग के साथ-साथ लंका में भी राज्य किया। दूसरी शाखा ने तलकाड के पतन के पश्चात् उद्धरे में अपनी राजधानी स्थापित की।

अमर कृति

इसी राजवंश के इक्कीसवें राजा रायमल्ल द्वितीय सत्यवाक्य (ईस्वी सन् ६७४ से ६८४) के शासनकाल में उनके महामात्य चामुण्डराय ने सुवर्ण वेलगुल (कर्णाटक) में विन्ध्यगिरि नाम की पहाड़ी पर उसी पहाड़ी के शिखर पर उपलब्ध एक अखंड शिलाखंड को काट, तराश एवं घड कर भगवान वाहुवली की एक ५६ फीट ऊंची मूर्ति का निर्माण ईस्वी सन् ६८० में कराया। पैर से लेकर सिर तक एक ही शिलाखण्ड से निर्मित यह वाहुवली (गोम्मटेश्वर) की अतीव भव्य एवं विशाल मूर्ति वास्तव में संसार के आज दिन तक ज्ञात अनेक आश्चर्यों में से एक आश्चर्य है।

चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पहाड़ी की पार्श्वस्थ चन्द्रगिरि नामक पहाड़ी पर भी भगवान् नेमिनाथ के एक भव्य मन्दिर का ईसा की दसवीं शताब्दी में निर्माण कराया। इन अमरकृतियों के कारण चामुण्डराय के साथ-साथ गंग राजवंश का नाम भी जैन साहित्य एवं इतिहास में चिरकाल तक स्मरणीय रहेगा।

गंग राजवंश के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रायः सभी राजा जैनधर्म के प्रति पूरे निष्ठावान् रहे। ईसा की चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की पुरातात्विक सामग्री, ग्रन्थों, ताडपत्रों, एवं शिलालेखों आदि से यह प्रमाणित होता

है कि इस राजवंश के शासकों ने अनेक जिन मन्दिरों, जिन मूर्तियों एवं जैन साधुओं के निवास के लिए अनेकों गुफाओं आदि का निर्माण करवाकर जैनाचार्यों को उनका दान कर दिया।

गंग राजवंश का उद्‌भव

नगर से प्राप्त ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण शिलालेख संख्या ३५ ईस्वी सन् १०७७ में गंग राजवंश के इतिहास पर विशद् प्रकाश डाला गया है। सोरब से प्राप्त ईस्वी सन् १०८५ के त तिके रे शिलालेख (सो र ब १० जिल्द ७) पु र ले से प्राप्त ईस्वी सन् १११२ (सो र ब ६४) के तथा क न्नूर गु ड्डा से प्राप्त ईस्वी सन् ११२२ के (सो र ब ४) शिलालेखों में भी नगर से प्राप्त उपरोक्त लेख संख्या ३५ ईस्वी सन् १०७७ के शिलालेख में उट्टंकित तथ्यों के समान ही गंग वंश का इतिहास प्राप्त होता है। इन सब अभिलेखों में नगर का लेख संख्या ३५ सबसे पहले का है।

नगर के शिलालेख में गंग राजवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है, उसके साथ-साथ प्रख्यात पुरातत्वविद् एवं इतिहासज्ञ बी लूइस राइस और अन्य विद्वानों द्वारा लिखे गये विवरणों के आधार पर गंग राजवंश के उद्‌भव, उसके शासनकाल एवं इस वंश के राजाओं द्वारा किये गये ऐतिहासिक महत्व के कार्यों का विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :

ट्ठुम्मच से प्राप्त शक संवत् ९९९ (ईस्वी सन् १०७७) के लेख संख्या २१३, नि दि मि से प्राप्त ईस्वी सन् १११७ के लेख संख्या २६७, क ल्लू र गु ड्डु से प्राप्त ईस्वी सन् ११२१ के लेख संख्या २७७ और पु र ले (बिदरे परगना) से प्राप्त लेख संख्या २९९ में गंगवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। लेख संख्या २१३ में गंग राजवंश का सूर्यवंशी इक्ष्वाकु क्षत्रियों से सम्बन्ध बताते हुए राजाओं का क्रम इस प्रकार दिया है :

गंग राजवंश के पूर्व पुरुष

१. धनंजय : इक्ष्वाकु कुल गगन भानु अयोध्यापति धनंजय ने कान्यकुब्जाधीश (नाम नहीं दिया है) को युद्ध में आहत कर बन्दी बनाया। उनकी महारानी गान्धारी देवी से **हरिश्चन्द्र** का जन्म हुआ। हरिश्चन्द्र की रानी रोहिणी देवी से **राम** और **लक्ष्मण** नामक दो पुत्रों का जन्म हुआ। ये राम और लक्ष्मण आगे चलकर क्रमशः द डि ग और मा ध व के नाम से विख्यात हुए। ये दोनों भाई ही गंग वंश के पूर्व पुरुष हैं।

लेख संख्या २७७ में गंग वंश के उद्‌भव के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है :

१. **हरिश्चन्द्र** इक्ष्वाकु वंशी अयोध्या का राजा भगवान् ऋषभदेव के शासनकाल में हुआ। उसका पुत्र

२. **भरत**। भरत की रानी विजया महादेवी को लोल लहरों, मत्स्यों, चक्रवातों और राजहंसों से संकुल गंगा में स्नान करने का दोहद उत्पन्न हुआ। दोहद की पूर्ति के पश्चात् विजय महादेवी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम गंगदत्त रक्खा गया।

३. **गंगदत्त** से गंग राजवंश का प्रवर्त्तन हुआ। गंगदत्त के अनन्तर अनुक्रम से अनेक राजाओं के पश्चात् नेमिनाथ के तीर्थ में इसी वंश का विष्णुगुप्त नामक राजा हुआ।

४. **विष्णुगुप्त** अनेक वर्षों तक अहिच्छत्रपुर में राज्य करता रहा। उसने अपने बड़े पुत्र भगदत्त को कलिंग का राज्य और छोटे पुत्र श्रीदत्त को अहिच्छत्रपुर का राज्य दिया। इस प्रकार गंगवंश की दो शाखाएं हो गई। एक अहिच्छत्रपुर में और दूसरी कलिंग में शासन करने लगीं। भगदत्त और उनके वंशज **कलिंग गंग** के नाम से लोक में विख्यात हुए।[1]

५. **श्रीदत्त**। श्रीदत्त का पुत्र प्रियबन्धु।

६. प्रियबन्धु जिस समय अहिच्छत्रपुर में राज्य कर रहा था। उस समय भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हुआ। इन्द्र जिस समय भगवान् पार्श्वनाथ के केवलज्ञानोत्पत्ति की महिमा गान के लिये उपस्थित हुआ, उसी समय राजा प्रियबन्धु भी वहां उपस्थित हुआ और उसने बड़ी श्रद्धा भक्ति से पार्श्व प्रभु के केवलज्ञान की महिमा गाई। प्रियबन्धु द्वारा की गई केवलज्ञान महिमा से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे पांच दिव्य आभरणालंकार प्रदान किये और उसने अहिच्छत्रपुर का नाम विजयपुर रख दिया।

इस वंश के अनेक राजाओं के पश्चात् कालान्तर में

७. **कम्ब** नामक राजा हुआ। कम्व के वाद पद्मनाभ हुआ।

८. **पद्मनाभ** के राम और लक्ष्मण नाम के दो पुत्र हुए। जब ये दोनों कुमार किशोर वय में प्रविष्ट हुए उस समय उज्जयिनी के राजा महीपाल ने विजयपुर पर आक्रमण कर पद्मनाभ से वे पांचों दिव्य आभरण मांगे। पद्मनाभ इनसे सहमत नहीं हुआ। उसने चालीस चुने हुए ब्राह्मणों के साथ अपने राम लक्ष्मण नाम के दोनों राजकुमारों और उनकी छोटी बहिन को प्रच्छन्न रूप से विजयपुर से दक्षिण

---

[1] उत्तरवर्ती काल में गंग राजवंश की शाखा ने कलिंग में शताब्दियों तक शासन किया। इस ऐतिहासिक तथ्य के सन्दर्भ में यह उल्लेख विचारणीय है। —सम्पादक।

की ओर प्रस्थित कर दिया। उन दोनों राजकुमारों के नाम बदलकर क्रमशः द डि ग और मा ध व रख दिये गये। अनुक्रम से अनेक स्थानों पर पडाव डालते हुए वे कर्णाटक प्रदेश में एक ऐसे स्थान पर पहुंचे, जहां एक पहाड़ी के पास विशाल पे रू र (सरोवर) के किनारे पर एक चैत्यालय बना हुआ था और उस सरोवर के चारों ओर चन्दन, मन्दार एवं नमेरु आदि वृक्षों से भरापूरा एक सुन्दर वन भी था। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरे पूरे उस स्थान पर उन्होंने अपना डेरा डाला। चैत्यालय की तीन बार प्रदक्षिणा कर उन्होंने सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की। वहीं पास में निवास कर रहे का णू र गण के (ग्रामनीय संघ के) आचार्य सिंहनन्दि के दर्शन कर उन्हें विनयपूर्वक वन्दन नमन किया। आचार्य सिंहनन्दि द डि ग और मा ध व की श्रद्धा और विनय भक्ति से बड़े प्रसन्न हुए और उनका वास्तविक परिचय प्राप्त होने पर उन्हें अनेक विद्याओं का प्रशिक्षण देकर इन विद्याओं में पारंगत बनाया।

एक दिन आचार्य सिंहनन्दि के देखते-देखते ही माधव ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक पाषाण स्तम्भ पर तलवार का भरपूर वार किया। पाषाणस्तम्भ तत्काल दो टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। माधव के इस अतुल बल को देखकर सिंहनन्दि परम प्रसन्न हुए। आचार्य सिंहनन्दि की सहायता से दडिग और माधव ने एक राज्य की स्थापना की। उन्होंने कुवलाल (कोल्हार) को अपनी राजधानी बनाया और कुवलाल ६६००० राज्य के अधिपति हुए। जिस स्थान पर उन्हें आचार्य सिंहनन्दि के दर्शन हुए थे वह स्थान लोक में गंग पेरूर के नाम से विख्यात हुआ। नन्दिगिरि पर उन्होंने एक सुदृढ़ किले का निर्माण करवाया।

इस शिलालेख (सं २७७) के उल्लेखानुसार गंग राजवंश की स्थापना करते समय आचार्य सिंहनन्दि ने इस गंग राजवंश के मूल पुरुष दडिग और माधव को पीढी प्रपीढ़ियों तक जैन धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिपालन करते रहने की प्रतिज्ञा कराते हुए निम्नलिखित सात बातों से उन्हें और उनके वंशजों को सावधान किया था :

१. जो प्रतिज्ञाएं तुमने की हैं, उनका जिस दिन तुम पालन करना छोड़ दोगे,
२. जैन धर्म की शिक्षाओं को यदि अपने जीवन में नहीं ढालोगे,
३. यदि तुम स्त्री को छीनोगे, उसका उपभोग करोगे,
४. यदि तुम लोग मद्य एवं मांस का सेवन करोगे,
५. यदि तुम नीच लोगों से सम्बन्ध स्थापित करोगे,
६. यदि तुम लोग अथवा तुम्हारे वंशज रणांगण में पीठ दिखाकर रणांगण से पलायन करोगे,

७. यदि तुम लोग या तुम्हारे वंशज अभावग्रस्त अभ्यर्थियों की आवश्यकतापूर्ति के लिये अर्थ प्रदान नहीं करोगे, तो इन दशाओं में से किसी भी एक दशा में तुम्हारा राजवंश नष्ट हो जायगा। अन्यथा तुम्हारा राजवंश और तुम्हारा राज्य दोनों अक्षुण्ण रहेंगे।

इन सात शिक्षाओं को गंग वंश के राजाओं ने गुरुमंत्र के समान गांठ बांधकर अपने अन्तर्मन से ग्रहण किया। गंग राजवंश के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के राजाओं के जीवन वृत्तों के इस सन्दर्भ में सूक्ष्म रीति से पर्यवेक्षण करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दि की इन सात शिक्षाओं को शिरोधार्य करने के साथ-साथ उन्हें अपने जीवन में पूरी तरह से उतारने के परिणामस्वरूप ही इस वंश के प्रायः सभी राजा दृढ प्रतिज्ञ, अन्तर्मन से जैन धर्मावलम्बी, पर स्त्री विमुख प्रवृत्ति वाले, निरामिष भोजी, सन्त चरण रत, उदार, दानी एवं अप्रतिम योद्धा हुए हैं। शिलालेखों के उल्लेख इस बात के साक्षी हैं कि जिस प्रकार नववधु विविध प्रकार के आभूषणों से अलंकृत रहती है उसी प्रकार समर भूमि में अग्रिम पंक्ति में जूझते रहने के कारण कोंगणिवर्मा, दुर्विनीत, भूविक्रम, मारसिंह द्वितीय, शिवमार (चौदहवां राजा) प्रभृति गंगवंशी राजाओं के अंगोपांगों के अग्रिम भाग शस्त्रों के घावों से अलंकृत थे। मारसिंह द्वितीय ने तो अपने शरणागत की रक्षा के लिये पांड्यराज वरंगुण से घोर संग्राम किया और युद्ध में विजयी होने के पश्चात् अपने शरणागत के प्राणों की रक्षा के लिये अपने प्राणों तक को अर्पित कर दिया।

आचार्य सिंहनन्दि की शिक्षाओं को शिरोधार्य कर गंग राजवंश के राजाओं ने जिस प्रकार शौर्य का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया उसी प्रकार आचार्य सिंहनन्दि की आध्यात्मिक शिक्षाओं के पालन में भी वे सदा अग्रणी रहे। महाराजा नीतिमार्ग (८९३ से ९१६) ने अन्त समय में संलेखना संथारा करके पंडित मरण का वरण किया। मारसिंह तृतीय (९६१ से ९७४) ने वांकापुर में अजित भट्टारक के पास तीन दिन का संथारा संलेखना कर अरिहन्त सिद्ध साधु का स्मरण करते हुए अनशनपूर्वक पंडित मरण किया। गंग राजवंश के राजाओं द्वारा निर्मित करवाये गये मन्दिरों, वसतियों एवं दानशालाओं के उल्लेखों से पुरातात्विक अभिलेख भरे पड़े हैं।

इन सब तथ्यों से यह विदित होता है कि आचार्य सिंहनन्दि ने गंग वंश की स्थापना के समय गंग राजवंश को जो सात शिक्षाएं दी थीं उन शिक्षाओं का विष्णुगोप को छोड़कर बाकी के प्रायः सभी राजाओं ने पालन किया।

यहां यह विचारणीय है कि आचार्य सिंहनन्दि ने इस राजवंश की स्थापना के समय दडिग और माधव को जो सात शिक्षाएं दीं उनमें सातवीं शिक्षा है:

रणांगण में डटे रहोगे, पलायन नहीं करोगे तब तक तुम्हारा राज्य अक्षुण्ण रहेगा। रणांगण में पीठ दिखाकर अगर युद्ध भूमि से पलायन करोगे तो तुम्हारा राजवंश नष्ट हो जायगा। यह जो शिक्षा आचार्य सिंहनन्दि ने दी इस प्रकार की शिक्षा इतने स्पष्ट शब्दों में देने की परम्परा पुरातनकाल से ही जैन मुनियों में नहीं रही है। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल में चैत्यवासी, यापनीय, एवं भट्टारक आदि अनेक नवीन परम्पराओं ने देश काल की बदलती परिस्थितियों के नाम पर अनेक नई मान्यताएं प्रचलित कीं। प्राचीन अभिलेखों के पर्यावलोचन से यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि अभिनव मान्यताएं प्रचलित करने की दिशा में जनमत को अधिकाधिक जैन मत की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से यापनीय संघ के आचार्य अपेक्षाकृत चैत्यवासियों से भी आगे रहे। गोम्मटेश की मूर्ति के निर्माण, ज्वालामालिनी देवी के स्वतन्त्र एवं पृथक् मन्दिर के निर्माण आदि कार्यों से तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य मूर्तियों एवं मन्दिरों की रचना का श्रीगणेश यापनीय संघ ने किया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नवीन मान्यताओं के रूप में उपरिलिखित सातवीं शिक्षा का आविष्कार भी बदलती हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में यापनीयों ने किया हो।

किसी राजा द्वारा दिग्विजय के लिये किये गये सैनिक अभियान में कोई पंच महाव्रतधारी जैन मुनि विजय अभियान में प्रवृत्त राजा के साथ-साथ गया हो, इस प्रकार का उदाहरण भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के इतिहास में खोजने पर भी नहीं मिल सकता। किन्तु इस शिलालेख संख्या २७७ में एक तथ्य के रूप में यह उल्लेख विद्यमान है कि राज्य प्राप्त करने के पश्चात् दडिग और माधव ने सेना के साथ कोंकण विजय के लिये अभियान किया। मार्ग में उन्होंने एक गंडलि (पहाड़ी) देखी। वहां कमल दलों से आच्छादित एवं मछलियों से संकुल सरोवर के पास उन्होंने पडाव डाला। पहाड़ी के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर आचार्य सिंहनन्दि ने राजा से वहां एक चैत्यालय का निर्माण कराने की प्रेरणा की। दडिग और माधव ने आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य कर वहां चैत्य का निर्माण करवाया।

इससे भी अधिक आश्चर्यकारी शिलालेख सौन्दत्ती से उपलब्ध हुआ है। ईस्वी सन् १२२८ के इस शिलालेख में रट्ट राजवंश के गुरु आचार्य मुनिचन्द्र को इस राजवंश के धर्मगुरु के साथ-साथ राजनैतिक परामर्शदाता, राज्य के प्रशासकीय कार्यों में सक्रिय सहयोगी और दिग्विजय हेतु राजा लक्ष्मीदेव द्वितीय (मुख्यमहामण्डलेश्वर वेणुग्राम वर्तमान में वेलगांव) द्वारा किये गये सैनिक अभियानों (आक्रमणों) में प्रमुख परामर्शदाता, प्रमुख सहयोगी वताया गया है। इस अभिलेख में उल्लेख है कि आचार्य मुनिचन्द्र ने वेणुग्राम के रट्ट राज्य का सीमाओं की अभिवृद्धि के साथ अभिवर्द्धन कर उसे सुदृढ़ किया। आचार्य मुनिचन्द्र धर्मशास्त्रों

में पारंगत और सैनिक अभियानों द्वारा राजा लक्ष्मीदेव को विजय श्री का वरण कराने के विज्ञान में निष्णात थे। परम श्रद्धादृ सर्वाधिक सुयोग्य मन्त्री और रट्ट राज्य के संस्थापक संरक्षक आचार्य मुनिचन्द्र ने प्रशासन कौशल और उदारता आदि गुणों में सभी मन्त्रियों को पीछे छोड़ दिया। वे सब में सर्वाग्रणी मूर्धन्य रहे।[1] रट्ट राज्य के अधिपति राजा लक्ष्मीदेव द्वितीय और उसके पिता कार्त्तवीर्य चतुर्थ इन महान् आचार्य के राजनैतिक कौशल और ठोस सत्परामर्शों के परिणामस्वरूप उनके प्रति महाऋणी थे।[2] ये आचार्य मुनिचन्द्र भी यापनीय संघ के ही आचार्य प्रतीत होते हैं क्योंकि इस शिलालेख में प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव एवं उनके (प्रभाचन्द्र के) शिष्य इन्द्र कीर्त्ति और श्रीधर देव के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवरण उल्लिखित है। ये सभी आचार्य निर्विवाद रूपेण यापनीय संघ के थे।

सामान्यत: पाठकों और विशेषत: शोधार्थियों के लाभार्थ एतद् सम्बन्वी कतिपय ज्ञातव्य तथ्यों का यहां प्रसंगवशात् उल्लेख किया गया है।

उपरि वर्णित शिलालेखों में, मुख्यत: शिलालेख संख्या २७७ वी लूइस राइस और बी लूइस राइस द्वारा अनेक शिलालेखों के आधार पर तैयार की गई इस राजवंश की क्रमबद्ध (संक्षिप्त विवरण सहित) सूची में गंग राजवंश के प्रथम से लेकर अन्तिम तक राजाओं का जो अनुक्रम दिया गया है वह संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) दडिग् और माधव कोंगणिवर्मा महाधिराज।[3] कोंकण के अभियान और राज्य की अभिवृद्धि के पश्चात् दडिग् और माधव कुवलाल (कोलाल कोल्हार) में शान्तिपूर्वक राज्य करने लगे। कालान्तर में दडिग् को पुत्र की प्राप्ति हुई और उसका नाम माधव द्वितीय रखा गया, जो आगे चलकर किरिया माधव के नाम से विख्यात हुआ। दडिग् और माधव कोंगणिवर्मा ने अपनी विजयपताका पर अपने गुरु और राज्य की स्थापना करने में सहायभूत आचार्य सिंहनन्दि के धर्मोपकरण मयूरपिच्छी का चिन्ह अंकित किया। उन्होंने बाणमण्डल पर अधिकार करके वहां पर अपनी मयूर पिच्छांकित पताका फहराई। इन दोनों भाइयों की सम्पूर्ण देहयष्टियां युद्धों में लगे शस्त्रास्त्रों के प्रहारों के घावों से अलंकृत हो गई थीं।

---

[1] जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स पृष्ठ ११५

[2] जर्नल आफ द्री वोम्बे ब्रांच आफ दी रोयल एसियाटिक सोसायटी, बम्बई, वॉल्यूम X, पी. पी. २६०

[3] गंग राजवंश के प्रत्येक राजा के नाम के आगे यह उपाधि लगी हुई है। जब तक विशिष्ट उल्लेख नहीं किया जाय तब तक प्रत्येक राजा को उसके पूर्व के राजा का पुत्र समझा जाय।

(२) माधव द्वितीय—किरिया माधव : यह राजा उच्च कोटि का विद्वान् एवं विद्वानों तथा कवियों के गुणावगुणों की परख में कसौटी के समान बड़ा ही पारखी था, निपुण था। इसने 'दत्तक सूत्र' पर वृत्ति की रचना की।[१]

इसके राज-सिंहासनासीन होने के पूर्व ही गंग राज्य कंटकविहीन और एक सुदृढ़ राज्य बन चुका था। अतः इस राजा का शासनकाल शान्ति एवं सर्वतोमुखी समृद्धि का काल माना गया है।

(३) हरि वर्मा (ईस्वी सन् २४७–२६६) इस राजा की हस्ति सेना बड़ी ही शक्तिशालिनी थी। इसने अपनी हस्ति सेना के बल पर अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। यह अपने समय का अप्रतिम धनुर्धर था। अपने धनुष की प्रत्यंचा के प्रताप से अर्जित विपुल सम्पदा से इसने अपने राज्यकोष के बल में उल्लेखनीय अभूतपूर्व अभिवृद्धि की। ये सभी राजा जैन धर्म के प्रगाढ़ निष्ठावान् अनुयायी रहे। इनके राज्य में प्रजा सभी भांति सम्पन्न और सुखी थी।

(४) विष्णु गोप। इस राजा ने जैन धर्म का त्याग कर वैष्णव धर्म स्वीकार किया और उसके परिणामस्वरूप परम्परा से इस वंश के अधिकार में चले आ रहे पांचों दिव्य आभूषण विलुप्त हो गये।[२]

(५) पृथ्वीगंग। इस राजा ने पुनः जैन धर्म स्वीकार किया और केवल एक पीढ़ी के व्यवधान से यह राजवंश पुनः जैन धर्मावलम्बी बन गया।

(६) माधव तृतीय। तड्गाल माधव (ईस्वी सन् ३५७ से ३७०)। इस राजा का विवाह कदम्बवंशी राजा कृष्ण वर्मा की बहिन से हुआ। इसने अपने दादा के समय से बन्द हुए जन कल्याणकारी एवं धार्मिक अनुदानों को राज्यकोष से पुनः प्रारम्भ किया। इससे लेख संख्या २७७ में उल्लिखित राजा विष्णुगोप के अजैन बन जाने के उल्लेख की पुष्टि होती है। सम्भवतः विष्णुगोप ने जैन धर्म के परित्याग और अन्य धर्म के अंगीकार के साथ-साथ जैन धार्मिक संस्थाओं को राज्य की ओर से दी जाने वाली सहायता सुविधाओं आदि को बन्द कर दिया होगा, जिन्हें कि राजा तडंगाल माधव ने पुनः प्रारम्भ किया। यह राजा निष्ठा सम्पन्न जैन धर्मावलम्बी था। इस राजा को—कलियुग के कीचड़ में फंसे हुए धर्म रूपी वृषभ का उद्धार करने में सदा तत्पर रहने वाला बताया गया है।[३]

---

[१] जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख संख्या ६४ पृष्ठ ६०–६२

[२] जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख संख्या २७७, पृष्ठ संख्या ४१८, ४२४

[३] जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख संख्या ६४

७. अविनीत गंग। (ईस्वी सन् ४२५ से ४७८) यह राजा परम आस्थावान जिनभक्त था। दक्षिण में धर्म और चातुर्वर्ण्य की रक्षा की दिशा में इसकी वैवस्वत मनु से तुलना की गई है। यह कदम्ब वंशी राजा काकुत्स्थ वर्मा का दौहित्र और कदम्बवंशी राजा कृष्णवर्मा का भागिनेय था।[1] इसका विवाह पुन्नाड् के राजा स्कन्धवर्मा की पुत्री से हुआ। इनकी अन्तरात्मा विद्या और विनय से ओत-प्रोत थी। यह राजा अजेय योद्धा और विद्वानों में अग्रगण्य माना जाता था। देशीय गण के भट्टारक चन्द्रनन्दि ने शक सम्वत् ३८८ तदनुसार ईस्वी सन् ४६६ में तलवन नगर के श्री विजय जिनालय के लिये वदणै गुप्पे नामक एक सुन्दर ग्राम अकाल वर्ष पृथ्वी वल्लभ के मन्त्री के माध्यम से महाराज अविनीत से दान में प्राप्त किया।[2]

अपने सम्बन्ध में शतजीवी होने की बात सुनकर राजाधिराज अविनीत इस बात की परीक्षा हेतु बाढ़ के कारण उद्वेलित एवं महावेगा कावेरी नदी के प्रवाह में कूद गया और उसे तैरकर पार कर गया।[3]

८. दुर्विनीत-कोंगणिवृद्ध (ईस्वी सन् ४७८ से ५१३) इस राजा ने शब्दानुशासन के रचनाकार पूज्यपाद से विद्याध्ययन किया। आन्द्री, अलानूर, पौरुलरे, पेन्नगर आदि क्षेत्रों पर अधिकार करने के लिये अनेक भीषण संग्राम किये तथा पेनाड् और पुन्नाड् पर शासन किया। दुर्विनीत ने युद्धभूमि में कान्ची के महाराजा कोडुवेट्टि को बन्दी बनाकर अपने भानजे को जयसिंह की परम्परागत राजधानी कान्ची के राज सिंहासन पर आसीन किया। दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय महाकाव्य के १५ सर्गों पर टीका का निर्माण किया। दक्षिण में धर्म एवं वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए इसे भी वैवस्वत मनु की उपमा दी गई है।

९. मुष्कर-मोक्कर-कोंगणि वृद्ध (ईस्वी सन् ५१३ से) यह राजा प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव रखने वाला सच्चा जिन भक्त था। समस्त प्राणी वर्ग के प्रति इसकी प्रगाढ वात्सल्यवृत्ति के परिणामस्वरूप हिंस्र वन्य जन्तुओं के समूह इसके चरणों के पास उपस्थित हो इसके प्रति अपनी श्रद्धा और स्नेह प्रकट करते थे। उसका विवाह सिंधुराज की राजकुमारी के साथ हुआ।

१०. श्री विक्रम-कोंगणिवृद्ध। यह राजा परमार्हत अर्थात् जिनेश्वर भगवान् का निष्ठावान् परम भक्त होने के साथ-साथ अपने समय का एक माना हुआ राजनीतिज्ञ एवं रणनीति विशारद था। इनके राज्य की सीमाएं कावेरी नदी

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या ९५ पृष्ठ ६३-६६
[2] वही
[3] वही लेख संख्या २७७ पृष्ठ ४१४-४२४

के तट तक फैली हुई थी। यहां यह ध्यान देने की बात है कि इस वंश के नवमें राजा मुश्कर का शासनकाल ईस्वी सन् ५१३ से प्रारम्भ होना बताया गया है। उसका राज्य कब तक रहा और उसका पुत्र श्री विक्रम कब सिंहासनासीन हुआ और कब तक वह सिंहासनारूढ़ रहा इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इसके पुत्र भूविक्रम का शासनकाल ईस्वी सन् ६७० तक माना गया है। इससे केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि ईस्वी सन् ५१३ से ईस्वी सन् ६७० की बीच की १५७ वर्ष की अवधि में गंग वंश के क्रमशः नवमें, दसवें और ग्यारहवें राजाओं का शासन रहा।

११. भूविक्रम—श्री वल्लभ-भूरि विक्रम (ईस्वी सन्....... से ६७० तक)। यह अपने समय का श्रेष्ठ योद्धा था। इसने कांची पति पल्लव राज को युद्ध भूमि में पराजित एवं बन्दी बनाकर उसके सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया था। हस्ति सेना के युद्धों में लगे गजदन्तों के गहरे घावों से इस राजा का विशाल वक्ष-स्थल चित्रित हो गया था।

१२. शिवमार (—प्रथम नवकाम—शिष्टप्रिय—पृथ्वीकौंगरिण—चागी—नव-लोक—कम्बय्य। ईस्वी सन् ६७०—७१३) इसके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है।

१३. एरग-गंग। यह शिवमार प्रथम का भाई था।

१४. एरे यंग। यह राजा एरग का पुत्र था। इन दोनों पिता पुत्र के शासन काल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है।

१५. मारसिंह प्रथम : यह राजा बड़ा ही शरणागत प्रतिपाल था। इसने डिंडिकोज, एरिग् और नाग दंड नामक तीन राजनैतिक शरणार्थियों, जिनमें से एक अमोघवर्ष के राज्य से भाग कर आया था, को अपने यहां शरण दी। शरणागतों की रक्षा के लिए उसे घोर युद्ध करने पड़े। इस प्रकार के वैम्बल गुलि के एक युद्ध में उसे गहरा घाव लगा। घाव के अन्दर की अपनी एक हड्डी को उसने काटकर गंगा में प्रवाहित किया। शरणागत की रक्षा के लिये उसने पांड्यराज वरगुण के साथ युद्ध करके उसे पराजित किया। इस विजय के पश्चात् अपने शरणागत की रक्षा करते हुए मारसिंह प्रथम ने अपने प्राणों का बलिदान तक कर दिया।

१६. श्रीपुरुष—पृथ्वीकौंगरणी—केसरी—मुत्तरस (ईस्वी सन् ७२७ से ८०४)। इसने मान्यपुर में निवास करते हुए शासन किया। इसकी महाराणी का नाम श्रीजा था। इस राजा ने बाण राजवंश को संरक्षण प्रदान कर इस राजवंश की सहायता की। जिस बाण राजा की उसने सहायता की वह चोलराज वर्गुण का समकालीन राजा था। इसके शासनकाल में इसके पुत्र शिवमार, दुग्गमार, एरेयप्पा अथवा

मेरेयप्पा और लोकादित्य विभिन्न क्षेत्रों के प्रशासक (राज्यपाल) थे। इसने गज शास्त्र की रचना की।

१७. शिवमार द्वितीय–कौंगणि महाराजाधिराज परमेश्वर–सैंगोट्ट (ईस्वी सन् ८०४–८१४)। गंग राजवंश इस वंश की स्थापना के काल से सदा ही अपराजेय रहा किन्तु नवमें राष्ट्रकूट वंशी राजा निरुपम अथवा धारावर्ष ने राजा शिवमार को ईस्वी सन् ८०५ के आस-पास एक युद्ध में पराजित करके बन्दी बना लिया। निरुपम के पुत्र प्रभूतवर्षगोविन्द ने उसे मुक्त कर दिया। किन्तु उसकी राष्ट्रकूट राज्य विरोधी गतिविधियों से क्रुद्ध हो ईस्वी सन् ८०७ के आस-पास उसे पुनः बन्दी बना लिया। उस समय से ईस्वी सन् ८१३ तक राष्ट्रकूटों का चाकीराज नामक राज्यपाल गंग मंडल की प्रशासनिक देख-रेख करता रहा। शिवमार किसी न किसी प्रकार से राष्ट्रकूटों के शिकंजे से बच निकलने में सफल हुआ। और सैन्य संग्रह कर उसने गोविन्द के सेनापतित्व में गुड गुंटूर के रणक्षेत्र में एकत्रित हुई राष्ट्रकूटों, चालुक्यों और हैहयों की सम्मिलित सेनाओं को युद्ध में पराजित कर दिया। इस प्रकार ईस्वी सन् ८१४ में गंग मंडल से राष्ट्रकूटों के स्वल्पकालीन शासन को शिवमार द्वितीय ने उखाड़ फैंका।

शिवमार के पुनः राज सिंहासनारोहण के आयोजन में राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द एवं पल्लवराज नन्दीवर्मा सम्मिलित हुए और उन दोनों ने अपने हाथों से शिवमार के भाल पर राजतिलक किया। पूर्वी चालुक्यों के साथ शिवमार ने बारह वर्ष तक युद्ध किया। युद्धों में उसके शरीर पर शस्त्रों के १०८ घाव लगे।

धर्म धौरेयता के साथ-साथ युद्ध शौंडीरता का सद्भाव वस्तुतः गंग राजवंश की विशेषता रही है। इस विशिष्ट गुण के कारण गंग राजवंश के राजाओं ने "ये कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा" इस शाश्वत सूक्ति को चरितार्थ कर बताया। इसने "गज शतक" की रचना की। इस राजा ने "मालव सप्तकी" विजय कर पाषाण पर 'गंग मालव' उट्टंकित करवाया। इसने एक युद्ध में करण्गमुज्ज के राजा के छोटे भाई जयकेसि को युद्ध में मारा।

(१८) विजयादित्य—रण विक्रम (ईस्वी सन् ८१५ में)

यह शिवमार द्वितीय का भ्राता था।

(१९) मारसिंह द्वितीय—ईरेयप्पा-लोकत्रिनेत्र।

(२०) राछमल्ल (राजमल्ल) प्रथम—सत्यवाक्य—कोंगणिवर्म-धर्म महाराजाधिराज परमानंदी (ईस्वी सन् ८६९ से ८९३) इसका कोवलाल और नन्दगिरि पर आधिपत्य था। गंग राज्य के जिन क्षेत्रों पर राष्ट्रकूटों ने बहुत समय से अपना अधिकार कर रखा था उन्हें राजमल्ल प्रथम ने राष्ट्रकूटों से छीनकर पुनः गंग राज्य

हुए—"अन्ततोगत्वा इस विशाल राज्य का उत्तराधिकारी उत्पन्न हो ही गया है।"—कई दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया। उस पुत्र का नाम नीतिमार्ग रक्खा और अपने राजप्रासाद में बड़े ठाठ-बाट और दुलार से उसका लालन-पालन किया। रक्कस गंग ने चट्टल का विवाह टोंडेनाड् ४८ हजार के महाराजा कांचिपति पल्लवराज काडुवेट्टि के साथ और कंचनदेवी का विवाह शान्तर राजवंश के राजा वीरदेव के साथ किया। हेमसन्ति के शिष्य आचार्य श्री विजय इसके गुरु थे।

(२७) जयद् अंककार—कौंगरिण वेडेंग—कावेरी बल्लभ (ईस्वी सन् ९९९ से अनुमानतः १०२२)।

(२८) गंग रस—सत्य वाक्य (ईस्वी सन् १०२२ से १०६४) यह राजा परम श्रद्धानिष्ठ जिनोपासक था। इसकी बाचलदेवी नामक एक रानी ने अपने बड़े भाई बाहुबलि से परामर्श कर गंगवाडी के अन्तर्गत मंडलिनाड् के तिलक स्वरूप बन्निकेरे नगर में एक भव्य जिनालय का निर्माण करवाया। चालुक्य विक्रम के राज्य के ३७ वें वर्ष में (ईस्वी सन् १११२) में राजा ने कुमारों एवं मन्त्रियों की उपस्थिति में बुदंगेगे और बन्निगेरे नगरों की कुछ भूमि, कोल्हुओं और चुंगी का पार्श्व प्रभु की पूजा अर्चना एवं मन्दिर की व्यवस्था के लिये दान दिया।[1] इसकी गंग राजकुमारी मयलल देवी चालुक्यराज सोमेश्वर (ईस्वी सन् १०४२ से १०६८) की पटरानी थी। राजेन्द्र चोल ने ईस्वी सन् १०६४ में गंगरस पर आक्रमण कर उसे परास्त किया और इस प्रकार लगभग ९०० वर्षों तक न्याय नीतिपूर्वक शासन करने के पश्चात् गंग राजाओं की राजधानी तलकाड् के पतन के साथ ही गंग राजवंश का शक्तिशाली एवं जैन धर्मानुयायी राज्य समाप्त हो गया। अपने राज पर राजेन्द्र चोल का अधिकार हो जाने पर गंगरस होय्सल् राज्य का अधीनस्थ सामन्त बन गया। इसके दो पुत्रों को चालुक्यराज सोमेश्वर की महारानी मयलल देवी ने अपने पास रक्खा। कालान्तर में उन दोनों ने गंग राजाओं की सभी उपाधियों को धारण किया।

यद्यपि राजेन्द्र चोल के साथ युद्ध में महाराजा गंगरस के पराजित होने और तलकाड् के गंग राज्य पर चोलों का अधिकार हो जाने के कारण गंग राजवंश का विशाल और शक्तिशाली राज्य समाप्त हो गया। किन्तु गंग वंशियों ने इसके उपरान्त भी ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक अपने आपको सामन्तों, सेनापतियों और शासकों की स्थिति में बनाये रक्खा। गंगवंशी राजाओं, शासकों, सामन्तों, सेनापतियों और राजरानियों की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा रही।

पुरले और कुल्लूरगुड्डा के शिलालेखों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि गंग राजवंश की एक शाखा ने कलिंग में अपनी राजसत्ता स्थापित की। ई०सन् १०७७

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या २५३

से १५३४ तक गंग राजवंश की इस शाखा के राजा कलिंग के प्रभुसत्ता सम्पन्न राजा रहे। ईस्वी सन् ११९६ में कलिंग की शाखा के एक मात्र "चोल गंग" राजवंश के नाम से लंका में गंगों का राज्य था। इस प्रकार के अभिलेख मिले हैं। कलिंगाधिपति गंगराज ने ईस्वी सन् १५५० के आसपास शिव समुद्रम् की विधा स्थापित की। गंग राज के पश्चात् नन्दिराज कलिंग का राजा बना। इनके पश्चात् गंगराज द्वितीय कलिंग के सिंहासन पर बैठा। इस गंगराज द्वितीय के पश्चात् गंगराजवंश का नाम तक शिलालेख आदि में कहीं नहीं मिलता और इस प्रकार इतिहास से इस राजवंश का नाम तिरोहित हो जाता है।

गंग राजवंश की राजधानी तलकाड् के पतन के पश्चात् भी जिद्दुलिगेनाड् (वनवासीनाड् के अन्तर्गत) में गंग राजवंश के राजाओं का प्रथमतः चालुक्यों के अधीनस्थ राजाओं के रूप में और तदनन्तर होय्सल् राजवंश के अधीनस्थ राजाओं के रूप में राज्य था एवं उद्धरे में उनकी राजधानी थी। यह तथ्य इस राजवंश के ईस्वी सन् ११२९ से लेकर ११९८ तक के शिलालेखों से प्रकाश में आता है। नगर के लेख संख्या १४० में गंगवंश के उद्धरे शाखा के राजाओं के जिन नामों का उल्लेख है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं :

१. गंगराजा बिट्टिग। उसका पुत्र—

२. मारसिंह देव।

३. कीर्त्तिदेव।

४. मारसिंह देव द्वितीय। इसने कांचि को लूटा और वहां से विपुल सम्पदा अपनी राजधानी उद्धरे में ले गया। इसकी छोटी बहिन सुम्मियव्व रसि बड़ी ही धर्मिष्ठा थी। इसने एक भव्य वसदि का निर्माण करवा कर उसके लिए भूमिदान दिया। इसकी बड़ी बहिन कनकियव्व रसि ने स्थान-स्थान पर जिनमन्दिर बनवाये और उनकी व्यवस्था के लिये भूमिदान दिये। जहां जिन मुनियों के आय का कोई साधन नहीं था वहां उसने भूमिदान दिया।

५. एक्कल देव। इसकी बहिन चट्टियव्व रसि की बुद्धी के ईस्वी सन् ११३९ के शिलालेख संख्या ३१३ में—इसके द्वारा दिये गये अनेक भूमिदान द्रव्यदान आहार दान आदि के कारण कामधेनु और चिन्तामणि की उपमा दी गई है।

६. एरग। एरग का छोटा भाई—

७. नरसिंह अथवा नन्निय गंग।

८. एक्कल। इसने विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों तथा कवियों को उदारतापूर्वक बड़े-बड़े प्रीतिदान दिये।

गंगवंश की मूल शाखा के अन्तिम महाराजाधिराज से पश्चाद्वर्त्ती इसके वंशजों का अनुक्रम निम्नलिखित रूप में मिलता है :

उदयादित्य (गंगरस का पुत्र) गंग पेम्मीवडि भुवनैकवीर। यह क्रमशः भुवनैकमल्ल और विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल इन दो चालुक्य राजाओं का एक महायशस्वी सेनापति और महा मंगलेश्वर था। ये दोनों चालुक्य राज उदयादित्य की भुआ के लड़के थे। इसका महामण्डलेश्वर काल ईस्वी सन् १०७० से ११०२ तक माना जाता है।

यह गंगवंशी नहीं अपितु ब्रह्म क्षत्रिय थे। इनका परिचय जैन सेनापतियों के शीर्षक के नीचे अन्यत्र दिया जायगा।

कदम्ब राजवंश

मयूर वर्मन अथवा मयूर शर्मन को कदम्ब राजवंश का संस्थापक माना जाने के कारण सामान्य रूप से प्रायः सभी इतिहासविदों ने इस राजवंश का उद्भव काल ई० सन् ३४० मान्य किया है, किन्तु इस राजवंश के उद्भव काल के सम्बन्ध में यशस्वी इतिहासज्ञ एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर और बी. शेषगिरि राव ने अनेक ऐसे तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जिनसे इस राजवंश का समय ईसा की दूसरी शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व का प्रतीत होता है। इन दोनों विद्वानों की मान्यता है कि कदम्ब राजवंश एक प्राचीन जैन राजवंश रहा है। इन दोनों विद्वानों ने अपने शोधपूर्ण इतिहास ग्रन्थ "स्टडीज इन साउथ इंडिया जैनिज्म" के द्वितीय अध्याय में कदम्ब राजवंश के प्राचीन राजवंश होने के सम्बन्ध में जो विचारणीय तथ्य प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. श्री टेलर द्वारा रचित प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों अथवा पत्रों की सूची (वोल्यूम III पृष्ठ ६०) में एक कन्नड़ रचना का उल्लेख है, जिसमें कदम्ब वंश के उन राजाओं की नामावलि दी हुई है जो कि मगध में राज्य करते थे।

इस प्रकार की स्थिति में जब कदम्ब राजवंश ने मगध से दक्षिण में आने का निश्चय किया तो कोशल और कलिंग प्रदेश में आना उनके लिये अनिवार्य हो गया क्योंकि मगध से दक्षिण की ओर सामूहिक कूच का यही एक मात्र सभी दृष्टियों से निरापद और सुखद मार्ग सिद्ध हो सकता था।

श्री टेलर के इसी तीसरे वोल्यूम के पी पी ७०४–५ पर एक मराठी कृति का उल्लेख है, जिसमें उत्तरकालीन कदम्ब वंशी राजा मयूर वर्मा के उत्तर से दक्षिण में आने का विवरण दिया हुआ है। इस प्रकार उत्तरी भारत से कदम्ब-राजवंश के दक्षिण भारत में आने का अविस्मरणीय आख्यान एक थाती के रूप में हमारे प्राचीन साहित्य में सुरक्षित है।

२. कदम्ब वंशियों का दल-बल मगध से दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ जब कलिंग में आया तो वहां उसने कदम्ब राज्य की स्थापना की।[1] कदम्ब वंशी राजा जैन धर्मावलम्बी थे अतः यह स्वाभाविक ही था कि कलिंग में जहां वे बसे, जहां उन्होंने राज्य किया उन स्थानों में जैन धर्म के साथ-साथ अपने वंश की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के प्रयास करते। उन्होंने एक पर्वत का कदम्बगिरि नाम रखा। शत्रुंजय माहात्म्य में जैनों के जिन पवित्र पर्वतों के नाम दिये गये हैं, उनमें कदम्ब-गिरि का भी उल्लेख है। केवल यही नहीं, अपितु कलिंग में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर कदम्बों ने अनेक नगरों, ग्रामों, बसतियों आदि का निर्माण कर वहां निवास किया। उन वसतियों आदि के नाम आज भी इस बात की साक्षी देते हैं कि वे स्थान, वे ग्राम, वे वसतियां, वे धर्म स्थान कदम्बों द्वारा स्थापित किये गये थे।

गंजम जिले की पारला की मेडी तालुका में 'कदम्ब सिंगी' नामक पहाड़ी है जो कदम्बों के शासन काल से ही जैनों की पवित्र पहाड़ी के रूप में विख्यात है। यहीं पास में मुनि सिंगी (मुनि शृंगी) नामक स्थान है, जहां जैन मुनियों की वसदी थी जिसके आस-पास जैन मुनि तपश्चरण करते थे। इसी के समीप काला नगर में कदम्बों ने अपने राज्य को सुदृढ़ करने के पश्चात् वहां के वनों को साफ कर मैदान में वैजयन्तीपुर नामक नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

जैपुर (भगवान महावीर के तृतीय पट्टधर प्रभव स्वामी की जन्मभूमि) क्षेत्र में कदम्बों ने अपने राजा जयवर्मा के नाम पर जयपुरा एवं जयनगरम् बसाकर एक पहाड़ का नाम जयन्तिगिरि रखा। जैपुर क्षेत्र में कदम्ब गुड़ा नाम के न केवल एक अथवा दो अपितु आठ ग्राम हैं। विस्सम कटक (विश्वम्भर देव कटक) क्षेत्र में एक गांव का नाम कदम्ब गुड़ा और दूसरे का ककदम्ब है। गुड़ा शब्द की उत्पत्ति द्रविडियन भाषा के कूडम् शब्द से हुई है जिसका अर्थ है सम्पात अथवा सामूहिक रूप से एकत्रित हो साथ-साथ में बसे हुए, इसलिये इन ग्रामों का नाम कदम्ब गुड़ा रक्खा गया।

यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय तथ्य है कि जिस प्रकार पूर्वकालीन कदम्बों ने मगध से दक्षिण की ओर प्रयाण करते समय कलिंग में अपनी राज्य सत्ता स्थापित करने के पश्चात् वहां के मैदानी प्रदेश के वनों को साफ कर वहां वैजयन्तीपुर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया उसी प्रकार उत्तरवर्ती कदम्बों ने भी कर्णाटक में काञ्चीपति पल्लव राज के कुन्तल राज्य के सीमान्त वन्य प्रदेश को साफ कर वहां

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख संख्या २७७ पृष्ठ [illegible] पर अति प्राचीन समय में कलिंग राज भगदत्त का गंगराज के रूप में उल्लेख है और इसे गंग वंश का [illegible] बताया गया है।

वैजयन्ती पुर नामक नगर बसा कर बनवासी बारह हजारी राज्य की स्थापना की। कलिंग का जयन्तिपुर जयन्तगिरि जयपुरा एवं जयनगर और कर्णाटक के बनवासी बारह हजारी राज्य की कदम्बों द्वारा बसाई गई राजधानी पलासिका अथवा वैजयन्ती एक इतिहास सिद्ध तथ्य है। उत्तरकालीन कदम्बों की राजधानी जिस प्रकार कर्नाटक में पलासिका में थी उसी प्रकार पूर्वकालीन कदम्बों की कलिंग में राजधानी गंजम जिले में पलासा थी। इस प्रकार पलासा पलासिका जयन्तीपुर अथवा वैजयन्ती[1] वस्तुतः पूर्ववर्ती कदम्बगिरि जयन्तगिरि जयनगरम् आदि नाम कदम्बों के साथ इन उत्तरवर्ती कदम्बों के घनिष्ठ सम्बन्ध को जोड़ने वाली सुदृढ़ कड़ियां हैं। कलिंग में कदम्ब गुड़ा नाम के कम से कम १७ गांवों और कदम्ब सिंगी कदम्ब गिरि की विद्यमानता इस बात का प्रबल प्रमाण है कि ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में कदम्ब राजवंश का कलिंग में राज्य था और वे शताब्दियों तक कलिंग के निवासियों के रूप में और शासकों के रूप में वहां सत्ता में रहे। विजगा पट्टम जिले के रायगढ़ क्षेत्र में एक गांव का नाम कदम्बगिरि गुड़ा है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कलिंग से कदम्ब राज्य की समाप्ति कर सम्भवतः गंगवंशी जैन राजवंश अथवा किसी अन्य विजेता ने शकारि के समान ही कदम्बगिर विरुद धारण कर इस ग्राम को बसाया होगा। उस प्रदेश के गांवों के नामों का सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर पता चलता है कि वहां आज भी यत्र-तत्र पर्याप्त संख्या में जैनों और भूजों द्वारा बसाये गये ग्राम हैं।

३. कलिंग के कोल और खोण्ड (गोंड) जाति के लोगों में परम्परागत पीढ़ियों से यह धारणा चली आ रही है कि कोलों और खोण्डों ने कलिंग की धरती से जैनों एवं भुयों (भूजों) को बाहर ढकेल दिया।

रामास्वामी अय्यंगर और शेष गिरिराव—इन दोनों विद्वानों की मान्यता है कि वे जैन जिन्हें कोलों एवं खोण्डों ने कलिंग से बाहर निकाला वे वस्तुतः कदम्ब राजवंश के ही शासक थे और बूहलर के मन्तव्यानुसार आज जो तेलुगु-कन्नड़, आदि जो दक्षिणी भारत की लिपियां हैं वे वस्तुतः उन पूर्ववर्ती कदम्बों की वर्णमाला का ही परिष्कृत स्वरूप है।[2]

विजगापट्टम जिले की विस्सय कटक, जैपुर, कोरपट, भल्कन गिरि, नवरंगपुर इन क्षेत्रों में कंचगीं भट्ट, रानी भट्ट, अमल भट्ट, दबू भट्ट, वुष्क भट्ट,

---

१ देखिये जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख सं० ९९। इसमें उत्तरकालीन कदम वंश के राजा मृगेश वर्मा के वैजयन्ती (जयन्तीपुर, वर्तमान बनवासी) में निवास करने का उल्लेख है।

२ Shri Buhler is of opinion that it was the Kadamba script that latterly developed into the Telugu-Canarese or Andhra, Karnataki variety of South Indian Alphabets.

कोषर भट्ट, कोड् भट्ट, मोह भट्ट, आदि भट्ट स्थविरों (विद्वानों) के भट्टान्त नाम अद्यावधि विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर अनुमान लगाया जाता है कि कदम्बों ने कलिंग में स्थान-स्थान पर विद्वानों को रखकर कलिंग की प्रजा को अनेक प्रकार की विद्याओं, कलाओं, शिल्पों और समुन्नत भारतीय संस्कृति की कलिंग वासियों को शिक्षा दी थी।

इन सब तथ्यों पर यद्यपि अद्यावधि गम्भीर शोध की आवश्यकता है तथापि इन तथ्यों से यह तो प्रकट होता है कि कदम्ब राजवंश वस्तुतः बहुत प्राचीन राजवंश था और जैन धर्म का अनुयायी था।

कदम्ब राजवंश की उत्तरवर्ती शाखा के तो अनेक शिलालेख उपलब्ध भी हैं।

कदम्ब राजवंश दक्षिणा पथ का प्राचीन राजवंश था। लेख संख्या ९६-१०५ तक के १० लेखों से[१] लेख सं.२८२ से एवं अन्य पुरातत्व सामग्री[२] से यह प्रकट होता है कि इस वंश के प्रायः सभी राजाओं ने अपने २ शासन काल में जैन धर्म के प्रति श्लाघनीय सम्मान प्रकट करते हुए जैन धर्मावलम्बियों को अपनी ओर से तथा अपने राज्य की ओर से सदा संरक्षण प्रदान किया। उपलब्ध अभिलेखों से यह भी सिद्ध होता है कि इस राजवंश के कतिपय राजा तो जैन धर्म में प्रगाढ़ आस्थावान् और जिनेन्द्र भगवान् के परम उपासक थे। इस राजवंश के पांचवें महाराजा काकुत्स्थ वर्मा की राजकुमारी का विवाह प्रारम्भ से अन्त तक जैन कहे जाने वाले गंग राजवंश के पांचवें महाराजा तडंगाल माधव (माधव तृतीय) के साथ किया गया था। लेख सं. ९५, १२१ और १२२ में गंगवंशी महाराजा काकुत्स्थ वर्मा के उत्तराधिकारी पुत्र महाराजा कृष्णवर्मा का भागिनेय (भानजा) बताया गया है।[३] लेख सं० १०५ से विदित होता है कि काकुत्स्थ वर्मा के एक पुत्र कृष्णवर्मा ने अपने अग्रज शान्ति वर्मा से विद्रोह कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इसका पुत्र युवराज देव वर्मा जैन धर्मावलम्बी था। जिस समय युवराज देववर्मा त्रि पर्वत प्रदेश का शासक था उस समय उसके द्वारा यापनीय संघों को सिद्ध केदार ग्राम में अर्हन् प्रभु के चैत्यालय के जीर्णोद्धार, पूजा महिमा आदि हेतु कृषि भूमि प्रदान किये जाने का इस लेख में उल्लेख है।[४]

लेख सं० १०३ में उल्लेख है कि कदम्बराज हरिवर्मा ने अपने चाचा शिव-रथ के सत्परामर्श से पलाशिका में सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा स्थापित जिनायतन में प्रतिवर्ष अष्टान्हिक महोत्सव एवं समस्त संघ के भोजन आदि के व्यय भार

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ माणिक चन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला समिति
२. ,, ,, भाग १ ,, ,, ,,
३. ,, ,, भाग २ ,, ,, ,,
४. वही

को वहन करने के लिये बसन्तवाटिका नामक ग्राम का दान कूर्चकों के वारिषेणाचार्य के संघ को प्रदान किया।[1] इस लेख से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि कदम्ब राजवंश के अन्यान्य सदस्य भी जैन धर्म के उपासक थे। लेख सं० १०४ में[2] उल्लेख है कि रवि वर्मा के उत्तराधिकारी पुत्र महाराजा हरिवर्मा ने अपने सामन्त सेन्द्रक राजभानु शक्ति की प्रार्थना पर पलासिका में अहिरिष्टि नामक श्रमण संघ की सम्पत्ति माने जाने वाले जिनेन्द्र चैत्यालय की सभी प्रकार की आवश्यक व्यवस्था के लिये उक्त संघ के आचार्य धर्म्मनन्दि को यरदे नामक ग्राम का दान किया। इस लेख से यह भी सिद्ध होता है कि कदम्ब वंश के न केवल राजा ही अपितु इस राजवंश के अन्य सदस्य और सामन्त भी जैन धर्म के अनुयायी एवं परमोपासक थे।

लेख सं० ९७ में कदम्ब वंशी काकुत्स्थान्वयी शान्ति वर्मा के पुत्र द्वारा अपने महाराजा मृगेशवर्मा द्वारा अपने शासनकाल के राज्य के तीसरे वर्ष में अर्हद् भगवन्तों की मूर्तियों के सम्मार्जन उपवेशन, एवं मन्दिर की पुष्पवाटिका आदि के लिये वृहत्परघूरे के चैत्यालय को ४६ निवर्तन भूमि का दान दिये जाने का उल्लेख है।[3]

लेख सं० ९८ में उल्लेख है कि कदम्ब राज विजय शिव मृगेश वर्मा ने कालवङ्ग नामक ग्राम के तीन भाग कर के एक भाग सुविशाल अर्हत शाला के अर्हत जिनेन्द्र भगवन्तों के लिये, दूसरा भाग वीतराग प्ररूपित जिन धर्म का आचरण करने में अहर्निश तत्पर श्वेताम्बर महाश्रमण संघ के उपभोगार्थ और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के उपभोग के लिये दान में दिया।[4]

लेख सं०९९ में उल्लेख है कि कदम्ब राज काकुत्स्थ के पौत्र एवं शान्ति वर्मा के पुत्र कदम्बवंशी महाराजामृगेश ने अपनी विजय के आठवें वर्ष में पलाशिका नगर में यापनीय श्रमण संघ, निर्ग्रन्थ श्रमण संघ और कूर्चक श्रमण संघ को मातृ सरित से लेकर इंगिणी संगम पर्यन्त ३३ निवर्तन कृषि भूमि अर्हद् भगवन्तों के नाम पर दान में दी।[5]

हलसी से प्राप्त हुआ कदम्ब नरेश रवि वर्मा का उक्त ताम्रपत्रीय अभिलेख (लेख सं० १००) ऐसे तीन तथ्यों पर प्रकाश डालता है जो जैन इतिहास की दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। कदम्बवंशी महाराजा काकुत्स्थ, उसके पुत्र शान्ति वर्मा उसके

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग २

[2] वही

[3] वही

[4] वही

[5] वही

(शान्ति वर्मा के) उत्तराधिकारी राजा मृगेश वर्मा और मृगेश वर्मा के पुत्र महाराजा रवि वर्मा द्वारा दिये गये ग्राम दानों के उल्लेख में अन्तिम दान के सम्बन्ध में लिखा गया है कि इस ग्राम से जो आय हो वह धन राशि प्रतिवर्ष कार्तिक मास के अन्त में जिनेन्द्र भगवान् की महिमा के लिये अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के कार्य में और चातुर्मासावासावधि में यापनीय संघ के तपस्वी साधुओं को आहार प्रदान करने के कार्य में व्यय की जाय। इसमें ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित तीन बातें हैं :—

(१) इन कदम्ब वंशी चारों राजाओं के शासन काल में यापनीय संघ एक बड़ा शक्तिशाली तथा राजा एवं प्रजा दोनों ही का श्रद्धाभाजन और लोकप्रिय संघ था।

(२) कुमारदत्त प्रमुखा हि सूरयः अनेक शास्त्रागमखिन्न वुद्धयः।
जगत्यतीतास्सुतपोधनान्विता, गणोऽस्य (गणश्च) तेषां भवति प्रमाणतः॥

इस ताम्र पत्र की १८ वीं से २० वीं पंक्ति में उट्टंकित इस श्लोक से यापनीय संघ के सुदीर्घ अतीत के इतिहास का संकेत मिलता है कि इस संघ के गण विशेष में आचार्य कुमारदत्त प्रमुख अनेक तपोधन एवं आगम निष्णात आचार्य हुए और उनका यह गण लोक में प्रामाणिक माना जाता था।

(३) धर्मेप्सुभिज्जर्नि पदैस्सनागरैः, जिनेन्द्र पूजा सततं प्रणेया।
इति स्थितिं स्थापितवान् रवीशः पलाशिकायांनगरे विशाले॥
यस्मिन्जिनेन्द्र पूजा प्रवर्तते, तत्र तत्र देशवृद्धि।
नागराणां निर्भयता, तद्देश स्वामिनाञ्चोर्ज्जा नमो नमः॥

ताम्र पत्र में उल्लिखित इन श्लोकों से स्पष्टतः प्रकट होता है कि कदम्ब वंशी राजा न केवल स्वयं ही जिनेन्द्र प्रभु के उपासक थे अपितु वे प्रजा के लिये धर्माराधन की इस प्रकार की मर्यादा स्थापित कर अपनी प्रजा को भी जिनेन्द्र की उपासना के लिये प्रोत्साहनपूर्ण निर्देश देते थे।

इसी प्रकार कदम्ब वंश के पांचवें प्रतापी महाराजा काकुत्स्थ वर्मा का ताम्र पत्रीय अभिलेख सं० ९६ भी अनेक दृष्टियों से एक बड़ा ऐतिहासिक महत्व का लेख है [१]। इस ताम्रपत्रीय अभिलेख का शब्दशः सारार्थ इस प्रकार है—"नमन है उन गुण निधि अगाध दया सिन्धु जिनेन्द्र भगवान् को ! जय-विजय हो उनकी, जिनकी त्रिलोक के समग्र प्राणी वर्ग को अभय दान द्वारा आश्वस्त करने वाली दयामयी पताका निखिल ब्रह्माण्ड में फहरा रही है—लहरा रही है। प्रजाजनों के आशा केन्द्र कदम्ब राजवंश के युवराज काकुत्स्थ वर्मा ने ८० वें वर्ष (गुप्त सं० ८० तदनुसार ई० सन् ३९९) में, संसार के सभी प्राणियों को संसार सागर से पार उतारने वाले

[१] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या ९६, पृष्ठ ९९–९७

अरिहन्त भगवन्तों के अर्थात् अर्हंतों के नाम पर प्रदत्त खेट् ग्राम में आत्म कल्याण के लिये अपने सेनापति श्रुतकीर्ति को बदोवर क्षेत्र प्रदान किया।"

आज से लगभग १५८३ वर्ष पूर्व उट्टंकित इस अभिलेख के एक-एक अक्षर से आज भी यही प्रतिध्वनित होता है कि कदम्ब वंश के पञ्चम नरेश महाराजा काकुत्स्थ वर्मा वस्तुतः जैन धर्म के उपासक थे। इस लेख में जो ८०वें वर्ष का उल्लेख है उससे कदम्ब वंशी राजाओं के काल निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है। यह अस्सी वां वर्ष किस संवत्सर का है, इस विषय की ऐतिहासिकता पर विचार करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि कदम्बवंशी राजाओं ने तो अपना कोई संवत्सर नहीं चलाया। गुप्त राजवंश के साथ कदम्ब राजवंश का घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध था। कदम्ब वंश के पांचवें राजा काकुत्स्थ वर्मा की एक कन्या का विवाह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के एक पुत्र के साथ किया गया था।[1] उस समय तक गुप्त संवत् लोकप्रिय एवं बहुजनमान्य हो चुका था। अतः इस घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप कदम्ब वंशी राजाओं ने भी, बहुत सम्भव है प्रतापी गुप्त राजाओं के बहुजन सम्मत संवत् को मान्य कर लिया होगा। इससे यह अनुमान किया जाता है कि युवराज काकुत्स्थ वर्मा ने उक्त ताम्र पत्र में वर्णित यह क्षेत्र दान गुप्त संवत् ८० तदनुसार ई. सन् ३९९ (गुप्त सम्राट चन्द्र गुप्त (द्वितीय) के शासन के २४वें वर्ष) में दिया। गुप्त वंशीय राजाओं के इतिहास सम्मत काल के अनुसार गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल ई. सन् ३७५ से ४१४ तक का माना गया है।[2] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि काकुत्स्थ वर्मा ने ही अपनी पुत्री का विवाह अपने समकालीन चन्द्रगुप्त के पुत्र के साथ ई. सन् ४०० से ४१० के बीच की अवधि में किसी समय कराया होगा।

कदम्ब वंशी राजाओं की जैन मन्दिरों-मठों आदि के प्रति प्रगाढ़ रुचि थी। उनके जीर्णोद्धार के लिए इन के द्वारा दिये गये दानों के विवरण प्राचीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं, किन्तु मन्दिरों-मठों में झाड़ू निकालने व उन्हें सदा साफ-सुथरा रखने के लिये मृगेश वर्मा द्वारा दिये गये दान से कदम्ब वंशी राजाओं की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था का परिचय प्राप्त होता है कि वे न केवल जैन धर्म के प्रति ही अपितु जैन धर्म स्थानों के प्रति भी कितने सजग थे।

कदम्ब वंशी राजाओं के शासनकाल के ई. सन् ८०० से १३०७ ई. की अवधि के अब तक अनेक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं।[3]

---

१ दि. च. सरकार द्वारा लिखित सक्सेसर आफ सात वाहनाज पृष्ठ २५९

२ जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृ. ६६८—६६९ (रचनाकार आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज)

3 Epigraphic Karnatika Vol. VIII Introduction.

सोरब से प्राप्त अभिलेख सं. २६२ में उल्लेख है कि कदम्बराज कीर्ति वर्मा अथवा कीर्तिदेव (ई. सन् १०७० से ११००) की महारानी मालल देवी ने शक सं. ९९७ तदनुसार ई. सन् १०७५ में कुप्पुटूर के पार्श्वदेव चैत्यालय को सुसंस्कृत करवा कर उसका नाम ब्रह्म जिनालय रखा और उस ब्रह्म जिनालय के लिये कुन्द कुन्दान्वय-मूल संघ, क्राणूर गण, तिन्त्रिणीक गच्छ के यापनीय संघ के आचार्य वन्दणिगे तीर्थ तथा अनेक मन्दिरों के मुख्य पुरोहित सिद्धान्त चक्रवर्ती पद्मनन्दि को बहुत सी भूमियों का दान दिया। इस अवसर पर महारानी मालल देवी ने वनवासी राज्य के १८ मन्दिरों के पुरोहितों के साथ वनवासी मधुकेश्वर को बुलवाकर वहां के ब्राह्मणों से पार्श्वदेव चैत्यालय का नाम ब्रह्म जिनालय रखवाया। महारानी मालल देवी ने अपने पति महाराज कीर्तिदेव से भी बहुत सी भूमि प्राप्तकर मूर्ति की दैनिक पूजा और साधुओं के आहार के लिये यापनीय आचार्य पद्मनन्दि को दान में दी।[१]

इन सबसे और उपरिवर्णित अभिलेखों से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि कदम्बवंशी राजाओं ने अपने ९०० वर्ष के सुदीर्घ शासनकाल में जैन धर्म को उल्लेखनीय प्रश्रय एवं राज्याश्रय देकर दानादि द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कदम्बवंशी राजाओं के लेख सं. ९७, ९८, १००, १०३, १०४ और १०५ के प्रारम्भ में कदम्बवंशी राजाओं के लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, उन विशेषणों से कदम्बवंशी राजाओं के वर्ण का निर्णय करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इन लेखों में कदम्ब राजवंश का परिचय देते हुए जो-जो वाक्य उल्लिखित हैं, वे इस प्रकार हैं :—

"सिद्धम्। स्वस्ति स्वामि महासेन मातृगणानुध्याताभिषिक्तानां, मानव्यस गोत्राणां हारितीपुत्राणां प्रतिकृत स्वाध्याय चर्चापारगाणां (लेख सं. १०५) आदि-काल राजर्षि बिम्बानां आश्रितजनम्बानां कदम्बानां—"[२]

अल्तेम जिल्हा कोल्हापुर से शक स. ४११ के ताम्रपत्राभिलेख[३] में चालुक्य वंशी क्षत्रियों के लिये भी इसी प्रकार की शब्दावलि प्रयुक्त की गई है। भगवान् महावीर की स्तुति के पश्चात् इस अभिलेख में चालुक्य राजवंश का परिचय देते हुए लिखा है—श्रीमतां विश्व-विश्वम्भराभि संस्तूयमान मानव्यस गोत्राणां हारीति

---

१ कुप्पुटूर का अभिलेख सं. २०९ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. २६९-२७१ (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थ माला)

२ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. ६७ से ८४

३ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृष्ठ ८५ से ९०

अरिहन्त भगवन्तों के अर्थात् अर्हंतों के नाम पर प्रदत्त खेट् ग्राम में आत्म कल्याण के लिये अपने सेनापति श्रुतकीर्ति को बदोवर क्षेत्र प्रदान किया।"

आज से लगभग १५८३ वर्ष पूर्व उट्टंकित इस अभिलेख के एक-एक अक्षर से आज भी यही प्रतिध्वनित होता है कि कदम्ब वंश के पञ्चम नरेश महाराजा काकुत्स्थ वर्मा वस्तुतः जैन धर्म के उपासक थे। इस लेख में जो ८०वें वर्ष का उल्लेख है उससे कदम्ब वंशी राजाओं के काल निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है। यह अस्सी वां वर्ष किस संवत्सर का है, इस विषय की ऐतिहासिकता पर विचार करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि कदम्बवंशी राजाओं ने तो अपना कोई संवत्सर नहीं चलाया। गुप्त राजवंश के साथ कदम्ब राजवंश का घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध था। कदम्ब वंश के पांचवें राजा काकुत्स्थ वर्मा की एक कन्या का विवाह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के एक पुत्र के साथ किया गया था।[१] उस समय तक गुप्त संवत् लोकप्रिय एवं बहुजनमान्य हो चुका था। अतः इस घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप कदम्ब वंशी राजाओं ने भी, बहुत सम्भव है प्रतापी गुप्त राजाओं के बहुजन सम्मत संवत् को मान्य कर लिया होगा। इससे यह अनुमान किया जाता है कि युवराज काकुत्स्थ वर्मा ने उक्त ताम्र पत्र में वर्णित यह क्षेत्र दान गुप्त संवत् ८० तदनुसार ई. सन् ३९९ (गुप्त सम्राट चन्द्र गुप्त (द्वितीय) के शासन के २४वें वर्ष) में दिया। गुप्त वंशीय राजाओं के इतिहास सम्मत काल के अनुसार गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल ई. सन् ३७५ से ४१४ तक का माना गया है।[२] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि काकुत्स्थ वर्मा ने ही अपनी पुत्री का विवाह अपने समकालीन चन्द्रगुप्त के पुत्र के साथ ई. सन् ४०० से ४१० के बीच की अवधि में किसी समय कराया होगा।

कदम्ब वंशी राजाओं की जैन मन्दिरों-मठों आदि के प्रति प्रगाढ़ रुचि थी। उनके जीर्णोद्धार के लिए इन के द्वारा दिये गये दानों के विवरण प्राचीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं, किन्तु मन्दिरों-मठों में झाड़ू निकालने व उन्हें सदा साफ-सुथरा रखने के लिये मृगेश वर्मा द्वारा दिये गये दान से कदम्ब वंशी राजाओं की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था का परिचय प्राप्त होता है कि वे न केवल जैन धर्म के प्रति ही अपितु जैन धर्म स्थानों के प्रति भी कितने सजग थे।

कदम्ब वंशी राजाओं के शासनकाल के ई. सन् ८०० से १३०७ ई. की अवधि के अब तक अनेक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं।[३]

---

१ दि. च. सरकार द्वारा लिखित सक्सेसर आफ सात वाहनाज पृष्ठ २५६

२ जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृ. ६६८–६६९ (रचनाकार आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज)

३ Epigraphic Karnatika Vol. VIII Introduction.

सोरब से प्राप्त अभिलेख सं. २६२ में उल्लेख है कि कदम्बराज कीर्ति वर्मा अथवा कीर्तिदेव (ई. सन् १०७० से ११००) की महारानी मालल देवी ने शक सं. ९९७ तदनुसार ई. सन् १०७५ में कुप्पुटूर के पार्श्वदेव चैत्यालय को सुसंस्कृत करवा कर उसका नाम ब्रह्म जिनालय रखा और उस ब्रह्म जिनालय के लिये कुन्द कुन्दान्वय-मूल संघ, क्राणूर गण, तिंत्रिणीक गच्छ के यापनीय संघ के आचार्य वन्दणिगे तीर्थ तथा अनेक मन्दिरों के मुख्य पुरोहित सिद्धान्त चक्रवर्ती पद्मनन्दि को बहुत सी भूमियों का दान दिया। इस अवसर पर महारानी मालल देवी ने वनवासी राज्य के १८ मन्दिरों के पुरोहितों के साथ वनवासी मधुकेश्वर को बुलवाकर वहां के ब्राह्मणों से पार्श्वदेव चैत्यालय का नाम ब्रह्म जिनालय रखवाया। महारानी मालल देवी ने अपने पति महाराज कीर्तिदेव से भी बहुत सी भूमि प्राप्तकर मूर्ति की दैनिक पूजा और साधुओं के आहार के लिये यापनीय आचार्य पद्मनन्दि को दान में दी।[१]

इन सबसे और उपरिवर्णित अभिलेखों से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि कदम्ववंशी राजाओं ने अपने ९०० वर्ष के सुदीर्घ शासनकाल में जैन धर्म को उल्लेखनीय प्रश्रय एवं राज्याश्रय देकर दानादि द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कदम्बवंशी राजाओं के लेख सं. ९७, ९८, १००, १०३, १०४ और १०५ के प्रारम्भ में कदम्बवंशी राजाओं के लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, उन विशेषणों से कदम्बवंशी राजाओं के वर्ण का निर्णय करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इन लेखों में कदम्ब राजवंश का परिचय देते हुए जो-जो वाक्य उल्लिखित हैं, वे इस प्रकार हैं :—

"सिद्धम्। स्वस्ति स्वामि महासेन मातृगणानुध्याताभिपिक्तानां, मानव्यस गोत्राणां हारितीपुत्राणां प्रतिकृत स्वाध्याय चर्चापारगाणां (लेख सं. १०५) आदिकाल राजर्षि विम्वानां आश्रितजनम्वानां कदम्वानां—"[२]

अल्तेम जिल्हा कोल्हापुर से शक स. ४११ के ताम्रपत्राभिलेख[३] में चालुक्य वंशी क्षत्रियों के लिये भी इसी प्रकार की शव्दावलि प्रयुक्त की गई है। भगवान् महावीर की स्तुति के पश्चात् इस अभिलेख में चालुक्य राजवंश का परिचय देते हुए लिखा है—श्रीमतां विश्व-विश्वम्भराभि संस्तूयमान मानव्यस गोत्राणां हारीति

१ कुप्पुटूर का अभिलेख नं. २०९ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. २९९-३०१ (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थ माला)

२ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. ६७ से ८४

३ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृष्ठ ८५ से ९०

पुत्राणां सप्तलोक मातृभिस्सप्त मातृभि र्वद्धितानां कार्तिकेय परिरक्षण प्राप्त कल्याण परम्पराणां ...... चालुक्यानां कुलमलंकरिष्णो ।

उपर्युद्धृत लेखों में विख्यात क्षत्रियकुल के चालुक्यवंशी राजाओं के समान ही कदम्ब राजवंश के राजाओं को भी षण्मुख कार्तिकेय द्वारा संरक्षित सप्तमातृकाओं द्वारा स्वामि कार्तिकेय महासेन के समान ही परिपालित मानव्यगोत्र वाले और हारीति के पुत्र (वंशज) बताने के साथ-साथ प्राचीन राजर्षियों के समान बताया गया है । इससे निर्विवाद रूपेण यह सिद्ध होता है कि कदम्ब राजवंश वस्तुतः क्षत्रियों की ही एक शाखा थी । चालुक्यों के समान मानव्य गोत्र-हारीति पुत्र स्वामी महासेन-सप्त मातृकाओं द्वारा अभिवर्द्धित आदि विशेषण कदम्बों के लिए प्रयुक्त देखकर अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में संभव है चालुक्यों (सोलंकियों) और कदम्बों के पूर्व पुरुष किसी एक ही क्षत्रिय राजा की संतति रहे हों । एक दो विद्वानों की सर्वथा अपुष्ट कल्पना के अनुसार यदि कदम्बवंशी राजा ब्राह्मण जाति के होते तो लेख सं. १०५ में उनके लिये आदिकाल राजर्षि बिम्बानां के स्थान पर "आदिकाल ब्रह्मर्षि बिम्बानां" अथवा "परशुराम बिम्बानां" का प्रयोग किया जाता ।

इन पुष्ट प्रमाणों के अतिरिक्त कदम्बवंशी राजाओं की राज कन्याओं के विवाह गंगवंशी क्षत्रिय राजकुमारों[१] एवं शान्तर राजवंश के राजकुमारों के साथ होने के जो प्राचीन अभिलेखों[२] में उल्लेख आज भी उपलब्ध होते हैं, वे इस बात के प्रबल साक्षी हैं कि कदम्बवंशी राजा क्षत्रिय थे । यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन काल में विवाह की जो मर्यादा मनु आदि द्वारा स्मृतियों में निर्धारित की गई थी उससे ब्राह्मण कन्या के साथ क्षत्रिय कुमार के विवाह का कड़ाई के साथ निषेध किया गया था ।

कदम्ब वंशी राजाओं का शासन काल

१—मयूर शर्मन (ई० सन् ३४०–३७०) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस राजवंश का संस्थापक और प्रथम राजा मयूर शर्मन् था । काञ्चीपति पल्लवराज के सीमावर्ती वनवासी प्रदेश को विजित कर इसने एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली । मयूर शर्मन् ने अमरार्णव (पश्चिमी समुद्र के तट से लेकर प्रेमार

---

१ लेख संख्या ६५, १०५, १२१, १२२ जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, माणिक्यचन्द्र दि. जैन ग्रन्थ माला

२ शान्तर राजवंश के राजा त्यागी शान्तर का विवाह कदम्ब राजा हरिवर्मा की राजकुमारी नागल देवी के साथ हुआ । देखिये एपिग्राफिका कर्णाटिका वोल्यूम VIII पृष्ठ ६ ।

प्रदेश (मालव) तक अपने राज्य का विस्तार किया और अनुमानतः ई. सन् ३४० से ३७० तक राज्य किया। उपरि वर्णित लेख संख्या २०९ में कदम्ब राजवंश के प्रथम राजा का नाम मयूर शर्मन् न लिख कर मयूर वर्म्मन लिखा गया है। इसमें उल्लेख है कि इसने मोर के पंखों का बना पट्ट अपने शिर पर धारण किया, इसलिये वह मयूर वर्मन् के नाम से विख्यात हुआ। कतिपय उत्तरवर्त्ती अभिलेखों में उल्लेख प्राप्त होता है कि मयूर शर्मा ने १८ अश्वमेध यज्ञ किये किन्तु अनेक विद्वानों ने उन अभिलेखों की प्रामाणिकता में सन्देह अभिव्यक्त किया है।

२— कंगु वर्मन–अपर नाम स्कन्द वर्मन् (ई. सन् ३७० से ३९५) अजन्ता के अभिलेख से अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः यह कदम्ब वंशी राजा वाकठिक राजा विन्धसेन का समकालीन और कुन्तल का वही कदम्ब वंशी राजा हो जिसका विन्धसेन द्वारा युद्ध में पराजित किये जाने का अजन्ता के अभिलेख में उल्लेख है। इस प्रकार इसका शासन काल ई. सन् ३७० से ३९५ तक का अनुमानित किया जाता है। कंगु वर्मन् ने धर्म महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी।

३—भगीरथ (ई. सन् ३९५ से ४२०) कंगु वर्मन के पश्चात् उसका पुत्र भगीरथ कदम्ब राज्य के सिंहासन पर बैठा। इसने कदम्ब राज्य की नींवों को सुदृढ़ किया। इतिहास विदों का अभिमत है कि गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ने भगीरथ के यहां कालीदास को अपना राजदूत बनाकर भेजा।[1] इससे विदित होता है कि भगीरथ एक प्रतापी राजा था। इसका शासनकाल ई. सन् ३९५ से ४२० तक अनुमानित किया जाता है।

४—रघु अथवा रघुपार्थिव (ई. सन् ४२० से ४३०) कदम्बराज भगीरथ के रघु और काकुत्स्थ वर्मा नामक दो पुत्र थे। महाराजा भगीरथ के निधन पर रघु राज सिंहासन पर बैठा और उसने अपने लघु भ्राता काकुत्स्थ वर्मा को युवराज बनाया। हलसी (जिला बेलगांव) से प्राप्त (ईसा की पांचवीं शताब्दी के) काकुत्स्थ वर्मा के दान पत्र में भी इसे (काकुत्स्थ वर्मा को) "कदम्बानां युवराजः" लिखा है।[2]

५—काकुत्स्थ वर्मा (ई. सन् ४३० से ४५०) रघु के पश्चात् कदम्ब वंश का ५वां राजा काकुत्स्थ वर्मा हुआ। इनके राज्य काल में राज्य एव प्रजा ने चहुंमुखी प्रगति की। ताल गुण्ड के अभिलेख से विदित होता है कि काकुत्स्थ वर्मा के शासन काल में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य रहा। पड़ोसी राजाओं के साथ आपका बड़ा मधुर सम्बन्ध रहा और वे सब इनका बड़ा सम्मान करते थे। काकुत्स्थ वर्मा ने अपनी एक पुत्री का विवाह गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय)

---

[1] दी क्लासिकल एज (भारतीय विद्या भवन, बम्बई) पृष्ठ १८३, २६२

[2] लेख सं० ९६ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृष्ठ ६६

विक्रमादित्य के राजकुमार के साथ और अपनी दूसरी पुत्री का विवाह गंग राज वंश के पांचवें महाराजा तडंगाल (माधव तृतीय) के साथ किया ।[1]

जैन धर्म के प्रति काकुत्स्थ वर्मा की कैसी प्रगाढ़ श्रद्धा थी यह उपरि वर्णित लेख सं. ९६ से सहज ही स्पष्टत: प्रकट हो जाता है । काकुत्स्थ वर्मा ने जन कल्याण के अनेक उल्लेखनीय कार्य किये और तालगुण्ड में एक विशाल जलाशय का निर्माण करवाया । अपने समकालीन शक्तिशाली राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने के साथ-साथ शान्ति की स्थापना में भी इसने बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया । इसके दो पुत्र थे शान्ति वर्मन और कृष्ण वर्मन ।

६—शान्ति वर्मन् (ई. सन् ४५० से ४७५) काकुत्स्थ वर्मन् की मृत्यु हो जानें पर उसका बड़ा पुत्र शान्ति वर्मन् बनवासी के राज-सिंहासन पर बैठा । दूसरी शाखा के राजा—शान्ति वर्मन् के छोटे भाई कृष्ण वर्मन् ने अपने भाई से विद्रोह कर कदम्ब राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार किया और त्रिपर्वत (सम्भवतः हलेविद) में अपनी राजधानी स्थापित की । उसने अपने आपको स्वतन्त्र राजा घोषित किया और इस प्रकार वह कदम्ब राजवंश की दूसरी शाखा का संस्थापक हुआ । कृष्ण वर्मा की बहिन का विवाह गंग वंश के महाराजा तडंगल माधव के साथ हुआ था यह ऊपर बताया जा चुका है । इस कारण सम्भवतः गंगराज वंश का इसे प्रश्रय मिला हो ऐसा अनुमान किया जा सकता है । इसने अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाया और अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया किन्तु पल्लवराज के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ । पल्लवों ने कृष्ण वर्मन के पुत्र विष्णु बर्मन को त्रिपर्वत के राज-सिंहासन पर बैठाया । इससे ज्ञात होता है कि विष्णु वर्मन् पल्लवों का अधीनस्थ राजा रहा ।

७—मृगेश वर्मन् (ई. सन् ४७५ से ४९०) शान्ति वर्मन् के पश्चात् उसका पुत्र मृगेश वर्मन् बनवासी में कदम्ब राजवंश के सिंहासन पर बैठा । यह बड़ा प्रतापी और धर्मात्मा राजा था । इसने पल्लवों और पश्चिमी गंगों को युद्ध में पराजित किया । मृगेश वर्मा के जिन दान पत्रों का ऊपर विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है, वे इस बात के साक्षी हैं कि इस राजा की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति थी । जैन धर्म शताब्दियों से दक्षिण में समुन्नत दशा में रहा था । मृगेश वर्मन् ने अपने शासन काल में जैन धर्म के उस समय के सभी शक्तिशाली श्वेताम्बर महा श्रमण संघ, निर्ग्रन्थ महा श्रमण संघ यापनीय संघ, कूर्चक संघ—इन संघों को दान सम्मानादि से प्रश्रय देकर उनके और अधिकाधिक फलने-फूलने में बड़ा योग-दान दिया ।

---

[1] जैन शिला लेख संग्रह, भाग २ लेख सं० ९५, १२१, १२२

८—रवि वर्मा (ई. सन् ४६० से ५३७)। मृगेश वर्मा के पश्चात् उसका पुत्र रवि वर्मा कदम्ब वंश के राज-सिंहासन पर आसीन हुआ। यह बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ है। इसे अपने प्रारम्भिक शासन काल में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसी वंश की दूसरी शाखा के संस्थापक कृष्ण वर्मन् के पुत्र विष्णु वर्मन ने पल्लवों की सहायता से रवि वर्मा पर ई० सन् ४६७ में आक्रमण किया। उस युद्ध में रवि वर्मा शत्रुओं को पराजित कर विजयी हुआ। विष्णु वर्मन् उस युद्ध में मारा गया। रवि वर्मा ने काञ्चीपति चण्डदण्ड (सम्भवतः पल्लव राज) के राज्य को विनष्ट कर पलाशिका (वर्तमान में हलसी) में अपनी राजधानी स्थापित की। जैन धर्म के प्रति इसकी प्रगाढ़ प्रीति थी। यह जैन धर्म का प्रवल समर्थक था। वर्षा काल में यापनीय साधुओं की भोजन व्यवस्था के लिये और प्रति वर्ष निर्धारित तिथियों पर जिनेन्द्र भगवान् के पूजा-अर्चना महोत्सवों को ठाठ से मनाने का इसने प्रजाजनों को आदेश दिये। रवि वर्मन् की मृत्यु हो जाने पर उसकी रानी अपने पति के साथ चिता में जलकर सती हो गई।[1]

९—हरि वर्मा (ई० सन् ५३७—५४७)। रवि वर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरि वर्मा कदम्ब राजवंश के सिंहासन पर बैठा जो कि अशक्त एवं अकुशल राजा सिद्ध हुआ। इसके एक शक्तिशाली सामन्त पुलकेसिन (प्रथम) चालुक्य ने इसकी अशक्तता का लाभ उठा कर इसके विरुद्ध विद्रोह किया और उसने बादामी में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। कृष्ण वर्मा द्वारा संस्थापित कदम्ब राजवंश की दूसरी शाखा के राजा के साथ हरि वर्मा का संघर्ष हुआ और उस गृह कलह के परिणामस्वरूप हरि वर्मा के साथ ही कदम्ब राजवंश की मूल शाखा ई० सन् ५४७ में समाप्त हो गई। कदम्ब राजवंश का स्थान चालुक्य राजवंश ने ग्रहण किया। यद्यपि चालुक्य राजवंश के अभ्युदय के साथ ही ईसा की छठी शताब्दी के मध्य भाग में कदम्ब राजवंश का सूर्य अस्त हो गया तथापि सोरव से प्राप्त शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि कदम्ब वंशी शासक अपनी पैतृक राजधानी बनवासी बारह हजारी में ईसा की दशवीं शताब्दी के सात दशकों तक अधीनस्थ सामन्तों के रूप में रहे और ई० सन् ९७१ में वे बनवासी बारह हजारी के सम्भवतः स्वतन्त्र शासक बन गये। इस प्रकार कदम्ब वंशी राजाओं ने शक्ति संचय कर पुनः अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया और वे ई० सन् १३०७ तक बनवासी बारह हजारी पर शासन करते रहे।

उन बनवासी के उत्तरवर्ती कदम्ब वंशी राजाओं का समय निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :—

शान्ति वर्मा (द्वितीय)	ई० सन् ९७१
तैलह देव	,, ९९५

[1] सोरव का शिला लेख (नं० ५२३)

गौरवर्ष	ई. सन्	१०१८
कुंदम रस	,,	१०२६
कीर्ति वर्मा अथवा कीर्ति देव	,,	१०७०-११००

इस राजा की महारानी मलल देवी की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति थी। मलल देवी ने जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है ई० सन् १०७५ में कुप्पतूरु जिला सोरब में पार्श्वनाथ चैत्यालय को सुसंस्कारित करवा वनवासी के १८ प्रमुख मन्दिरों के पुरोहितों एवं विख्यात मधुकेश्वर नाम के विष्णु भक्त पुरोहित को आमन्त्रित किया। महारानी ने विपुल दान देकर उन सभी पुरोहितों से भगवान् पार्श्वनाथ का विधिवत् अर्चन पूजन करवाया। तदनन्तर महारानी मललदेवी ने यापनीय संघ के आचार्य पद्मनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के परामर्शानुसार वहां बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों से उस पार्श्व जिन चैत्यालय का नाम 'ब्रह्म जिनालय' रखवा कर उस ब्रह्म जिनालय की दैनिक पूजा अर्चा एवं जैन मुनियों के आहार की व्यवस्था के लिये विष्णु भक्त मधुकेश्वर पुरोहित से एवं कदम्बराज कीर्ति वर्मा से अनेक विशाल कृषि भूखण्ड यापनीय आचार्य पद्मनन्दि को दान में दिलवाये।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से यह शिलालेख बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यापनीय संघ के आचार्य एवं मुनि अन्य धर्मावलम्बियों एवं जनमत को जैन धर्म के सन्निकट सम्पर्क में रखने में एवं जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं वर्चस्व के अभिवर्द्धन में कितने सजग और प्रयत्नशील रहते थे, इस दिशा में यह लेख गहरा प्रकाश डालता है।

तैलपदेव	ई. सन	११०० से ११०३
कीर्तिदेव (द्वितीय)	,,	११०३ से १११६
तैलपदेव (द्वितीय)	,,	११२६ तक
मल्लिदेव	,,	११४३ तक
कावदेव	,,	११४७ तक
कीर्तिदेव (तृतीय)	,,	११५१ से ११७८ तक
सोयीदेव (इसी वंश का कीर्तिदेव का ही समकालीन अन्य राजा)	,,	११६० से ११७१
तैलहदेव	,,	११७८
कोन्डेरस	,,	११८७
काव अथवा कामदेव	,,	११८८ से १२१६
मल्लिदेव (द्वितीय)	,,	१२१६ से १२३१
सोयीदेव (द्वितीय)	,,	१२३७
कावदेव (तृतीय)	,,	१२३८ से १३०७[2]

१ जैन शिला लेख संग्रह, भाग २, लेख सं० २०६, पृष्ठ २६६–२७१.

२ इपीग्राफिका कर्णाटिका वाल्यूम ८, पेज २-३

कदम्ब वंश की दूसरी शाखा के राजाओं का शासन काल निम्नलिखित रूप से उपलब्ध होता है :—

१. कृष्ण वर्मा (प्रथम। शांति वर्मा का भाई) ई. सन् ४७५ से ४८५ (पल्लवों द्वारा पराजित)

२. विष्णु वर्मा (पल्लवों का अधीनस्थ राजा) ई. सन् ४८५ से ४९७

इसमें पल्लवों की सहायता से कदम्ब वंश की बड़ी शाखा के राजा रवि वर्मा पर ईस्वी सन् ४९७ में आक्रमण किया। इस युद्ध में पराजय के साथ-साथ अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा।

३. सिंह वर्मा (रवि वर्मा का अधीनस्थ राजा) ई. सन् ४९७ से ५४०

४. कृष्ण वर्मा (द्वितीय) " ५४० से ५६५

कृष्ण वर्मा ने जब देखा कि अपने वंश की बड़ी शाखा के राजा हरि वर्मा के एक शक्तिशाली चालुक्य सामन्त पुलकेशिन् प्रथम ने अपने स्वामी के प्रति विद्रोह कर वाकामी में अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है और इस प्रकार वनवासी कदम्ब राज की शक्ति क्षीण हो गई है तो उसने हरि वर्मा पर आक्रमण कर उसे परास्त कर अपने राजवंश की बड़ी शाखा के राज्य को समाप्त कर दिया। कृष्ण वर्मा द्वितीय ने एक अश्वमेध यज्ञ किया और गंग वंश के एक राजकुमार के साथ अपनी बहिन का विवाह कर अपनी शक्ति को अभिवृद्ध किया।

५. अज वर्मा ई. सन् ५६५ से ६०६

यह चालुक्य राज कीर्ति वर्मा का अधीनस्थ राजा रहा। कीर्ति वर्मा को अभिलेखों में "कदम्ब कुल काल रात्रि" कहा गया है।

६. भोगी वर्मा ई. सन् ६०६ से ६१०

भोगी वर्मा ने चालुक्य राज की दासता के जूड़े को उतार फेंकने और स्वतन्त्र राजा बनने का प्रयास किया किन्तु चालुक्य राज पुलकेसिन द्वितीय ने उसके विद्रोह को कुचल वनवासी के राज्य पर अधिकार कर लिया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध में भोगी वर्मा और उसके पुत्र की मृत्यु हो जाने के पश्चात् कदम्ब वंश की इस दूसरी शाखा के राज्य का भी अन्त हो गया। इसके पश्चात् कदम्ब वंश की इस शाखा के शासक सामन्तों के रूप में रहे। ई. सन् ६४२ में पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् कदम्बों के स्वतन्त्र राज्य की संस्थापना के प्रयास किये गये किन्तु ई. सन् ६५५ (वीर निर्वाण सं० ११८२) में विक्रमादित्य प्रथम के सिंहासनासीन होने पर उन्हें अपने प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्ततोगत्वा

[1] ऐहोल का अभिलेख।

ईसा की दशवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में इस शाखा ने पुन: शक्ति-संचय कर अपनी स्थिति को स्वतन्त्र शासक के रूप में सुधारा।[१]

इस प्रकार आज तक उपलब्ध हुए प्राचीन शिलालेखों एवं ताम्र पत्रादि से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि कदम्बवंशी राजाओं, उनके मंत्रियों, सेनापतियों एवं उनके परिवार के सदस्यों की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति, अटूट आस्था अथवा श्रद्धा-भक्ति रही। यदि इस विषय में और शोध की जाय तो अनेक महत्व-पूर्ण तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं, क्योंकि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कदम्ब राजवंश का राज्य दक्षिणापथ के विशाल भू-भाग पर ईसा की प्रथम शताब्दी एवं इससे भी पूर्वकाल में रहा है। वे सब पूर्वकालीन कदम्बवंशी राजा जैन थे, ऐसा उच्च कोटि के कतिपय इतिहासविदों का अभिमत है।[२] मृगेश वर्मा, हरि वर्मा उनके पितृव्य शिवरथ, युवराज देववर्मा, रविवर्मा, महारानी मालल देवी आदि ने जैन धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा-श्रद्धा-भक्ति प्रकट की, वह उनके पूर्व पुरुषों के जैन धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति के परम्परागत पुरातन संस्कारों का ही प्रतिफल हो सकता है।

इस प्रकार कदम्ब राजवंश ने जैन धर्म की अभ्युन्नति के लिये उल्लेखनीय एवं अनमोल योगदान दिया और इस राजवंश के समग्र शासनकाल में जैन धर्म सदा पल्लवित तथा पुष्पित होता रहा।

यद्यपि वनवासी शाखा के कदम्बवंशी राजाओं ने अपना वंश परिचय-मानव्य गोत्र, हारिति पुत्र, स्वामी महासेन (षण्मुख कार्तिकेय) पादानुध्यात, आश्रित जनम्बानां के रूप में दिया गया है किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक इस राजवंश के राजाओं का अद्भुत् एवं विशिष्ट झुकाव जैन धर्म के प्रति ही रहा है। इन राजाओं के जितने राज्याश्रित कवि थे, वे जैन थे। इनके मन्त्रीगण और सामन्त भी जैन थे। कदम्बवंशी राजाओं द्वारा जिन पवित्र स्थानों के नाम रखे गये, वे जैनों के पवित्र क्षेत्रों के रूप में अद्यावधि माने जाते हैं। कदम्बवंशी राजाओं ने जो दान दिये वे प्राय: सभी जैनाचार्यों एवं जैन संघों को दिये, यह तथ्य इस राजवंश के राजाओं के दानपत्रों-ताम्रपत्रों, शिलालेखों आदि से प्रकाश में आया है।

गोआ प्रदेश में कदम्ब राजवंश की शाखा का सुदीर्घ काल तक राज्य रहा। उन्होंने जैन साहित्य में अभिवृद्धि कर जैन वांग्मय को समृद्ध किया।[3]

---

१ The Classical Age, Chap, XIII p. 273

२ Similarly in the Saka Taluq of the Ganjam Dist. there is a village Called Jaisingh, possibly named after Jaya Varma the early Kadamba King of 2nd Centuary A. D. (1) or a Kosala Jayaditya preserved in the traditions of the present day Andhra Kshatriyas.
—Epigraphia Jainica (chapter II) in Studies in South Indian Jainism—

3 गोआ के कदम्ब वंशी राजाओं के ताम्रपत्र।

गंजम जिले की पारला की मेडी क्षेत्र में कदम्ब सिंगी और मुनिसिंगी नामक जैनों के दो पवित्र स्थान हैं। कदम्ब सिंगी जैन धर्मावलम्बियों द्वारा प्राचीन काल से पवित्र पहाड़ी मानी जाती रही है। इस पवित्र पहाड़ी के आस-पास ही कदम्बवंशी राजाओं द्वारा निर्मित मुनि-सिंगी नाम से विख्यात विशाल जैन बस्ती थी, जहां बड़ी संख्या में जैन मुनि निवास करते थे। कदम्बवंशी राजाओं के शासन-काल में ये स्थान जैन धर्म के, जैन विद्या के और जैन संस्कृति के गढ़ थे। इसी ताल्लुक (क्षेत्र) के मैदानों में कदम्बों ने प्राचीनकाल में वैजयन्तीपुर बसाकर वहां अपनी राजधानी स्थापित की।[१] ये सब तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि कदम्बवंशी राजा जैन थे।

राष्ट्रकूट राजवंश

राष्ट्रकूट राजवंश के राजाओं, रानियों, राजकुमारों, राजमाताओं, सेनानायकों, मंत्रियों एवं प्रजाजनों ने जैनधर्म की सर्वतोमुखी समुन्नति के लिये जो महत्वपूर्ण योगदान दिया, उसे प्राचीन शिलालेखों और शोधकर्त्ताओं के शोधपूर्ण निबन्धों को पढ़कर तीर्थंकर काल के धर्म धुरा धौरेय भरत, श्रीकृष्ण, श्रेणिक आदि राजाओं की स्मृति स्मृति-पटल पर उभर आती है।

राष्ट्रकूट राजवंश के राज्य का दक्षिण में सर्व प्रथम अभ्युदय किस समय हुआ, इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक शोध न हो सकने के कारण इतिहासज्ञ अभी तक किसी सर्व-सम्मत निर्णय पर नहीं पहुंच पाये हैं। इस राजवंश के राजाओं से सम्बन्धित लेखों में सब से पुराना अभिलेख मर्करा के खजाने से प्राप्त गंगवंशी राजा अविनीत द्वारा दिये गये दान का शक सं० ३८८ तदनुसार ई० सन् ४६६ का एक ताम्र पत्र है। इस ताम्र-पत्र में उल्लेख है कि अकालवर्ष पृथ्वी वल्लभ (राष्ट्रकूट वंशीय राजा) के मंत्री ने वणदे गुप्पे नामक एक ग्राम शक सं० ३८८ की माघ शुक्ला पंचमी सोमवार के दिन स्वाति नक्षत्र में गंगवंशी महाराजाधिराज अविनीत से प्राप्त कर मूल संघ कौण्डकुन्दान्वय देशीय गण के गुणनन्दि भट्टार के शिष्य चन्दणन्दि भट्टार को तलवन नगर के श्रीविजय जिनालय के लिये दान में दिया।

इस ताम्र पत्राभिलेख की भाषा से अनुमान किया जाता है कि राष्ट्रकूट वंशीय राजा अकालवर्ष पृथ्वीवल्लभ एक शक्तिशाली साम्राज्य के महाराजाधिराज अविनीत ई० सन् ४६६ के आसपास के समय में उनके अधीनस्थ राजा थे।

---

१ The place of Parlaki medi Agency of the Ganjam District has called Kadamba-singi and Muni-singi suggesting a sacred hill (Sacred to Jaina) a colony of Jain Munis near about it. The place names are significant and suggestive of religious culture. At a latter date, it was in this taluq, that the Kadambas built their Capital Vaijayantipuri in the plains.

—Epigraphica Jainica (chapter II) in Studies in South Indian Jainism—

इस प्रकार के किसी अन्य प्राचीन एवं ठोस प्रमाण के अभाव में दक्षिणा पथ में राष्ट्रकूट वंश के राज्य के आद्य संस्थापक के नाम एवं समय के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

रट्ट वंश के राजाओं की वंशावली

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ अनुराग-श्रद्धा-निष्ठा एवं भक्ति रखते हुए जैन धर्म की सर्वतोमुखी समुन्नति में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले इस यशस्वी राजवंश के राजाओं की एक क्रमबद्ध सूचि इतिहास प्रेमियों अथवा शोधार्थियों को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से डा० बूहलर और मि० फ्लीट द्वारा प्रकाशित प्राचीन अभिलेखों के आधार पर बी लुइस राइस ने बड़ी ही सावधानी के साथ इस राजवंश के राजाओं की जो वंशावली तैयार की है उसे ही मान्य किये जाने के अतिरिक्त अद्यावधि अन्य कोई उपाय नहीं है ।

जैन धर्म के परम हितैषी आश्रय दाता इस राजवंश के राजाओं द्वारा जैन धर्म की अभिवृद्धि के लिये जो योगदान दिया गया, उस सबका जो संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमें इस वंश के राजाओं के पूर्वापर अनुक्रम का जहां तक सम्बन्ध है, उसमें अद्यावधि उपलब्ध सामग्री के साथ-साथ मि० राइस द्वारा तैयार की गई सूचि को भी आधार माना गया है और इस प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री के परिप्रेक्ष्य में इस राजवंश के राजाओं का अनुक्रम निम्नलिखित रूप में मान्य किया जा सकता है :—

१. कृष्ण अकालवर्ष—जैसा कि लेख सं० ९५ के उद्धरण के साथ ऊपर बताया जा चुका है कि गंगवंशी राजा अविनीत ई० सन् ४२५-४७८ के समय में दक्षिणापथ के किन्हीं प्रदेशों पर राष्ट्रकूट वंशीय राजा अकालवर्ष राज्य कर रहा था । इसके एक मंत्री ने वरणे गुप्पे नामक एक ग्राम चन्दणन्दि भट्टारक को दान में दिया । इस राजा का राज्य कहां से कहां तक था अथवा इसकी राजधानी कहां थी, इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होने के कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता । किन्तु इसका राज्य गंगवंश की सीमाओं से लगता हुआ था, यह इस लेख से प्रतिध्वनित होता है । इस लेख से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि अकालवर्ष कोई शक्तिशाली राजा होगा अतः उसके मंत्री की प्रार्थना पर गंगराज अविनीत ने एक सुन्दर ग्राम जिनालय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दान में देना स्वीकार किया । क्योंकि यह दान ई० सन् ४६६ में किया गया इसलिये सुनिश्चित रूपेण यह राजा अकालवर्ष इस वंश के सातवें राजा कृष्ण अकालवर्ष-वल्लभ-शुभतुंग कन्नर ई० सन् ७५३-७७८ से लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती होने के कारण सुनिश्चित रूपेण भिन्न था ।

२. कृष्ण अकालवर्ष के पश्चात् ई० सन् ४६६ से ६१० ई० के बीच इस वंश के कितने और कौन-२ से राजा हुए तथा उनकी राजधानी कहां थी इसका अद्यावधि उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

३. गोविन्द—अप्पायिक गोविन्द—इसके सम्बन्ध में डा० वूहलर, श्री फ्लीट और बी लुइस राइस का अनुमान है कि यह राजा उत्तर भारत से दक्षिण में अपने सैन्य दल के साथ आया किन्तु पुलकेसिन ने ई० सन् ६१० के आस पास इसके दक्षिण विजय अभियान को विफल कर किया। दिग्विजय अथवा देश विजय के इस स्वप्न के धूलिसात् होने के अनन्तर राजा अप्पायिक गोविन्द मध्य प्रदेश अथवा उत्तर प्रदेश की ओर लौटा अथवा गुजरात की ओर, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आज भी उत्तर प्रदेश में भी एवं गुजरात में भी राठोर पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं, जो इतिहासज्ञों के अनुमान से राष्ट्रकूट वंशीय हो सकते हैं। इससे और अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में राष्ट्रकूट वंश के राज्य उत्तर प्रदेश में भी थे और गुजरात में भी।

इन पूर्व पुरुषों के पश्चात् राष्ट्रकूट वंश के राजाओं का दक्षिण के शासकों के रूप में निम्नलिखित अनुक्रम उक्त विद्वानों द्वारा निर्धारित किया गया है।

१—दन्ति वर्मा। २—इन्द्र। ३—गोविन्द। ४—कर्क-कक्क (प्रथम) ५—इन्द्र प्रथम—इसका चालुक्य राज की राजकुमारी के साथ विवाह हुआ।

इन पांचों राष्ट्रकूट वंशीय राजाओं के राज्य काल के सम्वन्ध में अद्यावधि कोई ठोस ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं हुआ है।[1]

६—दन्ति दुर्ग—इस राजा के दन्ति वर्मा, खडगावलोक, पृथ्वी वल्लभ, वैर मेघ और साहस तुंग—ये विरुद थे। विरुद के रूप में अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं। इसका राज्य काल अनुमानतः ७३० से ७५३ माना जाता है।

राष्ट्रकूट वंश का यह छठा राजा बड़ा प्रतापी, साहसी और जैन धर्म के प्रति निष्ठा रखने वाला हुआ। इसने ई० सन् ७३० से ७३५ के बीच की अवधि में चालुक्य राजा कीर्ति वर्मा को रणक्षेत्र में पराजित कर राष्ट्रकूट वंश के एक शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। राष्ट्रकूट वंश के राज्य को शक्तिशाली बनाने के कारण इतिहासज्ञ ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में राष्ट्रकूट राज्य का अभ्युदय मानते हैं। श्रवण बेलगोल से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार न्याय शास्त्र

[1] It is only from this point that we have a connection account of the line —B. Lewis Rice EPIGRAFICA Karnataka Vol..................Appendix—B Page 71

के उद्भट विद्वान् महावादी दिगम्बराचार्य अकलंक इस राजा के सम सामयिक आचार्य थे। इस राजा की प्रशंसा में आचार्य अकलंक का निम्नलिखित श्लोक इस शिलालेख में उट्टंकित है :—

राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रंणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
त्वद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो,
नाना शास्त्रविचारचातुरधियः, काले कलौ मद्विधा ।।२१।।[1]

महाराज दन्ति दुर्ग परम जिन भक्त होने के साथ-साथ बड़ा ही शक्तिशाली एवं लोकप्रिय नरेश था। इसकी अजेय एवं दुर्द्धर्ष हस्ति सेना ने रेवा अथवा नर्मदा महानदी के तटवर्ती सुदूरस्थ प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। चालुक्य राजा कीर्ति वर्मा की जिस विजयिनी सेना ने चोलराज, पांड्यराज वज्रट और श्री हर्ष की सेनाओं को पराजित किया था, उस शक्तिशाली कर्णाटकी सेना को भी दन्ति दुर्ग ने रणांगण में छिन्न-भिन्न कर उस पर पूर्ण विजय प्राप्त की।

७—कृष्ण प्रथम—ई० सन् ७५३ से ७७८—यह राष्ट्रकूट वंश के पांचवें राजा इन्द्र का छोटा भाई था। अकाल वर्ष, बल्लभ, शुभतुङ्ग और कन्नर ये उसके उपाधि सूचक अपर नाम भी थे। इसने चालुक्य राज्य के अन्तर्गत शेष रहे और भी अनेक क्षेत्रों पर अपनी विजय पताका फहरा कर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य को अपने अधीन कर लिया। लेख सं. १२३ के अनुसार कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राजवंश से लक्ष्मी को छीन लिया।[2] इसने एलपुर में एक बड़ा ही सुन्दर शिव मन्दिर बनवाया। गोविन्द और ध्रुव अपरनाम धोर नामक इसके दो पुत्र थे।

८—गोविन्द द्वितीय—प्रभूत वर्ष—वल्लभ—यह ई. सन् ७७८ में राष्ट्रकूट राज-सिंहासन पर बैठा। इसका शासन थोड़े ही वर्षों तक रहा और इसका लघु भ्राता ध्रुव इसे सिंहासनच्युत करके स्वयं राजा बन गया। शक सं० ७०५ ई. सन् ७८३ में तो सुनिश्चित रूप से इसका शासन था। यह आचार्य जिनसेन द्वारा अपने ग्रन्थ 'हरिवंश पुराण' में किये गये इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि उन्होंने शक सं० ७०५ में राष्ट्रकूट वंशीय राजा गोविन्द द्वितीय के राज्यकाल में इस ग्रंथ की रचना की। इसने अपने कुछ वर्षों के शासन काल में भी राष्ट्रकूट राज्य का उल्लेखनीय विस्तार किया। इसके सोरव तालुक से ई० सन् ७९७ से ई० सन् ८०० की बीच की अवधि के ५ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि इसके छोटे भाई ने, इसे राष्ट्रकूट राज्य के सिंहासन से च्युत करने के उपरान्त भी सोरव क्षेत्र के स्वतन्त्र राजा के रूप में इसे रखा हो।

[1] जैन शिला लेख संग्रह, भाग १, लेख सं. ५४ पृष्ठ १०४

[2] जैन शिला लेख संग्रह भाग २, पृष्ठ १२५ श्लोक सं. ३

९—ध्रुव-धोर-धारा वर्ष-निरुपम-कलिवल्लभ-इद्धतेजस । अपने बड़े भाई गोविन्द द्वितीय को सिंहासनच्युत कर राज-सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् इसने ई० सन् ७९४ तक शासन किया । यह बड़ा ही साहसी एवं युद्ध शौण्डीर राजा था । उपरिवर्णित लेख सं० १२३ में इसके विजय अभियानों के उल्लेखों में बताया गया है कि ये अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में कभी किसी से भी परास्त नहीं हुए । सदा अविजेय गंगो को पराजित किया और पल्लवों, गोड़ों एवं वत्सराज को भी रणांगण में हतप्रभ कर परास्त किया और इसने अपने बड़े पुत्र कम्ब को गंग प्रदेश दिया और छोटे पुत्र गोविन्द को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया । इसके शासन काल में राष्ट्रकूट राज्य की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई ।

१०—गोविन्द तृतीय-प्रभूतवर्ष-जगत्तुंग-वल्लभ नरेन्द्र-श्री वल्लभ-पृथ्वी-वल्लभ-अतिशय धवल-कीर्तिनारायण । इसका शासन काल ई० सन् ७९४ से ८१४ तक रहा । यह राष्ट्रकूट वंश के अपने सभी पूर्वज राजाओं से बड़ा शक्तिशाली एवं अधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ । इसने राज-सिंहासन पर आरूढ़ होते ही दिग्विजय का अभियान आरम्भ किया । इस विजय अभियान में उसने अपने समय के बारह शक्तिशाली एवं विख्यात राजाओं से संघर्ष कर उनकी सैन्य शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया । केरल, मालवा, गुजरात, चित्रकूट (बुन्देल खण्ड) के विन्ध्याद्रि, पल्लव, शान्तर एवं वेंगी के चालुक्य राज आदि राजाओं को युद्ध में परास्त कर अपने राष्ट्रकूट वंश के राज्य की सीमाओं का विन्ध्य से लेकर काञ्ची तथा मालवा से लेकर गुजरात तक विस्तार कर लिया । गुजरात के अन्तर्गत लाया हुआ नव विजित लाट प्रदेश—इसने अपने लघु भ्राता इन्द्रराज को प्रदान कर उसे वहां का शासक बना दिया ।

गोविन्द तृतीय ने अपने पिता ध्रुव द्वारा अनेक वर्षों से बन्दी बनाये गये गंगवंश के सत्रहवें राजा शिवमार को मुक्त कर दिया था, किन्तु उसकी राष्ट्रकूट राज्य विरोधी गतिविधियों से अप्रसन्न हो उसने उसे पुनः बन्दी बना लिया । कालान्तर में उसने पल्लव राजा नन्दिवर्मा के स्थान पर गंगराजा शिवमार को पुनः राज्य सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया ।

राष्ट्रकूट वंशी इस राजा ने शक सं० ७३५ (वि० सं० ८७०) में अपने गंग वंशीय सामन्त चाकिराज की प्रार्थना पर जाल मंगल नामक एक गाव यापनीय संघान्तर्गत नन्दिसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के यापनीय आचार्य अर्ककीर्ति को दान स्वरूप प्रदान किया । अर्ककीर्ति ने इनके सामन्त विमलादित्य को शनि की पीड़ा से उन्मुक्त किया था ।[१]

---

[१] जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या १२४

इसके शासनकाल में उसके बड़े भाई कम्ब का गंग प्रदेश पर राज्य रहा। ई. सन् ८०७ में जिस समय कम्ब का तलवन नगर में शिविर था, उस समय उसने अपने पुत्र शंकर गरण की प्रार्थना पर जैनाचार्य वर्द्धमान को एक ग्राम का दान दिया।[1]

उपरिचर्चित लेख संख्या १२३ के उल्लेखानुसार गोविन्द तृतीय की आज्ञा से रजावलोक शौच कम्मदेव (गोविन्द तृतीय के भाई) ने पेर्व्वडियूर नामक ग्राम को कर विमुक्त कर महासामन्त श्री विजय द्वारा निर्मापित मान्यपुर (मलखेड़) के दक्षिणी भाग में अवस्थित जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर के लिये कोंण्ड कुन्दान्वय शाल्मली गरण के तोरणाचार्य के प्रशिष्य आ. प्रभाचन्द्र को शक सं. ७२४ ई. सन् ८०२-८०३ में दान में दिया। इसने मयूर खण्डी (मोर खण्ड) नासिक के अन्तर्गत राजधानी में रहते हुए शासन किया।

११. अमोघवर्ष प्रथम—सर्व (कक्क)—नृपतुंग (ई. सन् ८१४-८७५)—इसने मान्यखेट को अपने राज्य की राजधानी बनाया। इसने युद्ध क्षेत्र में चालुक्यों को करारी हार दी जिससे विवश हो चालुक्यों को विंगुवल्ली में इसके साथ सन्धि करनी पड़ी। इसने शान्तर (शिलाहार) राजवंश के राजा कपर्दि को कोंकण का क्षेत्र भेंट स्वरूप प्रदान किया। यह बहुत बड़े भूभाग का सार्वभौम सत्ता सम्पन्न शक्तिशाली शासक था। गृह कलह के परिणामस्वरूप इसके राज्य में तीन बार भयंकर विद्रोह हुए किन्तु इसने उन सभी विद्रोहों को कुचल दिया। तीसरा विद्रोह बड़ा ही उग्र था। क्योंकि इस विद्रोह में अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय ने भी प्रारम्भ में विद्रोहियों का साथ दिया था। अमोघवर्ष ने अपने सामन्त बनवासी के शासक बंकेय को इस विद्रोह का दमन करने की आज्ञा प्रदान की। बंकेय के रणांगण में पहुंचते ही कृष्ण (द्वितीय) ने विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया और बंकेय ने विद्रोहियों के दुर्ग को अपने रण कौशल से जीत कर विद्रोह को कुचल दिया। बंकेय ने अनेक विद्रोहियों को बन्दी बना लिया और अनेक को मौत के घाट उतार दिया। बंकेय के इस अद्भुत शौर्य से प्रसन्न हो अमोघवर्ष ने उसे शक सं. ७७२ (ई. सन् ८६०) में जब कि वे मान्यखेटपुर में सेना का पड़ाव डाले हुए थे, बंकेय द्वारा कोलनूर निर्मापित जिन मन्दिर के लिए तलेयूर नामक पूरा ग्राम और कतिपय अन्य ग्रामों की कृषि योग्य भूमियां देवेन्द्र मुनि को दान स्वरूप प्रदान की।[2] इस बंकेय के नाम पर बंकापुर बसाया गया। उत्तर पुराण के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रकूट वंश का ११वां राजा यह अमोघवर्ष जैन धर्म का प्रबल संरक्षक

---

[1] मैसोर ग० रिपोर्ट सन् १९२० पृ० ३

[2] जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. २४१-२५० लेख सं० १२७

जैन धर्मानुयायी एवं परम जिनभक्त था।[१] अमोघवर्ष के धर्म गुरु संघ के भट्टारक जिन सेनाचार्य थे जिन्होंने शक सं. ७५९ (वि. सं. ८९२) ई. सन् ८३७ में कषाय प्राभृत पर जय धवला नामक विशाल टीका ग्रंथ की रचना की। इन्होंने आदि पुराण और पार्श्वाभ्युदय नामक काव्य ग्रंथ की भी रचना की। उत्तर पुराण में गुणभद्राचार्य के उल्लेखानुसार राजा अमोघवर्ष अपने गुरु जिन सेनाचार्य को प्रणाम कर अपने आपको धन्य मानता था। महाराजाधिराज अमोघवर्ष परम जिन भक्त होने के साथ एक समर्थ कवि और उद्भट विद्वान भी था। उसने रत्नमालिका (प्रश्नोत्तर मालिका) और 'कविराजमार्गालंकार' नामक दो ग्रन्थों की रचना की। प्रश्नोत्तरमालिका का उस समय तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया था। यह दक्षिण से उत्तर तक लोकप्रिय रही।[२] रत्नमालिका में स्वयं अमोघवर्ष ने निम्न-लिखित पद्य द्वारा संसार से स्वयं के विरक्त होने और राजसिंहासन के त्याग का उल्लेख किया है :—

विवेकात्त्यक्त राज्येन, राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण, सुधियां सदलंकृतिः॥

इस उल्लेख से अनुमान किया जाता है कि अमोघवर्ष ने राज्य-पाट को स्वेच्छापूर्वक त्यागकर मुनिधर्म स्वीकार किया हो। इस राजा के शासनकाल में दक्षिणापथ के सुविशाल क्षेत्र में जैन धर्म की उल्लेखनीय उन्नति हुई।

१२. कृष्ण द्वितीय-अकालवर्ष-कन्नर-कन्दरवल्लभ—कृष्णवल्लभ—शुभतुंग-परमेश्वर-परम भट्टारक-पृथ्वीवल्लभ-ई. सन् ८७५—९१२ त्रिपुरा अथवा तेवार के चेदिवंश की कलचूरी शाखा के राजा कोक्कल की राजकुमारी से इसका विवाह हुआ। पूर्वी चालुक्यों के साथ इसका युद्ध चलता रहा। लेख संख्या १४० के अनुसार नागर खण्ड सत्तर के सामन्त सत्तरस नागार्जुन की मृत्यु हो जाने पर इस राजा ने उसकी पत्नी जक्कियब्बे को आवुतवुर और नागर खण्ड शत्तर का राज्य प्रदान किया। लगभग ६ वर्ष तक जक्कियब्बे वहां शासन करती रही। उसने जक्कवि के जिन मन्दिर को ७ मत्तल चावल की भूमि प्रदान की और अन्त में ई. सन् ९१८ में उसने श्रवण बेलगोल में जाकर संल्लेखनापूर्वक समाधि मरण का वरण किया।

१३. गोविन्द चतुर्थ-जगत्तुंग-प्रभूत वर्ष (ई. सन् ९१२—९१३)। इसका पहला विवाह अपने मामा रण विग्रह (कोक्कल चेदिराज) की पुत्री लक्ष्मी से और दूसरा विवाह शंकर गण (संभवतः रण विग्रह के छोटे भाई) की पुत्री गोविन्दम्मा से हुवा।

---

१ Amoghavarsha I was the Greatest patron of the Digambara Jains and there is no reason to doubt that he..
Studies in south Indian Jainism by Ms Ramaswami & B Rao chapter VII

२ JBBRAS XXII, Page 80

१४. इन्द्र-नीति वर्ष-(ई. सन् ६१६–६३०) इसका विवाह भी इसके मामा अम्मन (अर्जुन के पुत्र और कोक्कल के पौत्र) की पुत्री द्विजाम्बा से हुवा। इसने कन्नोज पर आक्रमण कर कुछ समय के लिए वहाँ के राजा महिपाल को राजसिंहासन से अपदस्थ कर दिया।

१५. गोविन्द-सुवर्ण वर्ष-वल्लभ नरेन्द्र-गोज्जिग-नृपतुंग-वीरनारायण-रट्ट-कन्दर्प। इसका शासन ई. सन् ६३० से ६३३ तक रहा।

१६. कृष्ण..............यह १३वें राजा जगत्तुंग (कृष्ण चतुर्थ) का पुत्र था। यह ई. सन् ६३३ में राष्ट्रकूट राज्य के सिंहासन पर बैठा। इसका राज्य कब तक रहा, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

१७ अमोघवर्ष (कृष्ण का छोटा भाई)–इसका विवाह त्रिपुरा के कलचुरी वंश के युवराज की पुत्री कुन्दक देवी से हुआ। इसके राज्यकाल का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इसके पश्चात् इसका बड़ा पुत्र खोट्टिग राजसिंहासन पर आसीन हुवा।

१८, खोट्टिग-कोट्टिग-नित्यवर्ष-इसके कोई सन्तति नहीं हुई अतः ई. सन् ६४५ में इसके पश्चात् इसका छोटा भाई कृष्ण राष्ट्रकूट राज्य के राज्य सिंहासन पर बैठा।

१६. कृष्ण (खोट्टिग का छोटा भाई) कन्नर, अकालवर्ष और निरुपम-ये उपाधि परक नाम भी इसके उपलब्ध होते हैं। इसका शासन काल ई. सन् ६४५ से ६५६ तक रहा। इस राजा के समय में सोमदेव, पुष्पदन्त, इन्द्रनन्दि आदि अनेक वड़े-वड़े जैनाचार्य हुए। यह राष्ट्रकूट वंश का एक प्रतापी राजा था। इसने राजादित्य चोल को ई. सन् ६४६ में युद्ध में परास्त किया। संभवतः शैव धर्मावलम्बी चोलों के अत्याचारों से पीडित जैन संघ की रक्षार्थ यह युद्ध हुआ होगा, ऐसा विद्वानों द्वारा अनुमान किया जाता है। इसके शासन काल में कलचुरी राजा वल्लाल जैन धर्म का परित्याग कर शैव बन गया और जैन संघ पर अत्याचार करने लगा। इस राजा कृष्ण ने अपने साले मारसिंह (गंग वंश के २४ वें राजा) को संभवतः उसके यौवराज्य काल में बड़ी सेना देकर वल्लाल पर आक्रमण किया। गंग युवराज मारसिंह ने वल्लाल को पराजित कर ठीक उसी प्रकार जैन संघ की रक्षा की जिस प्रकार कि भिक्खुराय खारवेल ने पुष्यमित्र शुंग पर आक्रमण कर जैनों की रक्षा की थीं।[१]

२०. कक्क-कर्क द्वितीय-अमोघवर्ष-कक्कल-कर्कर-वल्लभ नरेन्द्र-नृपतुंग ई. सन् ६५६–६७२। इसने गूर्जरों, हूणों, चोलों और पाण्ड्यों पर विजय प्राप्त की

---

१ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृ. १६–२१ लेख संख्या ३८

किन्तु ई. सन् ९७२ में धारा के परमार राजा हर्ष सियाल क द्वारा परास्त हो गया ।[1] इसकी पुत्री जकब्बे अपर नाम जाकलदेवी इसी चालुक्यराज तैल को व्याही गई थी ।

राष्ट्रकूट वंश के २०वें राजा कर्क-अमोघवर्ष की पराजय एवं राष्ट्रकूट राज्य की राजधानी मान्यखेट के पतन के साथ ही जैन धर्म के प्रबल पोषक राष्ट्रकूट वंश के शक्तिशाली साम्राज्य का सूर्य अस्त प्रायः हो गया ।

कवि धनपाल ने अपनी महत्वपूर्ण कृति "पाइय लच्छी नाम माला" नामक ग्रंथ की प्रशस्ति में राष्ट्रकूट राज्य के अंत एवं मान्य खेट के पतन की इस ऐतिहासिक घटना का काल निर्देश के साथ निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :—

विक्कम कालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्संमि ।
मालवनरिंद धाडीए लूडिए मन्नखेडंमि ।।
धारा नयरीए परिठिएंण, मग्गे ठियाए अणवज्जे ।
कज्जे कणिठ्ठ बहिणीए, सुंदरी नाम धिज्जाए ।
कइणो अंधजंण किंवा कुसलत्ति पयाणमंतिया वण्णा ।
नामंमि जस्स कमसो,तेणेसा विरइया देसो ।।

राष्ट्रकूट वंश के राजाओं की राजधानी मान्यखेटपुर के पतन के समय के इस प्राचीन उल्लेख से भी इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि होती है कि राष्ट्रकूट वंश का दक्षिण में जो जैन धर्म पोषक एवं शक्तिशाली राज्य था वह विक्रम सं० १०२९ ई० सन् ९७२ में समाप्त हो गया ।

मान्यखेटपुर के पतन पर अपभ्रंश, संस्कृत और जैन दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित महाकवि पुष्पदंत ने अपने अन्तस्तल के शोकोद्गार प्रकट करते हुए बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा है :—

दीनानाथधनं सदा वहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,
मान्याखेटपुरं पुरन्दरपुरीलीलाहरं सुन्दरम् ।
धारानाथ नरेन्द्र कोपशिखिना, दग्धं विदग्धप्रियं ।
क्वेदानींवसतिं करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः ।।

---

१ तत्र क्षितीशे नृपतिप्रदीपे, प्रचण्ड तैलप्प समीरणेन ।
विध्यापिते दुष्पमकाल भावात्, कथावशेषे नति रट्ट राज्ये ।।१४।।
शिलाहार राजा अपराजित द्वारा दिये गये दान का ताम्रपत्र शक सं. ९१५ ई. सन् ९९३
Important Inscription, from the Baroda State, Vol I, Page ..

जो मान्य खेटनगर दीन दुखियों एवं अनाथों का आशा केन्द्र कल्पतरु और बहुजन संकुल था, जिसकी पुष्पवाटिकाएं सदा पुष्पों से सुरभित एवं हरी भरी रहती थी, जो अपनी अनुपम शोभा से सौन्दर्य में अलकापुरी को भी तिरस्कृत करता था, वह विद्वद्वृन्द का प्राणों से प्रिय पुर आज धाराधिपति के कोपानल से जल गया है। हा ! अब पुष्पदंत कवि कहां निवास करेगा ?

हर्ष सियाक के लौट जाने पर गंगराज मारसिंह द्वितीय ने खोटिंग को ई. सन् ९७३ में पुनः मान्यखेट के सिंहासन पर बैठाया। किन्तु कुछ ही दिनों तक राज्य करने के पश्चात खोटिंग की मृत्यु हो गई और खोटिंग का भतीजा (कृष्ण का पुत्र) कर्क द्वितीय ईस्वी सन् ९७३ में राज्य सिंहासन पर बैठा। कुछ ही महीने पश्चात् चालुक्यराज तैल द्वितीय ने कर्क द्वितीय को पराजित कर मान्यखेटपुर पर अधिकार कर लिया। कृष्ण तृतीय ने कर्क को तरदावादि की जागीर प्रदान की और वह वहीं रहने लगा।

इस प्रकार जैन धर्म के प्रबल पोषक, दीन दुखियों और अनाथों के आशा केन्द्र महाकवियों एवं विद्वानों के आश्रयदाता राष्ट्रकूट वंश के राजाओं के अन्त एवं मान्यखेट के पतन के साथ ही दक्षिण में जैन संघ का एक बहुत बड़ा सबल सम्बल समाप्त हो गया। राष्ट्रकूट वंश के सुदीर्घ शासनकाल में दक्षिणापथ में जैन धर्म उल्लेखनीय रूपेण पुष्पित-पल्लवित और उत्तरोत्तर अभ्युत्थान के पथ पर अग्रसर हो रहा था। राष्ट्रकूट राजवंश के राज्य के समाप्त होते ही न केवल उसकी प्रगति में अवरोध आया अपितु उत्तरोत्तर उसका ह्रास होना आरम्भ हो गया।

यद्यपि ई० सन् ९७२ (वि० सं० १०२९) में मान्य खेट के पतन के साथ ही राष्ट्रकूट वंश का राज्य समाप्त हो गया तथापि इस वंश के २० वें राजा कर्कराज के पुत्र २१ वें राष्ट्रकूट वंशीय राजा इन्द्र का नाम ई० सन् ९८२ तक उपलब्ध होता है।[1]

लेख सं० ३८ में उल्लेख है कि गंगवंश के २४ वें राजा मारसिंह द्वितीय ने राष्ट्रकूट वंश के २० वें राजा कर्क के पुत्र इन्द्र का राज्याभिषेक किया, जो मारसिंह द्वितीय का भानजा था।

लेख सं० ५७ में उल्लेख है कि इन्द्रराज गंगगाङ्गेय (सत्य वाक्य राचमल्ल की उपाधि) का दौहित्र और राजा राज चूडामणि का दामाद था।[2] राजा इन्द्र

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या ३८ व ५७

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, के शक सं० ९०४ (ई० सन् ९८२) के लेख संख्या ५८ में उल्लेख है कि राजा राज चूड़ामणि मार्गण्डे मल्ल ने अपने एक भावन गन्ध हस्ति नामक वीर योद्धा को उसके अनुपम शौर्य के उपलक्ष में अपनी सेना का नायक बनाया था।

राज रट्ट कन्दर्प, राज मार्तण्ड आदि अनेक उपाधियों से विभूषित था। वह घोड़े पर बैठकर दण्ड से गेंद का खेल खेलने वालों में परम निष्णात और अद्वितीय था। इन्द्रराज ने शक सं० ६०४ (ई० सन् ६८२) की चैत्र शुक्ला ८ को भोमवार के दिन समाधि मरण का वरण किया।

गन्धवारणवस्ति के इस स्तम्भ लेख से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आते हैं। पहला तो यह कि आज से १००० वर्ष पहले आजकल के पोलो जैसा कोई खेल खेला जाता था। उस खेल में अनेक अश्वारोही दण्ड से गेंद खेलते थे।

दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य यह प्रकाश में आता है कि ई. स. ६७२ में राष्ट्रकूट वंश के राजाओं की राजधानी मलखेड़ के पतन के पश्चात् भी राष्ट्रकूट वंश का दक्षिण में कर्णाटक के किसी भू-भाग पर ई. सन् ६८२ तक शासन रहा।

२१–इन्द्र–रट्ट कन्दर्प देव–राज मार्तण्ड-कालिक कोलमण्ड आदि-आदि अनेक विरुदों का धारक इन्द्र नामक राजा हुआ। इन्द्र ने श्रवण वेलगुल में ई. सन् ६८२ में संल्लेखना-समाधि पूर्वक प्राणों का परित्याग किया। इन्द्र के पश्चात् कर्णाटक में इस राजवंश के अन्य राजा का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

राष्ट्रकूट वंशी राजाओं के शासन काल में जैन धर्म एवं जैन संघ के साथ-साथ जैन साहित्य की भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। अकलंक की 'अष्टशती', विद्यानन्दि की 'अष्टसहस्री', माणिक्य नन्दि का 'परीक्षामुख सूत्र', इस पर प्रभाचन्द्र का विशद टीका ग्रन्थ 'प्रमेय कमल मार्तण्ड', मल्लवादी का नय चक्र, वीरसेन का पट्खण्डागम पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला नामक महान ग्रन्थ, वीर सेन और जय सेन का कषाय पाहुड़ पर 'जय धवला' नामक महान टीका ग्रन्थ, जिन सेन और गुण भद्र का आदि पुराण, जिन सेन का 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य, गुण भद्र का 'उत्तर पुराण' और आत्मानुशासन, राष्ट्रकूट वंशी महाराजा अमोघवर्ष का 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तर मालिका', अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त का 'महापुराण' और 'यशोधर काव्य', सोमदेव का 'यशस्तिलक चम्पू', वादीभ सिंह उदय देव का 'क्षेत्र चूड़ामणि' एवं 'गद्य चिन्तामणि', इन्द्रनन्दि का लोक प्रिय 'ज्वाला मालिनी स्तोत्र' आदि जैन साहित्य महोदधि के ग्रन्थ रत्न इसी राष्ट्रकूट वंश के राज्य काल की दिव्य देन हैं। राष्ट्र कूट वंश के राजाओं के शासन काल में पम्प, रत्न, आसग, चामुण्ड राय आदि कन्नड़ भाषा के जैन कवियों ने कन्नड़ भाषा में अभिनव उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण कर कन्नड़ को समृद्ध भाषा बना संसार की प्रतिष्ठित भाषाओं में उसे स्थान दिलाया। जैन साहित्य के निर्माण की दृष्टि से राष्ट्रकूट वंशी राजाओं के शासन काल को साहित्य सृजन का स्वर्ण-युग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

होय्सल राजवंश

ई० सन् ९७२ में चालुक्य राज तैल द्वारा राष्ट्रकूट वंश के २० वें राजा कर्क राज द्वितीय (अपर नाम अमोघ वर्ष, वल्लभ नरेन्द्र, नृपतुंग) के पराजित होने और राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्य खेट (मलखेड़) के पतन के पश्चात् जैन संघ कुछ समय तक राज्याश्रय से वंचित रहा। वह समय वस्तुतः धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का युग था। सुदीर्घावधि से राज्याश्रय प्राप्त जैन संघ जब ईसा की दशवीं शताब्दि के अन्तिम चतुर्थ चरण में राज्याश्रय विहीन हो गया तो शैवों एवं वैष्णव धर्मावलम्बियों ने राज्याश्रय प्राप्त कर जैन संघ के प्रचार-प्रसार में अनेक प्रकार के अवरोध उपस्थित करने का क्रम प्रारम्भ कर दिया। अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में उपस्थित किये गये अवरोधों के परिणामस्वरूप दक्षिण का प्राचीन और सबल जैन संघ शनैः शनैः क्षीण होने लगा।

जैन धर्म के इस प्रकार के ह्रासोन्मुखी प्रवाह को पुनः पूर्ववत् विकासोन्मुख कैसे बनाया जाय, क्या-क्या उपाय किये जायं—यह एक ज्वलन्त समस्या जैन संघाग्रणियों के समक्ष उपस्थित हुई। मनीषी आचार्यों ने इस समस्या के समाधान के लिये चिन्तन किया। तत्कालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में विचार मन्थन करते-करते इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि कटुतापूर्ण धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता एवं धार्मिक असहिष्णुता के युग में दृढ़ जैन धर्मावलम्बी किसी सशक्त राजा का राज्याश्रय प्राप्त करके ही इस प्रकार के संक्रान्ति काल में अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा राज्याश्रय के बल पर किये जाने वाले जैन धर्म के ह्रास को रोक सकते हैं।

जैन धर्म के अभ्युत्थान के उत्कट आकांक्षी अनेक मनीषी उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जब कि कोई पुरुषसिंह जैन संघ के उत्कर्ष की आन्तरिक उत्कट आकांक्षा लिये अभिनव राज्य शक्ति के साथ उभर कर आगे आवे।

परोपकारैक व्रती मनस्वी महात्माओं की आन्तरिक अभिलाषाएं अधिक समय तक अपूर्ण नहीं रहती, वे लम्बी प्रतीक्षा न करवा स्वल्पावधि में ही पुष्पित-पल्लवित हो वृहदाकार धारण कर विराट स्वरूपा हो जाती हैं।

राज्याश्रय से वंचित जैन संघ को संरक्षण प्रदान करने वाला कोई उदीयमान नर शार्दूल आगे आये और एक सुदृढ़ प्रबल राज शक्ति के रूप में उदित हो जिन धर्म को राज्याश्रय प्रदान करे—इस प्रकार की उत्कट अभिलाषा को अन्तर्मन में संजोये सुदत्त नामक एक जैनाचार्य विकट वन्य प्रदेश में अङ्गड़ि नामक स्थान पर साधना निरत थे। उस समय एक यादव वंशी किशोर वय का राजकुमार उस स्थान पर आया। उसने भक्ति सहित आचार्य सुदत्त को वन्दन किया और उनके सम्मुख बैठ गया। आचार्य देव के इंगित पर उसने अपना नाम सल बताया।

मुनीन्द्र ने मन ही मन विचार किया कि इस क्षत्रिय किशोर में उनकी आशाओं के अनुरूप सभी शुभ लक्षण विद्यमान हैं। इस प्रकार विचार कर वे पुनः पद्मावती देवी की साधना में लीन हो गये और क्षत्रिय राज किशोर उनके मुखार विन्द की ओर अपलक निहारता हुआ उनके समक्ष बैठा रहा। कुछ ही क्षणों के अनन्तर सिंह की गर्जना से वह स्थान गुंजरित हो उठा। ध्यान के पारण के साथ ज्यों ही आचार्य सुदत्त ने पलकें खोली तो देखा कि एक कराल केसरी सिंह उन दोनों की ओर झपटा चला आ रहा है। अपने स्थान पर निर्भय अडोल बैठे क्षत्रिय कुमार को सम्बोधित करते हुए मुनीन्द्र सुदत्त ने उस प्रदेश की भाषा में कहा—"पोय स ल।" अर्थात् "सल इसे मारो।"

आचार्य देव की आज्ञा को शिरोधार्य कर राज किशोर सल ने सुदत्ताचार्य की ओर छलांग मारते हुए शेर को एक ही बार में ढेर कर सदा के लिये धराशायी कर दिया।

यदुवीर सल के अनुपम शौर्य और अद्भुत् साहस को देख कर आचार्य सुदत्त की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। उन्हें विश्वास हो गया कि यह पराक्रमी पुरुष नवीन राज्य की स्थापना करने में और राज्य का स्वामी होने के पश्चात् जैन संघ को समुचित संरक्षण देने में भी सर्वथा सक्षम है। आचार्य सुदत्त ने उसी समय से उस यादव किशोर को "पोय् सल" के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया।[1] इस कारण यह यादव राज़ वंश पोय्सल और कालान्तर में होय्सल नाम से विख्यात हुआ।

आचार्य सुदत्त और जैन संघ की सहायता से पोय् सल ने चालुक्यों के पतन के समय उनके राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर ई० सन् १००४ के आस-पास पोय्सल (होय्सल) राज्य की स्थापना की।[2]

जैन शिलालेख संग्रह भाग १ के लेख सं० ५६, पृष्ठ सं० १२३-१२६, लेख संख्या ४६४, ४६५ (पृ. सं. ४०२-४११) और जैन शिला लेख संग्रह भाग २ के लेख सं० ३०१ (पृष्ठ सं० ४७१ से ४८२) में भी पोय्सल राजवंश के अभ्युदय के सम्बन्ध में लेख संख्या ४५७ से प्रायः मिलता-जुलता वर्णन किया गया है किन्तु इनमें सुदत्त मुनि का नामोल्लेख न कर उनके स्थान पर केवल "किसी मुनि" का ही उल्लेख है। इन लेखों में पोय्सल अथवा होय्सल वंश की उत्पत्ति मूलतः ब्रह्मा से बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा से अत्रि, अत्रि से सोम, उनसे पुरुरवा उनसे आयु, आयु से

---

१ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख सं० ४५७ पृष्ठ ३०१-३०६

२ The Hoyasalas came to power on the subversion of the Gangas by the Cholas, in 1004 A. D.—Studies in south Indian jainism by M. S. Ramaswami Ayyangar & B. Sheshgiri Rao, Chapter VII

नहुष, नहुष से ययाति और ययाति से महाराज यदु उत्पन्न हुए। महाराजा यदु की राजवंश परम्परा में अनेक राजाओं के पश्चात् पोय्सल राज्य संस्थापक यादव सल का जन्म हुआ। सल की राज्य श्री की अभिवृद्धि के संकल्प के साथ एक जैनाचार्य ने मन्त्रों द्वारा शशकपुर की पद्मावती देवी को प्रसन्न करने के लिए साधना प्रारम्भ की। एक दिन वे जैनाचार्य जब साधना में निरत थे और यादववंशी सल उनके पास बैठा हुआ था, उस समय एक चीते ने जैनाचार्य की साधना को भंग करने हेतु उन पर आक्रमण किया। उस समय मुनिराज ने अपने चामर पिच्छ की मूठ सल को थमाते हुए उसे कहा—"पोय् सल।" अर्थात्—सल! इसे मारो। सल ने तत्काल उस चीते को मार दिया। उसी समय से सल का नाम पोय्सल और उसके परम्परागत यादव राजवंश का नाम "पोय्सल" लोक प्रसिद्ध हो गया। सल ने अपनी राज्य-पताका पर चीते का चिह्न लगाया।[1] उसी समय वहां अंगडि नामक स्थान के चारों ओर दूर दूर तक बसन्त ऋतु हो गई अथवा वसन्त ऋतु का आगमन हो गया। पोय्सल ने इसे यक्षी (पद्मावती देवी) का कृपा प्रसाद समझ कर उसका वासन्ति देवी के नाम से पूजन किया। यही पद्मावती देवी सल के समय से ही पोय्सल राजवंश की कुल देवी के रूप में विख्यात हुई। वर्तमान काल में भी वहां वासन्ति देवी का मन्दिर विद्यमान है। हसन ताल्लुके के कोन्नावर नामक ग्राम के केशव मन्दिर में ई० सन् ११२३ का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है। उस शिला-लेख में इस घटना का विवरण निम्नलिखित रूप में उपलब्ध है "सल नामक एक यदुवंशी राजा सह्याद्रि की ढालू पहाड़ियों के मार्ग से निकल रहा था उस समय उसने देखा कि एक सिंह एक साधनारत जैन मुनि की ओर झपट रहा है। मुनि ने सल के शौर्य की परीक्षा हेतु कहा:—"सल! इसे मारो।" सल ने तत्काल कटार के एक ही वार से सिंह को मार डाला। मुनि ने प्रसन्न हो उसे पोय्सल नाम देने के साथ-साथ अपनी पताका पर सिंह का चिह्न लगाने का परामर्श भी दिया।"

इस प्रकार कर्णाटक प्रान्त के पश्चिमी घाट की पहाड़ियों के प्रदेश में कादुर जिले के मुदेगेरे ताल्लुक में जो अंगडि नामक स्थान है, वही जैन धर्म के शक्तिशाली संरक्षक, परम जिन भक्त एवं निष्ठावान जैन धर्मानुयायी पोय्सल राजवंश का उद्-भव स्थान है। श्री लुइस राइस के अभिमतानुसार प्राचीन काल में यह अंगडि नामक स्थान सोसे वूर अथवा शशकपुर के नाम से विख्यात था। यहां यह उल्लेखनीय है

---

[1] (क) Ibid Hn. ११६ ई० सन् ११२३ पृष्ठ ३३, Ibid (ii) १३२, पृष्ठ ५८, Ibid VBL १७१ ई० सन् ११६० पृष्ठ १०० पर स्पष्ट उल्लेख है—सल! इसे मारो! सल ने शेर को एक ही वार में सदा के लिये सुला दिया, दूसरी बार झपटने का अवसर ही नहीं दिया।

(ख) लेख संख्या ५६ में उल्लेख है कि सल ने अपने मुकुट पर सिंह का चिह्न धारण किया। देखिये—जैन शिलालेख संग्रह भाग १ पृष्ठ १२६

कि अंगडि ग्राम वस्तुतः पश्चिमी घाट की पहाड़ियों के ढलान वाले प्रदेश में अवस्थित है।

पश्चिमी चालुक्य वंश के राजा तैल द्वारा जैन धर्म के प्रबल संरक्षक राष्ट्रकूट वंश के मलखेड राज्य का अन्त कर दिये जाने के पश्चात् दक्षिण में जैन संघ के राज्याश्रय विहीन हो जाने के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की कठिनाइयों का साक्षात्कार करने के साथ-साथ अन्य धर्मावलम्बी राजाओं एवं अजैन प्रजा में उग्ररूप से बढ़ती हुई धार्मिक असहिष्णुता के फल स्वरूप जैन संघ का न केवल विकास ही अवरुद्ध हुआ अपितु उसका शनै-शनै ह्रास भी होने लगा था। उस सब से होय्सल राजवंश जैसे जैन धर्म के प्रबल समर्थक एवं संरक्षक शक्तिशाली राज्य के अभ्युदय से जैन संघ को बड़ी भारी शान्ति मिली। होय्सल राज्य का बल पाकर जैन संघ का मनोबल बढ़ा और वह पुनः द्विगुणित उत्साह एवं गति से अभिवृद्ध होने लगा। होय्सल राजवंश और जैनसंघ— दोनों ही एक दूसरे की अभिवृद्धि को अपनी अभिवृद्धि समझकर परस्पर एक दूसरे की उन्नति-अभिवृद्धि के लिये होय्सल राज्य के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पूर्णतः प्रयत्नशील रहे। होय्सल राजवंश के राजाओं ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसके वर्चस्व की अभिवृद्धि तथा जैन संघ पर किसी प्रकार के संकट के उपस्थित होने पर उस संकट से जैन धर्म की रक्षा के लिये अनेक उल्लेखनीय कार्य किये—इस बात की मूक साक्षी दक्षिणापथ के विभिन्न क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध प्राचीन शिलालेख, ताम्र पत्र, वसदियां, मन्दिर और भव्य जिन भवनों के ध्वंसावशेष वर्तमान युग में भी देते हैं।

जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठावान् जैन धर्म के प्रबल समर्थक एवं शक्तिशाली संरक्षक तथा परम जिन भक्त होय्सल राजवंश के राजाओं का अथ से इति तक का संक्षिप्त परिचय यहां इस अभिप्राय से दिया जा रहा है कि आज के युग का प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी तीर्थंकर कालीन राजाओं का स्मरण दिलाने वाले इन होय्लस राजाओं के धर्म प्रेम से प्रेरणा लेकर दृढ़ संकल्प के साथ जिन शासन की सेवा का व्रत ले सके।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस राजवंश का होय्सल नाम वस्तुतः सुदत्त नामक एक जैनाचार्य का दिया हुआ है। मूलतः इस राजवंश के राजागण यादव वंशी थे। यद्यपि कोई पूर्णतः स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु सोरब में दण्डवती नदी के पूर्वीय तट पर अवस्थित अवभृत मण्डप के स्तम्भ पर के शक सं० ११३० के लेख सं० ४५७ (जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३) की प्रारम्भिक तीसरी पंक्ति से दसवीं पंक्ति में जो इस प्रकार का उल्लेख है कि कुन्तल देश के वनवासे प्रदेश और जलधि परिवेष्टित अन्यान्य प्रदेशों का स्वामी यदुकुल के नन्द को कुन्तल देश का वनवास प्रदेश देना चाहता था—उसे देखते हुए अनुमान किया

जाता है कि पोय्सल राजवंश का संस्थापक यादव वंशी सल मैसूर के शिकारपुर जिले के अन्तर्गत अंगडि (शशकपुर) क्षेत्र का संभवतः चालुक्यों का अधीनस्थ सामन्त था। होय्सल राज्य का संस्थापक और इस राजवंश का प्रथम राजा वही यादव राज सल माना गया है। होय्सल राजा सल और उसके वंश के राजाओं का क्रमिक विवरण प्राचीन शिलालेखों से निम्नलिखित रूप में मिलता है :—

१. सल (पोय्सल)—ऊपर उद्धृत किये गये शिलालेखों में पोय्सल अथवा होय्सल राज्य का संस्थापक और होय्सल राजवंश का प्रथम राजा इस सल को माना गया है। सल यादव वंशी क्षत्रिय कुमार था और सम्भवतः अपनी किशोरावस्था तक चालुक्यों का अधीनस्थ सामन्त था। सल शशकपुर मैसूर के अन्तर्गत जिला कादुर के मुदगेरे (शिकारपुर) ताल्लुक में अवस्थित वर्तमान अंगडि का शासक था। यह स्थान कर्णाटक प्रान्त के पश्चिमी घाट की पहाड़ियों के प्रदेश में अवस्थित है। पोय्सल नरेशों ने अपने आपको 'मल परोलगण्ड' अर्थात्—पहाड़ी सामन्तों में मुख्य कहा है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि होय्सल वंशी ये शासक दक्षिण में मूलतः इसी पहाड़ी प्रदेश के निवासी थे। आचार्य सुदत्त और संघ की सहायता से सल ने शशकपुर में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। जैनाचार्य सुदत्त किस संघ के आचार्य थे, इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, तथापि मैसूर, धारवाड़, सोरब, कुप्पुतुर, हलसी, आदि क्षेत्रों में ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी से ही यापनीय संघ का उल्लेखनीय वर्चस्व रहा, इससे यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः आचार्य सुदत्त यापनीय संघ के आचार्य हों।

ऐसा प्रतीत होता है कि शशकपुर प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के उपरान्त भी होय्सल राज के संस्थापक राजा सल ने चालुक्यों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रक्खे और अपने आपको चालुक्य राज का आज्ञानुवर्ती महामण्डलेश्वर अथवा मण्डलेश्वर सामन्त ही मानते रहे। सल की राजधानी शशकपुर (वर्तमान अंगडि) में ही रही। पोय्सल राज्य के संस्थापक राजा सल के सम्बन्ध में इससे विशेष विवरण अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है।

पोय्सल राज्य के संस्थापक अथवा प्रथम राजा सल का राज्यकाल ई. सन् १००४ से १०२२ तक रहा।

२. विनयादित्य प्रथम। इसके सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं होता।

३. नृप काम होय्सल राजवंश का राजा हुआ। नृप काम का दूसरा नाम

राचमल पेर्म्मार्विडि भी उपलब्ध होता है।[1] यद्यपि अनेक इतिहास विदों ने पोय्सल राजाओं की नामावलि में इस वंश के तीसरे नरेश नृप काम के नाम का उल्लेख नहीं किया है किन्तु अर्सिकेरे के लेख सं० १४१ और १५७ में इस वंश के तीसरे नरेश विनयादित्य के पिता का नाम नृपकाम उल्लिखित है[2] तथा मञ्जराबाद के लेख सं. ४३, अर्कल्गुद के लेख सं. ७६ और[3] मूद्गेरे के लेख सं. १९ में शशकपुर पर नृप काम के राज्य के उल्लेख[4] आदि पुरातात्विक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि सल के पश्चात् और विनयादित्य से पहले शशकपुर के होय्सल राज्य पर नृप काम का शासन रहा।

इन ऐतिहासिक महत्व के शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सल के पश्चात् और विनयादित्य से पूर्व पोय्सल राजवंश में नृप काम अथवा काम नायक दूसरा राजा हुआ। डा. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री ने पोय्सल वंश के नृप काम नामक राजा का राज्य काल ई. सन् १०२२ से १०४७ तक माना है।[5]

४. विनयादित्य (द्वितीय)—नृप काम के पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य होय्लस राज्य का तीसरा नरेश हुआ। विनयादित्य इस वंश का बड़ा प्रतापी राजा था। यह चालुक्य राज विक्रमादित्य-छठे- का वश वर्ती राजा था। इसके गुरु का नाम आचार्य शान्ति देव मुनि था। पार्श्वनाथ वसति के एक स्तम्भ लेख (शक सं० १०५० तद्नुसार ई. सन् ११२८) के श्लोक सं० ५१ के अनुसार मुनि शान्ति देव के कृपा प्रसाद से विनयादित्य लक्ष्मी का स्वामी बना।[6] यह राजा परम जिन भक्त था। इसकी जिन भक्ति और इसके द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों की प्रशंसा करते हुए गन्धवारण वसति के द्वितीय मण्डप के तृतीय स्तम्भ पर उट्टंकित शक सं० १०५० (ई. सन् ११२८) के लेख में बताया गया है कि राजा विनयादित्य ने बहुत बड़ी संख्या में तालाबों एवं जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया। विशाल जिन मन्दिरों के निर्माण हेतु ईंटों के लिये जिस-जिस स्थान पर भूमि को खोदा गया, वहां विशाल सरोवर बन गये और जिनेन्द्र प्रभु के मन्दिरों के निर्माणार्थ जिन पर्वतों से पत्थर निकाले गये वे पर्वत आधे हो गये। जिन मार्गों से ईंट, चूना और पत्थरों

---

१. रोवर्ट सेवल द्वारा लिखित हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन्स आफ सदर्न इण्डिया, पृ. ३५९

२. एपिग्राफिका कर्णाटिका जिल्द ५

३. ,, ,, ५

४. ,, ,, ६

५. दक्षिण भारत का इतिहास, डॉ. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री, हिन्दी अनुवाद डॉ. वीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १९१.

६. एपिग्राफिका कर्णाटिका Vol. II (2nd एडीशन) पृ. ५३ पंक्ति. १९६-१९८
जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ लेख सं. ५८ (६७), पृष्ठ ११०

से भरी गाड़ियां निकलीं वे सब मार्ग भाराक्रान्त गाड़ियों के निरन्तर आवागमन के परिणामस्वरूप गहन घाटियों के रूप में परिणत हो गये ।[1]

विनयादित्य ने मन्तावर में एक नहर पहुंचाई और दूसरी बार जब वह मन्तावर के पार्श्वस्थ पर्वत पर स्थित वसदि में गया तो वहां के निवासियों की प्रार्थना पर पास के ग्राम में भी वसदि का और वसदि के आस-पास भवनों का निर्माण करवा कर ग्राम के करों का वसदि के लिये दान किया एवं उस वसदि का नाम ऋषि हल्लि रखा ।[2]

विनयादित्य ने अपने १६ वर्ष के शासन काल में जैन संघ की श्रीवृद्धि के साथ-साथ होय्सल राज्य की सीमाओं का भी दूर-दूर तक विस्तार किया । इसकी महारानी—केलेयब्बरसी भी परम जिन भक्त और बड़ी ही श्रद्धानिष्ठ एवं दानी महिला थी । केलेयब्बरसी ने समय पर एक पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम एरेयंग रखा गया । विनयादित्य के शासन काल में जैन धर्म खूब फला-फूला ।

अंगडि से प्राप्त लेख सं० २०० के उल्लेखानुसार (जैन शिला लेख भाग २ पृष्ठ २४५–४६) राजा विनयादित्य के गुरु शान्ति देव ने अंगडि में शक सं. ६८४ (ई. सन् १०६२) की आषाढी पूर्णिमा के दिन सन्यस्त-संस्तारक (अन शन) अंगीकार कर श्रावण..........के दिन स्वर्गारोहण किया । राजा और नगर के व्यापारियों ने राष्ट्रसन्त अपने गुरु शान्ति देव का स्मारक बनवाया ।

होय्सल राजवंश के तीसरे राजा इस विनयादित्य का राज्य ई. सन् १०४७ से १०६३ तक रहा ।[3] इसके शासन काल के अनेक शिला लेख उपलब्ध हुए हैं ।

५—एरेयंग—यह होय्सल राजवंश का चौथा राजा हुआ । विनयादित्य के पश्चात् ई. सन् १०६३ में यह शशकपुर के राज सिंहासन पर बैठा । एरेयंग की पटरानी का नाम एचल देवी था । ये दोनों राज दम्पति परम जिन भक्त थे । इन दोनों ने जैन संघ की श्रीवृद्धि एवं अभिवृद्धि के लिये अनेक कार्य किये ।

श्रवण बेलगोल—अक्कना वसदि के एक शिलालेख (सं. ४४४ [३२७])[4] में एरेयंग को अप्रतिम योद्धा और चालुक्य राज का दक्षिण भुजदण्ड बताया गया है । भण्डार वसदि (श्रवण बेलगोल) के शिलालेख संख्या ४८१ (३४६) के उल्लेखानुसार राजा एरेयंग स्वयं बड़ा विद्वान् होने के साथ-साथ विद्वानों की विद्वत्ता

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ५३ (१४३) पृ. ८८

[2] एम. ए. आर (मैसोर आर्कोलोजिकल रिपोर्ट For १६३२ P/—१७२–१७४

[3] दक्षिण भारत का इतिहास, नील कण्ठ शास्त्री, पृष्ठ १६६

[4] एपि ग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ २६८–२७३ और पृष्ठ ५०१

की परख करने में बड़ा ही निपुण और अपने समय का अप्रतिम योद्धा था। इस शिलालेख के उल्लेखानुसार इसने धारा नगरी पर आक्रमण कर मालव राज को पराजित किया, चोलराज की शक्तिशाली सेना को युद्ध में पराजित एवं छिन्न-भिन्न कर रणांगण से पलायन करने के लिये विवश कर दिया। चक्र गोट्ट को नष्ट-भ्रष्ट करने के पश्चात् कलिंग राज का समूलोच्छेद कर डाला।[1] एरेयंग ने होय्सल राज्य की सीमाओं का उल्लेखनीय विस्तार किया। इसने चालुक्य राज के लिये अनेक युद्ध किये और मालव, कलिंग आदि राज्य शक्तियों को रणभूमि में परास्त किया। हले बेलगोल की भग्नावशेष वसदि से प्राप्त शिलालेख सं. ५६८ के उल्लेखानुसार शक सं० १०१५ (ई. सन् १०९३) के आस-पास सम्पूर्ण गंग मण्डल पर होय्सल राजवंश का अधिकार था। इस शिलालेख में इस बात का भी उल्लेख है कि होय्सल राज एरेयंग के धर्मगुरु आचार्य गोपनन्दी पण्डित देव बड़े ही विचक्षण प्रतिभाशाली महान् वादी, महान् धर्म प्रभावक और लोकप्रिय जैनाचार्य थे। कोण्ड कुन्दान्वय मूल संघ और देशी गण के इन आचार्य गोपनन्दी ने अपने समकालीन-अजैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर होय्सल राज की सहायता से जैन धर्म को पुनः गंग राजवंश के शासन काल के समान ही सर्वोच्च प्रतिष्ठित पद पर प्रतिष्ठापित किया। एरेयंग ने अपने इन गुरु को कोवप्पु पहाड़ी तीर्थ की वसदियों के पुनरुद्धार, मन्दिरों की सेवापूजा, अन्न-वस्त्र दान आदि के लिये राचन हल्ल और बेलगोल १२ का दान दिया।[2] यह शिलालेख होय्सल महाराजा एरेयंग के राज्यारोहण के ३० वें वर्ष का है।

एरेयंग ने अपने समय की प्रमुख पड़ोसी राजशक्तियों पर अपने अद्भुत पौरुष-पराक्रम की युद्धों में ऐसी गहरी छाप जमाई कि इनका शेष शासन काल बड़ी शान्ति के साथ व्यतीत हुआ। एरेयंग का शासन काल ई. सन् १०९३ से ११०० ई. तक रहा। इसके शासन काल में जैन संघ खूब फला-फूला और जैन धर्म की दक्षिण में उल्लेखनीय उन्नति हुई। राजा एरेयंग अपने अनुपम शौर्य के कारण 'त्रिभुवन-मल्ल' के विरुद से भी विख्यात हुआ।

एरेयंग की पटरानी एचल देवी ने क्रमशः वल्लाल, विष्णु और उदयादित्य नामक तीन पुत्रों को जन्म दिया। होय्सल वंश में महाराज एरेयंग ही प्रथम राजा था, जिसने 'वीर गंग' यह उपाधि धारण की, जिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी होय्सल राजाओं ने बड़ी शान के साथ धारण किया।

---

[1] एपिग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ ५१९

[2] वही, पृष्ठ ५४८–५४९, इस लेख में गोपनन्दि को चतुर्मुख देव का शिष्य बताया गया है। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी से प्राप्त "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक हस्तलिखित ग्रन्थ के २६२ वें श्लोक में एक गोपनन्दि भट्टारक का नाम उल्लिखित है, जो भट्टारक जयकीर्ति के शिष्य थे।

६—वल्लाल प्रथम । होय्सल राजवंश का पांचवां राजा वल्लाल प्रथम हुआ। अपने पिता एरेयंग की मृत्यु के पश्चात् बल्लाल ई. सन् ११०० में राज-सिंहासन पर बैठा और इसने १११० ई. तक राज्य किया ।[१]

सिद्धरवसदि के स्तम्भ लेख में उल्लेख है कि राजा बल्लाल अपनी विजय वाहिनी के साथ जिस समय शत्रुओं को परास्त करते हुए विजय अभियान पर अग्रसर हो रहे थे, उस समय उसको अकस्मात् किसी भीषण व्याधि ने आक्रान्त कर लिया और वे मरणासन्न हो गये , चारुकीर्ति भट्टारक देव ने औषधोपचार से उनकी भीषण व्याधि का निवारण कर बल्लाल को मृत्यु के मुख से बचा उसके जीवन की रक्षा की ।[२] वल्लाल प्रथम ने अपनी राजधानी शशपुरी (शशकपुर-वर्तमान अंगडि) से बेलूर में स्थानान्तरित की । तदनन्तर बल्लाल ने समुद्र (दोर समुद्र) को होय्सल राज्य की राजधानी बनाया ।

७. विष्णुवर्द्धन । बल्लाल के अल्पकालीन शासन के अनन्तर उसका लघु सहोदर विष्णुवर्द्धन ई. सन् १११० में होय्सल राज्य के सिंहासन पर बैठा । इसने, इसकी पटरानी शान्तल देवी ने और इसके गंगराज, बोप्प, पुणिस, बलदेवण्ण, मरियाने, भरत (देखो लेख सं० ११५), ऐच और विष्णु इन आठ जैन सेनापतियों एवं सभी वर्गों के प्रजाजनों ने जैन धर्म की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि में और जैन धर्म के वर्चस्व को सर्वोच्च प्रतिष्ठा के पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिए जो अपूर्व योगदान दिया, एतद्विषयक प्राचीन अभिलेखों से जो विवरण प्राप्त होता है, उसे पढ़ते समय तीर्थंकर कालीन महाराजा चेटक, श्रेणिक, महारानी चेलना, आदर्श जैन सेनापति वरुण नाग नटुआ, जीर्ण श्रेष्ठि आदि की परमाह्लाद प्रदायिनी स्मृति हृदय पटल पर हठात् उभर आती है ।

वस्तुतः विष्णुवर्द्धन होय्सल राजवंश के सभी राजाओं में सर्वाधिक प्रतापी, महान् योद्धा, साहसी, शक्तिशाली और लोकप्रिय नरेश था । इसने होय्सल राज्य की अभिवृद्धि एवं प्रतिष्ठा के साथ-साथ जैन धर्म की प्रतिष्ठा में भी उल्लेखनीय

---

[१] बी. ए. सेनेटोर ने इसका शासन काल ११०० से ११०६ ही माना है। देखें मिडिवल जैनिज्म पृष्ठ ७८

[२] एपिग्राफिका कर्णाटका, भाग २, पृष्ठ ४७८

तच्छिष्यो दक्षिणा चार्यान्वयाम्बर विभाकरः ।
चारुकीर्ति मुनीन्द्रोऽभूत् पण्डिताचार्य संज्ञकः ॥२८८॥
स एवेत प्रसिद्धोऽभूत्कलिकाल गणेश्वरः ।
वल्लाल राय तत्प्राणरक्षकः सुप्रसिद्धिभाक् ॥२८९॥

जैनाचार्य परम्परा महिमा, मेकेन्जी का संग्रह, मद्रास (अप्रकाशित)

जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख संख्या ६७३

अभिवृद्धि की। विष्णुवर्द्धन ने सम्पूर्ण कर्णाटक प्रदेश को चोल राजवंश के आधिपत्य से विमुक्त कर उस पर होय्सल राजवंश का आधिपत्य स्थापित किया।

गन्धवारण वसदि के द्वितीय मण्डप के तृतीय स्तम्भ पर उट्टंकित शक सं. १०५० के लेख सं. ५३ (१४३) और इसी वसदि के पूर्व की ओर के लेख सं. ५६ (१३२–शक सं. १०४५) और शक सं. १०८१ के लेख संख्या १३८ (३४९) में विष्णुवर्द्धन के शौर्य और प्रताप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसने युद्धों में अनेक माण्डलिक राजाओं को पराजित कर होय्सल राज्य की सीमाओं का बहुत दूर-दूर तक विस्तार किया। चक्रगोट्ट, तलकाडु, नीलगिरि, कोंगु, नंगलि, कोलाल, तेरेयूरु, कोयतूरु, कोंगलिय, उच्चंगि, तलेयूरु, पोम्बुर्च, बन्धासुर, चौकवलेय, येन्दिवु, मोरलाग आदि अनेक दुर्भेद्य दुर्गों पर अपना अधिकार कर उस समय की बड़ी से बड़ी राजशक्तियों को हतप्रभ–एवं आश्चर्याभिभूत कर दिया।[1] रणनीति विशारद विष्णुवर्द्धन ने कोयतूर, कोंग, राय, रायपुर, काञ्चीपुर, वनवास, तलवनपुर, केलपाल एवं अंगरन के राजाओं और चोल सामन्त अदियम एवं पल्लव नरसिंह वर्मा को युद्ध में पराजित कर उन राज्यों पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई।[2] उस समय की बड़ी राज शक्तियां विष्णुवर्द्धन का लोहा मानती थीं। तलकाडु, कोंग, नगलि, गंगवाडी, वोलम्बवाडी, मासवाडी, हुलिगेरे, हलसिगे, वनवसे, हानुंगल, अंग, बंग, कुंभल, मध्यदेश, काञ्ची, विनीत और मदुरा पर अपनी विजय-पताका फहरा उन सब पर शासन किया।[3]

इतना सब कुछ होते हुए भी लेख सं. ३१८ (शक सं. १०६४ ई. सन् ११४२) में विष्णुवर्द्धन के लिये महा मण्डलेश्वर[4] शब्द का प्रयोग किया गया है तथा शक सं. १०५० के लेख संख्या ४९७ में[5] इनको चालुक्य राज त्रिभुवन मल्ल का पाद पद्मोपजीवी महा मण्डलेश्वर बताया गया है, इससे अनुमान किया जाता है कि उस समय सम्पूर्ण दक्षिणापथ में अपने साहस-शौर्य और युद्ध कौशल की धाक जमा देने और शक्ति-शाली स्वतन्त्र राजा होते हुए भी होय्सल राज विष्णुवर्द्धन ने चालुक्यों के साथ पीढ़ियों से चले आ रहे मधुर सम्बन्ध को उसने विक्रमादित्य षष्ठम के राज्यकाल १०७६–११२६ ई. तक तो यथावत् बनाये रखकर अपने आपको चालुक्य साम्राज्य का सामन्त कहलवाना ही समुचित समझा। पर चालुक्य राज सोमेश्वर तृतीय (११२६–११३८ ई.) के शासनकाल में उसने

---

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८८-९० और १२३ से १२६

२ वही-लेख सं. १३८ (३४९) पृष्ठ २७८-२८१

३ जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं. ३०१, पृष्ठ ४७१-४८२

४ जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३ पृष्ठ ४२-४५

५ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४१३-४१७

चालुक्य राज से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने आपको स्वतन्त्र घोषित किया और नोलम्बवाडी, वनवासी एवं हंगल क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। राज्य विस्तार के लिये विष्णुवर्द्धन का कल्याणी के चालुक्यों के साथ यह संघर्ष सोमेश्वर के दोनों पुत्रों–पेरमा जगदेक मल्ल (ई. सन् ११३८–५०) एवं तैल तृतीय (ई. सन् ११५०–६३) के साथ में चलता रहा। उसने ई. सन् ११४६ में होय्सल राज्य की राजधानी द्वार समुद्र में अपने जयसिंह नामक एक पुत्र को रखा और स्वयं बंकापुर (धारवाड) में रहने लगा। ई. सन् ११४७ के लेख सं. ३२७ में विष्णुवर्धन के लिये "महा मण्डलेश्वर" के साथ-साथ "मलय चक्रवर्ती" का विशेषण प्रयुक्त करते हुए उसका राज्य सेतु (सेतुबन्ध रामेश्वर) से विन्ध्याचल तक बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि वह विशाल राज्य का स्वामी और शक्तिशाली स्वतन्त्र राजा था।[1]

श्री बी. एल. राइस के अभिमतानुसार विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था।[2]

इण्डियन एन्टिक्वेरी वोल्यूम २ (सन् १८७३) के पृष्ठ सं. १२६ से १३३ पर प्रकाशित केप्टिन मेकेन्जी के श्रवण बेलगोल सम्बन्धी लेख में होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन के धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है, वह इस प्रकार है :—

"शक सं. ७७७ (ई. सन् ८५५) में यह (श्रवण बेलगोल के चारों ओर का) प्रदेश होय्सल वंशी क्षत्रिय राजाओं के अधिकार में आ गया। आदित्य नामक होय्सल राजा ने गोम्मटेश के दर्शन कर इस तीर्थ के प्रबन्ध के लिये चामुण्डराय द्वारा प्रदत्त गावों के अतिरिक्त ९६,००० पैगोडा की वार्षिक आय वाले गाँव दान में दिये और सोमगन्धाचार्य को गोमटेश की पूजा और वहां के सब प्रकार के प्रबन्ध के लिये भट्टारक पद पर आसीन किया। होय्सल नरेश आदित्य के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अमर कीर्ति वल्लाल ने ५००० पैगोडा प्रतिवर्ष की आय के ग्राम गोम्मटेश की अर्चा-पूजा एवं आवश्यक प्रबन्ध के लिए दान में दिये और त्रिदाम विबुधानन्दाचार्य को इसके प्रबन्ध के लिये मठ का मठाधीश भट्टारक नियुक्त किया। होय्सल नरेश अमर कीर्ति वल्लाल देव द्वारा की गई यह व्यवस्था ४६ वर्ष तक सुचारू रूप से चलती रही। तत्पश्चात् होय्सल महाराजा अंगराज ने प्रभाचन्द्र सिद्धांताचार्य को मठाधीश भट्टारक नियुक्त कर ५६ वर्षों तक उनके द्वारा तीर्थ का समुचित प्रबन्ध और देव-पूजा आदि व्यवस्था को सुचारू रूपेण चलवाया। तदनन्तर होय्सल नरेश प्रताप वल्लाल ने गुणचन्द्राचार्य को मठाधीश बना ६४ वर्षों तक उनके तत्वावधान

---

1. जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख संख्या ३२७, पृ. ७४–७८
2. राइस मैसूर एण्ड कुर्ग, पृष्ठ ९९

में इस तीर्थ का पूजा-अर्चा आदि सभी भांति का प्रबन्ध सम्यक् रीत्या सम्पन्न करवाया।

उदयादित्य वल्लाल, वीर वल्लाल और गंगराय वल्लाल—इन तीन राजाओं में से प्रत्येक ने गोम्मटेश तीर्थ की अपने शासनारूढ़ होने से पूर्व की आय व्यवस्था को यथावत् अक्षुण्ण रखते हुए अपनी ओर से पांच-पांच हजार पैगोडा की आय वाले गांव गोम्मटेश को दान स्वरूप अभिनव रूपेण अर्पित किये।

तदनन्तर होय्सल नृप बेट्ट वर्द्धन वल्लाल देव ने गोम्मटेश तीर्थ की व्यवस्था के लिये ५०००० (पचास हजार) पैगोडा प्रतिवर्ष की आय के गांवों का दान किया और शुभचन्द्राचार्य को इस तीर्थ की व्यवस्था की देख-रेख हेतु भट्टारक पद पर मठाधीश नियुक्त किया। यह व्यवस्था ३१ बर्षों तक सुचारु रूप से चलती रही।

आगे चलकर शक सं. १०३९ (तदनुसार ई. सन् १११७) में इस होय्सल नरेश बेट्ट वर्द्धन ने अपने विश्वासपात्र परामर्श दाताओं (मन्त्रियों) के परामर्श और रामानुजाचार्य की अकाट्य युक्तियों से 'तप्त मुद्रा' (वैष्णव सम्प्रदाय का चिह्न) धारण कर लिया और इस प्रकार अपने वंश परम्परागत धर्म जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्मावलम्बी बन गया। बेट्ट वर्द्धन ने न केवल धर्म-परिवर्तन ही किया अपितु धर्म परिवर्तन के साथ-साथ उसने अपना नाम भी बदल कर बेट्ट वर्द्धन से विष्णुवर्द्धन रख लिया। वैष्णव धर्म अंगीकार करते ही उसके अन्तर्मन में जैन धर्म के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई और इसके फलस्वरूप उसने शक ७९० पूर्व में बने जैन मन्दिरों, जैन वसदियों और जैन धर्मस्थानों को धूलिसात् करवा दिया और दिये गये सभी प्रकार के दान रद्द कर दान से दिये गये ग्राम भूमि आदि अग्रहारों को छीन लिया। वैष्णव धर्मावलम्बी बनने के पश्चात् विष्णुवर्द्धन ने वेलूर में चेन्निग नारायण, तलकाडु में कीर्तिनारायण, विजयपुर में विजयनारायण, गदग में वीरनारायण और हरदन हल्ली में लक्ष्मी नारायण का मन्दिर—इसप्रकार पंचनारायणों के मन्दिरों का निर्माण करवाकर पूर्व में जैन वसति एवं मन्दिरों को जितने भी दान दिये गये थे वे सब छीन कर इन पंच नारायणों के मन्दिरों को समर्पित कर दिये।

इस प्रकार ध्वस्त करवाये गये जैन मन्दिरों के पत्थरों से विष्णुवर्द्धन ने टोन्डा मिरु में तिरुमल सागर नामक एक विशाल सरोवर का और उसके नीचे—तिरुमल सागर सत्रागार का निर्माण करवा कर उस सत्रागार में वैष्णव सम्प्रदाय के साधुओं को प्रतिदिन भोजन-दान की व्यवस्था की।

इस प्रकार विष्णुवर्द्धन द्वारा जैन वसतियों और मन्दिरों को ध्वस्त किये जाने का अनवरत कार्यक्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया तो धरती इस देव क्षेत्र के

इस पाप को सहन नहीं कर सकी। बेल्लूर ताल्लुक के अड्गुरु के पास धरित्री फट गई। धरती ने अपना मुख खोल कर उस ताल्लुक के अनेक ग्रामों को निगलना प्रारम्भ कर दिया। धरा का वह विशाल गहरा विवर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और बेल्लूर ताल्लुक के बहुसंख्यक ग्राम रसातल में धंसने लगे। जब इस महाविनाशकारी खण्ड प्रलय के समाचार विष्णुवर्द्धन के पास पहुंचे तो वह अत्यन्त दुखित हुआ। उसने वयोवृद्ध विज्ञों, विद्वानों और भू विशेषज्ञों को बुलाकर इस प्रलय का कारण पूछा। सभी विज्ञों ने यही कहा कि जिन मन्दिरों को नष्ट करवाने के महापाप के परिणामस्वरूप ही प्रकृति रुष्ट हो गई है। राजा ने सभी वर्गों, सभी जातियों एवं धर्मों के प्रजाजनों को आमन्त्रित कर शान्ति पाठ करवाये। मान्त्रिकों से मन्त्र जाप और तान्त्रिकों से तन्त्रादि करवाये। किन्तु वे सब उपाय निरर्थक सिद्ध हुए। पृथ्वी का वह विवर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और प्रकृति का वह ताण्डव नृत्य अहर्निश उग्र से उग्रतर होता गया। जैनेतर सभी धर्मों को मानने वाले प्रजाजनों एवं विज्ञों ने राजा विष्णुवर्द्धन से निवेदन किया कि किसी महान् जैनाचार्य की शरण में गये बिना प्रकृति की यह प्रलयंकर लीला शान्त होने वाली नहीं है।

महा विनाश से बचने का अन्य कोई उपाय न देखकर राजा विष्णुवर्द्धन ने अन्ततोगत्वा किसी जैनाचार्य की शरण में जाने का निश्चय किया। अपने गुरु रामानुजाचार्य और अनेक प्रमुख प्रजाजनों के साथ श्रवण बेलगोल के भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य की सेवा में उपस्थित हो विष्णुवर्द्धन ने उनसे बड़े अनुनय-विनयपूर्ण स्वर में प्रार्थना की—"करुणा सिन्धो! आचार्य प्रवर! इस अनभ्र वज्रपात तुल्य प्राकृतिक प्रकोप से हमारी रक्षा कीजिये। महात्मन्! हमने सभी प्रकार के उपाय कर लिये हैं। सब ओर से पूर्णतः निराश होकर हम अब आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। दया कर इस संकट से हमारे धन जन परिजन की रक्षा कीजिये। हम सभी प्रमुखजन अपने सभी विरुद आपके चरणों में समर्पित करते हैं। गोम्मटेश्वर तीर्थ के प्रबन्ध के लिये १२००० पैगोडा प्रतिवर्ष की आय वाले गांव भी दे देंगे। जिनमन्दिरों के छीन लिये गये दानादि पुनः पूर्ववत् प्रचलित कर दिये जायेंगे। जिन मन्दिरों की पूजा में किसी ओर से किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होने दिया जायगा और इस अभिप्राय के शिलानुशासन स्थान-स्थान पर उट्टंकित करवा दिये जावेंगे।"

राजा विष्णु वर्द्धन एवं प्रजाजनों द्वारा की गई अनुनय-विनय से द्रवित हो भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य ने १०८ श्वेत कूष्माण्ड मंगवाये और इन्हें अभिमन्त्रित एवं तन्त्रों से आपूरित कर राजा को देते हुए कहा—"राजन्! प्रतिदिन इनमें से एक-एक कूष्माण्ड को उस विवर में प्रक्षिप्त करते रहना। इसके प्रभाव से वह विवर स्वतः भरता जाएगा।"

राजा और प्रजाजनों ने भट्टारक शुभचन्द्राचार्य के आदेश का अक्षरशः पालन किया। धरित्री का वह पाताल तुल्य गहन एवं विशाल विवर प्रतिदिन अप्रत्याशित रूप से भरते-भरते प्रायः पूर्णरूपेण भर गया। थोड़ा-सा विवर उस आश्चर्यकारी घटना की स्मृति को बनाये रखने के लिये अवशिष्ट रहा, जो आज भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य के कृपा प्रसाद से कर्णाटक के राजा एवं प्रजा को महा विनाश से मुक्ति मिली। राजा और प्रजा ने सर्व सम्मति से शुभ चन्द्राचार्य को चारु कीर्ति पण्डिताचार्य की उपाधि से अलंकृत कर श्रवण वेल गोल और मेलु कोट में इस आशय के शिलानुशासन उट्टंकित करवाये कि वहां की १२०० पगौड़ा की भूराजस्व से होने वाली आय श्रवण वेलगोल तीर्थ की अर्चा-पूजा आदि के लिये सदा मिलती रहेगी। यदि जैन धर्मावलम्बी किन्हीं परिस्थितियों के कारण गोम्मटेश की पूजा न कर सके तो राज्य की प्रजा के प्रत्येक घर से एक फन्नम चन्दे के रूप में एकत्रित कर पूजा की जायगी।

इस विवरण को पढ़ने पर प्रत्येक विज्ञ इतिहास प्रेमी इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि यह समग्र विवरण विभिन्न काल की, विभिन्न व्यक्तियों से सम्बन्धित किंवदन्तियों का एक संकलन मात्र है। इस सम्पूर्ण विवरण में ऐतिहासिकता का लवलेश भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें होय्सल राजाओं की जो नामावली और क्रम दिया गया है वह भी इतिहास सम्मत नामावली एवं क्रम से नितान्त भिन्न और ऐतिहासिक तथ्यों से परे है।

तथ्य यह है कि महासन्त रामानुजाचार्य, उनके विरुद्ध चोलराज द्वारा रचे गये षड्यन्त्र से बचकर ई. सन् १११६ में होय्सल राज्य में विष्णुवर्द्धन के पास पहुंचे। विष्णुवर्द्धन ने उनकी रक्षा के सब प्रकार के प्रबन्ध कर उन्हें अपने यहां बड़े सम्मान के साथ रखा।[1] रामानुजाचार्य ने कर्णाटक और आन्ध्रप्रदेश में एक नवीन धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था और उन दिनों रामानुजाचार्य के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा था। विष्णुवर्द्धन के यहां रामानुजाचार्य के ठहरने का

---

१ King Vishnuwardhan's reign was also important because an event which had a profound effect on the whole history of Jainism in Karnataka and Southern India. Thisw as the convertion from Janism into Vaishnavism under the influence of the Great Acharya Ramanuja, who to escape persecution at the hands of a Kola King, had taken refuge in the Hoysal Country. (Shri) Rice placed this event before A. D. 1116 and attributed the series of extensive conquests to the new religion which king Vishnu had embraced.

कारण चारों ओर यह प्रचारित किया गया कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया है। इस पर से अनेक प्रकार कि किंवदन्तियां न केवल दक्षिणापथ में अपितु उत्तरापथ में भी फैल गईं और कालान्तर में उन किंवदन्तियों को साहित्य में भी स्थान दे दिया गया। वस्तुतः शिलालेखादि के रूप में आज तक एक भी ऐसा ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि होयसल् राजा विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया हो।

इसके विपरीत ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन, उसकी रानी एवं उसका समस्त राज परिवार, उसके आठों ही सेनापति आदि अपनी-अपनी आयु के अवसान काल तक न केवल जैन धर्मानुयायी रहे अपितु जैन धर्म के प्रबल पोषक, प्रचारक एवं प्रसारक भी रहे। जैनाचार्य सुदत्त ने होय्सल राजवंश की स्थापना की। जैनाचार्य शान्तिदेव ने इस राजवंश को दक्षिण के एक शक्तिशाली राज्य का रूप दिया तथा समय-समय पर अनेक जैनाचार्यों ने इस राजवंश को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने में सभी-भांति पूर्ण सक्रिय सहयोग तक दिया और यह राजवंश भी अपने ऊपर अपने धर्म गुरु जैन धर्माचार्यों द्वारा किये गये असीम उपकारों के प्रति पूर्णतः कृतज्ञ रहा। प्राचीन अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि सभी होय्सल वंशी राजाओं ने जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन भी जीवन भर सम्यक्त्व धारी जैन श्रमणोपासक बना रहा। स्वयं रामानुजाचार्य के हस्ताक्षरित एक ताड़पत्रीय अभिलेख[1] के अनुसार रामानुजाचार्य ई० सन् ११२५ (पिंगल संवत्सर में मकर शुक्ल पुनर्वसु के योग के शुभ दिन) के आस-पास कर्णाटक के तिरुनारायणपुर ग्राम (वर्तमान मेलकोटे, जिला-मण्ड्या) से श्री रंगपुर के लिये प्रस्थित हुए। रामानुजाचार्य के मैसूर से चले जाने के पश्चात् भी महाराजा विष्णुवर्द्धन द्वारा जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये किये गये कतिपय कार्यों से यही सिद्ध होता है कि वह जीवन पर्यन्त निष्ठावान् जैन धर्मानुयायी एवं पूर्ववत् जैन धर्म का संरक्षक बना रहा।

रामानुजाचार्य के मैसूर से चले जाने के आठ वर्ष पश्चात् शक सं. १०५५ (ई. सन् ११३३) के **हलेबीड**—बस्ति हल्लि में पार्श्वनाथ बसदि के बाहर की भित्ति में लगे पाषाण पर के अभिलेख में विष्णुवर्द्धन द्वारा किये गये ऐतिहासिक कार्यों का विवरण उट्टंकित किया गया है जिसका सारांश इस प्रकार है :—

"होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन के महादण्डनायक गंगराज ने अगणित जीर्ण शीर्ण जिन मन्दिरों का पुनरुद्धार कर **गंगवाडि ९६००० को कोपण** के समान

[1] आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर में इस ताड़पत्र की उपलब्ध प्रति।

उन्हें समृद्धि शाली एवं सुन्दर बनाया। उसकी धर्मपत्नी नागल देवी की कुक्षि से उत्पन्न उसके पुत्र बोप्प (बप्प) सेनापति ने दोर समुद्र के मध्य भाग में एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। **बोप्प चमूपति** ने अपने पिता **महादण्डनायक गंगराज** के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी स्मृति में उस मन्दिर की प्रतिष्ठा नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती से करवायी। **हल सोगे बलि के द्रोह घरट्ट** जिनालय की प्रतिष्ठा के पश्चात् जिस समय पुरोहित लोग भगवान् को लगाये गये भोग का प्रसाद लेकर महाराजा विष्णुवर्द्धन के पास बंकापुर पहुंचे, उस समय विष्णुवर्द्धन ने होय्सल राज्य पर एक शक्तिशाली अति विशाल वाहिनी के साथ आक्रमण करने के लिये चढ़कर आये हुए दुर्दान्त शत्रु **मसण** को युद्ध में पूर्णतः पराजित कर उसके विशाल राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। उसी समय विष्णुवर्द्धन की महारानी लक्ष्मी देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। हर्षातिरेक में विष्णुवर्द्धन के मुख से ये शब्द फूट पड़े:—"इन्हीं भगवान् पार्श्वनाथ के जिनालय की प्रतिष्ठा के परिणाम-स्वरूप मुझे युद्ध में विजय एवं पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है अतः इन देवाधि देव के जिनालय का नाम विजय पार्श्व और सद्य-प्रसूत राजकुमार का नाम विजय-नरसिंह देव रखता हूं।"

राजा ने उस मन्दिर के लिये **आसन्दि नाड के जावगल** ग्राम के दान के साथ अनेक प्रकार के अन्य दान भी दिये।"[१] स्वयं विष्णुवर्द्धन ने ११३३ ई० में इस विजय-पार्श्वमन्दिर में जाकर वन्दन-नमन एवं अर्चन किया।[2]

इसी प्रकार सम्भवतः रामानुजाचार्य की मैसूर राज्य में विद्यमानता के समय अथवा उनके मैसूर से प्रस्थान कर देने के कुछ ही दिनों पश्चात् शक सं. १०४७ (ई. सन् ११२५) में विष्णुवर्द्धन द्वारा वसदियों के जीर्णोद्धार एवं जैन ऋषियों के आहार दान हेतु जैनाचार्य श्रीपाल त्रैविद्य देव को शल्य चमक ग्राम के दान में दिये जाने का उल्लेख है।[3]

इन सब के अतिरिक्त जिन शासन की श्रीवृद्धि के लिए विष्णुवर्द्धन द्वारा जिनमन्दिरों, वसदियों आदि की व्यवस्था एवं जैन मुनियों के आहार आदि के लिये दान दिये जाने के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

यहां उस सन्दर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात है कि बहु प्रचलित निराधार किंवदन्तियों के अनुसार यदि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन जैन धर्म का

---

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० ३०१, पृ. ४७१-४८२

२ This temple which King Narsingha now visited was the same temple which King Vishnu had visited in A. D. 1133.

(मीडिएवल जैनिज्म, बी०ए० सैलाटोर लिखित, पेज-८४)

3 जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख संख्या ४९३ पृ० सं० ३९५ से ४०१

कारण चारों ओर यह प्रचारित किया गया कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया है। इस पर से अनेक प्रकार कि किंवदन्तियां न केवल दक्षिणापथ में अपितु उत्तरापथ में भी फैल गईं और कालान्तर में उन किंवदन्तियों को साहित्य में भी स्थान दे दिया गया। वस्तुतः शिलालेखादि के रूप में आज तक एक भी ऐसा ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि होयसल् राजा विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया हो।

इसके विपरीत ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन, उसकी रानी एवं उसका समस्त राज परिवार, उसके आठों ही सेनापति आदि अपनी-अपनी आयु के अवसान काल तक न केवल जैन धर्मानुयायी रहे अपितु जैन धर्म के प्रबल पोषक, प्रचारक एवं प्रसारक भी रहे। जैनाचार्य सुदत्त ने होय्सल राजवंश की स्थापना की। जैनाचार्य शान्तिदेव ने इस राजवंश को दक्षिण के एक शक्तिशाली राज्य का रूप दिया तथा समय-समय पर अनेक जैनाचार्यों ने इस राजवंश को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने में सभी-भांति पूर्ण सक्रिय सहयोग तक दिया और यह राजवंश भी अपने ऊपर अपने धर्म गुरु जैन धर्माचार्यों द्वारा किये गये असीम उपकारों के प्रति पूर्णतः कृतज्ञ रहा। प्राचीन अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि सभी होय्सल वंशी राजाओं ने जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन भी जीवन भर सम्यक्त्व धारी जैन श्रमणोपासक बना रहा। स्वयं रामानुजाचार्य के हस्ताक्षरित एक ताड़पत्रीय अभिलेख[1] के अनुसार रामानुजाचार्य ई० सन् ११२५ (पिंगल संवत्सर में मकर शुक्ल पुनर्वसु के योग के शुभ दिन) के आस-पास कर्णाटक के तिरुनारायणपुर ग्राम (वर्तमान मेलकोटे, जिला-मण्ड्या) से श्री रंगपुर के लिये प्रस्थित हुए। रामानुजाचार्य के मैसूर से चले जाने के पश्चात् भी महाराजा विष्णुवर्द्धन द्वारा जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये किये गये कतिपय कार्यों से यही सिद्ध होता है कि वह जीवन पर्यन्त निष्ठावान् जैन धर्मानुयायी एवं पूर्ववत् जैन धर्म का संरक्षक बना रहा।

रामानुजाचार्य के मैसूर से चले जाने के आठ वर्ष पश्चात् शक सं. १०५५ (ई. सन् ११३३) के हलेबीड—वस्ति हल्लि में पार्श्वनाथ वसदि के बाहर की भित्ति में लगे पाषाण पर के अभिलेख में विष्णुवर्द्धन द्वारा किये गये ऐतिहासिक कार्यों का विवरण उट्टंकित किया गया है जिसका सारांश इस प्रकार है :—

"होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन के महादण्डनायक गंगराज ने अगणित जीर्ण शीर्ण जिन मन्दिरों का पुनरुद्धार कर गंगवाडि ९६००० को कोपण के समान

---

[1] आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर में इस ताड़पत्र की उपलब्ध प्रति।

उन्हें समृद्धि शाली एवं सुन्दर बनाया। उसकी धर्मपत्नी नागल देवी की कुक्षि से उत्पन्न उसके पुत्र बोप्प (बप्प) सेनापति ने दोर समुद्र के मध्य भाग में एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। **बोप्प चमूपति** ने अपने पिता **महादण्डनायक गंगराज** के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी स्मृति में उस मन्दिर की प्रतिष्ठा नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती से करवायी। **हल सोगे बलि** के **द्रोह घरट्ट** जिनालय की प्रतिष्ठा के पश्चात् जिस समय पुरोहित लोग भगवान् को लगाये गये भोग का प्रसाद लेकर महाराजा विष्णुवर्द्धन के पास बंकापुर पहुंचे, उस समय विष्णुवर्द्धन ने होय्सल राज्य पर एक शक्तिशाली अति विशाल वाहिनी के साथ आक्रमण करने के लिये चढ़कर आये हुए दुर्दान्त शत्रु **मसण** को युद्ध में पूर्णतः पराजित कर उसके विशाल राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। उसी समय विष्णुवर्द्धन की महारानी लक्ष्मी देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। हर्षातिरेक में विष्णुवर्द्धन के मुख से ये शब्द फूट पड़े:—"इन्हीं भगवान् पार्श्वनाथ के जिनालय की प्रतिष्ठा के परिणाम-स्वरूप मुझे युद्ध में विजय एवं पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है अतः इन देवाधि देव के जिनालय का नाम विजय पार्श्व और सद्य-प्रसूत राजकुमार का नाम विजय-नरसिंह देव रखता हूं।"

राजा ने उस मन्दिर के लिये **आसन्दि नाड** के **जावगल** ग्राम के दान के साथ अनेक प्रकार के अन्य दान भी दिये।"[1] स्वयं विष्णुवर्द्धन ने ११३३ ई० में इस विजय-पार्श्वमन्दिर में जाकर वन्दन-नमन एवं अर्चन किया।[2]

इसी प्रकार सम्भवतः रामानुजाचार्य की मैसूर राज्य में विद्यमानता के समय अथवा उनके मैसूर से प्रस्थान कर देने के कुछ ही दिनों पश्चात् शक सं. १०४७ (ई. सन् ११२५) में विष्णुवर्द्धन द्वारा वसदियों के जीर्णोद्धार एवं जैन ऋषियों के आहार दान हेतु जैनाचार्य श्रीपाल त्रैविद्य देव को शल्य चमय ग्राम के दान में दिये जाने का उल्लेख है।[3]

इन सब के अतिरिक्त जिन शासन की श्रीवृद्धि के लिए विष्णुवर्द्धन द्वारा जिनमन्दिरों, वसदियों आदि की व्यवस्था एवं जैन मुनियों के आहार आदि के लिये दान दिये जाने के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

यहां उस सन्दर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात है कि वह प्रचलित निराधार किंवदन्तियों के अनुसार यदि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन जैन धर्म का

---

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० ३०१, पृ. ४७१-४८२

२ This temple which King Narsingha now visited was the same temple which King Vishnu had visited in A. D. 1133.

(मीडिवल जैनिज्म, बी० ए० सेलाटोर लिखित, पेज-८४)

३ जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख संख्या ४९३ पृ० सं० ३९४ से ४०१

परित्याग कर रामानुजाचार्य के उपदेशों से वैष्णव बना होता तो यह निश्चित था कि विष्णुवर्द्धन के अनन्य आत्मीयों, रानी, पुत्र, पुत्रियों आदि में से अथवा उसके सदा निकट सम्पर्क में रहने वाले मन्त्रियों, सेनापतियों आदि में से किसी न किसी ने तो अवश्यमेव ही वैष्णव धर्म अंगीकार किया होता। परन्तु वस्तुस्थिति पूर्णतः इसके विपरीत है। विष्णुवर्द्धन के अनन्य आत्मीयों—पत्नी, पुत्र, पुत्रियों और उसके कृपापात्र—विश्वासपात्र आश्रितों अथवा अधिकारियों—मन्त्रियों, सेनापतियों—सेनापति पुत्रों आदि में से किसी एक ने भी—वैष्णव धर्म अंगीकार नहीं किया। पुरातन कालीन अगणित शिलालेखों में से जो शिलालेख विप्लवों, विषम परिस्थितियों और काल की थपेड़ों से बचे रह सके हैं, वे इस बात की आज भी साक्षी देते हैं।

स्वयं होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन से और उसके शासन काल से सम्बन्धित उपलब्ध अनेक शिला-लेखों में विष्णुवर्द्धन के लिये "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण प्रयुक्त किया गया है।[1] यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि जिस मुमुक्षु भव्यात्मा ने जीव, अजीव आदि समस्त तत्त्वों को भली भांति समझ व हृदयंगम कर एक मात्र वीतराग जिनेन्द्र देव को ही अपने आराध्य देव, पंचमहाव्रतधारी सच्चे साधु को अपना गुरु और संसार के समस्त दुःखों का अन्त कर शाश्वत अनन्त अक्षय-अव्याबाध शिव सुख प्रदान कराने में सक्षम भवाब्धि पोत तुल्य वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को ही अपना धर्म मान लिया है, उसी सम्यग् दृष्टि भव्यात्मा के लिये "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

इसका एक सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण शक सं. १०५६, (ई० सन् ११३७) का एक शिलालेख है। बेलूर स्थित सोमनाथ मन्दिर की छत पर उट्टंकित इस कन्नड शिलालेख में उल्लेख है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के महा प्रचण्ड दण्डनायक, सर्वाधिकारी विष्णु दण्डाधिप-अपर नाम इम्मदि दण्डनायक विट्टियण्ण ने शक सं. १०५६ (ई० सन् ११३७) में होय्सल राज्य की राजधानी **दोर समुद्र** में "विष्णु वर्द्धन जिनालय" नामक एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। उस समय (उक्त तिथि को) **इम्मडि दण्डनायक बिट्टियण्ण** ने आचार्य **श्रीपाल त्रैविद्यदेव** को भगवान् की पूजा, ऋषियों को आहार दान मन्दिर के प्रबन्ध एवं भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर इस जिनालय के जीर्णोद्धार (मरम्मत) आदि के लिये **मरुसेनाड़** के **बीज बोल्ल गांव** का दान स्वयं विष्णुवर्द्धन के हाथ से दिलवाया। इस शिलालेख में **इम्मडि दण्डनायक बिट्टियण्ण** को **विष्णुवर्द्धन की** दक्षिण भुजा, परम विश्वास पात्र एवं प्रगाढ प्रीति पात्र बताने के साथ-साथ यह

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख संख्या ४५, ५६, १३२, ४९३ एवं भाग २ लेख संख्या २६३, २६४

उल्लेख भी किया गया है कि महाराज विष्णुवर्द्धन ने उसका पुत्रवत् लालन-पालन किया, उसे सभी विद्याओं एवं कलाओं का प्रशिक्षण दिलवा कर उसका अपने प्रधानमन्त्री की पुत्री के साथ बड़े ही हर्षोल्लास से विवाह किया।[1]

इस शिलालेख में उल्लिखित तथ्यों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ई० सन् ११३७ तक अर्थात् रामानुजाचार्य के मैसूर राज्य से चले जाने के १२ वर्ष पश्चात् तक होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन जैन धर्मानुयायी था। अगर उसने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया होता तो राजा को अपने पिता से भी अधिक पूज्य मानने वाले इम्मडि दण्डनायक बिट्टियण्ण पर इसका प्रभाव पड़ता। यदि किसी तरह मान भी लिया जाय कि **इम्माड़े** दण्डनायक पर प्रभाव न भी पड़ा तो वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी बन जाने की स्थिति में विष्णुवर्द्धन उसे न तो अपने नाम पर जिनालय बनाने की अनुमति देता और न उसे ग्रामदान ही करता।

इन सब के अतिरिक्त एक और प्रमाण है विष्णुवर्द्धन होय्सल नरेश के पुत्र युवराज नरसिंह देव द्वारा ई० सन् ११४७ में **एल्कोटि** जिनालय की **मुगुलूर वसदि** के लिये दिये गये भूमिदान का शिलालेख, इस शिलालेख में होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के लिये "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण का प्रयोग किया गया है।[2]

दे देने मात्र से शान्तल देवी जैन से वैष्णव नहीं बन गई। वह ज़ीवनभर जैन रही एवं आयु के अवसान काल में उसने सच्ची जैन साधिका की भांति समाधिपूर्वक देह त्याग किया।[1]

जिन शासन के उत्कर्ष के लिये शान्तल देवी द्वारा किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप ही शक सं. १०५० (ई० सन् ११२८) के एक शिलालेख में उसके लिये—"मुनिजन चिनेयजन विनीते युं", "चतुस्स मय समुद्धरणेयुं", "व्रत गुणशील चारित्रान्तः करणे यु", "सम्यक्त्व चूडामणि युं", "उद्वृत सवतिगन्ध वारणे युं", "पुण्योपार्जन करण कारणेयुं", "जिन समय समुदित प्राकारेयुं", "जिन धर्म कथा कथन प्रमोदेयुं", "आहाराभय भैषज्य शास्त्र दान विनोदेयुं", "जिन धर्म निमलेयुं", "भव्य जन वत्सलेयुं" एवं "जिन गन्धोदक पवित्री कृतोत्त भांगेयुं"—इन उत्कृष्ट विशेषणों का प्रयोग कर उसकी श्लाघा की गई है।[2]

लेख संख्या ५३ और ५६ के अनुसार शान्तल देवी ने शक सं. १०४० (ई० सन् १११८) में, श्रवण बेलगोल में **सवति गन्ध वारण वसदि** नामक ६९ फुट लम्बा और ३५ फुट चौड़ा अति भव्य एवं विशाल मन्दिर बनवाया। शान्तल देवी ने प्रभु के अभिषेक के लिये एक तालाब का निर्माण करवाया और इस मन्दिर की सभी प्रकार की व्यवस्था के लिये अपने गुरु प्रभाचन्द्र को एक ग्राम का दान किया।[3] शान्तल देवी ने इस मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की पाँच फुट ऊँची एक आकर्षक मूर्ति की प्रतिष्ठा की। इस मूर्ति के पाद-पीठ पर इसका निर्माण कराने वाली शान्तल देवी की प्रशंसा में उट्टङ्कित श्लोक इस प्रकार है :—

प्रभाचन्द्र मुनीन्द्रस्य, पद पंकज षट् पदा।
शान्तला शान्ति-जैनेन्द्र-प्रतिबिम्बमकारयत् ॥१॥

सिंह पीठ पर—

उत्तौ वक्त्र गुणं दृशोस्तरलतां सद् विभ्रमं भ्रूयुगे।
.... ।
दोषानेव गुणी करोषि सुभगे सौभाग्य भाग्यं तव,
वक्तं शांतल देवि वक्तुमवनौ शक्नोति को वा कविः ॥२॥

---

[1] She also gave a village to the Brahmans and she was associated with the Keshava Temple at Bailur and Hasan that her husband Bittideva Vishnuvardhana, built. Although the royal couple were Jains by persuation, they supported Vaishnavism and Shaivism also. They had as their teacher Prabhachandra Siddhant Deva............
(जैनिज्म इन साउथ इण्डिया—एस०के० रामचन्द्र राव द्वारा लिखित)

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख सं. ५३ (१४३) पृष्ठ ९२

[3] जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८८–१०० और १२३–१२

राजते राजसिंहीव, पार्श्वे विष्णु मही भृतः।
विख्यात्या शान्तलाख्या सा, जिनागारमकारयत् ॥३॥[1]

लेख संख्या ५३ (१४३) शक सम्वत् १०५० के उल्लेखानुसार शान्तल देवी की माता (माचिकव्वे) के पितामह दण्डनायक नागवर्म, माता की दादी चन्दिकव्वे, माता के पिता बलदेव, माता की माता माचिकव्वे तथा उसके मामा मारसिंगैय (शान्तल के पिता और मामा दोनों समान नाम वाले थे)—यह समस्त परिवार परम जिन भक्त एवं परम्परागत प्रगाढ़ श्रद्धानिष्ठ जैन धर्मावलम्बी परिवार था।

इस लेख के श्लोक संख्या २८ से ३२ में नाग वर्म दण्डनायक की, श्लोक संख्या २९ में बलदेव दण्डनायक की तथा श्लोक संख्या ३६ व ३७ में शान्तल देवी के मामा मारसिंगैय की जिनपति भक्त, मुनि चरणाम्बुजातयुगभृंग, जिनधर्माम्बर तिग्मरोचि आदि एवं अन्य प्रशस्त विशेषणों से प्रशंसा की गई है।[2]

श्लोक संख्या १८ में शान्तल देवी के पिता, जिनका नाम भी मारसिंगैय था, के लिये हरपादाम्बुज भक्ति योलु विशेषण प्रयुक्त किया गया है। इससे निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि शान्तल देवी के पिता मारसिंगैय शैव धर्मावलम्बी थे। शान्तल देवी ने शक सं. १०५० (तदनुसार ई. सन् ११२८) की चैत्र शुक्ला ५ सोमवार के दिन **शिव गंगेय तीर्थ में** समाधि पूर्वक पण्डित मरण का वरण कर स्वर्गारोहण किया।[3]

शान्तल देवी के समाधि मरण के पश्चात् उसके माता-पिता का निधन हुआ। इसकी माता माचिकव्वे ने अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव, वर्धमान देव और रविचन्द्र देव की साक्षी से सन्यास (संथारा पंडित मरण) अंगीकार कर एक मास के अनशन के पश्चात् मृत्यु का वरण किया।[4] शान्तल देवी के मातुल ने भी श्रवण वेलगोल में समाधि पूर्वक पण्डित मरण का वरण किया और उसकी पत्नी और भावज ने शक संवत् १०४१ की कार्तिक शुक्ला १२ के दिन उसके समाधिस्थल पर निषद्या का निर्माण करवाया।[5]

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन की पुत्री **हरियब्बरसी** भी जीवनभर परम जिनोपासिका रही। कर्णाटिक प्रान्त में केवल वैष्णव विद्वानों के ही नहीं अपितु रामानुज

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ६२ (१३१) पृ० १४६–१४७
[2] जैन शिलालेख संग्रह भाग १, पृ० सं. ८८ से १००
[3] जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ५३, पृ० ९३
[4] जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ५३, पृ० ९५
[5] जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ५२, पृ० ८७

सम्प्रदाय के जन-जन के मुख से भी एक जनश्रुति सुनने को मिलती है कि होय्सल वंशीय राजा बिट्टिग देव विष्णुवर्द्धन की पुत्री पर एक ब्रह्म राक्षस ने अपना प्रभाव जमा लिया था। औषध-भेषज्य तन्त्र-मन्त्र आदि अनेक उपायों के उपरान्त भी ब्रह्म राक्षस ने राजकुमारी का पीछा नहीं छोड़ा। जब रामानुजाचार्य विष्णुवर्द्धन के राज महल में आये और राजपरिवार के अन्य सदस्यों की भांति उस राजकुमारी ने भी जब रामानुजाचार्य के चरणों का स्पर्श किया तो उनके चरणों के स्पर्श मात्र से ब्रह्म राक्षस राजकुमारी को अपने प्रभाव से सदा के लिए मुक्त कर अन्यत्र चला गया।

इस जनश्रुति की प्रामाणिकता हेतु जब पुरातत्व सामग्री का अवलोकन करते हैं तो यह जनश्रुति नितान्त निराधार किंवदन्ती ही सिद्ध होती है।

हन्तूरू (हन्तियूर-गोणी बीड्ड परगना) की ध्वस्त जैन वसदि से प्राप्त शक सं. १०५२ (ई. सन् ११३०) के शिला लेख सं. २९३ से सिद्ध होता है कि विष्णुवर्द्धन की पुत्री हरियब्बरसि जीवनभर जैन धर्म की अनन्य उपासिका रही। इस शिलालेख में उल्लेख है कि जिस समय विष्णुवर्द्धन का पुत्र त्रिभुवनमल्ल कुमार वल्लाल देव राज्य कर रहा था, उस समय विष्णुवर्द्धन की पुत्री और कुमार वल्लाल देव की ज्येष्ठ भगिनी तथा गण्ड विमुक्त-सिद्धान्त देव की गृहस्था शिष्या हरियब्बरसि ने हन्तियूर के रत्न जटित उत्तुंग शिखरों वाले चैत्यालय तथा मन्दिर के जीर्णोद्धार, पूजा, ऋषियों एवं वृद्ध महिलाओं को आहार दान देने आदि कार्यों की व्यवस्था हेतु सभी भांति के करों से विमुक्त भूमि का दान **गण्ड विमुक्त सिद्धान्त देव** को दिया।[1]

विष्णुवर्द्धन का उत्तराधिकारी नरसिंहदेव भी जीवनभर प्रगाढ़ निष्ठा सम्पन्न जैन धर्मावलम्बी और जैन धर्म का संरक्षक रहा, यह भी इतिहास सिद्ध तथ्य है। इन सब प्राचीन अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन और उनके परिवार का प्रत्येक सदस्य जीवन पर्यन्त जैन धर्म का अनुयायी, संवर्द्धक और जैन श्रमणों का श्रद्धालु उपासक रहा। यदि विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव धर्म अंगीकार किया होता तो निश्चित रूप से उसके आश्रित उसके परिवार के सदस्यों, मन्त्रियों, सेना नायकों आदि में से कोई न कोई तो उसका अनुसरण करके अवश्यमेव वैष्णव धर्मावलम्बी बना होता।

गंग राज चमूपति

होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के महा दण्डनायक सेनापति गंगराज अपने समय के महान योद्धा और परम धर्मनिष्ठ जिन भक्त थे।

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृष्ठ ४४५–४४६

गंगराज का जन्म कर्णाटक प्रदेश के कौण्डिन्य गोत्रीय ब्रह्मक्षत्र परिवार में हुआ। यह परिवार परम जिन भक्त और जैन धर्मानुयायियों में अग्रणी माना जाता था। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अनेक शिलालेख इस कट्टर जैन धर्मानुयायी सेनापति की यशोगाथाओं से भरे पड़े हैं। गंगराज द्वारा जैन धर्म की श्रीवृद्धि, प्रचार, प्रसार एवं संरक्षण के लिये किये गये कार्यों का लेखा-जोखा करने पर उन्हें सम्पूर्ण दक्षिणा पथ का, जैन धर्म का प्रमुख आधार स्तम्भ कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। श्रवण बेल्गोल की शासन वस्ति के सम्मुख एक शिला पर उट्टंकित लेख में इन्हें गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति के निर्माता एवं प्रतिष्ठापक चामुण्डराय से भी शतगुना अधिक जिन प्रभावक बताया गया है।[1] अनेक शिलालेखों में गंगराज को "श्री जैन धर्म्मामृताम्बुधिविवर्धन सुधाकर", "सम्यक्त्वरत्नाकर", "विष्णुवर्द्धन भूपाल होय्सल महाराज राज्याभिषेक पूर्ण कुम्भ", "धर्म हर्म्योद्धरण मूल स्तम्भ", "विष्णुवर्द्धन होय्सल महाराज राज्य समुद्धरण", "जिनराज राजत् पूजा पुरन्दर", "कर्णाटकधरामरो त्रंस", "जिन मुख चन्द्रवाक् चन्द्रिका, चकोर", "विशुद्धरत्न त्रया कर", "चारित्र लक्ष्मी कर्णपूर", "जिन शासन रक्षामणि" एवं "द्रोह घरट्ट" आदि उच्चकोटि की उपाधियों से विभूषित किया गया है।[2]

सेनापति गंगराज ने अगणित ध्वस्त जैन मन्दिरों एवं वसदियों का पुनर्निर्माण एवं अनेक मन्दिरों एवं वसदियों का नव-निर्माण, करवाकर उनके प्रबन्ध एवं श्रमणों के आहार आदि के लिए स्थान-स्थान पर भूमिदान दिया। महा दानी गंगराज ने जैन धर्म की श्रीवृद्धि हेतु अनेक उल्लेखनीय दान प्रदान कर गंगवाडी ९६००० को कोपण के समान चमकाया।[3]

होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन के राज्य को शक्तिशाली और विशाल बनाने में उसके प्रधान सेनापति गंगराज का सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान रहा। गंगराज ने अपने स्वामी के दुर्जेय प्रबल शत्रु नरसिंह वर्म और चोल राज के अधीनस्थ इडियम आदि अनेक शत्रु शासकों की सम्मिलित विशाल सेनाओं को रणांगण में पराजित कर विशाल भू भाग पर अपने स्वामी की विजय वैजयन्ती फहराई। इस अति महत्वपूर्ण विजय से विष्णुवर्द्धन का राज्य एक प्रबल शक्तिशाली राज्य बन गया। इस विजय से विष्णुवर्द्धन इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने गंगराज को मुंह मांगा वरदान देने की प्रतिज्ञा की। गंगराज ने उस वरदान के उपलक्ष में तिप्पूर का स्वामित्व मांगा। राजा ने तत्काल गंगराज को तिप्पूर का स्वामित्व प्रदान कर दिया। गंगराज ने क्राणूर गण तिन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य मेघनन्द्र

---

1 जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ५६ (७३) पृ० सं. १३८-१४३

2 जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख सं. ४४ एवं भाग २ का लेख संख्या ३०१

3 जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख सं. ५६, ६० और ३०१

सिद्धान्त देव को उस तिप्पूर का दान कर दिया। संभवतः मेघचन्द्र सिद्धान्त देव यापनीय संघ के आचार्य थे।[1]

गंगराज ने तैलंगों और कन्नेगाले में चालुक्य नरेश त्रिभुवन मल्ल पेर्माडि देव को रणभूमि में पराजित कर अपने साहसपूर्ण पराक्रम का परिचय दिया।[2]

गंगराज ने तलकाडु, कोंगु, चेंगिरि आदि दुर्जेय दुर्गों पर अधिकार किया और अदिपम, तिगल, दाम, दामोदर आदि शत्रुओं को युद्ध में परास्त किया। दुर्जेय शत्रुओं को परास्त करने के उपलक्ष में प्रसन्न हो विष्णु वर्द्धन ने उन्हें गोविन्द वाड़ी नामक ग्राम परितोषिक रूप में प्रदान किया जिसे भी गंगराज ने गोम्मटेश्वर की पूजा व्यवस्था के निमित्त दान में दे दिया।[3]

विष्णुवर्द्धन के प्रधान सेनापति गंगराज ने शक सं. १०४० (ई. सन् १११८) के आस-पास श्रवण बेलगोल से उत्तर में आधा कोस पर "जिननाथ पुर" नामक एक नगर बसाया।[4] शक सं. १०३९ (ई० सन् १११७) के आस-पास गोमटेश्वर के चारों ओर परकोटे का निर्माण करवाया।[5]

प्रधान सेनापति गंगराज पुस्तक गच्छ के आचार्य शुभचन्द्र सिद्धान्त देव के श्रद्धा निष्ठ श्रावक शिष्य थे।[6] गंगराज ने अपने गुरु शुभचन्द्र सिद्धान्त देव, अपनी माता पोचि कव्वे और धर्मपत्नि लक्ष्मी के स्मारक बनवाये। प्रधान सेनापति गंगराज ने जैनधर्म को प्रतिष्ठा के सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित करने के लिये इतने अधिक महत्वपूर्ण कार्य किये कि उन सबकी पुष्टि करने वाले शिलालेखों आदि का विस्तारभय से यहां उल्लेख करना संभव नहीं। यही कारण है कि ईसा की दशवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच की अवधि में चामुण्डराय, गंगराज और बोप्पदेव दक्षिणा पथ में जैनधर्म के तीन महान् आधार स्तम्भ एवं संरक्षक गिने गये। इनमें भी गंगराज का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

गंगराज ने अनेक जिन मन्दिरों एवं वसदियों की ही भांति अनेक ध्वस्त नगरों का भी पुर्ननिर्माण करवाया।[7] मानव जीवन के परम लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों की साधना में जीवन भर निरत रहते हुए गंगराज ने

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० २६३
२. ,, ,, ,, १, लेख सं० ५६
३. ,, ,, ,, लेख सं० ५६ और ६०
४. ,, ,, ,, लेख सं० ४७८ (३८८) पृ० ३७७-३७८
५. ,, ,, ,, लेख सं० ७५ और ७६
६ ,, ,, ,, लेख सं० ५६ (७३)
७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख सं० ४११

धर्म की धुरा का वहन करने के साथ-साथ राज्य की धुरा के वहन करने में भी अद्भुत धौरेयता प्रदर्शित की। गंगराज ने न केवल कर्णाटक के ही अपितु सम्पूर्ण दक्षिणापथ के अभ्युदय, अभ्युत्थान एवं उत्कर्ष के लिये जीवन-पर्यन्त बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन का सन्धि-विग्रहिक पुणिस भी परम जिनोपासक और जैन धर्मावलम्बी अधिकारियों में अग्रगण्य एवं जैन संघ को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने वाले कार्यों में महादण्ड नायक गंगराज का अनन्य सहयोगी था। राज्य सेवा और धर्म सेवा के साथ-साथ पुणिस ने मानव सेवा के अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर होय्सल राज्य की प्रतिष्ठा और शक्ति में अभिवृद्धि की। युद्ध पीड़ित किसानों, व्यापारियों एवं प्रजा के सभी वर्गों को उसने सभी भांति की सहायता प्रदान कर उनके अस्त-व्यस्त जीवन को सुचारु रूपेण पुनर्संस्थापित किया। पुणिस ने त्रिकूट वसदि का निर्माण करवाया और गंगवाडी की सभी वसदियों को आत्मनिर्भर बनाया।

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन का पुत्रवत् प्रिय एव परम विश्वास पात्र दूसरा दण्डनायक इम्मडि बिट्टियण भी तत्कालीन जैनधर्मावलम्बियों में अग्रणी एवं प्रमुख जिन भक्त था। छाया के समान सदा विष्णुवर्द्धन के साथ रहने के कारण वह राज भवन में एवं लोक में विष्णु दण्ड नायक के नाम से विख्यात था। आचार्य श्रीपाल त्रैविद्य जी विष्णुवर्द्धन के गुरु थे। उन्हीं का विष्णु दण्डनायक भी निष्ठावान् गृहस्थ शिष्य था। उस समय के महादानियों में इसकी गणना की जाती थी। दण्ड नायक विष्णु ने जैन धर्म की श्रीवृद्धि एवं लोक कल्याण के अनेक कार्य किये।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है दण्डनायक विष्णु ने होय्सल राज्य की राजधानी दोर समुद्र में, ई० सन् ११३७ में विष्णुवर्द्धन की चिर स्मृति के लिये "विष्णुवर्द्धन जिनालय" नामक एव भव्य एवं विशाल जिनालय का निर्माण करवाया। इस जिनालय की सुव्यवस्था, सार सम्हाल एवं मुनिजनों के आहार आदि की व्यवस्था के लिये महादण्ड नायक विष्णु ने महाराजा विष्णुवर्द्धन के हाथों बीज बोलल नामक ग्राम प्राप्त कर अपने गुरु श्रीपाल त्रैविद्य को दान में दिया।[1]

विष्णुवर्द्धन का तीसरा दण्डनायक बोप्प भी अपने पिता महा दण्डनायक गंगराज के समान जैन धर्म का सबल संरक्षक, शूरवीर, धर्म निष्ठ और परम जिन भक्त था। इसने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं श्रीवृद्धि के अनेक कार्यों के निष्पादन

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख संख्या ३०५, पृष्ठ १-१२

के साथ-साथ "**द्रोह घरट्ट जिनालय**" "शान्तिश्वर वसदि", "त्रैलोक्य रंजन वसदि" अपर नाम "वोप्पण चैत्यालय" आदि भव्य मन्दिरों तथा वसदियों का ई० सन् ११३३ और ११३८ के आस-पास निर्माण करवाया। वोप्प का अपर नाम एचण भी था।[1] बोप्प दण्डनायक ने जिन धर्म की प्रभावना वर्द्धक एवं सर्व साधारण के हित के अनेक कार्य किये। जब गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता-बम्म चमू पति के पुत्र दण्ड नायक ऐच ने ई० सन् ११३५ में श्रवण बेलगुल में संल्लेखना पूर्वक घर-द्वार, असन-पानादि का त्याग कर सन्यसन (पंडित मरण) विधि से प्राणोत्सर्ग किया, उस समय बोप्प दण्डनायक ने अपने दिवंगत ज्येष्ठ बन्धु दण्डनायक ऐच की स्मृति में निषद्या का निर्माण करवाया और ऐचिराज द्वारा निर्मित कराई गई वसदियों के प्रबन्ध आदि के लिये **गंग समुद्र** की कुछ भूमि का माघचन्द्र देव को दान किया।[2]

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के चौथे और पांचवें दण्डनायक (सेनापति) भ्रातृद्वय क्रमशः मरियाने और भरत अपने समय के अग्रणी जैन धर्मानुयायी और परम जिन भक्त थे। ये दोनों भाई अग्रगण्य धर्मिष्ठ होने के साथ-साथ बड़े ही शूर-वीर, साहसी एवं अप्रतिम योद्धा थे। तत्कालीन शिलालेखों के अनुसार इन बन्धु द्वय का होय्सल राजवंश के साथ पीढ़ियों का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण महा-राजा विष्णुवर्द्धन ने **सर्वाधिकारी, माणिक्य** भण्डारी, **प्राणाधिकारी**, चमूपति आदि महत्वपूर्ण पद प्रदान किये।[3] विष्णुवर्द्धन ने अपने राज्य की धुरा को वहन करने में मरियाने को पट्ट-राज्य-गजेन्द्र **तुल्य सक्षम-समर्थ समझकर** महासेना पति **पद पर** अधिष्ठित किया। दण्डनायक मरियाणे के लघु सहोदर महामंत्री तथा दण्ड-नायक भरत ने गंगवाडी में ८० नवीन बस्तियों का निर्माण और २०० जीर्ण-शीर्ण वसदियों का जीर्णोद्धार करवाया। भरत चमूपति ने गोमटेश की सीढ़ियों, इस तीर्थ स्थान में द्वार की शोभा-वृद्धि हेतु भरत और बाहुबलि की मूर्तियों का निर्माण करवाया। महाप्रधान भरत ने गोमटेश्वर की रंग शाला का परकोटा भी बनवाया। सिंदगेर की वसदि के लिये इन्होंने विष्णुवर्द्धन से भूमि भी प्राप्त की। इस प्रकार इन दोनों भाइयों ने जिन धर्म की प्रभावना एवं जैन संघ की श्रीवृद्धि के अनेक कार्य किये।[4]

इन दोनों महादण्डनायकों के गुरु देशी गण पुस्तक गच्छ के आचार्य **माघ-नन्दि** के शिष्य **गण्डविमुक्त मुनि थे**। महाराजाधिराज विष्णुवर्द्धन के ये दोनों-महा दण्डनायक विष्णुवर्द्धन के पुत्र महाराजाधिराज सिंहदेव प्रथम के शासन काल में भी कतिपय वर्षों तक महादन्ड नायक पद पर रहे।

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ लेख सं० ६६ (१२०), पृष्ठ १४६
२. जैन शिलालेख सं० भाग १ लेख सं० १४४ (३८४), पृष्ठ २६४-२६६
३. जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ लेख सं० ३०७, ३०८, ४११
४. जैन शिलालेख सं० भाग १, लेख सं० ११५ (२६७), पृष्ठ २२७-२२८

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के छठे सेनापति **ऐच** थे। ये **महादण्डनायक गंगराज** के ज्येष्ठ भ्राता **बम्म चमूपति के पुत्र** थे। दण्डनायक **ऐच** अपने पिता, पितृव्य एवं चचेरे लघु भ्राता के समान धर्म-नीति और राजनीति दोनों ही में समान रूप से निष्णात थे। ये युद्ध **शौण्डीर** भी थे और धर्म धुरा धौरेय भी। **ऐच** ने अपने जीवनकाल में एक ओर अनेक युद्धों में विजयश्री प्राप्त की, तो दूसरी ओर **कोपरण बेल्गुल** आदि अनेक स्थानों में जिन मन्दिरों एवं वसदियों का निर्माण भी करवाया और अन्त में आयु का अवसान काल उपस्थित होने पर समस्त सांसारिक कार्य-कलापों से उन्मुख हो अशन-पानादि का जीवन-पर्यन्त त्याग करके तथा सम्पूर्ण पापों की आलोचना कर संलेखना-संथारा पूर्वक पण्डित-मरण (सन्यसन) विधि से शक सं. १०५७ (ई. सन् ११३५) में मृत्यु का वरण किया।[१]

महाराजाधिराज विष्णु वर्द्धन के सातवें दण्डनायक **बलदेवण्ण** और आठवें **दण्डनायक मादिराज** भी आदर्श जिनभक्त थे।

इस प्रकार होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के आठों ही सेनापति प्रगाढ निष्ठावान् जैन धर्मानुयायी एवं आदर्श श्रावकोत्तम थे। विष्णुवर्द्धन के आठों ही स्वामिभक्त सेनापतियों ने जीवनभर अपने स्वामी के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए होय्सल राज्य की अभिवृद्धि एवं समृद्धि के अभिवर्द्धन के साथ-साथ जिन शासन की सेवा के, जैन धर्म की रक्षा के तथा जैन संघ की प्रतिष्ठा को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने के अनेक उल्लेखनीय कार्य किये और अपने-अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक एक आदर्श सच्चे जैन के रूप में श्लाघा योग्य पण्डित मरण का वरण किया। वे सब के सब सच्चे अर्थों में कर्मठ कर्मवीर एवं धर्मवीर थे।

इन सब तथ्यों से सिद्ध होता है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन अपने बाल्यकाल से जीवन के अन्तिम क्षणों तक जैन धर्मावलम्बी, जिन शासन का संरक्षक और संवर्द्धक रहा। **मर्कुलि किले** के अन्दर की वसदि के एक शिलालेख के अनुसार विष्णुवर्द्धन का राज्य अति विशाल था। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में उसके राज्य की सीमा समुद्र और उत्तर में **पेद्दोरे** को इसने अपने राज्य की सीमा बनाया।[२]

नरसिंह प्रथम (ई. सन् ११५२ से ११७३) महाप्रतापी होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के पश्चात् इस राजवंश का राजा नरसिंहदेव हुआ। यह भी अपने पिता के ही समान धर्मनिष्ठ, साहसी, योद्धा, प्रजावत्सल और लोकप्रिय राजा था। नरसिंह देव ने जैन धर्म के वर्चस्व की अभिवृद्धि एवं प्रचार-प्रसार के अनेक कार्य किये।

नरसिंह देव के सेनापति **चाविमय्य** भी परम जिन भक्त था। अपने यौवन काल में यह सेनापति सम्पूर्ण दक्षिणा पथ में होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के गरुड के नाम से विख्यात हुआ। इसने होय्सल राज्य की समृद्धि के साथ-साथ जैन संघ की श्रीवृद्धि में भी उल्लेखनीय सहयोग दिया। सेनापति **चाविमय्य** की धर्मपत्नी **जक्कव्वे** ने **हेरगू** में एक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण करवा कर वहाँ **चेन्न पार्श्वनाथ** की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी। जिनेश्वर की पूजा-अर्चा एवं ऋषियों के आहार आदि की व्यवस्था एवं भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर मन्दिर की मरम्मत के लिए **जिक्कव्वे** ने नरसिंह देव से प्रार्थना कर उनसे भूमि प्राप्त की और उस भूमि का दान ई. सन् ११५५ के लगभग मन्दिर को किया।[1]

नरसिंह देव के एक अन्य दण्डनायक **शान्तियरण** ने अपने पिता **पारिसण्ण** की स्मृति में एक वसदि का निर्माण करवाकर **मल्लिषेण** पण्डित को कृषि भूमि का दान किया।[2]

होय्सल राजवंश के शासनकाल में सर्व धर्म समभाव का भी एक उदाहरण ई. सन् ११५० के **कैदाल** के एक शिलालेख से प्रकाश में आया है। मान्य खेटपुर के अधीश्वर **गूलिवाचि ने**—जो कि होय्सल नरेश विष्णुवर्धन का और उसके पुत्र नरसिंह देव का भी अधीनस्थ सामन्त था, **कय्दाल** (कैदाल) में एक जिनेश्वर मन्दिर, एक गंगेश्वर मन्दिर (शिव मन्दिर), एक नारायण मन्दिर और एक **चल वरिवेश्वर** मन्दिर—इस प्रकार चारों धर्मों के चार मन्दिरों का निर्माण करवाकर सब धर्मों के प्रति अपना समभाव दर्शाया। इस मान्य खेटपुराधीश्वर की रानी **भीमले** परम जिन भक्त और जैन धर्म की प्रमुख उपासिका थी। अपनी जैन धर्मावलम्बिनी रानी के नाम पर राजा **गूलिवाचि** ने **भीम जिनालय** नामक **वसदि** और भीम **समुद्र** नामक एक सुन्दर सरोवर का निर्माण करवाया। मान्य खेट पति राजा गूलिवाचि ने इस जिनालय की पूजा-अर्चा एवं मुनियों के लिए आहार आदि की व्यवस्था हेतु भूमि का दान किया।[3]

होय्सल नरेश नरसिंह के मन, मस्तिष्क पर वंश परम्परागत जैन संस्कृति के संस्कारों की अमिट छाप उसके बाल्यकाल से ही अंकित हो चुकी थी, यह **गुगुली** से प्राप्त एक शिलालेख से विदित होता है। इस शिलालेख में उल्लेख है कि शक सं. १०६९ (तदनुसार ई, सन् ११४७) में जिस समय कि होय्सल नरेश विष्णुवर्धन का शासनकाल था, कुमार नरसिंह देव ने गुगुलि **अग्रधार** के **"गोविन्द जिनालय"** की

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख सं. ३३६

[2] जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख सं. ३४७ पृ० ११० से ११७

[3] जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख सं. ३३३ पृ० ८५ से ९५

सभी भांति की समुचित व्यवस्था के लिए मन्दिर के नाम पर कृषि योग्य एक उपजाऊ भूखण्ड का दान किया।[1]

चालुक्य साम्राज्य वस्तुतः होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के बंकापुर में निवास करने के समय से ही लड़खड़ाना प्रारम्भ हो गया था। चालुक्य सम्राट **तैल तृतीय** (ई. ११४९–६३) के एक अशक्त एवं अयोग्य शासक होने के परिणामस्वरूप चालुक्य साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। चालुक्यों के कलचुरी सामन्त **बिज्जल** के अन्तर्मन में, जो कि सैनिक सेवा के लिए उसके पूर्वजों को चालुक्यों द्वारा दी गई तारद वाडी की जागीर का उपयोग कर रहा था, तैल तृतीय की अयोग्यता अशक्तता को देखकर एक महात्वाकांक्षा का उदय हुआ। उसने **तैल तृतीय** की अयोग्यता का लाभ उठाकर शनैः-शनैः अपनी शक्ति को सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया। **कलचुरी सामन्त बिज्जल** की ही भांति **काकतीय सामन्तों** ने भी चालुक्य साम्राज्य द्वारा, ई. सन् १००० में उन्हें प्रदत्त **सब्बी** जिले और **अनुप कोण्डा** की अपनी पुरानी जागीर में निरन्तर विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया।

कलचूरियों और काकतीय सामन्तों की भांति **देवगिरि के यादवों ने भी चालुक्य** साम्राज्य के प्रति परम्परागत अपनी स्वामिभक्ति को तिलांजलि दे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिये अपनी शक्ति और सीमा का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया।

बिज्जल ने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्त्ति के लिये बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। उसने **तैल** के समक्ष उसके विरुद्ध भीतर ही भीतर सुलगती हुई विद्रोह की आग का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करते हुए विद्रोह को भड़काने से पहले ही कुचल डालने का उसे परामर्श दिया। **तैल तृतीय** ने बिज्जल को अपना अनन्य हितैषी समझ कर उसे सैन्य संचालन, कोषोपयोग आदि के अनेक उच्चाधिकार प्रदान किये। इन अधिकारों का उपयोग बिज्जल ने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु शक्ति संचय में किया। इसका परिणाम यह हुआ कि तैल तृतीय नाम मात्र का सम्राट रह गया क्योंकि वस्तुतः साम्राज्य संचालन की सम्पूर्ण शक्ति बिज्जल ने ई. सन् ११५२ और श्री फ्लीट के अभिमतानुसार ईस्वी सन् ११५६ में ही अपने में केन्द्रित करली थी।[2] कूटनीति का आश्रय लेकर बिज्जल ने तैल तृतीय को काकतियों के विरुद्ध उकसा कर उससे काकतीय सामन्त प्रोल की राजधानी अनुमकोण्डा पर आक्रमण करवा दिया। प्रोल सतर्क था और पर्याप्त शक्ति संपन्न

कर चुका था और इसके विपरीत तैल तृतीय की शक्ति उसके सामन्तों की दुरभिसन्धि के परिणामस्वरूप क्षीण हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में **अनुमकोण्डा** पर आक्रमण करते ही प्रोल अपनी शक्तिशाली सेना के साथ तैल तृतीय को परास्त कर उसे रणांगण में ही बन्दी बना लिया। परन्तु प्रोल ने चालुक्य साम्राज्य के साथ अपने परम्परागत सम्बन्धों को दृष्टिगत रखते हुए तैल तृतीय को मुक्त कर उसे सकुशल उसकी राजधानी की ओर लौटने का समुचित प्रबन्ध कर दिया। **प्रोल** के पश्चात् उसके पुत्र रुद्र और **तैल तृतीय** के बीच शत्रुता चलती रही और रुद्र के आतंक से तैल तृतीय संग्रहणी रोग का रोगी बन ई० सन् ११६२ में पञ्चत्व को प्राप्त हुआ। तैल तृतीय की मृत्यु के पश्चात् बिज्जल विशाल साम्राज्य का स्वामी बन बैठा।

चालुक्य साम्राज्य के अवशेषों पर कलचूरी राज्य की स्थापना करते ही बिज्जल ने होय्सल राज्यान्तर्गत वनवासी प्रदेश पर आक्रमण कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।[1]

---

[1] वाम्वे गजट Vol. 1 Pt. II P. 474.

समन्वय का एक ऐतिहासिक पर असफल प्रयास

पिछले प्रकरणों में चैत्यवासी परम्परा, भट्टारक परम्परा, यापनीय परम्परा आदि विभिन्न परम्पराओं के उद्भव, विकास, प्रचार-प्रसार एवं उनके कार्य-कलापों पर जो प्रकाश डाला गया है उससे सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्त्ती काल में जैन धर्म की अध्यात्मपरक मूल परम्परा के स्थान पर द्रव्य परम्पराओं का प्रायश: सर्वत्र वर्चस्व स्थापित हो गया था और लोक प्रवाह भाव अर्चना को भूल कर द्रव्यार्चना को ही धर्म और धर्म के स्वरूप का मूल समझने लगा था।

द्रव्य परम्परा, द्रव्यार्चना अथवा द्रव्य पूजा के वर्चस्व काल में जो मूल भाव परम्परा में शिथिलाचार का प्राबल्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया उससे मुमुक्षु साधुओं को बड़ी चिन्ता हुई।

मूल परम्परा के वर्चस्व को पुन: स्थापित करने के लिये अनेक आत्मार्थी मुमुक्षु आचार्यों एवं श्रमणों आदि ने अनेक बार प्रयास किये। पर उनके परिणाम आशानुकूल नहीं निकले। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से आगे यथास्थान विचार किया जायेगा। ऐसे प्रयत्नों के असफल होने पर भी वे महापुरुष निराश नहीं हुए। उनके प्रयत्न निरन्तर जारी रहे। इसका प्रमाण है समय-समय पर चैत्यवासी परम्परा के अन्दर से ही प्रकट हुए क्रियोद्धारक सन्त।

जैन परम्परा का देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती काल का साहित्य इस बात का साक्षी है कि इन द्रव्य परम्पराओं के वार्द्धक्य काल में भी समय-समय पर अनेक आत्मार्थी श्रमणों ने आगमों से धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ कर इन द्रव्य परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने अपनी द्रव्य परम्पराओं से पूर्णत: बचकर भाव परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिये जीवन भर अथक प्रयास किये। उनके प्रयास आंशिक रूप में ही सफल हुए। यदि यह कह दिया जाय कि उन क्रियोद्धारकों में से अधिकांश को अपने प्रयास में वस्तुत: असफलता का ही

मुंह देखना पड़ा तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनकी असफलता का मूल कारण यह था कि द्रव्य परम्पराओं के समर्थकों ने न केवल सत्ताधीशों को ही अपितु जन मानस को भी पूर्ण रूपेण प्रभावित कर अपनी ओर कर लिया था। द्रव्य परम्पराओं के संचालकों द्वारा प्रचचन में लाये हुए चित्ताकर्षक धार्मिक आयोजनों के परिणाम-स्वरूप इन परम्पराओं द्वारा प्रचलित की गई सभी मान्यताएं लोक में धर्म के नाम पर रूढ़ हो गई थी। इसके साथ ही उन क्रियोद्धारकों के असफल होने का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि इन शक्तिशाली बनी हुई द्रव्य परम्पराओं के अनुयायी राजाओं, सामन्तों, कोट्याधीशों, व्यापारियों आदि के द्वारा जन साधारण को जो प्रलोभन उस समय प्राप्त थे, उस प्रकार के प्रलोभन देने की स्थिति में ये नये क्रियोद्धारक पूर्णतः अक्षम थे।

भाव परम्परा की पुनः स्थापना के लिये समय-समय पर मुमुक्षुओं द्वारा किये गये प्रयासों के पुनः पुनः असफल हो जाने के उपरान्त भी भाव परम्परा के पक्षधर साधु साध्वी श्रावक श्राविका वर्ग हतोत्साहित नहीं हुआ। भाव परम्परा को पुनः स्थापित करने और द्रव्य परम्परा को निसत्व एवं निर्बल करने के प्रयास अध्यात्मपरक आत्मार्थी मुमुक्षुओं द्वारा समय-समय पर किये ही जाते रहे।

"महानिशीथ सूत्र" के अथ से इति तक अध्ययन व पर्यालोचन से यह प्रकट होता है कि भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के मूल स्वरूप में आस्था रखने वाला श्रमण वर्ग एवं साधक वर्ग वस्तुतः जैन धर्म के स्वरूप में और श्रमणाचार में द्रव्य परम्पराओं द्वारा लाई गई विकृतियों से बड़ा चिन्तित रहा। धर्म के मूल स्वरूप में उत्तरोत्तर बढ़ती गई विकृतियों और श्रमण वर्ग में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ शिथिलाचार यह सब कुछ उन आचार्यों श्रमणों और साधुओं के हृदय में शल्य की तरह खटकता रहा।

महानिशीथ के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न इकाइयों में विभक्त धर्म संघ में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मान्यता भेदों पर यदि किसी प्रकार का अंकुश लगाकर जैन संघ को एकता के सूत्र में आबद्ध नहीं किया गया तो इसके दूरगामी परिणाम बड़े भयावह सिद्ध होंगे इस आशंका से चिन्तित होकर विभिन्न परम्पराओं के नायकों ने भाव परम्परा और अनेक गणों, गच्छों, सम्प्रदायों एवं धर्म संघों में विभक्त हुई द्रव्य परम्पराओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

महानिशीथ की रचना किसके द्वारा और किस समय में की गई इस सम्बन्ध में तो, प्रमाणाभाव में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु महानिशीथ में ही विद्यमान उल्लेख से यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि विक्रम

संवत् ७५७ से ८२७ के बीच हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसका शोधन परिवर्द्धन पुनरालेखन आदि के रूप में पुनरुद्धार किया।[1]

महानिशीथ की उस समय में उपलब्ध एक मात्र प्रति के बहुत से स्थल दीमकों द्वारा खा लिये गये थे। कहीं पंक्तियां, कहीं अक्षर, कहीं पृष्ठ तो कहीं पूरे के पूरे तीन-तीन पत्र नष्ट हो गये थे। उस सड़ी-गली और दीमकों द्वारा खाई हुई महानिशीथ की प्रति के उद्धार के पीछे आचार्य हरिभद्र का और उनके साथ मधुर सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न परम्पराओं के कतिपय आचार्यों का मूल उद्देश्य जैन धर्म संघ में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मान्यता भेद को यथा सम्भव मिटाना अथवा कम करना और अनेक संघों, गणों, गच्छों अथवा सम्प्रदायों के रूप में छिन्न-भिन्न हुए धर्मसंघ में एक समान मान्यताएं प्रचलित कर समन्वय स्थापित करने का था। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये हरिभद्र सूरि ने और तत्कालीन विभिन्न संघों के आचार्यों ने महानिशीथ के मूल पाठ में अनेक नवीन आलापक पृष्ठ के पृष्ठ भी जोड़े हैं, यह महानिशीथ के निम्नलिखित पाठों से स्वतः ही सिद्ध होता है।

(१) तहा ओसन्ने सु जाणे नेत्थं लिहिज्जइ।

(२) पासत्थे नाणमादीणं।

(३) सच्छन्दे उस्सुत्तुमग्गगामी।

(४) सबले नेत्थं लिहिज्जति गंथवित्थरभयाओ।

(५) भगवया उण एत्थं पत्थावे कुसीलादी महया पवंघेणं पन्नविए।

(६) एत्थं च जा जा कत्थइ अन्नन्न वायणा सा सुमुणिय-समय-सारेहिं न पओसेयव्वा, जओ मूलादरिसे चेव बहुं गंथं विप्पणट्ठं।

---

[1] एत्थ य जत्थ पयं पएणानुलग्गं सुत्तालावगं न संपज्जइ, तत्थ तत्थ सुयहरेहिं कुलिहिय दोसो न दायव्वो त्ति।

किन्तु जो सो एयस्सा अचिंत चिन्तामणि कप्प भूयस्स महानिसीह सुयक्खंधस्स पुव्वायरिसो आसि, तहिं चेव खंडाखंडीए उद्देहियाइएहिं हेऊहिं बहवे पण्णगा परिसडिया।

तत्था वि "अच्चंत सुमह" अत्थाइसयं ति इमं महानिसीह सुयक्खंधं कसिण पवयणस्स परम सारभूयं परं तत्तं महत्थं "त्ति कलिऊणं"।

पवयण वच्छलत्तणेणं बहु भव्व सत्तोवयारियं च नाउं तहा य आय हियट्ठाए आयरिय हरिभद्देणं जं तत्थ आयरिसे दिट्ठं तं सव्वं स मतीए साहिऊणं लिहियं ति।

अन्नेहिं पि सिद्धसेण दिवाकर वुड्ढवाई जक्खसेण देवगुत्त जसवद्धण खमासमण-सीस रविगुत्त नेमिचंद जिनदास गणि खमग सव्व रिसि पमुहेहिं जुगप्पहाण सुयहरेहिं बहुमन्नियं इणं ति।

(महानिशीथ जैसलमेर में प्राप्त हस्तलिखित प्रति)

(७) ताहिं च जत्थ जत्थ संबंधाणुलग्गं संबुज्झइ, तत्थ तत्थ बहुएहिं सुयहरेहिं संमिलिउणं संगोवंग दुवालस अंगाओ मुयसमुद्दाओ अन्न-मन्न-अंग-उवंग-सुयक्खंध-अज्झयण उद्देसगाणं समुच्चिणिऊण किंचि किंचि संवज्झमाणं एत्थं लिहियं, नउण सक कव्वं कयं ति ।

(महानिशीथ, तीसरा अध्ययन, पृष्ठ ७१, पैरा ४६—हेम्बर्ग (जर्मनी) से सन् १९६३ में प्रकाशित ।

(२) एयस्स य कुलिहिय दोसो न दायव्वो सुयहरेहिं । किंतु जो चेव एयस्स पुव्वायरिसो आसि तत्थ एव कत्थइ सिलोगो, कत्थइ सिलोगद्धं, कत्थइ पयक्खरं, कत्थइ अक्खर, पंतिया, कत्थइ पण्णगा पुत्थियं कत्थइ बे तिन्नि पन्नगाणि एवमाइ बहु गन्थं परिगलियं ति ।

(वही, हेम्बर्ग में प्रकाशित महानिशीथ पृष्ठ ३० पैरा २८)

अर्थात्—"इस महानिशीथ में कहीं-कहीं जो वाचना भेद दृष्टिगोचर होता है, उसके लिये सिद्धान्तों और शास्त्रों के मर्मज्ञों को चाहिये कि वे दोष न दें क्योंकि इस ग्रन्थ की जो मूल आदर्श प्रति थी, उसमें बहुत सा अंश नष्ट हो गया था । जिन जिन स्थलों पर नष्ट हुए मूल पाठ के स्थान पर जो कुछ सुसम्बद्ध और समुचित पाठ प्रतीत होता था, इस प्रकार के पाठ स्थान-स्थान पर बहुत से शास्त्रज्ञ निष्णात श्रुतधरों ने एक साथ बैठकर एवं विचार विमर्श करके श्रुतसमुद्र के अर्थात् द्वादशांगी, अन्यान्य अंग, उपांग, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन एवं उद्देशकों से चुन-चुन कर उन रिक्त स्थलों में उससे सम्बन्धित नया पाठ लिख दिया । वह कोई उनकी स्वतन्त्र कृति नहीं थी ।

श्रुतधरों को इस प्रकार का दोष नहीं देना चाहिये कि इस महानिशीथ के पाठों को समुचित रूप में नहीं लिखा गया है, बुरे ढंग से लिखा गया है । क्योंकि इसकी जो मूल आदर्श प्रति थी, उसमें कहीं श्लोक, कहीं श्लोकार्द्ध, कहीं पद, कहीं अक्षर, कहीं पंक्तियां, कहीं पृष्ठ और कहीं-कहीं दो-तीन पन्ने नष्ट हो गये थे । इस प्रकार ग्रन्थ का बहुत-सा भाग गल गया था ।"

घाणेराव सादड़ी (राजस्थान) से प्राप्त हुई महानिशीथ की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ २४ (१) के दक्षिणी हाशिये में निम्नलिखित पाठ लिखा हुआ मिलता है :—

"मूल सूत्र में लिख्यो जिहां पद, आलावा, (आलापक) न संपजै तिहां सूत्र धरै कुलिख्या नो दोष न देवो जे भणी (इसलिये कि) ए सूत्र ना घणां पानां सड्या देखी भवजीव निमित्तै आठ आचार्यै हरिभद्र सूर, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, जक्खसैण (यक्षसेन), देवगुप्त, जिनदासगणि, जसवद्धण और नेमिचन्द्र सात-आठ नवा आलावा (आलापक) घाल्या छे ।"

उपर्युल्लिखित इन सब उद्धरणों से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आचार्य श्री हरिभद्र ने अपने समय के प्रसिद्ध एवं जनप्रिय सात अन्य विद्वान् आचार्यों के साथ विचार-विमर्श कर दीमकों द्वारा खाई हुई अथवा सड़ी-गली महानिशीथ सूत्र की प्रति में कुछ नये आलापक नये वाक्य नये शब्द और नये पृष्ठ जोड़कर उस महानिशीथ का उद्धार किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है महानिशीथ के इस उद्धार के पीछे मूल उद्देश्य विभिन्न इकाइयों में विभक्त जैनधर्मसंघ को एकता के सूत्र में आबद्ध करना था। अपने इस प्रयास में आचार्य श्री हरिभद्र और उनके समय के, समकालीन विभिन्न सम्प्रदायों के, मान्यताओं के आचार्यों ने ऐसी धार्मिक क्रियाओं को भी जैन धर्मावलम्बियों की धार्मिक दैनन्दिनी में जोड़ने का प्रयास किया, जिनका कि मूल आगमों में सर्वथा निषेध किया गया है। उनके द्वारा ऐसा किये जाने के पीछे क्या-क्या कारण रहे होंगे, उन कारणों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता पर अनुमान यही किया जाता है कि जो द्रव्य परम्पराओं द्वारा प्रचालित द्रव्यार्चना के जो-जो विधि-विधान धार्मिक रीति-रिवाजों के रूप में जन-जन के मानस में घर कर गये थे अथवा जो विधि-विधान वहुसंख्यक जैन धर्मावलम्बियों के जीवन में रूढ़ हो गये थे और जिनको हटाना अथवा जिनका खुले शब्दों में विरोध करना उन आचार्यों को सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा था, उन कतिपय धार्मिक रीति-रिवाजों को, उन धार्मिक दैनिक कर्त्तव्यों को उन्होंने धर्म के अभिन्न अंग के रूप में मान्य कर लिया। ऐसा करने में उनके अन्तर्मन पर सम्भवतः काफी बोझ पड़ा, ऐसा आभास महानिशीथ की तद्-तद् प्रसंगिनी भाषा से होता है। उदाहरण के रूप में लिया जाय तो पंच मंगल प्रकरण में चैत्यवन्दन का अविरत गृहस्थ के लिये विधान किया है, द्रव्य पूजा का विधान किया गया है किन्तु दूसरी ओर सावद्याचार्य के नाम से चैत्यवासियों द्वारा अभिहित (सम्बोधित) किये जाने वाले आचार्य कुवलयप्रभ के प्रकरण में चैत्य निर्माण के कार्य को ऐसा सावद्य कार्य बताया गया है जिसका एक चरित्रनिष्ठ पंच महाव्रतधारी साधु वचनमात्र से भी अनुमोदन नहीं कर सकता। इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि जिन कार्यों का एक ओर साधारण रूप से विधान किया गया है तो दूसरी ओर उन्हीं बातों का बड़ी शक्तिशाली निर्णायक भाषा में निषेध किया गया है।

महानिशीथ सूत्र में जो इस प्रकार के प्रकरण उल्लिखित हैं, उनसे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि उनके द्वारा द्रव्य परम्पराओं का, मूल भावपरम्परा के साथ समन्वय करने का प्रयास किया गया है। उन सब पर यहां प्रकाश डाला जा रहा है :—

द्रव्य परम्परा और भाव परम्परा, द्रव्य पूजा और भाव पूजा, द्रव्यस्तव और भावस्तव अथवा द्रव्य अर्चना और भाव अर्चना—ये कतिपय विषय ऐसे

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल के प्रारम्भ से लेकर अर्थात् चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओं के अभ्युदयकाल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त बड़े चर्चा के विषय रहे हैं। इस विषय में महानिशीथ सूत्र में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है। वह मूल प्रकरण सारांश के साथ यहां अविकल रूप से दिया जा रहा है।

(१६)

३४ तेसिं य तिलोग महियाण धम्म तित्थंकराण जग गुरूणं।
भावच्चण दव्वच्चण भेदेन दुह अच्चणं भणियं॥

३५ भावच्चण चरित्ताणुट्ठाण कट्ठुग्ग घोर तव चरणं।
दव्वच्चण विरयाविरय सील-पूया-सक्कार-दाणादि॥

ता गोयमा। णं एस एत्थ परमत्थे, तं जहाः

३६ भावच्चणं उग्ग विहारया य दव्वच्चणं तु जिण-पूया।
पढमा जतीण, दोन्नि वि गिहीण, पढमाच्चिय पसत्था॥

(१७)

(१) एत्थं च गोयमा ! केइ अमुणिय समय सब्भावे, (अव) ओसन्न विहारी, नीय वासिणो, अदिट्ठ परलोग पच्चवाए, सयं मति, इड्ढि रस साय गारवाइ मुच्छिए राग दोस मोहाहंकार ममिकाराइसु पडिबद्धे,

(२) कसिण संजय सद्धम्म परंमुहे, निद्दय निर्त्तिस निग्घिण अकलुण निक्किवे, पावायरणेक्क अभिनिविट्ठ बुद्धि एगंतेणं अइचंड रोद्द कूराभिग्गहिय मिच्छदिट्ठिणो,

(३) कय सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खाण विप्पमुक्कासेस संगारंभ परिग्गहे तिविहेणं पडिवन्न सामाइए य दव्वत्ताए न भावत्ताए नाममेत्त मुंडे, अणगारे महव्वयधारी समणे वि भवित्ताणं एवं मन्नमाणे सव्वहा उम्मग्गं पवत्तंति,

(४) जहा किल "अम्हे अरहंताणं भगवंताणं गंध मल्ल पदीव संमज्जणोवलेवेण विचित्त वत्थ वलि धूयाइएहिं पूयासक्कारेहिं अणुदियहं अब्भच्चणं पकुव्वाणा तित्थुच्छप्पणं करेमो।"

(५) तं च नो णं "तह" त्ति गोयमा ! समणुजाणेज्जा।

(१८)

(१) "से भयवं ! केणं अत्थेणं एवं वुच्चइ, जहा णं : तं च नो णं "तह" ति समणुजाणेज्जा ?"

(२) गोयमा ! तय अत्थाणुसारेणं असंजम बाहुलं, असंजम बाहुलेणं च थूलं कम्मासवं, थूल कम्मासवाओ य अज्झवसायं पडुच्चा थूलयर सुहासुह कम्म-पयडि बंधो सव्व सावज्ज विरयाणं च वयभंगो

(३) वयभंगेणं च आणाइक्कमं, आणाइक्कमेणं तु उम्मग्ग गामित्तं उम्मग्ग गामित्तेणं च सम्मग्गपलोयणं उम्मग्गपवत्तणं

(४) सम्मग्ग विप्पलोयणेणं च जईणं महती आसायणा, ताओ य अणंत संसार आहिंडणं

(५) एएणं अत्थेणं गोयमा । एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा । नो णं तं "तह" त्ति समणुजाणेज्जा ।

(१९)

३७ दव्वत्थवाओ भावत्थवं तु, दव्वत्थओ वहुगुणो भवउ तम्हा ।
अबुह जणे बुद्धीयं, छक्काय हियं तु गोयमाणुट्ठे ।।

३८ अकसिण पवित्तगाणं विरया विरयाण एस खलु जुत्तो ।
जे कसिण संजम विऊ पुप्फादियं न कप्पए तेसिं तु ।।

३९ किं मन्ने गोयमा ! एस वत्तीसिं दाणुट्ठिए ।
जम्हा तम्हा उ उभयं पि अणुट्ठेज्ज एत्थं न वुज्झसि ।।

४० विणिओगं एवं तं तं सि भावत्थवासंभवो तहा ।
भावच्चणा य उत्तमयं दसण्णभद्देण पायडे ।।

४१ जहेव दसण्णभद्देणं उयाहरणं तहेव य ।
चक्कहर भाणु ससि दत्त दमगादिहिं विणिद्दिसे ।

४२ पुच्छं ते गोयमा ! ताव जं सुरिदेहिं भत्तिओ ।
सव्विड्ढिए अणन्नसमे पूया सक्कारे कए ।।

४३ ता किं तं सव्व-सावज्ज-तिविहं विरएहिमणुट्ठियं ।
उयाहु सव्वठामेसुं सव्वहा अविरएनु उ ? ।।

४४ नणु भयवं सुरवरिंदेहिं सव्वठामेसु सव्वहा ।
अविरएहिं सुभत्तीए पूया सक्कारे कए ॥

४५ ता जइ एवं तओ बुज्झ गोयमा नीसंसयं ।
देस-विरय अविरयाणं तु विणिओगम् उभयत्थ वि ॥

४६ संयम एव सव्व तित्थंकरेहिं जं गोयमा ! समायरियम् ।
कसिण अट्ठ कम्म खय-कारियं तु भावत्थयं अणुट्ठे ॥

४७ भवती उ गमागम जंतु फरिसणाइ पमद्दणं जत्थ ।
स-पर हिओवरयाणं न मणं पि पवत्तए तत्थ ॥

४८ ता स-पर हिओवरएहिं सव्वट्ठाण एसियव्वं विसेसं ।
जं परम सार भूयं विसेसवंतं च अणुट्ठेयं ॥

४९ ता परम सार भूयं विसेसवंतं च साहु वग्गस्स ।
एगंतहियं पच्छं सुहावहं एय परमत्थं ॥

तं जहा :—

(२०)

५० मेरुत्तुंगे मणि मंडिएक्क कंचणमए परम रम्मे ।
नयण मणाणंदयरे पभूय विन्नाण साइसए ॥

५१ सुसिलिट्ठ विसिट्ठ सुलट्ठ चंड सुविभत्त मुणिवेसे ।
वहु सिहयण्ण घंटा धयाउले पवर तोरण सणाहे ॥

५२ सुविसाल सुवित्थिण्णे पए पंए पेच्छियव्व य सिरीए ।
मघ मघ मघेंत डज्झंत अगरु कप्पूर चंदणामोए ॥

५३ बहु विह विचित्त बहु पुप्फमाइ पूयारुहे सुपूए य ।
निच्च पणच्चिर नाडय सयाउले महुर मुर व सद्दाले ॥

५४ कुट्टत रास जण सय समाउले जिण कहा खित्त चित्ते ।
पकहंत कहग नच्चंत चत्त गंधव्व तूर निग्घोसे ॥

५५ एमादि गुणोवेए पए पए सव्व मेइणी वत्थे (ट्ठे) ।
निय भुय विधत्त पु ण्णज्जिएण नायागएण अत्थेण ॥

५६ कंचण मणि सोमाणे थंभ सहस्सूसिए सुवण्ण तले ।
जो कारवेज्ज जिणहरे तओ वि तव संजमो अणंत गुणो त्ति ॥

(२१)

५७ तव संजमेण बहु भव समज्जियं पाव कम्म मल लेवं ।
निद्धोविऊण अइरा अणंत सोक्खं वए मोक्खं ।।

५८ काउं पि जिणाययणेहिं मंडियं सव्व मेइणी वट्टं ।
दाणाइ चउक्केणं सुट्ठु वि गच्छेज्ज अच्चुयं न परओ गोयमा गिहि त्ति ।।

५९ जइ ता लव सत्तम सुरविमाणवासी वि परिवडंति सुरा ।
सेसं चिंतिज्जंतं संसारे सासयं कयरं ? ।।

६० कह तं भण्णउ सोक्खं सुचिरेण वि जत्थ दुखं अल्लियइं ।
जं च मरणावसाणं सुथेव कालीय तुच्छं तु ? ।।

६१ सव्वेण वि कालेणं जं सयल नरामराण भवइ सुहं ।
तं न घडइ समयणुभूय मोक्ख सोक्खस्स अणंत भागे वि ।।

६२ संसारिय सोक्खाणं सुमहंताणं पि गोयमाणेगे ।
मज्झे दुक्ख सहस्से घोर पयंडे णु भुज्जंति ।।

६३ ताइं च साय वेओयएण न यणंति मंदबुद्धोए ।
मणिकणग सेलमय लोढगं गले जहव वणिय धूया ।।

६४ मोक्ख सुहस्स उ धम्मं सदेव मणुयासुरे जगे एत्थं ।
नो भाणिऊण सक्का नगरगुणे जहव य पुलिंदो ।।

६५ कह तं भण्णउ पुण्णं सुचिरेणवि जस्स दीसए अंतं ।
जं च विरसावसाणं जं संसाराणुबंधि च ? ।।

६६ तं सुर विमाण विहवं चिंतिय चवणं च देवलोगाओ ।
अइवलियं चिय हिययं जं न वि सय-सिक्करं जाइ ।।

६७ नरएसु जाइं अइदूसहाइं दुक्खाइं परमतिक्खाइं ।
को वण्णेहि ताइं जीवंतो वास कोडि पि ? ।।

६८ ता गोयमा ! दस विह धम्म घोर तव संजमाणुट्ठाणस्स ।
भावत्थवं इति नामं तेणेव लभेज्ज अक्खयं सोक्खं ति ।।

(२२)

६९ नारगं भव तिरिय भवे अमरभवे सुरवइ त्तणे वा वि ।
नो तं लब्भइ गोयम ! जत्थ व तत्थ व मणुय जम्मे ।।

७० सुमहं अच्चंत-पहीणे सुसंजमावरण-नामधेज्जेसु ।
ताहे गोयम ! पाणी भावत्थय-जोगयं उवेइ ।।

७१ जम्मंतर संचिय गरुय पुण्ण पब्भार संविढत्तेण ।
माणुसजम्मेण विणा नो लब्भइ उत्तमं धम्मं ।।

७२ जस्साणुभावओ सुचरियस्स निसल्ल दंभ रहियस्स ।
लब्भइ अउलमणंतं अक्खय सोक्खं तिलोयग्गे ।।

७३ तं बहु भव संचिय तुंग-पाव-कम्मट्ठ-रासि-दहणट्ठं ।
लद्धं माणुसजम्मं विवेगमादिहिं संजुत्तं ।।

७४ जो न कुणइ अत्तहियं सुयाणुसारेण आसवनिरोहं ।
चत्तिग सीलंग-सहस्स-धारणेणं तु अपमत्तो ।।

७५ सो दीहर अव्वोच्छिन्न घोर दुक्खग्गि दाव पज्जलिओ ।
उव्वेविय संतत्तो अणंतहुत्तो सुबहुकालं ।।

७६ दुग्गंधामेज्झ चिलीण-खार-पित्तोज्झ-सिंभ-पडहत्थे ।
वस जलुस पूय दुद्दिण चिलिच्चिले रुहिर चिक्खल्ले ।।

७७ कढ कढ कढंत चल चल चलस्स तलतलतलस्स रज्झंतो ।
संपिंडियंगमंगो जोणि जोणि वास गब्भे ।
एक्केक्क गब्भवासे सुजंतियंगो पुणरवि भमेज्जा ।।

७८ ता संताव उव्वेवग जम्म जरा मरण गब्भवासाइ ।।
संसारिय दुक्खाणं विचित्तरूवाण भीएणं ।

७९ भावत्थवाणुभावं असेस भव भय खयंकरं नाउं ।
तत्थ एव महंताभ उज्झमेणं दढं अच्चंतं पयइयव्वं ।।

८० इय विज्जाहर किन्नर नरेण ससुरासुरेण वि जगेण ।
संथुव्वंते दुविहत्थवेहिं ते तिहुयणेक्कीसे ।
गोयमा ! धम्म तित्थंकरे जिणे अरिहंते त्ति ।।

अर्थात्—"उन जगद्गुरु त्रिलोक पूज्य धर्म तीर्थंकरों की अर्चना दो प्रकार की कही गई है। एक भाव अर्चना और दूसरी द्रव्य-अर्चना। चरित्र का पालन, घोर कठोर उग्र तप का आचरण-यह भाव अर्चना है और पूजा सत्कार करना एवं दान देना आदि

द्रव्यार्चना है। तो गौतम ! निश्चित रूप से जो कल्याणकारी है वह इस प्रकार है :—

उग्र विहार भावार्चन है और जिन पूजा यह द्रव्यार्चन है तथा पहली उग्र विहार रूप भाव अर्चना यतियों के लिए है और गृहस्थों के लिये दोनों ही प्रकार की अर्चना कही गई है, पर इन में पहली भाव अर्चना ही प्रशस्त है।

गौतम ! यहां सिद्धान्तों के मर्म से अनभिज्ञ अनेक ऐसे साधु जो विहार का परित्याग कर नियत निवास करने वाले हैं, परलोक में उनका कैसा घोर अहित होगा, इस पर विचार न करके स्वेच्छाचारी बने हुए ऋद्धि, रस, साता, गर्व-मूर्च्छित हैं और जो राग, द्वेष, मोह, अहंकार और ममत्व आदि के दास बने हुए हैं, जो संयम और सद्धर्म से परांग्मुख हैं, निर्दय निस्त्रिंश, घृणास्पद, क्रूर, पापाचार-परायण, एकान्ततः अति चंड, रौद्र एवं क्रूर मनोभाव वाले मिथ्या दृष्टि लोग सब प्रकार के सावद्य योगों का संग, आरम्भ-परिग्रह जीवन भर त्रिकरण त्रियोग से त्याग कर भी द्रव्य रूप से संयम ग्रहण किये हुए हैं, न कि भाव रूप से, जो नाम मात्र के अणगार हैं, वे यह कहते हुए उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं कि हम अर्हन्त भगवन्तों का गन्ध, माला, प्रदीप, स्नान, उपलेपन, सुन्दर, वस्त्र, बलि, धूप आदि से पूजा सत्कार करते हुए और प्रतिदिन अभ्यर्चन करते हुए धर्म तीर्थ का उत्थान करते हैं। हे गौतम ! उन लोगों का यह कथन वस्तुतः सत्य नहीं है। क्योंकि उनके इस प्रकार के कार्य कलापों में असंयम का बाहुल्य है। असंयम की बहुलता से स्थूल कर्मों का आश्रव होता है और स्थूल कर्मों के आश्रव से अति स्थूल कर्म प्रकृतियों का बन्ध और सब प्रकार के सावद्य कर्मों के त्यागी साधुओं के व्रत का भंग होता है। व्रत भंग से तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण होता है। आज्ञा के अतिक्रम से उन्मार्ग गामिता उत्पन्न होती है। उन्मार्ग गामी हो जाने से समग्र अच्छाइयों का लोप हो जाता है। सब प्रकार की अच्छाइयों के लोप हो जाने से यतियों की बड़ी आसातना होती है। यतियों की आसातना से वह अर्हन्तों की आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला साधु अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

द्रव्यस्तव और भावस्तव, इनमें द्रव्यस्तव बड़ा गुणकारी है—इस प्रकार की बुद्धि अप्रबुद्ध व्यक्तियों में होती है, क्योंकि हे गौतम ! सर्वथा षड्जीव निकाय का हित करना उचित है। जिन्होंने सम्पूर्ण

सावद्य कर्मों का त्याग नहीं किया है, उन विरताविरतों के लिये यह द्रव्यस्तव उपयुक्त है किन्तु जिन्होंने सम्पूर्ण सावद्य कर्मों का त्याग कर एवं संयम ग्रहण कर संयम के महत्व को जान लिया है, उनके लिये पुष्पादिक कभी नहीं कल्पते। हे गौतम ! यह कहा जाता है कि ३२ इन्द्रों ने भी पुष्पादिक से पूजा की इसलिये जिस किसी भी तरह हो द्रव्य पूजा और भाव पूजा दोनों ही करनी चाहिये। गौतम ! वस्तुतः यहां उन्हें वास्तविक तत्व का बोध नहीं है। वास्तविकता यह है कि उन देव देवेन्द्रों के लिये भावस्तव असम्भव है। भाव-अर्चना वस्तुतः अत्युत्तम है, यह तो दशार्ण भद्र के दृष्टान्त से प्रकट ही है। जिस प्रकार दशार्णभद्र का उदाहरण है, उसी प्रकार चक्रवर्ती, भानु, शशिदत्त और द्रमुक आदि के दृष्टान्त समझने चाहिये। गोतम ! देवेन्द्रों ने अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ भक्तिपूर्वक तीर्थंकरों की पूजा की, उनका सत्कार किया। वह सब कुछ क्या सभी प्रकार के सावद्य कर्मों का त्रिविध त्रिकरण से त्याग करने वाले विरतों द्वारा किया गया था ? अथवा सर्वथा सदा सभी अवस्थाओं में अविरत लोगों द्वारा किया गया था ! भगवन् ! देवेन्द्रों ने जो अपूर्व भक्ति के साथ तीर्थंकरों का पूजा सत्कार किया, वह सब भांति सभी दशाओं में अविरत प्राणियों द्वारा किया गया पूजा सत्कार था। तो हे गौतम ! यदि ऐसी बात है तो इस तथ्य को निःसंशय होकर हृदयंगम करो कि देशविरत और अविरत इन दोनों में भी कितना अन्तर है ? इस बात को समझ कर हे गौतम ! सभी तीर्थंकरों ने स्वयं जो आचरण किया है, सम्पूर्ण आठों कर्मों को समूल नष्ट करने वाले उस भावस्तव का ही अनुष्ठान करना चाहिये। गौतम ! जहां अर्थात् जिस द्रव्यार्चना में गमनागमन काल में पृथ्वी अप, तेज, वायु और वनस्पति एवं त्रस इन षड् जीव निकाय के प्राणियों की स्पर्श, मर्दन एवं हिंसा रूप जो पाप कर्म होते हैं, उस कार्य में स्व तथा पर के हित में निरत रहने वाले व्यक्ति मन मात्र से भी प्रवृत्ति नहीं करते। इसलिये स्व पर हित में निरत रहने वाले विज्ञों को सभी कार्यों में जो श्रेष्ठ हो, उसी को चुनना चाहिये तथा जो कार्य परम सारभूत और सर्वोत्तम विशेषताओं से युक्त हो, उसी कार्य को करना चाहिये।"

वह सारभूत सर्वोत्तम कार्य इस प्रकार है—

"पर्वताधिराज सुमेरु पर्वत के उच्चतम शिखर के सन्निभ गगनस्पर्शी विशुद्ध स्वर्ण से निर्मित, सभी भांति की उत्कृष्ट कोटि

की मणियों से जटित खचित अतीव सुन्दर परम नयनाभिराम स्थापत्यकला के उच्चतम विज्ञान के उदाहरणस्वरूप अनेक प्रकार के मनोहारी चित्रों से चित्रित भित्ती वाले अगणित शृंगाटकों, घंटाओं, ध्वजाओं से सुशोभित, अति सुन्दर तोरणों से युक्त, अति विशाल, अति विस्तीर्ण, पग-पग पर दर्शनीय प्रियदर्शी दृश्यों से संकुल, जलते हुए अगर, कपूर, चन्दन आदि के धूप से मगमगायमान, विचित्र वर्णों के सभी जातीय पुष्पों से आच्छादित, अति मधुर सम्मोहक नाट्य नृत्य वादित्र आदि की ध्वनियों से निरन्तर मुखरित, जिनेश्वरों की जीवन कथाओं से चित्रित भित्तिचित्रों वाले, जहां जिनेश्वरों के जीवन वृत्तों पर निरन्तर रास, कथानक, कीर्त्तन आदि विविध वाद्य वृन्दों के अति सुन्दर ताल स्वरों पर चल रहे हों, इत्यादि अनेक गुणों से युक्त पग-पग पर सम्पूर्ण वसुन्धरा के शृंगारभूत, अपनी भुजाओं के बल से अर्जित पुण्य के प्रभाव से न्यायपूर्वक उपार्जित द्रव्य द्वारा क्रीत कंचन मणियों के सहस्रों सहस्र स्तम्भों पर आधारित और स्वर्ण निर्मित आंगन, भित्ति एवं छत वाले जिनेश्वरों के मन्दिरों से यदि कोई व्यक्ति सम्पूर्ण धरातल को आच्छादित कर दे, तो भी लव मात्र आचरित तप संयम इस प्रकार के उस विचित्र जिन मन्दिर-निर्माण-कार्य की तुलना में अनन्त गुणा श्रेष्ठ है ।"

"क्योंकि तप और संयम कोटि-कोटि भवों में उपार्जित पाप कर्म लेप को धोकर स्वल्प काल में ही अनन्त-अनन्त सुखों के निधान मोक्ष धाम को प्रदान करता है। हे गौतम ! सम्पूर्ण वसुन्धरा के तल को जिनायतनों से मंडित करने और दानादि चतुष्क के देने के उपरान्त भी एक गृहस्थ अच्युत नामक स्वर्ग तक जा सकता है, उससे आगे नहीं। लव सत्तम देव विमानों के वासी देवता भी एक न एक दिन वहां से च्यवन करते हैं तो फिर संसार में और दूसरों की तो गणना ही क्या है। वस्तुतः इस संसार में शाश्वत है ही क्या ? उसे सुख कैसे कहा जा सकता है, जिसे अन्ततोगत्वा दुःख आ घेरता है ? क्योंकि बहुत लम्बे काल के पश्चात् भी जहां मृत्यु और अवसान के लिये अवकाश है, वह वस्तुतः तुच्छ ही है। अनादि भूत, अनन्त भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल के समस्त देव देवेन्द्रों और नर नरेन्द्रों के सम्पूर्ण सुख को एक स्थान पर पिंडीभूत कर दिया जाय तो भी वह सारा सांसारिक सुख मोक्ष के एक समय (काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिमाण) मात्र के सुख के अनन्तवें भाग की भी तुलना नहीं कर सकता। गौतम ! संसार के ऊंचे से ऊंचे सर्वोत्कृष्ट सुख में भी हजारों प्रकार के दुःख, घोर अवसाद और

प्रचण्ड वेदनाएं अनुभव की जाती हैं। उन वेदनाओं को, उन घोर दुखों को, उन सहस्रों सहस्र ताप संतापों को प्राणी अपनी मन्द बुद्धि के कारण और साता वेदनीय के परिणामस्वरूप ठीक उसी प्रकार नहीं जानता जिस प्रकार कि मणि मंडित स्वर्णपत्र से वेष्टित प्रस्तर शिला को अपने गले में लटकाये हुए वरिणक् वधूटि उस शिला के भार को अनुभव नहीं करती। संसारवासी देवों, मनुष्यों एवं असुरों आदि में से कोई भी संसारी प्राणी मोक्ष के सुखों का ठीक उसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकता, जिस प्रकार कि जीवन भर विकट अटवी में ही रहा हुआ एक पुलिन्द (भिल्ल) नगर के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ-अक्षम रहता है। उसे पुण्ण (पूर्ण और पुण्य दोनों का प्राकृत रूप) कैसे कहा जा सकता है, जिसका कि सुदीर्घ काल से ही सही पर एक न एक दिन अन्त होना सुनिश्चित है और वस्तुतः जिसमें विरसता (कटुता दुखानुभूति के भाव), अवसान (अन्त-समाप्ति) और भव भ्रमण की शृंखला का बन्ध कराने वाली शक्ति विद्यमान है। देव विमान से च्यवनकाल में वहां से च्युत होने वाला प्राणी देव विमान के वैभव और देवलोक से च्यवन की बात सोचकर गहन चिन्ता में मग्न हो जाता है। उसका हृदय इस प्रकार आकुल व्याकुल हो जाता है मानो उसके सौ-सौ टुकड़े हो रहे हों। नरक योनि में अति दुःसह्य एवं अति कठोर और घोर जो दुख है, उसका वर्णन कोई व्यक्ति कोटि-कोटि वर्षों की आयुष्य पाकर भी नहीं कर सकता। इसलिये हे गौतम ! दस प्रकार के धर्म, घोर तपश्चरण और संयम के परिपालन का ही नाम भावस्तव है। वस्तुतः इस भावस्तव से ही अक्षय अव्याबाध शाश्वत सुख की प्राप्ति की जा सकती है। गौतम ! उस भावस्तव के करने का सौभाग्य नरक, तिर्यन्च और देव भवों में तथा इन्द्र पद प्राप्त कर लेने पर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह सौभाग्य तो केवल मनुष्य भव में ही प्राप्त किया जा सकता है। गौतम! संयमावरण नाम कर्म के विपुल क्षय होने पर प्राणी को भावस्तव करने की योग्यता प्राप्त होती है। जन्म-जन्मान्तरों में संचित गुरुतर पुण्य के प्रभाव से संप्राप्त मानव भव के विना उत्तम धर्म—भावस्तव प्राप्त नहीं होता। शल्य और दम्भ से पूर्णतः रहित, त्रिकरण-त्रियोग से विशुद्ध रूपेण आचरित उस भावस्तव अथवा उत्तम धर्म के कृपा प्रसाद से ही प्राणी तीनों लोकों के मूर्धन्य अग्रभाग में अतुल अनन्त शाश्वत शिव सुख प्राप्त करता है। जन्म-जन्मान्तरों में संचित आठों पापकर्मों की उत्तुंग अपार राशियों को भस्मावशिष्ट करने के लिये विवेक आदि से संयुक्त मनुष्य जन्म को पाकर भी जो प्राणी आश्रवों के निरोध के साथ

अप्रमत्त भाव से शास्त्राज्ञा के अनुसार इस उत्तम धर्म भावस्तव के धारण के द्वारा अपना आत्म-कल्याण नहीं कर करता, वह सुदीर्घ काल तक घोरातिघोर दारुण दुखों की अविच्छिन्न दाहक परम्परा में दग्ध होता हुआ अनन्त काल तक अनन्त बार घोर संतापों से संत्रस्त एवं प्रकम्पित होता रहता है। वह दुःसह्य दुर्गन्ध, मल-मूत्र, रुधिर, मज्जा, क्षार, पित्त, वसा के कीचड़ से भरी हुई विविध योनियों के गर्भावास में घोर दुखों का भाजन बनता है। अतः संताप उद्वेग, जन्म, जरा, मृत्यु, पुनः पुनः गर्भावास आदि संसार के घोर दुखों से भयभीत होने वाले मानव को जन्म, जरा, मृत्यु आदि सब प्रकार के भयों को नष्ट करने वाले भावस्तव के महत्व को जानकर पूरी दृढ़ता, निष्ठा और कठोर परिश्रम के साथ उसे जीवन में ढालने के लिये प्राणप्रण से प्रयास करना चाहिये।"

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने और उनके समकालीन कतिपय आचार्यों ने द्रव्यस्तव और भावस्तव के प्रश्न को लेकर अनेक अथवा अगणित पृथक्-पृथक् इकाइयों में विभक्त हुए भगवान् महावीर के धर्मसंघ को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के उद्देश्य से महानिशीथ का उद्धार करते समय उपरिलिखित पाठ के माध्यम से प्रथम प्रयास किया। मूल पाठ के इन शब्दों से प्रत्येक विज्ञ सहज ही अनुमान लगा सकता है कि इस प्रकार के समन्वय के प्रयास में महत्व द्रव्यस्तव का अधिक रहा अथवा भावस्तव का।

इस प्रकार द्रव्यार्चना और भावार्चना की एक विवादास्पद समस्या में समाधान के लिये हरिभद्रादि आठ आचार्यों ने समन्वयकारिणी इस प्रथम मान्यता को एकमत से स्वीकार किया।

दूसरी जो मान्यता रखी गई वह है चैत्यवासी परम्परा के अभ्युदय काल से ही द्रव्य परम्पराओं के माध्यम से जैन धर्म संघ में रूढ़ हुई चैत्य वन्दन की मान्यता। उपरोक्त आठों ही आचार्यों ने सम्भवतः इसे एक मत से स्वीकार किया। चैत्य वन्दन की मान्यता के सम्बन्ध में जो कतिपय पाठ महानिशीथ के तृतीय अध्ययन में हरिभद्र द्वारा महानिशीथ के उद्धार के समय लिखे गये, वे इस प्रकार हैं :—

१. से भयवं कयराए विहीए पंच मंगलस्स णं विणओवहाणं कायव्वं ?

२. गोयमा ! इमाए विहीए पंच मंगलस्स णं विणओवहाणं कायव्वं, तं जहा: सुपसत्थे चेव सोहणे तिहि करण मुहुत्त नक्खत्त जोग लग्गससिबले

३. विप्पमुक्क जायाए मयासंकेरा, संजाय सद्धा संवेग सुतिव्वतर महंतुल्ल-संत सुहज्झवसायाणुगय भत्ति बहुमाणपुव्वं निण्णियाण दुवालस भत्तट्ठियेणं

४. चेइआलये जंतुविरहिओगासे

५. भत्तिब्भर निब्भरुद्धुसिय स सीसरोमावलि पफुल्ल वयण सयवत्त पसंत सोम थिर दिट्ठी

६. नव नव संवेग समुच्छलंत संजाय बहल घण निरन्तर अचिंत परम सुह परिणाम विसेसुल्लसिय सजीव वीरियाणुसमय विवद्धंत पमोय सुविसुद्ध सुणिम्मल विमल थिर रढयरन्तकरणेणं

७. खिति निहिय जानु नसि उत्तमंग कर कमल मउल सोहंजलिपुडेणं

८. सिरि उसभाइ पवर-वर-धम्मतित्थयर पडिमा बिंब विणिवेसिय नयरा माणसेगग्ग तग्गय अज्झवसाएणं

९. समयण्णु दढ चरित्तादि गुरा संपओववेय गुरु सद्दत्थ अट्ठाणुट्ठाए करणेक्क वद्ध लक्ख तवाहिय गुरु वयण विणिग्गयं

१०. विरायादि बहुमारा परिओसाणुकंपोवलद्धं

११. अरोगसोग संतावुव्वेग महावाहि वेयरा घोर दुक्ख दारिद्द किलेस रोग जम्म जरा मरण गब्भवास निवासाइ दुट्ठ सावगागाह भीम भवोदहि तरंडगभूयं इरामो

१२. सयलागममज्झवत्तगस्स पिच्छत दोसोवहय विसिट्ठबुद्धि परिकप्पिय कुभरिगय अघडमारा असेस हेउ दिट्ठंत जुत्ति विद्धंसरोक्क पच्चल पोढस्स पंचमंगल महासुयक्खंधस्स..........

१६. सव्व महामंत पवर विज्जाणं परम बीयभूयं

१७. नमोअरहंताणं ति

१८. पढमज्झयणं अहिज्जेयव्वं।..........

(विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, जयपुर में उपलब्ध महानिशीथ की प्रति का पृष्ठ ५३ का पैरा ६)

१. "से भयवं एवं जहुत्त विणओवहाणेणं पञ्चमंगल महा सुयक्खंधं अहिज्जित्ताणं पुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए सर वञ्जण मत्ताबिन्दु पयक्खर विसुद्धं थिर परिचयं काऊणं महया पबंधेणं सुतत्थं च विण्णाय, तओ य णं किं अहिज्जे ?

२. गोयमा । इरियावहियं

३. "से भयवं केणं अत्थेणं एवं वुच्चई जहा णं : पंच मंगल महा-सुयक्खंधं अहिज्जित्ताणं पुणो इरियावहियं अहीए ?"

४. गोयमा । जे एसे आया से णं जया गमणागमणाइ परिणाम परिणए अणेगजीव पाण भूय सत्ताणं अणोवउत्तपमत्ते संघट्टण अवद्दावण किलामणं काऊणं अणालोइय अपडिक्कंते चेव असेस कम्म खयट्ठाए किंचि चिइ वंदण सज्झाय झाणाइएसु अभिरमेज्जा तया से एग चित्ता समाही भवेज्जा न वा ।

५. जओ णं गमणागमणाइ अणेग अन्न वावार परिणामासत्त चित्तत्ताए केइ पाणी तं एव भावंतरं अच्छड्डिय अत्त दुहत्त अज्झवसिए कंचि कालं खणं विरत्तेज्जा ताहे तं तस्स फलेणं विसंवएज्जा ।

६. जया उण कहिं चि अण्णाण मोह पमाय दोसेण सहसा एगिंदियादीणं संघट्टण परियावणं वा कयं भवेज्जा ।

७. तया य पच्छा "हा ! हा ! हा ! दुट्ठु कयं अम्हेहिं ! त्ति घण राग दोस मोह मिच्छत्त अण्णाण अंधेहिं अदिट्ठ परलोग पच्चवाएहिं कूर कम्म निग्घिणेहिं !" त्ति परम संवेग आवन्ने ।

८. सुपरिफुडं आलोएत्ताणं निंदित्ताणं गरहेत्ताणं पायच्छित्तं अणुचरेत्ताणं नीसल्ले अणाउल चित्ते असुह कम्म खयट्ठा किंचि आयहियं चिइ वंदणाइ अणुट्ठेज्जा ।

९. तया तय अट्ठे चेव उवउत्ते से भवेज्जा ।

१०. जया णं से तय अट्ठे उवउत्ते भवेज्जा तया तस्स णं परमेगग्ग चित्त समाहि हवेज्जा तया चेव सव्व जग जीव पाण भूय सत्ताणं [illegible] फल संपत्ती भवेज्जा ।

११. ता गोयमा । णं अप्पडिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव काउं किंचि चिइ-वंदण सज्झायाइयं फल [illegible] अभिकंखुगाणं ।

१५. एयाएविज्जाए सव्वगग्रो निट्ठारग पारगो होइ उवत्थावरणाए वा गरिणस्स वा अरगुण्णाए सत्त वारा परिजावेयव्वा ।

१६. निट्ठारग पारगो होइ : उत्तिमट्ठा पडिवन्ने वा ग्रभिमंतिज्जइ ग्रारा-हगो भवइ विग्घ विरणायगा उवसमंति सूरो संगामे पविसंतो अपरा जिग्रो भवइ कप्प समत्तीए मंगल वहरणी खेम वहरणी हवइ ।"

(वही महानिशीथ की प्रति, पृष्ठ ६४ पैरा २६)

उपरिलिखित महानिशीथ के चारों पाठों का सारांश क्रमश: इस प्रकार है :—

१. "किस विधि से पच मंगल का 'विरणग्रोवहारण' करना चाहिये इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि श्रेष्ठ तिथि नक्षत्रादि के दिन पांच उपवास करके विशुद्ध अन्त:करण से विशुद्ध भक्तिपूर्वक किसी चैत्यालय में जन्तुविहीन स्थान पर बैठ कर श्री ऋषभदेव भगवान अथवा अन्य धर्म तीर्थंकर की प्रतिमा अथवा बिम्ब की ओर अपलक दृष्टि लगाये गुरु के मुख से हृदयंगम किये गये सब प्रकार के शोक, सन्ताप, व्याधि, वेदना, जन्म, जरा, मृत्यु और गर्भावास आदि सांसारिक दु:खों का समूल नाश करने वाले, संसार सागर से पार करने में पोत तुल्य सब महामन्त्रों और विद्याओं के बीज तुल्य नमो अरिहंताणं रूप पंच मंगल महाश्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन का पाठ करना चाहिये ।

२. "पंच मंगल महाश्रुतस्कंध का यथोक्त 'विनयोपधान' से अध्ययन करने के और इसके सूत्र और अर्थ दोनों का सुचारु रूपेण ज्ञान करने के पश्चात् क्या सीखना चाहिए ?" गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है :—"ईर्यावहियं का अध्ययन करे, क्योंकि गमनागमनादि क्रियाओं में अनेक जीव, प्राणी, भूत, सत्वों का संस्पर्श, संघट्टन, प्रमर्दन, उद्दापन, किलामना होती है उस पाप की आलोचना शुद्धि कर लेने के पश्चात् आठों कर्मों के क्षय हेतु चैत्य-वन्दन, सज्झाय व ध्यान में निमग्न होना चाहिए। यदि प्रमादवश एकेन्द्रिय आदि जीवों का संघट्टन, परितापन हो गया हो तो— "हाहा ! मैंने वहुत वुरा किया, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से अन्धे होकर परलोक का विना किसी प्रकार का ध्यान रक्खे, यह पाप किया है," इस प्रकार परम संवेग को प्राप्त हो कर अपने पाप की आलोचना निन्दा प्रायश्चित आदि करके नि:शल्य होकर अशुभ कर्मों का क्षय करने के लिये आत्महितार्थ

चैत्यवन्दन आदि का अनुष्ठान करे। विना ईर्यापथिक के चैत्य-वन्दन सज्झाय आदि करना उचित नहीं है।

३. "हे भगवन्! ईर्यापथिक का अध्ययन किस विधि से करें ?" "गौतम! पंचमंगल महाश्रुतस्कंध के समान ही।" "प्रभो! ईर्या-पथिक का अध्ययन करने के पश्चात् किसका अध्ययन करना चाहिये ?" "गौतम! शक्रस्तव और चैत्यवन्दन विधान का करना चाहिये।"

४. "इस प्रकार सूत्र अर्थ तदुभय चैत्यवन्दन, विधान आदि का अध्ययन करने के पश्चात् सुप्रशस्त शुभ तिथिकरण, नक्षत्र, लग्न, चंद्र, वल आदि देखकर यथाशक्ति तीर्थंकरों की पूजा, साधुवर्ग का प्रतिलाभन करने के अनन्तर अन्तःकरण को भक्ति से ओतप्रोत कर, हर्षातिरेक से रोमांचित हो, श्रद्धा, संवेग, विवेक, परम वैराग्य, अतीव निर्मल अध्यवसायों के साथ, जगद्गुरु जिनेन्द्रों की प्रतिमा में एकटक नयन जुड़ा कर, इस प्रकार की भावना के साथ कि मैं धन्य हूं, मैं पुण्य-शाली हूं कि मैंने जिन वन्दन से अपने जन्म को सफल कर लिया है, हाथ जोड़कर वनस्पति, तृण, वीज, जन्तु आदि से रहित भूमि में दोनों जानु और शीष को झुकाकर निर्मल चरित्र का पालन करने वाले, सिद्धान्तों में निष्णात, अप्रमादी गुरु के साथ साधु, साध्वी, सधर्मी एवं परिजनों से परिवृत्त हो सर्वप्रथम चैत्यों का वन्दन करना चाहिये और तदनन्तर गुणाढ्य साधुओं का।"

उपरिलिखित महानिशीथ के इन चारों पाठों में चैत्य वन्दन का विधान किया गया है। इससे पहले भावस्तव की महिमा के सम्बन्ध में जो भाषा एवं जो भाव महानिशीथ में व्यक्त किये गये हैं उनके साथ तुलनात्मक दृष्टि से चैत्यवन्दन के इन पाठों का अध्ययन करने से वास्तविक स्थिति क्या है यह निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर विज्ञजनों के लिए स्पष्ट हो जाती है।

महानिशीथ के १६ की संख्या में दिये गये ऊपरि लिखित पाठ से ऐसा प्रतीत होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल में अथवा उससे कुछ पूर्व उद्भूत हुई चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओं के व्यापक प्रचार प्रसार एवं उत्कर्ष काल में उन द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों द्वारा भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्म संघ में चैत्यवन्दन, चैत्य-निर्माण, [illegible] अथवा [illegible] आदि की परि-पाटियां, इहलौकिक अभीप्सित कार्यों की सिद्धि के लिये [illegible] यहां तक कि शत्रुओं को पराजित करके संग्राम में विजय प्राप्ति की अभिलाषा आकांक्षा की पूर्ति हेतु मन्त्र जाप विद्या सिद्धि आदि अनुष्ठान इनके सांसारिक एवं [illegible] जैन धर्म-

लब्धियों के जीवन की दैनन्दिनी के ऐसे अभिन्न अंग बन चुके थे कि जिनका निषेध करना, उस वक्त की जनता के इनके प्रति गहरे लगाव को देखते हुए, महान से महान प्रभावक आचार्य के लिये भी असम्भव सा हो गया था। इसीलिये सम्भवतः महानिशीथ के उद्धार के समय अन्य सात आचार्यों की अनुमति से आचार्य हरिभद्र द्वारा जो सात आठ नये आलापक महानिशीथ में जोड़े गये बताये, उनमें से यह भी एक प्रतीत होता है।

महानिशीथ के ऊपर उल्लिखित उद्धरण में चैत्य वन्दन, मन्त्र, जाप, विद्या, सिद्धि एवं वासक्षेप आदि का विधान करते हुए सार रूप में निम्नलिखित बातें कही गई हैं :—

> "अपने स्वधर्मी बन्धुओं का यथाशक्ति अशन-पान, वस्त्रादि से हार्दिक सम्मान करना चाहिये। इस प्रकार के प्रसंग पर शास्त्रों के मर्मज्ञ गुरुओं द्वारा वासक्षेप—चूर्ण निक्षेप आदि के पश्चात् संसार से विरक्ति कराने वाली तथा श्रद्धा एवं संवेग उत्पन्न करने वाली धर्मदेशना करवानी चाहिये। देशनानन्तर धर्मगुरुओं द्वारा परम श्रद्धा और संवेग के रंग में रंगे हुए श्राद्ध वर्ग को जीवन भर के लिये इस प्रकार का अभिग्रह करवाना चाहिए :—"जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य प्रताप से प्राप्त मानव जीवन को सफल करने वाले देवानुप्रियो! आपको आज से ही जीवन पर्यन्त प्रतिदिन एकाग्रचित्त से त्रिकाल चैत्य वन्दन करना चाहिए। हे भव्यो! यही इस अशुचि से ओतप्रोत अशाश्वत एवं क्षणभंगुर मनुष्यता का सर्वोत्कृष्ट सार है। पूर्वाह्न (प्रातः) में आप लोगों को जलपान तक नहीं करना चाहिये जब तक कि चैत्यों का और साधुओं का आप वन्दन न कर लें। इसी प्रकार मध्याह्न में जब तक आप चैत्यों का वन्दन न कर लें तब तक भोजन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अपराह्न में अर्थात् तीसरे प्रहर में चैत्यवन्दन करना चाहिये और इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि चैत्यवन्दन के विना सन्ध्याकाल न बीत जाय।" इस प्रकार का अभिग्रह—संकल्प अथवा प्रतिज्ञा जीवन भर के लिए कर लेने के पश्चात् हे गौतम! "निट्ठारग—पारगो भविज्जासि" इस विद्या से अभिमन्त्रित सात मुट्ठियां भरकर वासक्षेप गन्ध निक्षेप उन श्राद्धों के मस्तक पर करना चाहिये। फिर गुरु से निम्न विद्या ग्रहण करनी चाहिये :—
>
> "भगवान् अरहन्त को नमस्कार, मुझे भगवती महाविद्या सिद्ध हो, वीर, महावीर, जयवीर, सेणवीर, वर्द्धमानवीर, जयन्त, अपराजित स्वाहा।" "इस मन्त्र को एक उपवास से सिद्ध करना चाहिये। इस विद्या की सिद्धि के उपरान्त साधक कहीं भी जाय सर्वत्र सफल होता है। उपस्थापना के समय आचार्य की आज्ञा से इसका सात बार जाप करना चाहिये। सर्वत्र सफलता प्राप्त होती है। कोई बड़ा काम उपस्थित होने

पर पुनः इसका सात बार जाप करना चाहिये। वह आराधक होता है। विघ्नोपसर्ग शांत हो जाते हैं। शूरवीर संग्राम में अपराजित होता है अर्थात् विजय को प्राप्त करता है। कल्प की पूरी सिद्धि के बाद यह विद्या मंगल प्रदायिनी क्षेमकारिणी होती है।"

इस प्रकार द्रव्य परम्पराओं द्वारा प्रचलित की गई अगणित नई-नई मान्यताओं के फलस्वरूप अनेक इकाइयों में विभक्त हुए जैनसंघ को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के सदुद्देश्य से आचार्य हरिभद्र ने निशीथ के उद्धार के माध्यम से समन्वय की नीति का अनुसरण करते हुए जैन धर्मसंघ में घर की हुई चैत्यवन्दन मन्त्र जाप विद्या सिद्धि और वासक्षेप आदि परिपाटियों को जैन धर्मानुयायियों के दैनिक धार्मिक कर्त्तव्यों में सम्मिलित कर लिया।

द्रव्य परम्पराओं के उत्कर्ष काल में बड़ी ही धूम-धाम और आडम्बर के साथ तीर्थयात्रा करना स्वपर कल्याण एवं धर्म के उद्योत का प्रमुख साधन समझा जाने लगा था। देश के सभी हिस्सों में आत्म-कल्याण और धर्मोद्योत के लिए विशाल संघ यात्राएं सामूहिक तीर्थ यात्रा के रूप में यत्र तत्र यदा कदा आयोजित की जाती थी। जैन धर्मावलम्बियों में तीर्थों की बड़ी आडम्बरपूर्ण संघ यात्राओं के आयोजन की परिपाटी वस्तुतः एक प्रमुख धर्मकृत्य में रूप में रूढ हो गई थी। यह परिपाटी इतनी लोकप्रिय बन चुकी थी कि इसके विरोध में कुछ भी सुनने के लिये उस समय का बहु संख्यक जैन जन मानस तैयार नहीं था। इस तीर्थयात्रा की परिपाटी को एक धर्मकृत्य के रूप में साधारण रूप से सुविहित परम्परा के साधु-साध्वियों के लिये अनाचरणीय सिद्ध करने वाला एक बड़ा ही सुन्दर आख्यान महानिशीथ में दिया गया है। यह आख्यान मध्य युग से लेकर अद्यावधि जैन धर्मसंघ की विभिन्न इकाइयों में एक विवादास्पद विषय रहा है। द्रव्य परम्पराओं के उत्कर्ष काल में भिन्न-भिन्न मान्यताओं वाले जैन श्रमण संघों के अधिनायक आचार्यगण इस सम्बन्ध में क्या अभिमत रखते थे इस सम्बन्ध में सामूहिक रूप से प्रचलित तीर्थयात्रा पर इस आख्यान से स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है। अतः जिज्ञासुओं एवं इतिहासविदों के लाभार्थ उस आख्यान को यहां अविकल रूप से उद्धृत किया जा रहा है :—

"गोयमा ! णं इमाए चेव उसभ चउवीसीगाए अतीताए तेवीसइमाए चउवीसिगाए, जाव णं परिणिव्वुडे चउवीसइमे अरहा, ताव णं अइक्कंतेणं केवइएणं कालेणं गुण निप्फन्ने कम्मसेलमुसुमूरणे महायसे महासत्ते, महाणुभागे, सुगहिय नामधिज्जे वइर नामं गच्छाहिवई भूए। तस्स णं पंच सयं गच्छं निग्गंथीहिं विणा। निग्गंथीहिं समं दो सहस्से य अहेसि। ता गोयमा ! ताओ निग्गंथीओ अच्चंत परलोग भीरुयाओ सुविसुद्ध निम्मलंतकरणाओ, खंताओ, दंताओ, मुत्ताओ,

जिइंदियाओ, अच्चंत भणिरीओ, निय सरीरस्सा वि य छक्कायवच्छलाओ, जहावइट्ठे अच्चंत घोर वीर तव चरण सोसिय सरीराओ। जहा णं तित्थयरेणं पन्नवियं, तहा चेव अदीणमणसाओ, माया मय अहंकार रति हास खेड कंदप्पणाहवाय विप्पमुक्काओ तस्सायरियस्स सगासे सामण्णमणुचरंति । ते य साहुणो सव्वे वि गोयमा! न तारिसा मणाग । अहन्नया गोयमा ! ते साहुणो तं आयरियं भणंति । जहा णं जइ भयवं तुमं आणत्तेहि ता णं अम्हेहिं तित्थयत्तं करिया चंदप्पह सामियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो । ताहे गोयमा ! अदीण मणसा अणुत्ताल गंभीर महुराए भारतीए भणियं तेणायरिएणं । जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं, ता जाव णं दोलेइजत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पहं वंदावेहामि । अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जई । एएणं कारणेणं तित्थ यत्ताए पडिसेहिज्जइ । तओ तेहिं भणियं जहा भयवं केरिसो ? उण तित्थ यत्ताए गच्छमाणाणं असंजमो भवई । सों पुण इच्छायारेणं विइज्जं वार परिसं उल्लाविज्जा बहु जणेणं वाउलं गो भत्ति हि से । ताए गोयमा ! चिंतियं तेणं आयरिएणं जहा णं ममं वइक्कमिय निच्छयओ एए गच्छिहिंति । तेणं तु मए समयं च दुत्तरेहिं वयंति । अहन्नया सुबहुं मणसा संधारेऊणं चेव भणियं तेणं आयरिएणं । जहा णं तुब्भे किं चि वि सुत्तत्थं वियाणहव्विय ता जारिसं तित्थयत्ताए गच्छमाणाणं असंजमं भवइ तारिसं सयमेव वियाणेह । किं एत्थ बहु पलविएणं । अन्नं च विदियं तुम्हे हिं पि संसार सहाव जीवाई पयत्थ तत्तं च । अहन्नया बहु उवाएहिं णं विणिवादितस्स वि तस्सायरियस्स गए चेव ते साहुणो, कुद्धेणं कयंते णं पेरिए (क्रुद्धेन कृतान्तेन प्रेरिता) । तित्थयत्ताये तेसिं गच्छमाणाणं कत्थइणेसणं कत्थइ हरियकाय संघट्टणं कत्थइ बीयक्कमणं कत्थइ पिवीलियादीणं तसाण संघट्टण परितावणोद्दावणाइ संभवं । कत्थइ वइट्ठ पडिक्कमणं कत्थइ ण कीरए चेव चाउकालियंसज्झायं कत्थइ ण णं पडिज्जा मत्त भंडोवगरणस्स विहीए उभयकालं पेह पमज्जण पडिलेहण पक्खोडणं किं बहुणा गौयमा ! कित्तियं मन्निहियं अट्ठारसण्हं सीलंग महल्लाणं सत्तारस विहस्स णं संजमस्स दुवालस विहस्स णं सब्भंतर बाहिरस्स तवस्स जाव णं खंतद्दि अहिंसा लक्खणस्स दस विहस्स अणगारधम्मस्सजत्थेक्किक्क पयं चेव सुबहुएणं पि कालेणं थिरपरिचिएण दुवालसंगमहासुयक्खंधेणं बहुभंग सयसद्व्वत्ताणाए दुक्खं निरइयारं परिवालिऊणं जे एयं च सव्वं जहाभणियं निरइयारमणुट्ठियंति । एवं संभरिऊण (संधारिऊण) चिंतियं तेण गच्छाहिवइणा जहा णं मे विप्परुक्खेणं ते दुट्ठ सीसे मज्झ अणाभोग पव्वएणं सुबहु असंजमं काहिंति।

तं च सव्वं मम मंछंति यं होही जओ णं हं तेसिं गुरु। ता हं तेसिं पट्टीये (पुट्ठिए) गंतूणंपडिजागरामि जेणाहमित्थ पएं पायच्छित्तेणं णो संवज्जिज्जत्ति वियप्पिऊणं गओ सो आयरियो तेसिं पट्ठीए जाव णं दिट्ठे तेणं असमंजसेणं गच्छमाणे। ता हे गोयमा ! समहुर मंजुलालावेणं भणियं ते णं गच्छाहिवइणा। जहा भो! भो! उत्तमकुल निम्मलवंस विहूसणा ! असुगाइ महासत्ता (असुग पसुंगाई) साहूउ पहपडिवन्नाणं पंच महव्वयाहिय तणूणं महाभागाणं साहु साहुणीणं सत्तावीसं सहस्साइं थंडिलाणं सव्वदंसीहिं पण्णत्ताइं। ते य सु उवउत्तेहिं विसोहिज्जंति ण उणं अन्नोव उवत्तेहिं। ता किमेंयं सुन्नासुन्नीए अणोवउत्तेहिं गम्मइ इच्छायारेणं। उवओगं देह। अन्नं च इणमो सुत्तत्थं तुम्हाणं वि सुमरिउं भविज्जा जं सारं सव्व परम तत्ताणं। जहा एगे वेइंदिए पाणीयगं सयमेव हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइ अहिगरण भूओवगरण जायेणं जं णं केई संघट्टाविज्जए वा एवं संघट्टियं वा परेहिं समणुजाणिज्जा से णं तं कम्मं जया उदिन्नं भविज्जा तया जहा उच्छु खंडाइं जं ते (यंत्रे) तहा निपीलिज्जमाणे छम्मासेणं खविज्जा। एवं गाढ़े दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदिज्जा। एवं अगाढ परियावणे वास सहस्सं गाढ परियावणे दसवास सहस्से। एवं अगाढ किलावणे वासलक्खं गाढ किलावणे दस वास लक्खाइं उद्दवणे वास कोडी। एवं तेइंदियाइसु पि णेयं। ता एवं च वियाण माणा मा तुम्हे छुब्भहत्ति। एवं गोमया ! सुत्ताणुसारेणं सारयंतस्सावि तस्सायरियस्स ते महापावकम्मेगम गम हल्ल प्फलेणं हल्लो हली भूए णं तं आयरियाणं आसमपाव कम्मट्ठदुक्ख विमोयणं णो वहु मन्नंति। ताहे गोयमा ! मुणियंते णायरियेणं जहा निच्छयओ, उम्मग्गपडिये सव्व पगारेहिं चेव इमे पावमई दुट्ठसीसे, ता किमट्ठमहमिमेसिं पट्ठीए लल्लीवागरणं करेमाणोणुगच्छमाणो य सुक्काए गयजलाए णदीए उवुब्भं (उब्बुडं उदबूडं तैरना)। एते गच्छंतु दस दुवारेहिं अह यं तु तावायहियमेवाणुविट्ठिओ, मो, कि मज्झ परकएणं। सुमहंतेणावि [illegible] पब्भारेणं थेवमवि [illegible] [illegible] भविज्जा सपरक्कमेणं चेवमे आगमुत्त तव संजमाणुट्ठाणेणं [illegible] नयरेयव्वे। एस उण तित्थयराएसो जहा—"अप्पहियं [illegible], [illegible] सक्को परहियं च पयरिज्जा। अप्पहिय [illegible], [illegible] चेव कायव्वं।" अन्नं च जइ एते तव संजम [illegible] [illegible] [illegible] एएसिं चेव सेयं होहिइ। ण करेहिंति तओ [illegible] चेव [illegible] [illegible]णुहारं हविज्जा। नवरं, [illegible] मम [illegible] [illegible], [illegible] अहयं [illegible]। अन्नं च जे तित्थयरेहिं भगवंतेहिं [illegible] [illegible]गुणं [illegible]। तेसिं तु अहयं [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]-

वरमं भविज्जा। तं चागमे इहपरलोगविरुद्धं तं णायरामि ण कारयामि, ण कज्जमाणं समणुजाणामि। तामे रिस गुणजुत्तस्सा वि जइ भणियं ण करेंति, ताहमिमेसिं वेसग्गहणं उद्दालेमि। एवं च समए-पन्नत्ती जहा जे केई साहू वा साहुणी वा वायामित्तेणावि असंजम मणुव्वेट्टिज्जा, से णं सारेज्जा वारेज्जा चोइज्जा पडिचोइज्जा। से णं सारिज्जंते वा वारिज्जंते वा चोइज्जंते वा पडिचोइज्जंते वा जे णं तं वयण मवमन्निय अलसाईमाणे वा अभिनिवेट्ठेइ वा न तहत्ति पडि-वज्झिय इच्छं पउंजिद्दाणं तट्ठामाओ पडिक्कमेज्जा। से णं तस्स वेसगहणं उद्दालिज्जा। एवं तु आगमुत्ताणाएणं। गोयमा! जाव तेणायरियेणा एगस्स सेहस्स वेसग्गहणं उद्दालियं ताव णं अवसेसे दिसो दिसिं पणाट्ठे। ताहे गोयमा! सो आयरिओ सणियं सणियं तेसिं पट्ठीये जाउमारद्धो, णो थं तुरियं तुरियं। से भयवं! किमट्ठं तुरियं तुरियं णो पयाइ? गोयमा! खाराए भूमीए जो महुरं संक मिज्जा, महुराए खारं, किण्हाए पीयं, पीयाओ किण्हं, जलाओ थलं, थलाओ जलं संकमेज्जा। ते णं विहीए पाए पमज्जिय संक-मेयव्वं। णो पमज्जेज्जा तओ दुवालस संवच्छरियं पच्छित्तं भविज्जा। एएणमट्ठेणं गोयमा! सो आयरिओ ण तुरियं तुरियं गच्छे। अह-न्नया उत्त विहीए थंडिलं संकमणं करेमाणस्स णं गोयमा! तस्सायरि-याए आगओ बहु वासर खुहापरिगय सरीरो वियड दाढाकरालकयंत भासुरो, पलयकालमिव घोर रूवो केसरी। मुणियं च तेण महाणु-भागेण गच्छा हिवइणा, जहा जइ दुयं गच्छिज्जइ ता बुक्किज्जइ इमस्स। नवरं दुयं गच्छमाणेणं असंजमं। ता वरं सरीर वोच्छेयं ण असंजम पवत्तणं (त्ति) चिंतिऊण विहीए उवट्ठियस्स सेहस्स जस्सुद्दा-लियं वेसग्गहणं तं दाऊण ठिओ निप्पडिकम्प पायवोवगमणेणासणेणं। से वि सेहो तहेव। अहन्नया अच्चंतं विरुद्धंतकरणे पंच मंगल पेर[1] सुहज्झवसायत्ताए दुन्नि वि गोयमा! वावाइए तेण सीहेणं। अंत गडे केवली जाएट्ठप्पयारमलकलंकविप्पमुक्के, सिद्धे य ते उण गोयमा! एकूणे पंचसये साहूणं तक्कम्मदोसेणं जं दुक्ख मणभवमाणे चिट्ठंति, जं वाणुभूयं, जं वाणु भविहिंति अणंत संसारसागरं परिभमंते तं को अणंतेणंपि कालेणं भाणिउ समत्थो। एए ते गोयमा! एगूणं पंचसए साहूणं, जेहिं च णं तारिस गुणोववेयस्स णं महाणभागस्स गुरुणो आणं अइक्कमिय णो आराहियं। अणंत संसारिए जाए।"

[महानिशीथ हस्तलिखित पत्र ४१ (१) से ४३ (१)]

---

[1] पेर प्रईरय पाइयसद्दमहण्णवो। "पंचमंगल पेर" पंच मंगल (स्मरण) से जुड़े हुए।

अर्थात् "हे गौतम ! इस ऋषभादि महावीरान्त चौवीसी से पूर्व की तेवीसवीं-चौवीसी के चौवीसवें तीर्थङ्कर के सिद्ध बुद्ध हो जाने के अनन्तर कुछ काल पश्चात् महायशस्वी महान् सत्वशाली महानुभाग यथा नाम तथागुण वाले वज्र नाम के गच्छाधिपति हुए। उनके गच्छ में पाँच सौ साधु और पन्द्रह सौ साध्वियाँ थीं। हे गौतम ! आर्य वज्र की वे शिष्याएँ अत्यन्त भवभीरु, अति विशुद्ध निर्मल अन्त:करण वाली शांत दांत जितेन्द्रिय और अध्ययनशीला थीं। वे षड्जीव निकाय के प्राणियों को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझती थीं। उन्होंने शास्त्र वचनानुसार अत्यन्त उग्र तपश्चरण से अपनी देह यष्टियों को शोषित कृश और शुष्क बना लिया था। तीर्थङ्करों के उपदेशानुसार वे अदीन मन वाली साध्वियाँ माया, मद, अहंकार, हास-परिहास से विहीन और सब प्रकार के लौकिक संगों से रहित थीं। वे आर्य वज्र के अनुशासन में रहकर श्रमणी धर्म का समीचीन रूप से परिपालन करती थीं। किन्तु गौतम ! आचार्य वज्र के सभी साधु इस प्रकार के नहीं थे।

एक दिन उन साधुओं ने आचार्य से निवेदन किया :—"भगवन् ! यदि आप आज्ञा प्रदान करें तो हम भी तीर्थयात्रा करके चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन कर और धर्मचक्र की यात्रा करके यहाँ लौट आयें।" गौतम ! उन साधुओं द्वारा किये गये निवेदन के उत्तर में आचार्य वज्र ने बड़े ही घनरव गम्भीर मृदु भाषा में कहा :—"सुविहित परम्परा के साधुओं के लिये यदा कदा इच्छानुसार तीर्थयात्रा के लिये जाना कल्पनीय नहीं है। उचित नहीं है। जब संघयात्रा समाप्त हो जायेगी तब मैं तुम्हें चन्द्रप्रभ स्वामी की वन्दना करवा दूँगा। मेरे निषेध का एक और भी कारण है। वह यह है कि यात्रा में जाने वाले असंयम के दोष में लिप्त हो जाते हैं। इसी कारण तीर्थयात्रा का मैं निषेध कर रहा हूँ।"

इस पर आचार्य वज्र के शिष्यों ने प्रश्न किया :—"भगवन् ! तीर्थयात्रा में जाने वाले श्रमणों को किस प्रकार का असंयम होता है ?"

इस पर आचार्य वज्र ने मन ही मन में विचार किया कि ऐसा लगता है कि ये शिष्य मेरी आज्ञा का अतिक्रमण करके यात्रा में चले जायेंगे इसी कारण मेरे द्वारा प्रतिषेध किये जाने के उपरान्त भी ये इस प्रकार प्रति प्रश्न कर रहे हैं। उन्होंने चिन्तन के पश्चात् अपने शिष्यों से कहा :—"वत्सो ! यदि तुम थोड़ा-बहुत भी

सूत्रों के रहस्य को जानते हो तो तीर्थयात्रा में जाने वालों को किस प्रकार का असंयम दोष लगता है यह तुम स्वयमेव सोच सकते हो। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग जीव-अजीव, संसार-स्वभाव और धर्म के मर्म को अच्छी तरह से जानने वाले हो।"

इस प्रकार आचार्य वज्र द्वारा पुनः-पुनः निषेध किये जाने के उपरान्त भी आचार्य वज्र की अनुपस्थिति में कराल काल से प्रेरित हो वे सभी शिष्य तीर्थयात्रा के लिये चल पड़े। तीर्थयात्रा में जाते हुए उन साधुओं को अनैषणीय आहार ग्रहण करने, कहीं वनस्पतिकाय के जीवों का संघटन संमर्दन करने, कहीं अनेक प्रकार के बीजों का प्रमर्दन करने, कहीं कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि त्रस जीवों का संस्पर्शन संघट्टन, परितापन, उद्रापण करने, कहीं प्रतिक्रमण का अभाव, कहीं चतुर्कालिक स्वाध्याय का अभाव, तो कहीं उभयकाल प्रेक्षण, प्रमार्जन, प्रतिलेखन का उल्लंघन आदि अनेक प्रकार के दोषों का भाजन होना पड़ा। गौतम ! अधिक क्या कहा जाय, उन शिष्यों ने तीर्थयात्रा में अट्ठारह प्रकार के शीलांगों, सत्तरह प्रकार के संयम, बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तप एवं शान्ति व अहिंसा लक्षणवाले दस प्रकार के अणागारधर्म के परिपालन में पग-पग पर प्रमाद किया।

इससे खिन्न हो आचार्य वज्र ने विचार किया कि मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर वे दुष्ट शिष्य विपुल असंयम के भागी होंगे और क्योंकि मैं उनका गुरु हूँ इसलिये उन सबके इस दोष के लिये मैं भी किसी न किसी रूप में उत्तरदायी माना जाऊँगा व प्रायश्चित का भागी बनूँगा। अतः मेरा यह भी कर्त्तव्य है कि मैं उनके पीछे-पीछे जाकर उनको इन सब दोषों से बचने के लिये सावधान करूँ—सजग करूँ। इस प्रकार विचार कर आर्य वज्र अपने शिष्यों के पीछे-पीछे गये। उन्होंने अपने शिष्य समुदाय को अयतनापूर्वक जाते हुए देखा। आर्य वज्र ने अतीव मृदु मञ्जुल वाणी में अपने शिष्यों को सम्बोधित कर कहना प्रारम्भ किया :—"उच्च कुल और निर्मल वंश में उत्पन्न हुए वत्सों ! सुनो। पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वियों के लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर महाप्रभुओं ने जो विशुद्ध श्रमणाचार बताया है उसका परिपालन उपयोगपूर्वक-यतनापूर्वक उद्यम करने से ही होता है। विना उपयोग के, विना यतना के नहीं। ऐसी स्थिति में तुम लोग स्वेच्छाचारी बनकर श्रमणाचार की उपेक्षा कर इस प्रकार

अविवेकपूर्वक जा रहे हों। इस पर ठण्डे दिल से विचार करो। इसके साथ ही संसार में सबसे परम सारभूत सूत्र के मर्म का तुम्हें स्मरण ही होगा कि जो व्यक्ति बेइन्द्रिय प्राणी का स्वयं अपने हाथ से पैर से अथवा अन्य किसी प्रकार के उपकरण से संस्पर्श करता है उनको किलामना उपजाता है अथवा उनकी हिंसा करता है अथवा किसी दूसरे से किलामना हिंसा आदि करवाता है या हिंसा आदि करने वाले की अनुमोदना करता है तो वह उस संस्पर्श कर्म के उदयकाल में यन्त्र में पीले जाने वाले इक्षु दण्ड की तरह भीषण वेदनाओं में पीला जाता हुआ छः मास में उस कर्म का क्षय करता है। इसी प्रकार यदि प्रगाढ़ भाव से बेइन्द्रिय जीवों की हिंसा आदि करता करवाता अथवा अनुमोदन करता है तो वह व्यक्ति बारह वर्ष की अवधि तक दुःखों में इक्षु खण्ड की तरह पिलता हुआ उस कर्म के फल को भोगता है। इसी प्रकार अगाढ़ परितापना पहुँचाने वाला एक हजार वर्ष तक, गाढ़ परितापना पहुँचाने वाला दस हजार वर्ष तक, अगाढ़ किलामना पहुँचाने वाला एक लाख वर्ष तक, गाढ़ किलामना पहुँचाने वाला दस लाख वर्ष तक, उद्रापण करने वाला करोड़ वर्ष तक यन्त्र में पीले जाते हुए इक्षुखण्ड की तरह दुःखों में पिलता हुआ उस कर्म के फल को भोगता रहता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि जीवों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। तो इस प्रकार इन सब तथ्यों के जानकार होते हुए तुम इस प्रकार श्रमणाचार से विपरीत आचरण मत करो।"

"गौतम ! इस प्रकार सूत्रानुसार समझाने वाले उस आचार्य के उन समस्त पाप कर्मों का नाश करने वाले हितकर वचन को भी उन लोगों ने नहीं माना। आचार्य ने मन में विचार किया कि निश्चित रूप से ये दुष्ट शिष्य उन्मार्गगामी हो गये हैं। ऐसी स्थिति में इन पापमति शिष्यों के पीछे इन्हें समझाने का व्यर्थ प्रयास करता हुआ मैं सूखी नदी में तैरने जैसा व्यर्थ प्रयास क्यों करूँ ? ये लोग अपनी इच्छानुसार जहां चाहें वहां जाएँ। मुझे तो अपनी आत्मा का कल्याण करना है। मुझे इन दूसरों के कार्य से क्या प्रयोजन ? महान् पुण्य के प्रभाव से यदि थोड़ा बहुत भी मेरा परित्राण हो जाय तो उत्तम है। मुझे आगमानुसार विशुद्ध संयम का पालन करते हुए इस भव सागर को तैरना चाहिए। यह तीर्थङ्कर प्रभु का आदेश है : "यदि सम्भव हो तो आत्महित के साथ-साथ पर हित भी करना चाहिये। आत्म हित और पर हित इन दोनों में से पहले आत्म हित करना श्रेयस्कर होगा।" यदि ये लोग तप संयम आदि क्रिया

का अच्छी तरह से पालन करेंगे तो इन्हीं का कल्याण होगा और यदि नहीं करेंगे तो नीची से नीची दुर्गति में इन्हीं का पतन होगा। तथापि मुझ को गच्छ सौंपा गया है मुझे गच्छाधिपति कहा जाता है। तीर्थङ्कर प्रभु ने आचार्य के ३६ गुण बताये हैं। उनमें से एक का भी अति-क्रमण प्राणान्त संकट आने पर भी नहीं करूँगा। आगम में भी कहा गया है :—"जो इस लोक और परलोक दोनों लोकों के लिये निषिद्ध है उसका न मैं आचरण करता हूँ और न दूसरों से आचरण करवाता हूं और यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का आचरण करता है तो उसका मैं अनुमोदन भी नहीं करूँगा और न ऐसा करने की अनुमति ही दूँगा।" इस प्रकार के आचार्य गुणों से सम्पन्न मुझ जैसे गच्छाधिपति की बात भी ये लोग नहीं मानते हैं तो ऐसी स्थिति में मैं अपने इन शिष्यों का वेष ही उतार कर इनसे छीन लूँ। शास्त्र में भी इसी प्रकार का निर्देश है यथा :— "जो कोई साधु अथवा साध्वी यदि वचन मात्र से भी असंयम का आचरण करे तो उसको आचार्य समझावें, असंयम का आचरण करने से रोकें, असंयम का आचरण न करने की प्रेरणा दें, निर्भर्त्सना पूर्ण प्रेरणा दें। यदि वे इस प्रकार आचार्य द्वारा सारणा, वारणा, प्रेरणा और निर्भर्त्सना पूर्वक प्रेरणा किये जाने के उपरान्त भी आलस्यवश अथवा कदाग्रहवश होकर आचार्य के वचन की अवहेलना करता रहे" "भगवन्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, जैसी आपकी आज्ञा है मैं वहीं करूँगा," ऐसा न कह कर स्वेच्छानुसार उस असंयमपूर्ण कर्म से निवृत्त न हो अर्थात् असंयम का पश्चातापपूर्वक परित्याग न करे तो उस दशा में आचार्य उस साधु अथवा साध्वी के वेष को उतार दें।"

"गौतम! इस प्रकार आगमोक्त न्याय से उस आचार्य ने ज्यों ही उन शिष्यों में से एक शिष्य का साधुवेष उतारा, त्यों ही शेष ४९९ शिष्य विभिन्न दिशाओं में भाग खड़े हुए। तदनन्तर गौतम! वह आचार्य अपने उन दिशो-दिशि में भागते हुए शिष्यों के पीछे-पीछे शीघ्रतापूर्वक नहीं अपितु शनैः-शनैः जाने लगा।

गौतम :—"भगवन्! वह आचार्य त्वरित गति से क्यों नहीं चला?"

भगवान् महावीर :—"गौतम! जो क्षारयुक्त भूमि से क्षार-विहीन, मधुर अथवा कोमल भूमि में, मधुर भूमि से क्षारयुक्त में, कृष्णवर्णा भूमि से, पीतवर्णा भूमि में, पीतवर्णा से कृष्णवर्णा में,

जल से स्थल में और स्थल से जल में संक्रमण करें तो उसे उस प्रकार के संक्रमण करने से पूर्व विधिपूर्वक पैरों का प्रमार्जन करना आवश्यक है। यदि कोई इस प्रकार से संक्रमण से पूर्व पैरों का परिमार्जन नहीं करता है, तो वह द्वादश सांवत्सरिक प्रायश्चित का भागी हो जाता है। गौतम ! इस कारण वह आचार्य त्वरित गति से नहीं चला।"

उक्त विधि से भूमि का संक्रमण करते हुए उस आचार्य के समक्ष कुछ समय पश्चात् कई दिनों का क्षुधातुर विकट दंष्ट्रा करालों वाला साक्षात् महाकाल के समान वीभत्स प्रतीत होता हुआ और प्रलयकाल के समान भीषण केशरी सिंह आ गया। सिंह को देखकर उस महाभाग गच्छाधिपति वज्र ने मन ही मन विचार किया :— "यदि मैं द्रुतगति से चलूं तो इस सिंह से बचा जा सकता हूँ। किंतु द्रुतगति से चलने की दशा में मैं संयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा। इस प्रकार की स्थिति में संयम से पतित होने की अपेक्षा शरीरोत्सर्ग श्रेयस्कर है।" इस प्रकार निश्चय कर शिष्य की परिपाटी के अनुसार थोड़ी ही दूर पीछे खड़े शिष्य को—उस शिष्य को, जिसका कि स्वयं आचार्य ने साधुवेष उतार लिया था, पुनः साधुवेष प्रदान कर अनशन पूर्वक निष्कम्प पादपोपगमन आसन से आचार्य वज्र अवस्थित हुए। वह शिष्य भी अपने आचार्य का अनुसरण करते हुए उनकी ही भांति अनशन कर पादपोपगमन आसन से निश्चल हो अवस्थित हो गया। गौतम ! वे दोनों अत्यन्त विशुद्ध अन्तःकरण से पञ्चमंगल के स्मरण में निमग्न हो गये। शुभ अध्यवसायों के परिणामस्वरूप उसी जन्म में मुक्ति पाने वाले केवली होकर उस सिंह के द्वारा मारे जाने पर आठ प्रकार के कर्मों के मैल से पूर्णतः विप्रमुक्त होकर दोनों सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।"

"शेष ४९९ शिष्य अपने उस अपराधपूर्ण कर्म के दोष से जिस दुख को भोग रहे हैं, जो जो दुख भोग चुके हैं और भविष्य में अनन्त काल तक संसार में भटकते हुए जो दुख भोगेंगे, उन दुखों का अनन्त काल तक वर्णन करते रहने पर भी पूरी तरह बताने में कौन समर्थ है ? गौतम ! इस प्रकार उन ४९९ साधुओं ने ऐसे गुण सम्पन्न अपने महान् गुरु की आज्ञा का अतिक्रमण कर संयम की आराधना नहीं की और उसके परिणामस्वरूप वे अनन्त संसारी बन गये।"

इस प्रकार तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में आर्य वज्र के इस आख्यान में तीर्थयात्रा की अपेक्षा संयम-आराधना को ही आत्म कल्याण का प्रमुख साधन बताया गया है। द्रव्य परम्पराओं के उत्कर्ष काल में सामूहिक तीर्थयात्राओं को एक अत्यन्त

महत्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट धार्मिक कृत्य मान लिया गया था। उस लोकप्रिय बनी हुई परिपाटी के सम्बन्ध में महानिशीथ का यह आख्यान बड़ा ही चिन्तनीय और मननीय है जिसमें, गुरु द्वारा तीर्थयात्रा का निषेध किये जाने के उपरान्त भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करके तीर्थ यात्रा के लिये जाने वाले ४९९ साधुओं को अनन्त काल तक भव भ्रमण करने वाला बताया गया है। इसके विपरीत तीर्थयात्रा का (मिलापकों के समय) निषेध करने वाले आर्य वज्र को और उनके समझाने पर तीर्थ यात्रा से विरत हुए शिष्य को विशुद्ध संयम के पालन के परिणामस्वरूप सिद्ध बुद्ध और मुक्त होना बताया गया है।

द्रव्य परम्पराओं के उत्कर्ष काल में चैत्य निर्माण, चैत्य पूजा और नियत निवास की क्रियाएं जैन धर्मसंघ में लोकप्रिय होने के साथ-साथ जनमानस में गहराई से घर कर गई थी। एक प्रकार से रूढ हो गई थी। विशुद्ध श्रमणाचार किस प्रकार का होता है, निरतिचार पंच महाव्रतों का पालन करने वाला श्रमण परम्परा का प्रतीक स्वरूप श्रमण कैसा होता है, चैत्य निर्माण में इस प्रकार के श्रमणत्व के प्रतीक श्रमण का क्या कर्तव्य है, इन सब बातों पर महानिशीथ में बड़े ही प्रभावकारी शब्दों में आचार्य कुवलयप्रभ (कमलप्रभ अथवा सावद्याचार्य) के आख्यान में प्रकाश डाला गया है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण आख्यान के सम्बन्ध में चैत्यवासी परंपरा का परिचय देते हुए पिछले प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः इस पर कुछ अधिक न कहकर सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अत्यावश्यक प्रसंगोचित समझकर सावद्याचार्य के उस प्रकरण का मूल पाठ भी इतिहासविदों एवं जिज्ञासुओं के विचारार्थ यहां उद्धृत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है :—

देवार्चन पर सावद्याचार्य सम्बन्धी उद्धरण

"से भयवं के जे ण केइ आयरिय इवा मयहरं इ वा असई कहिं च कयाई वे (त) हा विसह विहारणगमासज्ज इणमो निग्गंथ पवयणमन्नहा पन्नविज्जा, से णं किं पाविज्जा ? गोयमा ! जं सावज्जायरियेणं पावियं। से भयवं कयरेणं ? से सावज्जायरिए किं वा तेणं पावियंति ? गोयमा ! णं इओ पउ उसभादि तित्थकर चउवीसगाए अणंतेणं कालेणं जा अतीता अन्ना चउवीसमां ताये जारिसो अह यं तारिसो चेव सत्तरयणी पमाणे णं जगच्छेरय भूओ देविंद विंद वंदिओ पवरवर धम्मसिरी नाम चरिम धम्मतित्थंकरो अहेसि। तस्स य तित्थे सत्त अच्छेरगे पभूए। अहन्नया परिनिव्वुडस्स णं तित्थंकरस्स कालक्कमेणं असंजयाणं सक्कारकारवणेणामच्छेरगे वहिडमारेहे। तत्थ णं लोगाणुवत्तीए मिच्छत्तोवहयं असंजय पूयाणुरयं बहुजण समूहं ति वियायाणि ऊण तेणं कालेणं तेणं समयेणं अभुणिय समय सब्भावेहिं तिगारव मइणमोहिएहिं णाममित्त आयरिय मयहरेहिं मढाईणं

(सावय) सा (वि) याओ दविणजायं पडिगाहिय रच्छं (त्थं) भसयस्सूसिए सकसकिममंतिए चेइयालए कारविऊण तं चेव दुरंतपंत लक्खणाह माहमेहिं आसइए। ते चेव चेइयालए मासीय गोत्रिऊण च बलवीरिय पुरिसक्कारक्कम संते वले संति वीरिए संते पुरिसक्कार परक्कमे वइ (चइउं) उग्गामिग्गहे अणियविहारं णीयावाव्भइत्ताणं सिढ़ीली होऊ णं संजमाइ सुद्धिए पच्छा परिविज्जाणं इहलोग परलोगावायं अंगीकाऊण य सुदीह संसार ते सु चेव मढ देवउलासु अव्वत्थं (च्छं) मदिरे मुच्छिरे ममीकारा हकारेहिं णं अभिभूए सयमेव विचित्तमल्ल दाभाइहिणं देवच्चणं काउमव्भुज्जए जे पुण समयसारं पर इमं सव्वभुवयणं तं दूरयरेणं उज्झियन्ति। तं जहाः "सव्वे जीवा सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे सत्ता (ण हंतव्वा) ण अज्झावेयव्वा ण परियावेयव्वा ण परिघेत्तव्वा ण विराहेयव्वा ण किलामेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। जे केई सुहुमा जे केई वायरा, जे केई तसा जे केई पज्जत्ता जे केई अपज्जत्ता जे केई थावरा जे केई एगिंदिया जे केई वेइंदिया जे केई तेइंदिया जे केई चउरिंदिया जे केई पंचिंदिया गोयमा! मेहुणं तं एगंतेण ३ णिच्छयओ २ वाढं ३। तहा आउ तेउ समारंभं च सव्वहा सव्व पयारेहिं णं सयय विवज्जिज्जा मुणीति। एस धम्मे (ध) वे सासए.णीए (निये) से मिच्च लोगं खेयन्नूहिं पवेइयंति ।।छ। से भयवं जे णं केई साहू वा साहुणी वा। नगंथे अणगारे दव्व थयं कुज्जा से णं किमालहेज्जा? गोयमा! जे णं केइ साहू वा साहुणी वा निग्गंथे अणगारे दव्वथयं कुज्जा से णं अजयएइ वा असंजएइ वा देव भोहए इ वा देवव्वा (च्चा) मेइ वा जाव ण उम्मंगं पइए वा दूरुज्झियसीले वा कुसीलेइ वा सच्छंदा यारिएई वा अलविज्जा। छ। एवं गोयमा! तेसिं अणायार पवत्ताणं वहूणं आयरिययरादीणं एगे मरयच्छवी कुवलयप्पहा हिहाणा नाम अणगारे महा तवस्सी अहेसि। तस्स णं महामहंते जीवाइ पयत्थे सुत्तत्य परिनाणे नुमहंते च संसार सागरे तासुं तासुं जोणीसुं संसरणभयं सव्वहा सव्व पगारेहिं णं अन्नंतं आसायणारुयत्त णं तक्कालं त्तारिसे वी वी (वि) असमंजसे अणायारे वहुसाहम्मिय पवत्तिए तहावि सो तित्थयराणमाणं णाइक्कमेइ। अहन्नया सो अणगूहिय वलवीरिय पुरिसक्कार परक्कमे सुसीसगण परियरि परिओ सव्वन्नुप्पणीयामग सुत्तत्थोभयाणु सारेण ववगय राग दोस मोह मिच्छत्त ममकाराहंकारो सव्वत्थ अपडिबद्धि कि वहुणा सव्वगुणगणाहिट्ठिय सरीरो अणेग गामागर नगर पुर खेड कव्वड मडंब दोण मुहाइ सन्निवेस विसेसे सु अणेगेसुं भव्वसत्ताणं संसार वार विमोक्खणि धम्मकहं परिकहिंतो विहरि। एवं वच्चंति दियहा। सो महाणुभागो विहरमाणो आगओ गोयमा! तेसिं णीयविहारीण-

मावासगे। तेसिं च महातवस्सी काउश्रण सम्माणिश्रो कि इस्सम्मासणपयाणाइणा सुविणएणं। एवं च सुहनिसिन्नो चिट्ठित्ताणं धम्मकहाइणाविणोएणं पुणो गंतूपयत्तो। ताहे भणिश्रो सो महाणुभावो। गोयमा! तेहिं दुरंत पंत लक्खणेहिं लिंगोवजीविहिं णं भट्ठायारु भग्गे पवत्तगानिग्गहियमिच्छदिट्ठीहिं।

जहा णं भयवं! जइ तुममिहइं एक्क वासारत्तियं चाउम्मासिग्रं पउंजियंताणमिच्छाए अणेगे चेइयालगे भवंति णूणं तुज्झाणत्तीए। ताकीर उमणुग्गहमम्हाणं इहेव चाउम्मासियं। ताहे भणियं तेण महाणुभागेणं गोयमा! जहा भो भो पियंवरा! जई वि जिणालए तहावि सावज्जमिणं णाहं वाया मित्तेणं पि एयं आयरिज्जा।

एवं च समयसारपरं तत्तं जहट्ठियं अविवरीयं णीसंकं भणमाणणं तेसिं मिच्छदिट्ठिलिंगीणं साहुवेस धारीणं मज्झे गोयमा! अस कलियं तित्थयरणामकम्मगोयं तेणं कुवलयप्पमेणं एग भवावसेसीवश्रो भवोयही। तत्थ य दिठो श्रणुलविज्ज नाम संघमेलावगो अहेसि। तेहिं च बहुहि हेसितेहिं च बहूहिं पावमईहिं लिंगिणियाहिं परोप्परमेगमयं काऊणं गोयमा! तालं दाऊण विप्पलोइयं चेव। ते तस्स महाणुभागसुमहतवस्सिणो कुवलयप्पहाहिहाणं कयं च से सावज्जायरियामिहाणं सद्दकरणं गयं च पसिद्धि ए। एवं च सद्दिज्जमाणो वि सो तेणापसत्थ सद्दकरणेणं। तहावि गोयमा! ईसिं पि ण कुप्पो। अहन्नया तेसिं दुरायाराणं सद्धम्मपरंमुहाणं अगार धम्मो अणगार धम्मोभय भट्ठाणं लिंगमित्तं नाम पव्वइयाणं अगार धम्मो अणगार धम्मोभय भट्ठाणं लिंगमित्तं नाम पव्वइयाणं कालक्कमेणं संजाश्रो परोप्परं आगम वियारो।

जहा णं सड्ढगाणं असइ संजया चेव मढं देउले पडिजागरंति खंडपडिए य समारययंति। अन्नं च जाव करणिज्जं तं पइसमारंभे कज्जमाणे जइस्स वि णं णत्थि दोस सम्भवे एवं च केइ भणंति संजमं मोक्खनेयारं। अन्ने भणंति जहा णं पासाय वडिंसए पूया सक्कार वलि विहाणाइ सुणं तित्थुत्थापणाए चेव मोक्ख गमणं।

एवं तेसिम विइयपरमत्थाणं पावकम्माणं जं जेण सिद्धं तं चे वुद्दामुस्सिंखाणं मुहेणापलवंति। ताहे समुट्ठियं वादसंघट्टं। नत्थि य कोई तथ्य आगमकुसला तेसिं जो तत्थजुत्ता जुत्तं वियारेइ जो पमाणमुवइस्सई। तहा एगे भणंति जहा अमुगो अमुग गच्छम्मि चिट्ठे

(चिट्ठइ)। अन्ने भणंति अमुगो, अन्ने भणंति किमित्थ बहुणा पलविएणं सव्वेसिमम्हाणं सावज्जायरिओ एत्थ पमाणं ति। तेहिं भणियं जहा एव होउत्ति हक्कारावेह लहुं। तओ हक्काराविओ गोयमा! सो तेहिं सावज्जाय रिओ आगओ दूर देसाओ अप्पडिबद्धत्ताए विहरमाणो सत्तहिंमासेहिं। जाव णं दिट्ठो एगाए अज्जाए। सा य तं कट्टुग्गतवचरण सोसिय सरीरं चम्मट्ठिसेस तणुं अच्छंतं तवसिरीए दिप्पंतं सावज्जायारेयं पेच्छिये सुविम्हियंतकरणा वियक्किउं (वितर्कितुं) पयत्ता (पवन्ना प्रपन्ना) अहो किं एस महाणुभागो णं सो अरहा किं वा णं धम्मो चेव मुत्तिमंतो।

किं बहुणा तियसिंद वंदाणं पि वंदणिज्ज पायजुओ एस ति चिंतिऊणं भत्तिब्भरनिब्भरा आयाहिणं पयाहिणं काऊणं उत्तिमंगेणं संघट्टेमाणी झगिति निवडिया चलणेसुं। गोयमा! तस्स णं सावज्जायरियस्स दिट्ठो य सो तिहिं दुरायारेहिं पणमिज्ज माणे। अन्नया णं सो तेसिं दुरायारेहिं पणमिज्जमाणो अन्नया णं सो तेसिं तत्थ जहा जग गुरुहिं उवइट्ठं तहा चेव गुरुवएसाणुसारे णं आणुसारेणं आणुपुव्वीए जहट्ठियं सुत्तत्थं वागरेइ। ते वि तहा चेव सद्दहंति।

अन्नया ताव वागरियं गोयमा! जाव णं एक्कारसण्ह मंगाणं चोद्दसण्हं पुव्वाणं दुवालस्संगस्स णं सुयनाणस्स णवणीय सारभूयं सयलपाव परिहारट्ठकम्म निम्महणं आगमं इणामेव गच्छमेरा पवत्तणं (पन्नवणं) महानिसीह सुयक्खंधस्स पंचमं अज्झयणं। अत्थेव गोयमा! ताव णं वक्खाणि यं जाव णं आगया इमा गाहा—

जत्थित्थीकरफरिसं अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने।
अरहा वि करेज्ज सयं तं गच्छं मूलगुण मुक्कं॥

तओ गोयमा! अप्पसंकिए णं चेव चिंतियं तेण सावज्जायरिएणं जइ एयं जहट्ठियं पन्नमे तओ जं मम वदणगं दाडमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमंगे ण चलणगे पुट्ठे तं सव्वेहिं पि दिट्ठमेएहिं त्ति। ता जहा ममं सावज्जायरियामि हाणं कयं तहा अन्नमवि किं चि एत्थु मुद्दंकं काहिंति मो सावज्जायरिओ चिंतिओ (उं)। तह जं मम सावज्जायरियाभिहाणं कयं इमेहिं तहा तं किं पि संपयं काहिंति। जे णं तु सव्व लोए अपुज्जो भविस्सं। ता अन्नहा सुतत्थं पन्नवेमि ता णं महती आसायणा, तो किं करियव्वमेत्थ त्ति किं एयं गाहं एव उपचयामि किं वाणं अन्नहा पन्नवेमि। अह वा हा हा ण जुत्त-मिणं उभयहा वि। अच्चंत गरहियं आयहियट्ठीणमेयं। ज उण-

भेयं जग्रग्रोभे समयाभिप्पाग्रो जहा णं जे भिक्खू दुवालसंगस्स णं सुयनाणस्सग्रसई चुक्कक्खलिय पमाया संकादी मनयत्तेणं (सभयत्तेणं) पयक्खरमत्ता बिंदुमवि एक्कं पउंविज्जा ग्रन्नहा वा पन्नविज्जा संदिद्धं वा सुत्तत्थं वक्खाणेज्जा ग्रतिहिए ग्रणुग्रोगस्स वा वक्खाणिज्जा से भिक्खू ग्रणंत संसारी भविज्जा।

तार्कि चेवेत्थं जं होही तं च भवउ। जहट्ठियं चेव गुरुवए साणुसारेणं सुत्तत्थं पवक्खामि त्ति चिंतिऊणं गोयमा! पवक्खाया णिखिलावयव विसुद्धा सा तेण गाहा। एया वसरंमि चोइग्रो गोयमा! सो तेहिं दुरंत पंत लक्खणेहिं जहा जइ एवं ता तुमं पि ताव मूल गुण हीणो जाव णं संभरसु तं जं तद्दिवसे तीए ग्रज्जाए तुज्झं वंदणगं दाउकाभाए पाए उत्तमंगेण पुट्ठे। ताहे इहलोयगा वयसहीरू खरसत्थरीहूग्रो गोयमा! सो सावज्जायरिग्रो चिंतिग्रो जहा से जं मम सावज्जायरियामिहाणं कयं इमेहिं तहा य किं पि संपइ काहिंति, जे णं तु सव्व लोए अपुज्जो भविस्सं वा किमित्थ परिहारगं दाहामित्ति चिंतमाणेणं संमारियं तित्थयर वयणं। जहा णं जे केई ग्रायरिएइ वा (गणहरेहि वा) भयहरं एइ वा गच्छाहिवई सुयहरे भविज्जा, से णं जं किंचि सव्वन्नूहिं ग्रणंतनाणीहिं पावाययणं ठाणं पडिसेहियं तं सव्वं सुयाणुसारेणं विन्नायं सव्वहा सव्व पयारेहिं णो समायरिज्जा णो णं समायरिज्जमाणं समणुजाणिज्जा। से कोहेण वा माणेण वा मायाए वा लोभेण वा भएण वा हासेण वा गारवेण वा दप्पेण वा पमाएण वा असती चुक्कखलिएण वा दिया वा राग्रो वा एगग्रो वा परिसागग्रो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं एतेसिमेव पयाणं जे केई विराहगे भवेज्जा से णं भिक्खू भूग्रो निंदणिज्जे गरहणिज्जे खिसणिज्जे दुगुंछणिज्जे सव्व लोग परिभूए बहु वाहि (वाउ) वेयणापरिगय सरीरे उक्कोसट्ठिइए ग्रणंत संसार सागरं परिभमेज्जा। तत्थ णं परिभममाणे खणमेक्कं पि न कहिं वि कयाइ निव्वुइं संपावेज्जा। ता पमाय गोयरगयस्स णं मे पावाउहमाहम हीण सत्त काउरिसस्स इहइं चेव समुट्ठियाए महंता ग्रावइ जेणं ण सक्को ग्रहमेत्थ जुत्तीखमं किं वि पडि उत्तरं पयाउं जे तहा परलोगे य ग्रणंत भव परं परं भममाणो घोर दारुणाणंतसोय दुक्खस्साभागी भविहामि।

ग्रहं मंदभागोत्ति चितयंतो ग्रविलक्खिग्रो। सो सावज्जायरिग्रो। गोयमा! तेहिं दुरायारपावकम्म दुट्ठ सोयारेहिं जहा णं ग्रनियत्त-

मच्छरी भूओ एस तओ संक्खुद्धमण खरमच्छरीभूय कलिऊणं च भणियं तेहिं दुट्ठ सोया रेहिं जहा जाव णं तो छिन्न भिण्ण मासंसयं ताव ण उट्ठं वक्खाणं अच्छित्ता एत्थं तं परिहारगं वायरिज्जा जं पोढजुत्ती-खमं कुग्गाहणिम्मं हए पव्वलं ति।

तओ तेण चिंतियं। जहा नाहंअरिन्नेणं परिहारगेणं भो चुक्किमो एसिं ता किमित्थ परिहारगं दाहामित्ति चिंतयंतो पुणो वि गोयमा ! भणिओ सो तेहिं दुरायारेहिं जहा किमट्ठं चितासागरे णिमज्जिऊणं ठिओ सिग्घमेत्थ किं चि परिहार गवयाहिं णवरं तं परिहारगं भणेज्जा जं जहुत्तत्थ किरियाए अव्वभिचारी। ताहे सुदूरं परितप्पिऊणं हियएणं भणियं सावज्जाय-रिएणं जहा एएणं अत्थे णं जगगुरुहिं वागरियं जं अओगस्स सुभत्थं न दायव्वं। जओ :—"आमे घडे निहतं जहा जलं तं घडं विणासेइ। इय सिद्धांतरहस्सं अप्पाहारं विणा सेइ।।' १ ।।

ताहे पुणो वि तेहिं भणियं जहा किमेयाइं अरडबरडाइं असंबद्धाइं दुब्भासियाइं पलवह जइ परिहारगं दाउं न सक्को ता उप्फिडसु सुआसणं ओसर सिग्घं इमाओ ठाणाओ किं देवस्स रूसेज्जा जत्थ तुमं पि पमाणी काऊणं सव्वसंघेण समय सब्भावं वायारेउं जं समाइट्ठो। तओ पुणो वि सुइरं परितप्पिऊणं गोयमा ! अन्नं परिहारगमलभमा-णेणं अंगीकाऊण दीहसंसारं भणियं च सावज्जायरिएणं। जहा णं उस्सग्गाववाएहिं आगमो ठिओ तुज्झे ण याणह। "एगंतं मिच्छत्तं जिणाणमाणामणेगंता।" एयं च वयणं गोयमा ! गिण्हाय वसति वियहि सिलिकुलेहिं व (वर्षति वियति शिखि कुलैरिव) अहिणव-पाउसघणोरल्लिमिव सबहुमाणं इच्छियं तेहिं तेहिं दुट्ठसोयारेहिं। तओ एगवयणदोसेणं गोयमा ! निबंधिऊणाणंत संसारि यत्तणं अपडिक्कमिऊणं च तस्स पाव समुदाय महाबंध मेलावगस्स मरिऊणं उववन्नो वाणमंतरेसुं सो सावज्जायरिओ तिओ चुओ समाणो उव-वन्नो पवसिय भत्ताराए पडिवासुदेव पुरोहिय धूयाए कुच्छिसि।"

(महानिशीथ हस्त लिखित प्रति पृष्ठ ४७ (२)
से पृष्ठ ५० (१) तक)

महानिशीथ के उपर्युद्धृत आख्यानों एवं उद्धरणों पर गहराई से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने समय की भगवान् महावीर के धर्म संघ की ह्रासोन्मुख स्थिति को देखकर संवेग परम्परा के विद्वान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने विभिन्न सम्प्रदायों अथवा गच्छों के मुख्य रूपेण सात अन्य आचार्यों के साथ मिल

बैठकर उनके साथ गहराई से विचार-विमर्श कर विभिन्न इकाइयों में विभक्त जैन संघ को एकता के सूत्र में आबद्ध करने और धार्मिक मान्यताओं एवं कार्यकलापों में एकरूपता लाने के सदुद्देश्य से समन्वयवादी उदात्त नीति को अपनाया। विभिन्न विचारधाराओं वाले गणों अथवा गच्छों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने जन मानस में एक प्रकार से गहराई से घर की हुई उन मान्यताओं को भी केवल इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में बोझिल मन से स्वीकार किया, जो न तो शास्त्र सम्मत ही समझी गई थीं और न परम्परागत ही।

दीमकों द्वारा खाई हुई, सड़ी-गली एवं खंडित-विखंडित जो प्रति महानिशीथ की आचार्य हरिभद्र को मिली, उसका उद्धार करते समय उन्होंने किन-किन शब्दों, किन-किन पंक्तियों, किन-किन पृष्ठों और किन-किन पत्रों को नये रूप से जोड़ा और कौन-कौन से शब्द, वाक्य, पृष्ठ, पत्र आदि उस खण्डित मूल प्रति के अनुरूप थे इस बात का उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने कहीं नहीं किया है। इस प्रकार की स्थिति में आज के किसी भी विद्वान् के लिये निर्णायक रूप में यह कहना नितान्त असम्भव है कि वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ का कितना व कौनसा भाग परम्परागत मूल स्वरूप वाला है और कितना व कौनसा भाग आचार्य हरिभद्र के द्वारा जोड़ा गया है। हाँ, यह जानने का अनुमानतः एक रास्ता अवश्य हो सकता है—और वह है आचारांग आदि शास्त्रों में समाविष्ट शाश्वत तथ्यों के कतिपय स्थलों और महानिशीथ के विभिन्न आख्यानों के विभिन्न प्रसंगों पर प्रयुक्त भाषा शैली वाले स्थलों पर क्षीर नीर विवेकपूर्ण विश्लेषणात्मक एवं अनुसंधानपरक दृष्टि से चिन्तन-मनन करने का। जिस पर से तत्त्व मर्मज्ञ सुविज्ञ जिज्ञासु इतिहासविद् यह अनुमान लगा सकें कि वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ का अमुक-अमुक भाग वस्तुतः परम्परागत मूल वाला है और अमुक-अमुक भाग आचार्य हरिभद्र द्वारा उनके समकालीन सात आचार्यों की अनुमति से इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर जोड़ा गया है कि येन केन प्रकारेण श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ की विघटन की प्रक्रिया समाप्त हो जाय और सम्पूर्ण जैन संघ में एकरूपता स्थापित होकर वह एकता के सूत्र में आबद्ध हो जाय। वे विचारणीय आख्यान, प्रकरण अथवा स्थल मुख्यतः निम्नलिखित हैं :— .

"(१) द्रव्यस्तव और भावस्तव पर जहाँ महानिशीथ में विचार किया गया है उसमें भावस्तव को सर्वोत्कृष्ट एवं परम स्वपर कल्याणकारी बताते हुए बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में यह बताया गया है कि एक व्यक्ति सुमेरु तुल्य अति विशाल एवं गगनचुम्बी रत्नखचित स्वर्ण-निर्मित जिन मन्दिरों से सारी पृथ्वी को आच्छादित कर दे तो भी उसका वह कार्य लव-निमेष मात्र अवधि तक किये गये भावस्तव के अनन्तवें भाग की भी तुलना नहीं कर सकता।

इससे आगे पञ्च मंगल के प्रकरण में द्रव्यस्तव के रूप में यह विधान किया गया है कि पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न में नियमित रूप से सदा त्रिकाल चैत्यवन्दन करना चाहिये। चैत्यवन्दन के साथ-साथ इस प्रकरण में विद्या सिद्धि मन्त्र जाप और वासक्षेप का भी विधान किया गया है।

इन दोनों प्रकार के स्तवों का वर्णन करते समय जो भाषा-शैली अपनाई गयी है उस पर विचार करने से सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भावस्तव का महत्त्व बताने में जिस अन्तस्तलस्पर्शी ठोस भाषा का प्रयोग किया गया है उसका वासक्षेप मन्त्र सिद्धि आदि द्रव्य स्तवों का विधान करने एवं उसका महत्त्व बताने वाली भाषा में नितान्त अभाव है।

(२) आर्य वज्र और उनके पाँच सौ शिष्यों के आख्यान में तीर्थयात्रा को असंयम का कारण बताया गया है। आर्य वज्र की १५०० शिष्या साध्वियों को विशुद्ध संयम का पालन करने वाली और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाली श्रेष्ठ श्रमणियां बताते हुए उनकी श्लाघा की गई है। उन साध्वियों ने तीर्थयात्रा के लिए अपने गुरु से कोई निवेदन नहीं किया। इसके विपरीत आचार्य वज्र के ५०० शिष्यों ने अपने गुरु से तीर्थयात्रा एवं चन्द्रप्रभ स्वामी का वंदन करवाने की प्रार्थना की। गुरु ने उनको अनुमति नहीं दी। गुरु की अनुमति के बिना ही वे ५०० शिष्य तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थित हुए। इस पर गुरु ने उन्हें ऐसा न करने के लिये अनेक भांति से समझाया। गुरु आज्ञा को शिरोधार्य न करने की दशा में गुरु ने उन्हें दुष्ट शिष्य बताते हुए उनके साधु वेष को उनसे छीन लेने का निश्चय किया। गुरु ने एक शिष्य के वेष को तो छीन भी लिया। किन्तु शेष शिष्य विभिन्न दिशाओं में भाग गये।

इस आख्यान के अन्त में ४९९ शिष्यों के अनन्तकाल तक दुर्गतियों में भटकते रहने का तथा गुरु और एक शिष्य के, जो कि तीर्थयात्रा के लिये नहीं गये, उसी भव में मुक्त होने का उल्लेख किया गया है।

(३) देव देवेन्द्रों ने पुष्पवृष्टि आदि से तीर्थङ्करों का द्रव्यस्तव किया इस प्रकार के शास्त्रीय उल्लेखों से द्रव्यस्तव सभी के लिये अनुकरणीय है कि नहीं इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महानिशीथ में निम्नलिखित तथ्य प्रकट किये गये हैं :—

(क) देवगण एकान्ततः अविरत हैं इस कारण वे केवल द्रव्यस्तव के ही पात्र हैं।

(ख) श्रावक श्राविकागण विरताविरत हैं। नितान्त अविरत देवताओं में और विरताविरत गृहस्थ मानवों में बहुत बड़ा अन्तर है। अतः वस्तुतः भावस्तव नितान्त श्रेष्ठ एवं आत्म-हित साधक है। यहां पर दर्शाणभद्र का दृष्टान्त पर्याप्त है। मुमुक्षुओं के लिये मुक्ति प्राप्ति का वही एक श्रेष्ठ मार्ग अनुकरणीय है जिस पर स्वयं तीर्थङ्कर प्रभुओं ने चलकर आठों कर्मों को नष्ट किया और भव्य प्राणियों को जन्म जरा मृत्यु से सदा सर्वदा के लिये छुटकारा दिलाने हेतु धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन किया।

(ग) जो सर्वाधिक आत्महित साधक और श्रेष्ठ है विज्ञ साधक को वही करना चाहिये जैसा कि तीर्थङ्करों ने किया। सजीव निकाय में से किसी भी जीव निकाय के प्राणियों की हिंसा महान् अनर्थकारिणी और अनन्त काल तक संसार में भट-काने वाली है। इस बात को सदा दृष्टि में रखते हुए जो सर्वाधिक आत्महित के साधन रूप हो, वही साधक को करना चाहिये।

(४) पञ्च मंगल प्रकरण में त्रिकाल चैत्यवंदन आदि द्रव्यस्तव का यद्यपि विधान किया गया है, किन्तु कमलप्रभ जिनको चैत्यवासियों ने सावद्याचार्य के नाम से अभिहित करना प्रारम्भ कर दिया था उन कमलप्रभाचार्य के आख्यान में श्रमणाचार का और भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा के प्रतीक श्रमण का जो वर्णन किया गया है वह बड़ा ही सजीव एवं मननीय है। इसमें दो मुख्य बातों पर विशेष बल दिया गया है। पहली बात तो यह है कि चैत्य निर्माण की वाणी मात्र से भी बात करना सच्चे श्रमण के लिये अकल्पनीय एवं अनाचरणीय है। "आप हमारे यहां एक चातुर्मास आवास तक रहने की कृपा करें। आपके यहां रहने से हमारे यहां अनेक चैत्यों का निर्माण हो जायगा।" चैत्यवासियों द्वारा की गई इस प्रार्थना के उत्तर में आचार्य कमलप्रभ ने कहा :—"यद्यपि यह जिनालयों की बात है। किन्तु मैं तो इस सावद्य कार्य का वाणी मात्र से भी अनु-मोदन नहीं कर सकता।" इस आख्यान में इस तथ्य पूर्ण बात को उन नियत निवासी वेष मात्र से साधु चैत्यवासियों के सम्मुख साहस के साथ कहकर कमलप्रभ ने सर्वोत्कृष्ट पुण्य का बन्ध कर लिया।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर प्रभु द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्य सिद्धांतों में अपवाद मार्ग का विधान करने वाला साधु सावद्याचार्य के समान अनन्त काल तक भयावहा भवाटवी में भटकता रहता है। इस आख्यान में वस्तुतः सच्चे श्रमण के लिये चैत्य निर्माण की बात तक करना और अपवाद मार्ग का विधान करना पूर्ण रूपेण वर्जनीय है एवं अनाचरणीय है ऐसा बताया गया है। आचार्य हरिभद्र का समय वास्तव में अपवाद मार्ग के विधानों से ओतप्रोत था। इस बात का इतिहास साक्षी है। चैत्यवासियों द्वारा अंगीकार किये गये और परिचालित दसों ही नियम वस्तुतः अपवाद मार्ग के अवलम्बन से ही निर्मित किये गये थे। सावद्याचार्य के इस आख्यान के माध्यम से महानिशीथ में चैत्य निर्माण और अपवाद मार्ग का विरोध किया गया है।"

महानिशीथ में उल्लिखित इन उपरि वर्णित तथ्यों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य हरिभद्र ने समन्वयकारिणी नीति का अवलम्बन लेकर भगवान् महावीर के धर्मसंघ को एकता के सूत्र में आबद्ध करने का एक ऐतिहासिक प्रयास किया। किन्तु उनका यह प्रयास केवल असफल ही नहीं रहा किन्तु उसके दूरगामी दुष्परिणाम भी हुए।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्त्तन काल में उपदिष्ट धर्म और विशुद्ध श्रमणाचार में विश्वास, आस्था एवं निष्ठा रखने वाले श्रमणों ने आचार्य हरिभद्र एवं उनके समकालीन आचार्यों द्वारा जैन संघ के समक्ष प्रस्तुत की गई इस समन्वयवादी नीति के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। परम्परागत धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप और विशुद्ध श्रमणाचार के आदर्श सिद्धांतों से हटकर वे किसी के साथ कोई समझौता करने को उद्यत नहीं थे।

आचार्य भद्रबाहु के उस समन्वयवादी प्रयास का दूरगामी दुष्परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी आदि जिन द्रव्य परम्पराओं द्वारा जो नये विधि-विधान धार्मिक कर्त्तव्यों के रूप में प्रचलित किये गये थे और उनमें से जिन कतिपय को संघ की एकता के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर आचार्य हरिभद्र ने महानिशीथ में मान्य किया था उन कार्य-कलापों एवं विधि-विधानों को सुविहित परम्परा के गच्छों गणों एवं सम्प्रदायों ने तो अपना लिया, किन्तु चैत्यवासी आदि उन द्रव्य परम्पराओं ने समन्वय की दृष्टि से महानिशीथ में स्वीकृत भाव परम्परा द्वारा विहित श्रमणाचार को नहीं अपनाया।

६

आगमानुसार जैन श्रमण व श्रमणी का वेष, धर्म शास्त्र एवं आचार विचार

भगवान् महावीर के धर्मसंघ में जिस प्रकार मान्यताओं की दृष्टि से अनेकरूपता दिखाई देती है वैसी ही अनेक रूपता उसके साधु साध्वियों के वेषादि में भी दिखाई देती है।

श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरहपन्थी आदि तथा दिगम्बर तेरहपन्थ, भट्टारक, मयूरपिच्छ, गृध्रपिच्छ, निष्पिच्छक आदि में वेष की दृष्टि से न मध्यकाल में एकरूपता थी न आज है। ये सभी परम्पराएँ दावा करती हैं कि जिस वेष को उन्होंने मान्य कर रखा है वही वास्तविक जैन श्रमण व श्रमणी का वेष है। हाँ एक दो परम्पराएँ ऐसी हैं जिनकी यह मान्यता है कि श्रमण वेष तथा उनके वस्त्र व पात्रों की संख्या में वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण से लेकर सातवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच किसी समय शारीरिक संहनन आदि की दृष्टि से आवश्यक समझकर थोड़ा सा परिवर्तन अवश्य किया गया था। शेष उनका वेष वही चला आ रहा है जो महावीर के शासनकाल में था।

ऐसी स्थिति में वास्तविक वेष क्या होना चाहिये इसके निर्णय के लिये हमें जैन आगमों को देखना होगा।

जैनागम आचारांग सूत्र और भगवती सूत्र में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रश्न व्याकरण आदि आगमों में भी यत्र तत्र इसके उल्लेख मिलते हैं। संक्षेप में कतिपय उल्लेख प्रसंगवशात् यहां दे रहे हैं:—

> आउरं लोयमायाए, चइत्ता पुव्वसंजोगं, हिच्चा उवसमं, वसित्ता बंभचेरंसि, वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइ, कुसीला वत्थं, पडिग्गहं कंवलं पायपुंछणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अन्तराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए ॥१॥"
>
> (आचारांग सूत्र, प्रथमश्रुत स्कन्ध, अध्ययन ६)

अर्थात्—कितने ही साधक संसार को दुःखमय जान कर, पूर्वकालीन संयोग को त्यागकर, उपशम और ब्रह्मचर्य को धारण करके और धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ करके भी कालान्तर में परिषहों से घबराकर सदाचार—शील से रहित हो धर्म का पालन करने में अक्षम असमर्थ हो वे वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण का परित्याग कर काम—भोगों की अभिलाषा करते है। वे तत्काल

अथवा मुहूर्त पश्चात् या थोड़े समय पश्चात् काम भोगों में तीव्र ममता रखने वाले अन्तरायों से युक्त वे साधक आत्मा और शरीर के भेद को भूल जाते हैं और काम-भोगों से कभी तृप्त न होते हुए विभिन्न योनियों में उत्पन्न हो संसार में भटकते रहते हैं।

"जे भिक्खु तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स णं नो एवं भवइ—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं पत्थाइं जाइज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिउञ्चमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ।।१।।"

(आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन ८, उद्देशक ४)

अर्थात्- जो अभिग्रहधारी मुनि एक पात्र और तीन वस्त्रों से युक्त है, उसके मन में शीतादि के कारण से यह विचार उत्पन्न नहीं होना चाहिये कि—"मैं चौथे वस्त्र की याचना करूँ।" यदि तीन वस्त्रों से कम उसके पास हैं तो वह निर्दोष दूसरे या तीसरे वस्त्र की याचना करे और याचना करने पर जैसा भी वस्त्र उसे मिल जाय उसे धारण करे। वह उस वस्त्र को न तो धोवे और न धोकर रंगे हुए वस्त्र को धारण ही करे। वह मुनि परिमाण में स्वल्प और अल्प मूल्य वाले वस्त्र रखने के कारण अल्प वस्त्र वाला कहलाता है। यह वस्त्रधारी मुनि की सामग्री है।

"जे भिक्खु एगेण वत्थेण परिवुसिए पायवीइएण तस्स न णो एवं भवइ विइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा अदुवा एकसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

जस्स णं भिक्खुस्स................।।१।।

(आचारांग सूत्र अध्ययन ८, उद्देशक ६)

अर्थात्—जो भिक्षु एक वस्त्र और एक पात्र से युक्त है, उसकी इस प्रकार की इच्छा नहीं होनी चाहिये कि—'मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूँ।' उसका वह वस्त्र यदि पूर्णतः जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो वह दूसरे वस्त्र की याचना कर सकता है। याचना करने पर उसे जैसा भी वस्त्र मिले उसे धारण करे और ग्रीष्म ऋतु आने पर उस जीर्ण वस्त्र को परिष्ठापित कर दे—त्याग दे, अथवा एक चादर रखे अथवा अचेलक बन जाये। इस प्रकार वह कमी करता हुआ भली प्रकार समभाव को जाने—समभाव से रहे।

"से भिक्खु वा भिक्खुणी वा अभिकंखिज्जा वत्थं एसित्तए, से पुण जं वत्थं जाणिज्जा, तं जहा जंगियं वा, भंगियं वा साणियं वा, पोत्तगं वा, खोमियं वा, तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं वा जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो

वित्थारं, दो तिहत्थवित्थाराओ, एगं चउहत्थवित्थारं । तहप्पगारेहिं वत्थेहिं असन्धिज्जमाणेहिं अह पच्छा एगमेगं संसिविज्जा ।।१।।"

(आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध, पञ्चम अध्ययन)

अर्थात्—यदि कोई साधु अथवा साध्वी वस्त्र की गवेषणा करने की अभिलाषा रखे तो वे वस्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार जानें कि ऊन (आदि) का वस्त्र, विकलेन्द्रिय जीवों की लारों से बनाया गया रेशमी वस्त्र, सन तथा वल्कल का वस्त्र, ताड़ आदि के पत्तों से निष्पन्न वस्त्र और कपास एवं आक की तूल से बना हुआ सूती वस्त्र एवं इस तरह के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है। जो साधु तरुण, बलवान्, रोगरहित और दृढ़ शरीर वाला है वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा वस्त्र धारण नहीं करे। परन्तु साध्वी चार वस्त्र (चादरें) धारण करे। उनमें एक चादर दो हाथ प्रमाण चौड़ी, दो चादरें तीन-तीन हाथ प्रमाण चौड़ी और एक चादर चार हाथ प्रमाण चौड़ी होनी चाहिये। इस प्रकार के वस्त्र नहीं मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे वस्त्र के साथ सी ले।"

"एवं खु मुणी आयाणं सयासुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, एगयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ ।।१।।"

(आचारांग सूत्र प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन ६, उद्देशक ३)

अर्थात्—इन पूर्वोक्त धर्मोपकरणों के अतिरिक्त उपकरणों को कर्मबन्ध का हेतु समझकर जिस मुनि ने उनका परित्याग कर दिया है, वह धर्म का पालन करने वाला है। वह आचारसम्पन्न अचेलक साधु सदा संयम में अवस्थित रहता है। वह आचारसम्पन्न अचेलक (विहूयकप्प) साधु सदा संयम में अवस्थित रहता है। उस भिक्षु को इस प्रकार का विचार नहीं होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है अतः मैं नये वस्त्र की याचना करूं, अथवा सुई धागे की याचना करूं और फटे हुए वस्त्रों को सीऊं, अथवा छोटे से बड़ा वा बड़े से छोटा करूं और उससे शरीर को आवृत करूं। उस अचेलक अवस्था में पराक्रम करते हुए मुनि को तृणों के स्पर्श चुभते हैं, उष्ण स्पर्श, दंश मशक के स्पर्श का परीषह होता है तो वह इस प्रकार के परीषहों को सहन करता है। अचेलक भिक्षु लाघवभाव को जानता हुआ कायक्लेश तप से युक्त होता है। जिस प्रकार भगवान् ने प्रवेदित किया है, उसे समीचीनतया जानकर जिन वीर-धीर पुरुषों ने पूर्वों अथवा वर्षों तक संयम का समीचीनतया पालन करते

बीयं। जा निग्गंथी सा चत्तारि संघाडीओ धारेज्जा एगं दुहत्थ-
हुए परीषहों को सहन किया, उसे देख समझकर, मोक्ष मार्ग पर चलने वाले साधकों के लिये ये परीषह सहन करने योग्य हैं।

मुनियों द्वारा अथवा साध्वियों द्वारा वस्त्र धारण किये जाने के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए आचारांग सूत्र में जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

> "से भिक्खु वा .... अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा, नो रएज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिउंचमाणो गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं।"

(आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन ५, उद्देशक २)

अर्थात्—संयमशील साधु अथवा साध्वी भगवान् द्वारा दी गई आज्ञा के अनुरूप निर्दोष एषणीय वस्त्र की गृहस्थ से याचना करे तथा प्राप्त होने पर उन वस्त्रों को धारण करे। किन्तु विभूषा हेतु न उन वस्त्रों को धोए न रंगे और न धोये हुए अथवा रंगे हुए वस्त्रों को पहने ही। उन अल्प परिमाण एवं अल्प मूल्य वस्त्रों को धारण कर ग्राम आदि में सुखपूर्वक विचरण करे। वस्त्रधारी मुनि का वस्त्र धारण करने सम्बन्धी यह सम्पूर्ण आचार है, यही उसका भिक्षुभाव है।

> "जे भिक्खु अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्सं एवं भवइ—चाएमि अहं तणफास अहियासित्तए, दंस मसग फासं अहियासित्तए, एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासं अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चाहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबन्धणं धारित्तए।

(आचारांग, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन ८, उद्देशक ७)

अर्थात्– जो अभिग्रहधारी अचेलक मुनि संयम में अवस्थित है और उसका यह अभिप्राय है अर्थात् उसके मन में यह विचार उत्पन्न होता है—"मैं तृणस्पर्श, शीत, उष्णता, डांस-मच्छर आदि के स्पर्श, अन्य जाति के स्पर्श और नानाविध अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्शों को तो सहन कर सकता हूं किन्तु पूर्ण नग्न होकर लज्जा को जीतने में असमर्थ हूं।" तो ऐसी स्थिति में उस मुनि को कटिबन्ध-चोलपट्टा धारण करना कल्पता है।

> "तए णं भगवं गोयमे छट्ठक्खमण पारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते, मुहपोत्तियं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता भायणवत्थाइं पडिलेहेइ पडिलेहेत्ता भायणाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ

उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी इच्छामि णं भंते ······· भिक्खायरियाए अडित्तए ।

(भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशक ५, पैरा १०७)

अर्थात्—उन भगवान् इन्द्रभूति गौतम गणधर ने छट्ठ के पारण के दिन प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय कर, द्वितीय पौरुषी में ध्यान सूत्रार्थ का चिन्तन कर तृतीय पौरुषी में शारीरिक एवं मानसिक चपलता से रहित होकर असंभ्रान्त ज्ञानपूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की, तदनन्तर भाजनादि अर्थात् भाजनों एवं वस्त्रों की प्रतिलेखना की। प्रतिलेखना कर भाजनों की प्रमार्जना की। फिर पात्रों को लिया और पात्रों को लेकर जहां श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहां आये, वहां आकर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर की स्तुति की। उन्हें अपने पांचों अंगों को झुकाकर नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार कर उन्होंने प्रभु से इस प्रकार निवेदन किया :—"हे प्रभो ! मैं आपसे आज्ञा प्राप्त कर आज छट्ठ (वेले) के पारण के दिन राजगृह नगर के उच्च-नीच एवं मध्यम कुलों में भिक्षाचर्या की विधि के अनुसार भिक्षा लेने के निमित्त जाना चाहता हूं।"

आगमों के इन संक्षिप्त उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के समय से श्रमण-श्रमणियों के वेष में मुखवस्त्रिका, वस्त्र पात्र आदि धर्मोपकरणों का प्रमुख स्थान था।

वज्र ऋषभ नाराच संहनन एवं समचतुस्र संस्थान के धनी महा तपस्वी तथा उसी भव में मोक्षगामी महामुनि स्कन्दक अणगार की दुश्चर अति घोर तपश्चर्या का वर्णन करते हुए वस्त्र पात्र का उल्लेख भी भगवती सूत्र में आता है जो इस प्रकार है :—

तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ तुट्ठे जाव नमंसित्ता गुणरयण संवच्छरं तवो कम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, तं जहा :—

पढम मासं चउत्थं चउत्थेणं अणिक्खित्तेणं तवो कम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावण भूमिए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेणं अवाउडेण य।····

दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं······· रत्ति वीरासणेणं अवाउडेण य।
···········सोलसमं मासं चोत्तीसइमं चोत्तीसइमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावण भूमिए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेणं अवाउडेण य।

(भगवती सूत्र शतक २, उद्देशक १ पैरा ६२)

अर्थात्-- तब स्कन्दक अरणगार श्रमरण भगवान् महावीर से आज्ञा प्राप्त कर हर्षित एवं तुष्ट हो यावत् भगवान् को नमस्कार कर गुरणरत्न संवत्सर तप को अंगीकार कर विचरने लगे। गुरणरत्न संवत्सर तप की विधि इस प्रकार है—प्रथम मास में व्यवधान रहित निरन्तर एकान्तर उपवास करते हुए दिन में उत्कुटुक आसन से बैठ कर सूर्याभिमुख हो आतापना भूमि में आतापना लेते हुए और रात्रि में वस्त्र से आवृत शरीर को उद्‌घाटित (खुला) कर वीरासन से स्थित रहते।

दूसरे मास में दो-दो उपवास, तीसरे मास में तीन-तीन उपवास, चौथे में चार-चार उपवास यावत् सोलहवें मास में सोलह उपवास के पश्चात् पाररण की व्यवधान रहित तपस्या करते हुए प्रतिदिन दिन के समय सूर्याभिमुख हो उत्कुट आसन से आतापना लेते और रात्रि के समय शरीर को खुला रख वीर आसन से स्थिर रहते।

इससे प्रकट होता है कि भगवान् महावीर की विद्यमानता में उनके श्रमरण संघ के महान् तपस्वी श्रमरणश्रेष्ठ स्कन्दक अरणगार जैसे तद्‌भव मोक्षगामी महामुनि भी वस्त्र धारण करते थे।

> जं पि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गह धारिस्स भवति भायण भंडोवहि उवगरणं, पडिग्गहो, पादबंधणं, पादकेसरिया, पादठवणं च, पडलाइं तिन्नेव, रयत्ताणं च, गोच्छओ, तिन्नेव, य पच्छाका, रयोहरण चोल पट्टक मुहणंतकमादीयं एयं पि य संजमस्स उववूहणट्ठयाए वाया यव दंसमसग सीय परिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएण णिच्चं पडिलेहण पप्फोडण पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्ते ण होइ सततं निक्खि वियव्वं च गिण्हियव्वं च भायण, भंडोवहि उवगरणं एवं से संजते विमुत्ते निस्संगे निप्परिग्गहरूई निम्ममे निन्नेह बंधणे सव्व पाव विरते दासी चंदण समाण कप्पे सम तिण मणि मुत्ता लेट्ठु कंचणे समे य माणावमाणणाए, समियरते, समित रागदोसे, समिए समितिसु, सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाण भूएसु सेहु समणे सुय धारते उज्जुत्ते संजते।
>
> [प्रश्न व्याकरण (पंचम संवर द्वार)]

अर्थात् और जो भी पात्रधारी सुविहित क्रियापात्र साधु के पास पात्र, मिट्टी के भांड और सामान्य उपधि तथा सकाररण रखने के उपकररण होते हैं, जैसे पात्र, पात्र बंधन, पात्र केसरिका पोंछने का वस्त्र और पात्र स्थापन जिस पर पात्र रक्खे जाय, पटल पात्र ढंकने के तीन वस्त्र और रजस्त्रारणपात्र लपेटने का वस्त्र, गोच्छक पात्र वस्त्र आदि प्रमार्जन करने के लिये पूंजनी और तीन ही प्रच्छाद ओढने के वस्त्र, रजोहररण ओघा, चोलपट्टक पहनने का वस्त्र और मुखानन्तक मुखवस्त्रिका आदि ये

सब भी संयम के उपवृंहरण वृद्धि के लिये हैं। वात, प्रतिकूल वायु, सूर्य का ताप, डांस मच्छर और शीत से संरक्षण करने के लिये रजोहरण आदि उपकरण को राग द्वेष रहित होकर साधु को सदा धारण करना चाहिये। प्रतिलेखना, आंखों से देखना, प्रस्फोटन, झाडना और प्रमार्जन रूप क्रिया में दिन और रात निरन्तर प्रमाद रहित भाजन, भांड और उपधि रूप उपकरण नीचे रखना और ग्रहण करना योग्य होता है। इस प्रकार वह संयमी धनादि रहित, निस्संग, मोह रहित, परिग्रह रुचि से दूर, ममता रहित, स्नेह और बन्धन से रहित, सब पापों से निवृत्त, कुल्हाडी मारने वाले और चन्दन का लेप करने वाले दोनों पर समभाव रखने वाला, तृण और मणि, मोती और पत्थर व सुवर्ण में समबुद्धि रखने वाला और मान अपमान की क्रिया में भी सम, हर्ष विषाद् रहित, उपशान्त पाप-रज वाला, अथवा विषय रति के उपशम वाला या शान्त वेगवाला, उपशान्त राग द्वेष वाला व पांच समितियों में सम्यग् प्रवृत्ति वाला, सम्यग् दृष्टि और जो समस्त त्रस स्थावर जीवों में समान भाव रखता है वही श्रमण श्रुतधारक ऋजु निष्कपट व आलस्य रहित व संयमी है।

विशेषावश्यक भाष्य में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार जिनकल्पी, पडिमाधारी अथवा अभिग्रहधारी श्रमणों के लिये भी कम से कम रजोहरण और मुखवस्त्रिका रखना आवश्यक माना गया है।

मध्यकाल में जैसे जैसे नये नये संघ व सम्प्रदायें आदि बनती गई वैसे वैसे इनकी भिन्नता की पहिचान के लिये सम्प्रदाय, संघ एवं क्षेत्र भेद से भी 'लोके लिंग प्रयोजनम्' की उक्ति के अनुसार थोड़ा बहुत वेषादि में परिवर्तन इनके द्वारा होना सम्भव है। फिर भी कुछ न कुछ अंशों में महावीर के धर्मसंघ की मौलिकता से जुड़े रहने का सभी ने प्रयत्न किया है यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

इन कतिपय उल्लेखों से स्पष्ट है कि श्रमण श्रमणियों का भगवान् महावीर के समय में किस प्रकार का वेष था।

पिछले प्रकरणों में चैत्यवासी, यापनीय एवं भट्टारक परम्पराओं के आचार-विचार एवं उनके द्वारा प्रतिष्ठापित एवं आविष्कृत अभिनव धार्मिक विधि विधानों पर, जिनका कि मूल आगमों में कहीं उल्लेख तक नहीं है, विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए तीर्थ प्रवर्तन काल से पूर्वधर काल तक के प्रभु महावीर के धर्म संघ में आये उतार चढ़ाव का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

मूल विषय में प्रवेश से पूर्व देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल में जैन संघ में आये उतार चढ़ाव का निरूपण करने के लिये यह सब कुछ विस्तार से बताना आवश्यक था। साथ ही यह बताना आवश्यक था कि इन भिन्न आचार-विचार अथवा मान्यताओं वाली नवोदित मध्यकालीन परम्पराओं के वर्चस्व के

परिणामस्वरूप छ सौ वर्षों से भी अधिक समय तक सुचारू रूप से चले आ रहे भगवान् महावीर के धर्मसंघ पर एवं उसके मूल स्वरूप, आचार विचार व्यवहार उपासना पथ अथवा वेष आदि पर, उसके दैनन्दिन अध्यात्म साधना के विधि विधानों एवं कार्यकलापों पर क्या प्रभाव पड़ा एवं किस प्रकार विशुद्ध परम्परा का प्रवाह गौण हो गया और किस प्रकार वीर प्रभु की भाव प्रधान आध्यात्मिक उपासना का स्थान भौतिकता प्रधान द्रव्यार्चना एवं द्रव्य पूजादि ने ले लिया।

भगवान् महावीर के धर्म संघ का एक वर्ग कहने लगा कि सवस्त्र को किसी भी दशा में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और चूंकि स्त्रियां निर्वस्त्र नहीं रह सकतीं अतः वे उस भव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं।

इसके विपरीत दूसरा वर्ग कहता रहा कि सवस्त्र भी और स्त्री भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

वही पहला वर्ग कहने लगा कि द्वादशांगी का लोप सा हो गया अतः द्वादशांगी में से एक भी आगम आज अस्तित्व में नहीं रहा। इसके विपरीत दूसरा वर्ग अपनी बात कहता रहा कि द्वादशांगी में से ११ अंग आज भी विद्यमान हैं। भले ही काल प्रभाव से उसका यत्किंचित् ह्रास हुआ हो। यह वर्ग आगमोत्तरवर्ती काल अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००० के पश्चात् आचार्यों द्वारा निर्मित किये गये भाष्यों, निर्युक्तियों, चूर्णियों, अवचूर्णियों, प्रकीर्णकों आदि को यथावत् समग्र रूपेण मान्य नहीं करता। सिद्धान्तों से सम्बन्धित विवादास्पद विषयों में अंतिम निर्णायक एवं प्रामाणिक अंग शास्त्रों के उल्लेखों को ही मानता है, भाष्यों, चूर्णियों, निर्युक्तियों, टीकाओं, वृत्तियों आदि को पूरी तरह नहीं। वहीं श्वेताम्बर परम्परा का एक वर्ग आगमों को और भाष्यों, चूर्णियों, निर्युक्तियों, टीकाओं, वृत्तियों आदि सभी को समान रूप से मान्य करने की बात कहता है।

एक वर्ग नग्न मूर्तियों की पूजा प्रतिष्ठा में विश्वास करता है तो दूसरा सवस्त्र मूर्तियों की पूजा प्रतिष्ठा में। तीसरा वर्ग मूर्ति पूजा का मूलतः ही विरोध करता है। वह निरंजन निराकार की अध्यात्म उपासना में ही विश्वास रखता है।

इस तरह भगवान् महावीर के धर्म संघ में वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पश्चात् आज तक जितने संघ, गण, गच्छ, सम्प्रदाय, आम्नाय आदि उत्पन्न हुए, उनकी यदि कोई गणना एवं विवेचना करना चाहे तो वर्षों लग सकते हैं।

फिर इन सबके वेष का जहां तक सम्भव है इसमें भी अनेक प्रकार के विभेद हैं। दिगम्बर परम्परा के गणों गच्छों आदि का जहां तक प्रश्न है इसमें नग्न रहने वाले साधु सूत का एक धागा तक अपने शरीर पर धारण नहीं करते तो दूसरी

ओर उसी वर्ग के भट्टारक गद्दिका, सिंहासन, छत्र, चामर, भवन, भूमि, दास-दासी, धन सम्पत्ति आदि सभी प्रकार का परिग्रह रखते हैं। दिगम्बर साधु केवल पादचारी होते हैं, तो भट्टारक रेल, वायुयान, कार आदि वाहनों का उपयोग करने वाले हैं।

श्वेताम्बर साधु-साध्वियों का जहां तक प्रश्न है, उनमें मूर्ति पूजा में विश्वास करने वाला वर्ग मुखवस्त्रिका मुंह पर नहीं रखता, हाथ में रखता है। मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर संघ की सभी सम्प्रदायों ने मुखवस्त्रिका को उपकरण के रूप से मान्य किया है। इसी वर्ग का एक उपवर्ग केवल वस्त्र के अंचल से ही मुखवस्त्रिका का काम लेता है। वे हाथ में दण्ड रखते हैं।

इसके विपरीत स्थानकवासी साधु मुख पर मुखवस्त्रिका रखते हैं। रजोहरण, पात्र व पुस्तकादि के अतिरिक्त हाथ में दंड नहीं रखते। इसी परम्परा के एक वर्ग के साधु साध्वी स्थानकवासी श्रमण श्रमणियों की भांति मुख पर मुखवस्त्रिका आदि रखते हैं किन्तु इन दोनों वर्गों द्वारा रखी जानेवाली मुखवस्त्रिका के आकार प्रकार में थोड़ा अन्तर रहता है।

जहां तक आगम धर्म शास्त्रों के विलुप्त हो जाने की बात को मान्य करने वालों की बात है भारत के अन्य दर्शनों वैष्णव, शैव, वैदांतियों आदि धर्मों के अपौरुषेय कहे जाने वाले वेद, भाष्य, उपनिषद्, श्रुतियाँ, भागवत्, महाभारत, गीता आदि धर्मग्रन्थों में से एक भी धर्मग्रन्थ विलुप्त नहीं हुआ। वे विलुप्त होने की कोई बात नहीं कहते। भगवान् महावीर के समकालीन महात्मा बुद्ध ने जो बौद्ध आगमों का प्रणयन किया, उनके भी विलुप्त हो जाने की बात बौद्ध दर्शन वाले नहीं करते। फिर केवल जैनधर्म के दिगम्बर संघ के अनुयायी ही ऐसी बात क्यों कहते हैं? उनके ही धर्म शास्त्र, ग्यारह अंग, उपांग, छेदसूत्र आदि आगम ग्रन्थ कैसे विलुप्त हो गये? दुष्काल आदि के प्रकोप विलुप्त होने के कारण बताये जाते हैं तो ऐसी सूरत में भी क्या अकेले जैनियों के आगम ग्रन्थ ही इनसे प्रभावित हुए, जैनेतरों के नहीं हुए?

ऐसी स्थिति में इन सम्पूर्ण आगम शास्त्रों के विलुप्त होने की बात किसी भी विज्ञ के गले उतरना सम्भव नहीं लगता।

इसके साथ ही यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि "नष्टे मूले कुतो शाखा" अर्थात् मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएं किस प्रकार अस्तित्व में रह सकती हैं? इनकी मान्यता के अनुसार जब धर्म के मूल आधार [illegible] सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही विच्छिन्न हो गये तो आज की इस वर्ग की मान्यताओं का एवं इनके द्वारा मान्य ग्रन्थों का आधार क्या रह जाता है?

एक ओर यह स्थिति है तो दूसरी ओर उन्हीं के ग्रन्थों में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि तीर्थंकर प्रभु की दिव्य ध्वनि के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित अथवा चतुर्दश पूर्वधरों या कम से कम दस पूर्वधरों द्वारा उन ग्रथित आगमों में से निर्यूढ किये गये धर्मग्रन्थ ही आगम के नाम से अभिहित किये जाने और मान्य होने के योग्य हैं। इस पर से तो आसानी से यह पूछा जा सकता है कि उनके कथनानुसार क्या ऐसा एक भी मान्य धर्मग्रन्थ उनके पास आज विद्यमान है, जो सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की दिव्य ध्वनि के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित अथवा चतुर्दश पूर्वधरों या दस पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ हो ?

इसी भांति एक वर्ग में पर्वों, उत्सवों, महोत्सवों आदि के अवसर पर आचार्यों, उपाध्यायों अथवा श्रमणोत्तमों द्वारा श्रमण-श्रमणी वर्ग पर वासक्षेप की परम्परा बड़ी लोकप्रिय है। आवश्यक चूर्णिकार ने तो श्रमण भगवान् महावीर के कर कमलों द्वारा गौतमादि गणधरों पर वासक्षेप किये जाने का उल्लेख किया है जो लोकोत्तर वासयुक्त था। लेकिन इसका मूल आगम पाठों में कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

आज जैनधर्म संघ में प्रचलित सभी सम्प्रदाय, संघ अथवा आम्नायें अपनी-अपनी मान्यताओं को भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित विशुद्ध धर्म का रूप मानते हैं। ऐसी स्थिति में श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अपने तीर्थ प्रवर्तन काल में प्ररूपित श्रमणाचार का एवं श्रावक श्राविकाओं के आचार-विचार का मूल शुद्ध स्वरूप क्या हो सकता है इसका निर्णय भी आचारांग आदि आगमों के आधार पर ही करना चाहिये। आगमों में भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित धर्म के वास्तविक स्वरूप एवं आचार-विचार की कसौटी पर जो स्वरूप एवं आचार-विचार खरा उतरे वही वस्तुतः जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप एवं श्रमणों आदि का विशुद्ध आचार-विचार होना चाहिये।

१०

वीर निर्वाण सम्वत् १००० से उत्तरवर्ती काल की आचार्य परम्परा

यह एक तथ्य है कि तीर्थ प्रवर्तन काल में भगवान् महावीर ने जिस रूप में जैनधर्म का उपदेश दिया उस रूप में कालान्तर में काल प्रभाव से अनेक परिवर्तन आये।

लगभग ६०० वर्षों से भी अधिक समय तक जिस धर्म संघ ने अपनी एकरूपता को बनाये रक्खा वह फिर कालान्तर में अनेक संघों में विभिन्न इकाइयों में विभक्त क्यों हो गया ? निज कल्याण के साथ-साथ विश्व के प्राणी मात्र का कल्याण करने की दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ जिन महान् आत्माओं ने संसार के सब प्रपंचों का, भोगोपभोगों का, घर बार का, स्वजन स्नेहियों का और सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं का तृणवत् त्याग कर के दुश्चर श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की, आचार्य पद के गरिमापूर्ण कर्त्तव्यों के निर्वहन का भाराक्रान्त दायित्व अपने सिर पर उठाया, उन्होंने समय-समय पर विभिन्न संघों का, विभिन्न परम्पराओं का सृजन कर प्रभु महावीर के धर्म संघ में विघटन का सूत्रपात क्यों किया ? किन कारणों से एवं किन प्रलोभनों से किया ? किन परिस्थितियों से विवश होकर किया ? विज्ञ, तत्वज्ञ एवं परम ज्ञानी ध्यानी होते हुए भी वे विवश क्यों हुए ? इस प्रकार के अनेकानेक प्रश्न प्रत्येक विचारक के मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिये उन विघटनकारी प्रसंगों का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन करने पर विज्ञ विचारक स्वतः उनका समाधान प्राप्त कर सकेंगे।

इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान ढूंढते समय यदि कोई व्यक्ति यह समझे कि केवल शिथिलाचार के वशीभूत होकर, अथवा एकमात्र अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति अथवा लोक में यश प्राप्ति, संघ में सम्मान, सत्ता, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, वैभव अथवा उच्च पद प्राप्ति आदि आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु उन श्रमण श्रेष्ठों अथवा आचार्यों ने समय-समय पर अपने अपने संघों, सम्प्रदायों एवं परम्पराओं का पृथक्-पृथक् इकाइयों के रूप में गठन किया होगा तो एकान्ततः ऐसा समझना भी उनके साथ न्याय करना नहीं होगा।

उस मध्यकालीन ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक असहिष्णुता भरे युग के घटनाचक्र के सन्दर्भ में तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि प्रारम्भ में इस प्रकार के संगठनों के पृथक् इकाई के रूप में गठित किये जाने के पीछे मूल कारण अधिकांशतः वे तत्कालीन विषम परिस्थितियां ही रही हैं।

धर्म संघ पर आये संकट के बादल कैसे दूर हों इसके लिये सोचे गये अथवा किये जाने वाले उपायों को लेकर संघ में उत्पन्न हुए मतभेद ही समय-समय पर हुए इस प्रकार के विघटन के प्रमुख कारण रहे हैं। धार्मिक अंध श्रद्धा का एवं तज्जनित धार्मिक असहिष्णुता का वह युग था।

दूसरे धर्मों के आकर्षक आयोजनों, उनके द्वारा निर्मापित मन्दिरों, उन मन्दिरों में प्रतिदिन पूरे आडम्बर के साथ की जाने वाली आरतियों, हृदयहारी भजन कीर्त्तनों, चित्ताकर्षक उत्सवों महोत्सवों आदि की ओर हठात् बहुत बड़ी संख्या में खिंचे जा रहे अपने धर्म संघ के अनुयायियों को देखकर जब जैन संघ के धर्म नायकों को आशंका हुई कि दूसरे धर्म संघों की ओर उमडते हुए जैन धर्मावलम्बियों के इस प्रवाह को यदि किसी समुचित उपाय से नहीं रोका गया तो जैन धर्म का अस्तित्व तक घोर संकट में पड़ सकता है, तो जैन संघ के वे श्रमण श्रेष्ठ और आचार्य भी उत्तरोत्तर क्षीण होते जा रहे अपने धर्म संघ की रक्षा की उदात्त भावना से अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये उन्हीं तौर तरीकों को, आयोजनों को, आडम्बरपूर्ण प्रदर्शनात्मक अथवा प्रभावोत्पादक कार्य-कलापों, अनुष्ठानों आदि को अपनाने के लिये विवश हुए जिनको अन्य धर्मावलम्बियों ने अपना रक्खा था।

जैन संघ के जो लोग इस प्रकार के कार्य-कलापों अथवा इस प्रकार की अभिनव प्रक्रिया को अपनाने के पक्ष में थे उनका एक पृथक् संघ बन गया और जो किसी भी मूल्य पर अपने धर्म के स्वरूप में स्खलनात्मक परिवर्तन लाने के पक्ष में नहीं हुए वे अपने मूल संघ में ही बने रहे। इस प्रकार जैन संघ की एकरूपता पृथक् पृथक् कई संघों में विभक्त होती चली गई।

लोक प्रवाह को दृष्टि में रखते हुए जो लोग अपने धर्म को, अपने धर्मसंघ को जीवित रखने के लिये धर्म के स्वरूप में समयानुकूल परिवर्तन के पक्ष में थे, उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इसके विपरीत जो सनातन स्वरूप को यथावत् बनाये रखने के पक्षधर थे ऐसे सुविहितों की संख्या लगातार घटती गई। वे अल्पसंख्यक बनकर रह गये। परिवर्तन की यह प्रक्रिया समय देश काल के साथ-साथ तीव्रता से चलती रही जिसके परिणामस्वरूप अनेकों अभिनव संघों, सम्प्रदायों, गच्छों एवं परम्पराओं का जन्म हुआ और वे अपने-अपने समय में भौतिक आराधना की उन्नति के सर्वोच्च शिखर तक भी पहुंचे। पर कालक्रम से वे लड़खड़ाये और एक समय ऐसा भी आया जब कि वे जैन जगत् के क्षितिज से तिरोहित होते

गये और उनका स्थान दूसरे लेते गये। चैत्य वासी, यापनीय आदि संघों के नाम ऐसे ही संघों में गिनाये जा सकते हैं।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से निकले जैन जगत् के प्राचीन इतिहास के महत्वपूर्ण अवशेष (मूर्तियां, आयागपट्ट, शिलालेख आदि) इसकी साक्षी दे रहे हैं।

यह एक संयोग की बात है कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ के आस पास जैन संघ में विभेद का सूत्रपात्र हुआ और लगभग उसी समय में कुषाणवंशीय विदेशी महाराजा कनिष्क ने काश्मीर के कुंडलवन नामक स्थान पर बौद्ध संगीति का आयोजन किया। इतिहास के अनेक विद्वानों के अभिमतानुसार कनिष्क ने सिंहासनारूढ होते ही बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्ति का निर्माण करवाया। उस बौद्ध संगीति में भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पूजा प्रतिष्ठा के प्रश्न को लेकर बौद्ध संघ महायान और हीनयान इन दो संघों के रूप में विभक्त हो गया। जिस संघ के अनुयायियों की संख्या अत्यधिक थी वह महायान संघ कहलाया और जिस संघ के अनुयायी अल्पमत में रह गये वह हीनयान संघ कहलाया। चूंकि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण महाराजा कनिष्क ने करवाया था और वह बुद्ध की मूर्ति की पूजा प्रतिष्ठा का प्रबल पक्षधर था अतः यह स्वाभाविक ही था कि उसका संघ (महायान संघ) प्रबल शक्तिशाली होता।

कनिष्क के राज्यारोहण के चौथे वर्ष (वीर निर्वाण संवत् ६०९) का एक मूर्ति शिलालेख कंकाली टीले से उपलब्ध हुआ है जो जैन समाज में प्रचलित मूर्ति पूजा के इतिहास से सम्बन्धित सबसे पहला और सबसे पुराना शिलालेख है।[1] यक्षों और नागों की मूर्तियों को छोडकर कनिष्क सम्वत् ४ से पहले की किसी देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभु की एक भी मूर्ति मथुरा के इस अति प्राचीन स्तूप के ध्वंसावशेष टीले की खुदाई से प्राप्त नहीं हुई है।

वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ में जैन धर्म संघ में विभेद का उत्पन्न होना, लगभग उसी समय बौद्ध संघ में मूर्ति पूजा के प्रश्न का उठना तथा इस प्रश्न को लेकर बौद्ध संघ में भी विभेद का उत्पन्न होना और ठीक उसी समय अर्थात् वीर निर्माण सम्वत् ६०९ (कनिष्क संवत् ४) में तीर्थंकर प्रभु की सर्व प्रथम निर्मित मूर्ति का कंकाली टीले से उपलब्ध होना ये तीनों ही घटनाएं निम्नलिखित तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की सबल साक्षी है :—

१. कनिष्क ने सर्वप्रथम वीर निर्माण की सातवीं शताब्दी के प्रथम दशक

---

१ जैन शिलालेख संग्रह भाग २

के पांचवें अथवा छठे वर्ष में बुद्ध की मूर्ति की स्थापना एवं उसकी पूजा प्रतिष्ठा प्रारम्भ की।

२. बुद्ध की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना के प्रश्न को लेकर बौद्ध संघ में मत-भेद उत्पन्न हो गया और उसके परिणाम स्वरूप बौद्ध महासंघ महायान और हीनयान इन दो भागों में विभक्त हो गया।

३. मथुरा के बोद्दू स्तूप (देवनिर्मित माने जाने वाले स्तूप) में कनिष्क संवत् ४ (वीर निर्वाण सम्वत् ६०९) में तीर्थंकर भगवान् .... की प्रथम मूर्ति रक्खी गई, जो कंकाली टीले की खुदाई के समय भारत सरकार के पुरातत्व विभाग को प्राप्त हुई। इसी को लेकर महावीर का धर्म संघ भी बौद्ध संघ की भांति दो अथवा तीन विभेदों में (भागों में) विभक्त हो गया।

इस प्रकार के सुदीर्घ संक्रान्तिकालीन संकटों से भरे अन्धकारपूर्ण काल से महावीर का यह धर्मसंघ गुजरा। पर विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा पूर्णतः विच्छिन्न फिर भी नहीं हुई। धर्म का विशुद्ध मूल स्वरूप, स्वल्प मात्रा में ही सही, बना रहा। प्राचीन जैन वांग्मय में इसके अनेक ठोस प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

इन्हीं के आधार पर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल की मूल श्रमण परम्परा के आचार्यों को प्रमुख स्थान पर रखते हुए उनके क्रमबद्ध आचार्य-काल के पश्चात् उनके साथ ही साथ युग प्रधानाचार्यों के क्रमबद्ध युगप्रधानाचार्य काल का विवरण भी हम यहां प्रस्तुत करने में सफल हो रहे हैं।

सामान्य श्रुतधर काल (१)

भगवान् महावीर के शासन के सत्ताईसवें पट्टधर देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल (वीर निर्वाण सम्वत् १००६) से लेकर वीर निर्वाण सम्वत् २१६८ तक के देवर्द्धिगरिण क्षमा श्रमण के उत्तरवर्ती काल की कुल ११५६ वर्षों की स्थानकवासी परम्परा द्वारा मान्य जैतारण से प्राप्त प्रति के आधार पर आचार्य पट्टावली क्रम से यहां प्रस्तुत की जा रही है :—

(२७वें पट्टधर देवर्द्धिगरिण के स्वर्गारोहण काल वीर निर्वाण सं० १००६ तक का परिचय जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २ में दिया जा चुका है)

पट्टधर आचार्य-क्रमसंख्या	नाम आचार्य	आचार्य-काल वीर नि० सं०
२८	वीरभद्र	१००६–१०६४
२९	शंकरसेन	१०६४–१०९४
३०	जसोभद्र स्वामी	१०९४–१११६
३१	वीरसेन	१११६–११३२
३२	वीरजस	११३२–११४९
३३	जयसेन	११४९–११६७
३४	हरिसेण	११६७–११९७
३५	जयसेन	११९७–१२२३
३६	जगमाल स्वामी	१२२३–१२२९
३७	देव ऋषि	१२२९–१२३४
३८	भीम ऋषि	१२३४–१२६३
३९	किशन ऋषि	१२६३–१२८४
४०	राज ऋषि	१२८४–१२९९
४१	देवसेन स्वामी	१२९९–१३२४
४२	शंकरसेन	१३२४–१३५४

४३	लक्ष्मीवल्लभ	१३५४–१३७१
४४	रामऋषि स्वामी	१३७१–१४०२
४५	पद्मनाभ स्वामी	१४०२–१४३४
४६	हरिशर्म स्वामी	१४३४–१४६१
४७	कलशप्रभ	१४६१–१४७४
४८	उमरण ऋषि	१४७४–१४९४
४९	जयसेण	१४९४–१५२४
५०	विजयऋषि	१५२४–१५८९
५१	देव ऋषि	१५८९–१६४४
५२	सूरसेन	१६४४–१७०८
५३	महासूरसेन	१७०८–१७३८
५४	महासेन	१७३८–१७५८
५५	जीवराजजी	१७५८–१७७९
५६	गजसेन	१७७९–१८०६
५७	मंत्रसेन	१८०६–१८४२
५८	विजयसिंह	१८४२–१९१३
५९	शिवराजजी	१९१३–१९५७
६०	लालजी स्वामी	१९५७–१९८७
६१	ज्ञान ऋषि	१९८७–२००७
६२	नानगजी स्वामी	२००७–२०३२
६३	रूपजी स्वामी	२०३२–२०५२
६४	जीवराजजी	२०५२–२०५७
६५	वड़ा वरसिंहजी	२०५७–२०६५
६६	लघु वर सिंहजी	२०६५–२०७५
६७	जसवन्तजी	२०७५–२०८६
६८	रूपसिंहजी	२०८६–२१०६
६९	दामोदरजी	२१०६–२१२६
७०	धनराजजी	२१२६–२१४८
७१	चिन्तामणि	२१४८–२१६३
७२	खेमकरणजी	२१६३–२१६८

सामान्य श्रुतधर काल (२)

(युगप्रधानाचार्य पट्टावली के अनुसार)

(२८वें युग प्रधानाचार्य तक का परिचय जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २ में दे दिया गया है)

युगप्रधानाचार्य क्रमसंख्या	नाम युगप्रधानाचार्य	युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि०सं०
२९	हारिल	१०००–१०५५
३०	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	१०५५–१११५
३१	स्वाति (हारितगोत्रीय श्री स्वाति से भिन्न)	१११५–११९७
३२	पुष्यमित्र	११९७–१२५०
३३	संभूति	१२५०–१३००
३४	माढर संभूति	१३००–१३६०
३५	धर्म ऋषि	१३६०–१४००
३६	ज्येष्ठांग गणि	१४००–१४७१
३७	फल्गुमित्र	१४७१–१५२०
३८	धर्मघोष	१५२०–१५९७
३९	विनय मित्र	१५९७–१६८३
४०	शीलमित्र	१६८३–१७६२
४१	रेवतिमित्र	१७६२–१८४०
४२	सुमिणमित्र	१८४०–१९१८
४३	हरिमित्र	१९१८–१९६३
४४	विशाखगणि	१९६३–२०००

आचार्य-जीवन परिचय

२८ वें पट्टधर आचार्य श्री वीरभद्र

जन्म	—	वीर नि. सं. ९५९
दीक्षा	—	वीर नि. सं. ९८६
आचार्य पद	—	वीर नि. सं. १००९
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १०६४
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	५५ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	७८ वर्ष
पूर्ण आयु	—	१०५ वर्ष

शासनपति भगवान् महावीर के २७वें पट्टधर अन्तिम पूर्वधर आचार्य श्री देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी श्रमणोत्तम श्री वीर भद्र को भगवान् महावीर के २८वें पट्टधर के रूप में वीर नि० सं० १००९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किया गया।

इनके जीवन परिचय के संम्बन्ध में किन्हीं उल्लेखनीय घटनाओं का विवरण आदि किसी ग्रन्थ आदि में अद्यतन उपलब्ध नहीं है। इतिहासविदों द्वारा इस दिशा में समुचित शोध की अपेक्षा है।

भ० महावीर के २८वें पट्टधर आचार्य वीरभद्र के समकालीन २९वें युग प्रधानचार्य श्री हारिल सूरि

अपर नाम (१) हरिभद्र सूरि (प्रथम) (२) हरि गुप्त सूरि

जन्म[1]	—	वीर नि. सं. ९४३
दीक्षा	—	„ „ ९६०
सामान्य साधु पर्याय	—	„ „ ९६०—१००१
युगप्रधानाचार्यकाल	—	„ „ १००१–१०५५
स्वर्ग	—	„ „ १०५५
सर्वायु	—	११२ वर्ष, ५ मास एवं ५ दिन

वीर नि० सं० १००० मे २८वें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य हारिल को चतुर्विध संघ द्वारा युग–प्रधानाचार्य पद पर आसीन किया गया और इस प्रकार आप जिन शासन के २९वें युगप्रधानाचार्य हुए। आपका क्रमबद्ध पूर्ण जीवन परिचय तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु आपके जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व की घटनाओं के जो यत्किंचित् उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण के पश्चात् आप अप्रतिम प्रतिभा सम्पन्न युगपुरुष हुए हैं।

जिस समय हमारे राजनैतिक पराभव के रूप में विदेशी हूण आक्रान्ताओं के विनाशकारी चरण भारतवर्ष पर निरन्तर बढ़ते चले जा रहे थे, उन विदेशियों

---

१. एक मान्यता यह भी है :—

जन्म-	वीर नि० सं० ९५३
दीक्षा-	वीर नि० सं० ९७०
सामान्य साधु पर्याय	वीर नि० सं० ९७०—१००१
युगप्रधानाचार्य पर्याय	वीर नि० सं० १००१—१०५५

पूर्वापर युगप्रधानाचार्य के जन्म, दीक्षा आदि के काल पर विचार करने के उपरान्त उपर्यु लिलखित मान्यता ही उचित प्रतीत होती है।

—सम्पादक

के आक्रमणों एवं अमानुषिक अत्याचारों से भारत के अनेक भू-भागों की प्रजा संत्रस्त थी एवं राजनैतिक दृष्टि से हम विशृंखलित थे ऐसे संक्रान्तिकाल में इन हारिल्लसूरि ने एक सच्चे युगपुरुष के अनुरूप अविचल धैर्य, अडिग साहस एवं अनूठी सूझबूझ के साथ उस आततायी का अपने अहिंसात्मक ढंग से प्रतिकार किया। उसे मानवता का पाठ पढ़ाकर पीड़ित की जा रही प्रजा के त्राण के लिये एक सुदृढ़ प्राचीर का कान किया। उस युग के उस अद्वितीय अध्यात्मयोगी आचार्य हारिल के उपदेशों एवं अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित हो हूणराज तोरमाण उन्हें अपना गुरु बनाकर सदा के लिये उनका उपासक बन गया। तोरमाण जैसे भयानक आततायी को मानवता का पाठ पढ़ाने के कारण युगप्रधानाचार्य हारिल की कीर्ति दूर-दूर तक फैली।

हूणराज तोरमाण ने २९वें युगप्रधानाचार्य हारिल को गुरु माना, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस ऐतिहासिक तथ्य को, इन्हीं हारिलसूरि की शिष्य परम्परा की छठी पीढ़ी में हुए आचार्य दाक्षिण्य चिह्न–उद्योतनसूरि ने अपनी शक सं० ७०० की कृति—"कुवलयमाला" की प्रशस्ति में निम्न रूप में उल्लिखित किया है :—

अत्थि पुहई–पसिद्धा, दोण्णिपहा दोण्णि चेय देसत्ति।
तत्थत्थि पहं णामेण, उत्तरा वुहजणाइण्णं॥

सुंई दिय चारुसोहा, वियसिय कमलाणणा विमलदेहा।
तत्थत्थि जलहि दइया, सरिया अह चंदभायत्ति॥

तीरम्मि तीय पयडा, पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला।
जत्थ ठिएण भुत्ता, पुहई सिरि तोरराएण॥

तस्स गुरु हरिउत्तो, आयरिओ आसि गुत्त वंसाओ।
तीए णयरीए दिण्णो, जेण णिवेसो तहिं काले।[1]

अर्थात्— पृथ्वीमण्डल में प्रसिद्ध द्रोणपथ अथवा द्रोण नामक एक देश है। वहां उत्तरापथ नामक एक पथ है, जो विद्वानों से भरा हुआ है–व्याप्त है। उस उत्तरापथ में समुद्रप्रिया चन्द्रभागा नाम की एक नदी है, जो पवित्र, कान्तिमान, सुमनोहर शोभाशालिनी, खिले हुए कमल के समान सुमुखी और निर्मल देहयष्टि वाली है। उस चन्द्रभागा नदी के तट पर रत्नजड़ित आकार प्राकारादि से सुशोभित

१. कुवलयमाला, प्रशस्ति, पृष्ठ २८२

पार्वतिका (पव्वइया) नाम की वह नगरी है, जहां सिंहासनारूढ़ रहते हुए तोरमाण ने पृथ्वी का उपभोग किया। उस तोरमाण के गुरु गुप्तवंशावतंस आचार्य हरिगुप्त (अपर नाम हारिल तथा हरिभद्र) थे। उन दिनों आचार्य हरिगुप्त ने उस पव्वइया नगरी में कुछ समय के लिये निवास किया था।

"तस्स गुरु हरिउत्तो, आयरिओ आसि गुत्तवंसाओ।" इस गाथार्द्ध से यह प्रमाणित होता है कि आचार्य हारिल (आचार्य हरिगुप्त अपर नाम हरिभद्र) का जन्म यशस्वी गुप्त राजवंश में हुआ था। आचार्य हारिल के, गुप्त राजवंश में उत्पन्न होने विषयक उद्योतन सूरि के इस उल्लेख की पुष्टि में विद्वानों द्वारा अहिच्छत्रा से मिले एक ताम्र के सिक्के को भी अनुमानित प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। श्री सर कनिंघम को अहिच्छत्रा[1] में मिले एक ताम्र के सिक्के से अनेक विद्वानों द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल (हरिगुप्त—अपर नाम हरिभद्र) श्रमण धर्म में दीक्षित होने से पूर्व संभवतः अहिच्छत्रा के शासक गुप्तवंश के महाराजा थे। ई० सन् १८८४ में सर कनिंघम को जो ताम्र का सिक्का मिला है, उस पर एक ओर "श्री महाराज हरिगुप्तस्य" यह वाक्य उल्लिखित है।[2] उसी सिक्के के दूसरी ओर पद्मपुष्प के पिधान (ढ़क्कन) वाले कुम्भ—कलश की आकृति अंकित है। पद्म पुष्प सहित कुम्भ-कलश वस्तुतः जैन परम्परा में अति प्राचीन काल से मान्य अष्ट महामंगलों में से एक मंगल है। तीर्थङ्करों की माताएं तीर्थङ्करों के गर्भावतरण काल में जो चौदह महामंगलकारी स्वप्न देखती हैं, उनमें भी नौवां स्वप्न पद्मपिधान संयुत कंचन-कलश-दर्शन का है।[3]

प्राचीन सिक्कों के सूक्ष्म परीक्षण से विदित होता है कि जो राजा जिस धर्म का अनुयायी होता, वह अपने सिक्कों के दूसरी ओर अपनी धार्मिक मान्यता के प्रतीक स्वरूप कोई चित्र अंकित करवाता था। पूर्व में रही इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप प्राचीन काल के सिक्कों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चिह्नांकित चित्र उपलब्ध होते हैं। अधिकांशतः वैदिक धर्मानुयायी राजाओं के सिक्कों पर यज्ञीय अश्व की

---

[1] अहिच्छत्रा नगरी रामनगर (जिला बरेली) के दक्षिण पार्श्व में थी। आज भी वहां चार माइल के घेराव में टीला विद्यमान है।

[2] कनिंघम आर्चियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वोल्यूम १।

[3] हेमन्त—बाल—दिणयर, समप्पभं सुरभिवारिपडिपुण्णं।
दिव्वं कंचण—कलसं, पउमपिहाणं तु पेच्छन्ति ॥११०॥

अर्थात्—हेमन्त ऋतु के उदीयमान सूर्य के समान नयनाभिराम प्रभा वाले, सुगंधित जल से परिपूर्ण, पद्मपुष्प के पिधान से पिहित दिव्य कञ्चन-कलश को उन जिन-जननियों ने ६वें स्वप्न में देखा।

—तित्थोगाली पइण्णय

आकृति, शैव राजाओं के सिक्कों पर वृषभ (नन्दी) की आकृति, विष्णु के उपासक राजाओं के सिक्कों पर लक्ष्मी की मूर्ति और बौद्ध धर्मानुयायी राजाओं के सिक्कों पर चैत्य की आकृति उपलब्ध होती है।

अहिच्छत्रा में मिले उपरिवर्णित महाराज हरिगुप्त के तांबे के सिक्के पर पुष्पयुक्त कुम्भकलश का चिह्न अंकित है, इससे विद्वानों द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि अहिच्छत्रा का गुप्त वंशीय राजा हरिगुप्त जैनधर्मावलम्बी था। पुरातत्त्ववेत्ता हरिगुप्त के इस सिक्के को विक्रम की छठी शताब्दी का मानते हैं, और यही काल युगप्रधानाचार्य हारिल अर्थात् हरिगुप्त सूरि का रहा है। इन परस्पर पुष्टिपरक सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह अनुमान करना नितान्त निराधार नहीं अपितु साधार प्रतीत होता है कि आचार्य हारिल अपने श्रमण-जीवन से पूर्व गुप्तवंशीय महाराजा थे।

यह एक अनुमान है। इस अनुमान की पुष्टि के लिये इस सम्बन्ध से समुचित शोध की आवश्यकता है कि यदि हारिल सूरि अपने गृहस्थ जीवन में हरिगुप्त नामक महाराजा थे तो उनके पिता का नाम क्या था? अपने पिता के पश्चात् उन्होंने कितने वर्षों तक राज्य किया, संसार से विरक्त होने पर उन्होंने अपना उत्तराधिकारी किसे बनाया, वे वस्तुतः गुप्तवंश की मूल परम्परा के शासक थे अथवा उसकी किसी शाखा के? यदि गुप्तवंश की किसी शाखा के थ तो उसकी राजधानी कहां थी आदि-आदि। इस प्रकार के अनेक प्रश्नों पर शोध के माध्यम से जब तक पूरा प्रकाश नहीं डाला जाता तब तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि युगप्रधानाचार्य हारिल अपने श्रमण-जीवन से पूर्व गुप्तवंशी हरिप्तगु नामक महाराजा थे।

युगप्रधानाचार्य हारिल की आयु-परिमाण के सम्बन्ध में "दुस्समा समणसंघ थयं" की अवचूर्णि के अन्त में दो भिन्न अभिमत दिये गये हैं। पहली मान्यता के अनुसार उनका जन्म वीर नि० सं० ६४३ में, दीक्षा ६६० में, और दूसरी मान्यतानुसार उनका जन्म वीर नि० सं० ६५३ में और दीक्षा वीर नि० सं० ६७० में मानी गई है। उक्त दोनों प्रकार की मान्यताओं में आर्य हारिल सूरि का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि. सं. १००१ से वीर नि. सं. १०५५ तक, कुल मिलाकर ५४ वर्ष का माना गया है। दुस्समा समणसंघ थयं की अवचूरि के अन्त में जो समय सारिणी दी गई है, उसमें आपका सम्पूर्ण आयुष्य ११५ वर्ष, ५ मास और ५ दिन, उल्लिखित है, जो पहली मान्यता के अनुसार ही ठीक बैठता है।

ऐसी स्थिति में उपर्युल्लिखित सभी तथ्यों से यही फलित होता है कि आचार्य हारिल का जन्म वीर नि० सं० ६४३ में, दीक्षा ६६० में, युगप्रधानाचार्य पद वीर नि० सं० १००१ में और स्वर्गारोहण वीर नि० सं० १०५५ में हुआ।

१७ वर्ष की अवस्था में हरिगुप्त के दीक्षित हो जाने की बात सिद्ध हो जाने की स्थिति में जिस सिक्के पर एक ओर 'श्री महाराज हरिगुप्तस्य' और दूसरी ओर पद्म-पिधानयुक्त कलश अंकित है, उसे युगप्रधानाचार्य हारिल का सिक्का मानने की दशा में यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि क्या वे १७ वर्ष की वय प्राप्त होने से पूर्व ही राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो गये थे ? यदि हां तो किस वय में, कितने वर्ष तक सत्ता में रहे और १७ वर्ष की स्वल्पायु में ही किस कारण दीक्षित हो गये ? राजा के मरने पर उसका वास्तविक उत्तराधिकारी चाहे छोटी से छोटी उम्र का अथवा नवजात ही क्यों न हो, उसे राजा बना दिये जाने की परम्परा पर्याप्त रूपेण प्राचीन रही है, अतः पहले प्रश्न का उत्तर तो सन्तोषजनक रूप से मिल जाता है कि सम्भवतः हरिगुप्त को अल्पायुष्कावस्था में ही राज्य-सिंहासनारूढ़ कर दिया गया हो । शेष दो प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि एतद्विषयक प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध न हों ।

इन सब तथ्यों पर चिन्तन-मनन के पश्चात् यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल का जन्म गुप्त वंश में हुआ पर वे दीक्षित होने से पूर्व राजा रहे अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में न तो निश्चयपूर्वक 'हां' ही कहा जा सकता है और न 'ना' ही ।

हां, कुवलयमाला के 'तस्स गुरु हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसाओ'– इस उल्लेख एवं एक ओर–'श्री महाराज हरिगुप्तस्य' तथा दूसरी ओर पद्मपुष्प-पिधान वाले कलश से अंकित विक्रम की छठी शताब्दी के आस-पास के ताम्र के सिक्के—इन परस्पर दो एक-दूसरे की पुष्टि करने वाले तथ्यों के आधार पर प्रत्येक मनीषी यह अनुमान अवश्य कर सकता है कि—सम्भव है आचार्य हारिल श्रमण-परम्परा में प्रव्रजित होने से पूर्व कुछ समय तक महाराज रहे हों ।

अस्तु, किसी भी श्रमण अथवा श्रमणों में अग्रणी श्रमण प्रमुख की महानता किसी भौतिक मापदण्ड से नहीं अपितु आध्यात्मिक मापदण्ड से ही आंकी–पहचानी जाती है । अपने श्रमण पूर्व जीवन में वह कोई राजा महाराजा रहा कि साधारण नागरिक, विपुल वैभवसम्पन्न श्रीमन्त रहा अथवा रंक, इस मापदण्ड का एक श्रमण की महत्ता पर विचार के समय कोई विशेष महत्व नहीं । वहां तो महत्व इस बात का रहता है कि उसने स्व तथा पर कल्याण के कौन-कौन से महान् कार्य किये । भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल श्रमण परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उसके संरक्षण में–संवर्द्धन में जीवन भर किस प्रकार अथक प्रयास किया और लोक-जीवन के सामाजिक नैतिक एवं आध्यात्मिक धरातल को समुन्नत करने के साथ-साथ प्रभु महावीर के धर्मशासन को किस सीमा तक अभिवृद्ध, अभ्युन्नत तथा लोकप्रिय बनाया । इस कसौटी पर कसते समय जिस महासन्त के संयमपूत जीवन

में जितना अधिक निखार परिलक्षित होगा, वह महासन्त उतना ही अधिक महान् गिना जायगा।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यद्यपि युगप्रधानाचार्य हारिल का क्रमबद्ध आद्योपान्त जीवनवृत्त कहीं उपलब्ध नहीं होता तथापि उनके जीवन से सम्बन्धित यत्किंचित् सूचनाएं जैन साहित्य में कहीं-कहीं केवल संकेत के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, उनसे उपरिलिखित कसौटी पर शत-प्रतिशत खरी उतरने वाली उनकी महानता का सहज ही आभास हो जाता है। वे संकेत इस प्रकार हैं:—

(१) अठावीसवें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र के स्वर्गस्थ होने पर वीर नि० सं० १००१ में उस समय के महान् प्रतिष्ठित एवं प्रभावक पद युगप्रधानाचार्य पट्ट पर उन्हें अधिष्ठित किया गया। अप्रतिम प्रतिभा, अनुपम प्रकाण्ड पाण्डित्य, विशुद्ध, निरतिचार, निर्मल श्रमणाचार, सार्वभौम–सार्वजनीन लोकप्रियता आदि उत्कृष्ट गुणों के धारक श्रमण श्रेष्ठ को ही उस समय युगप्रधानाचार्य जैसे गौरव–गरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था– इससे यह तथ्य स्वतः सिद्ध हो जाता है कि श्रमणोत्तम हारिल वस्तुतः युगप्रधानाचार्य पद के लिये अपेक्षित सभी गुणों से विभूषित थे, इसीलिये उन्हें युगप्रधानाचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किया गया।

(२) आर्य हारिल के युगप्रधानाचार्यकाल में हूण आक्रान्ता तोरमाण ने भारत पर भयंकर आक्रमण किया था। इतिहास के प्रायः सभी विद्वानों ने तोरमाण द्वारा किये गये भीषण नरसंहारों के परिप्रेक्ष्य में उसे क्रूरता का अधिष्ठाता पिशाच और नरक का अवतार तक बताते हुए लिखा है कि जहां-जहां तक वह बढ़ा वहां-वहां तक के ग्राम-नगर उसके द्वारा किये गये नरसंहारों और व्यापक अग्निकाण्डों से नरक तुल्य वीभत्स लगते थे।

व्यापक जन-धन क्षय के उस संक्रान्तिकाल में अहिंसा, एवं शान्ति के अग्रदूत आर्य हारिल ने क्रूरता के अवतार तोरमाण को मानव बनाने का दृढ़ संकल्प किया। प्राणों के मोह का परित्याग कर, उत्कट साहस के साथ आर्य हारिल ने तोरमाण की राजधानी पव्वइया नगरी की ओर विहार किया। अप्रतिहत विहारक्रम से पव्वइया नगरी में पदार्पण कर हारिलसूरि ने क्रूर हूणराज तोरमाण को उपदेश दिया। आचार्य हारिल के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशों से तोरमाण की गर्हित नारकीय क्रूरता की उन्मादपूर्ण तन्द्रा टूटी। उसे अपने जीवन में सम्भवतः पहली बार यह आभास हुआ कि

वह घोर रसातल की ओर उन्मुख हो रहा है। उद्योतन सूरि द्वारा कुवलयमाला में किये गये इस उल्लेख से कि 'तोरमाण की राजधानी पव्वइया में तोरमाण के गुरु गुप्तवंशावतंस हरिगुप्त ने निवास किया था, यह विश्वास किया जाता है कि इन्हीं युगप्रधानाचार्य हारिल अपर नाम हरिगुप्त अथवा हरिभद्र के प्रथम उपदेश को सुनने के पश्चात् तोरमाण ने इन्हें अपना गुरु बना कुछ समय के लिये उन्हें पर्वतिका (पव्वइया) में रहने की प्रार्थना की हो और लोक-कल्याण की भावना से सर्वजनहिताय आचार्य हारिल तोरमाण के अनुरोध को स्वीकार कर कुछ काल तक वहां विराजे रहे हों। उन्होंने वहां रह कर अपने अमृतोपम उपदेशों से एक ऐसे नृशंस-निर्मम आततायी को जिसे इतिहासकार क्रूरता और नरक का अवतार बताते हैं—नरसंहार से विमुख और मानवता की ओर उन्मुख किया। तोरमाण के हृदय परिवर्तन से वस्तुतः जन-साधारण ने सुख की सांस ली। हरिभद्र के इस जनकल्याणकारी महान् ऐतिहासिक कार्य की प्रशंसा घर-घर की जाने लगीं। जो यह एक प्राचीन गाथा आज उपलब्ध होती है, उससे यह प्रमाणित होता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल ने लोककल्याणकारी कोई ऐसा महान् कार्य किया था जिससे कि वे उस युग के जन-जन के आराध्य बन गये थे।

(३) संभवतः आचार्य हारिल द्वारा किये गये उस अनन्य उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए किसी अज्ञात कवि ने उनके स्वर्गारोहण को एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना मानकर उनकी स्मृति को चिर-स्थायिनी बनाने के लिये निम्नलिखित ऐतिहासिक गाथा की रचना की :—

> पंच सए पणसीए, विक्कम कालाओ झत्ति अत्थमिओ।
> हरिभद्द सूरि ए सूरो, भविआणं दिसउ कल्लाणं॥

अर्थात्—विक्रम संवत् ५८५ में हरिभद्रसूरि नामक सूर्य अकस्मात् ही अस्त हो गया, वह भव्य प्राणियों का कल्याण का पथ प्रदर्शित करें।

इस गाथा में युगप्रधानाचार्य हरिभद्रसूरि को सूर्य की उपमा दी गई है। इससे यही प्रकट होता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल (अपर नाम हरिभद्र अथवा हरि गुप्त) अपने समय के एक महान युगप्रवर्तक, युगस्रष्टा एवं श्रमणश्रेष्ठ थे। यह गाथा मेरुतुंग सूरि ने किसी प्राचीन कृति में से लेकर अपनी कृति "विचारश्रेणि" में उद्धृत की है।

(४) आर्य हारिल ने वीर नि० सं० ९६० में दीक्षा ग्रहण की थी। इससे यह विश्वास किया जाता है कि ये देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण और २८वें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र के समय विद्यमान थे एवं श्रमण हारिल ने उस समय के इन दोनों महान् युगपुरुषों की सेवा में रहकर सम्पूर्ण एकादशांगी और अवशिष्ट पूर्वज्ञान का भी अंशतः ज्ञान प्राप्त किया हो एवं आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में वीर नि० सं० ९८० से ९९३ तक हुई आगम-वाचना में भी आर्य हारिल ने महत्वपूर्ण योगदान दिया हो और उनकी इन्हीं सब आत्यंतिक महत्व की सेवाओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु उपरिलिखित ऐतिहासिक गाथा की रचना की गई हो।

(५) युगप्रधानाचार्य हारिल के नाम पर (संभवतः इनके स्वर्गस्थ होने के पश्चात्) हारिल गच्छ की किसी समय स्थापना की गई। उस समय तक किसी भी नवीन गच्छ अथवा गण की स्थापना अधिकांशतः ऐसे महान् श्रमण के नाम पर ही की जाती थी, जो लोकविश्रुत, प्रतिभासम्पन्न और श्रुतसागर का पारगामी विद्वान् हो। आचार्य हारिल के नाम पर एक नवीन गच्छ की स्थापना की गई, इससे भी फलित होता है कि आचार्य हारिल अपने समय के सर्वोत्कृष्ट श्रुतधर, महान प्रभावक एवं समर्थ युगप्रधानाचार्य थे।

उपरिवर्णित उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल ने अपने युगप्रधानाचार्य काल में हूण आततायी तोरमाण की विशाल वाहिनी के अत्याचारों से संत्रस्त देशवासियों को अभय प्रदान किया।

आर्य हारिल के अपर नाम

जैन वांग्मय में युगप्रधानाचार्य आर्य हारिल के तीन नाम उपलब्ध होते हैं। यथा :—(१)हारिल, (२) हरिगुप्त और (३) हरिभद्र।

"दुस्समासमणसंघथयं" में युगप्रधान पट्टावली में और हारिल वंश पट्टावली के शीर्षक मात्र में आपके हारिल नाम का ही उल्लेख है। "कुवलयमाला" में आपका नाम हरिगुप्त उल्लिखित है। इससे यह ज्ञात होता है कि आपका दूसरा नाम हरिगुप्त था। आचार्य मेरुतुंगसूरि ने अपने एक ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थ "विचारश्रेणि" में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है। उस गाथा से यह ऐतिहासिक तथ्य प्रकट होता है कि विक्रम संवत् ५८५ में हरिभद्रसूरि नामक सूर्य अकस्मात् अस्त हो गया। वे भव्यों का कल्याण मार्ग प्रदर्शित करें। विचारश्रेणि में इस गाथा के

तत्काल पश्चात् ही "ततो जिनभद्र क्षमाश्रमण:" यह उल्लिखित है। यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि २९वें युगप्रधान हारिल विक्रम सं० ५८५ तदनुसार वीर नि० सं० १०५५ में स्वर्गस्थ हुए और उनके पश्चात् ३०वें युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण युगप्रधान पद पर अधिष्ठित किये गये। तो इस प्रकार विचारश्रेणि में उद्धृत प्राचीन गाथा में हरिभद्र के वि. सं. ५८५ में स्वर्गस्थ होने और उसी समय उनके उत्तराधिकारी पट्टधर के रूप में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युग-प्रधान पद पर आसीन होने का उल्लेख है। इससे इस तथ्य को मानने में किसी प्रकार की कोई शंका को अवकाश नहीं रह जाता कि युगप्रधानाचार्य हारिल का तीसरा नाम हरिभद्र भी था।

एक ही आचार्य के तीन नाम होने के औचित्य पर थोड़ा विचार करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य हारिल का गृहस्थ जीवन का नाम हरिगुप्त था। दीक्षा के समय सम्भवत: उनका नाम हरिभद्र रखा गया हो। अपने युगप्रधानाचार्यकाल में जब उन्होंने अपने अलौकिक वर्चस्व, निर्भीकता, प्रतिभा एवं प्रभाव द्वारा हूणों के भीषण संहारकारी अत्याचारों से देश की रक्षा की तो वे न केवल जैनधर्मावलम्बियों के ही अपितु भारत की सम्पूर्ण प्रजा के भी आदरणीय बन गये। सम्भवत: इसी कारण सर्वसाधारण अपने लोकप्रिय त्राता को 'हारिल'—इस अगाध श्रद्धा और प्यार भरे सुमधुर एवं लालित्यपूर्ण नाम से सम्बोधित करने लगा हो एवं आचार्य हारिल का जन्म यशस्वी शासक गुप्तवंश में हुआ था, इस तथ्य को कालान्तर में कहीं लोग भूल न जायें इस उद्देश्य से उनका हरिगुप्त नाम भी ग्रन्थकारों द्वारा अपनी कृतियों में उल्लिखित किया जाता रहा हो। वस्तुत: अनेक आचार्यों के दो दो नाम जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं। तित्थोगाली पइन्नय में अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का नाम 'साधम्मभद्द' (स्वधर्मभद्र) एवं कुवलय माला में शीलांकाचार्य का अपर नाम तत्वाचार्य (तत्तायरिओ) उल्लिखित है। इसी तरह पन्नवणाकार आर्य श्याम का अपर नाम कालकाचार्य भी लोकविश्रुत है। हमारे शासन नायक स्वयं भगवान् महावीर के भी वर्द्धमान, वीर, महावीर, सन्मति, नायपुत्र आदि नाम आगमों एवं प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। ठीक इसी प्रकार २९वें युगप्रधानाचार्य के भी विभिन्न ग्रन्थों में आर्य हारिल, हरिगुप्त और हरिभद्र—ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। इसमें किसी प्रकार के असमंजस अथवा ऊहापोह के लिये कोई अवकाश नहीं रहना चाहिए।

नाम-साम्य से उत्पन्न भ्रान्ति

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है युगप्रधानाचार्य हारिल का अपर नाम हरिगुप्त के अतिरिक्त हरिभद्र भी था। इन युगप्रधानाचार्य हरिभद्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् विद्याधर कुल में हरिभद्र नाम के एक और आचार्य हुए हैं, जो

महान् टीकाकार, ग्रन्थकार, दार्शनिक एवं विचारक थे। वे आचार्य हरिभद्र (द्वितीय) विद्याधर कुल के आचार्य जिनदत्त के शिष्य थे। आचार्य जिनदत्त के शिष्य आचार्य हरिभद्र अपनी कृतियों की प्रशस्ति में अपने नाम के आगे "धर्मतो याकिनी महत्तरासूनुः" तथा भवविरह लिखते थे।

युगप्रधानाचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वीर नि० सं० १०५५ तदनुसार वि० सं० ५८५ में हुआ। आपके स्वर्गवास काल का बोध कराने वाली एक प्राचीन गाथा, जिसका कि प्रथम चरण—"पंचसए पणसीए" है, ऊपर उद्धृत की गई है। विद्याधर शाखा के आचार्य याकिनी महत्तरासूनुः—भवविरह का सत्ताकाल वीर नि० सं० १२२७ से १२९७ (वि० सं० ७५७–८२७) तक का रहा है।

इस प्रकार इन दोनों आचार्यों के बीच २०० वर्षों से भी अधिक काल का अन्तराल होते हुए भी नाम-साम्य और उपर्युक्त गाथा में हरिभद्र नाम उल्लिखित होने के कारण पूर्वकाल से ही इस प्रकार की भ्रान्त मान्यता प्रचलित हो गई है कि याकिनी महत्तरासूनुः—भवविरह हरिभद्र सूरि का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में ही हो गया था।

यद्यपि इस सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है तथापि यहां कुछ और ऐसे नवीन तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे याकिनी महत्तरासूनुः—भवविरह हरिभद्रसूरि का सत्ताकाल निश्चित रूप से विक्रम की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नौवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक का सिद्ध होता है। वे तथ्य निम्नलिखित रूप में हैं :—

(१) आचार्य हरिभद्र "भवविरह"—ने "महानिसीह" छेदसूत्र की एक मात्र सड़ी-गली एवं दीमकों द्वारा खाई हुई प्रति के आधार पर अपनी मति अनुसार उसका शोध एवं शुद्धिपूर्वक पुनर्लेखन कर उसका पुनरुद्धार किया। सिद्धसेन (तत्वार्थसूत्र के टीकाकार), वृद्धवादि (आचार्य वड़ेश्वर अथवा चित्रपुर गच्छ के आचार्य वृद्धगणि) आचार्य यक्षसेन (हारिलगच्छ के आचार्य यज्ञदत्त महत्तर), देवगुप्त (सम्भवतः उपकेशगच्छ के आचार्य), जसवद्धण क्षमाश्रमण (सम्भवतः यशोदेव सूरि हो सकते हैं) के शिष्य रविगुप्त, जिनदास गणि महत्तर (शक सं० ५९८, वि० सं० ७३३ तदनुसार वीर नि० सं० १२०३ में नन्दीचूर्णि के रचनाकार) आदि लोकविश्रुत श्रुतधरों ने [illegible]

२८वें पट्टधर आचार्य वीरभद्र एवं युग प्रधानाचार्य हारिल सूरि के समकालीन निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) का जीवन परिचय

वीर नि० सं० १००० से १०४५ की बीच की अवधि में आचार्य भद्रबाहु नामक एक महान् ग्रन्थकार हुए हैं। वे अपने समय के विशिष्ट विद्वान्, निमित्तज्ञ एवं निर्युक्तिकार थे।

२८वें युगप्रधानचार्य हारिलसूरि का युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० सं० १००१ से १०५५ तक रहा। कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), इन्हीं २८ वें युगप्रधानाचार्य और हूण राज तोरमाण के गुरु श्री हारिलसूरि के समकालीन और समवयस्क आचार्य थे।

वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्ति साहित्य के निर्माताओं में आचार्य भद्रबाहु का स्थान अग्रगण्य माना जाता है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित इन दश सूत्रों पर दश निर्युक्तियों की रचनाएं कीं।[1]

आगमों का अध्ययन करने के इच्छुक मुनियों एवं साधकों के लिए ये निर्युक्तियां प्रकाश-प्रदीप तुल्य हैं। आगमों के गूढार्थों की, पारिभाषिक शब्दों की इन निर्युक्तियों में दृष्टान्तों, कथानकों आदि के माध्यम से बोधगम्य शैली में सुस्पष्ट रूपेण व्याख्या की गयी है, अतः ये आगमों के अध्येताओं तथा अध्यापकों—दोनों ही के लिए समान रूप से बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। निर्युक्ति साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें "सागर को गागर में सुसमाहित कर देने वाली" संक्षेप शैली को अपनाया गया है। विशद - विशाल अर्थ, आख्यानों, दृष्टान्तों, कथानकों

---

[1] आयारस्स दसवैकालियस्स, तह उत्तरज्झमायारे।
सुयगडे निज्जुत्ति, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥८४॥
कप्पस्स य णिज्जुत्ति, ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
सूरियपन्नत्तीए, वुच्छं इसिभासियाणं च ॥८५॥
(आवश्यक निर्युक्ति)

एवं घटनाओं की ओर संकेतकारी बिन्दु में सिन्धु की सूक्ति को सार्थक करने वाले नपे-तुले शब्दसमूह से निर्मित इन निर्युक्तियों की एक-एक गाथा को ज्ञान का कोश कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । इस सारपूर्ण सांकेतिक शैली में निबद्ध होने के कारण ये निर्युक्तियां शास्त्रों के गूढ़ार्थों को हृदयंगम करने और शास्त्रों में निहित अथाह ज्ञान को क्रमबद्ध रूप से कण्ठस्थ करने में सदा से ही सबल साधन समझी जाती रही हैं । इसी कारण आगमों के व्याख्या ग्रन्थों में निर्युक्ति–साहित्य का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है । निर्युक्तियों में महापुरुषों के जीवनचरित्रों, सूक्तियों, दृष्टान्तों और कथानकों के माध्यम से आगम ज्ञान के साथ-साथ आर्यधरा के प्राचीन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, जिसमें हमें उस समय के जनजीवन के आचार-व्यवहार, उसके जीवन-दर्शन और हमारी प्राचीन संस्कृति के दर्शन होते हैं ।

दश सूत्रों के गूढ़ार्थ को स्पष्टतः अभिव्यक्त करने वाली दश निर्युक्तियों की संरचना कर आचार्य भद्रबाहु ने जिनशासन की महती सेवा की । जैनसमाज, भद्रबाहु द्वारा किये गये इस महान् उपकार से अपने आपको विगत चौदह-पन्द्रह शताब्दियों से उनका उपकृत और ऋणी समझता चला आ रहा है । वस्तुतः वे जैन जगत् के दिव्य ज्योतिर्धर नक्षत्र थे ।

विगत कतिपय शताब्दियों से नामसाम्य के परिणाम स्वरूप अनेक विद्वान् वीर निर्वाण सं० १७० में स्वर्गस्थ हुए अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को ही उपरिलिखित दश निर्युक्तियों के रचनाकार मानते चले आ रहे थे । परन्तु शोधबुद्धि विद्वानों ने न केवल एक दो, अपितु अनेक सबल प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि निर्युक्तियों के रचनाकार श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं अपितु उनके स्वर्गस्थ होने के लगभग पौने नव सौ (८७५) वर्ष पश्चात् तक विद्यमान निमितज्ञ भद्रबाहु (द्वितीय) थे ।[१]

"उत्तराध्ययन-निर्युक्ति" में स्वयं निर्युक्तिकार स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि वे चतुर्दशपूर्वधर नहीं हैं :—

सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो ।
सगलणिउणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुव्वि भासंति ।।[२]

---

[१] विस्तृत विवेचन के लिये देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २," पृ. ३९३-३७१ ।
—सम्पादक

[२] उत्तराध्ययन-निर्युक्ति, मरण विभक्ति, गाथा सं० २३३

अर्थात्—मैंने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया है। वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की पहली गाथा में निर्युक्तिकार द्वारा अपने से बहुत पहले हुए अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को निम्नलिखित शब्दों में नमस्कार किया है :—

वंदामि भद्दबाहु, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

अर्थात्—दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार-इन तीन सूत्रों की, पूर्वों से निर्यूहनपूर्वक रचना करने वाले महर्षि एवं अन्तिम श्रुतकेवली, प्राचीन आचार्य श्री भद्रबाहु को मैं वन्दना करता हूं।

इस गाथा से यह सिद्ध हो जाता है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार इन तीन सूत्रों की रचना की। उन्होंने निर्युक्तियों की रचना नहीं की। निर्युक्तियों के रचनाकार तो उनसे बहुत काल पश्चात् हुए निमितज्ञ भद्रबाहु नामक दूसरे आचार्य हैं, जो कि श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए। निर्युक्तिकार निमितज्ञ भद्रबाहु ने अपने आपको अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न बताते हुए, उन्हें प्राचीन, अन्तिम श्रुतकेवली और दशा, कल्प और व्यवहार कार इन तीन विशेषणों से अलंकृत कर वन्दन किया है।

इस प्रकार के स्तुतिपरक अलंकारों द्वारा अपने मुख से, अपनी लेखनी से अपनी ही स्तुति कर स्वयं द्वारा स्वयं को नमस्कार करने की भद्रबाहु श्रुतकेवली जैसे महर्षि से अपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित और अविचारपूर्ण ही माना जायगा।

ये दो तथ्य ही इस बात का अन्तिम निर्णय करने के लिए पर्याप्त है कि उपर्युल्लिखित दश निर्युक्तियों के रचनाकार अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु नहीं अपितु उनसे आठ सौ, पौने नव सौ वर्ष पश्चात् की अवधि के बीच हुए निमितज्ञ भद्रबाहु थे।

जहां तक निर्युक्तिकार निमितज्ञ भद्रबाहु के जीवन परिचय का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में मध्ययुगीन कथा साहित्य में, इन आठ सौ नव सौ वर्षों के अन्तर से हुए दोनों महान् आचार्यों के जीवन की घटनाओं को अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। तथापि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर निमितज्ञ एवं निर्युक्तिकार भद्रबाहु का जीवनचरित्र निम्नलिखित रूप में मान्य किया जा सकता है :—

वीर निर्वाण की आठवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में महाराष्ट्र के प्रतिष्ठानपुर नामक नगर में भद्रबाहु और वराहमिहिर नामक दो ब्राह्मणकिशोर रहते थे। वे दोनों सहोदर थे तो बड़े कुशाग्रबुद्धि और विद्वान्, किन्तु थे नितान्त निराश्रित और निर्धन।

एक दिन उन दोनों भ्राताओं को एक विद्वान् जैनाचार्य के प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन महापुरुष का उपदेश सुनकर ब्राह्मण किशोर भद्रबाहु का रोम-रोम वैराग्य के रंग में रंग गया। उसने श्रमण धर्म में दीक्षित होने का दृढ़ संकल्प कर अपने लघु सहोदर वराहमिहिर से कहा—"प्रिय अनुज ! मुझे इस संसार से विरक्ति हो गई है। अतः मैं तो इन समर्थ गुरुचरणों की शरण ग्रहण कर जीवन पर्यन्त संयम की साधना करूंगा। तुम घर लौट जाओ और पूरी दक्षता के साथ अपने जीवन को सुखी बनाने में जुट जाओ। तुम्हारा जीवन सुखमय हो, यही मेरी कामना है।"

इस पर वराहमिहिर ने कहा—"आदरणीय अग्रज ! जब आप इस संसार सागर से पार होने के लिए महान् धर्मपोत का आश्रय ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय कर चुके हैं तो फिर मैं पीछे रहकर भवसागर में क्यों डूबूंगा। मैं आपका अनुज हूं, मैं भी आपका अनुगमन करूंगा।"

उन दोनों ब्राह्मण किशोरों ने आचार्यदेव के पास श्रमणधर्म की दीक्षा अंगीकार की। दोनों मुनि भ्राताओं ने गुरुचरणों में बैठकर शास्त्रों का अध्ययन किया। मुनि भद्रबाहु ने विनयपूर्वक बड़ी निष्ठा के साथ आगमों का अध्ययन किया और उनकी गणना आगम-मर्मज्ञ मुनियों में की जाने लगी। मुनि भद्रबाहु बड़े ही विनीत, सेवाभावी, स्वाध्यायपरायण और आगमज्ञान के रसिक थे। दूसरी ओर मुनि वराह मिहिर का पूरा झुकाव चमत्कार प्रदर्शन की ओर रहा। वे अपने गुरु और ज्येष्ठ बन्धु भद्रबाहु की हितशिक्षाओं की उपेक्षा कर केवल ज्योतिष शास्त्रों के अध्ययन मनन में ही अपने जीवन की सफलता को आंकने लगे। वराहमिहिर ने चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं अन्यान्य ज्योतिष ग्रन्थों का अध्ययन गहरी रुचि से किया। वे निमित्तज्ञानी बन गये एवं अपने इस निमित्तज्ञान के बल पर स्वयं को आचार्यपद का वास्तविक अधिकारी समझने लगे। अपने ज्योतिष ज्ञान पर उनके अन्तर में अहंकार भी जागृत हो उठा और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अपने अन्तिम समय में इन दोनों के गुरु ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद प्रदान करने के लिए अपने शिष्यवर्ग में से किसी सुयोग्य शिष्य का चयन करने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में विचार करते-करते निम्नलिखित एक गाथा उनके ध्यान में आई :—

वूढो गणहर सद्दो, गोयमाइहिं धीरपुरिसेहिं।
जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥

अर्थात् गणधर जैसे गरिमामय पद को गौतम आदि धीर गम्भीर महापुरुषों ने वहन किया है। ऐसे महान् पद पर यदि कोई जानबूझ कर इस पद के अयोग्य किसी अपात्र को नियुक्त कर देता है तो वह घोरातिघोर पाप का भागी होता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए उन आचार्य ने वराहमिहिर को आचार्य पद के अयोग्य और भद्रबाहु को आचार्य पद के योग्य समझ कर मुनि भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर उन्हें आचार्य पद प्रदान किया।

अपने गुरु के इस निर्णय से वराहमिहिर के हृदय को गहरा आघात पहुंचा। वह मन ही मन अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्रबाहु से ईर्ष्या और विद्वेष रखने लगा। उसने इसे अपना अपमान समझ कर सदा के लिये अपने बड़े भाई भद्रबाहु का साथ छोड़ कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय कर लिया। तीव्र कषाय एवं मिथ्यात्व के उदय से उसके मन में भद्रबाहु के विरुद्ध विद्वेषाग्नि इतनी प्रबल वेग से भड़क उठी कि अपने बारह वर्ष के श्रमण जीवन को तिलांजलि दे वे पुन: गृहस्थ बन गये।

उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों से चमत्कारी मन्त्रों एवं तन्त्रों का चयन कर अनेक श्रीमन्तों के हृदय पर अपना प्रभाव जमाया और उनसे विपुल धन प्राप्त करने लगे। ज्योतिष मन्त्र, तन्त्र आदि के चमत्कारिक प्रभाव से ज्यों-ज्यों उन्हें धन की उपलब्धि होती गई, त्यों-त्यों उनकी भौतिक महत्वाकांक्षाएं बढ़ती गई। जनमानस पर अपनी महत्ता की अमिट छाप जमाने के लिए उन्होंने अपने भक्तों के माध्यम से इस प्रकार का प्रचार करवाना प्रारम्भ कर दिया कि वे बारह वर्ष तक सूर्यमण्डल में रहकर आये हैं। स्वयं सूर्य ने उसे ग्रहमण्डल के उदय, अस्त, गति, स्थिति और उनके शुभाशुभ फल आदि प्रत्यक्ष दिखा कर ज्योतिष शास्त्र की सम्पूर्ण शिक्षा दी है। स्वयं सूर्य ने उसे ज्योतिष विद्या में पूर्णत: पारंगत कर पृथ्वी पर भेजा है।

उन्होंने सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं अन्यान्य ज्योतिष ग्रन्थों से ज्योतिष के सार को लेकर एक अपूर्व ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार उनकी अनेक चमत्कारपूर्ण कृतियों एवं किंवदन्तियों के परिणामस्वरूप वराहमिहिर की चारों ओर प्रसिद्धि फैलने लगी। इस लोकप्रसिद्धि से प्रभावित होकर प्रतिष्ठानपुर के महाराजा ने वराहमिहिर को अपना राजपुरोहित बना लिया। राजपुरोहित का पद प्राप्त कर लेने के अनन्तर तो वराहमिहिर के ज्योतिष ज्ञान की ख्याति चारों ओर और भी तीव्रता से फैलने लगी।

उन्हीं दिनों निमित्तज्ञ आचार्य भद्रबाहु का प्रतिष्ठानपुर में आना हुआ। इस शुभ सम्वाद को सुनकर प्रतिष्ठानपुर का राजा भी अपने परिजनों एवं पौरजनों के साथ आचार्यश्री के दर्शन और प्रवचन श्रवण के लिये नगर के बाहर उद्यान में

पहुंचा। राजपुरोहित वराहमिहिर भी महाराजा के साथ था। धर्मोपदेश के समापन के पश्चात् राजा अपने राजपुरोहित के साथ आचार्यश्री से ज्ञान चर्चा में निमग्न हो गया। उसी समय एक संदेशवाहक ने वराहमिहिर के पुत्रजन्म होने का सबको सम्वाद सुनाया। महाराजा ने संदेशवाहक को पारितोषिक प्रदान कर वराहमिहिर से प्रश्न किया—"पुरोहितजी ! आपका यह पुत्र किन-किन विद्याओं में निष्णात, कितनी आयुष्य वाला एवं किन-किन के द्वारा सम्मानित होगा ? सौभाग्य से आज सकल विद्याओं के निधान आचार्यदेव भी यहां विद्यमान हैं, अतः इनसे भी हमें ज्योतिष विद्या की पूर्णता का प्रमाण प्राप्त हो सकेगा।"

वराहमिहिर ने कहा :—"महाराज ! इस बालक के जन्मकाल, ग्रहगोचर, नक्षत्र, लग्न आदि पर विचार करने के अनन्तर मैं यह कहने की स्थिति में हूं कि यह बालक शतायु, समस्त विद्याओं में निष्णात और आपके द्वारा एवं आपके पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा भी पूजित होगा।"

निमित्त शास्त्र में पारंगत विद्वान् आचार्य भद्रबाहु से भी नृपति ने प्रार्थना-परक स्वर में प्रश्न किया :—"भगवन् ! क्या ऐसा ही होगा, जैसा कि पुरोहितजी कह रहे हैं ?"

आचार्य भद्रबाहु शान्त निश्चल भाव में मौनस्थ रहे। राजा द्वारा पुनः पुनः आग्रहपूर्ण प्रार्थना किये जाने पर 'यद्यपि जैन श्रमण के लिये शास्त्रों में निमित्त कथन का स्पष्टतः निषेध है तथापि रोग निवारणार्थ कटु औषध का पिलाना भी कभी आवश्यक होता है'—यह विचार कर निमित्तज्ञ आचार्य भद्रबाहु ने कहा :—"राजन् ! वास्तविकता कुछ और ही है, जिसे मुझे प्रकट नहीं करना चाहिये। उसके प्रकट करने से कोई लाभ नहीं है। फिर भी आपके अत्यन्त आग्रह को देखकर मैं इतना ही कहना चाहूंगा कि कर्म विपाक का फल अनिवार्य और अचिन्त्य है। जो होने वाला है, वह सातवें ही दिन सबको विदित हो जायगा।"

आचार्य भद्रबाहु के प्रति वराहमिहिर के अन्तर्मन में जो विद्वेषाग्नि वर्षों से प्रच्छन्न रूप से जल रही थी, और जिसे वह प्रयत्नपूर्वक अब तक दबाये हुए था, वह भद्रबाहु की यह बात सुनकर सहसा भड़क उठी। उसने आक्रोशपूर्ण चुनौती भरे स्वर में कहा :—"राजन् ! इन जैन श्रमणों की ज्योतिष शास्त्र में नाम मात्र की भी गति नहीं है। यदि इन्हें थोड़ा बहुत भी ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान हो तो स्पष्ट रूप से बतायें कि सातवें दिन क्या विदित होने वाला है। मैंने समस्त ज्योतिष शास्त्रों का अवगाहन किया है। मेरी भविष्यवाणी में कहीं किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं आने वाला है। केवल मेरी बात का विरोध करने के लिये इन्होंने ऐसी अस्पष्ट बात कही है, जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता। यदि इनमें इस

विषयक ज्ञान है तो साहस के साथ स्पष्ट रूप से ये बतायें कि मेरी भविष्यवाणी के विपरीत कब-कब क्या-क्या होने वाला है ?"

इस पर राजा ने पुनः आचार्य भद्रबाहु से प्रार्थना की :—भगवन् ! आपका ज्ञान सागर के समान अगाध है । आपके वचनों की प्रामाणिकता पर किसी को सन्देह नहीं है । पर ज्योतिष शास्त्र की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आज का यह प्रसंग वस्तुतः एक कसौटी है । मेरी भी जिज्ञासा है कि अपने कथन को थोड़ा स्पष्ट करें कि सातवें दिन क्या होने वाला है ।"

आचार्य भद्रबाहु ने शान्त स्वर में कहा—"इस प्रश्न पर मेरा मौनस्थ रहना ही उचित था किन्तु आपके बार-बार के आग्रह को ठुकराना भी उचित नहीं समझ कर मैं यही कहूंगा कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार वास्तविक भवितव्यता यह है कि सातवें दिन के अन्त में इस बालक की विडाल से मृत्यु हो जायगी ।"

यह सुनकर सभी स्तब्ध रह गये । किन्तु वराहमिहिर बड़ा क्रुद्ध हुआ और यह कहता हुआ अपने घर की ओर चल पड़ा :—"महाराज ! भद्रबाहु का कथन असत्य सिद्ध होगा और उस दशा में आठवें दिन इनको कठोर दण्ड दिया जाय ।"

पर उसका मन सशंकित हो उठा । उसने अपने घर के चारों ओर सैनिकों का कड़ा पहरा लगा दिया । प्रसूतिगृह में भी सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री का समुचित प्रबन्ध कर उसने अपने पुत्र की रक्षा के लिये दक्ष धात्री को सात दिन तक प्रतिक्षण सतर्कता बरतने और सूतिका गृह में ही रहने का आदेश दिया । उसने इस बात का पूरा प्रबन्ध कर दिया कि कोई भी विडाल उसके घर के आस-पास भी नहीं आने पाये ।

अन्ततोगत्वा अनिष्ट की आशंका वाला वह सातवां दिन आया । सबको और भी अधिक सजग रहने के लिये सावधान कर वराहमिहिर स्वयं अत्यन्त सतर्क हो प्रसूतिगृह के द्वार पर पहरा देने लगा ।

सातवें दिन की समाप्ति के अन्तिम क्षणों में सूतिकागृह के सुदृढ़ कपाटों की विडालमुखी भारी भरकम लोहमयी अर्गला उस नन्हें से बालक पर गिरी और वह तत्काल कालकवलित हो गया । बालक की मृत्यु का समाचार तत्काल सम्पूर्ण नगर में फैल गया । नरेन्द्र पुरोहित के घर पहुंचे । उन्होंने वराहमिहिर को सान्त्वना देने के पश्चात् बालक की मृत्यु का कारण जानना चाहा । उत्तर में अश्रुधारा वहाती हुई धात्री ने वह लोहमयी अर्गला महाराजा के सम्मुख प्रस्तुत कर दी । आगल के मुख पर बनी विड़ाल की आकृति को देखकर राजा आश्चर्याभिभूत हो कह उठे—"भद्रबाहु का निमित्त ज्ञान पूर्ण, अथाह और अनुपम है ।"

वराहमिहिर को अपनी यह पराजय मृत्यु से भी अधिक भयंकर अनुभव हुई। पुत्रशोक और लोक में व्याप्त अपनी अपकीर्ति के संताप से संतप्त हो वह अपने घर-द्वार को छोड़कर परिव्राजक बन गया। उसके मन मस्तिष्क में यह विचार गहरा घर कर गया कि भद्रबाहु के कारण ही उसे संयम का परित्याग करना पड़ा, उन्हीं के निमित्त से उसकी अनेक वर्षों के अथक् प्रयास से उपार्जित समग्र प्रतिष्ठा क्षण भर में ही नष्ट हो गई। वराहमिहिर अपने ज्येष्ठ सहोदर भद्रबाहु को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझ कर येन केन प्रकारेण उनसे प्रतिशोध लेने के उपाय सोचने लगा। अज्ञान के वशीभूत हो उसने प्रतिशोध की भावना से अनेक प्रकार के कठोर तप किये। महाव्रतों के भंग के महापाप का और अपने मिथ्या अहं का प्रायश्चित किये बिना ही मर कर वह हीन ऋद्धि वाला वाण व्यन्तर देव हुआ। उस व्यन्तर ने विभंग ज्ञान से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानकर भद्रबाहु से अपने पूर्व जन्म के वैर का बदला लेने का निश्चय किया। पर धर्मकवचधारी आचार्य भद्रबाहु का अनिष्ट करने में अपने आपको असमर्थ पाकर उस व्यन्तर ने उनके जैन संघ के कतिपय श्रमणों एवं गृहस्थ समूह को अनेक प्रकार के कष्टोपसर्ग देना प्रारम्भ किया। व्यन्तरकृत उपसर्गों से संत्रस्त श्रावक संघ ने भद्रबाहु से प्रार्थना की—"भगवन् ! यह कैसी विचित्र विडम्बना है कि :—

हस्तिस्कन्धाधिरूढोऽपि, भषणैर्भक्ष्यते जनः।

"गजराज की पीठ पर बैठे हुए लोगों को भी कुत्ते काट रहे हैं।" आप जैसे महान् आचार्य के श्रमण एवं श्रमणोपासक वर्ग को भी एक सामान्य व्यन्तर इस कहावत को चरितार्थ कर अनेक प्रकार की यातनाएं दे प्रपीड़ित कर रहा है।

इस पर आगमज्ञान और ज्योतिष शास्त्र में निष्णात आचार्य भद्रबाहु ने एक चमत्कारी स्तोत्र की रचना कर जैनसंघ को सुनाया। संघ ने उसका पाठ किया। उस महान् चमत्कारी स्तोत्र के प्रभाव से वह व्यन्तरकृत उपसर्ग सदा सर्वदा के लिये शान्त हो गया। वह चमत्कारी स्तोत्र आज भी "उवसग्गहर स्तोत्र" के नाम से बड़ा लोकप्रिय है।

आचार्य भद्रबाहु ने "भद्रबाहु संहिता" नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ की और "अर्हत् चूड़ामणि" नामक प्राकृत ग्रन्थ की भी रचना की। आपकी 'भद्रबाहु संहिता' नाम की कृति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में जो इस नाम की कृति उपलब्ध है, वह किसी अन्य विद्वान् की कृति प्रतीत होती है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं के साथ उनके लगभग ८०० वर्ष पश्चात् हुए द्वितीय भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं को संपृक्त कर जो जीवन-वृत्त अनेक ग्रन्थों में दिया गया है, उन ग्रन्थों में से ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर छांट-छांट कर निमित्तज्ञ भद्रबाहु का कुछ परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में आगे और शोध की आवश्यकता है।

भगवान् महावीर के २८वें पट्टधर आचार्य वीर भद्र के समय के प्रभावक आचार्य मल्लवादी सूरि

२६वें युगप्रधानाचार्य हारिल सूरि के युग प्रधानाचार्य काल में मल्लवादी नामक एक महान् शास्त्रार्थ कुशल वादी और जिन शासन के प्रभावक आचार्य हुए। प्रभावक चरित्र की "सी" संज्ञक एक हस्तलिखित प्रति में ऋषि मण्डल स्तोत्र के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए आचार्य मल्लवादी को नागेन्द्र कुल का शिरोमणि और शास्त्रार्थ निपुण वादियों में अग्रणी बताया गया है।[१] इससे विदित होता है कि वे नागेन्द्र कुल के आचार्य थे। आचार्य मल्लवादी के गुरु का नाम जिनानन्द सूरि था।

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार जिनानन्द सूरि एक बार चैत्ययात्रार्थ भृगुकच्छ गये। वहां नन्द अथवा बुद्धानन्द नामक एक बौद्ध भिक्षु रहते थे। वह अपने समय के एक विख्यात वादी एवं तार्किक थे। उधर जिनानन्द भी स्व-पर समय के ज्ञाता और उच्च कोटि के विद्वान् थे। वह वाद प्रधान युग था। विभिन्न धर्मों, मतों एवं मान्यताओं के विद्वानों में उस समय यत्र-तत्र शास्त्रार्थ होते ही रहते थे। जिनानन्द सूरि की चारों ओर फैलती हुई ख्याति को बुद्धानन्द सहन नहीं कर सके। उन्होंने जिनानन्द सूरि के साथ शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। जिनानन्द और बुद्धानन्द का शास्त्रार्थ कई दिन चला और अन्त में वितण्डावाद के बल पर बुद्धानन्द नेवाद में विजय प्राप्त की।[२] इस पराभव के पश्चात् आचार्य जिनानन्द ने भृगुकच्छ मे ठहरना सम्मानजनक न देख वल्लभी की ओर विहार किया।

---

१ श्रीनागेन्द्रकुलैकमस्तकमणिः प्रामाणिकग्रामणी --
रासीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्रीमल्लवादी गुरुः।
प्रोद्यत्प्रातिभवैभवोद्भवमुदा श्री शारदा सूनवे।
यस्मै तं निजहस्तपुस्तकमदाज्जैत्रम् त्रिलोक्या अपि ॥ऋषिमण्डलात्॥
(प्रभावकचरित्र, पृ० ७८)

२ चैत्ययात्रासमायातं, जिनानन्दमुनीश्वरम्।
जिग्ये वितंडया बुद्ध्या, नन्दाख्यः सौगतो मुनिः।
(प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ७७)

वल्लभी में जिनानन्द सूरि की बहिन रहती थी जिसका नाम था वल्लभ देवी । उसके तीन पुत्र थे । बड़े का नाम अजितयश, मंझले का नाम यश और सबसे छोटे का अर्थात् तीसरे पुत्र का नाम मल्ल था ।[1] वल्लभदेवी के तीनों ही पुत्र बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न बालक थे । आचार्य जिनानन्द सूरि ने वल्लभी के विशाल जन-समूह के समक्ष संसार के सभी प्रकार के दुःखों से सदा-सर्वदा के लिये मुक्ति दिलाने वाले मोक्ष मार्ग पर प्रकाश डालते हुए अपने प्रवचनों में संसार की अनित्यता, जीवन की क्षणभंगुरता एवं दुर्लभ तथा अनमोल मानव जीवन के वास्तविक कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन करवाया । आचार्यश्री के प्रेरणाप्रदायी प्रवचनामृत का पान कर दुर्लभदेवी और उसके तीनों पुत्रों का अन्तर्मन विरक्ति के गहरे रंग में रंग गया । उन चारों प्राणियों ने अक्षय सुख की प्राप्ति के लिये मुक्ति पथ पर चलने का दृढ़ संकल्प अपने आराध्य आचार्यदेव के समक्ष रखा । माता और तीनों पुत्रों ने जयानन्द सूरि से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की ।

प्रभावक चरित्र में आचार्य मल्लवादी के पिता और कुल का कोई परिचय नहीं दिया गया है । 'प्रबन्धकोश' में मल्लवादी का जो परिचय दिया गया है, उसमें बताया गया है कि दुर्लभदेवी सौराष्ट्र के शक्तिशाली एवं महान् प्रतापी महाराजा शिलादित्य की बहिन थी और इस प्रकार आचार्य मल्लवादी महाराजा शिलादित्य के भागिनेय थे ।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के अनन्तर अजितयश, यश और मल्ल इन तीनों सहोदर श्रमणों ने न्याय, नीति, व्याकरण, साहित्य एवं लक्षणादि महाशास्त्रों का प्रगाढ़ निष्ठा एवं परिश्रम से अध्ययन किया और वे तीनों ही श्रमण शास्त्रों के गहन-गम्भीर ज्ञान से सम्पन्न उद्भट विद्वान बन गये । उनकी विद्वत्ता की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई ।

मल्ल श्रमण ने स्थविर श्रमणों से सुना कि बौद्ध भिक्षु बुद्धानन्द ने उनके गुरु जिनानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था ।[2] अपने आराध्य गुरुदेव की पराजय का वृत्तान्त सुनकर उनके अन्तर में असह्य दुःख हुआ । अपने गुरु की पराजय और जिनशासन का घोर अपमान उनके हृदय में तीक्ष्ण कांटे की तरह खटकने लगा । उन्होंने मन ही मन गुरु और जिनशासन की भृगुकच्छ में उस खोयी हुई

---

[1] तत्र दुर्लभदेवीति, गुरोरस्ति सहोदरी । तस्याः पुत्रास्त्रयः सन्ति ज्येष्ठो जितयशोऽभिधः ।।
द्वितीयो यशनामाभूत्, मल्लनामा तृतीयकः । संसारासारतां चैषां मातुलैः प्रतिपादिता ।।
जनन्या सह ते सर्वे, बुद्ध्वा दीक्षामथादधुः । संप्राप्ते हि तरण्डे कः पाथोधिं न विलंघयेत् ।।
(प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ७८)

[2] मल्लः समुल्लसन्मल्लीफुल्लवेल्लद्यशोनिधिः । शुश्राव स्थविराख्यानात् पराभवम् बौद्धतो गुरोः । (वही)

तर्क शास्त्र के गहरे अध्ययन से अजेय वादी बनाकर जिनशासन की महती सेवा की। स्याद्वाद, न्याय और तर्कशास्त्र पर गहरा प्रकाश डालने वाला मल्लवादी का वह महान् ग्रन्थ 'नयचक्र' आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु इस पर सिंहगणि क्षमाश्रमण द्वारा प्रणीत टीका उपलब्ध है।

आचार्य मल्लवादी सूरि के दोनों बड़े भाई भी बड़े विद्वान् थे। मुनि अजितयश ने "प्रमाण" ग्रन्थ की और उनके अनुज तथा मल्लवादी के अग्रजन्मा मुनि यश ने "अष्टांग निमित्त बोधिनी संहिता" की रचना की। मल्लवादी के बड़े भाई अजितयश और यश—इन दोनों मुनियों द्वारा रचित उपरोक्त दोनों ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य मल्लवादी के सत्ताकाल के सम्बन्ध में यद्यपि प्रभावक चरित्र में कोई उल्लेख नहीं किया गया है तथापि अनेक ऐसे तथ्य जैन वाङ्मय में उपलब्ध हैं, जिनसे उनका सत्ताकाल वीर निर्वाण की ११वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। मल्लवादी सूरि द्वारा रचित 'नयचक्र' पर सिंहगणि क्षमाश्रमण (अपर नाम—सिंह-सूरि) ने टीका की रचना की थी। वह टीका आज भी उपलब्ध है। सिंह गणि क्षमाश्रमण 'वसुदेव हिंडी' के रचनाकार संघदासगणि, 'धम्मिल्ल हिंडी' के रचनाकार धर्मसेनगणि और पञ्चकल्प भाष्य के संयुक्त रचनाकार संघदासगणि और धर्मसेनगणि के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। संघदासगणि और धर्मसेनगणि का सत्ताकाल विक्रम की छठी शताब्दी है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सिंहगणि विक्रम की सातवीं शताब्दी में विद्यमान थे। सिंहगणि ने मल्लवादी के नयचक्र ग्रन्थ पर टीका की रचना की, इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि मल्लवादी सिंहगणि से पूर्ववर्ती आचार्य थे और इस पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मल्लवादी का सत्ताकाल विक्रम की छठी शताब्दी हो सकता है।

दूसरा प्रमाण यह है कि हरिभद्र सूरि (याकिनी महत्तरासूनुः) ने अपनी रचना "अनेकांत जय पताका" में मल्लवादी कृत "सन्मति तर्क की टीका" के अनेक अवतरण दिये हैं। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि आचार्य मल्लवादी वस्तुतः याकिनी महत्तरासूनुः हरिभद्र के पूर्ववर्ती ग्रन्थकार और आचार्य थे। याकिनी महत्तासूनुः हरिभद्र का समय वि. सं. ७५७ से ८२७ तदनुसार वीर नि. सं. १२२७ से १२९७ के बीच का रहा। वि. सं. ७८५ (वीर नि. सं. १२५५) में हरिभद्रसूरि की विद्यमानता को सूचित करने वाली एक प्राचीन गाथा उपलब्ध होती है।[1] इन तथ्यों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि हरिभद्र सूरि से और सिंहगणि से पूर्ववर्ती आचार्य होने के कारण आचार्य मल्लवादी विक्रम की छठी शताब्दी के आचार्य थे।

(सम्पादक)

[1] देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ में ही हारिलसूरि का जीवन वृत्त।

प्रबन्धकोश में उल्लिखित कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आचार्य मल्लवादोसूरि का समय विक्रम सं० ५७३ तदनुसार वीर निर्वाण सं० १०४३ के आसपास का प्रमाणित होता है। 'प्रबन्धकोश' में जो ऐतिहासिक तथ्य उल्लिखित हैं, उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि वि. सं. ५७३ में आचार्य मल्लवादीसूरि विद्यमान थे।

प्रबन्धकोशकार रत्नशेखरसूरि ने आचार्य मल्लवादी के विषय में प्रभावक चरित्रकार से कुछ भिन्न विवरण दिया है। उन्होंने आचार्य मल्लवादी को वल्लभी के महाराजा शिलादित्य का भागिनेय बताते हुए लिखा है कि वल्लभी पर अधिकार करने के पश्चात् शिलादित्य ने अपनी बहिन का विवाह भृगुकच्छ के राजा के साथ किया। समय पर शिलादित्य की बहिन ने एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस पुत्र का नाम "मल्ल" रखा गया।[1] प्रबन्धकोशकार के अनुसार शिलादित्य प्रारम्भ में जैनधर्म का अनुयायी था। उसने शत्रुंजय पर्वत पर चैत्य का उद्धार किया और वह अपने आपको महाराज श्रेणिक जैसे जिनशासन प्रभावक श्रावकों की श्रेणि में समझता था। उस समय बल्लभी का जैनसंघ एक शक्तिशाली और सुगठित संघ था।

उन्हीं दिनों एक महान् तार्किक एवं वादकुशल बौद्ध आचार्य महाराजा शिलादित्य की राजसभा में उपस्थित हुआ और उसने जैन विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने की अभिलाषा प्रकट की। उस बौद्धवादी ने शास्त्रार्थ के विषय में यह शर्त रखी कि जो पक्ष शास्त्रार्थ में पराजित हो जायगा वह पक्ष वल्लभी राज्य को छोड़ कर चला जायगा। दोनों पक्षों द्वारा इस शर्त को स्वीकार किये जाने के अनन्तर दोनों पक्षों के बीच शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। शास्त्रार्थ अनेक दिनों तक चला और अन्त में बौद्ध तार्किक विजयी घोषित किया गया और देवसंयोग से श्वेताम्बरों को पराजय का मुख देखना पड़ा। पूर्वनिर्धारित शर्त के अनुसार श्वेताम्बरों को वल्लभी राज्य के बाहर जाना पड़ा। शिलादित्य भी बौद्ध धर्म अनुयायी बन गया। वल्लभी राज्य में जो जैन तीर्थ थे उन पर बौद्धों ने अधिकार कर लिया और इस प्रकार वल्लभी राज्य में बौद्धों का वर्चस्व स्थापित हो गया।

उन्हीं दिनों भृगुकच्छ के राजा की मृत्यु हो गयी। इस कारण शिलादित्य की भगिनी को सांसारिक कार्यकलापों से विरक्ति हो गई और उसने प्रवर्तिनी जैन साध्वीमुख्या के पास श्रमणी धर्म की दीक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ अपने अष्ट वर्षीय पुत्र मल्ल को भी जैनाचार्य के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करवा दी।

---

[1] निजां 'स्वसारं' स ददौ, भृगुक्षेत्रमही भुजे।
प्रसूत सा सुतं दिव्यतेजसं दिव्यलक्षणम् ॥२१॥
(प्रबन्धकोश, पृष्ठ २२)

तार्किक बौद्ध भिक्षु के वाद कौशल तथा शिलादित्य के बौद्ध धर्मानुयायी बन जाने से बौद्ध संघ की अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप जैन संघ क्षीण होने लगा।

एक दिन उस ओजस्वी और विचारशील बालक मुनि मल्ल ने अपनी माता साध्वी से पूछा—"मातर्! अपना संघ इतना क्षीण क्यों है? और पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतर क्यों होता चला जा रहा है? इसका कारण क्या है?"

अपने पुत्र बालक मुनि का प्रश्न सुनकर साध्वी माता की आंखों में आंसू छलक उठे। उसने कहा—"मुने! हमारा संघ पहले ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में फैला हुआ था। पूर्व में महान् जिन—शासन प्रभावक आचार्यों के प्रताप से हमारा संघ बड़ा ही शक्तिशाली था। दुर्भाग्य से अब उस प्रकार के प्रभावक आचार्यों का अभाव हो गया है। एक बौद्ध तार्किक ने श्वेताम्बर आचार्य को वाद में वितण्डावाद पूर्वक पराजित कर दिया और इस कारण जैन साधु वल्लभी राज्य को छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं। तुम्हारा मामा शिलादित्य बौद्धधर्मावलम्बी बन गया है और यहाँ जैन संघ के न रहने के कारण आज सभी जैन तीर्थों पर बौद्धों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। यही कारण है कि हमारा जैन संघ दिन प्रतिदिन क्षीण होता चला जा रहा है।"

यह सुनकर बालक मुनि मल्ल के हृदय को गहरा आघात पहुंचा। मुनि मल्ल ने तत्क्षण उच्च स्वर में प्रतिज्ञापूर्वक कहा—"यदि इन बौद्धों को यहां से मैं मूलतः उखाड़ कर नहीं फैंक दूं तो मुझे मुनि हत्या का पाप लगे।"

इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा करने के पश्चात् बालक मुनि मल्ल अपनी माता की अनुमति लेकर एक पर्वत की गुफा में चले गये और वहां वे घोर तपश्चरण करने लगे। लम्बी तपस्या के पश्चात् वे उस पर्वत की तलहटी में बसे पास ही के किसी ग्राम में भिक्षाटन करते और वहाँ से रूखा-सूखा आहार लाकर छट्ठ, अष्टम आदि अनेक प्रकार की दुष्कर तपस्या का पारण करते। इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए मुनि मल्ल को लगभग एक वर्ष व्यतीत हो गया। निरन्तर चिन्तन, एकाग्र ध्यान और कठोर तपश्चरण के प्रभाव से उनकी प्रज्ञा जागृत हुई। उनके अन्तर में ज्ञान की दिव्य ज्योति प्रकट हुई और वे सरस्वती के परम कृपापात्र बन गये। तपस्या के प्रभाव से शासनदेवी उन पर प्रसन्न हुई और उसने उन्हें अजेय वादी होने का वरदान दिया। तर्कशास्त्र पर गहन चिन्तन-मनन कर उन्होंने 'नयचक्र' नामक ग्रन्थराज की रचना की। उनमें अमित आत्मशक्ति और असीम क्षमता का अभ्युदय हुआ। उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि उनका 'नयचक्र' शास्त्रार्थ में बड़े से बड़े प्रतिपक्षियों पर विजय प्राप्त कराने में दिव्य अस्त्र के समान है। जिनशासन की प्रभावना हेतु मुनि मल्ल वल्लभी की ओर प्रस्थित हुए। वल्लभी की राज्यसभा में शिलादित्य के समक्ष उपस्थित हो उन्होंने कहा—"मैं आपका भानजा मल्लवादी हूं और

आपकी सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए प्रतिमल्ल के रूप में उपस्थित हुआ हूं ।[1]

दोनों पक्षों में से जो भी पक्ष शास्त्रार्थ में पराजित हो जायगा उसे वल्लभी राज्य की सीमा से निष्काषित कर दिया जायगा, इस शर्त को दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ ।

किशोर मुनि मल्ल द्वारा प्रस्तुत किये गये अकाट्य तर्कों के समक्ष वह लब्ध प्रतिष्ठ बौद्ध तार्किक हतप्रभ हो गया ।[2]

दिन भर शास्त्रार्थ चला । सांध्यवेला सन्निकट देखकर शिलादित्य ने शास्त्रार्थ को दूसरे दिन के लिये स्थगित कर सभा विसर्जित की ।

दूसरे दिन यथा समय शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ । बौद्धानन्द ने अपना पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा :—

"आत्मा क्षणिक है, क्षण विध्वंसी है, वह शाश्वत नहीं, अजर अमर नहीं । क्योंकि संसार में जितनी भी वस्तुएं दिखती हैं, वे सब विनाशशील हैं, क्षण विध्वंसी हैं, उन सबका विनाश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन स्पष्टतः परिलक्षित है । जब संसार की सब वस्तुएं विनाशशील हैं, क्षण विध्वंसी हैं, संसार की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं, अमर नहीं तो इससे यही प्रमाणित होता है कि आत्मा भी क्षणविध्वंसी है । संसार में जब कि कोई वस्तु शाश्वत नहीं तो आत्मा संसार के क्षण विध्वंसी विनाशशील स्वभाव के विपरीत शाश्वत अथवा अजर अमर कैसे हो सकती है ।"

किशोर मुनि मल्ल ने उत्तर देते हुए कहा :—"महाराज ! कल जिस बौद्धानन्द नामक वादी ने राज्यसभा में शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया था, उसी बौद्धानन्द वादी को यहां उपस्थित किया जाय । मैं उसी बौद्धानन्द को आपके समक्ष वाद में पराजित करना चाहता हूं । कल वाले बौद्धानन्द के स्थान पर आये हुए इन नये छद्म नामधारी बौद्धानन्द से कहा जाय कि वह कल वाले बौद्धानन्द को शीघ्रातिशीघ्र राज्य सभा में उपस्थित करे । राजन् ! इसके साथ ही मेरा यह भी निवेदन है कि उन कल वाले बौद्धानन्द के यहां उपस्थित हो जाने पर आज यहां वाद के लिए उपस्थित

---

[1] बौद्धैर्मुधा जगज्जग्धं, प्रतिमल्लोऽहमुत्थितः ।
अप्रमादी मल्लवादी, त्वदीयो भगिनीसुतः ॥४६॥

[2] शिलादित्यनृपोपान्ते बौद्धाचार्येण वाग्मिना ।
वादिवृन्दारकश्चक्रे तर्कवर्करमुल्बणम् ॥४७॥
(सिंधी जैन ज्ञानपीठ, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन से प्रकाशित प्रबन्धकोश, पृष्ठ २३)

मेरे इन पूज्य बौद्धानन्द को राज्यसभा के सभ्यों की वंचना करने के अपराध में दंडित भी किया जाय।"

बौद्धानन्द ने कहा :—"महाराज ! आपका वर्षों का जाना पहिचाना बौद्धानन्द मैं ही तो हूं।"

तत्क्षण मुनि मल्ल ने कहा :—"महाराज ! मैं इनसे यही कहलवाना चाहता था। जो कार्य मुझे करना चाहिये था, वह इन्होंने स्वयं कर दिया है। बौद्धानन्द ने अभी अपना पूर्व पक्ष रखते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'आत्मा क्षण विध्वंसी है। इस दृष्यमान जगत में शाश्वत नाम की कोई वस्तु नहीं।' इसके अनुसार तो कल जो बौद्धानन्द मेरे साथ शास्त्रार्थ कर रहे थे क्षण विध्वंसी होने से वे कल ही ध्वंस हो गये। अतः इस समय जो बोल रहे हैं वे कल वाले बौद्धानन्द नहीं, अपितु कोई अन्य हैं।

अब ये भरी सभा में जो यह कह रहे हैं कि ये ही हैं वे कल वाले बौद्धानन्द। तो ऐसी दशा में इनके इन दो परस्पर विरोधी वक्तव्यों में से कौन सा वक्तव्य सच है और कौनसा झूठ। यदि इनके इस दूसरे कथन को सत्य मान लिया जाय कि ये वे ही कल वाले वौद्धानन्द हैं तो इनके द्वारा रखा गया इनका यह पूर्वपक्ष कि "आत्मा भी क्षण विध्वंसी है" स्वतः ही खण्डित हो जाता है।

अनात्मवादपरक पूर्वपक्ष इनके स्वयं के धर्मशास्त्रों से भी असत्य सिद्ध होता है। बुद्धप्रणीत इनके आगमों में एक आख्यान इस प्रकार का हैं :—

"एक शान्त, दान्त, सर्वभूतानुकम्पी अतिवृद्ध शाक्य भिक्षु अपने शिष्यवृन्द के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर विहार कर रहे थे। विचरण करते हुए वे स्थविर जिस समय एक वन में पहुंचे, उस समय उनके नग्न पांव में एक तीक्ष्ण कंटक धँस गया। शूल के कारण स्थविर को पीड़ा होने लगी। एक चतुर शिष्य ने बड़े मनोयोगपूर्वक उस कांटे को निकाला और इस प्रकार उन महास्थविर की पीड़ा शान्त हुई। वे पुनः पदयात्रा करने लगे।

एक मेधावी शिष्य ने उन महास्थविर से प्रश्न किया—"भगवन् ! आप तथागत प्रणीत सिद्धान्तों का त्रिकरण एवं त्रियोग से अक्षरशः पालन करते हैं। समस्त भूतसंघ को आत्मवत् समझते हुए सदा प्राणिमात्र के साथ अनन्य आत्मीय के समान व्यवहार करते हैं। पूज्यपाद ! आप जैसे शान्त-दान्त-निष्पाप विश्वबन्धु महान् सन्त के पैर में यह कांटा किस कारण चुभ गया। हम सब को बड़ा आश्चर्य हो रहा है ? अकारण करुणाकर ! आप कृपाकर हम सब शिष्यों की इस जिज्ञासा को शान्त कीजिये।"

उन स्थविर शाक्याचार्य ने अपने शिष्यों की जिज्ञासा का शमन करते हुए कहा :—

इतः एकनवतिः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ।।

हे भिक्षुओं ! आज से १९० कल्प पूर्व मेरे द्वारा प्रक्षिप्त एक शक्ति के प्रहार से एक पुरुष मर गया था । क्रमशः पतले पड़ते गये उस दुष्कर्म के परिणाम स्वरूप आज मेरा पैर कांटे से बिंध गया है ।"

तो बौद्धानन्द के धर्मशास्त्रों में उल्लिखित यह कथानक स्पष्ट बता रहा है कि एक आत्मा ने १९० कल्प पूर्व जो पापकर्म किया उसका फल १९० कल्प पश्चात् उसी आत्मा को भोगना पड़ा । इस तरह आत्मा का अनवच्छिन्न अस्तित्व इस कथानक से सिद्ध होता है ।

इस आख्यान के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के प्रवर्तक तथागत बुद्ध तथा अन्य। बुद्धों के अनेक पूर्व जन्मों के चरित्र बौद्ध धर्म के आगमग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें स्पष्ट उल्लेख है कि सुदीर्घ अतीत में बोधिसत्व (बुद्ध का जीव) कबूतर था, अमुक बुद्ध के जीव बोधिसत्व ने अतीव प्राचीनकाल में अमुक-अमुक प्रकार की साधना की । बौद्ध आगमों में उल्लिखित इन सब आख्यानों से न केवल आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध होता है किन्तु यह भी सत्य प्रकट होता है कि आत्मा वस्तुतः अजर-अमर है, शाश्वत अविनाशी तत्व है न कि क्षणविध्वंसी ।"

अपने वक्तव्य का निष्कर्ष के रूप में उपसंहार करते हुए मुनि मल्ल ने कहा—"इस प्रकार मैं ही कल वाला बौद्धानन्द हूं, इस कथन से भी और तथागत बुद्ध द्वारा प्रणीत बौद्ध आगमों से भी आत्मा क्षणविध्वंसी है, यह पक्ष स्वतः निरस्त हो जाता है ।" सांध्य वेला हो जाने से शास्त्रार्थ अगले दिन के लिए स्थगित हो गया ।

इधर वल्लभी के राजपथों पर एकत्रित जन समूह मुनि मल्ल के वादकौशल की सराहना देर रात तक करते रहे और उधर बौद्धाचार्य बौद्धानन्द अपने बौद्ध-विहार में रात भर बड़े-बड़े वाद ग्रंथों को देखने में व्यस्त रहे ।

समय पर तीसरे दिन शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ जो चौथे-पांचवें और इस प्रकार पूरे ६ मास तक चलता रहा ।

अन्ततोगत्वा छः मास पूर्ण होने पर दूसरे दिन शास्त्रार्थ का निर्णय सुनाने व विजयपत्र प्रदान किये जाने की घोषणा की गई ।

दूसरे दिन मुनि मल्ल राज्यसभा में उपस्थित हुए । पर आचार्य बौद्धानन्द अनुपस्थित थे । मुनि मल्ल विजयी घोषित किये गये । जब विजय-पत्र देने का

अवसर आया तो एक सभ्य ने कहा कि विजय-पत्र आचार्य बौद्धानन्द की उपस्थिति में दिया जाय। इस पर महाराज शिलादित्य ने बौद्धाचार्य को ससम्मान राज्यसभा में लाने हेतु राजपुरुषों को एवं कुछ विद्वानों को बौद्ध-मठ में भेजा। पर बौद्ध संघाराम बंद मिला।

पुनः पुनः आग्रह करने पर भी संघाराम के द्वार जब नहीं खोले गये तो राजपुरुष लौट आये एवं इससे महाराज शिलादित्य को अवगत करा दिया। यह जानकर शिलादित्य कुछ क्षण के लिये विचार मग्न हो गये। उन्हें विचार मग्न देख मुनि मल्ल ने कहा—"राजन्! वस्तुस्थिति तो यह है कि वे बौद्धाचार्य अपनी पराजय के शोक को सहन नहीं कर सके हैं और शोकातिरेक वशात् उनका देहांत हो गया है।"[1]

यह सुनकर महाराज शिलादित्य राजवैद्य एवं अन्य उच्चाधिकारियों के साथ बौद्ध संघाराम गये। महाराज शिलादित्य के पहुंचते ही बौद्ध भिक्षुओं ने संघाराम के कपाट खोल दिये। शिलादित्य ने बौद्धाचार्य के कक्ष में प्रवेश कर देखा कि आचार्य बौद्धानन्द निष्प्राण पड़े हुए हैं। एक वृहदाकार ग्रन्थ उनके दक्षिण-पार्श्व में खुला पड़ा है और उनके सिरहाने की ओर तथा दोनों पार्श्वों में ग्रन्थों का अम्बार लगा है।

महाराज शिलादित्य ने राजवैद्य को उन्हें देखने का आदेश दिया। राजवैद्य ने उनका निरीक्षण व परीक्षण कर निवेदन किया—"महाराज! अत्यधिक चिन्ता एवं शोक के कारण ये अपनी इहलीला समाप्त कर चुके हैं।" महाराज शिलादित्य

---

[1] मल्लवादिनि जल्पाके, नयचक्रबलोल्वणे।
हृदये हारयामास षण्मासांते स शाक्यराट् ॥४८॥
षण्मासांतनिशायां स, खं निशांतमुपेयिवान्।
तर्कपुस्तकमाकृष्य, कोशात्किंचिदवाचयत् ॥४६॥
चिन्ताचक्रहते चित्ते, नार्थास्तान्धर्तुमीश्वरः।
बौद्धः स चिन्तयामास, प्रातस्तेजोवधो मम ॥५०॥
श्वेताम्बरस्फुलिंगस्य किंचिदन्यदहो महाः।
निर्वासयिष्यंते ऽमी, हा! बौद्धा साम्राज्यशालिनः ॥५१॥
इति दुःखौघसंघट्टाद्विदद्रे तस्य हृत्क्षणात्।
नृपाह्वानं समायातं, प्रातस्तस्य द्रुतम् द्रुतम् ॥५३॥
नोद्घाटयन्ति तच्छिष्या, गृहद्वारं वराककाः।
मन्दो गुरुनाद्यभूपसभामेतेति भाषिणः ॥५४॥
तद्गत्वा तत्र तैरुक्तं, श्रुत्वा तन्मल्ल उल्लसन्।
अवोचच्च शिलादित्यं मृतोऽसौ शाक्यराट् शुचा ॥५५॥

राज्यसभा में लौट गये। उन्होंने विजयी मल्लवादी महामुनि को अपना गुरु बनाया और बौद्ध भिक्षुओं को शास्त्रार्थ की शर्त की अनुपूर्ति में वल्लभी राज्य से निर्वासित करने का आदेश दिया। उसी समय महाराज शिलादित्य ने वल्लभी राज्य में जैन साधु-साध्वियों के यथेष्ठ विहार की छूट देते हुए अपने अमात्यों को आदेश दिया कि वे अन्य राज्यों में विचरण करने वाले जैन साधुओं से वल्लभी राज्य में विचरण करने के लिये प्रार्थना करें। शत्रुन्जय तीर्थ भी पुनः जैन संघ के अधिकार में दे दिया गया।[1]

इस तरह महान् प्रभावक महावादी मल्लमुनि के प्रयत्नों से पुनः जैन साधु-साध्वीगण वल्लभी राज्य में यथेच्छ सर्वत्र विचरण कर धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे।

आचार्य मल्लवादी के आचार्यकाल में जैनधर्म की उल्लेखनीय प्रगति हुई। वल्लभी राज्य में लुप्तप्राय जैनसंघ को उन्होंने पुनर्जीवित किया। इस धर्मप्रभावना का पूरा श्रेय मल्लवादी को ही प्राप्त हुआ क्योंकि उन्हीं के अप्रतिम वाद कौशल, तपस्या एवं त्याग से वल्लभी राज्य में जैनसंघ को अपना खोया हुआ स्थान प्राप्त करने के साथ ही साथ अपनी प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

कालनिर्णायक ऐतिहासिक प्रमाण

आचार्य मल्लवादी विक्रम की छठी शताब्दी के एक महान् प्रभावक आचार्य थे, एतद्विषयक ऐतिहासिक प्रमाण जैन वांग्मय में उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :—

महाराजा शिलादित्य के राज्यकाल में वल्लभी नगरी में काकू नामक एक वैश्य रहता था। अपने प्रारम्भिक जीवन में वह बड़ा ही दीन, हीन एवं निर्धन था अतः जनसाधारण में वह रंक नाम से प्रसिद्ध हो गया। संयोगवशात् कालान्तर में वह अपरिमित धन-सम्पत्ति का स्वामी बन गया और वह वल्लभी राज्य का सबसे

---

[1] स्वयं गत्वा शिलादित्यस्तं तथास्थमलोकत।
बौद्धान्प्रावासयद्देशाद्धिक् प्रतिष्ठाच्युतं नरम् ॥५६॥
मल्लवादिनमाचार्यं, कृत्वा वागीश्वरम् गुरुम्।
विदेशेभ्यो जैनमुनीन् सर्वानाहूहवन्नृपः ॥५७॥
शत्रुञ्जये जिनाधीशं भवपञ्जरभञ्जनम्।
कृत्वा श्वेताम्बरायत्तं, यात्रां प्रावर्तयन्नृपः ॥५८॥

(प्रबन्धकोश, पृष्ठ २३)

अवसर आया तो एक सभ्य ने कहा कि विजय-पत्र आचार्य बौद्धानन्द की उपस्थिति में दिया जाय। इस पर महाराज शिलादित्य ने बौद्धाचार्य को ससम्मान राज्यसभा में लाने हेतु राजपुरुषों को एवं कुछ विद्वानों को बौद्ध-मठ में भेजा। पर बौद्ध संघाराम बंद मिला।

पुनः पुनः आग्रह करने पर भी संघाराम के द्वार जब नहीं खोले गये तो राजपुरुष लौट आये एवं इससे महाराज शिलादित्य को अवगत करा दिया। यह जानकर शिलादित्य कुछ क्षण के लिये विचार मग्न हो गये। उन्हें विचार मग्न देख मुनि मल्ल ने कहा—"राजन्! वस्तुस्थिति तो यह है कि वे बौद्धाचार्य अपनी पराजय के शोक को सहन नहीं कर सके हैं और शोकातिरेक वशात् उनका देहांत हो गया है।"[1]

यह सुनकर महाराज शिलादित्य राजवैद्य एवं अन्य उच्चाधिकारियों के साथ बौद्ध संघाराम गये। महाराज शिलादित्य के पहुंचते ही वौद्ध भिक्षुओं ने संघाराम के कपाट खोल दिये। शिलादित्य ने बौद्धाचार्य के कक्ष में प्रवेश कर देखा कि आचार्य वौद्धानन्द निष्प्राण पड़े हुए हैं। एक वृहदाकार ग्रन्थ उनके दक्षिण-पार्श्व में खुला पड़ा है और उनके सिरहाने की ओर तथा दोनों पार्श्वों में ग्रन्थों का अम्वार लगा है।

महाराज शिलादित्य ने राजवैद्य को उन्हें देखने का आदेश दिया। राजवैद्य ने उनका निरीक्षण व परीक्षण कर निवेदन किया—"महाराज! अत्यधिक चिन्ता एवं शोक के कारण ये अपनी इहलीला समाप्त कर चुके हैं।" महाराज शिलादित्य

---

[1] मल्लवादिनि जल्पाके, नयचक्रवलोल्वणे।
हृदये हारयामास षण्मासांते स शाक्यराट् ॥४८॥

षण्मासांतनिशायां स, खं निशांतमुपेयिवान्।
तर्कपुस्तकमाकृष्य, कोशात्किंचिदवाचयत् ॥४९॥

चिन्ताचक्रहते चित्ते, नार्थास्तान्धर्तुमीश्वरः।
वौद्धः स चिन्तयामास, प्रातस्तेजोवधो मम ॥५०॥

श्वेताम्बरस्फुलिंगस्य किंचिदन्यदहो महाः।
निर्वासयिष्यंते ऽमी, हा! वौद्धा साम्राज्यशालिनः ॥५१॥

इति दुःखौघसंघट्टाद्विदद्रे तस्य हृत्क्षणात्।
नृपाह्वानं समायातं, प्रातस्तस्य द्रुतम् द्रुतम् ॥५३॥

नोद्घाटयन्ति तच्छिष्या, गृहद्वारं वराककाः।
मन्दो गुरुनाद्यभूपसभामेतेति भाषिणः ॥५४॥

तद्गत्वा तत्र तैरुक्तं, श्रुत्वा तन्मल्ल उल्लसन्।
अवोचच्च शिलादित्यं मृतोऽसौ शाक्यराट् शुचा ॥५५॥

"यह तो समय ही बतायेगा कि किसका हठ सफल सिद्ध होता है।" यह कहती हुई राजकुमारी क्रुद्ध होकर अपने राजप्रासाद की ओर लौट गई।

राजपुत्री ने अपनी माता के पास जाकर रंकपुत्री के पास देखी गई कंघी को येन केन प्रकारेण मंगवाने का हठ किया। माता ने बहुत समझाया, कहा— "बेटी ! तुझे मैं दूसरी कंघी बनवा दूंगी, एक नहीं सौ, उस कंघी से भी उत्कृष्ट कोटि की। दूसरे की वस्तु पर हाथ डालना हमारे राजधर्म के विपरीत है। वह कंघी उस श्रेष्ठिपुत्री की है। वह अपनी वस्तु किसी को दे अथवा नहीं दे, यह उसी की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार का अन्यायपूर्ण हठ एक राजपुत्री को शोभा नहीं देता।"

पर राजपुत्री ने अपना हठ नहीं छोड़ा और वह हठात् अपनी माता के समक्ष यह प्रतिज्ञा कर बैठी—वह की वह कंघी जब तक मेरे हाथ में नहीं आ जाएगी, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी।"

बात महाराजा शिलादित्य के पास पहुंची। शिलादित्य ने भी अन्तःपुर में पहुंच कर अपनी पुत्री को समझाने में किसी प्रकार की कोरकसर नहीं रखी। व्यापारियों को बुलवा कर बहुमूल्य हीरों और मणियों से जटित सोने की कंघियों का ढेर राजपुत्री के समक्ष लगवा दिया। पर राजकुमारी अपने हठ से टस से मस तक नहीं हुई और बोली—"मैं तो उसी कंघी को लेकर अन्न-जल ग्रहण करूंगी, अन्यथा निर्जल और निराहार रहकर प्राणों का परित्याग कर दूंगी।"

पुत्री के हठ के आगे शिलादित्य का पितृहृदय पिघल गया। उसने प्रधानामात्य को आदेश दिया कि वह रंकश्रेष्ठि से उसके मुंहमांगे मूल्य पर वह कंघी प्राप्त करे। प्रधानामात्य ने रंकश्रेष्ठि के पास जाकर कंघी प्राप्त करने के सभी प्रकार के प्रयास किये किन्तु रंकश्रेष्ठि की पुत्री के हठ के समक्ष उसके सभी प्रयास विफल रहे, शाम, दाम, और भेद इन सभी प्रकार के उपायों के निष्फल होने पर प्रधानामात्य ने शिलादित्य की मौन सम्मति से दण्ड का सम्बल ग्रहण किया और बल प्रयोग से वह कंघी प्राप्त कर राजकुमारी को दे दी गई।

राजकुमारी ने तो कंघी प्राप्त होते ही अपने हठ की पूर्ति हो जाने के कारण अन्न-जल ग्रहण कर लिया किन्तु रंकश्रेष्ठि और उसकी पुत्री के हृदय पर इस अन्यायपूर्ण घटना से गहरा आघात पहुंचा। अपने अर्थबल पर रंकश्रेष्ठि ने राजा द्वारा किये गये इस अत्याचार का प्रतिशोध लेने की ठानी।

बड़ा श्रीमन्त समझा जाने लगा। पर था वह अत्यन्त कृपण। न तो वह अच्छा खाता था, न अच्छा पहनता ही था। यही कारण था कि सर्वाधिक सम्पत्तिशाली हो जाने पर भी लोग उसे उसके पूर्व के रंक नाम से ही पुकारते थे। उस रंक श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री की मैत्री शिलादित्य की राजपुत्री से हो गई। वे परस्पर एक दूसरी के यहां आती जातीं और हास्य-विनोद करती रहतीं। राजपुत्री ने एक दिन रंकपुत्री के पास एक अनूठी कंघी देखी। कंघी स्वर्णनिर्मित, रत्नजटित तथा इतनी अधिक सुन्दर थी कि वह राजकुमारी के चित्त पर चढ़ गई। राजपुत्री ने रंकपुत्री की उस कंघी की भूरि-भूरि सराहना करते हुए कहा—"सखि ! यह कंघी मुझे बहुत अच्छी लगी है। यह कंघी मुझे दे दो।"

रंकपुत्री ने उत्तर दिया—"यह कंघी मुझे अधिक प्रिय है, इसे तो मैं नहीं दूंगी।"

राजकुमारी ने मचलते हुए कहा—"नहीं, मैं तो यही कंघी लूंगी। जिस कलाकार ने इसे बनाया है, उससे तुम और बनवा लेना।"

"यह कंघी तो मैं नहीं दूंगी। आप राजपुत्री हैं, महाराज को कह कर आप इससे भी अच्छी बनवा सकती हैं, वल्लभी राज्य में एक से एक उच्चकोटि के कलाकार इसके बनाने वाले हैं।" रंकपुत्री ने उत्तर दिया।

राजकुमारी ने आदेशात्मक स्वर में कहा—"देखो सखि ! अब भी समय है। इसी समय यदि यह कंघी तुम मुझे देती हो तो मैं तुम्हें इसके बदले मुंहमांगा मूल्य देने को समुद्यत हूं। पर यदि तुम अपने हठ पर अड़ी रही तो मुझे भी हठाग्रह करना पड़ेगा। मैंने यदि हठ कर लिया तो तुम्हें इस कंघी से तो हाथ धोना ही पड़ेगा, बदले में तुम्हें एक फूटी कौड़ी भी प्राप्त नहीं होगी।"

रंकपुत्री ने कहा—"यदि बाड़ ही खेत को खाने लगेगी तो देश चौपट हो जायगा। मैंने आपके साथ मैत्री की, यह मेरी अपने जीवन की सबसे बड़ी भूल थी। नीति में कहा गया है :—

> नदीनां शस्त्रपाणीनां, नखीनां शृंगिणां तथा।
> विश्वासो नैव कर्त्तव्यो स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥

मैंने इस नीतिवाक्य की अवहेलना कर बड़ी भारी भूल की। मैं अपनी इस भूल का दण्ड भोगने के लिये सहर्ष समुद्यत हूं। आप भी सुन लीजिए—"यह कंघी मेरी अपनी है, इस पर मेरा न्यायसंगत स्वामित्व है। यह कंघी मैं स्वेच्छा से किसी को नहीं दूंगी। चाहे इसका कुछ भी परिणाम मुझे क्यों न भुगतना पड़े।"

ततोऽथाकृष्य वणिजा, प्रक्षिप्ताश्च रणे शकाः ।
तृष्णाया ते स्वयं मम्रुर्हता व्याधिर्महानयम् ।।६५।।

आचार्य मल्लवादी किस शताब्दी के आचार्य थे, उनका बौद्ध आचार्य बौद्धानन्द के साथ किस समय शास्त्रार्थ हुआ और वल्लभी का भंग किस सम्वत् में हुआ, इन सब ऐतिहासिक तथ्यों को अन्धेरे से प्रकाश में लाने वाला एक श्लोक प्रबन्धकोश में विद्यमान है, जो इस प्रकार है :—

विक्रमादित्यभूपालात्पंचर्षित्रिक वत्सरे ।
जातोऽयं वल्लभीभंगो, ज्ञानिनः प्रथमं ययुः ।।६६।।

अर्थात्—विक्रम संवत् ५७३ में वल्लभी का यह पतन अथवा भंग हुआ। अपने ज्ञान बल से ज्ञानियों को इस घटना का पूर्वाभास हो गया और वे वल्लभी के इस पतन से पूर्व ही वल्लभी छोड़कर अन्यत्र चले गये।

वस्तुतः यह तथ्य विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों से परिपुष्ट है। वल्लभी भंग की यह घटना विक्रम सं. ५७३ तदनुसार वीर नि. सं. १०४३ की है। युगप्रधानाचार्य पट्टावली के अनुसार २६वें युगप्रधानाचार्य हारिल का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि. सं. १००० से १०५५ तक माना गया है। 'कुवलयमाला' के उद्धरणों के साथ यह भी पहले बताया जा चुका है कि आचार्य हारिल के युगप्रधानाचार्यकाल के पूर्वार्द्ध में हूणराज तोरमाण भारतवर्ष की उत्तरी सीमा में काफी अन्दर तक के भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था और चन्द्रभागा नदी के तटवर्ती पर्वतिका नाम के नगर को अपनी राजधानी बनाकर शासन संचालन कर रहा था। पर्वतिका नगरी में तोरमाण ने आचार्य हारिल को अपना गुरु बनाया।

कुवलयमाला के इस उल्लेख से यह तो सिद्ध हो जाता है कि तोरमाण आचार्य हारिल का समकालीन महत्वाकांक्षी विदेशी आक्रान्ता था और उसने वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के तृतीय दशक के समाप्त होते-होते भारत की उत्तरी सीमा के अधिकांश भूभाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। इसके पश्चात् भारत विजय की अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये वह आगे बढ़ा और कच्छ विजय के पश्चात् उसकी मुठभेड़ शकों से विक्रम सं. ५७३ तदनुसार वीर नि० सं० १०४३ में हुई और उस युद्ध में हूणराज तोरमाण ने शकराज और उसकी सेना को हरा कर वल्लभी के राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। भारत के प्राचीन इतिहास के पर्यालोचन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि इतिहासज्ञों के अभिमतानुसार गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजस्थान और उज्जयिनी पर भी हूणराज तोरमाण ने वीर निर्वाण की ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

वल्लभी भंग

एक घोर अंधेरी रात में वह वल्लभी से प्रच्छन्नरूपेण निकला। वह बड़ी तीव्र गति से चलते-चलते शकों के राज्य में पहुंचा। शकराज के समक्ष उपस्थित हो रंकश्रेष्ठि ने अनेक अनमोल रत्न शकराज को भेंट किये। विपुल स्वर्ण-राशि का प्रलोभन दे रंकश्रेष्ठि ने शकराज को वल्लभी पर आक्रमण करने के लिये राजी किया। स्वर्ण के लोभ में आकर शकराज ने अपने सैन्यबल के साथ वल्लभी की ओर प्रयाण किया।

निकट भविष्य में ही वल्लभी नगरी पर घोर संकट आने वाला है, इस आसन्नसंकट का ज्ञानबल से आभास होते ही मल्लवादी ने अपने श्रमण संघ के साथ वल्लभी से विहार कर अन्य राज्यों में विचरण प्रारम्भ कर दिया।

वल्लभी पहुंच कर एक दिन अचानक शकराज ने नगरी पर भयङ्कर आक्रमण कर दिया। इधर रंकश्रेष्ठि ने महाराजा शिलादित्य के अनुचरों को स्वर्ण देकर अपने स्वामी के साथ विश्वासघात करने के लिये प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप शिलादित्य एकाकी ही शकों के सैन्य से घिर गया और रणक्षेत्र में शकों द्वारा मार दिया गया। शिलादित्य के मारे जाने पर वल्लभी की सेना के पैर उखड़ गये। शकों ने वल्लभी को जी भर कर लूटा और भीषण नरसंहार के साथ-साथ वल्लभी को एक प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वल्लभी भंग का जो चित्रण प्रबन्धकोश में किया गया है, वह इस प्रकार है :—

वंचयित्वा कार्पटिकं, रंकः सोऽभून्महाधनः।
तत्पुत्र्या राजपुत्र्याश्च, सख्यमासीत्परस्परम् ।।६१।।

हैमीं कंकतिकामेकां, दिव्यरत्नविभूषिताम्।
रंकपुत्रीकरे दृष्ट्वा, याचते स्म नृपात्मजा ।।६२।।

तां न दत्ते पुनः रंको, राजा तं याचते बलात्।
तेनैव मत्सरेणासौ म्लेच्छ सैन्यमुपानयत् ।।६३।।

भग्नायुर्वल्लभी तेन, संजातमसमंजसम्।
शिलादित्यः क्षयं नीतो, वणिजा स्फीतऋद्धिना ।।६४।।

उन्हीं दिनों वल्लभी की ओर बढ़ते हुए हूणराज तोरमाण के साथ उन शकों का युद्ध हुआ। हूणों द्वारा उस शकराज और उसकी सेना का सम्भवतः पूर्णरूपेण संहार कर डाला गया। इस तथ्य का संकेत प्रबन्धकोश के निम्नलिखित श्लोक से मिलता है :—

भगवान् महावीर के २८वें पट्टधर वीरभद्र तथा २९वें युगप्रधानाचार्य हारिल सूरि के समकालीन प्रमुख ग्रन्थकार

मल्लवादी :—जैसा कि पहले बताया जा चुका है आ० वीरभद्र और हारिलसूरि के समय में उनके समसामयिक महान् तार्किक आचार्य मल्लवादी हुए। आ० मल्लवादी ने नयचक्र नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने सन्मति-तर्क नामक ग्रन्थ की टीका की रचना भी की थी किन्तु वर्तमान में वह टीका उपलब्ध नहीं है।

चन्द्रर्षि महत्तर :— इन्होंने पंच संग्रह (सटीक) नामक कर्मग्रन्थ के प्रकरण की रचना की। इससे अधिक इनके बारे से कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनके माता, पिता, गुरु, नगर आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

संघदासगरिण वाचक :—कथा-साहित्य की प्राचीनतम कृति 'वसुदेवहिंडी' के रचनाकार संघदासगणि वाचक और धर्मसेनगरिण का नाम कथासाहित्य के निर्माताओं में सर्वप्रथम लिया जाता है।

इस ग्रन्थ में श्री कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण का बड़ी ही प्रभावकारी रुचिकर शैली में विस्तृत वृतान्त दिया गया है। वसुदेव के भ्रमण (हिण्डन) का वृतान्त दिये जाने के कारण इस ग्रन्थ का नाम "वसुदेव-हिण्डी" रखा गया है।

इसके दो खण्ड हैं। ग्यारह हजार श्लोक प्रमाण २९ लम्भकात्मक प्रथम खण्ड के कर्ता संघदासगणि वाचक हैं। द्वितीय खण्ड के रचनाकार धर्मसेनगरिण ने सत्रह हजार श्लोक प्रमाण ७१ लम्भकों में इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड को पूर्ण किया है।

जिनदासगरिण महत्तर ने आवश्यक चूर्णि में वसुदेव हिण्डी का उल्लेख किया है। नन्दिसूत्र-चूर्णि की प्रशस्ति के उल्लेखानुसार जिनदासगरिण महत्तर ने शक सं. ५९८ तदनुसार वीर नि. सं. १२०३ में नन्दिचूर्णि की रचना सम्पूर्ण की।

३०वें युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमण ने अपनी रचना विशेषणवती में वसुदेव हिण्डी का उल्लेख किया है।

जिनभद्रगणि का समय दुष्षमा समणसंघथयं के अनुसार वीर नि. सं. १०५५ से १११५ तक (६० वर्ष) का माना गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है

कि वसुदेव हिण्डी के रचनाकार संघदासगणि और धर्मसेनगणि २६वें युगप्रधानाचार्य हारिल्लसूरि के समकालीन आचार्य थे।

वसुदेव हिंडी न केवल कथा साहित्य की दृष्टि से अपितु धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टियों से बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है।

कथाओं के माध्यम से इसमें स्थान-स्थान पर धर्म और नीति का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है। हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश के प्रमुख महापुरुषों के जीवनवृत्त के साथ-साथ इस ग्रन्थ में अनेक अन्तर्कथाएं भी दी गई हैं, जो बड़ी ही रोचक हैं।

वेदों की उत्पत्ति और विदेशों के साथ भारत के व्यापार का भी इसमें वर्णन किया गया है। प्रमुख रूपेण इस गद्यात्मक ग्रन्थ में सभी चित्रण बड़े सजीव, सहज-स्वाभाविक, सम्मोहक एवं सभी रसों से ओत-प्रोत हैं। घटनाओं के चित्रण तो ऐसे लोमहर्षक हैं कि उनको पढ़ते समय रोमावलि बारम्बार अनजाने में ही अंचित हो उठती है।

वसुदेव हिण्डी को पढ़ने से पाठक पर स्पष्ट रूप से यह छाप अंकित होती है कि वस्तुतः संघदास और धर्मसेन दोनों गणिवर वज्रलेखनी के धनी थे और वे सभी विषयों के पारदृश्वा प्रकाण्ड पण्डित थे।

"सह नौ वीर्यं करवावहे"—इस आप्त-वचन की अक्षरशः पालना करते हुए इन दोनों गणियों ने संयुक्तरूपेण पंचकल्पभाष्य की रचना की।

भाष्य युग

वर्तमान में उपलब्ध भाष्यों के पर्यालोचन के पश्चात् संघदास क्षमाश्रमण और धर्मसेन गणि को भाष्ययुग का प्रवर्तक कहा जा सकता है।

आगमेतर जैन वांग्मय एवं जैन धर्म के इतिहास के गवेषणात्मक अध्ययन से एक और तथ्य प्रकाश में आया है कि अन्तिम एक पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल वीर नि. सं. १००० तक चतुर्विध जैनसंघ में केवल आगमिक विधि-विधान ही सर्वोपरि और सर्वमान्य रहे। यही स्थिति कुछ न्यूनाधिक परिमाण में युगप्रधानाचार्य हारिल के प्रारम्भिक युगप्रधानाचार्य काल में भी रही।

किन्तु आचार्य हारिल के युगप्रधानाचार्य काल के लगभग दो दशक व्यतीत होने के अनन्तर उस स्थिति में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। श्रावकाचार और

श्रमणाचार में शनैः-शनैः शैथिल्य घर करने लगा। श्रमणों के बहुसंख्यक वर्ग में उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यापक होते जा रहे शैथिल्य की पुष्टि हेतु आगमों की विशद् व्याख्या के नाम पर नव्य नूतन आगमिक व्याख्या ग्रन्थों का भाष्य आदि के रूप में प्रणयन प्रारम्भ किया गया। उन आगमिक ग्रन्थों में अपवाद मार्ग के नाम पर शैथिल्य के प्रतीक ऐसे-ऐसे नये-नये विधि-विधानों का समावेश किया गया, जिनका मूल आगमों में कहीं कोई उल्लेख की बात तो दूर, संकेत तक नहीं था।

हारिल सूरि के युगप्रधानाचार्य काल का अन्तिम चरण वस्तुतः चैत्यवासियों के उत्कर्ष का समय था। चैत्यवासियों ने जनमन को आकर्षित करने के लिये अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के मूल स्वरूप में धर्म के नाम पर बाह्याडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों, नये-नये आकर्षक विधि-विधानों को प्रधानता देकर जैन धर्म के मूल स्वरूप को ही बदल दिया। यदि यह कहा जाय कि चैत्यवासियों ने जैन धर्म के मूल आध्यात्मिक स्वरूप को विकृत कर दिया तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अपने शिथिलाचार को समयोचित सिद्ध करने एवं अपनी अकर्मण्यता को लोकदृष्टि से छुपाने के अभिप्राय से चैत्यवासियों द्वारा आविष्कृत नये-नये आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों ने न केवल जनमत को ही अपनी ओर आकर्षित किया अपितु आगमानुसारी कठोर मूल श्रमणाचार की परिपालना से कतराने वाले श्रमण-श्रमणीवर्ग को भी पर्याप्त रूप में प्रभावित किया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कठोर श्रमणाचार की परिपालना में क्रियाभीरु साधारण वर्ग के अधिकांश श्रमणों एवं श्रमणियों ने अपना शेष जीवन सुखपूर्वक बिताने के लिये उस समय उत्तरोत्तर लोकप्रिय बनते जा रहे चैत्यवास का आश्रय लिया।

जो श्रमण ओजस्वी, मेधावी, विद्वान् एवं वाग्मी थे, उन्होंने चैत्यवासियों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव से अपनी-अपनी आचार्य परम्परा की रक्षा के लिये, चैत्यवासियों की ओर उमड़े हुए जनमानस को अपनी परम्परा में ही स्थिर एवं निष्ठावान् बनाये रखने के लिये चैत्यवासियों द्वारा आविष्कृत आकर्षक विधि-विधानों को थोड़ा नवीन रूप देकर अपना लिया। चैत्यवासियों के कतिपय कार्य-कलापों एवं आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों को पर्याप्त निखरे रूप में अपनाकर उन विद्वान् वाग्मी श्रमणों एवं आचार्यों ने भी आगमिक व्याख्यापरक भाष्यों आदि का निर्माण किया।

इस प्रकार के भाष्यों के अभिनव निर्माण के परिणामस्वरूप उन विद्वान् श्रमणों की परम्पराएं, चैत्यवासियों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव के उपरान्त भी कतिपय पीढ़ियों तक विभिन्न इकाइयों के रूप में न्यूनाधिक प्रभावशील भी रहीं और इस प्रकार उन्होंने येन केन प्रकारेण अपना अस्तित्व बनाये रखा। जहां तक आगमों के अति गहन, गम्भीर एवं पारिभाषिक विषय को समझने तथा हृदयंगम करने का प्रश्न है, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका साहित्य बड़ा ही

उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह तो एक निर्विवाद तथ्य है। किन्तु इसमें मूल आगमों से भिन्न अनेक मान्यताओं को कई स्थलों पर समाविष्ट कर लिया गया, जिनके कारण जैन धर्म का मूल स्वरूप ही परिवर्तित हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार हारिल सूरि के युगप्रधानाचार्य काल के उत्तरार्द्ध में मूल आगमों के स्थान पर जिस भाष्य-निर्युक्ति-चूर्णि युग का प्रादुर्भाव हुआ, उसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आगमों में प्रतिपादित मूल विधि-विधानों के सर्वोपरि सर्वमान्य स्थान को निर्युक्तियों, चूर्णियों अथवा भाष्यों ने ले लिया और इसके परिणामस्वरूप धर्म के मूल स्वरूप में ही बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया।

इतना सब कुछ होते हुए भी आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले जैन धर्म के मूल स्वरूप के पक्षपाती श्रमणों का वर्ग चाहे क्षीण रूप में ही सही पर अस्तित्व में अवश्य रहा।

भाष्य-निर्युक्ति-चूर्णि-वृत्ति आदि की प्राधान्यता के जिस युग का आरम्भ सर्व प्रथम आचार्य हारिल के युगप्रधानाचार्य काल के उत्तरार्द्ध में हुआ, उस युग का वर्चस्व उत्तरोत्तर उत्तरवर्ती काल में बढ़ता ही गया। अन्ततोगत्वा लगभग वीर निर्वाण की बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भकाल में ही श्रमणाचार, श्रावकाचार, एवं सभी प्रकार के धार्मिक कार्यकलापों से सम्बन्धित सभी विवादास्पद विषयों के निर्णय के लिए आगमों के स्थान पर भाष्यों, वृत्तियों तथा चूर्णियों को जैनसंघ का बहुत बड़ा भाग धार्मिक संविधान के रूप में मानने लगा। यह स्थिति शताब्दियों तक जैनसंघ में बहुजनसम्मत रही। मूल आगमों की भावना के प्रतिकूल नवनिर्मित भाष्य आदि आगम साहित्य में समाविष्ट किये जाते रहे अनेकानेक प्रावधानों के परिणामस्वरूप श्रमणाचार में व्यापक शैथिल्य के प्रसार के साथ-साथ धर्म के आगमिक मूल स्वरूप में भी अधिकांशतः परिवर्तन लाने का पूरा प्रयास किया गया।

इतना सब कुछ होते हुए भी आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षधर भवभीरू आत्मार्थी श्रमणों ने अल्पसंख्यक रह जाने पर भी धर्म को आडम्बरपूर्ण भौतिक परिधान पहनाने के लक्ष्य से नवनिर्मित सभी मूलागमप्रतिपन्थी प्रावधानों एवं शिथिलाचार का बड़े साहस के साथ डटकर विरोध किया। आगम प्रतिपादित विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षपाती उन साहसी श्रमणोत्तमों द्वारा उस प्रकार की संक्रान्तक स्थिति के विरुद्ध प्रकट किये गये विरोध के प्रसंग आज भी जैन वांग्मय में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उस प्रकार के विरोधों का यहां उल्लेख करना प्रासंगिक एवं आवश्यक है, अतः उनमें से कतिपय प्रमुख विरोधों का उल्लेख यहां किया जा रहा है :—

१. पहला सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख खरतर गच्छ वृहद् गुर्वावलि का है, जो इस प्रकार है :—

"ततो मुख्य सूराचार्येणोक्तम्—"ये वसतौ वसन्ति मुनयस्ते षड्-दर्शनबाह्याः प्रायेण। षड्दर्शनानीह क्षपणकजटिप्रभृतीनि"—इत्यर्थ-निर्णयाय नूतनवादस्थलपुस्तिका वाचानार्थं गृहीता करे। तस्मिन् प्रस्तावे—भाविनि भूतवदुपचारः—इति न्यायात् श्रीजिनेश्वरसूरिणा भणितम्—"श्री दुर्लभ महाराज ! युष्माकं लोके किं पूर्वपुरुषविहिता नीतिः प्रवर्तते अथवा आधुनिक पुरुषदर्शिता नूतना नीतिः ?"

ततो राज्ञा भणितम्—"अस्माकं देशे पूर्वजवर्णिता राजनीतिः प्रवर्तते नान्या।"

ततो जिनेश्वरसूरिभिरुक्तम्—"महाराज ! अस्माकं मतेऽपि यद्गणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्गः स एव प्रमाणीकर्तुं युज्यते नान्यः।"

"ततो राज्ञोक्तम्—"युक्तमेव।"

ततो जिनेश्वरसूरिभिरुक्तम्—"महाराज वयं दूरदेशादागताः, पूर्वपुरुषविरचित स्व सिद्धान्तपुस्तकवृन्दं नानीतम्। एतेषां मठेभ्यो महाराज ! यूयमानयत पूर्वपुरुषविरचितसिद्धान्तपुस्तकगण्डलकं येन मार्गामार्गनिश्चयं कुर्मः।"

ततो राज्ञा स्वपुरुषाः प्रेषिताः—शीघ्रं सिद्धान्त पुस्तकगण्डलक-मानयतः। शीघ्रमानीतम्। आनीतमात्रमेव छोटितम्। तत्र देवगुरु-प्रसादात् दशवैकालिकं चतुर्दशपूर्वधरविरचितं निर्गतम्। तस्मिन् प्रथममेवेयं गाथा निर्गता :--

अन्नट्ठं पगडं लेणं, भइज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं, इत्थीपसुविवज्जियं॥
एवं विधायां वसतौ वसन्ति साधवो न देवगृहे।
राज्ञा भावितं "युक्तमुक्तम्।"
सर्वेऽधिकारिणो विदन्ति निरुत्तरीभूता अस्माकं गुरवः।[1]......

जिस समय शिथिलाचार की पोषक एवं धर्म के मूल स्वरूप को नितान्त विकृत कर देने वाली चैत्यवासी परम्परा का भारत में चारों ओर बोलबाला था, और जिस समय विशुद्ध आगमानुसारी श्रमणाचार एवं श्रावकाचार के प्रति निष्ठा

---

[1] (क) खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि (सिंधी जैन शास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई) पृ० ३–४
(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ९२ व ९३ भी देखें।

रखने वाला साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकावर्ग उत्तरोत्तर क्षीण होते-होते नितान्त नगण्य संख्या में अवशिष्ट रह गया था, उस समय वि. सं. १०८० में महाराज दुर्लभराज की राज्यसभा में जिनेश्वरसूरि ने आगमेतर साहित्य को जैनधर्मावलम्बियों के लिए अमान्य घोषित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग तीर्थंकर प्रभु की वाणी को गणधरों ने आगमों के रूप में ग्रथित किया है और उन आगमों से चतुर्दश पूर्वधरों ने शिष्यों अथवा भव्यजनों के हित के लिये सार रूप में अर्थ निर्यूढ कर जिन आगमों का प्रणयन किया है, केवल वे आगम ही जैनधर्मावलम्बियों के लिए प्रामाणिक रूप से मान्य हैं। आगमों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ सर्वथा प्रामाणिक नहीं।

२. चैत्यवासियों के चहुंमुखी बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जिस समय यत्र-तत्र जिनगृहों-जिनमन्दिरों के निर्माण का सर्वव्यापी प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा, उस समय भी उसके विरोध में आगमों को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने वाले आत्मार्थियों ने स्पष्ट एवं ठोस शब्दों में अपना अभिमत जैनसंघ के समक्ष रखा :—

गड्डरि-पवाहओ जो, पइ नयरं दीसए बहुजणेहिं।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ॥६॥

सो होइ दव्वधम्मो, अपहाणो नेव निव्वुइं जणइ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ॥७॥

पढ़म गुणठाणे जे जीवा, चिट्ठंति तेसि सो पढ़मो।
होइ इह दव्वधम्मो, अविसुद्धो बीयनायेणं ॥१०॥

अविरइ गुणठाणाइसु, जे य ठिया तेसि भावओ बीओ।
तेण जुया ते जीवा, हुंति सबीया अओ सुद्धो ॥११॥[1]

अर्थात्—आज जो भेडचाल के समान प्रत्येक नगर में बहुत से लोगों द्वारा जिनगृहों (जिनमन्दिरों) के निर्माण करवाने आदि का कार्य किया जा रहा है, वह सूत्रविरुद्ध एवं अशुद्ध है। वस्तुतः वह तो केवल अप्रधान द्रव्यधर्म है, जो निर्वृत्ति का जनक अर्थात् मोक्षदायक नहीं है। शुद्ध धर्म तो वस्तुतः इससे भिन्न दूसरा ही है, जो प्रतिश्रोतगामियों अर्थात् भौतिक-प्रवाह के प्रतिकूल आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले महापुरुषों-तीर्थंकरों द्वारा प्रशंसित-पूजित अथवा आचरित है। प्रथम गुणस्थान (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) में जो जीव संस्थित हैं, उनके लिये यह प्रथम द्रव्यधर्म है, जो बीज न्याय-भूल न्याय अथवा बोधि (सम्यक्त्व) बीज के अभाव की दृष्टि से अविशुद्ध है। जो जीव अविरत (चौथे) गुणस्थान आदि में स्थित हैं, उनके

[1] (क) देखिये सन्देह दोहावली।
(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ १७ भी देखें।

लिए वस्तुतः भावधर्म नामक वह दूसरा धर्म ही शुद्ध धर्म है, जो कि प्रतिश्रोतगामी तीर्थंकरों द्वारा सेवित है। क्योंकि उससे युक्त जीव सबीज-बोधिबीज-सम्यक्त्व सहित होते हैं, अतः वह दूसरा भावधर्म—आध्यात्मिक धर्म ही वस्तुतः शुद्ध धर्म है—प्रशस्त धर्म है।

चैत्यवासियों के उत्कर्षकाल में धर्म के नाम पर बढ़ते हुए बाह्याडम्बर, चारों ओर प्रसृत होती हुई द्रव्यपूजा, और लोकप्रिय बनते जा रहे द्रव्यधर्म के विरुद्ध इन पंक्तियों में प्रबल विरोध प्रकट करते हुए मूल विशुद्ध जैन धर्म का, तीर्थंकरों द्वारा आचरित विशुद्ध श्रमणाचार और श्रमणोपासक परम्परा के वास्तविक स्वरूप का कैसा नितरां अतीव सहज-सुन्दर चित्रण किया गया है। यहां भौतिकता एवं आडम्बर के लिए कोई किंचित्मात्र भी स्थान नहीं, सब कुछ आध्यात्मिक ही आध्यात्मिक है। आगमों में जैन धर्म के जिस चिरन्तन शाश्वत सत्य स्वरूप का भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसी के अनुरूप इन पंक्तियों में साररूप में दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्य हारिलसूरि के युगप्रधानाचार्यकाल के उत्तरार्द्ध में ज्यों-ज्यों चैत्यवासियों का प्रचार, प्रसार, प्रभाव और प्राबल्य बढ़ता गया और उनके द्वारा धर्म के नाम पर गढ़े गये बाह्याडम्बरपूर्ण नित्य नवीन विधि-विधान—तीर्थयात्रा, जिन-मन्दिर निर्माण, जिनमन्दिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा, धूमधाम एवं आडम्बरपूर्ण ठाटबाट के साथ बलिनैवेद्यनिवेदन, पूजन, अर्चन, प्रभावना, उद्यापन आदि लोकप्रिय होते गये त्यों-त्यों जैनसंघ के अन्यान्य विभिन्न गण, गच्छ एवं आम्नाय भी उन आकर्षक बाह्याडम्बरों को अपनी-अपनी कल्पना शक्ति के अनुरूप भाष्य, वृत्ति आदि के निर्माण के माध्यम से नया रूप देकर अपनाने लगे।

इस प्रकार उन आडम्बरपूर्ण आयोजनों को अधिकाधिक आकर्षक बनाने की प्रायः समस्त जैनसंघ में होड़-सी लग गई। इस सब का परिणाम यह हुआ कि धर्म का वास्तविक पुरातन स्वरूप धूमिल हो गया, नूतन मान्यताओं एवं परम्पराओं के प्रबल प्रवाह में धर्म का मूल स्वरूप, धर्म की आध्यात्मपरक मूल मान्यताएं तिरोहित सी प्रतीत होने लगीं। आध्यात्मिकता के स्थान पर प्रभावना, प्रतिष्ठा और तीर्थयात्रा में ही धर्म की इतिश्री रह गई।

उस प्रकार के संक्रांतिकाल में धर्म के आगमानुसारी मूल की धारा पर्याप्तरूपेण क्षीण तो अवश्य हुई किन्तु अपनी मंथर गति से प्रवाहित होती रही, इसके प्रमाण प्राचीन जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं।

भाष्य-चूर्णि-वृत्ति साहित्य के उत्तरोत्तर अधिकाधिक लोकप्रिय हो जाने के उपरांत भी धर्म के मूल आध्यात्मिक स्वरूप के प्रति आस्थावान् एवं विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमणवर्ग द्वारा शिथिलाचार का, भाष्य-चूर्णि-वृत्ति

आदि साहित्य का एवं उनके माध्यम से प्रचलित की गई वाह्याडम्बरपूर्ण मान्यताओं का विरोध शताब्दियों तक किया जाता रहा, इसके प्रमाण खोजने पर उत्तरकालीन साहित्य में भी उपलब्ध हो जाते हैं।

खरतरगच्छीय आचार्य जिनपतिसूरि, जिनका कि आचार्यकाल वि० सं० १२२३ से १२७७ तक का माना गया है, एक समय विशाल संघ के साथ तीर्थयात्रा करने के लिये प्रस्थित हुए। अनेक स्थानों में भ्रमण करता हुआ संघ जब आगे की ओर बढ़ रहा था, उस समय एक स्थान पर पूर्णिमा गच्छ के आचार्य श्री अकलंकदेवसूरि उस संघ में आचार्य जिनपतिसूरि से मिलने के लिए उपस्थित हुए।

वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने जिनपतिसूरि से प्रश्न किया :—

"......................भवत्विदमेव, परं संघेन सह यात्रा क्वापि सिद्धांते साधूनां विधेयतया भणितास्ति, यदेवं यूयं प्रस्थिता ?"..................आचार्यमिश्रा ! व्रतिना सता संघेन सह तीर्थयात्रायां न गन्तव्यमित्यादीनि निषेध वाक्यानि सिद्धांते किं वा वयं दर्शयामः, किं वा यूयं विधायकाक्षराणि दर्शयथ।"

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में, गुजरात में तीर्थयात्रा का विरोध करने वाले, तीर्थयात्रा को अशास्त्रीय सिद्ध करने वाले केवल पूर्णिमा गच्छ के आचार्य अकलंकदेवसूरि ही अकेले नहीं थे, वस्तुतः तीर्थयात्रा को अशास्त्रीय मानने वाले लोग गुजरात में उस समय पर्याप्त संख्या में थे, इस बात का संकेत जिनपतिसूरि के निम्नलिखित उत्तर से मिलता है।

जिनपतिसूरि ने अकलंकसूरि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—

".................तथा संघेन गाढ़तरं वयमभ्यर्थिता, यदुत प्रभो अनेक चार्वाक लोकसंकुलायां गुर्जरत्रायां तीर्थानि सन्ति, तानि च ज्योत्कर्तुं चलितानस्मान् दृष्ट्वा कश्चिच्चार्वाकस्तीर्थ-यात्रानिषेधाय प्रमाणयिष्यति, तदा सिद्धांतरहस्यापरिज्ञानाद्वैदेशिकत्वाच्चास्माभिर्न किमप्युत्तरं दातुं शक्यते, अतः मा जिनशासने लाघवमभूदिति यूयं यथातथास्माभिः सह तीर्थवन्दनार्थमागच्छत इत्यादि संघाभ्यर्थनया वयमागताः............।"[1]

अपने विरोधियों के लिये प्रायः चार्वाक शब्द का प्रयोग साधारणतया कर दिया जाता रहा है। इससे यही प्रकट होता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में भी जैन धर्म के आगम प्रतिपादित आध्यात्मपरक मूल विशुद्ध स्वरूप के प्रति आस्था रखने वाले आचार्य, श्रमण एवं श्रमणोपासक पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे।

---

[1] खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली, पृष्ठ ३५

इसी प्रकार वीर नि० की ग्यारवीं-बारहवीं शताब्दी में जिनमन्दिर निर्माण एवं मूर्तिपूजा का प्रबल प्रवाह चैत्यवासियों के प्रबल प्रयासों से जनमानस में चारों ओर प्रवाहित हुआ, उस समय भी जिनमन्दिर निर्माण को सावद्य कार्य मानने वाले, द्रव्यपूजा को निःश्रेयस्करी—मुक्तिप्रदायिनी नहीं मानने वाले तथा प्रतिश्रोत-गामी तीर्थंकरों द्वारा आध्यात्मपरक-भावपूजा को ही मोक्षप्रदायी मानने वाले महा-श्रमणों की विद्यमानता के प्रमाण महानिशीथ में आज भी उपलब्ध हैं, जिन पर पिछले प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है।

उन उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के अनन्तर चैत्यवासियों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सर्वस्व संहारकारिणी बाढ़ से अपनी-अपनी परम्परा की, अपने-अपने गण गच्छ आम्नाय अथवा सम्प्रदाय की रक्षा हेतु जैन धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप एवं आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचर तथा श्रावकाचार में विश्वास रखने वाली श्रमणपरम्परा की विभिन्न इकाइयों ने भी चैत्यवासियों द्वारा प्रचलित की गई और कालांतर में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की हुई अनेक नूतन मान्यताओं को अपना लिया। उन मान्यताओं का आगमों में तो कहीं उल्लेख तक नहीं था। अतः उन नूतन मान्यताओं को प्रामाणिकता का परिधान पहनाने के निर्गूढ़ आंतरिक उद्देश्य से अभिनव भाष्यों, वृत्तियों, टीकाओं आदि की रचना का कार्य अन्तिम पूर्वधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के लगभग अर्द्धशती पश्चात् अनेक विद्वान् आचार्यों एवं श्रमणों ने अपने हाथ में लिया। यह उल्लेखनीय एवं विचारणीय है कि आज जितने भी भाष्य उपलब्ध होते हैं, वे सब के सब आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्त्ती काल की कृतियां हैं। इसी प्रकार चूर्णियां, अवचूर्णियां एवं विशेष चूर्णियां भी देवर्द्धिगणि से उत्तर-वर्त्ती काल की रचनाएँ हैं।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि आगमों के पारिभाषिक और गम्भीर अर्थ को समझने में आगमों का व्याख्या साहित्य निर्युक्ति, चूर्णि, अवचूर्णि, विशेष चूर्णि, भाष्य, टीका, विवरण, वृत्ति, विवृत्ति दीपिका, पञ्जिका, टब्बा, वचनिका, भाषा टीका आदि ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी हैं किन्तु इनमें से अनेक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अनेक ऐसी अभिनव मान्यताओं को समाविष्ट कर लिया गया है, जिनका मूल आगमों में कोई स्थान नहीं, कोई उल्लेख तक नहीं।

उन नवीन मान्यताओं को आगमों के व्याख्या साहित्य में स्थान देने का दुष्परिणाम यह हुआ कि शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिलने के साथ-साथ अध्या-त्ममूलक जैन धर्म के मूल विशुद्ध स्वरूप में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हुईं और कालांतर में वे विकृतियां धर्म के अभिन्न अंग के रूप में जैन संघ में रूढ़ हो गईं, घर कर गईं। इसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से खिन्न हो नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि को आगम अष्टोत्तरी नामक अपनी रचना में कहना पड़ा :—

देवड्ढि खमासमण जा, परम्परं भावओ वियाणेमि ।
सिढिलायरे ठविया, दव्वेण परम्परा बहुहा ।।[1]

निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य आदि आगम-व्याख्या-ग्रन्थों के माध्यम से शिथिला चार के साथ पनपी हुई अनेक प्रकार की विकृतियां कालांतर में लोकप्रिय एवं बहु जनसम्मत भी बन गईं पर उन विकृतियों का विशुद्ध श्रमणाचार का पालन एवं आगम में प्रतिपादित धर्म के विशुद्ध स्वरूप पर श्रद्धा एवं निष्ठा रखने वाले श्रमणोत्तमों ने समय-समय पर विरोध प्रकट किया, जिसका कि विवरण उपरि लिखित उद्धरणों में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है ।

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या ११ तथा ५६ भी देखें ।

हारिलसूरि से पूर्ववर्ती ग्रन्थकार : आचार्य समन्तभद्र

दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र नामक एक महान् जिनशासन प्रभावक प्राचीन आचार्य हुए हैं। वे अपने समय के मूर्धन्य कोटि के विद्वान्, अपराजेय, तार्किक, अप्रतिम कवि और महान् ग्रन्थकार थे। आपके सत्ताकाल के सम्बन्ध में इतिहासविदों में बड़ा मतभेद है। यशस्वी कोशकार जिनेन्द्रवर्णी ने इन्हें ईशा की दूसरी शताब्दी का विद्वान् आचार्य माना है।[1] स्वर्गीय पं० जुगलकिशोर मुख्त्यार ने आचार्य समन्तभद्र को विक्रम की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का दिगम्बर आचार्य सिद्ध किया है।[2] जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार नामक एक इतिहास विषयक पुस्तक में श्री फतेहचन्द बेलानी, न्याय, व्याकरण तीर्थ, न्यायरत्न ने आचार्य समन्तभद्र को विक्रम की ७वीं शताब्दी का ग्रन्थकार अनुमानित किया है।[3] त्रिपुटी मुनि श्री दर्शन विजयजी, मुनिश्री ज्ञान विजयजी और मुनिश्री न्याय विजयजी ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'जैन परम्परा नो इतिहास' में वनवासी परम्परा के प्रवर्तक श्वेताम्बर आचार्य सामन्तभद्र और दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र दोनों को वीर निर्वाण की ७वीं शताब्दी का एक ही यशस्वी आचार्य बताते हुए लिखा है कि आचार्य समन्तभद्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के समान रूप से मान्य आचार्य थे। उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर–इस भेद को मिटाकर दोनों ही परम्पराओं को एक करने के लिये पूरा प्रयास किया।[4]

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २" में भी इस प्रकार की सम्भावना व्यक्त की गई है कि सम्भवतः दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के समन्तभद्र और सामन्तभद्र कोई पृथक् दो आचार्य न होकर एक ही आचार्य हों।[5] श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत इन आचार्य के सामन्तभद्र नाम को देखते हुए यही अनुमान किया जाता है कि क्षत्रिय कुलोत्पन्न किसी राजाधिराज के अधीनस्थ सामन्त राजा के पुत्र हों। दिगम्बर परम्परा में भी इन्हें क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजकुमार बताया गया है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र का सत्ताकाल दोनों ही परम्पराओं के विद्वानों ने वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी ईशा की दूसरी शताब्दी का प्रथम चरण और

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भाग १, पृष्ठ ३३६

[2] जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६६७

[3] जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, फतेचन्द बेलानी, पृ० ५

[4] जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १, पृ० ३४५

[5] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ६३३

विक्रम की दूसरी शताब्दी का अन्तिम चरण माना है। इससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है कि एक ही काल में हुए ये नगण्य नामभेद के आचार्य बहुत सम्भव है एक ही हों। जहां तक समन्तभद्र की रचनाओं का प्रश्न है 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' को छोड़ शेष रचनाओं में दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं के विभेद को प्रकट करने वाली कोई महत्वपूर्ण बात उल्लिखित नहीं है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार को डा० हीरालाल ने सामन्तभद्र की रचना न मानकर इसे अन्य कर्तृक सिद्ध किया है। इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर इस प्रकार का अनुमान करना अनौचित्य की परिधि में नहीं आता कि दोनों परम्पराओं द्वारा भिन्न-भिन्न विद्वान् के रूप में माने गये सामन्त भद्र अथवा समन्तभद्र भिन्न व्यक्ति न होकर एक ही आचार्य हों। अस्तु यह कोई ऐसा विषय नहीं जिस पर अन्तिम रूपेण साधिकारिक शब्दों में कुछ कहा जा सके। यदि ऐसा कहा भी जाय तो यह बहुत सम्भव है कि जिनके अन्तर्मन में पूर्वाभिनिवेश घर किया हुआ है वे लोग इसे न भी मानें। अस्तु, इस विषय में और अधिक अग्रेतर शोध की परम आवश्यकता है, इसमें तो किसी का मतभेद नहीं होगा।

दिगम्बर परम्परा के विद्वान् इतिहासविदों द्वारा आचार्य समन्तभद्र का जो जीवन परिचय दिया गया है, वह सार रूप में इस प्रकार है :—

अत्युच्च कोटि के वाग्मी, कवि और तार्किक आचार्य समन्तभद्र दक्षिणापथ के फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के एक राजा के क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका जन्म-नाम था शान्ति वर्मा। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने राज्य, ऐश्वर्य और विपुल मात्रा में उपलब्ध ऐहिक भोगोपभोग आदि को विषवत् त्याग कर जैन निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने कब और किसके पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की, किन के पास विद्याध्ययन कर व्याकरण, न्याय, काव्य आदि अनेक विद्याओं तथा आगमों के तलस्पर्शी ज्ञान में निष्णातता प्राप्त की, इन सब बातों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

आचारांग अथवा मूलाचार में एक ज्ञान-क्रियानिष्ठ श्रमणोत्तम के लिये जिस प्रकार के विशुद्ध श्रमणाचार का विधान किया गया है, उस विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना में वे सदा प्रतिपल, प्रतिक्षण सतत जागरूक रहते थे। जिनेन्द्र प्रभु के विश्वकल्याणकारी सन्देश को आर्यधरा के विस्तीर्ण भूमण्डल पर विभिन्न क्षेत्रों में बसे हुए जन-जन तक अप्रतिहत विहार के माध्यम से पहुंचाने में उनका शरीर सक्षम रहे, उनका शरीर ज्ञान, क्रिया, की आराधना और संयम साधना का समीचीन रूप से निर्वहन करने योग्य रहे, केवल इसी स्व तथा पर के कल्याण की भावना से वे आहार-पानीय आदि ग्रहण करते थे। रसास्वादन रसगृद्धि अथवा शरीर पर मोह की भावना से उन्होंने कभी मधुकरी नहीं की। ऐसे श्रमणश्रेष्ठ थे आचार्य समन्तभद्र।

किसी जन्म-जन्मान्तर में अर्जित कर्म के दुर्विपाक से वे भस्मक रोग द्वारा आक्रान्त हो गये। मधुकरी में मिले रूक्ष एवं मित भोजन से उनकी भस्मक व्याधि उत्तरोत्तर बढ़ती और भयंकर रूप धारण करती ही गई। इस असाध्य भीषण व्याधि से उनके शरीर में पीड़ा प्रचण्ड रूप धारण कर उनके शरीर को, रुधिर, मज्जा, चर्म और अस्थियों तक को जलाने लगी। इस दुस्सह्य—दारुण व्याधि से प्रपीड़ित हो समन्तभद्र ने अपने गुरु से प्रार्थना की कि वे उन्हें अनशनपूर्वक समाधि मरण के स्वेच्छा वरण की आज्ञा प्रदान करें। ज्ञाननिधि तपोधन गुरुदेव ने कुछ क्षण ध्यानमग्न रहने के पश्चात् कहा—'वत्स ! तुम जिनशासन की महती प्रभावना करोगे। अभी तुम्हारी पर्याप्त आयु अवशिष्ट है। इस भयावहा भीषण भस्मक व्याधि की अग्नि के शमन के लिये विपुल मात्रा में गरिष्ठ भोजन की आवश्यकता रहती है। अतः तुम पंच महाव्रत स्वरूप संयम का कुछ समय के लिये परित्याग कर यथेष्ट गरिष्ठ भोजन करो। कुछ समय पश्चात् इस भस्मक व्याधि के नष्ट हो जाने पर तुम प्रायश्चित करके पुनः संयम ग्रहण कर स्व-पर-कल्याण में निरत हो जाना।

संयम व विशुद्ध श्रमणाचार समन्तभद्र को प्राणाधिक प्रिय था उसका त्याग करने में उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा का अनुभव हो रहा था किन्तु अपने विशिष्ट ज्ञानी गुरुवर की आज्ञा को उन्होंने अनिच्छा होते हुए भी शिरोधार्य करते हुए मुनिवेष का परित्याग किया। अपने शरीर पर भस्म रमा कर स्थान-स्थान पर घूमते हुए वे कांचीराज के राजप्रासाद में पहुंचे। भस्मविभूषित समन्तभद्र को देखते ही कांचिपति के मन में हठात् यह विचार उत्पन्न हुआ कि कहीं साक्षात् शिव ही तो उस पर कृपा कर उसके यहां नहीं आ गये हैं। कांचीश ने उठ कर उनका अभिवादन करते हुए उनको प्रणाम किया। जब उसे विदित हुआ कि वे महात्मा हैं और प्रभु उपासना ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है तो कांच्यधीश ने उन्हें राजप्रासाद के शिवमन्दिर में रहने और शंकर की उपासना करते रहने की प्रार्थना की। उस समय के परम समृद्ध कांची राज्य के राजकीय मन्दिर में प्रतिदिन शिव को भोग के समय अर्पण की जाती रही अति गरिष्ठ उत्तमोत्तम भोज्य सामग्री के नित्य नियमित भोजन से समन्तभद्र की भस्मक व्याधि कतिपय मासों में ही मूलतः नष्ट हो गई।

एक दिन कांचीश द्वारा शिव की स्तुति करने का आग्रह किये जाने पर समन्तभद्र ने "स्वयंभू-स्तोत्र" की रचना कर शिवपिण्डी के समक्ष खड़े हो जिनेश्वर की स्तुति करना प्रारम्भ किया। चन्दप्पह चरिउं की प्रशस्ति की निम्नलिखित गाथा के अनुसार समन्तभद्र द्वारा किये जा रहे स्तुति पाठ में जहां प्रभु को प्रणाम करने का प्रसंग आया, वहीं तत्काल शिवपिण्डी के अन्दर से प्रवर्तमान अवसर्पिणी

काल की जम्बूद्वीपस्थ हमारे भारत क्षेत्र की चौबीसी के ८वें तीर्थंकर प्रभु चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई। वह गाथा इस प्रकार है :—

णामें समंतभद्दु वि मुणिंदु, अइरिणम्मलु णं पुण्ण महिचंदु।
जिउरज्जिउ राया रुद्द कोड़ि, जिणथुत्ति-मिस्सि सिवपिंडि फोडि ॥

इस विस्मयकारिणी चमत्कारपूर्ण घटना से कांचीश और जन-जन के मन पर जैन धर्म के अचिन्त्य प्रभाव की अमिट छाप अंकित हो गई।"

इससे अनुमान किया जाता है कि कांची का पल्लव राजवंश ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में शैव महासन्त अप्पर द्वारा जैन से शैव धर्मावलम्बी बनाये गये कांचिपति पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के शासन के मध्यवर्ती काल तक संभवतः इसी अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटना के प्रभाव के परिणामस्वरूप शताब्दियों तक प्रायः जैन धर्मावलम्बी ही बना रहा।

आचार्य समन्तभद्र वस्तुतः बहुमुखी प्रतिभाओं के अप्रतिम धनी थे। उनकी विविध विषयों पर एकछत्र आधिपत्य रखने वाली अद्भुत कृतियों के ग्रन्थ समूह को देखकर प्रत्येक सुविज्ञ समीक्षक के समक्ष यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि उन्हें महाकवि कहा जाय, नितान्त अध्यात्मनिष्ठ श्रमणोत्तम कहा जाय, उन्हें महान् ग्रन्थकार की उपाधि से विभूषित किया जाय, महान् दार्शनिक कहा जाय अथवा सर्वजयी वादिराज के विशिष्ट संबोधन से अभिहित किया जाय, क्योंकि इन सभी प्रकार की उच्च कोटि की विशेषताओं से उनका जीवन ओत-प्रोत था।

अपने समय के यशस्वी कवि वादीभसिंह के इन शब्दों में—

"सरस्वती-स्वैर-विहारभूमयः,
समन्तभद्र प्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्र-निपात-पारित-
प्रतीप राद्धान्त महीध्रकोटयः ॥"

(गद्यचिन्तामणि)

आचार्य समन्तभद्र की अजेय महावादी के रूप में विशिष्ट ख्याति भूमण्डल में प्रसृत रही प्रतीत होती है।

आचार्य समन्तभद्र के सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली असाधारण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला एक श्लोक दिल्ली के पंचायती मन्दिर में उपलब्ध पुट्टे (पुलिन्दे) में रखी स्वयंभूस्तोत्र की प्राचीन प्रति के अन्त में उल्लिखित है, जो इस प्रकार है :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तान्त्रिकोऽहम् ।
राजन्नस्यां जलधिवलया-मेखलायामिलायां,
आज्ञासिद्धिः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहम् ।।

अर्थात् हे राजन् ! मैं आचार्य तो हूं ही, कवि भी हूं, वादी भी हूं और पण्डित भी हूं। मैं ज्योतिषी, चिकित्सक, मान्त्रिक और तान्त्रिक भी हूं। कटि पर करधनी धारण की हुई नवोढ़ा के समान चारों ओर समुद्र से परिवेष्टित इस वसुन्धरा पर मैं सिद्ध-सारस्वत अर्थात् सरस्वती पुत्र हूं। इस धरित्री पर मैं जिस प्रकार का आदेश देता हूं, अर्थात् जैसा मैं चाहता हूं, वही होता है। इस श्लोक का सारांश यह है कि आचार्य समन्तभद्र केवल वादी, कवि अथवा सकल विद्यानिधान ही नहीं अपितु सब कुछ थे।

शक सं० १०५० में उट्टंकित, श्रवणबेल्गोल स्थित पार्श्वनाथ बस्ति के एक स्तम्भ लेख में आचार्य समन्तभद्र की यशोगाथाओं का गान करते हुए बताया गया है कि इस आर्यधरा के किन-किन सुदूरस्थ प्रदेशों में जिन शासन का वर्चस्व स्थापित करने के लिये अप्रतिहत विहार कर विपक्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करते हुए जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। उस स्तम्भलेख में उट्टंकित श्लोक इस प्रकार है—

पूर्व्वं-पाटलिपुत्र मध्य-नगरे भेरी मया ताड़िता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहु-भटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूल-विक्रीड़ितम् ।। ७ ।।
अवटु-तटमटतिझटिति स्फुट-पटु-वाचाटधूर्ज्जटेरपि जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप ! कास्थान्येषाम्[1] ।।८।।

आचार्य समन्तभद्र ने भस्मक रोग से ग्रस्त होने के अनन्तर विभिन्न प्रदेशों के किन-किन नगरों में और किस-किस धर्म के साधु के रूप में भ्रमण करते हुए निवास किया, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक में विवरण दिया गया है :--

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुर नगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी ।।

आचार्य समन्तभद्र की यशोगाथा गाने वाले इन श्लोकों को पढ़ने से सहसा इस प्रकार का आभास होता है मानों स्वयं उन्होंने ही गर्वोक्तियों से भरे इन श्लोकों

१. जैन शिला लेख संग्रह, भाग १ (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति) पृ० १०२

की रचना की हो । वस्तुत: ये चारों श्लोक समन्तभद्र से पर्याप्त उत्तरकालवर्ती विद्वानों की रचनाएं हैं । इसका प्रमाण है शक सं. १०५० तदनुसार वीर नि. सं. १६५५ के श्रमण बेल्गोल के स्तम्भलेख में उट्टंकित श्लोक–युगल । यह तो साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी मानेगा कि अनन्तज्ञान–दर्शन एवं अक्षय अव्याबाध अनन्त शाश्वत सुख प्राप्ति को ही अपना चरम-परम लक्ष्य समझने वाले समन्तभद्र जैसे उच्चकोटि के तत्वज्ञ विद्वान् स्वयं के लिये इस प्रकार के अहं से भरे गर्वोक्तिपूर्ण उद्गार अपने मुख से अथवा लेखनी से कभी अभिव्यक्त नहीं कर सकते ।

आचार्य समन्तभद्र का जिस श्रद्धाभक्ति के साथ जिनसेन आदि दिगम्बर परम्परा के महान् ग्रन्थकारों ने स्मरण किया है, उसी श्रद्धा एवं सम्मान सहित कलिकाल सर्वज्ञ के (अतिशयोक्तिपूर्ण) विरुद से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र तथा आवश्यकसूत्र–टीका के निर्माता यशस्वी टीकाकार मलयगिरि–इन श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने भी महान् स्तुतिकार और स्वयम्भूस्तोत्र के श्लोक के उल्लेख के साथ आद्यस्तुतिकार इन महिमास्पद शब्दों में इन्हें स्मरण किया है । इससे यह प्रकट होता है कि विक्रम की ११वीं बारहवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर परम्परा में भी समन्तभद्र अपने ही आचार्य के रूप में मान्य थे । श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् समन्तभद्र ही एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्हें श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं द्वारा अपनी-अपनी परम्परा का आचार्य मानने का गौरव प्राप्त हुआ है ।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—(१) आप्त-मीमांसा–अपर नाम देवागम, (२) स्वयंभूस्तोत्र, अपर नाम चतुर्विंशति जिन स्तुति, (३) स्तुति विद्या और (४) युक्त्यनुशासन । (५) रत्नकरण्ड श्रावकाचार को भी समन्तभद्र की ही कृति माना जाता रहा है किन्तु प्रोफेसर डा० हीरालालजी ने, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रत्नकरण्ड श्रावकाचार को अन्यकर्तृक सिद्ध किया है ।

अनेक विद्वानों ने आचार्य समन्तभद्र की उपरिवर्णित कृतियों में इस प्रकार के अनेक तथ्यों को खोजा है जो कि श्वेताम्बर मान्यता के पोषक बताये जाते हैं । इस विषय में गहन शोध के अनन्तर ही आधिकारिक रूप में कुछ कहा जा सकता है ।

आचार्य शिवशर्मसूरि

शिवशर्म सूरि नामक एक प्राचीन आचार्य ने 'कम्मपयडि' और 'पंचम शतक' नामक दो महान् उपयोगी ग्रन्थरत्नों की रचना कर साधक वर्ग पर असीम उपकार किया है। उन्होंने दृष्टिवाद के दूसरे पूर्व की पांचवीं च्यवनवस्तु के चौथे कर्मप्रकृतिप्राभृत में से सार निकाल कर कर्म सिद्धान्त विषयक 'कम्मपयड़ि' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। वर्तमान में उपलब्ध कर्मसिद्धान्त सम्वन्धी ग्रन्थों में 'कम्मपयड़ि' ग्रन्थ की गणना एक सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ के रूप में की जाती है। प्राचीन जैन वांग्मय के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि पूर्वकाल में शिवशर्मसूरि द्वारा रचित यह कम्मपयड़ि नामक ग्रन्थ दिगम्बर एवं श्वेताम्वर—इन दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था। इस ग्रन्थ में ४७५ गाथाएं हैं। उत्तरवर्ती काल के अनेक आचार्यों ने "कम्मपयडि" नामक इस ग्रन्थ पर भाष्य, चूर्णि और टीकाग्रन्थों की रचनाएं की हैं।

आचार्य शिवशर्मसूरि द्वारा रचित एक और ग्रन्थ शताब्दियों से जैन जगत् में लोकप्रिय रहा है। वह है पंचम शतक नामक "कर्मग्रन्थ"। आचार्य शिवशर्म ने इस ग्रन्थ की रचना भी "कम्मपयंडिपाहुड" के आधार पर की है। इस ग्रन्थ में कुल १११ गाथाएं हैं। इस पर भी अनेक विद्वान् आचार्यों ने चूर्णि, टीका, भाष्य आदि की रचनाएं की हैं। वर्तमान में आचार्य शिवशर्मसूरि की ये दो रचनाएं ही उपलब्ध होती हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ मुमुक्षुओं को अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होने में प्रकाशस्तम्भ का काम करते हैं।

आचार्य शिवशर्मसूरि का इससे अधिक और कोई परिचय नहीं मिलता कि उन्होंने इन दो ग्रन्थ रत्नों की रचना की। इसी कारण इनके सत्ताकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के पास अनुमान के अलावा और कोई अवलम्बन नहीं है। कतिपय विद्वानों ने इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी अनुमानित किया है तो किसी ने विक्रम की तीसरी शताब्दी के वीच का। कर्म सिद्धान्त पर उनके आधिकारिक अगाध ज्ञान और कम्मपयड़ि की भाषा और शैली को देखते हुए प्रत्येक निष्पक्ष विचारक का, यह मानने को मन करता है कि आचार्य शिवशर्म पूर्व ज्ञान की व्युच्छित्ति से पूर्व के महान् तत्वज्ञ विद्वान् थे।

हारिल्ल सूरि के समकालीन प्रभावक ग्रन्थकार
धर्मदासगरिण महत्तर

धर्मदासगरिण महत्तर की 'उपदेशमाला' नाम की एक ही कृति उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती। उनकी यह एक ही कृति मुमुक्षु साधकों के लिये परम हितकारिणी है।

उपदेशमाला में ५४४ गाथाएं हैं, जिनमें अन्तर्मन पर आध्यात्मिकता की अमिट छाप अंकित कर देने वाले हृदयग्राही उपदेश आध्यात्मिक साधना को ही सारभूत सिद्ध करने वाली अकाट्य युक्तियां और अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त अति सुन्दर प्रभावशाली शैली में प्रतिपादित किये गये हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अपने प्रणेता धर्मदासगरिण महत्तर को अक्षय कीर्ति प्रदान करता हुआ अपने रचनाकाल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त बड़ा लोकप्रिय रहा है।

धर्मदासगणि ने उपदेशमाला की ५४०वीं गाथा में अपना नाम धर्मदास गरिण 'धम्मदासगणिरण' इस पद से स्पष्ट रूपेरण बताया है। इस गाथा से पूर्व की गाथा संख्या ५३७ में एक निगूढ़ शैली में अपने नाम का संकेत किया है, जो इस प्रकार है :—

धंत—मरिण—दाम—ससि—गय—णिहि, पयपढमक्खराभिहारोरण। उवएसमाल-पगरणमिरणमो, रइयं हिअट्ठाए।।५३७।।

गाथा के प्रथम चरण से 'धर्मदासगरिण' यह नाम ग्रन्थकार का प्रकट होता है। कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि इस गाथा के प्रथम चरण में धर्मदास गरिण ने ग्रन्थ रचना के काल का निर्देश भी किया है। इस सम्बन्ध में जोड़-तोड़ बैठाने का पूरा प्रयास किया गया किन्तु वह प्रचलित संवतों की संख्या और परस्पर एक-दूसरे के अन्तराल के जोड़ने पर समुचित और मन को समाधानकारी नहीं प्रतीत होता। धंत-१, मरिण-७, दाम-५, ससि १, गय-८ और रिणहि-९, इस प्रथम चरण से अनुमानित की जाने वाली ६ संख्याओं में से धंत (ध्वांत-अन्धकार-१, ससि —१, और दाम— ५ को "अंकानां वामतो गति" इस नियम से विक्रम संवत् ५११ और ससि - १, गय— ८ और रिणहि - ९ इन अंकों से वीर नि. सं. ९८१ निकलता है। इससे यह फलित होता है कि विक्रम संवत् ५११ तदनुसार वीर नि. सं. ९८१ में धर्मदासगरिण महत्तर ने 'उपदेश माला' की रचना की। वीर निर्वाण

के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् प्रचलित हुआ—इस दृष्टि से इन अंकों की जोड़-तोड़ की कल्पना सही (ठीक) तो बैठती है पर इस प्रकार की जोड़-तोड़ का आधार गाथा में कहीं संकेतित नहीं है।

'उपदेशमाला' पर सिद्धर्षि द्वारा रचित टीका, एक प्राचीन कृति है। विक्रम संवत् १२३८ में रत्नप्रभ सूरि ने इस पर दोघट्टीवृत्ति की रचना की। इस पर तीसरी टीका रामविजयजी द्वारा निर्मित, उपलब्ध है।

दोघट्टी वृत्ति में धर्मदास गणि महत्तर को स्वयं भगवान् महावीर का हस्तदीक्षित शिष्य बताया गया है, जो किसी भी दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता। हो सकता है कि मुमुक्षुओं के लिये परमोपयोगी उनकी कृति उपदेशमाला के महत्व को प्रकट करने की दृष्टि से अथवा पूर्व जन्म में भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने की कल्पना के आधार पर टीकाकार ने ऐसा लिखा हो।

उपदेशमाला में संविग्न-परम्परा के पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। विनय रत्न, महामुनि स्थूलभद्र, सिंहगुहावासी मुनि, आर्य मंगू, आर्य वज्र और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में वल्लभी में हुई आगम वाचना अथवा आगम लेखन के समय विद्यमान कालकाचार्य आदि वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी से दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बीच हुए आचार्यों के सम्बन्ध में अनेक बातें कही गई हैं, इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उपदेशमाला के रचनाकार धर्मदासगणि महत्तर युगप्रधानाचार्य हारिल्ल सूरि के समकालीन राजर्षि हों।

इनका कोई प्रामाणिक जीवन परिचय नहीं मिलता। दोघट्टीवृत्ति जैसे उत्तरवर्त्ती जैन वाङ्मय में यह बताया गया है कि वे अपने गृहस्थ जीवन में विजयपुर के विजयसेन नामक राजा थे। अजया और विजया नाम की इनकी दो रानियां थीं। रानी विजया की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम रणसिंह रखा गया। सौतिया डाह के वशीभूत हो अजया नामक रानी ने षड्यन्त्र रच कर बालक राजकुमार रणसिंह का अपहरण करवा दिया। राजा विजयसेन और रानी विजया के हृदय को इस घटना से गहरा आघात लगा। उन दोनों को संसार से विरक्ति हो गई और उन दोनों ने पंच महाव्रतों की भागवती दीक्षा ग्रहण करली। उन दोनों के साथ विजयारानी का सहोदर सुजय भी श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया। राजा विजयसेन धर्मदासगणि के नाम से विख्यात हुए।

उधर राजकुमार रणसिंह का लालन-पालन एक कृषक के घर में हुआ। रणसिंह ने युवावस्था में प्रवेश करते ही अपने पौरुष से विजयपुर के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। कालान्तर में राजा रणसिंह धर्मविमुख हो प्रजा पर अन्याय करने लगा।

अपने ज्ञानातिशय से जब धर्मदासगणि को यह विदित हुआ कि उनका पुत्र पापपूर्ण कार्यों में संलग्न है तो उन्होंने धर्ममार्ग से विमुख अपने पुत्र को सन्मार्ग पर लाने के लिए उपदेश माला की रचना की। उन्होंने जिनदासगणि को उपदेश माला का अध्ययन करवाया और जिनदासगणि ने उसे कण्ठस्थ कर लिया। धर्मदासगणि महत्तर ने रणसिंह को उपदेश देने के लिए जिनदासगणि और साध्वी विजयश्री को भेजा। उन दोनों ने विजयपुर पहुंचकर राजा रणसिंह को "उपदेश माला" के माध्यम से धर्मोपदेश दिया। उपदेश माला के उपदेश का राजा रणसिंह पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह विशुद्ध सम्यक्त्वधारी श्रावक बन गया और कालान्तर में अपने पुत्र को राज्य सम्हलाकर आ० मुनिचन्द्र के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।

वस्तुतः उपदेशमाला एक ऐसा ग्रन्थरत्न है जो भूलों-भटकों को सत्पथ पर आरूढ़ करने वाला है।

अन्य ग्रंथकार

निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समसामयिक जिन विद्वानों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की वे इस प्रकार हैं :—

१. वट्टकेर—ईसा की पांचवी-छठी शताब्दी के इन विद्वान् आचार्य ने "मूलाचार" नामक आगमिक ग्रन्थ की रचना की। इनके सम्बन्ध में यह धारणा चली आ रही थी कि ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे किन्तु शोधार्थी विद्वान् खोज के पश्चात् यह मानने लगे हैं कि ये यापनीय परम्परा के आचार्य थे।[1]

२. शिवार्य (शिवनन्दी)—इन यापनीय आचार्य ने २१७० गाथात्मक आराधना नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। साधकों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा ही उपयोगी है, यही कारण है कि शताब्दियों से यह ग्रन्थ जैनों में बड़ा ही लोकप्रिय रहा है।

आज से दो दशक पूर्व तक दिगम्बर परम्परा इसे अपना आगमिक ग्रन्थ मानती थी किन्तु अब दिगम्बर विद्वानों ने इस ग्रन्थ को यापनीय परम्परा का मान लिया है। इसके उपरान्त भी श्रद्धालु साधकों द्वारा इस ग्रन्थ का बड़ी श्रद्धा से पारायण किया जाता है।

३. सर्वनन्दि—दिगम्बर परम्परा के विद्वान् सर्वनन्दि ने शक सं० ३८० तदनुसार वि० सं० ५५५ में दक्षिण के तत्कालीन शक्तिशाली पाण्ड्य राज्य के पाटलिक नामक स्थान पर प्राकृत भाषा के लोक विभाग नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।[2] कालान्तर में सिंह सूरपि ने प्राकृत से इस ग्रन्थ का संस्कृत भाषा के पद्यों में अनुवाद किया। वर्तमान में प्राकृत भाषा का लोक विभाग कहीं उपलब्ध नहीं है। केवल संस्कृत भाषा में निबद्ध लोक विभाग ही उपलब्ध है।

४. यतिवृषभाचार्य—प्राचीन आचार्यों में यतिवृषभ आचार्य का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी दो अतीव महत्त्वपूर्ण कृतियां जैन जगत् में बड़ी लोकप्रिय हैं। पहली है 'कषाय प्राभृत चूर्णि' और दूसरी 'तिलोय पण्णत्ति'। अनेक विद्वानों ने आचार्य यति वृषभ को विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी का आचार्य माना है। जयधवला में कषाय पाहुड़ के चूर्णिकार यति वृषभ को वाचक आर्य

---

[1] The Jaina Path of Purification page 79. Padmanabh S. Jaini, published by Motilal Banarasidas, Delhi, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi 7.

[2] जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ ४४–४५

मंक्षु और नागहस्ति का शिष्य बताया है। परन्तु कषाय पाहुड़ की चूर्णि में अथवा अन्यत्र कहीं यति वृषभ ने अपने आप को आर्य मंक्षु का शिष्य और नागहस्ती का अन्तेवासी प्रकट नहीं किया है। इतना सब कुछ होते हुए भी जय धवलाकार के इस कथन में विश्वास न करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि आर्य मंक्षु के शिष्य और नागहस्ती के अन्तेवासी आचार्य यतिवृषभ ने कषाय पाहुड चूर्णि की रचना की।

"आचार्य यतिवृषभ वाचक आर्य मंक्षु और वाचक आर्य नागहस्ती के शिष्य थे"—जयधवलाकार के इस कथन पर विश्वास कर लेने के पश्चात् एक नवीन तथ्य प्रकाश में आता है। वह यह है कि 'कषाय पाहुड़ चूर्णि' के रचनाकार आचार्य यतिवृषभ और 'तिलोय पण्णत्ति' के रचनाकार यतिवृषभ भिन्न-भिन्न काल में हुए एक ही नाम के दो भिन्न आचार्य थे।

कषाय पाहुड़ चूर्णि के रचनाकार पहले यतिवृषभ आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती के शिष्य होने के परिणाम स्वरूप वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी (वीर नि० सं० ४५४ अर्थात् श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद से १५५ वर्ष पूर्व) के आचार्य थे।

इसी नाम के दूसरे यतिवृषभाचार्य ने अपने ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ति में वीर नि. सं. १००० तक के काल में हुए राजाओं का उल्लेख किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि तिलोय पण्णत्तिकार यतिवृषभाचार्य विक्रम की पांचवीं छठी शताब्दी के आचार्य थे।

यतिवृषभाचार्य के काल निर्णय में यहीं इति श्री नहीं हो जाती। वस्तुतः यह शोध का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। अब तक विद्वानों ने इस नितरां निगूढ़ ऐतिहासिक तथ्य की गहन शोध के स्थान पर यही कहकर टालने का प्रयास किया है कि यतिवृषभाचार्य के गुरु मंक्षु और नागहस्ती ये दोनों आचार्य श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य मंक्षु और नागहस्ति से भिन्न हैं।

जयधवलाकार की निम्नलिखित गाथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं :—

गुणहरवयण विणिग्गय, गाहाणत्थोऽवहारिओ सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो, स णागहत्थी वरं देऊ ।।७।।
जो अज्ज मंखु सीसो, अंतेवासी वि णाग हत्थिस्स।
सो वित्ति सुत्तकत्ता, जइवसहो मे वरं देऊ ।।८।।

ये दो गाथाएं शोधार्थी विद्वानों को शोध के लिये प्रेरणा देने वाली हैं। जयधवला और श्रुतावतार में आचार्य गुणधर को कषाय-पाहुड़ का कर्त्ता माना

---

[1] आर्य मंक्षु के समय के लिए देखिये जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ ५३२।

है। दिगम्बर परम्परा की एक भी पट्टावली में इन आचार्य गुणधर का नाम कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इन्द्रनन्दी ने तो श्रुतावतार में स्पष्ट रूपेण लिखा है कि गुणधर और धरसेन की गुरु शिष्य परम्परा का पूर्वापर क्रम कहीं उपलब्ध नहीं होता। उन गुणधर द्वारा रचित कषाय पाहुड़ के गहन गूढार्थ को वाचक आर्य मंक्षु और वाचक आर्य नागहस्ती ने सम्यगरूपेण हृदयङ्गम किया। यतिवृषभ ने कषाय पाहुड़ की गाथाओं के गहन अर्थ को आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती से ग्रहण किया। इन वाचक द्वय आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती के नाम भी दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में कहीं उपलब्ध नहीं होते। उपलब्ध होने की संभावना भी नहीं क्योंकि वाचक परम्परा श्वेताम्बर संघ की परम्परा रही है। दिगम्बर संघ में उसका कभी अस्तित्व ही नहीं रहा।

इस प्रकार की स्थिति में शोधप्रिय विद्वानों के समक्ष निम्नलिखित प्रश्न उभर कर आते हैं :—

१. कषाय पाहुड़ के रचनाकार गुणधर वस्तुतः कहीं श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के ११वें पट्टधर आचार्य गुणसुन्दर ही तो नहीं हैं जिनका आचार्य काल वीर नि० सं० २९१ से वीर नि० सं० ३३५ रहा और जो दशपूर्वधर आचार्य थे। गुणसुन्दर और गुणधर ये दोनों नाम भी परस्पर एक दूसरे के पूरक ही प्रतीत होते हैं।

२. आर्य गुणसुन्दर से ११९ वर्ष पश्चात् अर्थात् वीर नि० सं० ४५४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य मंक्षु और उनके शिष्य नागहस्ती से यतिवृषभ नामक मेधावी मुमुक्षु ने उन दोनों का शिष्यत्व स्वीकार कर उनसे कषाय पाहुड़ का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्तकर कषाय पाहुड़ चूर्णि की कहीं रचना नहीं की हो और इस प्रकार कषाय पाहुड़ कहीं श्वेताम्बर-दिगम्बर विभेद से ३००–३२५ वर्ष पूर्व का दशपूर्वधर द्वारा रचित आगम तो नहीं है।

—०—

२९वें युगप्रधानाचार्य हारिल्ल सूरि के नाम पर नवीन गच्छ की उत्पत्ति : हारिल गच्छ

कुवलयमाला नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य उद्योतनसूरि-अपर नाम दाक्षिण्यचिह्न ने अपने ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उसके अनुसार हारिल गच्छ की पट्ट-परम्परा इस प्रकार है :—

१. युगप्रधानाचार्य हरिगुप्त—अपर नाम हारिल। इनके नाम पर हारिल गच्छ की स्थापना की गई।

२. देवगुप्त। ये आचार्य महाकवि थे इस प्रकार का उल्लेख 'कुवलयमाला' के रचनाकार ने किया है।

३. शिवचन्द्र। ये स्थान-स्थान पर जिनालयों के दर्शन करते हुए भिन्न-माल पहुंचे और शेष जीवन उन्होंने वहीं व्यतीत किया। उद्योतनसूरि ने इन्हें भिन्नमाल निवासियों के लिये कल्पवृक्ष तुल्य बताया है।

४. यक्षदत्त गणि। हारिल गच्छ के ये महा यशस्वी प्रभावक आचार्य हुए हैं। आचार्य यक्षदत्त के नाग, वृन्द, मम्मट, दुर्ग, अग्नि शर्मा और बटेश्वर नामक ६ शिष्य थे।

५. बटेश्वर—इन्होंने नाग, वृन्द आदि पांच गुरुभ्राताओं के साथ दूर-दूर के क्षेत्रों में धर्म की प्रभावना की एवं अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया। आकाशवप्र नामक नगर में आचार्य बटेश्वर ने एक अति विशाल और मनोहर जिनालय का निर्माण करवाया।

६. तत्वाचार्य इनके जीवनवृत्त का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

७. दाक्षिण्यचिह्न अपर नाम उद्योतन सूरि। इन्होंने लोकप्रिय कुवलय-माला नामक ग्रन्थ की रचना की। इनका जीवन परिचय यथास्थान आगे दिया जायगा।

जोधपुर नगर से ९ कोश उत्तर दिशा में स्थित गांधाणी नामक ग्राम से प्राप्त भगवान् ऋषभदेव की सर्व धातुओं से निर्मित मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उट्टङ्कित

अभिलेख से श्री उद्योतन सूरि के दो शिष्यों के नाम प्रकाश में आये हैं। यह सर्व-धातुनिर्मित जिनेश्वर की मूर्ति गांधारणी ग्राम के तालाब पर अवस्थित जिनमन्दिर में उपलब्ध हुई है। वह मूर्ति अभिलेख अक्षरशः इस प्रकार है :—

(१) ओम् ॥ नवसु शतेष्वब्दानां । सप्ततृं (त्रि) शदधिकेषु । श्रीवच्छ-लांगलीभ्यां ज्येष्ठार्याभ्यां

(२) परम भक्त्या ॥ नाभेयजिनस्यैषा ॥ प्रतिमा षाढ़ार्द्धनिष्पन्ना श्रीम–

(३) त्तोरण कलिता। मोक्षार्थं कारिता ताभ्यां ॥ ज्येष्ठार्यपदं प्राप्तौ। द्वावपि

(४) जिनधर्म वच्छलौ ख्यातौ। उद्योतन सूरेस्तौ शिष्यौ श्री वच्छ–बल देवौ ॥

(५) सं० ४३७ आषाढ़ार्द्धे।

अर्थात्—ओम्। संवत् ९३७ के आधे आषाढ़ के व्यतीत हो जाने पर (अनुमानतः आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा के दिन–क्योंकि अमावश्या इस प्रकार के श्रेष्ठ कार्यों में वर्जित मानी गई है) ज्येष्ठार्य (संभवतः वाचक) श्री वत्स और लांगली (बलदेव का अपर नाम लांगली–हलधर) ने उत्कृष्ट भक्ति से तोरण सहित इस आदिनाथ ऋषभदेव का निर्माण मुक्ति की अभिलाषा से करवाया। इन दोनों मुनियों ने ज्येष्ठार्य पद (संभवतः वाचक पद) प्राप्त किया और जिनधर्मवत्सल के रूप में ख्याति को प्राप्त हुए। वे दोनों–श्रीवत्स और बलदेव श्री उद्योतन सूरि के शिष्य थे। संवत् ९३७ आषाढ़ार्द्ध में।

उद्योतन सूरि की पट्टावली में इन (उद्योतन सूरि) का वि० सं० ९९४ में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। उद्योतनसूरि आचार्य पद पर किस आसीन हुए इसका कोई उल्लेख पट्टावली में उपलब्ध नहीं होता। इस अभिलेख से यह तो निश्चित रूपेण सिद्ध हो जाता है कि उद्योतन सूरि वि० सं० ९३७ में आचार्य पद पर अधिष्ठित थे और इससे कुछ कम अथवा अधिक समय पूर्व ही आचार्य पद प्राप्त कर चुके थे।

श्रमण भगवान् महावीर के २९वें पट्टधर आचार्य श्री शंकरसेन

जन्म	—	वीर नि०सं० १०१९
दीक्षा	—	,, ,, ,, १०४१
आचार्य पद	—	,, ,, ,, १०६४
स्वर्गारोहण	—	,, ,, ,, १०९४
गृहवास पर्याय	—	२२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ ,,
आचार्य पर्याय	—	३० ,,
पूर्ण साधु पर्याय	—	५३ ,,
पूर्ण आयु	—	७५ ,,

वीर प्रभु के २८वें पट्टधर आचार्य श्री वीरभद्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि. सं. १०६४ में आगम मर्मज्ञ विद्वान् मुनिश्री शंकरसेन को आचार्यश्री वीरभद्र के उत्तराधिकारी के रूप में भगवान् महावीर के २९वें पट्टधर आचार्य पद पर आसीन किया गया।

इसके अतिरिक्त इनके जीवनकाल की किसी घटना का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

श्रमण भगवान् महावीर के ३०वें पट्टधर आचार्य श्री जसोभद्र स्वामी

जन्म	—	वीर नि. सं. १०४४
दीक्षा	—	,, ,, ,, १०७१
आचार्य पद	—	,, ,, ,, १०९४
स्वर्गारोहण	—	,, ,, ,, १११६
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ ,,
आचार्य पर्याय	—	२२ ,,
पूर्ण साधु पर्याय	—	४५ ,,
पूर्ण आयु	—	७२ ,,

शासनपति भगवान् महावीर के २९वें पट्टधर आचार्यश्री शंकरसेन के स्वर्गारोहण के अनन्तर उनके उत्तराधिकारी श्रमणश्रेष्ठ विद्वान् मुनिश्री जसोभद्र स्वामी को वीरप्रभु के ३०वें पट्टधर के रूप में श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

इनके जीवनकाल के घटना चक्र के विषय में भी कोई उल्लेख अद्यावधि कहीं किसी ग्रंथ में हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। शोधार्थियों से इस बारे में अग्रेत्तर शोध की अपेक्षा है।

भगवान् महावीर के २९वें एवं ३०वें पट्टधर क्रमशः श्री शंकर सेन और जसोभद्र के आचार्य काल के ३०वें युगप्रधानाचार्य श्री जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण

जन्म	—	वीर नि० सं० १०११
दीक्षा	—	,, ,, ,, १०२५
सामान्य साधु पर्याय	—	,, ,, ,, १०२५–१०५५
युगप्रधानाचार्यकाल	—	,, ,, ,, १०५५–१११५
स्वर्ग	—	,, ,, ,, १११५
सर्वायु	—	१०४ वर्ष, ६ मास और ६ दिन

युगप्रधानाचार्य श्री जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमण का जन्म वीर नि०सं० १०११ में हुआ। आपने १४ वर्ष की अल्प वय में, वीर नि० सं० १०२५ में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। ३० वर्ष की अपनी सामान्य श्रमण पर्याय में विशुद्ध श्रमणाचार के पालन के साथ-साथ आपने आगमों, धर्मग्रन्थों, न्याय, व्याकरण, काव्य, स्व तथा पर सिद्धांतों एवं नीतिशास्त्र का बड़ी ही लगन के साथ तलस्पर्शी गहन अध्ययन किया। वीर नि०सं० १०५५ में २९वें युगप्रधानाचार्य श्री हारिलसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने पर आपको युगप्रधानाचार्य पद प्रदान किया गया।

जीतकल्पचूरिण के आद्य मंगल में, उसके रचनाकार आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण द्वारा की गई जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की षड् गाथात्मका स्तुति से यह विदित होता है कि जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण अपने समय के अप्रतिम उद्भट विद्वान्, मुनिसमूह द्वारा सेवित, आगमों के तलस्पर्शी ज्ञान के ज्ञाता एवं व्याख्याता, बहुश्रुताग्रणी, स्व-पर सिद्धांत पारगामी आदर्श क्षमाश्रमण थे।[1] इसी प्रकार विशेषावश्यक तथा जीतकल्प के वृत्तिकारों ने भी आपके विशिष्ट गुणों के प्रति आंतरिक श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए आपकी स्तुति की है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने जीतकल्प, सभाष्य विशेषणवती, बृहत्क्षेत्रसमास, ध्यानशतक, बृहत्संग्रहणी और वीर नि०सं० १०३६ की चैत्र शुक्ला १५, बुधवार

[1] पंचकल्प चूणि

के दिन वल्लभी में महाराजा शिलादित्य (प्रथम) के राज्यकाल में विशेषावश्यक भाष्य की रचना की। आपसे उत्तरवर्ती रचनाकारों ने आपकी कृति विशेषावश्यक भाष्य को जैन सिद्धांत ज्ञान का महोदधि एवं अक्षय भण्डार और जैन साहित्य रत्नाकर का अनमोल ग्रन्थरत्न बताकर आपकी प्रशंसा की है। अनेक जैनाचार्यों ने आपकी इस कृति को दुःषमाकाल के निबिड़तम अंधकार में निमग्न जिन-प्रवचनों को प्रकाशित करने वाले प्रशस्त प्रदीप की उपमा दी है। वस्तुतः देखा जाय तो जैन सिद्धांतों से सम्बन्धित ऐसा कोई विषय अवशिष्ट नहीं रहा है, जिस पर विशेषावश्यक भाष्य में आप द्वारा प्रकाश न डाला गया हो।

वीर निर्वाण की ११वीं शताब्दी वास्तव में भाष्यों और चूर्णि साहित्य के निर्माण का प्रारम्भिक युग था। आपके युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन होने से पूर्व "वसुदेव हिंडी" के यशस्वी रचनाकार संघदास क्षमाश्रमण और उनके सहयोगी "धम्मिल्लहिंडी" के रचनाकार धर्मसेनगणि ने पंचकल्प भाष्य की रचना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी से आपको विशेषावश्यक भाष्य के प्रणयन की प्रेरणा मिली हो। आपने अनुयोग चूर्णि की भी रचना की।

चूर्णि साहित्य के निर्माण का प्रारम्भ भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से ही हुआ। आपके समकालीन पर लघुवयस्क आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण ने आप द्वारा रचित ग्रन्थ जीतकल्प पर चूर्णि का निर्माण किया। वर्तमान में उपलब्ध चूर्णि साहित्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित अनुयोगचूर्णि की गणना सबसे पहली चूर्णि के रूप में की जाती है। जिनदासगणि और हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियों में इसका पूरा उपयोग किया है।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती आचार्यों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को आगमों का प्रबल पक्षधर माना गया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में आगम को सर्वोपरि मान कर आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठापित किया है, न कि दर्शन के आधार पर आगम को।

निर्युक्ति, अवचूर्णि, चूर्णि, भाष्य और टीका— इन सब की गणना आगमों के व्याख्या ग्रन्थों के रूप में की जाती है। जहां आगमों का गूढार्थ समझ में न आये वहां पहले निर्युक्ति की, निर्युक्ति से भी समझ में न आये तो क्रमशः अवचूर्णि, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रन्थों की सहायता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अनुयोग चूर्णि, विशेषावश्यक भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य की टीका की रचना कर जिनशासन की महती सेवा की।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ३० वर्ष तक सामान्य साधु-पर्याय में और ६० वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए कुल मिलाकर ९० वर्ष के अपने साधना-काल में विपुल साहित्य का सृजन कर जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की। १००

वर्ष से ऊपर की अवस्था हो जाने पर भी वे साहित्य-सृजन में लीन रहे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना प्रारम्भ की। वे इस वृत्ति की षष्ठ गणधरवाद तक ही रचना कर पाये थे कि वे स्वर्गस्थ हो गये। उनके इस प्रारम्भ किये हुए कार्य को कोट्याचार्य ने सम्पन्न किया।

इस प्रकार जीवन पर्यन्त जिनशासन की महती सेवा कर युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण १०४ वर्ष, ६ मास और ६ दिन की आयु पूर्ण कर वीर नि. सं. १११५ में स्वर्गस्थ हुए। अपने पार्थिव शरीर के रूप में वे आज नहीं रहे पर प्रकाशप्रदीप के समान उनकी कृतियां विगत लगभग १४०० वर्षों से श्रमण-श्रमणी वर्ग, साधक वर्ग विद्वद्वर्ग को मार्गदर्शन करती आ रही हैं और भविष्य में भी करती रहेंगी।

जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल के विशिष्ट प्रतिभाशाली आचार्य

(१) सिद्धसेन क्षमाश्रमरण

तीसवें युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल में सिद्धसेन क्षमाश्रमरण नामक एक विशिष्ट प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं। वे जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण का गुरु तुल्य सम्मान करते थे। श्री सिद्धसेन क्षमाश्रमरण ने जीतकल्प चूर्णि और निशीथ भाष्य की रचना की। उन्होंने जीतकल्प चूरिण के आद्य मंगल में जिनभद्रगरिण को नमस्कार करते हुए उनके लिए "मुरिणवरा सेवंति सया" (गाथा सं. ६) और "दससु वि दिसासु जस्स य अरणुओगो भमई" (गाथा सं. ७) इन पदों में वर्तमान काल का प्रयोग किया है। इससे अनुमान किया जाता है कि वे जिनभद्रगरिण के साक्षात् शिष्य अथवा समकालीन लघुवयस्क आचार्य हों।

(२) कोट्याचार्य

युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधानाचार्य काल में कोट्याचार्य नामक एक विद्वान् आचार्य हुए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना प्रारम्भ की थी और वे षष्टम गरणधरवाद तक ही इस वृत्ति की रचना कर पाये थे कि १०४ वर्ष, ६ मास और ६ दिन की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार आपकी वह विशेषावश्यक की स्वोपज्ञ वृत्ति अपूर्ण ही रह गई थी।

कोटयाचार्य ने उस अपूर्ण रही हुई वृत्ति को १३७०० श्लोक परिमाण में पूर्ण किया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि श्री कोट्याचार्य उन महान् ग्रन्थकार युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के ही शिष्य थे और उन्होंने निरन्तर अपने गुरु की सेवा में रहकर इन महान् ग्रन्थों के प्रणयन में उनको उनके अन्तिम दिनों तक सहयोग देते रहे थे। वे अपने गुरु जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के आगमपक्षीय ज्ञान और उनकी शैली से पर्याप्तरूपेण परिचित कृपा पात्र शिष्य थे। अपने गुरु की अपूर्ण रही रचना को शिष्य के द्वारा पूर्ण किये जाने के अनेक उदाहरण जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं। अपने गुरु की ग्रन्थप्रणयन शैली से परिचित होने के परिणामस्वरूप ही वे विशेषावश्यक भाष्य की अपूर्ण रही विशाल वृत्ति को पूर्ण करने में सफल हुए।

युग प्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण के आचार्यकाल के अन्य गरण एवं गच्छ

जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल में वीर नि. सं. १०५६ में नागेन्द्र गच्छ की स्थापना हुई।

शंकरसेन, जसोभद्र एवं जिनभद्रगणि के आचार्यकाल के राजवंश

युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधानाचार्य काल में वल्लभी पर शीलादित्य प्रथम का राज्य था। शीलादित्य के राज्यकाल में ही उन्होंने वल्लभी में विशेषावश्यक भाष्य की रचना की।

हूण राजवंश

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधानाचार्य काल में हूण राज मिहिरकुल का मालवा और राजस्थान के अनेक हिस्सों पर राज्य था। वीर नि० सं० १०२९ के आस-पास अपने पिता मालवराज तोरमाण की मृत्यु के उपरान्त यह मालवा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि श्रावस्ती का राजा मिहिरकुल बौद्धों का बड़ा शत्रु था। इतिहासज्ञों का अभिमत है कि मिहिरकुल शैवमतानुयायी था। विदेशी हूण होते हुए भी उसने हिन्दूधर्म अंगीकार कर लिया था और वह शिव का परम भक्त था। मिहिरकुल बौद्ध स्तूपों और संघारामों को नष्ट कर बौद्धों को लूट लिया करता था। उसने अपने शासनकाल में बौद्ध भिक्षुओं को अनेक प्रकार के कष्ट दिये। वीर नि० सं० १०५९ के लगभग यशोधर्मा ने मिहिरकुल को युद्ध में करारी हार दी, इस प्रकार का उल्लेख मन्दसौर के विजयस्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में विद्यमान है।[1]

चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि :—

---

[1] स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपणतां प्रापितं नोत्तमांगः,
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्गं शब्दाभिमानम्।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति भुजबलावर्जने क्लिष्ट मूर्द्धना,
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुल नृपेणार्चितं पादयुग्मम्॥
(फ्लीकोरपस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, जिल्द ३, गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स, पृष्ठ १४२ वर्ग ६)

"जब मगध के राजा बालादित्य ने मिहिरकुल के अत्याचारों के सम्बन्ध में सुना तो उसने अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा के लिये प्रयत्न किया और मिहिरकुल को कर देना बन्द कर दिया। इस पर मिहिरकुल ने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण कर दिया। बालादित्य ने उस युद्ध में मिहिरकुल को पूर्णरूपेण पराजित कर बन्दी बना लिया। कालान्तर में मिहिरकुल की माता की प्रार्थना पर बालादित्य ने उसे मुक्त कर दिया। मिहिरकुल की पराजय के समाचार सुन कर उसके छोटे भाई ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। इस कारण मिहिरकुल ने बालादित्य के कारागार से मुक्त होते ही काश्मीर में शरण ली। कुछ ही समय पश्चात् उसने काश्मीर के राजा को मारकर काश्मीर पर अपना अधिकार जमा लिया। तदनन्तर उसने गान्धार प्रदेश पर अधिकार कर वहां के बौद्ध संघारामों को नष्ट किया।"

अधिकांश इतिहासकार चीनी यात्री के इस विवरण को इसलिये प्रामाणिक नहीं मानते कि राजतरंगिणी के उल्लेखानुसार मिहिरकुल का पहले से ही काश्मीर पर अधिकार था। अधिकांश विद्वान् मन्दसौर के विजयस्तम्भ के उपरोक्त शिलालेख को ही प्रामाणिक मानते हैं।

विचार करने पर चीनी यात्री के यात्रा-विवरण पर भी सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। यह संभव है कि मिहिरकुल को यशोधर्मा ने पराजित किया हो। मंदसौर के विजयस्तम्भ के शिलालेख की अंतिम पंक्ति "चूड़ापुष्पोपहारैर् मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्" से स्पष्ट रूपेण यही प्रकट होता है कि यशोधर्मा ने मिहिरकुल को पराजित कर न तो मारा ही और न बन्दी ही बनाया। केवल उसने उससे अपने चरणयुगल की सेवा करवाई – उसे अपना अधीनस्थ कर-दाता राजा बना कर छोड़ दिया। उसके पश्चात् मिहिरकुल की शक्ति को क्षीण हुई देखकर संभवत: बालादित्य ने मिहिरकुल को कर देना बन्द किया हो और उस कारण उसने बालादित्य पर आक्रमण कर दिया हो। इस पर संभवतः उन दोनों के बीच युद्ध हुआ हो और उसमें बालादित्य ने मिहिरकुल को, जिसकी कि शक्ति यशोधर्मा ने पहले ही क्षीण कर दी थी, बन्दी बना लिया हो। जहां तक काश्मीर राज्य का प्रश्न है, मिहिरकुल ने काश्मीर विजय पहले ही कर ली थी। उसका राज्य बलख से मध्यप्रदेश तक और पूर्वी भारत में कौशाम्बी तक फैला हुआ था। परन्तु जब वह यशोवर्धन और बालादित्य से युद्धों में उलझा रहा और दोनों ही युद्धों में पराजित हुआ तो संभव है उस समय काश्मीर पर उसी के द्वारा नियत किये हुए शासक ने अधिकार कर लिया हो और काश्मीर में शरण ले उसने येन केन प्रकारेण पुनः काश्मीर राज्य पर अधिकार कर लिया हो।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधानाचार्य काल में ही वीर नि० सं० १०६६ में उसकी मृत्यु हो गई। कल्हण की राजतरंगिणी में उल्लेख है कि मिहिर-कुल ने श्रीनगर में मिहिरेश्वर महादेव की स्थापना की और मिहिरपुर नामक नगर बसाया। उस अवसर पर उसने कन्दहार (कन्धार) के ब्राह्मणों को विपुल दान दिया। अन्त समय में वह रोगग्रस्त हो गया और असह्य पीड़ा के कारण उसने अग्निप्रवेश किया। इस प्रकार कुल मिलाकर ७० वर्ष तक राज्य कर वह पंचत्व को प्राप्त हुआ।

श्रमण भगवान् के ३१वें पट्टधर आचार्य
श्री वीर सेन

जन्म	—	वीर नि. सं. १०४०
दीक्षा	—	„ „ १०७५
आचार्य पद	--	„ „ १११६
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. ११३२
गृहवास-पर्याय	—	३५ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	४१ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	१६ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	५७ वर्ष
पूर्ण आयु	—	९२ वर्ष

भ. महावीर के ३०वें पट्टधर आचार्य श्री जसोभद्र स्वामी के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् उनके सकल विद्या निष्णात, क्रियानिष्ठ एवं शास्त्रसार मर्मज्ञ विद्वान् शिष्य श्री वीरसेन को वीर नि. सं. १११६ तदनुसार विक्रम सं. ६४६ में भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इस प्रकार आचार्य वीरसेन वीर प्रभु के ३१वें पट्टधर हुए।

—o—

श्रमण भगवान् महावीर के ३२वें पट्टधर आचार्य श्री वीरजस

जन्म	—	वीर नि० सं० ११०३
दीक्षा	—	वीर नि० सं० १११८
आचार्य पद	—	वीर नि० सं० ११३२
स्वर्गारोहण	—	वीर नि० सं० ११४९
गृहवास पर्याय	—	१५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	१४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	१७ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	३१ वर्ष
पूर्ण आयु	—	४६ वर्ष

वीर निर्वाण सं० ११३२ में भगवान् महावीर की मूल परम्परा के ३१वें आचार्य श्री वीरसेन के दिवंगत हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी प्रमुख विद्वान् शिष्य श्री वीरजस को उसी वर्ष में भगवान् महावीर के ३२वें पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर आसीन किया गया। श्री वीरजस ने १५ वर्ष की स्वल्पायु में प्रभु के ३१वें पट्टधर आचार्य वीरसेन से पंच महाव्रत रूप श्रमण धर्म की दीक्षा अंगीकार कर अपनी १४ वर्ष की सामान्य साधु पर्याय में आगमों के साथ-साथ विविध विषयों के ग्रन्थों का अध्ययन किया। मुनि वीरजस की सुतीक्ष्ण बुद्धि एवं आर्जव-मार्दव वाग्मिता, विनय, भव्य व्यक्तित्व आदि गुणों पर मुग्ध होकर चतुर्विध संघ ने उन्हें २९ वर्ष जैसी पूर्ण यौवन-वय में आचार्य पद के गुरुतर भार को वहन करने के योग्य समझ कर भगवान् महावीर के ३२वें पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर आसीन किया।

श्रमण भगवान् महावीर के ३३वें पट्टधर आचार्य श्री जयसेन

जन्म	—	वीर नि० सं० ११००
दीक्षा	—	वीर नि० सं० ११३५
आचार्य पद	—	वीर नि० सं० ११४९
स्वर्गारोहण	—	वीर नि० सं० ११६७
गृहवास पर्याय	—	३५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	१४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	१८ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	३२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	६७ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के ३२वें पट्टधर आचार्य श्री वीरजस के स्वर्गवास के अनन्तर वीर निर्वाण सं० ११४९ में प्रभु के ३३वें पट्टधर के रूप में विद्वान् श्रमण श्रेष्ठ श्री जयसेन को चतुर्विध तीर्थ के आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आपने वीर नि० सं० ११३५ से ११६७ पर्यन्त ३२ वर्ष तक विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए एवं वीर निर्वाण सं० ११४९ से ११६७ तक आचार्य पद के गुरुत्तर कार्यभार को सफलतापूर्वक वहन कर जिन शासन की महती सेवा की।

इकत्तीसवें (३१) युग प्रधानाचार्य श्री स्वाति
(हारित गोत्रीय स्वाति से भिन्न)

जन्म	—	वीर नि० सं० १०८७
दीक्षा	—	वीर नि० सं० ११०७
सामान्य साधु पर्याय	—	वीर नि० सं० ११०७ से १११५
युगप्रधानाचार्य काल	—	वीर नि० सं० १११५ से ११९७
स्वर्ग	—	वीर नि० सं० ११९७
सर्वायु	—	११० वर्ष, २ मास और दो दिन

तीसवें युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने पर वीर निर्वाण संवत् १११५ में चतुर्विध संघ ने आर्य स्वाति को युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन किया।

आर्य स्वाति का नाम उमास्वाति भी उपलब्ध होता है। अनेक पट्टावलियों में इन्हें वाचक भी लिखा गया है।

आर्य स्वाति का जन्म वीर निर्वाण सम्वत् १०८७ में हुआ। वीर निर्वाण सं० ११०७ में २० वर्ष की अवस्था में आपने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

वीर निर्वाण सम्वत् १११५ से ११९७ तदनुसार ८२ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद का गुरुतर भार वहन करते हुए आर्य स्वाति ने जिन शासन की महती सेवा की।

११० वर्ष, २ मास और २ दिन की आयु पूर्ण कर आप वीर निर्वाण सम्वत् ११९७ में स्वर्गस्थ हुए।

उमा स्वाति के सम्बन्ध में 'विचार श्रेणि' में एक गाथा उपलब्ध होती है जो इस प्रकार है :—

बारसवास सएसु, पन्नासहिएसु वद्धमाणाओ ।
चउद्दसि पढम पवेसो, पकप्पिओ साइसूरिहिं ।।

अर्थात्—पन्नासहिएसुं यानि वीर निर्वाण के बारह सौ (१२००) वर्ष बीतने में जब ५० (पचास) वर्ष कम रहे, उस समय अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् ११५० में स्वाति सूरि द्वारा सर्व प्रथम चतुर्दशी के दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की परिपाटी प्रारम्भ की गई।

'रत्नसंचय' ग्रन्थ में इससे कुछ भिन्न निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है :–

वारसवास सएसु पुणिम दिवसाओ पक्खियं जेण ।
चाउद्दसी पठवेसु पकप्पिओ साहिसूरिहिं ।।

अर्थात् वीर निर्वाण से १२०० (बारह सौ) वर्ष पश्चात् साहि सूरि ने पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा से हटाकर चतुर्दशी के दिन प्रचलित किया।

उमास्वाति और ये स्वाति भिन्न-भिन्न हैं। एक नहीं।

इससे अधिक जानकारी इनके सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं होती।

थारपद्रगच्छ

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वें पट्टधर आचार्य श्रीहरिषेण के आचार्य-काल में हारिलगच्छ के पांचवें पट्टधर आचार्य बटेश्वर सूरि हारिल गच्छ की ही उपशाखा स्वरूप थारपद्र गच्छ के संस्थापक थे।

सोलंकी परमार राजा थिरपाल ध्रुव ने वि० सं० १०१ में थराद नामक नगर बसाया। इसी नगर में चन्द्रकुल के हारिल गच्छ के आचार्य बटेश्वरसूरि ने थारपद्र नामक एक गच्छ की स्थापना की। थराद अथवा थारपद्र नगर में इस गच्छ की स्थापना की गई थी इसलिए बटेश्वर सूरि द्वारा संस्थापित यह गच्छ लोक में थारपद्रगच्छ के नाम से विख्यात हुआ।

हारिल वंश अथवा हारिल गच्छ की पट्टावली में युगप्रधानाचार्य हारिलसूरि अपरनाम हरिगुप्त सूरि अथवा हरिभद्रसूरि को इस गच्छ का प्रथम आचार्य बताया गया है। उनके पश्चात् क्रमशः देवगुप्तसूरि, शिवचन्द्रगणि और यक्षदत्त गणि को हारिलसूरि का द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पट्टधर बताया गया है। हारिल गच्छ की परम्परा में बटेश्वर क्षमाश्रमण को हारिल गच्छ का पांचवां आचार्य बताया है।

हारिल गच्छ के चौथे आचार्य यक्षदत्त के नाग, वृन्द, मम्मड़, दुर्ग, अग्नि शर्मा और बटेश्वर ये ६ प्रमुख शिष्य थे। इन ६ के अतिरिक्त उनके और अनेक शिष्य थे। आचार्य यक्षदत्तगणि क्षमाश्रमण ने अपने उपरि नामांकित छहों विद्वान् शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किये।

उनके इन छहों शिष्यों में वय की दृष्टि से बटेश्वर सबसे छोटे थे।

आचार्य पद प्राप्त करने के पश्चात् नाग बटेश्वर प्रभृति छहों आचार्य अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार अपने-अपने श्रमणसमूह सहित विभिन्न क्षेत्रों में जैनधर्म का प्रचार करते हुए विचरण करने लगे।

आचार्य बटेश्वर विचरण करते हुए थारपद्र नगर में आये। वहां उन्होंने अपने उपदेशों से अनेक भव्यों को धर्म मार्ग पर स्थिर किया। अनेकों को सम्यक्त्व का बोध प्रदान कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र में आस्थावान् बनाया। स्वल्प समय में ही बटेश्वरसूरि के भक्तों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। अपने भक्तों के अनुरोध पर संघ का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए उन्होंने थारपद्र नगर में थारपद्रगच्छ की स्थापना की।

इस नवीन गच्छ की स्थापना के पश्चात् आचार्य बटेश्वर ने थराद, उमरकोट—जो उस समय आकाशवप्र के नाम से विख्यात था, आदि अनेक क्षेत्रों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया।

बटेश्वरसूरि बड़े ही शान्त और सौम्य प्रकृति के आचार्य थे। अपने प्रतिभाशाली प्रभावक व्यक्तित्व और वाणी की माधुरी के कारण वे उन सभी क्षेत्रों में, जहां-जहां उन्होंने विचरण किया, बड़े ही लोकप्रिय हो गये। उन्होंने अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशों से विभिन्न क्षेत्रों के अनेक भव्य प्राणियों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ एवं स्थिर किया।

आचार्य बटेश्वरसूरि के पट्टधर शिष्य का नाम तत्वाचार्य और प्रपट्टधर आचार्य का नाम उद्योतन सूरि था। इनके प्रशिष्य उद्योतनसूरि ने "कुवलयमाला" नामक एक उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ की रचना की, जो प्राकृत कथा साहित्य का अनेक शताब्दियों से बड़ा लोकप्रिय ग्रन्थ रत्न रहा है।

उद्योतनसूरि के गुरुभ्राता यक्ष महत्तर के एक महातपस्वी प्रमुख शिष्य कृष्णर्षि ने कालान्तर में कृष्णर्षिगच्छ की स्थापना की, जो हारिल गच्छ का ही उपगच्छ अथवा प्रशाखा रूपी गच्छ माना गया है।

इस थारपद्र गच्छ की एक प्रशाखा के रूप में वि० सं० १२२२ में पिप्पलक गच्छ की उत्पत्ति हुई।

थारपद्र गच्छ में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं। इस गच्छ के विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक आचार्य वादिवैताल विरुद से विभूषित शान्ति सूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर टीका की रचना की। आचार्य शान्तिसूरि द्वारा रचित उत्तराध्ययन वृत्ति अनेक गूढ़ तत्त्वों को समीचीनतया बड़ी सुगमता से समझा देने वाले अतीव रोचक एवं शिक्षाप्रद दृष्टांतों एवं हृदयस्पर्शी कथानकों से ओत-प्रोत है। इनके स्वर्गारोहण काल के सम्बन्ध में पट्टावली समुच्चयकार ने लिखा है :—

विक्रम षण्णवत्यधिक सहस्र १०९६ वर्षे श्री उत्तराध्ययनसूत्रवृत्तिकृत् थारपद्रीय गच्छीय वादि वैताल श्री शान्तिसूरि स्वर्गभाक्।

इन्हीं वादि वैताल शान्तिसूरि के सम्बन्ध में धर्मघोषसूरि ने दुस्समासमणसंघथयं की अवचूरि में लिखा है :—

वल्लभीसंघकज्जे, उज्जमिओ जुगपहाणतुल्लेहिं।
गंधव्ववाइवेआल, संतिसूरिहिं वहुलाए॥

अर्थात्—वल्लभी पर संकट के समय वादिवैताल शान्ति सूरि ने एक युगप्रधान आचार्य के समान वल्लभी के संघ के हित साधन के लिए अति कठोर परिश्रम के साथ अनेक उल्लेखनीय कार्य किये।

इस अवचूरि के रचयिता धर्मघोष वि. सं. १३२७ से १३५७ तक अर्थात् ३० वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर स्वर्गस्थ हुए।

यहां एक बात विचारणीय है, वह यह है कि वल्लभी का अन्तिम भंग अथवा अन्तिम पतन अनेक इतिहासविदों ने वि. सं. ८४५ के लगभग अनुमानित किया है और शान्तिसूरि का स्वर्गवास विक्रम सं. १०९६ में हुआ। इस प्रकार की स्थिति में अपने स्वर्गस्थ होने से २५१ वर्ष पूर्व हुए वल्लभी भंग से प्रपीड़ित वल्लभी के संघ की किसी प्रकार की सहायता की हो, इस बात की तो कल्पना तक भी नहीं की जा सकती।

यह संभव हो सकता है कि विक्रम सं. १०५० से १०९६ के बीच की अवधि में वल्लभी के जैन संघ पर किसी प्रकार का संकट आया हो और उस संकटकाल में वादिवैताल शान्ति सूरि ने वल्लभी के संघ की सहायतार्थ कठोर परिश्रम किया हो।

विक्रम की ९१५, भाद्रपद शुक्ला ५ बुधवार, स्वाति नक्षत्र में, जिस समय नागौर में ग्वालियर के महाराज आम के पौत्र महाराज भोजदेव का राज्यकाल था उस समय थारपद्रगच्छ के आचार्य जयसिंह सूरि (कृष्णर्षि के शिष्य) ने अपनी ९८ गाथात्मक धर्मोपदेश माला और उस पर ५७७८ श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति का निर्माण किया। वृत्ति की प्रशस्ति में उन्होंने थारपद्र गच्छ के संस्थापक वटेश्वरसूरि से प्रारम्भ कर स्वयं तक की अपने गच्छ (थारपद्रगच्छ) की पट्टावली दी है। उस पट्टावली में जयसिंहसूरि ने वटेश्वरसूरि को देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की स्थविरावली का आचार्य और क्षमाश्रमण विरुदधर बताया है।

थारपद्र गच्छ के संस्थापक आचार्य वटेश्वर थे, इस लिए इस गच्छ का अनेक स्थानों पर वटेश्वर गच्छ और थारपद्र गच्छ इन दोनों नामों से उल्लेख किया गया है।

राजनैतिक स्थिति

कलभ्रों द्वारा सम्पूर्ण तमिल प्रदेश पर अधिकार

'पेरियपुराण', वेल्वीकुण्डी के दानपत्र और त्रिचनापल्ली से दो माइल की दूरी पर अवस्थित सेण्डलाई (पुराना नाम चेन्द्रलेधाई चतुर्वेद मंगलम्) के अभिलेख से, (जो टी. ए. गोपीनाथ द्वारा सेन तामिल के वाल्यूम सं० ६ में प्रकाशित किया गया), बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध कलभ्र कुल के अच्युतविक्रान्त सम्बन्धी उल्लेखों, तमिल साहित्य की उत्तरकालीन कथाओं और तमिल के दसवीं शताब्दी के जैन वैयाकरण अमित सागर द्वारा कलभ्रों के सम्बन्ध में उद्धृत किये गये गीतों से यह एक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आता है कि ईसा की छठी तदनुसार वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी में विशाल सैन्यदल लेकर प्रचण्ड वेग से सम्पूर्ण तमिल प्रदेश को आक्रान्त कर कलभ्रों ने पाण्ड्य, पल्लव, चोल और चेर – इन चार शक्तिशाली राज्यों को नष्ट कर दिया जो शताब्दियों से तमिल प्रदेश के विभिन्न विशाल भागों पर राज्य करते आ रहे थे।

उन्हें पराजित कर सम्पूर्ण (तमिल) प्रदेश पर कलभ्रों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पेरिय पुराणकार ने आगे लिखा है कि उन कलभ्रों ने तमिल प्रदेश की धरती में आते ही जैनधर्म अंगीकार कर लिया। उस समय तमिलदेश में जैनों की संख्या अगणित (अपरिगणनीय) थी। जैनों के प्रभाव में आकर उन कलभ्रों ने शैव सन्तों का संहार करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने शैव देवताओं की पूजा बन्द करवा दी। यहां यह विचारणीय है कि अहिंसा के दृढ़ उपासक गिने जाने वाले जैनों ने कहीं किन्हीं का संहार जैसा कार्य किया हो, चाहे फिर उन्हें कितना ही राज्याश्रय प्राप्त रहा हो। सम्प्रति एवं खारवेल के समय भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में इतिहासज्ञों से आगे शोध की अपेक्षा है।

'पेरियपुराणम्' के इन विवरणों को पढ़ने से प्रत्येक पाठक को ऐसा आभास होता है—मानों स्वयं जैनों ने ही कलभ्रों को तमिल प्रदेश में इस अभिप्राय से आमन्त्रित किया हो कि उनके धर्म की स्थिति तमिल प्रदेश में और अधिक सुदृढ़ एवं सशक्त हो जाय।

कलभ्रों द्वारा तमिल प्रदेश पर आक्रमण, मदुरा के पाण्ड्यराज की कलभ्रों द्वारा पराजय, चोल, चेर और पल्लवों के राज्यों पर कलभ्रों द्वारा अधिकार—इस पूरे घटनाचक्र के सम्बन्ध में उपरिलिखित पेरियपुराणम् आदि के उल्लेखों के अतिरिक्त और कोई उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

सेण्डलेइ (चेन्द्रलेघई) के जिस उपर्युल्लिखित अभिलेख को श्री टी. ए. गोपीनाथ राव ने सेन तमिल के वोल्यूम सं० ६ में प्रकाशित करवाया है, वह सेण्डलेइ ग्राम के 'मीनाक्षी सुन्दरेश्वरार' नामक शैव मन्दिर के स्तम्भों पर बड़े ही सुन्दर ढंग से उट्टंकित है। इन स्तम्भों के सम्बन्ध में श्री गोपीनाथ राव का अभिमत है कि वस्तुतः ये स्तम्भ किसी अन्य मन्दिर के स्तम्भ थे, संभवतः पूर्वकाल में ये किसी सिल्वन देवी के मन्दिर के स्तम्भ हों। इन स्तम्भों पर 'पेरम्पिड्डुगु मुत्तराइयन' नामक राजा और उसके उत्तराधिकारी राजाओं के नाम उट्टंकित हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. पेरम्पिड्डुगु मुत्तरायन प्रथम-अपर नाम कुवावन मारन्। उसका पुत्र :—

२. ल्लंगोवति एरैयन-अपरनाम-मारन परमेश्वरन्, उसका पुत्र :—

३. पेरम्पिड्डुगु मुत्तराइयन द्वितीय, अपरनाम-सुवरन मारन्

४. श्री मारन्

५. श्री कल्वरकल्वन,

६. श्री शत्रुकेसरी

७. श्री कलभ्रकल्वन

८. श्री कल्वकल्वन्

इस कल्वकल्वन के स्थान पर कहीं-कहीं पण्डारम् भी है। इनकी मारन् और नेन्दुमारन् इन उपाधियों से यही प्रकट होता है कि ये पाण्ड्यों के विजेता थे। उक्त अभिलेख में उल्लिखित राजाओं के आगे कल्वरकल्वन, कलभ्रकल्वन और कल्वकल्वन—ये तीन उपाधियां उट्टङ्कित हैं, उन तीनों का एक ही अर्थ होता है—लुटेरों के लुटेरे, अथवा राजाओं को लूटने वाले। इससे यह अनुमान किया जाता है कि वेल्विकुण्डी के दानपत्र में जिन कलभ्रों का उल्लेख है, वे वास्तव में कल्वर अथवा कल्लार थे। कल्वर शब्द भी देखा जाय तो कलभ्र शब्द का ही दूसरा रूप है क्योंकि कन्नड़ भाषा में 'भ' को 'व' पढ़ा जाता है।

जब उन कलभ्रों ने पाण्ड्य राज्य पर विजय प्राप्त कर उसे कुछ समय के लिये अपने अधिकार में कर लिया तो इस विजय के उपलक्ष में कलभ्र राजाओं ने 'मुत्ताराइन' की उपाधि धारण कर ली। 'मुत्ताराइन' शब्द का एक अर्थ तो होता है 'तीन राज्यों अथवा तीन वरतियों के स्वामी' और दूसरा अर्थ होता है 'मोतियों के स्वामी।' इन राजाओं द्वारा धारण की गई 'मुत्ताराइन' उपाधि का यहां पहला अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि वेल्विकुण्डी—दानपत्र के उल्लेखानुसार

उन्होंने चोल, पाण्ड्य और चेर इन तीन देशों अर्थात् इन तीन राज्यों को जीता था। पूर्वकालीन साहित्य में देश शब्द राज्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा है।

उत्तरकालीन तमिल कथासाहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कलभ्रों ने चोल, चेर और पाण्ड्य इन तीनों ही शक्तिशाली राज्यों के राजाओं को युद्ध में परास्त करके तमिल प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कलभ्रों के आक्रमण के परिणामस्वरूप चोल राज्य पूर्णतः नष्ट हो गया और चोलों के द्वारा स्थापित सुन्दर प्रशासनिक व्यवस्था भी समाप्त हो गई। चोलों द्वारा संस्थापित प्रशासनिक व्यवस्था में स्थानीय स्वशासनाधिकार को बड़ा प्रोत्साहन दिया गया था पर साथ ही समग्र प्रशासनिक व्यवस्था पर केन्द्र का सुदृढ़ और सबल नियन्त्रण भी रहता था।

कलभ्रों द्वारा तमिल प्रदेश पर किये गये इस अधिकार के सम्बन्ध में पेरियपुराण में जो विवरण दिया गया है, उसमें यह नहीं बताया गया है कि ये कलभ्र कौन थे और किस प्रान्त से अथवा किस राज्य से आये थे, इस सम्बन्ध में केवल इतना ही उल्लेख है कि वे लोग बडुग कर्णाटक लोग थे। इससे कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि कलभ्र कर्णाटक तथा आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे।

त्रिचनापल्ली जिले में, वर्तमान काल में मुत्ताराइर हैं, जो साधारण भू-स्वामी हैं। आन्ध्र प्रदेश में वे मुत्तुराजक्कल के नाम से अभिहित किये जाते हैं। मेलुर ताल्लुक में जो मुत्ताराइन हैं वे अम्वलकारन कहे जाते हैं और उनकी जाति कल्लार है।

कलभ्रों के सम्बन्ध में इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर निश्चित रूप से तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे आन्ध्र प्रदेश से आये थे अथवा कर्णाटक प्रदेश से, अथवा वे तमिल प्रदेश के ही निवासी थे। पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कलभ्र दक्षिण भारत के ही निवासी थे।

इतिहास के कतिपय मूर्धन्य विद्वानों ने, दिगम्बर परम्परा के दर्शनसार नामक केवल ५१ गाथाओं के छोटे से किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ की गाथा सं० २४ से २८ में वर्णित द्रविड़ संघ की वि० सं० ५२६ (वीर नि० सं० ६९६, तदनुसार ई० सन् ४६९) में मदुरा में उत्पत्ति की घटना को लेकर जैनों द्वारा हिन्दुओं की प्रतिस्पर्धा में नये साहित्यिक संगम की स्थापना की कल्पना कर ली है। इस कल्पना के आधार पर उन्होंने अपना अभिमत व्यक्त किया है कि इस प्रकार नये साहित्यिक संगम की स्थापना से हिन्दुओं और जैनों के हृदयों में परस्पर मनोमालिन्य उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता ही गया। मदुरा में द्रविड़ संघ के निर्माण के थोड़े समय पश्चात् ही कलभ्रों ने तमिल प्रदेश के चोल, चेर और पाण्ड्य इन तीनों राजाओं के राज्यों पर आक्रमण कर उन पर अधिकार कर लिया।

वस्तुस्थिति वास्तव में इससे नितान्त भिन्न ही है। दर्शनसार में केवल द्रविड़ संघ ही नहीं अपितु जैनों में समय-समय पर श्वेतपट संघ, यापनीय संघ, काष्ठा संघ, माथुर संघ आदि विभिन्न इकाइयों के रूप में उत्पन्न हुए जैन संघ के ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, आम्नाओं अथवा शाखा-प्रशाखाओं के प्रादुर्भाव का वर्णन है। विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग सभी धर्मों के भेदभाव की भावना से रहित उच्चकोटि के विद्वानों के जो संगम आयोजित किये जाते रहते थे और जिनमें सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ—रचनाओं को उस संगम की ओर से मान्यता प्रदान की जाती थी, उस प्रकार के संगम से मदुरा में हुए द्रविड़ संघ का कोई सम्बन्ध नहीं। जैन श्रमण के लिये परम्परा से जो कार्य वर्जनीय माने गये हैं, वज्रनन्दि ने अपने पक्ष के श्रमणों को उनमें से कतिपय कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की, अर्थात् जैन श्रमण की दिनचर्या के कठोर आचरणीय कार्यों से कतिपय में छूट दी। वह कोई देश के चोटी के विद्वानों की महान् कृतियों के गुणावगुण आंकने के लिये आमन्त्रित विद्वद्वर्यों का संगम नहीं अपितु पहले से ही अनेक इकाइयों में विभक्त हुए जैन संघ में एक और फूट उत्पन्न करने वाला कतिपय साधुओं का सम्मिलन मात्र था, जिसमें निम्नलिखित घोषणाएं की गई :—

वीजों में कोई जीव नहीं होता। प्रासुक, सावद्य अथवा गृहीकल्पित आदि को हम नहीं मानते। कृषि, वाणिज्य आदि से साधु अपना पोषण करे और शीतल जल से स्नान करे। इसमें कोई दोष अथवा पाप नहीं है।

तमिल भाषा के प्राचीन जैन साहित्य में सर्वप्रथम स्थान पर 'तिरु कुरल' और दूसरे स्थान पर 'नालडियार' की गणना की जाती है। नालडियार में 'मुत्तरायर' के नाम से कलभ्रों का बड़े आदर एवं सम्मान के साथ दो स्थानों पर उल्लेख किया गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि तमिल प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने एवं चोल, चेर एवं पाण्ड्य इन तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामी बन जाने के पश्चात् कलभ्रों ने यह मुत्तरायर उपाधि धारण की।

नालडियार के पद अथवा छंद संख्या २०० में कलभ्रों की दानशीलता की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—"तीन भूमियों अर्थात् तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामी बड़ी ही उदारतापूर्ण प्रसन्नता के साथ पेट भर चावल और स्वादिष्ट भोजन लोगों को देते हैं। वस्तुतः वे (तीन भूमियों के स्वामी) महान् हैं।"

इसी प्रकार नालडियार के छन्दोबद्ध पद संख्या २९६ में कलभ्रों को तीन भूमियों के स्वामी के नाम से स्मरण करते हुए कहा गया है—"वे लोग वास्तव में गरीब अथवा कंगाल ही हैं, जो अपार सम्पत्ति के स्वामी दिखते हुए भी लोगों को (अन्न, धन आदि के रूप में) कुछ भी नहीं देते। तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामी मुत्तरायर (कलभ्र) वस्तुतः ऐसे सम्पत्तिशाली मानव हैं, जिनकी सम्पत्ति का कोई पारावार नहीं।"

इस नालडियार की रचना के सम्बन्ध में परम्परा से यह धारणा अथवा मान्यता चली आ रही है कि अपने क्षेत्रों में दुष्काल की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर ८००० जैन श्रमण, जब तक उनके क्षेत्रों में दुष्काल का प्रभाव कम नहीं हुआ तब तक पाण्ड्य राज्य की राजधानी में रहे। दुष्काल की समाप्ति के पश्चात् जब उनके क्षेत्रों में पुनः सभी भांति की सुखद स्थिति उत्पन्न हो गई तो वे ८ हजार जैन साधु अपने प्रदेश की ओर लौटने के लिए उद्यत हुए।

पाण्ड्यराज उन विद्वान् जैन साधुओं की सत्संगति से बड़ा प्रभावित हो चुका था और अब वह इस प्रकार के महापुरुषों की सत्संगति से वंचित नहीं रहना चाहता था, अतः जब उसे ज्ञात हुआ कि वे ८ हजार जैन श्रमण स्वदेश की ओर लौट रहे हैं तो पाण्ड्यराज ने उन्हें स्वदेश लौटने की अनुमति प्रदान नहीं की।

कतिपय दिनों के अन्तराल के पश्चात् उन सभी श्रमणों ने अपने-अपने आसन के नीचे ताड़पत्र पर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया और वे सब रात्रि के अंधकार में नगर से बाहर निकलकर स्वदेश की ओर प्रस्थान कर गये। उन श्रमणों के चले जाने की बात सुनकर पाण्ड्यराज बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उसी समय जहां वे ८ हजार मुनि इतने समय तक रहे थे, उस स्थान की राज्याधिकारियों के द्वारा तलाशी ली, जिसमें उन्हें वे ८ हजार पत्र मिले जिन पर ८ हजार छन्दवद्ध पद्य लिखे हुए थे। उन पत्रों को लेकर राजपुरुष अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। पाण्ड्य नरेश ने अपने अधिकारियों को आज्ञा प्रदान की कि उन सब पत्रों को तत्काल वैगाई नदी के प्रवाह में बहा दिया जाय।

पाण्ड्यराज ने जब यह देखा कि ८ हजार पत्रों में से ४०० पत्र नदी के प्रवाह की विपरीत दिशा में वहने लगे और धीरे-धीरे नदी के उस तट की ओर वहते हुए, जिस तट पर कि राजा, राज्याधिकारी एवं प्रजाजन खड़े थे, भूमि पर आ लगे हैं, तो पाण्ड्यराज के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। उसने उन छंदों में किसी अलौकिक शक्ति का चमत्कार जान कर उन सब पत्रों को एकत्रित करवाया। तदनन्तर एक ग्रन्थ के रूप में उनकी अनेक प्रतियां लिखवाई। यही ग्रन्थ उन अज्ञातनामा श्रमणों द्वारा रचित नालडियार के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नालडियार के संबंध में इस प्रकार की परंपरागत मान्यता के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि ४०० छंदोवद्ध पद्यों और ४० अध्यायों वाले इस नालडियार ग्रन्थ के कतिपय छन्द मदुरा के अध्यात्मनिष्ठ श्रमणों द्वारा मदुरा पर कलभ्रों के शासनकाल में बनाये गये हैं। तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामियों के रूप में नालडियार के दो छन्दों (छन्द अथवा पद्य संख्या २०० से २९६) के कलभ्रों का उल्लेख इस बात की सवल साक्षी के रूप में विद्यमान है। इससे यह सिद्ध होता

वस्तुस्थिति वास्तव में इससे नितान्त भिन्न ही है। दर्शनसार में केवल द्रविड़ संघ ही नहीं अपितु जैनों में समय-समय पर श्वेतपट संघ, यापनीय संघ, काष्ठा संघ, माथुर संघ आदि विभिन्न इकाइयों के रूप में उत्पन्न हुए जैन संघ के ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, आम्नाओं अथवा शाखा-प्रशाखाओं के प्रादुर्भाव का वर्णन है। विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग सभी धर्मों के भेदभाव की भावना से रहित उच्चकोटि के विद्वानों के जो संगम आयोजित किये जाते रहते थे और जिनमें सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ—रचनाओं को उस संगम की ओर से मान्यता प्रदान की जाती थी, उस प्रकार के संगम से मदुरा में हुए द्रविड़ संघ का कोई सम्बन्ध नहीं। जैन श्रमण के लिये परम्परा से जो कार्य वर्जनीय माने गये हैं, वज्रनन्दि ने अपने पक्ष के श्रमणों को उनमें से कतिपय कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की, अर्थात् जैन श्रमण की दिनचर्या के कठोर आचरणीय कार्यों से कतिपय में छूट दी। वह कोई देश के चोटी के विद्वानों की महान् कृतियों के गुणावगुण आंकने के लिये आमन्त्रित विद्वद्वर्यों का संगम नहीं अपितु पहले से ही अनेक इकाइयों में विभक्त हुए जैन संघ में एक और फूट उत्पन्न करने वाला कतिपय साधुओं का सम्मिलन मात्र था, जिसमें निम्नलिखित घोषणाएं की गई :—

बीजों में कोई जीव नहीं होता। प्रासुक, सावद्य अथवा गृहीकल्पित आदि को हम नहीं मानते। कृषि, वाणिज्य आदि से साधु अपना पोषण करे और शीतल जल से स्नान करे। इसमें कोई दोष अथवा पाप नहीं है।

तमिल भाषा के प्राचीन जैन साहित्य में सर्वप्रथम स्थान पर 'तिरु कुरल' और दूसरे स्थान पर 'नालडियार' की गणना की जाती है। नालडियार में 'मुत्तरायर' के नाम से कलभ्रों का बड़े आदर एवं सम्मान के साथ दो स्थानों पर उल्लेख किया गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि तमिल प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने एवं चोल, चेर एवं पाण्ड्य इन तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामी बन जाने के पश्चात् कलभ्रों ने यह मुत्तरायर उपाधि धारण की।

नालडियार के पद अथवा छंद संख्या २०० में कलभ्रों की दानशीलता की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—"तीन भूमियों अर्थात् तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामी बड़ी ही उदारतापूर्ण प्रसन्नता के साथ पेट भर चावल और स्वादिष्ट भोजन लोगों को देते हैं। वस्तुतः वे (तीन भूमियों के स्वामी) महान् हैं।"

इसी प्रकार नालडियार के छन्दोबद्ध पद संख्या २९६ में कलभ्रों को तीन भूमियों के स्वामी के नाम से स्मरण करते हुए कहा गया है—"वे लोग वास्तव में गरीब अथवा कंगाल ही हैं, जो अपार सम्पत्ति के स्वामी दिखते हुए भी लोगों को (अन्न, वन आदि के रूप में) कुछ भी नहीं देते। तीन शक्तिशाली राज्यों के स्वामी मुत्तरायर (कलभ्र) वस्तुतः ऐसे सम्पत्तिशाली मानव हैं, जिनकी सम्पत्ति का कोई पारावार नहीं।"

धर्मावलम्बी बन गया था। सुन्दर पाण्ड्य के तीन और नाम उपलब्ध होते हैं, पहला नेदुमार, दूसरा कुन पाण्ड्यन और तीसरा कुब्ज पाण्ड्य।

जिस प्रकार पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) (कांचिपति) और कुन् पाण्ड्यन, नेदुमारन अपर नाम सुन्दर पाण्ड्यन (मदुरा का पाण्ड्य राजा) ये दोनों समकालीन थे, उसी प्रकार शैव महासन्त ज्ञानसम्ब्रन्धर और शैव महासन्त तिरु अप्पर—ये दोनों शैव संत भी समकालीन थे। इनमें ज्ञानसम्बन्धर स्वल्पजीवी[1] और अप्पर दीर्घजीवी अनुमानित किये जाते हैं। अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर को तमिल प्रदेश में शैव धर्मक्रान्ति के सूत्रधार तथा पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) एवं मदुरा के पाण्ड्य महाराजा सुन्दर पाण्ड्य (कुन् पाण्ड्यन) को उनके सक्रिय प्रबल पोषक अथवा प्रसारक समझा जाता है। पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) का शासनकाल विक्रम सं० ६५७ से ६८७ तदनुसार वीर नि० सं० ११२७ से ११५७ तक का अनुमानित किया जाता है, जो कि लगभग निश्चित सा ही है।

तिरु ज्ञानसम्बन्धर ने सुन्दर पाण्ड्य को अपना परम भक्त बना कर अपने निर्देशन में उसके आदेश से सर्वप्रथम मदुरा में ५००० जैन साधुओं को घानी में पिलवा दिया। इसी प्रकार तिरु अप्पर ने कांचिपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् (प्रथम) को अपना दृढ़ अनुयायी बना कर जैनों का सामूहिक रूप से बलात् धर्म परिवर्तन करवाया। तिरु अप्पर शैव सन्त बनने से पहले न केवल एक अग्रगण्य जैनाचार्य ही थे अपितु पाटलिपुरम् (वर्तमान तिरुप्पपुलियु—तिरु पल्हिरिपुरम्) नगर के जैन मुनियों के मठ के प्रधान भी थे। इस रूप में घर के भेदों को जानने वाला व्यक्ति यदि घर को उजाड़ने के लिये उद्यत हो जाय तो साधारण घर की तो बात ही क्या लंका जैसे अभेद्य सुदृढ़ दुर्ग वाली लंका नगरी को भी देखते ही देखते धराशायी करवा सकता है— इस लोकोक्ति के अनुसार शैव सन्त बनने के पश्चात् तिरु अप्पर जैन धर्म के लिये सर्वाधिक घातक सिद्ध हुए। इन दोनों सन्तों के जीवन वृत्त एवं उनके द्वारा जैन धर्म पर किये गये घातक प्रहारों के सम्बन्ध से आगे विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायगा।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जैन धर्म तमिल प्रदेश का प्रमुख, सशक्त एवं बहुजनसम्मत धर्म रहा किन्तु मदुरा के राजा सुन्दर पाण्ड्य और काञ्ची के पल्लव राज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) के शासन काल में इस पर संकट के बादल मंडराने लगे। वस्तुतः दक्षिणापथ में जैन संघ पर यह एक घातक प्रहार था। इस प्रहार से दक्षिण में जैनधर्म की ऐसी अपूरणीय क्षति हुई कि जिसकी पूर्ति लगभग १३ शताब्दियों के प्रयासों के उपरान्त भी आज तक नहीं हो पाई है।

---

[1] हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पिपुल वाल्यूम ३, पेज ३३० तीसरी आवृत्ति सन् १९७० भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

है कि नालडियार जिस समय वर्तमान रूप में लिपिबद्ध किया गया, उस समय मदुरा पर कलभ्रों का राज्य था।[1]

कलभ्रों का तमिल प्रदेश पर अनुमानतः अर्द्ध शताब्दी तक शासन रहा। कडुंगोन नामक मदुरा के पाण्ड्य राजा ने एक ओर से तथा दूसरी ओर से कांचीपति पल्लव राज सिंह विष्णु ने सैनिक दृष्टि से सुनियोजित ढंग से कलभ्रों पर आक्रमण प्रारम्भ किये और उन्होंने एक कड़े संघर्ष के पश्चात् कलभ्रों की सत्ता को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की।

कलभ्रों के शासन को समाप्त करने के अनन्तर भी कांचीपति पल्लवराज सिंह विष्णु ने सन्तोष नहीं किया। उसने अपने राज्य की सीमाओं का कावेरी तक के सम्पूर्ण भूभाग को जीतकर कावेरी तक उसका विस्तार किया। उसे अनेक बार पांड्यराज कडुंगोन और श्री लंका के शासक के साथ भी संघर्ष करने पड़े। अनेक सैनिक अभियानों में निरन्तर सफलता प्राप्त करने के पश्चात् सिंह विष्णु ने अवनि-सिंह की उपाधि धारण की। मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) में जो भगवान् वराह की गुफा है, उस गुफा में सिंह विष्णु तथा उसके पुत्र महेंद्रवर्मन् के चित्र, उभरी हुई नक्काशी में चित्रित, आज भी विद्यमान हैं।

पल्लवराज सिंह विष्णु ने वीर नि. सं. ११०२ से ११२७ तक कांची के सिंहासन से राज्य करते हुए अपने राज्य को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाया। सिंह विष्णु विष्णुभक्त था। किन्तु उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् (प्रथम) जैनधर्मावलम्बी था।

वीर नि. सं. ११२७ में महेंद्रवर्मन (प्रथम) कांची में पल्लवों के राजसिंहा-सन पर आसीन हुआ। वह बहुमुखी प्रतिभाओं का धनी, कुशल राज्य निर्माता, कवि एवं संगीतज्ञ था। उसमें उसके पिता के समान ही राज्य विस्तार की लालसा थी और उसने उत्तर में कृष्णा नदी के तट से भी आगे तक अपनी राज्य सीमाओं का विस्तार किया।

तमिल प्रदेश में जैन धर्म के शताब्दियों से चले आ रहे वर्चस्व पर घातक प्रहार करने वाला शैव महासन्त तिरुअप्पर इसका न केवल समकालीन ही था अपितु उसका गुरु भी था। अप्पर के संसर्ग में आने के पश्चात् कांचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् ने जैनधर्म का परित्याग कर शैव धर्म अङ्गीकार कर लिया।

तिरु अप्पर के समकालीन शैव महासन्त ज्ञानसम्बन्धर के चमत्कारों से प्रभावित होकर मदुरा का राजा सुन्दर पाण्ड्य भी जैन धर्म का परित्याग कर शैव

[1] स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर एण्ड बी. शेषगिरि राव एम. ए. विजयनगरं, पृष्ठ ८६

धर्मावलम्बी बन गया था। सुन्दर पाण्ड्य के तीन और नाम उपलब्ध होते हैं, पहला नेदुमार, दूसरा कुन पाण्ड्यन और तीसरा कुब्ज पाण्ड्य।

जिस प्रकार पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) (कांचिपति) और कुन् पाण्ड्यन, नेदुमारन अपर नाम सुन्दर पाण्ड्यन (मदुरा का पाण्ड्य राजा) ये दोनों समकालीन थे, उसी प्रकार शैव महासन्त ज्ञानसम्बन्धर और शैव महासन्त तिरु अप्पर—ये दोनों शैव संत भी समकालीन थे। इनमें ज्ञानसम्बन्धर स्वल्पजीवी[1] और अप्पर दीर्घजीवी अनुमानित किये जाते हैं। अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर को तमिल प्रदेश में शैव धर्मक्रान्ति के सूत्रधार तथा पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) एवं मदुरा के पाण्ड्य महाराजा सुन्दर पाण्ड्य (कुन् पाण्ड्यन) को उनके सक्रिय प्रबल पोषक अथवा प्रसारक समझा जाता है। पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) का शासनकाल विक्रम सं० ६५७ से ६८७ तदनुसार वीर नि० सं० ११२७ से ११५७ तक का अनुमानित किया जाता है, जो कि लगभग निश्चित सा ही है।

तिरु ज्ञानसम्बन्धर ने सुन्दर पाण्ड्य को अपना परम भक्त बना कर अपने निर्देशन में उसके आदेश से सर्वप्रथम मदुरा में ५००० जैन साधुओं को घानी में पिलवा दिया। इसी प्रकार तिरु अप्पर ने कांचिपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् (प्रथम) को अपना दृढ़ अनुयायी बना कर जैनों का सामूहिक रूप से बलात् धर्म परिवर्तन करवाया। तिरु अप्पर शैव सन्त बनने से पहले न केवल एक अग्रगण्य जैनाचार्य ही थे अपितु पाटलिपुरम् (वर्तमान तिरुप्पपुलियु—तिरु पल्हिरिपुरम्) नगर के जैन मुनियों के मठ के प्रधान भी थे। इस रूप में घर के भेदों को जानने वाला व्यक्ति यदि घर को उजाड़ने के लिये उद्यत हो जाय तो साधारण घर की तो बात ही क्या लंका जैसे अभेद्य सुदृढ़ दुर्ग वाली लंका नगरी को भी देखते ही देखते धराशायी करवा सकता है— इस लोकोक्ति के अनुसार शैव सन्त बनने के पश्चात् तिरु अप्पर जैन धर्म के लिये सर्वाधिक घातक सिद्ध हुए। इन दोनों सन्तों के जीवन वृत्त एवं उनके द्वारा जैन धर्म पर किये गये घातक प्रहारों के सम्बन्ध से आगे विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायगा।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जैन धर्म तमिल प्रदेश का प्रमुख, सशक्त एवं बहुजनसम्मत धर्म रहा किन्तु मदुरा के राजा सुन्दर पाण्ड्य और काञ्ची के पल्लव राज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) के शासन काल में इस पर संकट के बादल मंडराने लगे। वस्तुतः दक्षिणापथ में जैन संघ पर यह एक घातक प्रहार था। इस प्रहार से दक्षिण में जैनधर्म की ऐसी अपूरणीय क्षति हुई कि जिसकी पूर्ति लगभग १३ शताब्दियों के प्रयासों के उपरान्त भी आज तक नहीं हो पाई है।

---

[1] हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पिपुल वाल्यूम ३, पेज ३३० तीसरी आवृत्ति सन् १९७० भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

जैन धर्म दक्षिणापथ में संकटापन्न स्थिति में

गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट और होय्सल (पोय्सल)—इन चार राजवंशों के परिचय में बताया जा चुका है कि शताब्दियों तक जैनधर्म को प्रमुख प्रश्रय देने वाले इन राजवंशों के राजाओं, रानियों, प्रधानामात्यों, दण्डनायकों, सामन्तों, अमात्यों और प्रायः सभी वर्गों के प्रजाजनों द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उत्कर्ष की दिशा में किये गये विविध आयामी कार्यों के परिणामस्वरूप जैनधर्म की गणना दक्षिण के प्रमुख धर्मों में की जाने लगी और उसका प्रायः सभी दक्षिणी प्रदेशों में, राज्यों में ईसा की दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक पूर्ण वर्चस्व रहा।[1]

एतद्विषयक पूर्व में किये गये जैन संहार चरितम् और पेरियपुराण के उल्लेखों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि तमिल प्रदेश में ज्ञानसम्बन्धर, अप्पर आदि शैव सन्तों द्वारा शैवधर्म के प्रचार-प्रसार एवं अभ्युदय के लिये प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के समय भी जैनधर्म दक्षिणापथ का बहुजनसम्मत और सर्वाधिक वर्चस्वशाली धर्म था। अपने इस वर्चस्वकाल में जैन आचार्यों, श्रमणों और विद्वानों ने तमिल, तेलुगू, कन्नड़ आदि दक्षिण की भाषाओं में अनेक अनमोल एवं अप्रतिम ग्रन्थरत्नों की रचनाएं कर वहां के निवासियों में ज्ञान के चहुँमुखी प्रसार के साथ-साथ दक्षिणापथ के साहित्य को सदा सर्वदा के लिये समृद्ध बना दिया। सरस्वती की इस उत्कट उपासना के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण दक्षिणापथ में जैन मुनियों को ज्ञान का प्रतीक मानकर सर्वत्र उनकी यशोगाथाएं गाई जाने लगीं। उन गाई जाने वाली यशोगितिकाओं के पदों में से एक पद इस प्रकार है :—

सवणं बलपंगोले गांडिवि बिल्गोले बलविरोधि वज्रङ्गोले दा-
नवरिपु चक्रंगोले कौरवारि गदेगोले पोणर्कगावं निल्वं ॥

अर्थात्—विद्या के क्षेत्र में—ज्ञान के क्षेत्र में जैन मुनि के समक्ष कौन खड़ा रह सकता है? जिस प्रकार अर्जुन के गाण्डीव धनुष उठाने पर, इन्द्र के वज्र उठा लेने पर, विष्णु के चक्र उठाने और

---

1. In fact a close study of Indian religious movements particularly those in the Peninsula, would reveal that for nearly four centuries, second to the beginning of the seventh century Jainism was the predominant faith.

(स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, रामास्वामी एम. एस. अय्यंगर लिखित)

> भीम के गदा उठा लेने पर उनके समक्ष कोई खड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार जैन मुनि द्वारा लेखनी उठा लिये जाने पर उसके समक्ष संसार का कोई व्यक्ति नहीं ठहर सकता।

इस प्रकार अधिकाधिक लोकप्रिय होता हुआ जैन धर्म जिस समय चहुंमुखी उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर हो रहा था, उस समय ईसा की सातवीं शताब्दी में[1] शैव सन्तों ने तमिलनाडु के पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा और पल्लव राज्य की राजधानी कांची में शैव धर्म के प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया।

उस समय जैनधर्म का दक्षिण में वर्चस्व होने के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जन-जीवन के स्तर को ऊपर उठाने वाले जनकल्याणकारी कार्यों में जैन धर्मावलम्बियों के सर्वाधिक सक्रिय योगदान के फलस्वरूप जैन धर्म बहुजन सम्मत एवं सर्वाधिक लोकप्रिय बना हुआ था। शैव सन्तों ने अनुभव किया कि जब तक जैन धर्म के वर्चस्व को, उसकी लोकप्रियता को समाप्त नहीं कर दिया जाता, उन्हें अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफलता नहीं मिल सकती। जैन धर्म को अपने अभीप्सित लक्ष्य की पूर्ति में बाधक समझ कर उन्होंने सर्वप्रथम जैन धर्म पर प्रहार करने का निश्चय किया। किन्तु मदुरा और कांची के जैन संघ सुगठित एवं सशक्त थे और उन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त था। ऐसी दशा में जैन धर्म को जड़ से समाप्त करने की बात तो दूर रही, उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचाना भी उस समय बड़ा दुस्साध्य कार्य था। शैव सन्तों ने इसे सुसाध्य बनाने के लिये सर्वप्रथम येन केन प्रकारेण राजसत्ता को अपने पक्ष में करने की सोची।

मदुरापति सुन्दर पाण्ड्य जैन धर्मावलम्बी था। किन्तु उसकी रानी (चोल राजपुत्री) और पाण्ड्यराज का प्रधान मन्त्री– दोनों ही शैव थे। प्रसिद्ध शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर ने सुन्दर पाण्ड्य की रानी और प्रधानमन्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित किया। मन्त्रणा करते समय सुन्दर पाण्ड्य की रानी ने उपाय सुझाते हुए कहा :– "गुरुवर! पाण्ड्यराज की कमर में घूब (कूबड़) की ग्रन्थि उभर आने के परिणामस्वरूप वे कुबड़े हो गये हैं। उनकी कमर पूरी तरह झुक गई है। इस कारण वे सदा चिन्तित और दुःखी रहते हैं। यदि आप किसी औषधोपचार से

---

[1] (क) डा० के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री ने कांची के राजा महेन्द्रवर्मन का शासनकाल ई० सन् ६००–६३० माना है। इससे इसके समकालीन कुब्ज पाण्ड्य, अप्पर, ज्ञानसम्बन्धर और शैवों के हाथों जैनधर्म पर आये संकट का भी ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आस-पास का समय निश्चित किया जा सकता है। दक्षिण भारत का इतिहास, पृ. १२६

(ख) के. वी. सुब्रह्मण्यम् एवं रामास्वामी अयंगर भी इसे ईसा की सातवीं शताब्दी की घटना मानते हैं। (मीडिएवल जैनिज्म, बी. ए. सेलेटोर, पृ. २३५)

अथवा मन्त्र तन्त्र के चमत्कार से उनकी कमर सीधी कर सकें तो अपना अभीप्सित कार्य अनायास ही सिद्ध हो सकता है।"

कुछ क्षण विचार के पश्चात् ज्ञानसम्बन्धर ने कहा :—"मुझे विश्वास है कि भगवान् शंकर के कृपाप्रसाद से यह काम तो मैं कर दूंगा।"

रानी ने हर्षावरुद्ध कण्ठस्वर से कहा :—"गुरुवर ! तो समझ लीजिये कि अपना काम सिद्ध हो गया।"

कुछ क्षण विचारमग्न रहने के अनन्तर पाण्ड्य राजरानी ने कहा :—"मेरे मस्तिष्क में एक बड़ी सुन्दर योजना आई है। मैं आज ही महाराजा से निवेदन करूंगी कि जैन साधु बड़े ही पहुंचे हुए और अनेक प्रकार की सिद्धियों से सम्पन्न होते हैं। आपके राज्य में उनके रहते हुए आपका यह रोग दूर नहीं हो सके, आपकी कमर उत्तरोत्तर अधिकाधिक झुकती ही जाय, यह न हमारे लिये शोभास्पद है और न उनके लिये ही। अत: कल प्रात:काल ही उन्हें यहां राजसभा में बुलवा कर कहा जाय कि वे अपनी तप की, अद्भुत सिद्धियों की, अथवा मन्त्र-तन्त्र आदि चमत्कारों की शक्ति लगाकर आपकी कमर को सीधी कर दें।"

अपना कथन प्रारम्भ रखते हुए रानी ने अपने गुरु ज्ञानसम्बन्धर से कहा :— "मेरा विश्वास है कि महाराज रोग से मुक्ति पाने के लिये उन जैन साधुओं को अवश्यमेव बुलायेंगे और रोग से मुक्ति दिलाने की उनसे प्रार्थना भी करेंगे। पर वे ऐसा कोई चमत्कार करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। इससे पहले कि जैन साधु कुछ कहें, मैं राजा, राजसभा और उन जैन साधुओं के समक्ष स्पष्ट शब्दों में यह बात रख दूंगी कि जो धर्मगुरु राज-राजेश्वर पाण्ड्राज को इस रोग से मुक्ति दिलायेगा, वही पाण्ड्यराज और उसकी प्रजा का धर्मगुरु और उनका धर्म ही सबका धर्म होगा। पाण्ड्यराज अपने इस असाध्य रोग से छुटकारा पाने के लिये बड़े ही आतुर हैं अत: वे तत्काल इस पण (शर्त) को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे और इस तरह पाण्ड्यराज को शैव-धर्मावलम्बी बना लिये जाने के पश्चात् सम्पूर्ण पाण्ड्य राष्ट्र में आपको यथेप्सित रूप से शैव धर्म का प्रचार-प्रसार करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आयेगी। हमारे समक्ष करणीय कार्य यही है कि पाण्ड्यराज किसी प्रकार आपके हाथ से ही रोगमुक्त हों।"

महारानी द्वारा सुझाये गये उपाय को अपने कार्य की सिद्धि का अमोघ उपाय मानते हुए शैव सन्त ज्ञानसम्बन्धर ने कहा :—"आप विश्वास रखिये कि यौगिकी क्रिया के माध्यम से मैं पाण्ड्यराज को इस असाध्य माने जा रहे रोग से जीवन भर के लिये मुक्त कर दूंगा।"

रानी ने बड़ी ही चतुराई के साथ अपनी योजना के क्रियान्वयन हेतु अपने पति से निवेदन किया—"स्वामिन् ! भांति-भांति के उपचारादि करवाये जाने के

उपरान्त भी आपका यह रोग शान्त नहीं हुआ, बल्कि और भी उग्र रूप धारण करता जा रहा है। यह हमारे लिये बड़ी चिन्ता का विषय बना हुआ है। अब हमें इसके लिये धर्म की शरण ग्रहण करनी चाहिये। यही एक मार्ग बचा है। कल प्रातःकाल ही धर्मगुरुओं को बुलाकर उनसे प्रार्थना की जाय कि वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा, अपने त्याग-तप के बल पर अथवा किसी भी प्रकार की अलौकिक सिद्धि के प्रताप से अथवा चमत्कारादि से किसी भी प्रकार हो, आपको रोगमुक्त कर पूर्ण स्वस्थ बना दें।"

"पाण्ड्य राजराजेश्वरी ! तुम्हारा यह प्रस्ताव परमोपयोगी होने के साथ-साथ वस्तुतः बड़ा प्रशंसनीय है। इस प्रकार की व्यवस्था तो हमें इस रोग के प्रादुर्भाव काल में ही कर लेनी चाहिये थी। अस्तु, कल अवश्य ऐसा ही करेंगे।"

यह कहते हुए सुन्दर पाण्ड्य ने प्रातः काल साधुओं को ससम्मान राजसभा में निमन्त्रित करने का निर्देश सम्बन्धित अधिकारी को दिया।

दूसरे दिन प्रातः काल राजसभा में जैन साधु उपस्थित हुए। महामन्त्री ने उनसे प्रार्थना की कि वे कृपा कर अपने विशिष्ट विज्ञान अथवा विद्यावल से पाण्ड्यराज के रोग का समूल नाश कर दें।

महारानी ने भी जैन मुनियों से निवेदन किया—"भगवन् ! आप राजगुरु हैं। सब सिद्धियां आपकी चरण दासियां बनी हुई आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये प्रति पल तत्पर रहती हैं। कृपा कर आप अपने सिद्धिवल के चमत्कार से मेरे स्वामी को पूर्ण रूपेण स्वस्थ कर दें। राजराजेश्वर के रोगग्रस्त होने के कारण स्वय महाराज, समस्त प्रजाजन और हम सब चिंतित हैं। महाराज को रोगमुक्त करने के प्रयास में किसी भी प्रकार की कमी न रह जाय, इसलिये हम सब और स्वयं पाण्ड्यराज की ओर से यह पण (शर्त) रखा गया है कि जो धर्मगुरु पाण्ड्यराज को इस रोग से मुक्त कर देगा वही राजगुरु होगा। राजगुरु होने के कारण सर्वप्रथम आपको यह अवसर दिया जा रहा है। आपके असफल रहने पर अन्य को अवसर दिया जाएगा।"

पेरियपुराण के उल्लेखानुसार सर्व प्रथम जैन मुनियों ने पाण्ड्यराज को रोगमुक्त करने के लिये मन्त्र-तन्त्र आदि सभी प्रकार के उपचारों का प्रयोग किया किन्तु उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई।

अन्ततोगत्वा शैव सन्त ज्ञानसम्बन्धर को आमन्त्रित किया गया और पण को सुनाने के पश्चात् उनसे भी यही प्रार्थना की गई कि वे अपनी अलौकिक शक्ति से पाण्ड्यराज को उस असाध्य रोग से मुक्ति दिलाएं।

ज्ञान सम्बन्धर ने आशुतोष शंकर के ध्यान के साथ राजा को रोगमुक्त करने के प्रयास प्रारम्भ किये और सब के देखते-देखते ही झुकी हुई कमर वाले पाण्ड्य नरेश को पूरी तरह सीधा खड़ा कर पूर्णतः रोगमुक्त करते हुए उन्हें कुब्ज पाण्ड्य से सुन्दर पाण्ड्य बना दिया।

सुन्दर पाण्ड्य ने पण (शर्त) के अनुसार रोग से मुक्ति दिलाने वाले ज्ञान-सम्बन्धर को अपना धर्मगुरु बनाते हुए स्वयं ने भी विधिवत् शैवधर्म अंगीकार कर लिया।

सुन्दर पाण्ड्य को जैनधर्मावलम्बी से शैवधर्मावलम्बी बना लेने के पश्चात् राजा और प्रजावर्ग के मन पर ज्ञानसम्बन्धर का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ज्ञानसम्बन्धर ने पाण्ड्यराज की महारानी (चोलराजपुत्री) और पाण्ड्यराज के महामन्त्री के साथ मन्त्रणा कर जैन मुनियों को अपने धर्म की महानता सिद्ध करने की चुनौतियों पर चुनौतियां दीं और अपनी पक्षधर राजसत्ता के बल पर पणपूर्वक जैनों के साथ चमत्कारिक द्वन्द्व किये। उन धार्मिक द्वन्द्वों में जैनों को पराजित कर पेरिय पुराण एवं जैन-संहार चरितम् आदि शैव साहित्य के उल्लेखानुसार मदुरा में ५००० जैन श्रमणों को सुन्दर पाण्ड्य की आज्ञा से घानी में पिलवा दिया गया। इस तरह ज्ञान-सम्बन्धर के निदेशन में शैवों ने जैन मठों और जैन मन्दिरों को नष्ट करना और जैनधर्मावलम्बियों को बलात् धर्मपरिवर्तन कर शैव बनाना प्रारम्भ किया।

उधर अप्पर नामक शैव सन्त ने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन को जैन से शैव-धर्मावलम्बी बना कर उसके सहयोग से कांची में ज्ञानसम्बन्धर के समान ही सामूहिक संहार, बलात् सामूहिक धर्मपरिवर्तन, मठ-मन्दिर-वसदि प्रभृति जैन धर्मस्थानों के विध्वंसन आदि के रूप में जैनधर्मावलम्बियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार करने प्रारम्भ किये।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि बहुत से जैन प्राण बचाने के लिये मदुरा और कांची नगर से भाग कर अन्यत्र चले गये। पीछे रहे जैनों में से अधिकांश को बलात् शैवधर्मावलम्बी बना दिया गया और जिन लोगों की धर्म पर अटूट आस्था थी और जो धर्म को प्राणों से भी प्रिय मानते थे उन जैनों को इन दोनों शैव सन्तों के अनुयायियों द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया।

जैन धर्म पर यह एक ऐसा प्रहार था, जिसे धार्मिक विप्लव कहा जा सकता है। इस धार्मिक विप्लव से जैन धर्म की, तमिलनाड में सदियों से गहराई से जमे हुए जैन संघ की अपूरणीय क्षति हुई जिसकी पूर्ति लगभग १३ शताब्दियों की सुदीर्घ कालावधि के व्यतीत हो जाने पर भी अद्यावधि नहीं हो पाई है।

पेरियपुराण, स्थलपुराण आदि शैव साहित्य में तमिलनाड़ से जैनधर्म को समूल उखाड़ फेंकने के लिये शैवों द्वारा किये गये इस धार्मिक अभियान की सफलता का श्रेय तिरु ज्ञानसम्बन्धर, तिरु अप्पर, सुन्दर पाण्ड्य की रानी और उसके प्रधानमन्त्री को दिया गया है।

शैव सन्तों ने, मुख्यतः ज्ञानसम्बन्धर ने अपने इस धार्मिक अभियान में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहायता देने वाली सुन्दर पाण्ड्य की रानी को और सुन्दर पाण्ड्य के प्रधानमंत्री को ६३ महान् शैव सन्तों की पंक्ति में प्रमुख स्थान दिया है।[1]

तिरु ज्ञानसम्बन्धर के चमत्कारों से प्रभावित सुन्दर पाण्ड्य और तिरु अप्पर से प्रभावित हुए पल्लवराज महेन्द्रवर्मन की सहायता से लगभग एक ही समय में शैवों द्वारा जैन श्रमणों एवं जैन धर्मानुयायियों का मदुरा और कांची में जो सामूहिक संहार एवं बलात् सामूहिक धर्म परिवर्तन किया गया तथा जैनों के मन्दिरों, मठों, वसदियों एवं अन्यान्य धार्मिक केन्द्रों को नष्ट-भ्रष्ट किया गया और जैनधर्मावलम्बियों पर और भी अनेक प्रकार के अत्याचार किये गये, इस सब घटनाचक्र को केवल किंवदन्तियां अथवा शैव पुराणकारों की कोरी कल्पना की उड़ान अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण मानने से इन्कार करते हुए डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने इन विवरणों को ऐतिहासिक तथ्य प्रकट करने वाले विवरण माना है।

इन घटनाओं को ऐतिहासिक घटनाएं मानने के अपने अभिमत की पुष्टि में डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने मदुरा के विशाल मीनाक्षी मन्दिर की दीवारों पर चित्रों के रूप में प्रस्तुत किये गये इन घटनाओं के विवरणों को प्रबल प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर की दीवारों पर और दक्षिण के बड़े-बड़े मन्दिरों की दीवारों पर उन अत्याचारों की स्मृति दिलाने वाले चित्रों को डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने इस तथ्य की सबल साक्षी माना है कि शैव साहित्य में उपलब्ध मदुरा और कांची में शैवों द्वारा किये गये जैनों के संहार के विवरण वस्तुतः ऐतिहासिक विवरण हैं।

डा० विन्सेन्ट स्मिथ के इस अभिमत को उद्धृत करते हुए एस० कृष्णस्वामी अय्यंगर ने अपने इतिहास ग्रन्थ सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इंडिया टू इंडियन कल्चर के चैप्टर १५ में लिखा है—

---

1. Both the queen and the minister are counted among the sixty three canonical devotees.
(सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इंडिया टू इंडियन कल्चर, कृष्णा स्वामी अय्यंगर एम. ए. पी.-एच. डी. लिखित चैप्टर १३)

"The story has it that the whole body of Jains were impaled by order of the monarch at the instigation of the saint. The late Dr. Vincent Smith has so far gone in accepting this story as embodying a historical incident that he regards it as one of the genuine though exceptional instances of persecution for religion. He relies principally upon the evidence of a painting of this incident on the walls of the great temple at Madura. It is not only on the walls of the temple at Madura, but in all the bigger Siva Temples of the South the representation of this story is found. The historicity of this incident will have to depend upon the particular date at which the painting or even a stone representation of this incident, was set where it is. When once the hagiologists set the fashion by giving currency to these stories, it is not difficult to understand that they passed into popular currency, and in the representation of various 'Lilas' of Shiva or Vishnu (performance of miracles in sport) or any other God, these would naturally figure. This position is most clearly illustrated in the revovation of temples carried out by the class of Nathukottai Chettis at the present time. Whether pictures of these already existed or not, such representations, as constituted one of the 'Lilas' of Shiva are made by them without sacredotal impropriety. It does not require much interval of time even, as we have already stated, that a lithic representation of the performance of EKANTADA Ramayya is found built in a temple constructed at a period following close upon the age of this Ramayya."

लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार स्व पी. बी. देसाई ने शैव सन्तों तिरु ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के नेतृत्व में तामिलनाड के जैनों के विरुद्ध चलाये गये घातक अभियान में सुन्दर पांड्य और महेंद्रवर्मन पल्लवराज की सहायता से जैनों पर जो अत्याचार किये, उन घटनाओं को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुए भी पेरिय-पुराण, स्थल-पुराण तथा शैवों के अन्य साहित्य में जिस रूप में इन घटनाओं का विवरण दिया गया है उसे अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण माना है। जैनों पर शैवों द्वारा किये गये अत्याचारों के सम्बन्ध में श्री पी. बी. देसाई ने लिखा है :—

"As it was the doom of the faith in other parts of India, Jainism had to encounter formidable opposition in its carrier in the Tamil Country also. This was in the period of the seventh and eightth centuries A.D. to start with; and its opponents were the champions of the Shaivite and Vaishnavite faiths of the Brahmanical religion. Almost simultaneously, under the leadership of Appar

and Sambandhar, the advocates of the Shaivite School launched ruthless attacks against the adherents of the Jain Law and earned signal success in the Pallawa and Pandya Kingdoms. The Pallawa king Mahendravarman I and the Pandya ruler Marwarman or Sunder Pandya became converts to the Brahmanical faith.

This must have dealt a severe blow to the cause of the Jain religion. Jain Law was challenged; Jaina philosophy was questioned, Jain religions practices were diverted everywhere. Polemics were raised, disputations were held between the supporters of rival creeds regarding their superiority, proofs were demanded; and some times even ordeals and miracles were resorted to. The elated victors backed by the authority of the State indulged in violent activities. The vanquished were pursued and persecuted.

The accounts of the persecution of the Jains given in the Periyapuranam and other literary works of the Brahmanical School present a highly coloured and exaggerated picture of the times. Still it must be a fact that the Jains met with iniquities and maltreatment at the hands of their intolerant opponents. The scenes of these persecutions are found sculptured on the walls of the temple at Tiruvattur in the North Arcot District. Similar scenes are depicted in the form of painting on the wall of the manlapam of the Golden Lily Tank of the famous Minakshi Temple at Madura."[1]

श्री देसाई द्वारा दिये गये उपरिलिखित तथ्यों पर विचार करने से तो स्पष्ट रूपेण सिद्ध हो जाता है कि पेरियपुराण, स्थलपुराण एवं शैव साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जैन श्रमणों एवं जैन धर्मावलम्बियों के सामूहिक संहार के साथ-साथ बलात्धर्म-परिवर्तन आदि के जो विवरण उपलब्ध होते हैं, वे मदुरा और कांची के शासकों और शैवसन्तों की अभिसन्धि से हुए अवश्य हैं। पर जहां तक पेरियपुराण आदि के एतद्विषयक विवरणों में अतिशयोक्ति का एवं अतिरंजन का प्रश्न है, वह वस्तुतः विचारणीय है।

पेरियपुराण आदि शैव ग्रन्थों में विद्यमान उल्लेखों में इस बात पर सर्वाधिक बल दिया गया है कि तमिलनाड़ में जैनों के सामूहिक संहार से पहले जैन धर्मावलम्बियों की संख्या अगणित थी, अतिविशाल थी। जैन धर्मानुयायी, विशेषतः जैन श्रमण-जैनाचार्य राजाओं, अमात्यों, राज्याधिकारियों और प्रजा के प्रायः सभी वर्गों पर पूर्णरूपेण छाये हुए थे, सर्वत्र जैन धर्मावलम्बियों का ही वर्चस्व दृष्टिगोचर होता था।

---

[1] जैनिज्म इन साउथ इंडिया एंड सम जैन इपिग्राफ्स—पी. बी. देसाई लिखित-पेज ८१-८२

शैव साहित्य में उपलब्ध इन विवरणों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इन सामूहिक संहार और बलात्धर्मपरिवर्तन की घटनाओं से पूर्व जैन धर्म संख्या, क्षेत्र विस्तार, वर्चस्व सम्मान आदि सभी दृष्टियों से तमिलनाड़ का एक शक्तिशाली और बहुजनसम्मत प्रमुख धर्म था। संक्षेप में यदि यह कह दिया जाय कि उस समय तमिलनाड़ की भूमि में जैन धर्म की जड़ें बहुत गहरी पहुंच गई थीं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

पेरियपुराण में वर्णित जैन धर्मावलम्बियों की तमिलनाड में हुए सामूहिक संहारों और बलात्धर्मपरिवर्तन से पूर्व की स्थिति की तुलना में वहां जैनों की वर्तमान स्थिति पर विचार करें तो प्रत्येक विचारक को दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर दृष्टिगोचर होगा। कहां तो सामूहिक संहार से पूर्व तमिलनाड में जैनों की अगणित संख्या, और कहां आज तमिलनाड़ के मूल निवासी जैनों की १४ हजार जैसी नगण्य संख्या और वह भी अन्यत्र कहीं नहीं, केवल नार्थ आर्कट जिले में। इस पर से प्रत्येक निष्पक्ष विचारक स्वतः इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि वहां जैनों का संहार वास्तव में इतना भीषण एवं हृदय विदारक था जिसके सामने कोई भी शैव साहित्य में किया गया इस सम्बन्धी विवरण फीका ही लगेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो शताब्दियों से गहरी जड़ जमाया हुआ सर्वाधिक लोकप्रिय और बहुजन सम्मत जैन धर्म अपने सुदृढ समझे जाने वाले गढ़ मदुरा एवं कांची से, इस प्रकार लुप्त नहीं हो पाता।

धर्मान्धता से उन्मत्त लोगों द्वारा किये गये अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म के अनुयायियों के इस प्रकार के भीषण सामूहिक नरसंहार के विवरण इतिहास के पत्रों में आज भी उपलब्ध हैं। आंध्रप्रदेश में श्रीशैलम् पर अवस्थित मल्लिकार्जुन मन्दिर के मुख्य मण्डप के दक्षिणी एवं वाम पार्श्व के स्तम्भों पर संस्कृत भाषा में उट्टंकित सम्वत् १४३३ की माघ कृष्णा चतुर्दशी, सोमवार के शिलालेख में श्वेताम्बर साधुओं के भीषण संहार का विवरण आज भी देखा व पढ़ा जा सकता है। उस शिलालेख में लिगा नामक एक वीर शैवों के नायक द्वारा मन्दिर को की गई अनेक भेंटों के विवरण के साथ उसकी इस बात के लिये प्रशंसा की गई है कि उसने (अनेक) श्वेताम्बर साधुओं के सिर अपनी तलवार से काट कर उन्हें मौत के घाट उतार दिया। नायक लिगा द्वारा किये गये श्वेताम्बर साधुओं के नृशंस संहार को उक्त शिलालेख में एक पवित्र कार्य बताया गया है।[1]

इससे ऐसा आभास होता है कि तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर के तत्वावधान में तमिलनाड में शासकों की सहायता से जो जैनों का सामूहिक संहार किया गया था, उसी से प्रेरणा लेकर वीर शैवों के मुखिया लिगा ने भी अपनी तलवार से श्वेताम्बर जैन साधुओं के सिर काटे हों।

[1] एपिग्राफिका इन्डिका, जिल्द ५ पीपी १४२ एफ. एफ.

तेवारम् के माध्यम से तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरुअप्पर ने जैन श्रमणों के प्रचण्ड विरोध के साथ उनके विरुद्ध जन-जन के मन में जिस प्रकार घोर घृणा फैलाने के प्रयास किये, उनसे भी अनायास अतीत में किये गये उन अत्याचारों की विभीषिकाओं के रोमांचकारी दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं, जो अप्पर आदि शैव सन्तों द्वारा जैनों के विरुद्ध फैलाई गई तीव्र घृणा के परिणामस्वरूप शैवों द्वारा तमिलनाड में जैनों पर किये गये। जैनों के विरुद्ध घृणा फैलाने वाले तेवारम् के उन पदों पर आगे दिये जाने वाले ज्ञानसम्बन्धर के परिचय में प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

शैव साहित्य में उपलब्ध इस विषयक अधिकांश विवरण चमत्कार प्रदर्शन की दिशा में अतिशयोक्तियों और उपमालंकारों से ओतप्रोत है। अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित भक्त समुदाय के मानस पर अपने धर्म की एवं धर्मगुरुओं की महानता की छाप अंकित करने के लिए उन विवरणों में चमत्कारपूर्ण अलंकारिक अतिशयोक्तियों को प्रमुख स्थान दिया गया है। मदुरा के स्थलपुराण के आनैमलेइ, नागमलेइ और पशुमलेइ ये तीन विवरण इस दृष्टि से पठनीय एवं मननीय हैं, जो इस प्रकार हैं :—

मदुरा नगर के पास उपर्युक्त तीन नामों की तीन पहाड़ियां हैं, जिनका आकार ध्यानपूर्वक देखने पर क्रमशः हाथी, नाग और गाय के आकार से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

यह कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं कि क्रमशः हाथी नाग और गाय के आकार की मदुरा के पास-पड़ोस की ये तीनों पहाड़ियां पुरातन एवं प्रकृति की कृतियां हैं। किन्तु स्थल पुराण में इन पहाड़ियों को उपरिवर्णित शैव-जैन संघर्ष काल की शैवों के चमत्कार से उत्पन्न हुई पहाड़ियां बताया गया है।

आनैमलेइ पहाड़ी के सम्बन्ध में स्थलपुराण में उल्लेख है कि एक बार कंजीवरम् के जैन श्रमणों ने मदुरा के निवासियों को जैन धर्मावलम्बी बनाने के लिये अपने काले जादू के प्रभाव से एक अति विशाल पर्वताकार हाथी बनाकर पूरे मदुरा नगर को धूलिसात् करने के लिये मदुरा की ओर भेजा। मदुरा के राजा ने अपनी और अपने नगर की रक्षा के लिए शिव से प्रार्थना की। शिव ने तत्काल वहां प्रकट हो एक ही बाण के प्रहार से उस हाथी को मारकर धराशायी बना दिया। वही निष्प्राण हुआ हाथी आनैमलेइ पहाड़ी के रूप में मदुरा के पार्श्व में आज भी विद्यमान है।

अपने प्रथम काले जादू को इस प्रकार धराशायी हुआ देख उन जैन साधुओं ने अपने काले जादू से एक अति विशाल काला विषधर बनाकर

शैव साहित्य में उपलब्ध इन विवरणों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इन सामूहिक संहार और बलात्धर्मपरिवर्तन की घटनाओं से पूर्व जैन धर्म संख्या, क्षेत्र विस्तार, वर्चस्व सम्मान आदि सभी दृष्टियों से तमिलनाड का एक शक्तिशाली और बहुजनसम्मत प्रमुख धर्म था। संक्षेप में यदि यह कह दिया जाय कि उस समय तमिलनाड की भूमि में जैन धर्म की जड़ें बहुत गहरी पहुंच गई थीं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

पेरियपुराण में वर्णित जैन धर्मावलम्बियों की तमिलनाड में हुए सामूहिक संहारों और बलात्धर्मपरिवर्तन से पूर्व की स्थिति की तुलना में वहां जैनों की वर्तमान स्थिति पर विचार करें तो प्रत्येक विचारक को दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर दृष्टिगोचर होगा। कहां तो सामूहिक संहार से पूर्व तमिलनाड में जैनों की अगणित संख्या, और कहां आज तमिलनाड के मूल निवासी जैनों की १४ हजार जैसी नगण्य संख्या और वह भी अन्यत्र कहीं नहीं, केवल नार्थ आर्कट जिले में। इस पर से प्रत्येक निष्पक्ष विचारक स्वतः इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि वहां जैनों का संहार वास्तव में इतना भीषण एवं हृदय विदारक था जिसके सामने कोई भी शैव साहित्य में किया गया इस सम्बन्धी विवरण फीका ही लगेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो शताब्दियों से गहरी जड़ जमाया हुआ सर्वाधिक लोकप्रिय और बहुजन सम्मत जैन धर्म अपने सुदृढ समझे जाने वाले गढ़ मदुरा एवं कांची से, इस प्रकार लुप्त नहीं हो पाता।

धर्मान्धता से उन्मत्त लोगों द्वारा किये गये अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म के अनुयायियों के इस प्रकार के भीषण सामूहिक नरसंहार के विवरण इतिहास के पत्रों में आज भी उपलब्ध हैं। आंध्रप्रदेश में श्रीशैलम् पर अवस्थित मल्लिकार्जुन मन्दिर के मुख्य मण्डप के दक्षिणी एवं वाम पार्श्व के स्तम्भों पर संस्कृत भाषा में उट्टंकित सम्वत् १४३३ की माघ कृष्णा चतुर्दशी, सोमवार के शिलालेख में श्वेताम्बर साधुओं के भीषण संहार का विवरण आज भी देखा व पढ़ा जा सकता है। उस शिलालेख में लिंगा नामक एक वीर शैवों के नायक द्वारा मन्दिर को की गई अनेक भेंटों के विवरण के साथ उसकी इस बात के लिये प्रशंसा की गई है कि उसने (अनेक) श्वेताम्बर साधुओं के सिर अपनी तलवार से काट कर उन्हें मौत के घाट उतार दिया। नायक लिंगा द्वारा किये गये श्वेताम्बर साधुओं के नृशंस संहार को उक्त शिलालेख में एक पवित्र कार्य बताया गया है।[1]

इससे ऐसा आभास होता है कि तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर के तत्वावधान में तमिलनाड में शासकों की सहायता से जो जैनों का सामूहिक संहार किया गया था, उसी से प्रेरणा लेकर वीर शैवों के मुखिया लिंगा ने भी अपनी तलवार से श्वेताम्बर जैन साधुओं के सिर काटे हों।

[1] एपिग्राफिका इन्डिका, जिल्द ५ पीपी १४२ एफ. एफ.

तेवारम् के माध्यम से तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरुअप्पर ने जैन श्रमणों के प्रचण्ड विरोध के साथ उनके विरुद्ध जन-जन के मन में जिस प्रकार घोर घृणा फैलाने के प्रयास किये, उनसे भी अनायास अतीत में किये गये उन अत्याचारों की विभीषिकाओं के रोमांचकारी दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं, जो अप्पर आदि शैव सन्तों द्वारा जैनों के विरुद्ध फैलाई गई तीव्र घृणा के परिणामस्वरूप शैवों द्वारा तमिलनाड में जैनों पर किये गये। जैनों के विरुद्ध घृणा फैलाने वाले तेवारम् के उन पदों पर आगे दिये जाने वाले ज्ञानसम्बन्धर के परिचय में प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

शैव साहित्य में उपलब्ध इस विषयक अधिकांश विवरण चमत्कार प्रदर्शन की दिशा में अतिशयोक्तियों और उपमालंकारों से ओतप्रोत है। अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित भक्त समुदाय के मानस पर अपने धर्म की एवं धर्मगुरुओं की महानता की छाप अंकित करने के लिए उन विवरणों में चमत्कारपूर्ण अलंकारिक अतिशयोक्तियों को प्रमुख स्थान दिया गया है। मदुरा के स्थलपुराण के आनैमलेइ, नागमलेइ और पशुमलेइ ये तीन विवरण इस दृष्टि से पठनीय एवं मननीय हैं, जो इस प्रकार हैं :—

मदुरा नगर के पास उपर्युक्त तीन नामों की तीन पहाडियां हैं, जिनका आकार ध्यानपूर्वक देखने पर क्रमशः हाथी, नाग और गाय के आकार से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

यह कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं कि क्रमशः हाथी नाग और गाय के आकार की मदुरा के पास-पड़ोस की ये तीनों पहाड़ियां पुरातन एवं प्रकृति की कृतियां हैं। किन्तु स्थल पुराण में इन पहाड़ियों को उपरिवर्णित शैव-जैन संघर्ष काल की शैवों के चमत्कार से उत्पन्न हुई पहाड़ियां बताया गया है।

आनैमलेइ पहाड़ी के सम्बन्ध में स्थलपुराण में उल्लेख है कि एक वार कंजीवरम् के जैन श्रमणों ने मदुरा के निवासियों को जैन धर्मावलम्बी बनाने के लिये अपने काले जादू के प्रभाव से एक अति विशाल पर्वताकार हाथी बनाकर पूरे मदुरा नगर को धूलिसात् करने के लिये मदुरा की ओर भेजा। मदुरा के राजा ने अपनी और अपने नगर की रक्षा के लिए शिव से प्रार्थना की। शिव ने तत्काल वहां प्रकट हो एक ही बाण के प्रहार से उस हाथी को मारकर धराशायी बना दिया। वही निष्प्राण हुआ हाथी आनैमलेइ पहाड़ी के रूप में मदुरा के पार्श्व में आज भी विद्यमान है।

अपने प्रथम काले जादू को इस प्रकार धराशायी हुआ देख उन जैन साधुओं ने अपने काले जादू से एक अति विशाल काला विषधर बनाकर

मदुरा को नष्ट करने के लिए भेजा। उसे भी शिव ने एक ही शर के प्रहार से धराशायी कर दिया। नागमलेइ पहाड़ी जैनों के काले जादू के काले नाग की ही अवशेष मात्र है।

तदनन्तर जैन साधुओं ने अपने काले जादू के प्रभाव से गौ (सांड वृषभ) उत्पन्न कर मदुरा की ओर भेजा। पिनाकपाणि शिव की कृपा से एक ही बाण के प्रहार से निष्प्राण हो वह वृषभ भी मर गया जो पशुमलेइ पहाड़ी के रूप में आज भी मदुरई के पास एक ओर विद्यमान है।[1]

उपरोक्त विवरणों से पाठक की यह धारणा बनना स्वाभाविक हो सकता है कि उस धार्मिक विप्लव के परिणाम स्वरूप जैनधर्म अपने शताब्दियों के सुदृढ़ गढ़ तमिलनाड़ से उस समय प्रायः लुप्त ही हो गया होगा। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न ही रही। इन सामूहिक संहारों के घातक प्रहारों के उपरान्त भी उस समय और उससे उत्तरवर्त्ती काल के ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन अत्याचारों के चार-पांच शताब्दियों पश्चात् तक भी, वल्लिमलै (वन्दिवाश तालुक), उत्तरी आर्काट जिला, तिरुक्कुरण्डी, (सलेम जिले) में स्थित तग्दूर (धर्मपुरी), त्रावनकोर के कतिपय भागों, चोल राज्य, पाण्ड्यराज, टोण्ड्रमण्डलम् उत्तरी आर्काट जिले के विलप्पाकम्, तिरुमलई, उत्तरी आर्काट जिले का वेडाल-विडाल अथवा मादेवी अरिन्दमण्डलम्, कोयम्बतूर जिले के भुडिगोण्डकोलपुरम्, वेणाबुवलनाडु के कुम्बनूर, शत्तमंगलम् के देवदान नामक ग्राम, नेलूर जिले के कनुपरतिपाडु आदि तमिलनाड के अनेकों क्षेत्रों में जैन धर्म खूब फलता-फूलता रहा। इनमें से अनेक स्थान जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के उस संक्रान्ति-काल से उत्तरवर्ती कालावधि के प्रमुख केन्द्र थे। पुनः एक बड़ी राजशक्ति के रूप में उदित हुए चोल शासन ने जैन धर्मावलम्बियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण मधुर व्यवहार करना प्रारम्भ किया। तमिलनाड़ में स्थान-स्थान पर जैनों के धर्मस्थानों और जैनधर्म के केन्द्रों को ग्राम, भूमि, सम्पत्ति आदि के दान विपुल मात्रा में दिये गये। इससे जैनधर्म तमिलनाड़ में शैवों के प्रहारों से पहले की स्थिति में भले ही नहीं आ सका किन्तु फिर भी उसने अपनी स्थिति को पर्याप्तरूपेण अपेक्षाकृत सुदृढ़ किया।[2]

---

[1] जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स पी. बी. देसाई लिखित—पेज ६२

[2] मैन्युअल आफ पुदु कोट्टाई स्टेट, वाल्यूम २, पार्ट १. पेज ५७४-७ व ६८७-८

देला महत्तर (देला सूरि)

विक्रम की ७वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थ भाग में और वीर निर्वाण की ११वीं शताब्दी में देला सूरि महत्तर नामक एक महान् आचार्य हुए हैं। ये जिन शासन प्रभावक महावादी और विद्वान् मुनिप श्री सूराचार्य के शिष्य तथा दुर्गस्वामी और "उपमिति भवप्रपञ्च कथा" नामक महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ के रचनाकार श्री सिद्धर्षि के गुरु थे। श्री सिद्धर्षि के उल्लेखानुसार ये निवृत्ति कुल के आचार्य थे। ये ज्योतिषशास्त्र के अपने समय के आधिकारिक विद्वान् थे। निवृत्ति कुल की विशेषता है कि इसमें अविच्छिन्न अनेक पट्टपरम्पराओं तक उच्चकोटि के विद्वान् और जिनशासन प्रभावक आचार्य होते रहे। देलासूरि महत्तर ने लाट प्रदेश में अनेक वर्षों तक विचरण कर अनेक भव्यों को प्रतिबोध देते हुए जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार किया।

इनके अनेक शिष्यों में से दुर्ग स्वामी और सिद्धर्षि इन दो विद्वान् शिष्यों ने निवृत्ति कुल की कीर्ति दिग्दिगन्त में प्रसृत कर दी। दुर्गसूरि अपने गृहस्थ जीवन में विपुल सम्पदाओं के स्वामी थे। देलाचार्य के उपदेश सुनकर इन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने तत्काल युवावस्था में ही स्त्री-परिवार और अपार सम्पदा का परित्याग कर देलाचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। ये सिद्धर्षि के ज्येष्ठ गुरुभ्राता थे। सिद्धर्षि ने इनका सदा गुरु के समान सम्मान किया। अनेक वर्षों तक संयम की पालना के साथ-साथ भव्यों को धर्ममार्ग पर आरूढ़ एवं स्थिर करते हुए आपने जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

उच्चकोटि की विदुषी साध्वी गरणा आपकी ही शिष्या थी जिसने सिद्धर्षि की अमर आध्यात्मिक कृति 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' की प्रथम प्रति का अतीव सुन्दर एवं शुद्ध रूप में आलेखन किया।

अन्त में संल्लेखना-सन्थारा पूर्वक आपने भिन्नमाल नगर में समभाव एवं समाधि के साथ स्वर्गारोहण किया।

शैव महासन्त तिरु ज्ञान सम्बन्धर का उपलब्ध संक्षिप्त जीवन वृत्त

शैव सम्प्रदाय का भारत के दक्षिणी प्रदेश तमिलनाड़ में पुनरुद्धार अथवा पुनरुत्थान करने वाले शैव सन्तों में तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर के नाम शीर्ष स्थान में आते हैं। तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर जिस प्रकार दक्षिण में और मुख्यतः तमिलनाड़ में शैवधर्म के पुनरुद्धार के अभियान के सूत्रधार माने गये हैं, उसी प्रकार जैनधर्म को गहरी क्षति पहुंचाने वालों के भी ये सूत्रधार माने जाते हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में जो परिचय पर्याप्त प्रयास के पश्चात् प्राप्त हो सका है, उसे यहां संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

तिरु ज्ञान सम्बन्धर को शैव साहित्य में स्थान-स्थान पर ज्ञान सम्बन्धर मूर्ति नायनार और सम्बन्धर के नाम से अभिहित किया गया है। इसका एक और नाम—पिल्ले नायनार भी उपलब्ध होता है। पिल्ले नायनार का जन्म तन्जौर जिले के शियाली नामक ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। ज्ञान सम्बन्धर द्वारा रचित तेवारम् के कतिपय पदों के आधार पर कतिपय विद्वानों द्वारा अनुमान किया गया है वह शिरुत्तोंडा अपर नाम दभ्रभक्त नामक एक यशस्वी सेनापति का परम मित्र था। पल्लवराज नरसिंहवर्मन (महेन्द्रवर्मन प्रथम जिसे अप्पर ने जैन से शैव बनाया था, उसके पुत्र) ने पश्चिमी चालुक्यों की राजधानी वातापी (बादामी) पर आक्रमण कर उस पर अधिकार किया, उस युद्ध में यह शिरुत्तोंडा दभ्रभक्त सेनापति था। इस नरसिंहवर्मन का शासनकाल ६३० से ६६८ ई० माना गया है।

डा० शाम शास्त्री ने शोध के पश्चात् यह अभिमत व्यक्त किया है कि ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के साथ वादीभसिंह नामक एक महान् दार्शनिक एवं कवि तथा वादीश (जैन मुनि) ने शैव धर्म के गुण-दोष विषय पर वाद-विवाद किया था। जयधवला एवं आदि पुराण के रचनाकार पंचस्तूपान्वयी आचार्य जिनसेन ने वादीभसिंह के गुणों का कीर्तन करते हुए आदि पुराण में उनका निम्नलिखित रूप में स्मरण किया है :—

कवित्वस्य परासीमा, वाग्मितस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो, वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥

जिनसेन ने ई० सन् ८३७ में जयधवला टीका की रचना पूर्ण की। जिनसेन ने अपने से पूर्व हुए वादीभसिंह को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, इससे

वादीभसिंह का समय ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी के बीच का अनुमानित किया जा सकता है।

जो इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति इनके समकालीन थे उनके नाम हैं :—

(१) तिरु ज्ञानसम्बन्धर, (२) सुन्दर पाण्ड्य, (३) पल्लवराज महेन्द्रवर्मन, (४) पल्लवराजा नरसिंहवर्मन, (५) पल्लव सेनापति शिरुत्तौण्डादभ्रभक्त, और वादीभसिंह (अपर नाम आचार्य अजितसेन और ओडयदेव)।

तिरु ज्ञानसम्बन्धर ने मदुरा में जैनों का सामूहिक संहार और धर्मपरिवर्तन करवाने के अनन्तर शैव धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपनी कविताओं के माध्यम से जनमानस में जैन साधुओं एवं बौद्धों के प्रति घृणा फैलाने का प्रयास किया। उन कविताओं में से कतिपय पद यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

(१) बुद्ध रोड्डु पोरियिन समनुम पुरंकूरि नेरीनल्लार
"ब्रह्मपुर पदीकम्"

अर्थात् बौद्ध मुनि बुद्धिहीन और जैन मुनि सत्य के बदले झूठ बोलने वाले होते हैं। ऐसे लोग धर्म के रास्ते में कभी नहीं टिक सकेंगे।

(२) सैद अवत्तर मीगु तेररगल साक्कियर सेप्पिर पोरुल अल्लाकद। अवत्तर मोलियै तविर वारगल "तिरु पुगलूर पदीक्कम"

अर्थात्—इन लोगों (बौद्धों और जैनों) की अर्थहीन बातों को लोग मानना छोड़ देंगे, क्योंकि उनकी बातों से किसी कार्यसिद्धि का होना असंभव है। अतः उनकी बातें अर्थहीन और किसी भी काम की नहीं।

(३) आसियार मोलियार अमन (जैन साधु) साक्कियर अल्लादवर। "कूडि-कूड़ी एसी ईरमिलराय नोन्नि सैदवर नोन्नै पोरुलेन्नेल।"

अर्थात्—अपने भक्तजनों को बौद्ध मुनि और जैन मुनि जो आशीष युक्त वचन बोलते हैं, धर्म बोध देते हैं, उनकी उन बातों का कोई सच न मानें।

(४) अरैक्कुरैइल्लार कूरुवदु आंगु गुनम् अल्ल ।
कंडीर.....................तिरुक्काटुप्पपल्ली ।।

अर्थात्—कमर पर वस्त्र न पहनने वाले जैनों की बातें न तो गुणयुक्त हैं और न उपयोगी ही, यह बात सभी लोग अच्छी तरह से जान लें ।

(५) इलै मरुदेअल्गाग नारुम हरु तुवरकायोडु ।
(अदररक) सुक्कु तिन्नुम निलै अमन्दोरै नींगी निन्रु"
(तिरुमगेल पदीकम्)

अर्थात्—मेंहदी लगाकर सुन्दर बनाये हुए हाथों में रखे अदरक एवं सुपारी की कतलियों से युक्त पान खाने वाले इन जैन एवं बौद्ध मुनियों से सदा दूर ही रहें ।

(६) तुडुक्कुडै कैयरुम साक्कीयरुम-साक्कीयरुम जातियिन (सातियिन) नींगिय अवत्तवत्तवर—तिरुनल्लारु पदीकम ।
(अस्पष्ट)

(७) मासेरिय उड्ल समन् गुरुक्कल ।

अर्थात्—ये मैले शरीर वाले जैन मुनि गुरु कैसे हो सकते हैं ।

(८) वेरवन्दूर मासूरदर वैइलीनरु उललवर—"तिरु नन्नामलै"

अर्थात्—पसीने से तर-बतर मैले शरीर वाले जैन मुनि गर्मी में इधर से उधर भटकते हैं ।

(९) मंजगंल समन् मन्डैकरियर गुन्डर गुणमिलिगल
"तिरु विलीमिललै"

अर्थात्—ये जैन मुनि भिक्षापात्र धारण करने वाले गुण्डे हैं । ये लोगों को कुचक्र में फंसाने के लिये और सम्मोहित करने के लिये इधर-उधर घूमने वाले हैं ।

(१०) मत्तमली सित्तर इरैमदी इल्ला समनर—"तिरुनैदानम"

अर्थात्—मद में मतवाले (घमंड में चूर) ये जैन मुनि—"भगवान् हैं"—इस भावना से कोसों दूर हैं, अर्थात् भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानने वाले हैं ।

(११) तडुक्कै उडल् इडुक्की—तलै परिक्कुम समनर

अर्थात्—शरीर पर ताड़ के पत्तों को लपेटे हुए अपने सिर के बालों को नोचने वाले ये जैन मुनि हैं।

(१२) पैरुक्क पिदट्रुम समनर—सीरकाली

अर्थात्—जिस बात में सच्चाई का लवलेश मात्र भी नहीं इस प्रकार की गप्पें मारने वाले हैं जैन मुनि।

(१३) गुंडुमुट्रि कूरै इन्रिये पिंडम् उन्नुम पिरान्दर सोलल केलेल—तिरुपुलवूर

अर्थात्—मोटे-धाटे एवं नग्न (नंग-धडंग) खड़े होकर खाने वाले बौद्ध की बातों को कभी मत मानो।[1]

इस प्रकार तिरु ज्ञान सम्बन्धर जीवन पर्यन्त शैव धर्म के उत्कर्ष के साथ-साथ तमिलनाड़ की धरती से जैन धर्म के अस्तित्व को मिटाने के लिये सतत प्रयास करते रहे।

तिरु अप्पर और तिरु ज्ञान सम्बन्धर—ये दोनों ही शैव महासन्त समकालीन थे। इन दोनों के प्रयास से तमिलनाड़ में शैवधर्म का प्रचुर प्रचार-प्रसार हुआ। तिरु अप्पर ने अपने जीवन के अन्तिम काल में शैव धर्म का त्याग कर पुनः जैनधर्म अंगीकार किया। ये पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के समकालीन सुन्दर पाण्ड्य के गुरु थे, यह पहले बताया जा चुका है। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन का राज्यकाल यशस्वी इतिहासकार डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने ई० सन् ६००-६३० तक निर्धारित किया है। इससे ज्ञानसम्बन्धर का समय भी ईसा की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वतः प्रमाणित होता है।

संत तिरु अप्पर का उपलब्ध जीवन-वृत्त

अपनी युवावस्था में वर्षों तक जैन धर्म के एक संघ विशेष के परम सम्मानास्पद आचार्य जैसे महत्वपूर्ण पद पर रहने के पश्चात् शैव सन्त बनकर तिरु अप्पर ने तमिलनाड़ में जैनधर्म के सर्वतोमुखी वर्चस्व को समाप्त प्रायः करने और शैव धर्म का व्यापक प्रचार करने में जो युगपरिवर्तनकारी कार्य किये, उन कार्यों के

---

[1] स्व. बाबाजी श्री जयन्त मुनिजी के संसार पक्ष के सुपौत्र श्री रेख चन्द्रजी चौधरी के सौजन्य से श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर को प्राप्त विवरण-पत्र के आधार पर।

—सम्पादक

(४) अरैक्कुरैइल्लार कूरुवद्दु आंगु गुनम् अल्ल ।
कंडीर..................तिरुक्काट्टुप्पपल्ली ।।

अर्थात्—कमर पर वस्त्र न पहनने वाले जैनों की बातें न तो गुणयुक्त हैं और न उपयोगी ही, यह बात सभी लोग अच्छी तरह से जान लें ।

(५) इलै मरुदेअल्गाग नारुम हरु तुवरकायोड्डु ।
(अदररक) सुक्कु तिन्नुम निलै अमन्दोरै नींगी निन्र"
(तिरुमगैल पदीकम्)

अर्थात्—मेंहदी लगाकर सुन्दर बनाये हुए हाथों में रखे अदरक एवं सुपारी की कतलियों से युक्त पान खाने वाले इन जैन एवं बौद्ध मुनियों से सदा दूर ही रहें ।

(६) तुड्डक्कुडै कैयरुम साक्कीयरुम-साक्कीयरुम जातियिन (सातियिन) नींगिय अवत्तवत्तवर—तिरुनल्लारु पदीकम ।
(अस्पष्ट)

(७) मासेरिय उड्ल समन् गुरुक्कल ।

अर्थात्—ये मैले शरीर वाले जैन मुनि गुरु कैसे हो सकते हैं ।

(८) वेरवन्दूर मासूरदर वैड्लीनरु उललवर—"तिरु नन्नामलै"

अर्थात्—पसीने से तर-वतर मैले शरीर वाले जैन मुनि गर्मी में इधर से उधर भटकते हैं ।

(९) मंजगंल समन् मन्डैकरियर गुन्डर गुणमिलिगल
"तिरु विलीमिललै"

अर्थात्—ये जैन मुनि भिक्षापात्र धारण करने वाले गुण्डे हैं । ये लोगों को कुचक्र में फंसाने के लिये और सम्मोहित करने के लिये इधर-उधर घूमने वाले हैं ।

(१०) मत्तमली सित्तर इरैमदी इल्ला समनर—"तिरुनैदानम"

अर्थात्—मद में मतवाले (घमंड में चूर) ये जैन मुनि—"भगवान् हैं"—इस भावना से कोसों दूर हैं, अर्थात् भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानने वाले हैं ।

(११) तडुक्कै उडल् इडुक्की–तलै परिक्कुम समनर

अर्थात्—शरीर पर ताड़ के पत्तों को लपेटे हुए अपने सिर के बालों को नोचने वाले ये जैन मुनि हैं।

(१२) पैरुक्क पिदट्रुम समनर—सीरकाली

अर्थात्—जिस बात में सच्चाई का लवलेश मात्र भी नहीं इस प्रकार की गप्पें मारने वाले हैं जैन मुनि।

(१३) गुंडुमुट्रि कूरै इन्रिये पिंडम् उन्नुम पिरान्दर सोल्ल केलेल—तिरुपुलवूर

अर्थात्—मोटे-धाटे एवं नग्न (नंग-धडंग) खड़े होकर खाने वाले बौद्ध की बातों को कभी मत मानो।[1]

इस प्रकार तिरु ज्ञान सम्बन्धर जीवन पर्यन्त शैव धर्म के उत्कर्ष के साथ-साथ तमिलनाड़ की धरती से जैन धर्म के अस्तित्व को मिटाने के लिये सतत प्रयास करते रहे।

तिरु अप्पर और तिरु ज्ञान सम्बन्धर—ये दोनों ही शैव महासन्त समकालीन थे। इन दोनों के प्रयास से तमिलनाड़ में शैवधर्म का प्रचुर प्रचार-प्रसार हुआ। तिरु अप्पर ने अपने जीवन के अन्तिम काल में शैव धर्म का त्याग कर पुनः जैनधर्म अंगीकार किया। ये पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के समकालीन सुन्दर पाण्ड्य के गुरु थे, यह पहले बताया जा चुका है। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन का राज्यकाल यशस्वी इतिहासकार डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने ई० सन् ६००-६३० तक निर्धारित किया है। इससे ज्ञानसम्बन्धर का समय भी ईसा की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वतः प्रमाणित होता है।

संत तिरु अप्पर का उपलब्ध जीवन-वृत्त

अपनी युवावस्था में वर्षों तक जैन धर्म के एक संघ विशेष के परम सम्मानास्पद आचार्य जैसे महत्वपूर्ण पद पर रहने के पश्चात् शैव सन्त बनकर तिरु अप्पर ने तमिलनाड़ में जैनधर्म के सर्वतोमुखी वर्चस्व को समाप्त प्रायः करने और शैव धर्म का व्यापक प्रचार करने में जो युगपरिवर्तनकारी कार्य किये, उन कार्यों के

---

[1] स्व. बाबाजी श्री जयन्त मुनिजी के संसार पक्ष के सुपौत्र श्री रेख चन्द्रजी चौधरी के सौजन्य से श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर को प्राप्त विवरण-पत्र के आधार पर।

—सम्पादक

(४) अरैक्कुरैइल्लार कूरुवदु आंगु गुनम् अल्ल ।
कंडीर..................तिरुक्काट्टुप्पपल्ली ॥

अर्थात्—कमर पर वस्त्र न पहनने वाले जैनों की बातें न तो गुणयुक्त हैं और न उपयोगी ही, यह बात सभी लोग अच्छी तरह से जान लें ।

(५) इलै मरुदेअल्गाग नारुम हरु तुवरकायोड्डु ।
(अदररक) सुक्कु तिन्नुम निलै अमन्दोरै नींगी निन्रु"
(तिरुमगैल पदीकम्)

अर्थात्—मेंहदी लगाकर सुन्दर बनाये हुए हाथों में रखे अदरक एवं सुपारी की कतलियों से युक्त पान खाने वाले इन जैन एवं बौद्ध मुनियों से सदा दूर ही रहें ।

(६) तुड्डुक्कुडै कैयरुम साक्कीयरुम-साक्कीयरुम जातियिन (सातियिन) नींगिय अवत्तवत्तवर—तिरुनल्लारु पदीकम ।
(अस्पष्ट)

(७) मासेरिय उड्ल समन् गुरुक्कल ।

अर्थात्—ये मैले शरीर वाले जैन मुनि गुरु कैसे हो सकते हैं ।

(८) वेरवन्दूर मासूरदर वैइलीनरु उललवर—"तिरु नन्नामलै"

अर्थात्—पसीने से तर-बतर मैले शरीर वाले जैन मुनि गर्मी में इधर से उधर भटकते हैं ।

(९) मंजगंल समन् मन्डैकरियर गुन्डर गुणमिलिगल
"तिरु विलीमिललै"

अर्थात्—ये जैन मुनि भिक्षापात्र धारण करने वाले गुण्डे हैं । ये लोगों को कुचक्र में फंसाने के लिये और सम्मोहित करने के लिये इधर-उधर घूमने वाले हैं ।

(१०) गत्तमली सित्तर इरैमदी इल्ला समनर—"तिरुनैदानम"

अर्थात्—मद में मतवाले (घमंड में चूर) ये जैन मुनि—"भगवान् हैं"—इस भावना से कोसों दूर हैं, अर्थात् भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानने वाले हैं ।

(११) तडुक्कै उडल् इडुक्की–तलै परिक्कुम समनर

अर्थात्—शरीर पर ताड़ के पत्तों को लपेटे हुए अपने सिर के बालों को नोचने वाले ये जैन मुनि हैं।

(१२) पैरुक्क पिदट्रुस समनर—सीरकाली

अर्थात्—जिस बात में सच्चाई का लवलेश मात्र भी नहीं इस प्रकार की गप्पें मारने वाले हैं जैन मुनि।

(१३) गुंडुमुट्रि कूरै इन्रिये पिंडम् उन्नुम पिरान्दर सोल्ल केलेल—तिरुपुलवूर

अर्थात्—मोटे-धाटे एवं नग्न (नंग-धडंग) खड़े होकर खाने वाले बौद्ध की बातों को कभी मत मानो।[1]

इस प्रकार तिरु ज्ञान सम्बन्धर जीवन पर्यन्त शैव धर्म के उत्कर्ष के साथ-साथ तमिलनाड़ की धरती से जैन धर्म के अस्तित्व को मिटाने के लिये सतत प्रयास करते रहे।

तिरु अप्पर और तिरु ज्ञान सम्बन्धर—ये दोनों ही शैव महासन्त समकालीन थे। इन दोनों के प्रयास से तमिलनाड़ में शैवधर्म का प्रचुर प्रचार-प्रसार हुआ। तिरु अप्पर ने अपने जीवन के अन्तिम काल में शैव धर्म का त्याग कर पुनः जैनधर्म अंगीकार किया। ये पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के समकालीन सुन्दर पाण्ड्य के गुरु थे, यह पहले बताया जा चुका है। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन का राज्यकाल यशस्वी इतिहासकार डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने ई० सन् ६००-६३० तक निर्धारित किया है। इससे ज्ञानसम्बन्धर का समय भी ईसा की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वतः प्रमाणित होता है।

संत तिरु अप्पर का उपलब्ध जीवन-वृत्त

अपनी युवावस्था में वर्षों तक जैन धर्म के एक संघ विशेष के परम सम्मानास्पद आचार्य जैसे महत्वपूर्ण पद पर रहने के पश्चात् शैव सन्त बनकर तिरु अप्पर ने तमिलनाड़ में जैनधर्म के सर्वतोमुखी वर्चस्व को समाप्त प्रायः करने और शैव धर्म का व्यापक प्रचार करने में जो युगपरिवर्तनकारी कार्य किये, उन कार्यों के

[1] स्व. बाबाजी श्री जयन्त मुनिजी के संसार पक्ष के सुपौत्र श्री [illegible] चौधरी के सौजन्य से श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर को प्राप्त [illegible] के आधार पर।

—सम्पादक

लिये तिरु अप्पर का जैन और शैव दोनों ही धर्मों के इतिहास में सदा सर्वदा क्रमशः विषाद और हर्ष के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

तमिलनाड़ में जैन धर्म पर कभी भुलाये नहीं जाने योग्य घातक प्रहार कर उसे निर्वल बनाने वाले शैव सन्तों में जिस प्रकार अप्पर का नाम शीर्ष स्थान पर आता है उसी प्रकार तमिलनाड़ में शैवधर्म को उत्कर्ष के शिखर पर बैठाने वाले शैव सन्तों में भी अप्पर का नाम मूर्धन्य स्थान पर आता है।

कांचिपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम जैसे कवि, वाग्मी और विज्ञ जैन धर्मानुयायी राजा को न केवल शैव धर्मानुयायी ही अपितु जैनधर्म का प्रवल शत्रु बनाकर उससे अपनी इच्छानुसार जैनधर्मावलम्बियों पर हृदयद्रावक अत्याचार करवाने वाला अप्पर कैसा प्रभावशाली वाग्मी और अद्भुत् प्रतिभा का धनी होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम को यशस्वी इतिहासविदों ने एक महान् राज्य निर्माता, कवि, लेखक तथा संगीतज्ञ माना है। वह 'मत्त विलास', 'विचित्र-चित्र' एवं 'गुणभार' जैसी अनेक उपाधियों से विभूषित था। उसने 'मत्त विलास प्रहसन' नामक एक हास्य रस की कृति की भी रचना की। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उसकी हास्य रस की उत्कृष्ट साहित्यिक कृति से प्रभावित जैनों ने महेन्द्रवर्मन प्रथम को 'मत्तविलास' की उपाधि से विभूषित किया। अपनी उस 'मत्तविलास-प्रहसन' नामक कृति में महेन्द्रवर्मन ने इसके पात्रों में पाशुपत परिव्राजक, कापालिक, कापालिक की पत्नी और एक बौद्ध (भिक्ष) को तो सम्मिलित किया है किन्तु किसी जैन श्रमण अथवा गृहस्थ को उस प्रहसन के पात्रों में सम्मिलित नहीं किया। इसे इतिहासविदों ने इस वात का एक सवल प्रमाण माना है कि महेन्द्रवर्मन जैन था। इस प्रकार के विशिष्ट विद्वान् और दृढ़ आस्थावान् जैन राजा को भी अप्पर ने शैवधर्मानुयायी बना लिया, यह अप्पर की अप्रतिम प्रतिभा का ही प्रभाव था।

शैव एवं जैन—दोनों धर्मों के साहित्य तथा शिलालेख आदि में अप्पर के जो अपर नाम उपलब्ध होते हैं, वे हैं :—

(१) तिरु अप्पर
(२) अप्पर
(३) तिरु नावुकरसर
(४) धर्मसेन
(५) तिरु नावुकरसर नायनार और वागीश।

तिरुवाडी, जिसे तेवारम् साहित्य और आधिराजमांगल्यपुर के शिलालेख में तिरुवाडिगाई के नाम से अभिहित किया गया है, एक ऐसा ऐतिहासिक और

प्रसिद्ध नगर है, जहां अप्पर को धर्मपरिवर्तन करवा कर जैन साधु से शैव साधु बनाया गया। अप्पर को जैन साधु से शैव साधु बनाने में उस पर अनेक प्रकार के अद्भुत चमत्कारों का प्रयोग करना पड़ा।[1]

अन्ततोगत्वा जब अप्पर को एक चमत्कार के प्रयोग द्वारा असाध्य रोग से मुक्त और पूर्ण स्वस्थ कर दिया गया तो उसने जैन श्रमणधर्म का परित्याग कर शैव धर्म अंगीकार कर लिया जो बड़ा ही प्रभावशाली और महान् शैव सन्त सिद्ध हुआ।

जैन श्रमण से जब वह शैव साधु बना उस समय उसका नाम अप्पर रखा गया। अप्पर की तिरुनावुक्करस अर्थात् वागीश (वृहस्पति का पर्यायवाची शब्द) के नाम से भी प्रसिद्धि हुई।

जिस समय वह जैन साधु और पाटलिका (पाटलिपुरम्) के प्राचीन जैन श्रमणकेन्द्र अथवा मठ का आचार्य था उस समय उसका नाम धर्मसेन था। शैव साधु बनते ही अप्पर ने पाटलिका के जैनसंस्कृति के एक प्रसिद्ध केन्द्र के मठ को और मन्दिर को धूलिसात् कर उसके स्थान पर "तिरु वाडिगाई" नामक एक विशाल शिवमन्दिर बनवाया।

जैनवांग्मय के अध्ययन से संत तिरु अप्पर के विषय में एक तथ्य प्रकाश में आता है कि उसने शैव सन्त बनने से पहले अपने जैन श्रमण-जीवन में एक ऐसे प्राचीन जैन मठ में जैन शास्त्रों का अध्ययन किया जो जैन संस्कृति के अध्ययन का एक प्रमुख केन्द्र स्थल गिना जाता था। आगे चलकर अपनी महान् प्रतिभा के बल पर वे उस विद्या-केन्द्र के आचार्य बनाये गये। इस सम्बन्ध में इतिहास के विद्वानों और शोधार्थियों को इस बात की खोज करने की आवश्यकता है कि वस्तुतः जैन संस्कृति का वह प्राचीन केन्द्र यापनीय परम्परा का केन्द्र था अथवा दिगम्बर परम्परा का या अन्य किसी परम्परा का। जैन संस्कृति का वह प्राचीन केन्द्रस्थल पाण्ड्य राज्य के पाटलिका नामक नगर में था, इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

शक संवत् ३८० (ई० सन् ४५८, तदनुसार वीर नि० सं० ९८५ और वि० सं० ५१५) में कांचीपति सिंहवर्मन के शासनकाल के २० वें वर्ष में पाण्ड्यराज्य के पाटलिक ग्राम में सर्वनन्दि नामक जैनाचार्य ने प्राकृत भाषा के 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की।[2]

---

[1] एपिग्राफी रिपोर्ट्स, मद्रास, वोल्यूम ५।

[2] विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे, राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे, शास्त्रं पुरा लिखितवान्मुनि सर्वनन्दि ॥२॥
संवत्सरे तु द्वाविंश, कांचीशसिंहवर्मणः।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥ (शक सं. ३८०)

—लोकविभाग, (संस्कृत)

पाटलिका को ही वर्तमान में तिरुप्पपुलियुर, तिरु पल्हिरिपुरम् अथवा पाटलिपुरम् के नाम से अभिहित किया जाता है। पाटलिका के उस प्राचीन जैन संस्कृति के केन्द्र (मठ) के स्थान पर ही अप्पर द्वारा बनवाया हुआ तिरुवाडिगाई नामक शिवमन्दिर आज विद्यमान है, यह एपिग्राफी रिपोर्ट्स, मद्रास, वोल्यूम ५ से सिद्ध है।

आज प्राकृत भाषा का लोकविभाग कहीं उपलब्ध नहीं है पर उसका सिंहसूरर्षि द्वारा किया हुआ संस्कृत रूपान्तर आज विद्यमान है। संस्कृत लोकविभाग की प्रशस्ति में एक श्लोक है, जो शोधार्थी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। वह श्लोक इस प्रकार है :—

भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्री वर्द्धमानार्हता,
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः।

आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूरर्षिणा,
भाषाया परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ॥

इस श्लोक में "ज्ञातं सुधर्मादिभिः" यह पद वस्तुतः मननीय है। क्योंकि दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में भ० महावीर का पट्टधर, भ० महावीर से सम्पूर्ण ज्ञान ग्रहण करने वाला, उस ज्ञान के आधार पर द्वादशांगी रूपी समस्त जैन आगमों का ग्रथयिता और उस आगमज्ञान का दूसरों को ज्ञान कराने वाला गौतम को ही माना गया है, सुधर्मा को नहीं।

श्वेताम्बर परम्परा में भ० महावीर का प्रथम पट्टधर सुधर्मा को माना गया है। आचारांगादि आगमों के सम्बन्ध में यापनीय परम्परा की मान्यता भी श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप ही है, यह यापनीय परम्परा के यत्किंचित उपलब्ध साहित्य से निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। 'लोकविभाग' के ऊपर उद्धृत श्लोक में सुधर्मा को भ० महावीर से ज्ञान ग्रहण करने वाला और सुधर्मा से ही उस ज्ञान के उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा में चले आने का उल्लेख किया है। इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य सर्वनन्दि और उनसे दो तीन पीढ़ी पश्चात् हुए आचार्य धर्मसेन (तिरु अप्पर) कहीं यापनीय परम्परा अथवा किसी अन्य परम्परा के आचार्य तो नहीं थे। यह प्रश्न शोधार्थियों के लिए एक महत्वपूर्ण शोध का विषय है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर शोधपूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास अवश्य करेंगे। इतिहासविदों की यह मान्यता है कि यापनीय परम्परा के आचार्यों एवं साधुओं के नाम अधिकांशतः पूर्वकाल में नन्द्यन्त और कीर्त्यन्त हुआ करते थे। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए लोकविभाग के रचयिता सर्वनन्दि के सम्बन्ध में शोध करना आवश्यक हो जाता है।

सर्वनन्दि का समय लोकविभाग की प्रशस्ति में शक सं. ३८०, तदनुसार ई. सन् ४५८ उल्लिखित है और अप्पर के समकालीन एवं अप्पर द्वारा जैन से शैव बनाये गये पल्लवराज महेन्द्रवर्मन का शासनकाल ई. सन् ६०० से ६३० माना गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि सर्वनन्दि के पाटलिका जैन मठ का उत्तरवर्ती आचार्य धर्मसेन उनसे दो तीन पीढ़ी उत्तरवर्ती काल का लगभग १२५ वर्ष पीछे का आचार्य होगा।

अप्पर शैव सन्त बनने से पहले जैन साधु था और पाटलिका नगर के जैन मठ का अधिष्ठाता और जैन संघ का आचार्य था, इसकी पुरातात्विक प्रमाणों से पुष्टि होती है। अप्पर के जैन साधु होने के सम्बन्ध में एपिग्राफी रिपोर्ट्स, मद्रास, की जिल्द ५ का निम्नलिखित अंश प्रमाण के रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है:-

Tiruvadi—The Tiruvadigai of the Devaram literature and the Adhirajamangalya-pura inscriptions, is famous as the place where Appar, originally a Jaina, got converted to the Saiva Creed after many trying spiritual ordeals. The inscriptions of the temple which date from the Pallava King "Nripatunga varman" (A. D. ८५४ to ८८०), The Pallava design of the Linga enshrined in the temple, and the Jaina image which is reported to have been dug out of an adjoining field and which is now placed within the temple compound, bear ample testimony to the antiquity of this village and to its former associations with the Jaina faith. The court religion of the Pallavas before Mahendravarman was won over to the Saiva religion by Appar, other-wise called Tirunavukkaradu Nayanar (Sdt Vagisa).

This town like Tirukkoyitur appears to have also been fortified in ancient times. It was also the scene of a battle between the forces of the later Pallava King. Kopperunjiviga and Hoysala Narashimha II (Epigraphica Indica Volume VII Page २६०-६६). Local tradition has it that during one of the modern Muhammadan or British occupations, the temple Gopura suffered serious damage and was in ruins until repaired about fifty years ago by the head of the local Tirunavukkarasar—Matha, which is a dependency of the Tiruppanandal—Adhimam in the Tanjore district. It is interesting to note that a Tamil Brahman poet of the १६th century, called Uddandavelayudha—Bharati, composed a Kalambagam on the god of the temple and obtained a gift of some land and house site in Saka १४५८ (No. ३७६ of Appendix B): but it is regrettable that this composition is not now known to be extant.

हेस्टिंग्स एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में अप्पर की जीवनी के सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि अप्पर अपनी युवावस्था में एक जैन साधु था। अपनी प्रौढ़ अवस्था में वह कट्टर शैव साधु था और वृद्धावस्था में वह, अपनी प्रौढ़ावस्था में स्वयं द्वारा (शैव सन्त के रूप में) किये गये आचरण पर पश्चात्ताप करता हुआ, पुनः जैन धर्म का अनुयायी बन गया। पुनः जैन बन जाने के पश्चात् यह अप्पर कहीं शैव धर्म का घोर अनिष्ट न कर बैठे— इस आशंका से सशंक हो शैव धर्मानुयायियों ने रहस्यपूर्ण ढंग से अप्पर की हत्या कर दी और एक काल्पनिक आश्चर्यकारी कथानक की संरचना कर लोगों में इस प्रकार का समाचार प्रसृत कर दिया कि अप्पर को एक सिंह ने मारकर खा लिया है। वह सिंह अन्य कोई नहीं भगवान् शंकर का गण ही था।

भगवान् जिनेश्वर अथवा अर्हत् की स्तुति के रूप में अप्पर द्वारा तमिल भाषा में रचित स्तोत्र आज भी जैन धर्मावलम्बी भक्तों द्वारा बड़ी श्रद्धा एवं प्रेम के साथ गाये जाते हैं। अप्पर के वे स्तुतिपरक पद्य कतिपय अंशों में तेवारम् से मिलते-जुलते हैं और जैनों में बड़े ही लोकप्रिय हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अप्पर ने सम्भवतः इन लोकप्रिय स्तुतियों–स्तोत्रों की रचना अपनी आयु के अन्तिम भाग में की थी।

एन्साइक्लोपीडिया में जो एतद्विषयक उल्लेख है, वह इस प्रकार है :-

Note : The Jains give an altogether different version of Appar's life thus :—

"Appar was a Jain ascetic in his youth, a staunch Shaiva in his middle age and a repented follower of Jainism in his old age. On accoant of his reconversion to Jainism he was murdered by his Saivite followers lest he should undo by popularising a mysterious story that he was devoured by a tiger which was only a manifestation of Shiva. Certain Tamil hymns in praise of Jina or Arhat are attributed to Appar and are most popularly sung by the Jains even to day. The hymns resemble the Tevaram in many ways perhaps they were sung by Appar during the latter period of his life.

(एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स हैस्टिंग्स लिखित—पेज ४६५)

अप्पर ने शैव सन्त बनने से बहुत पहले पाटलिका (पाटलिपुत्तम्) के मठ में जैन श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। वर्षों तक उस मठ में रहकर जैन सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया था। निश्चित रूप से वह बड़ा मेधावी, धार्मिक

और विद्वान् श्रमण रहा होगा और उसके उन गुणों से प्रभावित होकर जैन संघ ने उन्हें पाटलिपुरम् के मठ का अधिष्ठाता और वहां के जैन संघ का आचार्य बनाया था। धर्म संघ के संचालन का उसे प्रत्यक्ष और सक्रिय अनुभव था। किन-किन कार्यक्रमों को जन-कल्याण की भावना से हाथ में लेकर जनमत को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है और उन कार्यक्रमों के माध्यम से धर्म संघ को अभ्युदय—उत्थान के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है, इन सब बातों का अप्पर को जैनाचार्य के पद पर वर्षों तक कार्य करते रहने के कारण अच्छा अनुभव था।

शैव धर्म अंगीकार करने के पश्चात् अपने उन अनुभवों के आधार पर शैव धर्म की स्थिति को तमिलनाडु की भूमि में सुदृढ़ करने के लिये जैन संघ द्वारा संचालित उन सब जन-कल्याणकारी कार्यक्रमों को और कार्य प्रणालियों को सैद्धान्तिक रूप से शैव धर्म के कर्त्तव्यों में सम्मिलित किया। वे जन-कल्याणकारी सार्वभौम मानवीय सिद्धान्त, जिनको अप्पर ने जैनों का अनुसरण करते हुए शैव धर्म के कर्त्तव्यों में सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया, वे मोटे रूप में इस प्रकार हैं :—

(१) जैन धर्मानुयायी प्रतिदिन अपने आराध्यदेव तीर्थंकरों की स्तोत्रों से सस्वर पाठ के साथ स्तुति—पूजा—अर्चा करते हैं। इसी का अनुसरण करते हुए अप्पर आदि शैव सन्तों ने भी शैवों के धर्म स्थानों और मन्दिरों आदि में अपने आराध्य देव शिव की स्तुति—पूजा—अर्चा आदि का शैवों के लिये विधान किया।

(२) जैन धर्मानुयायी ६३ शलाका (श्लाघ्य) महापुरुषों के जीवन-चरित्रों का पठन-पाठन करते हैं। अप्पर आदि शैव सन्तों ने भी ६३ महान् शैव सन्तों के जीवन चरित्रों का निर्माण एवं संकलन किया और उनके पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण को शैव धर्मावलम्बियों का आवश्यक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिया।

(३) जैन धर्म में आहारदान, अभय दान (प्राणदान), भैषज्यदान और ज्ञान दान अथवा शास्त्र दान को महान् पुण्यप्रदायी और उच्च कोटि का जन-कल्याणकारी कार्य माना गया है। अप्पर आदि शैव सन्तों ने भी अपने शैव धर्म के सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार और सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के लिये जैनों का अनुसरण करते हुए आहाराभय—भैषज्य—शास्त्र—दान को सैद्धान्तिक रूप से शैवधर्म के प्रमुख कर्त्तव्यों में स्थान दिया।

(४) जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है, केवल कर्म को ही जैन धर्म में महत्व दिया गया है। वैष्णव धर्म की मान्यताओं के पूर्णतः प्रतिकूल होते हुए भी "अप्पर आदि शैव सन्तों ने जाति-पांति को शैव धर्म में कोई स्थान नहीं दिया।" इसे अप्पर आदि शैव सन्तों ने न केवल सिद्धान्त रूप में ही स्वीकार किया किन्तु तत्काल जाति-पांति—वर्गविहीन शैव समाज के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत कर दिया। उन्होंने परिगणित अथवा अछूत गिनी जाने वाली

हेस्टिंग्स एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में अप्पर की जीवनी के सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि अप्पर अपनी युवावस्था में एक जैन साधु था। अपनी प्रौढ़ अवस्था में वह कट्टर शैव साधु था और वृद्धावस्था में वह, अपनी प्रौढ़ावस्था में स्वयं द्वारा (शैव सन्त के रूप में) किये गये आचरण पर पश्चात्ताप करता हुआ, पुनः जैन धर्म का अनुयायी बन गया। पुनः जैन बन जाने के पश्चात् यह अप्पर कहीं शैव धर्म का घोर अनिष्ट न कर बैठे— इस आशंका से सशंक हो शैव धर्मानुयायियों ने रहस्यपूर्ण ढंग से अप्पर की हत्या कर दी और एक काल्पनिक आश्चर्यकारी कथानक की संरचना कर लोगों में इस प्रकार का समाचार प्रसृत कर दिया कि अप्पर को एक सिंह ने मारकर खा लिया है। वह सिंह अन्य कोई नहीं भगवान् शंकर का गण ही था।

भगवान् जिनेश्वर अथवा अर्हत् की स्तुति के रूप में अप्पर द्वारा तमिल भाषा में रचित स्तोत्र आज भी जैन धर्मावलम्वी भक्तों द्वारा बड़ी श्रद्धा एवं प्रेम के साथ गाये जाते हैं। अप्पर के वे स्तुतिपरक पद्य कतिपय अंशों में तेवारम् से मिलते-जुलते हैं और जैनों में बड़े ही लोकप्रिय हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अप्पर ने सम्भवतः इन लोकप्रिय स्तुतियों–स्तोत्रों की रचना अपनी आयु के अन्तिम भाग में की थी।

एन्साइक्लोपीडिया में जो एतद्विषयक उल्लेख है, वह इस प्रकार है :·

Note : The Jains give an altogether different version of Appar's life thus :—

"Appar was a Jain ascetic in his youth, a staunch Shaiva in his middle age and a repented follower of Jainism in his old age. On accoant of his reconversion to Jainism he was murdered by his Saivite followers lest he should undo by popularising a mysterious story that he was devoured by a tiger which was only a manifestation of Shiva. Certain Tamil hymns in praise of Jina or Arhat are attributed to Appar and are most popularly sung by the Jains even to day. The hymns resemble the Tevaram in many ways perhaps they were sung by Appar during the latter period of his life.

(एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स हैस्टिंग्स लिखित—
पेज ४६५)

अप्पर ने शैव सन्त बनने से बहुत पहले पाटलिका (पाटलिपुत्रम्) के मठ में जैन श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। वर्षों तक उस मठ में रहकर जैन सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया था। निश्चित रूप से वह बड़ा मेधावी, आगमों

और विद्वान् श्रमण रहा होगा और उसके उन गुणों से प्रभावित होकर जैन संघ ने उन्हें पाटलिपुरम् के मठ का अधिष्ठाता और वहां के जैन संघ का आचार्य बनाया था। धर्म संघ के संचालन का उसे प्रत्यक्ष और सक्रिय अनुभव था। किन-किन कार्यक्रमों को जन-कल्याण की भावना से हाथ में लेकर जनमत को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है और उन कार्यक्रमों के माध्यम से धर्म संघ को अभ्युदय—उत्थान के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है, इन सब बातों का अप्पर को जैनाचार्य के पद पर वर्षों तक कार्य करते रहने के कारण अच्छा अनुभव था।

शैव धर्म अंगीकार करने के पश्चात् अपने उन अनुभवों के आधार पर शैव धर्म की स्थिति को तमिलनाडु की भूमि में सुदृढ़ करने के लिये जैन संघ द्वारा संचालित उन सब जन-कल्याणकारी कार्यक्रमों को और कार्य प्रणालियों को सैद्धान्तिक रूप से शैव धर्म के कर्त्तव्यों में सम्मिलित किया। वे जन-कल्याणकारी सार्वभौम मानवीय सिद्धान्त, जिनको अप्पर ने जैनों का अनुसरण करते हुए शैव धर्म के कर्त्तव्यों में सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया, वे मोटे रूप में इस प्रकार हैं :—

(१) जैन धर्मानुयायी प्रतिदिन अपने आराध्यदेव तीर्थंकरों की स्तोत्रों से सस्वर पाठ के साथ स्तुति—पूजा—अर्चा करते हैं। इसी का अनुसरण करते हुए अप्पर आदि शैव सन्तों ने भी शैवों के धर्म स्थानों और मन्दिरों आदि में अपने आराध्य देव शिव की स्तुति—पूजा—अर्चा आदि का शैवों के लिये विधान किया।

(२) जैन धर्मानुयायी ६३ शलाका (श्लाघ्य) महापुरुषों के जीवन-चरित्रों का पठन-पाठन करते हैं। अप्पर आदि शैव सन्तों ने भी ६३ महान् शैव सन्तों के जीवन चरित्रों का निर्माण एवं संकलन किया और उनके पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण को शैव धर्मावलम्बियों का आवश्यक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिया।

(३) जैन धर्म में आहारदान, अभय दान (प्राणदान), भैषज्यदान और ज्ञान दान अथवा शास्त्र दान को महान् पुण्यप्रदायी और उच्च कोटि का जन-कल्याणकारी कार्य माना गया है। अप्पर आदि शैव सन्तों ने भी अपने शैव धर्म के सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार और सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के लिये जैनों का अनुसरण करते हुए आहाराभय—भैषज्य—शास्त्र—दान को सैद्धान्तिक रूप से शैवधर्म के प्रमुख कर्त्तव्यों में स्थान दिया।

(४) जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है, केवल कर्म को ही जैन धर्म में महत्व दिया गया है। वैष्णव धर्म की मान्यताओं के पूर्णतः प्रतिकूल होते हुए भी "अप्पर आदि शैव सन्तों ने जाति-पांति को शैव धर्म में कोई स्थान नहीं दिया।" इसे अप्पर आदि शैव सन्तों ने न केवल सिद्धान्त रूप में ही स्वीकार किया किन्तु तत्काल जाति-पांति—वर्गविहीन शैव समाज के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत कर दिया। उन्होंने परिगणित अथवा अछूत गिने जाने वाले

जातियों और वर्गों के लोगों को, शैव धर्म संघ में समान स्तर पर सम्मिलित किया। यही नहीं अपितु शैव धर्म में परम पवित्र, परम पूज्य माने गये ६३ महान् शैव सन्तों में मछुआ वर्ग के अतिभक्त नायनार नामक सन्त को भी सम्मिलित कर उसे महान् शैव सन्तों में समान स्तर का स्थान और सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया। अप्पर आदि शैव सन्तों का यह एक ऐसा क्रान्तिकारी कदम था, जिसने शैव धर्म संघ को जन-जन का परम लोकप्रिय धर्म संघ बना दिया।

(५) एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण कार्य, जिसे जैनाचार्य अथवा जैनधर्मावलम्बी प्राचीन काल से ही निरन्तर करते आ रहे थे, वह था राजसत्ता का—राजाओं का संरक्षण प्राप्त करना। अपने धर्म संघ के उत्तरोत्तर अभ्युत्थान के लिये अप्पर आदि शैव सन्तों ने इस कार्य को परम आवश्यक मान कर इस कार्य में भी जैनों का, जैनाचार्यों का अनुसरण किया।

उन्होंने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन, पाण्ड्यराज सुन्दर पाण्ड्य आदि राजाओं को अपनी वाग्मिता एवं अपने चमत्कारों आदि से प्रभावित कर अपने शैव धर्म संघ के उत्कर्ष के लिये, उन राजाओं का संरक्षण प्राप्त किया। शैव धर्म ने राज्याश्रय अथवा राजाओं का संरक्षण प्राप्त कर अपने प्रतिद्वन्द्वियों को कुचल कर अपने धर्म संघ को सबल, सुदूरव्यापी और बहुजन सम्मत बनाने में किस प्रकार अद्भुत् एवं आशातीत सफलता, स्वल्पकाल में ही प्राप्त कर ली, इसका प्रस्तुत प्रकरण में उल्लिखित तथ्यों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार जैनों द्वारा पूर्वकाल में अपनायी गयी कार्य प्रणालियों का अनुसरण करते हुए अप्पर आदि शैव सन्तों ने अपने लक्ष्य की पूर्ति में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की।

जहां तक अप्पर के समय का सम्बन्ध है, यह पहले बताया जा चुका है कि यह ई० सन् ६०० से ६३० तक सत्ता में रहे कांचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम का गुरु और ज्ञानसम्बन्धर, सुन्दरपाण्ड्य, पल्लव सेनापति शिरुत्तोण्डा दभ्रभक्त और जैनाचार्य वादीभसिंह (ओड़यदेव) का समकालीन था। अतः इस शैव महासन्त अप्पर का समय भी ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आस-पास का अनुमानित किया जाता है।

तिरु अप्पर के जीवन की एक विशेषता है कि जैन संघ में वह आचार्य पद जैसे गौरवगरिमापूर्ण पद पर पहुंचा। कालान्तर में शैव धर्म अंगीकार कर शैव सन्तों में भी शीर्षस्थान पर पहुंचा और अन्त में पुनः जैनधर्मावलम्बी बन गया और अन्ततोगत्वा जिन शैवों को उत्कर्ष के उच्च शिखर पर पहुंचाया, उन्हीं के द्वारा उसकी हत्या कर दी गई।

तिरु अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर के समकालीन जैनाचार्य वादीभसिंह अपर नाम ओडयदेव

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के संधिकाल के जैनाचार्यों में दिगम्बर जैनाचार्य वादीभसिंह का नाम प्रमुख ग्रन्थकारों में गिना जाता है।

जयधवला जैसे महान् टीकाग्रन्थ के यशस्वी रचनाकार जिनसेनाचार्य के आदिपुराण में उल्लिखित शब्दों के अनुसार वादीभसिंह महाकवि योग्य प्रतिभा की पराकाष्ठा, उच्च कोटि के वाग्मी गमकानुप्रासादादि के पारदृश्वा और वादियों के हस्तियूथ के लिये विकराल केसरी-सिंह तुल्य थे।

वे अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ महान् तार्किक भी थे। डा० श्याम शास्त्री द्वारा प्रकाश में लाये गये इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए वादीभसिंह ने शैवक्रान्ति के सूत्रधार शैव महासन्त तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर के साथ शैवधर्म के सिद्धान्तों के विषय में वादविवाद किया था।[1] इनका (वादीभसिंह का) परिचय एक विशेष ऐतिहासिक महत्व रखता है। इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए वादीभसिंह का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

इनका वास्तविक नाम ओडय देव था। अपराजेय वादी अथवा महान् तार्किक होने के कारण उन्हें वादीभसिंह की उपाधि से विद्वानों ने विभूपित किया था।

इनकी 'स्याद्वादसिद्धि', 'क्षेत्रचूड़ामणि' और 'गद्य चिन्तामणि'—ये तीन रचनाएं वर्तमान में उपलब्ध हैं। ये तीनों ही ग्रन्थ वस्तुतः ग्रन्थरत्न हैं। 'स्याद्वाद-सिद्धि' नामक न्याय और दर्शन के ग्रन्थ में १४ अधिकार हैं किन्तु इसके अन्तिम अधिकार में केवल ६ कारिकाएं ही हैं और शेष दो कृतियों की तरह इसमें अन्तिम पुष्पिका का भी अभाव है। इससे स्पष्टतः ही यह प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ या तो अपूर्ण रह गया है अथवा किसी लिपिकार ने इसका पूरा आलेखन नहीं किया।

वादीभसिंह की शेष 'क्षत्रचूड़ामणि' और 'गद्यचिन्तामणि' इन दोनों ही कृतियों में कथानक एक ही है, कथानायक भी वही है और कथा के पात्र भी भिन्न नहीं, वे ही हैं।

इन दोनों कृतियों में कथा, कथानायक और पात्रों का सादृश्य होते हुए भी पाठकों को ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं, यह वादीभसिंह की अद्भुत कल्पना शक्ति का ही चमत्कार है, जो अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

---

[1] एम. ए. आर. फोर १९२५ पी. पी. १२-१३ पेज ८

क्षत्रचूड़ामणि एक उच्च कोटि का नीति काव्य है जिसमें सरस सूक्तियां और हृदयस्पर्शी उपदेश हैं।

गद्य चिन्तामणि एक गद्य काव्य है। इसकी भाषा प्रौढ़ और कुछ जटिल है। इसमें दिये गये उपदेश के नीति-वाक्य बड़े ही सरस एवं चित्ताकर्षक हैं।

विद्वान कवि वादीभसिंह ने अपने गुरु के नामोल्लेख के साथ अपना परिचय देते हुये गद्य चिन्तामणि में लिखा है :—

श्री पुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो
दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संविदध्यात्।
यच्छक्तितःप्रकृति मूढमतिर्जनोऽपि
वादीभसिंह मुनि पुंगवतामुपैति ॥

अर्थात्—पुष्पसेन नामक आचार्य मेरे गुरु हैं। उनमें ऐसी दिव्य शक्ति है कि उनकी उस शक्ति के प्रताप से मेरे जैसा बुद्धिहीन व्यक्ति भी वादीभसिंह आचार्य बन गया।

आचार्य पुष्पसेन को मल्लिषेण प्रशस्ति में अकलंक का गुरु भ्राता बताया गया है इससे यह सिद्ध होता है कि वादीभसिंह के गुरु पुष्पसेन और महान् विद्वान् आचार्य अकलंक समकालीन विद्वान् थे।

जहाँ तक वादीभसिंह के समय का प्रश्न है, कहीं इनके निश्चित समय का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इनका जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में और पार्श्वनाथ चरित्र के रचनाकार वादीराज सूरि ने स्मरण किया है।

जिनसेनाचार्य का समय ई० सन् ८३७ है और वादीराज सूरी का समय ई. सन् १०२५ है। इससे यह तो निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वादीभसिंह ईसा की आठवीं शताब्दी से पूर्व के विद्वान् थे। तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम और सुन्दरपाण्ड्य यह सब समकालीन थे। वहां यह भी बताया जा चुका है कि कांचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम का शासन काल ई. सन् ६०० से ६३० तक का है। वादीभसिंह भी अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर के समकालीन विद्वान् थे अतः इनका समय भी स्वतः ईसा की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हो जाता है।

आचार्य वादीभसिंह का शैव संत ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के साथ जो वाद-विवाद हुआ उसका क्या निर्णय रहा इस सम्बन्ध में आज तक कोई तथ्य प्रकाश में नहीं आया है। आशा है इतिहास के विद्वान् इस ओर अग्रेतर शोध कर इस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

श्रमण भगवान् महावीर के ३५वें पट्टधर आचार्य श्री जयसेन (द्वितीय)

जन्म	—	वीर नि. सं. ११४२
दीक्षा	—	वीर नि. सं. ११७४
आचार्यपद	—	वीर नि. सं. ११९७
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १२२३
गृहवास पर्याय	—	३२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२६ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	४९ वर्ष
पूर्ण आयु	—	८१ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वें पट्टधर आचार्य श्री हरिषेण के स्वर्ग गमनानन्तर उनके विद्वान् शिष्य मुनि श्री जयसेन (द्वितीय) को चतुर्विध तीर्थ द्वारा आचार्य पद पर विराजमान किया गया।

आप प्रभु महावीर के ३५वें पट्टधर हुए। ४९ वर्ष की पूर्ण साधु पर्याय में निरतिचार-विशुद्ध श्रमणाचार का परिपालन करने के साथ-साथ आपने २६ वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित करते हुए जिनशासन की बड़ी निष्ठा के साथ महती सेवा की।

इससे अधिक इनके विषय में कोई उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता। इतिहासविदों से इसके लिए अग्रेतर शोध की अपेक्षा है।

श्रमण भगवान् महावीर के ३६वें पट्टधर आचार्य श्री जगमाल स्वामी

जन्म	—	वीर नि. सं. ११८७
दीक्षा	—	वीर नि. सं. १२१४
आचार्य पद	—	वीर नि. सं. १२२३
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १२२९
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	९ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	६ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	१५ वर्ष
पूर्ण आयु	—	४२ वर्ष

वीर प्रभु के ३५वें पट्टधर आचार्य श्री जयसेन (द्वितीय) के दिवंगत हो जाने पर श्रमणोत्तम श्री जगमाल स्वामी को भ. महावीर के ३६वें पट्टधर के रूप में चतुर्वि। संघ द्वारा प्रभु की मूल विशुद्ध श्रमण-परम्परा का आचार्य बनाया गया।

उन्होंने ९ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में और ६ वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर भगवान् महावीर की मूल परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार की ज्योति को अपने समय के संक्रान्ति काल में भी अखण्ड बनाये रखा। आपने चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य काल की विकट परिस्थितियों में भी मूल श्रमण परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार को अक्षुण्ण एवं निरतिचार बनाये रखकर जिनशासन की जो सेवाएं की हैं, वे जैन धर्म के इतिहास में युग-युगान्तरों तक मुमुक्षु साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के वर्गों को स्व पर कल्याण के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रदीप स्तम्भ के समान सदा-सदा मार्गदर्शन करती रहेंगी।

श्रमण भगवान् महावीर के ३७वें पट्टधर आचार्य श्री देव ऋषि

जन्म	—	वीर नि. सं. ११४६
दीक्षा	—	वीर नि. सं. ११६०
आचार्य पद	—	वीर नि. सं. १२२६
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १२३४
गृहवास पर्याय	—	४१ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	३६ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	५ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	४४ वर्ष
पूर्ण आयु	—	८५ वर्ष

शासन नायक वीर प्रभु के ३६वें पट्टधर श्री जगमाल स्वामी के वीर नि. सं. १२२६ में स्वर्गारोहण कर लेने पर मुनिश्रेष्ठ श्री देवऋषि को महावीर के ३७वें पट्टधर पद पर आचार्य बनाया गया।

आप वीर निर्वाण की १३वीं शताब्दी के आचार्य हुए। वीर नि. सं. १२२६ से १२३४ पर्यन्त केवल ५ वर्ष के अपने आचार्य काल में प्रतिकूल परिस्थितियों के उपरान्त भी श्रमण-श्रमणी वर्ग के हृदय में विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति एक ललक उत्पन्न कर उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतम होते जा रहे मूल श्रमण-परम्परा के प्रवाह को अक्षुण्ण-अविच्छिन्न बनाये रखकर जिनशासन की महती सेवा की।

श्रमण भगवान् के ३८वें पट्टधर आचार्य श्री भीम ऋषि

जन्म	—	वीर नि. सं. ११६०
दीक्षा	—	वीर नि. सं. १२११
आचार्य पद	—	वीर नि. सं. १२३४
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १२६३
गृहवास पर्याय	—	५१ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	२९ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	५२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	१०३ वर्ष

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के ३७व पट्टधर आचार्य श्री देवऋषि के स्वर्गस्थ होने पर वीर नि. सं. १२३४ में मुनि पुंगव श्री भीम ऋषि को वीर प्रभु के ३८वें पट्टधर के रूप में चतुर्विध संघ द्वारा आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

अपने आचार्यकाल में शिथिलाचार परायणा चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य, सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार एवं काल प्रभाव से बढ़ते हुए वर्चस्व के उपरान्त भी भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा की क्षीण धारा को अपने तप त्याग के बल पर प्रवाहित रखते हुए उसे विलुप्त होने से बचाया। अपने २९ वर्ष के आचार्यकाल में आचार्य श्री भीम ऋषि ने 'यथा नाम तथा गुणाः' की कहावत को चरितार्थ कर जिनशासन की महती सेवा की।

बत्तीसवें (३२) युगप्रधानाचार्य श्री पुष्यमित्र

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११५२
दीक्षा	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११६०
सामान्य साधु पर्याय	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११६० से ११९७ तक।
युगप्रधानाचार्य काल	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११९७ से १२५० तक।
स्वर्ग	—	वीर निर्वाण सम्वत् १२५०
सर्वायु	—	९८ वर्ष

युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र प्राचीनकाल में एक महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। यह एक दुर्भाग्य की बात है कि युगप्रधानाचार्य परम्परा के आचार्यों के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में वर्तमान काल में सामान्यतः उपलब्ध साहित्य में कोई अधिक आधिकारिक जानकारी नहीं मिलती।

'तित्थोगालिपइण्णय' के प्रकाश में आने के पश्चात् इस परम्परा के कतिपय आचार्यों के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं। इस ग्रन्थ में इस परम्परा के आचार्यों के सम्बन्ध में जो उल्लेख हैं, उन पर विचार करने से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि इस परम्परा का अनेक शताब्दियों तक जैन जगत् में एक परम प्रामाणिक परम्परा के रूप में सर्वांगीण वर्चस्व रहा है।

'तित्थोगालि पइण्णय' के उल्लेखों के अनुसार आचार्य पुष्यमित्र ८४००० पदों वाले सर्वांगपूर्ण व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) के अन्तिम धारक हुए हैं। वे महान् चिन्तक और विशुद्ध श्रमणाचार की रक्षा में निपुण थे।

आपके स्वर्गस्थ होते ही ८४००० पदों वाला गुणों से ओतप्रोत पांचवां अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति रूपी कल्पवृक्ष सहसा संकुचित हो गया और इसके गुण [illegible]

अमृत फलों से वंचित भव्य साधक सहसा भ्रान्त एवं हतप्रभ हो गये। 'तित्थोगालि पइन्नय' की वे गाथाएं इस प्रकार हैं :—

पण्णासा वरिसेहिं य, बारस वरिस सएहिं वोच्छेदो।
दिन्नगणि पूसमित्ते, सविवाहाणं छलंगाणं ।।८१२।।
नामेण पूसमित्तो, समणो समणगुण निउण चिंतविग्रो।
होही अपच्छिसो किर वियाह सुयधारओ वीरो ।।८१२।।
तम्मिय वियाहरुक्खे, चुलसीति पयसहस्सगुण कलिए।
सहस्संचिए संभंतो, हो ही गुण निप्फलो लोगो ।।८१४।।

अर्थात्—वीर निर्वाण सम्वत् १२५० में दिन्नगणि श्री पुष्यमित्र के समय में व्याख्या प्रज्ञप्ति सहित छः अंगों का व्यवच्छेद (ह्रास) हो जायगा।

विशुद्ध श्रमणाचार के परिपालक और दूसरों से पालन करवाने में निपुण एवं महान् चिन्तक वीरवर पुष्यमित्र नामक श्रमण सम्पूर्ण व्याख्या प्रज्ञप्ति का अन्तिम धारक होगा।

गुणों से ओतप्रोत, चौरासी हजार पदों वाले पंचम अंग शास्त्र व्याख्या प्रज्ञप्ति रूपी कल्पवृक्ष के सहसा संकुचित हो जाने पर उसके गुण रूपी फलों से वंचित हुए लोग दिग्भ्रान्त हो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जायेंगे।

इसके अतिरिक्त इनके बारे में कोई उल्लेखनीय जानकारी अद्यतन प्रयत्न करने पर भी हमें नहीं मिल सकी है। भावी शोधकर्त्ताओं से पूर्ण अपेक्षा है।

—o—

हर्षवर्द्धन—अपर नाम शीलादित्य

वीर निर्वाण की बारहवीं शताब्दी में स्थानेश्वर और कन्नौज का महाराजा हर्षवर्द्धन महान् प्रतापी और भारतीय इतिहास में बड़ा ही यशस्वी राजा हुआ है। हर्ष स्वयं बड़ा विद्वान्, यशस्वी साहित्य-निर्माता, विद्वानों का समुचित समादर करने वाला, साहसी योद्धा रणनीति में विशारद और शांति का भी पुजारी था।

अपनी मातृभूमि से विदेशी हूणों के शासन को सदा-सर्वदा के लिये समाप्त कर देने के अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति हेतु जो सफल अभियान हर्ष ने प्रारम्भ किया, उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका न केवल अन्तस्तल अपितु रोम-रोम देशप्रेम के प्रगाढ़ रंग में रंगा हुआ था। सब धर्मों को वह समान दृष्टि से देखता था। बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग हर्ष को बुद्ध का परम भक्त और कट्टर बौद्ध धर्मानुयायी बताता है, तो दूसरी ओर हर्षवर्द्धन के शासनकाल की उसकी मुद्राएँ उसे शिव का भक्त—परम शैव सिद्ध करती हैं। तीसरी ओर जैन साहित्य में "भक्तामर" नाम से प्रसिद्ध आदिनाथ भगवान् के स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुंग द्वारा निर्मित इस स्तोत्र निर्माण की घटना का हर्ष के साथ सम्बन्ध जोड़कर हर्ष को जैन धर्म के प्रति विशिष्ट अनुराग रखने वाला बताया गया है।

सब धर्मों के अनुयायी हर्ष को अपने-२ धर्म का अनुयायी बताते हैं तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा हर्ष सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता था।

हर्षवर्द्धन के जीवनवृत्त पर विशद प्रकाश डालने वाले मुख्य रूप से दो स्रोत हैं। एक तो है हर्ष के परमप्रीतिपात्र महाकवि बांणभट्ट द्वारा रचित हर्ष चरित्र और दूसरा स्रोत है चीनी यात्री ह्वेनत्सांग द्वारा लिखे गये हर्ष सम्बन्धी विवरण।

चीनी यात्री ह्वेनत्सांग के हर्षसम्बन्धी विवरणों को पढ़ने से साधारण पाठक को भी सहज ही यह आभास हो जाता है कि उनमें उसने हर्ष का बौद्ध धर्म के अनन्यभक्त के रूप में एक अतिरंजित चित्र प्रस्तुत किया है।

महाकवि बांण के उल्लेखानुसार स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) राज्य का नाम किसी नगर के नाम पर प्रचलित हुआ, जो श्रीकण्ठ नामक देश में अवस्थित था। थानेश्वर राज्य का संस्थापक आदि पुरुष पुष्पभूति था।

थानेश्वर राज्य की प्राचीन राजकीय सीलों (मुहरों) और प्राचीन अभिलेखों के आधार पर इतिहासविदों ने इस राजवंश की जो पुष्पभूति के उत्तरवर्ती काल की राजावली तैयार की है, वह इस प्रकार है[1] :—

(१) महाराजा नरवर्द्धन, उसकी रानी वज्रिणी देवी।
(२) महाराजा राज्यवर्द्धन, उसकी रानी अप्सरा देवी।
(३) महाराजा आदित्यवर्द्धन, उसकी रानी महासेना—गुप्ता देवी।

(४) परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन अपर नाम प्रतापशील।
रानी यशोमती देवी।

परम भट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन — परम भट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन

पुरातत्व-सामग्री से यह प्रकट होता है कि राज्यवर्द्धन के अतिरिक्त इस वंश के सभी राजा शैव धर्मावलम्बी थे। राज्यवर्द्धन बौद्ध धर्मानुयायी था।

थानेश्वर राजवंश की उपरिलिखित वंशावलि को देखने से यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि इनमें प्रभाकरवर्द्धन से पहले के इस वंश के राजा केवल महाराजा विरुद के ही धारक थे। इस राजावलि में केवल प्रभाकरवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम परम भट्टारक महाराजाधिराज पद धारण किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि थानेश्वर राज्य सर्वप्रथम प्रभाकरवर्द्धन के शासनकाल में ही स्वतन्त्र राज्य बना। इससे पहले संभवत: इसके ई० सन् ५०० से ५८० के बीच हुए सभी पूर्वज गुप्त साम्राज्य के अधीनस्थ सामन्त राजा रहे होंगे। महाराजा आदित्यवर्मन का विवाह गुप्त सम्राट् महासेन की बहिन महासेना से हुआ और इस वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् थानेश्वर राज्य शनैः-शनैः शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरने लगा और अंततोगत्वा महासेन का भागिनेय प्रभाकरवर्द्धन शक्तिशाली स्थानेश्वर राज्य का महाराजाधिराज बन गया। गुप्त सम्राट् महासेन के समय को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि प्रभाकरवर्द्धन ई० सन् ५८० के आस-पास स्वतन्त्र महाराजाधिराज बना। महाकवि बाण ने हर्षचरित्र में प्रभाकरवर्द्धन के लिये लिखा है :—

> "परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन हूण रूपी मृगों के लिये सिंह, सिन्धुराज के लिये साक्षात्काल गुर्जरराज की निद्रा को क्षण-क्षण पर भंग कर देने वाला भयंकर स्वप्न, गान्धार के राजा के लिये भयंकर शीतज्वर, लाटराज की रणचातुरी को चूर्णित-विचूर्णित कर देने वाला और मालवराज की सार्वभौम सत्ता रूपिणी वल्लरी के लिये कुठार था।"

प्रभाकरवर्द्धन ने अपने बड़े पुत्र राज्यवर्द्धन को अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व एक बड़ी सेना देकर भारत से हूणों के समूलोच्छेद के लिये उत्तरापथ में भेजा था। किन्तु प्रभाकरवर्द्धन रुग्ण हो गया, इस कारण राज्यवर्द्धन को शीघ्र ही उत्तरापथ से लौटना पड़ा। बाण ने इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया है कि राज्यवर्द्धन का हूणों के साथ युद्ध हुआ कि नहीं। राज्यवर्द्धन के उत्तरापथ से लौटने से पहले ही प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हो गई और रानी यशोमती भी सरस्वती नदी के तट पर अपने पति के साथ चिता में जलकर सती हो गयी।

अपने पिता की मृत्यु और माता के सती हो जाने के पश्चात् राज्यवर्द्धन को संसार से विरक्ति हो गयी। उसने संन्यास ग्रहण करने की आन्तरिक अभिलाषा

व्यक्त करते हुए हर्ष से आग्रह किया कि वह थानेश्वर के राजसिंहासन पर बैठे। किन्तु हर्ष ने अपने बड़े भाई के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा कि वह भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के पदचिह्नों का अनुसरण कर संन्यस्त हो अध्यात्मसाधना में निरत हो जायगा।

जिस समय दोनों भाई इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे, उसी समय कन्नौज के एक समाचारवाहक ने आकर उन दोनों भाइयों को सूचना दी कि जिस दिन महाराजा प्रभाकरवर्द्धन के स्वर्गस्थ होने के समाचार कन्नौज पहुंचे उसी दिन मालवा के राजा ने कन्नौज के महाराजा ग्रहवर्मन (राज्यवर्द्धन के बहनोई) की हत्या कर दी और महारानी राज्यश्री को बन्दी बना लिया। अब वह थानेश्वर पर आक्रमण करना चाहता है।

इस दुःखद समाचार को सुनते ही राज्यवर्द्धन १० हजार अश्वारोहियों की सेना ले मालवराज के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्थित हुआ और उसने हर्ष को थानेश्वर-राज्य की रक्षा के लिये वहीं रखा। वायुवेग से आगे बढ़कर राज्यवर्द्धन ने मालव नरेश की सेना पर भीषण आक्रमण किया। देखते ही देखते राज्यवर्द्धन ने मालव सेना को नष्ट कर दिया।

मालव सेना पर इस विजय के पश्चात् गौड़ राजा शशांक ने विश्वासघात कर राज्यवर्द्धन की हत्या कर दी। यह हर्षवर्द्धन पर अनभ्र वज्रपात था।

हर्षचरित्र में महाकवि बाण के उल्लेखानुसार इस महाशोकप्रद समाचार के सुनते ही हर्ष के क्रोध का पारावार न रहा। उसने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की कि यदि वह कुछ ही दिनों में पृथ्वी को गौड़विहीन नहीं कर सका तो अग्निप्रवेश कर लेगा। उसने उसी समय पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक समस्त भारत पर विजय प्राप्त करने का निश्चय किया और अपने मन्त्रियों को आदेश दिया कि वे सब राजाओं को इस प्रकार का संदेश भेज दें कि वे सब उसकी (हर्ष की) अधीनता स्वीकार करें अन्यथा शीघ्र ही युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जायं। तदनन्तर हर्षवर्द्धन एक बड़ी सेना लेकर सर्वप्रथम गौड़राज शशांक से प्रतिशोध लेने और तदनन्तर चारों दिशाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये प्रस्थित हुआ।

हर्षवर्द्धन को मार्ग में प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा कुमार अपर नाम भास्करवर्मन का दूत मिला और उसने अपने स्वामी की ओर से यह प्रस्ताव किया कि वे दोनों परस्पर एक दूसरे की समय-समय पर सहायता करें। हर्ष ने उस प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी सेना के साथ आगे बढ़ा। कुछ दिनों तक कूच पर कूच करते आगे बढ़ते समय हर्ष को भण्डी मिला जो राज्यवर्द्धन की सेना, शत्रुसेना के बन्दियों, मालवराज की सेना से लूट में प्राप्त शस्त्रास्त्रादि सामग्री और मालवराज के छत्र, चामर, गज, अश्व और धनागार आदि लिए थानेश्वर की ओर लौट रहा था। हर्ष को उससे राज्यश्री के सम्बन्ध में यह सूचना मिली कि कारागृह से मुक्त की जाने पर राज्यश्री अपनी परिचारिकाओं के साथ विन्ध्याटवी में प्रविष्ट

हो गयी है। उसकी खोज के लिये चारों ओर सैनिक टुकड़ियां भेजी गईं किन्तु अभी तक राज्यश्री नहीं मिली है।

हर्ष ने तत्काल भण्डी को राज्यवर्द्धन के साथ मालवराज पर आक्रमण करने के लिये गई सेना और अपनी सेना के साथ शशांक पर आक्रमण करने का आदेश दे स्वयं राज्यश्री की खोज में विन्ध्याटवी की ओर द्रुतवेग से बढ़ा। बड़ी खोज के बाद एक दिन हर्ष ने विन्ध्याटवी में देखा कि राज्यश्री चिता में आग लगाकर उसमें प्रवेश करने को उद्यत है। हर्ष ने विद्युत्वेग से आगे बढ़कर राज्यश्री को चिताग्नि में प्रवेश करने से बचा लिया और उसको साथ लेकर गंगा तट पर अपने शिविर में लौटा।

बांण अपने विवरण को सहसा यहीं अधूरा ही छोड़ देता है। इस प्रकार की स्थिति में हर्ष द्वारा प्रारम्भ किये गये अभियान से हर्ष को कौन-कौनसी उपलब्धियां हुईं, किन-किन राजाओं को जीता, इस विषय में सुनिश्चित एवं प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मंजूश्री—मूलकल्प के एतद्विषयक उल्लेख से इतना अवश्य प्रकट होता है कि हर्षवर्द्धन ने शशांक की राजधानी पुण्ड्र पर आक्रमण किया। उस युद्ध में हर्ष ने शशांक को पराजित कर आज्ञा दी कि वह उसके राज्य से सदा के लिये बाहर चला जाय। अपने बड़े भाई राज्यवर्द्धन की विश्वासघातपूर्वक हत्या करने वाले शशांक को पराजित कर देने के पश्चात् भी हर्ष ने न तो उसे मारा और न बन्दी ही बनाया, यह बात कहां तक विश्वसनीय है, कहा नहीं जा सकता। यह घटना ई० सन् ६०७–६०८ के बीच के किसी समय की हो सकती है। किन्तु इसके पश्चात् ई० सन् ६३७–३८ के आसपास तक शशांक का बंगाल, दक्षिणी बिहार और उड़ीसा पर राज्य रहा। ई० सन् ६३७–६३८ में मगध में भ्रमण करते समय स्वयं हुएनत्सांग ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि शशांक ने गया के एक बोधि वृक्ष को काट दिया और इसके कुछ समय पश्चात् ही वह मर गया।

अपनी बहिन राज्यश्री के साथ हर्षवर्द्धन कन्नोज गया। वहां उसने कतिपय वर्षों तक अपनी बहन की ओर से कन्नोज राज्य के शासन भार को सम्हाला और इस प्रकार वह थानेश्वर और कन्नोज दोनों ही राज्यों पर शासन करता रहा। कुछ समय पश्चात् उसने अपने आपको कन्नोज का राजा घोषित कर दिया और परम भट्टारक राजाधिराज का पद भी धारण किया। यह पहले बताया जा चुका है कि राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुनकर हर्ष ने भारत में एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न साम्राज्य की स्थापना द्वारा भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने का निश्चय किया था। उस निश्चय-पूर्त्ति के लिए हर्षवर्द्धन एक लम्बे समय तक प्रयत्न करता रहा। पूर्व और उत्तर में उसे पर्याप्त सफलताएँ मिलीं किंतु भारत में पूर्व से पश्चिम तक और दक्षिण से उत्तर तक एक ही सशक्त केन्द्रीय शासन की स्थापना के माध्यम से सम्पूर्ण भारत को शासन के एकसूत्र में बांधने का हर्षवर्द्धन का स्वप्न साकार नहीं

हो सका। हर्षवर्द्धन के इस स्वप्न के पूर्ण न होने देने में सबसे बड़ा हाथ रहा बादामी के चालुक्य साम्राज्य का।

बादामी का चालुक्य पुलकेशिन ईसा की ७वीं शताब्दी में ही (ई. सन् ६१० के आसपास) राष्ट्रकूटवंशीय शक्तिशाली राजा अप्पायिक गोविन्द को जो कि दक्षिण विजय करता हुआ आगे बढ़ रहा था, भीमरथी नदी के उत्तर में हुई लड़ाई में पराजित कर एक शक्तिशाली राजा के रूप में उभर आया था।

हर्षवर्द्धन एक विशाल साम्राज्य की स्थापना के अपने स्वप्न को पूरा करने के लिये जब दक्षिण-विजय के लिये दक्षिणापथ में बढ़ रहा था, उस समय पुलकेशिन द्वितीय ने एक विशाल सेना लेकर हर्षवर्द्धन की बढ़ती हुई सेनाओं को रोका। नर्मदा के तट पर हर्षवर्द्धन और चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय की सेनाओं के बीच निर्णायक युद्ध हुआ। कड़े संघर्ष के पश्चात् हर्षवर्द्धन की पराजय हुई। पुलकेशिन ने हर्षवर्द्धन के अनेक हाथियों को पकड़ कर अपने अधिकार में कर लिया।

हर्षवर्द्धन की इस पराजय के और अपने सैनिक अभियानों में सफल न होने के पीछे रहे कारणों पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ. के.ए. नीलकण्ठ शास्त्री ने 'दक्षिण भारत का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है :—

> "पुलकेशिन के सैन्यबल की प्रसिद्धि तथा उत्तर में हर्ष की बढ़ती हुई शक्ति ने एक-एक कर लाट, मालव तथा गुर्जर, सभी को पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार करने को प्रेरित किया। इस तरह चालुक्य साम्राज्य की सीमा एक स्थान पर मही नदी को स्पर्श करती थी। जब हर्ष ने दक्षिण पर हमला किया तो पुलकेशिन ने उसका सामना किया और नर्मदा-तट पर उसे बुरी तरह पराजित कर उसके अनेक हाथियों को पकड़वा लिया। हर्ष को अपने विजयी जीवन में सिर्फ यहीं मुंह की खानी पड़ी। ये सारी सफलताएँ पुलकेशिन को अपने शासनकाल के प्रथम तीन-चार वर्षों में ही मिल गयीं।"[१]

यह तो इतिहास प्रसिद्ध ही है कि चालुक्यों का चाहे वे वातापी के हों, चाहे वेंगी के अथवा विजयनगरम् के, गुजरात के साथ पारस्परिक पूर्वजों के समय से ही प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। इस दृष्टि से भी हर्ष की महत्वाकांक्षाओं और बढ़ती हुई शक्ति को देख कर गुजरात के वल्लभी, लाट आदि के राजाओं ने सम्भवतः चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय की विजयिनी सेनाओं और अजेयता को देखकर हर्षवर्द्धन से अपनी रक्षा करने के लिये पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार कर ली हो। अपने समय की शक्तिशाली राजसत्ताओं—गंग, राष्ट्रकूट, कदम्ब आदि राजवंशों पर पुलकेशिन द्वितीय ने विजय प्राप्त कर ली थी। एलिफेन्टा द्वीपस्थ मौर्यों की राजधानी पुरी पर आक्रमण कर के पुलकेशिन ने मौर्यों को भी अपनी अधीनता स्वीकार

---

१. दक्षिण भारत का इतिहास, डा० के० ए० नीलकण्ठ, पृष्ठ १६५

करने के लिये बाध्य कर दिया था। मालवराज ने भी पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

इस प्रकार उस समय की छोटी-बड़ी अनेक सत्ताओं को अपनी पक्षधर बना कर पुलकेशिन ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ बना हर्षवर्द्धन के शक्तिसंचय के अनेक बड़े-बड़े स्रोतों को प्रायः अवरुद्ध सा कर दिया था। इसी कारण हर्ष को भारत में एक सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के अपने लक्ष्य की पूर्ति में अन्य राजाओं का सहयोग प्राप्त न हो सकने के कारण अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी। परन्तु उत्तरी भारत में हर्षवर्द्धन को अपने राज्य का विस्तार करने में पर्याप्त सफलताएं प्राप्त हुईं और वह उत्तर का एक शक्तिशाली राजा बन गया।

चीन की एन्साइक्लोपीडिया के निर्माता विद्वान मा–त्वान–लिन के उल्लेखानुसार हर्षवर्द्धन अपर नाम शीलादित्य (चीन में इसे शीलादित्य और मगधराज के नाम से ही अभिहित किया जाता था) ने ई० सन् ६४१ में "मगधराज" की उपाधि धारण की।[१] चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने ई० सन् ६४३ में अपनी कामरूप की यात्रा के विवरण में लिखा है कि जब वह कामरूप देश के राजा भास्करवर्मन के निमन्त्रण पर कामरूप गया उस समय हर्षवर्द्धन–शीलादित्य–मगधराज कांगोदा और उड़ीसा पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् गंगा के तट पर अवस्थित 'राजमल' के समीप कजंगला में अपना शिविर डाले हुए था।

इससे यह सिद्ध होता है कि हर्षवर्द्धन ने पूर्वी भारत में सुदूर तक अपनी विजय वैजयन्ती फहराई थी और शशांक की मृत्यु के पश्चात् संभवतः शशांक के सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया था।

हर्ष के राजसिंहासनारूढ़ होने से पूर्व ही उसे अनेक आपत्तियों ने आ घेरा किन्तु वह धैर्य और साहस के साथ भारत में एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न केन्द्रीय सशक्त राज्य की स्थापना के लिये जीवन भर संघर्ष करता रहा। प्रतिकूल परिस्थितियों के उपरान्त भी वह अपने लक्ष्य से च्युत नहीं हुआ। वह समस्त भारत को एक ही सशक्त शासन के सूत्र में तो आबद्ध नहीं कर सका किन्तु यह एक स्फुट सत्य है कि वह उत्तर भारत के एक सशक्त राजा के रूप में लगभग तीन दशक से अधिक समय तक शासन करता रहा। रणचातुरी, साहसिकता, साहित्य सेवा, शालीनता आदि उसके उत्कृष्ट गुण भारत के इतिहास में अंकित हैं। वस्तुतः वह एक महान् शासक था। चीन के सम्राट ने तीन बार (ई. सन् ६४३, ६४५ और ६४७ में) बहुमूल्य भेंट भेजकर हर्ष को सम्मानित किया। अन्तिम भेंट के कन्नोज पहुंचने से पूर्व ही हर्ष का देहावसान हो गया था।

हर्ष जिस प्रकार तलवार चलाने में निष्णात था, उसी भांति लेखनकला, साहित्यसृजन-कला में भी पूर्णतः निष्णात था। उसकी राजसभा में बाण और

१ हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इन्डियन पीपल, क्लासिकल एज, पृ० १०७

मयूर जैसे उच्चकोटि के भारत के अग्रगण्य विद्वान् कवि विद्यमान थे। स्वयं हर्ष ने "रत्नावली", "प्रियदर्शिका" और "नागानन्द" जैसे उच्च कोटि के नाटकों की रचना की। ये तीनों नाटक उस समय बड़े ही लोकप्रिय थे, यत्र-तत्र नृत्य और संगीत के साथ इन नाटकों का अभिनय किया जाता था। चीनी विद्वान् इत्सिंग ने हर्षवर्द्धन को उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि वाला विद्वान् बताया है। हर्ष के परमप्रीति पात्र बाण और मयूर ने गुणज्ञ हर्ष का आश्रय पा जिन महान् ग्रन्थों की रचनाएं कीं, वे आज भी भारतीय साहित्य की अनमोल रत्नमालिकाएं मानी जाती हैं।

हर्ष अपने शासन के प्रत्येक पांचवें वर्ष में प्रयाग में अपने पूर्वजों की ही भांति एक विशाल धार्मिक मेला आयोजित करता और इस अवसर पर वह अपने राज्य की पांच वर्षों की आय दान में दे देता था।

चीनी यात्री प्रयाग के इस समारोह के सम्बन्ध में अपने संस्मरणों में लिखता है कि हर्षवर्द्धन इस अवसर पर सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति के समक्ष बहुमूल्य रत्नों की भेंट चढ़ाता था। तदनन्तर वह पास-पड़ौस और दूर-दूर से इस अवसर पर एकत्रित हुए बौद्ध-भिक्षुओं को, तदनन्तर महान् साहित्यिकों, निराश्रितों, अपंगों और रंकों को क्रमशः भेंट, पारितोषिक, अनुदान आदि दानादि के रूप में देता था।

चीनी यात्री हुएनत्सांग ने हर्षवर्द्धन द्वारा कन्नोज में निरन्तर २१ दिनों तक आयोजित किये गये धार्मिक सम्मेलन अथवा धार्मिक मेले का उल्लेख किया है। चीनी यात्री के उल्लेखानुसार उस मेले में कामरूप का महाराजा भाष्करवर्मन (परमशैव) मुख्य अतिथि के रूप में सम्मिलित हुआ था। भाष्करवर्मन के अतिरिक्त १८ अन्य राजा भी इस धार्मिक मेले में उपस्थित हुए थे। उस मेले के आयोजन से पूर्व हर्षवर्द्धन ने १०० फीट ऊंचा एक स्तूप बनवाया। हर्ष ने अपने ही शरीरोत्सेध के बराबर (मानव कद की) भगवान् बुद्ध की एक स्वर्णमयी मूर्ति का निर्माण करवाया और उस स्तूप के गुम्बज में उसे प्रतिष्ठापित किया। हर्षवर्द्धन ने एक दूसरी छोटी स्वर्णमयी बुद्ध की मूर्ति को रत्नजटित सोने की झूल से सुसज्जित गजराज की पृष्ठ पर अम्बावारी में रखा। स्वयं शक्र (देवेन्द्र) जैसा रूप बनाकर बुद्ध की मूर्ति पर छत्र किये बैठा। मूर्ति के दक्षिण पार्श्व में ब्रह्मा का वेष धारण किये भाष्करवर्मन बैठा। भाष्करवर्मन बुद्ध की स्वर्णमयी मूर्ति पर चंवर ढुराता (डोलाता) रहा। सहस्रों लोगों ने इस शोभायात्रा में बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। विविध वाद्य-यन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों एवं जयघोषों से कन्नौज के धरातल और गगनमण्डल को गुंजरित करता हुआ शोभायात्रा का उद्वेलित सागर के समान विशाल जनसमूह जब गगनचुम्बी गुम्बज के प्रकोष्ठ के द्वार के पास पहुंचा तो महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन ने बुद्ध की उस स्वर्ण-मूर्ति को अपने स्कन्ध पर उठाया। मूर्ति को कन्धे पर लिये हर्षवर्द्धन पैदल चलकर उस गुम्बज के पास पहुंचा। तदनन्तर उसने भगवान्

बुद्ध की मूर्ति के समक्ष दासियों (सर्वोत्कृष्ट एवं महार्घ्य वस्त्र) सैकड़ों (पूर्व से कुछ कम महार्घ्य) और हजारों रेशमी वस्त्र भेंट किये।

निरन्तर २१ दिनों तक इसी प्रकार राजकीय ठाट-बाट के साथ यह महोत्सव चलता रहा। प्रीतिभोज के अनन्तर धार्मिक सम्मेलन का आयोजन किया गया। उसमें सभी धर्मों और विभिन्न धर्मों की शाखाओं एवं उपशाखाओं के विद्वानों को आमन्त्रित किया गया। चीनी यात्री हुएनत्सांग को २१ दिनों तक प्रतिदिन किये जाने वाले धार्मिक सम्मेलनों का हर्षवर्द्धन ने अध्यक्ष नियुक्त किया। सभी धर्मों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म की विशेषता सिद्ध करने के प्रयास किये। हुएनत्सांग ने सब की युक्तियों का खण्डन करते हुए कहा यदि कोई विद्वान् मेरी एक भी युक्ति को असत्य सिद्ध कर देगा तो मैं तत्काल अपना सिर काट कर उसे भेंट कर दूंगा। उसकी उस चुनौती को ५ दिन तक किसी ने स्वीकार नहीं किया। उसके पश्चात् हीनयान के प्रमुखों ने हुएनत्सांग की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा किन्तु हर्ष को पहले ही पता चल गया और उसने घोषणा करवा दी कि यदि किसी ने हुएनत्सांग को छूने का प्रयास किया तो उसे तत्काल मौत के घाट उतार दिया जायगा और यदि किसी ने हुएनत्सांग के विरुद्ध एक भी शब्द कहा तो उसकी जिह्वा काट ली जायगी। हर्ष की इस घोषणा से सभी हीन यानी विरोधियों ने इस सम्मेलन का वहिष्कार कर दिया।

इस सम्मेलन के अन्तिम २१वें दिन रात्रि में जिस समय कि हुएनत्सांग के सभापतित्व में धर्म चर्चा चल रही थी, उस समय अचानक उस विशाल गुम्बज में आग लग गई। बड़ा कोलाहल हुआ, सब इधर-उधर भागने लगे। उस समय एक युवक हाथ में शस्त्र लिये हर्षवर्द्धन की हत्या करने के लिये हर्षवर्द्धन की ओर झपटा। हर्ष तक पहुंचने से पहले ही उसे राजपुरुषों द्वारा पकड़ लिया गया। हर्ष के पूछने पर उस युवक ने स्वीकार किया कि विरोधी ब्राह्मणों ने उसे बहुत बड़ा प्रलोभन देकर आपकी (हर्ष की) हत्या करने के लिये प्रोत्साहित किया है। राजा भोज द्वारा प्रश्न किये जाने पर ५०० ब्राह्मण मुख्यों ने स्वीकार किया कि बौद्ध यात्री, बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्मानुयायियों के प्रति प्रगाढ़ पक्षपात और शैवों, वैष्णवों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति आपके घोर उपेक्षापूर्ण व्यवहार से तिरस्कृत एवं प्रपीड़ित हो हमने इस प्रकार का निश्चय किया है। चीनी यात्री हुएनत्सांग के कथनानुसार राजा हर्ष ने षड्यन्त्र के मुख्य सूत्रधारों को दण्डित एवं ५०० ब्राह्मणों को अपने राज्य की सीमाओं से निष्कासित कर दिया।

हुएनत्सांग के इस विवरण में अपने धर्म के प्रति अन्धानुराग की गन्ध के साथ अतिशयोक्तियों एवं अतिरंजना का आभास होता है।

हर्ष का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण पुष्पभूति वंश का शक्तिशाली राज्य उसकी मृत्यु के बाद समाप्त हो गया।

वीर निर्वाण की १३वीं शताब्दी के महान् प्रभावक एवं महान् ग्रन्थकार
आचार्य हरिभद्र सूरि

(वीर नि. सं. १२२७–१२९८ तदनुसार वि. सं. ७५७–८२७)

श्री हरिभद्र सूरि । चित्रकूट के महाराज जितारि के राजपुरोहित श्री हरिभद्र अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। वे वेद वेदांग आदि के निष्णात विद्वान् और सभी विद्याओं में पारंगत थे। उन्हें अपने पांडित्य पर बड़ा गर्व था।

उन्होंने एक दिन मार्ग में चलते हुए एक जिनमन्दिर में जिनेश्वर की मूर्ति देखी। जिनेश्वर की प्रतिमा को देखते ही उन्होंने उपहासपूर्ण शब्दों में अपने ये उद्गार व्यक्त किये :—

"वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टमिष्टान्नभोजनम् ।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वल: ।।१७।।"

एक दिन राज सभा में कार्याधिक्यवशात् उन्हें रात्रि में भी पर्याप्त समय तक राज प्रासाद में रुकना पड़ा। रात्रि में जब वे अपने निवास स्थान पर लौट रहे थे तो मार्ग में उनके कर्ण रन्ध्रों में किसी वृद्धा की मधुर स्वर लहरियों के माध्यम से निम्नलिखित गाथा गूंज उठी :—

"चक्किदुग्गं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसी य चक्की य ।।२१।।"

यह पद्य हरिभद्र को बड़ा मनोहारी प्रतीत हुआ। किन्तु वे इसके अर्थ को समझने में बार-बार प्रयास करने पर भी असफल रहे।

प्रात:काल होने पर वे अपने घर से निकले और सीधे उसी भवन के पास पहुंचे जहां उन्होंने रात्रि में वह मनोहारी पद सुना था। उस भवन के द्वार में घुसते ही उन्होंने देखा कि एक तपोपूता सौम्य मुखाकृति वाली वृद्धा साध्वी वहां विराजमान है। हरिभद्र ने उस वृद्धा साध्वी का अभिवादन करते हुए पूछा :— "अम्ब ! क्या रात्रि में आप ही चाक चिक्य से ओतप्रोत एक पद्य का उच्चारण कर रही थीं ?"

वृद्धा साध्वी ने उत्तर दिया:—"हां पुत्र !"

वृद्धा साध्वी की अनुभवी आंखों से यह छुपा नहीं रह सका कि आगे चलकर यह युवक जिनशासन की महती प्रभावना करने वाला होगा।

हरिभद्र ने कहा :—"मां ! आप मुझे उस पद्य का पूरी तरह से अर्थ समझाइये। उस पद्य के अर्थ को जानने के लिए मेरा अन्तर्मन बड़ा लालायित है।"

वृद्धा साध्वी ने उत्तर दिया :—"हे पुत्रक ! अगर जिनागमों के गहन ज्ञान की तुम्हें भूख है, तो इसके लिए तुम हमारे गुरु के पास जाओ।"

हरिभद्र गुरु का स्थान नामादि पूछकर आचार्य जिनभट्ट सूरि के पास पहुंचे। आचार्य के दर्शन करते ही हरिभद्र के हृदय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई।

आचार्य जिनभट्ट सूरि के मन में उन्हें देखकर यह विचार आया कि यह वही विद्वान् ब्राह्मण तो नहीं है जिसे अपने पांडित्य पर बड़ा गर्व है और जो राजा के द्वारा पूजित है। यह यहां किस कारण से आया है।

उन्होंने प्रकट में हरिभद्र से कहा :—"भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो। कहो यहाँ किस प्रयोजन से आये हो ?"

पुरोहित हरिभद्र ने बड़े विनम्र स्वर में निवेदन किया :—"पूज्यवर ! मैंने वृद्धा जैन साध्वी महत्तरा याकिनी के मुख से एक प्राकृत पद सुना है उसका अर्थ मैं पूरे प्रयास के पश्चात् भी अभी तक नहीं समझ सका हूं। मैंने उनसे उस पद्य का अर्थ बताने के लिए निदेदन किया। उन्होंने मुझे आपकी सेवा में उपस्थित हो अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करने का परामर्श दिया है। इसलिए मैं आपके पास आया हूं।"

गुरु ने कहा :— "जैन सिद्धान्तों का ज्ञान अगाध है। अगर उसे प्राप्त करने की वास्तविक भूख है तो मेरा शिष्यत्व ग्रहण करो।"

हरिभद्र जिनभट्ट सूरि के पास जैन दीक्षा ग्रहण कर उनके शिष्य बन गये।

जिनभट्ट सूरि ने उन वृद्धा साध्वी मुख्या का परिचय कराते हुए मुनि हरिभद्र से कहा :—"सौम्य ! यह मेरी गुरु भगिनी महत्तरा याकिनी है। यह सब आगमों में प्रवीण और सब साध्वियों की शिरोमणि है।"

मुनि हरिभद्र ने विनयावनत स्वर में कहा :—"पूज्यवर ! भव भवान्तरों में भ्रमण करवाने वाले शास्त्रों का पारगामी विद्वान् होते हुए भी मैं अब यह अनुभव करता हूं कि मैं मूर्ख ही रहा। मेरे पूर्व पुण्य के उदय से ही मेरी इस धर्म माता याकिनी महत्तरा ने मेरे कुल की कुलदेवी की भांति मुझे प्रबुद्ध किया है।"

उसी दिन से मुनि हरिभद्र ने अपने आपको "याकिनी महत्तरा सूनु" कहना लिखना प्रारम्भ कर दिया। अहर्निश गुरु चरणों की सेवा में रहते हुए मुनि हरिभद्र ने सब आगमों का अध्ययन प्रारम्भ किया। अगाध श्रद्धा भक्ति एवं निष्ठापूर्वक अध्ययन करते हुए उन्होंने आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया।

आचार्य जिनभट्ट सूरि ने अपने शिष्य हरिभद्र को सभी भांति आचार्य पद के योग्य समझकर शुभ मुहूर्त्त में आचार्य पद प्रदान किया।

आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् हरिभद्र सूरि स्थान-स्थान पर अप्रतिहत विहार करते हुए जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन्होंने अनेक भव्यों को प्रबोध दिया।

एक समय हरिभद्र शौच निवृत्यर्थ जब वन में जा रहे थे तो उन्होंने अपने दो भानजों हंस और परमहंस को चिन्ताग्रस्तावस्था में देखा। चिन्ता का कारण पूछने पर हंस और परमहंस ने आचार्य हरिभद्र से कहा कि घर वालों के हृदय को आघात पहुंचाने वाले कर्कश स्वर पिता के मुख से सुनकर हमें संसार से विरक्ति हो गई। हम घर से निकल पड़े हैं।

उन दोनों भाइयों ने उत्कृष्ट भावना से आचार्य हरिभद्र के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। वे दोनों उनके पास विद्याध्ययन करने लगे। आचार्य हरिभद्र ने स्वल्प समय में ही हंस और परमहंस नामक उन दोनों मुनियों को आगमों और न्यायशास्त्र में पारगामी विद्वान् बना दिया। हंस और परमहंस परम मेधावी मुनि थे। उनके अन्तर्मन में बौद्ध दर्शन और बौद्ध तर्क शास्त्रों के गहन अध्ययन की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उन दोनों बन्धुओं ने हरिभद्र के चरणों पर अपने मस्तक झुका कर उनके समक्ष अपनी यह इच्छा प्रकट की। अपने निमित्त ज्ञान के बल पर भावी अनिष्ट की आशङ्का से आचार्य ने उन अपने प्रिय शिष्यों को वहीं पर रहते हुए अध्ययन करते रहने का परामर्श दिया और कहा कि यहां पर भी उच्च कोटि के अनेक विद्वान् हैं। उनके पास रहकर ही अपना अभीप्सित ज्ञान प्राप्त करो। क्योंकि तुम्हारे बाहर जाने पर मुझे अनिष्ट की आशङ्का हो रही है।

हंस ने हंसते हुए निवेदन किया :--हम लोगों पर आपका यह वात्सल्य भाव होना स्वाभाविक ही है। आपके द्वारा परिपालित और शिक्षित होकर हम अल्प वयस्क किशोर होते हुए भी आपके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए क्या प्रभावशाली नहीं होंगे? आपके नाम का हमने चिरकाल तक जाप किया है। आपके कृपा प्रसाद ने हम लोगों को सजग-समर्थ बनाया है। ऐसी दशा में दूर देश में, शत्रुओं के नगर में अथवा विकट पथों में हम दोनों पर किसी भी प्रकार के कष्ट का अथवा अपशकुन का क्या प्रभाव हो सकता है? आपके नाम का जाप सब जगह सभी अवस्थाओं में सदा हमारी रक्षा करता रहेगा।"

दोनों शिष्यों की अनवरत अभ्यर्थना पर आचार्य हरिभद्र ने अपनी आन्तरिक इच्छा न होते हुए भी उन्हें बौद्ध तर्क शास्त्रों के अध्ययन के लिये सुदूरस्थ नगर में जाने की अनुज्ञा प्रदान कर दी। वे दोनों गुरु को प्रणाम कर भवितव्यता वशात् बौद्ध दर्शनों के अध्ययन के लिये प्रस्थित हुए। वे दोनों वेष परिवर्तन कर उन सब चिन्हों को, जिनसे कि उनके जैन होने का किंचित्मात्र भी संकेत किसी को मिल सके, पूर्णतः गुप्त कर के चलते हुए एक दिन बौद्ध राजा द्वारा शासित बौद्ध राज्य की राजधानी में पहुंचे। वहां से वे विद्या की भूख का शमन करने के लिये प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ में गये। वहां उन्होंने देखा कि विद्यार्थियों के आवास हेतु विहारों की अनेक पंक्तियां बनी हुई हैं और विद्यार्थियों की अशन वसन पान पुस्तकादि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वहां बड़ी-बड़ी दानशालाएं भी विद्यमान हैं। उन्होंने यह भी देखा कि वहां विशाल विद्यापीठ हैं और उनमें अनेकानेक विषयों के अध्यापन की उत्कृष्ट व्यवस्था है। वहां उच्च कोटि के विद्वान् बौद्धाचार्य अपने-अपने शिष्यों को, जिस विषय को वे पढ़ना चाहें, वही विषय पढ़ाने में निरन्तर संलग्न हैं। हंस और परमहंस को यह सब देखकर परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने भी बौद्ध विद्यापीठ में प्रवेश प्राप्त कर लिया। खान, पान, रहन, सहन आदि की सभी तरह की अति उत्तम व्यवस्था होने के कारण कुशाग्र बुद्धि मेधावियों के लिये भी अति दुर्गम बौद्ध तर्क शास्त्रों को सहज ही हृदयंगम करते हुए वे बड़े ही आनन्द के साथ अपने अभीप्सित बौद्ध दर्शन के अध्ययन में निरत हो गये। जैन दर्शन के खंडन के लिये जो जो अकाट्य तर्क बौद्धाचार्यों द्वारा दिये जाते थे उन तर्कों को निरस्त करने वाले एवं जैन सिद्धान्तों की शाश्वत सत्यता को सिद्ध करने वाले अपने पूर्व पठित आगम पाठों से परिपुष्ट अनेक अकाट्य प्रतितर्कों, युक्तियों और प्रमाणों को वे दोनों भाई पृथक्-पृथक् पत्रों में लिपिबद्ध करने लगे। इस प्रकार उन्होंने गुप्त रूप से लिखकर जो पत्र एकत्रित किये थे उनमें से दो पत्र एक दिन संयोगवशात् आये वातूल से हवा में उड़ गये। वे दोनों पत्र बौद्ध विद्यार्थियों के हाथ लग गये। उन बौद्ध विद्यार्थियों ने उन पत्रों को पढ़कर अपने गुरु के समक्ष उन्हें प्रस्तुत कर दिया। जब विषय से सम्बन्धित बौद्धाचार्य ने उन पत्रों को पढ़ा तो अपने पक्ष के निर्बल होने तथा जैन पक्ष के सबल होने की आशंका से वह आतंकित हो उठा।

आश्चर्याभिभूत होकर बौद्धाचार्य ने कहा :—"यहां कोई न कोई जैन धर्म का उपासक अत्यन्त मेधावी छात्र हमारे विद्यापीठ में है। अन्यथा मैंने जिन तर्क-जालों का खंडन कर दिया उनका मण्डन करने में अन्य कौन समर्थ हो सकता है।"

उस बौद्ध विद्यापीठ में आये हुए ऐसे जैन विद्यार्थियों को किस उपाय से खोजा जाय इस विचार में वह बौद्धाचार्य निमग्न हो गया। कुछ क्षणों तक विचार मग्न रहकर बौद्धाचार्य ने उसका उपाय खोज लिया। उसने तत्काल एक जिन बिम्ब आवागमन के प्रमुख स्थल पर रखवा दिया और वहां के सभी आवासियों को आदेश दिया कि उस जिन बिम्ब पर पैर रखकर ही आवागमन किया जाय।

जो इस प्रकार जिन बिम्ब पर चरण युगल रख कर आवागमन नहीं करेगा उसको इस विद्यापीठ में नहीं रहने दिया जायगा ।

अपने गुरु की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर सब बौद्ध विद्यार्थियों आदि ने जिन बिम्ब पर पैर रखते हुए एवं उस पर पार्ष्णि प्रहार करते हुए आवागमन प्रारम्भ कर दिया । हंस और परमहंस ने अपने समक्ष उपस्थित हुए इस घोर संकट से दुखित हो अपने मन में विचार किया : "अब क्या किया जाय ?" यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो इन हृदयहीन बौद्धों से जीवन की कोई आशा नहीं । हमने अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन किया है उसका परिणाम आज दिखाई दे रहा है । हम गुरु की अवज्ञा के कारण इस घोर धर्म और प्राण संकट में फंस गये हैं ।" फिर भी उन्होंने गुरु नाम स्मरण करते हुए धीरज, साहस और अपनी प्रत्युत्पन्न मति से काम लिया । अत्यन्त चतुरतापूर्वक छिपे रूप से उन्होंने खड़िया से जिन बिम्ब पर बौद्ध चिन्ह बनाकर उस पर पैर रखते हुए आवागम्न किया । पर बौद्धों की तीव्र दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रह सकी । उन्हें सन्देह हो गया । जिसकी पुष्टि हेतु बौद्धाचार्य ने एक दूसरा उपाय खोज निकाला । एक दिन अर्द्ध रात्रि में जबकि सभी विद्यार्थी प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए थे कतिपय कांस्यपात्रों का एक ढेर बड़ी ऊंचाई से हंस और परमहंस के पार्श्व में तेजी से गिराया गया । इन पात्रों के गिरने से हुए तीव्र खड-खड झन न न न करते कोलाहल से उन दोनों सहोदरों की निद्रा भंग हो गई । वे हड़बड़ा कर उठ बैठे । किसी आसन्न संकट की आशंका से उनके मुख से अनायास ही उनके इष्टदेव नमोअरिहंताणं नमो सिद्धाणं के स्मरण का स्वर गूंज उठा । जैसे ही वे स्थिर हुए, सारी स्थिति उनकी समझ में आ गई । उन्होंने देखा कि इस प्रकार की संकट की आशंका भरी स्थिति में हमारे मुख से हमारे इष्टदेव का नाम हठात् निकलता है कि नहीं, यह जानने के लिये चार बौद्धचर उनके चारों ओर लगे हुए हैं । उन्होंने उनके मुख से आकस्मिक रूप से अभिव्यक्त हुए नमस्कार मन्त्र के उच्चारण को सुन लिया है और वे इस बात से बौद्धाचार्य को अवगत कराने के लिये वहां से चल पड़े हैं ।

यह समझकर कि अब निश्चित रूप से उनके प्राणों पर संकट आने वाला है, उन्होंने तत्काल अपने आपको एक छाते से बांधा और उस छत्र को तानकर एक छाताधारी सैनिक की भांति वे ऊपर से नीचे कूद पड़े । इससे उनको किसी तरह का कष्ट नहीं हुआ । वे बहुत ऊँचाई से पृथ्वी पर बड़ी आसानी से उतर पड़े । उतरते ही वे वहां से भागे ।

वहां चारों ओर बड़ी संख्या में नियत बौद्ध सैनिक भी उनको भागते देख कर उनको पकड़ने के लिये दौड़ पड़े । उन सैनिकों को निकट आते देखकर हंस ने अपने छोटे भाई परमहंस से कहा :--"बन्धो ! तुम अब द्रुतगति से भाग जाओ । गुरु को प्रणाम कर उनसे मेरे अविनयपूर्ण अपराध की क्षमा मांगना । अभी तो यह

जो नगर दिख रहा है इसमें सूरपाल नाम का एक शरणागत प्रतिपाल राजा रहता है। तुम उसके पास चले जाना। वह तुम्हें गुरु के पास पहुँचाने का प्रबन्ध कर देगा।"

हंस और परमहंस दोनों ही शतयोधि थे। अतः शतयोधि हंस ने समीप आये बौद्ध सुभटों की उस बहुत बड़ी सैनिक टुकड़ी का एकाकी ही बड़े साहस के साथ सामना किया। पर अन्त में रोम-रोम में लगे बाणों से बिद्ध हंस निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।

परमहंस अपने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञानुसार सूरपाल राजा के पास पहुँच गया। बौद्धभटों की वह सैनिक टुकड़ी भी उसका पीछा करते हुए राजा सूरपाल के पास पहुँच गई और परमहंस को उन्हें सौंपने के लिये बार-बार उस राजा से बलपूर्वक आग्रह करने लगे। राजा ने कहा :—"मेरी शरण में आये हुए अबोध से अबोध और अकिंचन से अकिंचन व्यक्ति को भी ले जाने की किसमें सामर्थ्य है? तिस पर यह तो महान् विद्वान् सकल कलाओं का निष्णात न्यायनिष्ठ और धर्मनिष्ठ, महान् आत्मा प्रतीत होता है। मैं इसे किसी भी दशा में तुम्हें नहीं दे सकता।"

बौद्ध सैनिक टुकड़ी के नायक ने कहा :—"एक दूर देश से आये हुए व्यक्ति के लिये तुम अन्न, धन, जन, संकुल समृद्ध अपने राष्ट्र और राज्य से हाथ धोने के लिये क्यों उद्यत हो रहे हो? हमारे बौद्ध नरेश को प्रकुपित कर देने से आपको कोई लाभ नहीं होने वाला है।"

राजा सूरपाल ने उत्तर दिया :—"मेरे पूर्व पुरुषों ने जो यह व्रत ग्रहण किया है कि प्राणों का विसर्जन भले ही कर दिया जाय किन्तु शरणागत को किसी भी दशा में नहीं त्यागा जाय, मैं तो उस व्रत का पालन प्राणपण से करूंगा। हां, मैं एक उपाय इसका बताता हूं। आप लोगों के विद्यापीठ का कोई एक विद्वान् इस परमहंस के साथ शास्त्रार्थ करे। यदि यह वाद में पराजित हो जाय तो इसे तुम ले जा सकते हो और यदि यह वाद में तुम्हें पराजित कर दे तो तुम्हें क्षमायाचनापूर्वक तुरन्त लौट जाना होगा। इसे तुम नहीं ले जा सकोगे।"

बौद्धों के नायक ने कहा : —"आपका यह प्रस्ताव हमें स्वीकार है। किन्तु एक बात है कि वाद में हमारे विद्वानों में से एक भी इस दुष्ट का मुख नहीं देखेगा क्योंकि इसने भगवान् बुद्ध के मस्तक पर पैर रखकर चलने का गुरुतर अपराध किया है। जिसका दण्ड मृत्यु है। यदि इसमें शक्ति है तो अपनी युक्तियों की पुष्टि और हमारे विद्वानों के तर्कों का खण्डन करे। यदि शास्त्रार्थ में वह विजयी होता है तो यह कुशलतापूर्वक अपने घर जा सकता है। पर यदि यह पराजित हो जाता

है तो भगवान् बुद्ध के अपमान करने के गुरुतर अपराध के दण्डस्वरूप इसका वध निश्चित है।"

नियत समय पर दोनों में वाद प्रारम्भ हुआ। एक पर्दे के अन्दर बैठी हुई बौद्धों की शासनाधिष्ठात्री देवी घटमुखवादिनी बोलती है और दूसरी ओर हरिभद्र सूरि के शिष्य परमहंस बोलते हैं। उन दोनों ने परस्पर एक दूसरे को नहीं देखा। वाद लम्बा चलने लगा।

वाद को लम्बा चलते देख परमहंस ने सोचा :—"बौद्धाचार्य छल-छद्म में बड़े निष्णात होते हैं। किसी अदृश्य शक्ति से वे मुझे छल रहे प्रतीत होते हैं। यदि इनके पास कोई अदृश्य शक्ति न हो तो इन बौद्धाचार्यों में कोई सामर्थ्य नहीं कि मेरी युक्तियों का ये खण्डन कर सकें और मेरे तर्कों को निरस्त कर सकें।"

जब शास्त्रार्थ चलते-चलते अनेक दिन व्यतीत हो गये तो परमहंस को बड़ी चिंता हुई। उसे किसी संकट का आभास हुआ। उसने उस संकट की वेला में अपनी जिन शासनाधिष्ठात्री देवी अम्बा का स्मरण किया। वह तत्काल परमहंस के समक्ष प्रकट हुई और बोली :—"वत्स ! बौद्धधर्म की अधिष्ठात्री तारादेवी उस घट में बैठी हुई है। निरन्तर अस्खलित वाणी से बोलती रहती है। परमहंस ! तुम जैसे महान् विद्वान् के अतिरिक्त संसार में अन्य कौन विद्वान् देव-देवियों के साथ विवाद में क्षण भर भी ठहर सकता था। तुम ऐसा करो कि अब आगे शास्त्रार्थ के समय आक्रोशपूर्ण शब्दों में कहना कि वाद तो वादी तथा प्रतिवादी के एक-दूसरे के अभिमुख होने पर ही होता है। एक-दूसरे के सम्मुख हुए बिना वाद ही कैसा ? ऐसी स्थिति में वादी मेरे सम्मुख आए। अन्यथा मैं उसे बलात् सम्मुख लाता हूं।"

"तुम्हारे इस प्रकार के व्यवहार से बौद्धों का सारा छल-छद्म तत्काल प्रकट हो जायेगा और अन्त में निश्चित रूप से विजय तुम्हारी ही होगी।"

परमहंस ने कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में देवी अम्बा से निवेदन किया :—"मातेश्वरी ! आपके बिना मेरी सार-सम्हाल करने वाला और है ही कौन ?"

जिनशासनदेवी इसके बाद तत्काल वहां से तिरोहित हो गई।

दूसरे दिन शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ तो बौद्धों की देवी के बोलते रहने पर भी मौन धारण कर बैठे हुए परमहंस ने आगे बढ़कर पर्दे (यवनिका) को ऊपर उठा दिया। वहां कोई नहीं था। केवल एक घट पड़ा हुआ था और उसी में से वह देवी बोल रही थी।

परमहंस ने एक ही पाद प्रहार से उस घट को खण्डित-विखण्डित कर दिया जिसमें बैठी हुई बौद्ध देवी अस्खलित वाणी में उससे शास्त्रार्थ कर रही थी। घट

को चूर्णित-विचूर्णित करने के अनन्तर परमहंस ने घनरव सम गम्भीर स्वर में कहा :—"ए नराधम बौद्धों ! दम्भपूर्ण वाद मुद्रा में जो अब तक बोल रहा था, उसे यहां सम्मुख लाओ।"

राजा सूरपाल को उन बौद्धों के इस छल-छद्म को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बड़ा क्रोधित भी हुआ। उसने बौद्ध सैनिकों के नायक एवं बौद्ध विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा :—"तुम शत्रु भाव से इस महा मुनि परमहंस का अन्यायपूर्वक वध करने के लिये कृत संकल्प प्रतीत होते हो। पर न्यायपूर्ण विजय का धनी, एवं प्राणी मात्र से प्रशंसा प्राप्त करने योग्य साधु पुरुष क्या वध्य होता है ? अब यदि तुम अपनी इस दुरभिसन्धि को छोड़ने के लिये उद्यत नहीं हो तो सावधान होकर सुन लो कि मैं इसे कभी सहन नहीं करूंगा। तुम्हारी शर्त के अनुसार तुम वाद में हार चुके हो। अब तो तुम मुझे युद्ध में पराजित करके ही इसे ले जा सकते हो।"

पर विरोधी के अपार सैन्य बल को देखकर राजा ने आंख के इशारे से परमहंस को वहां से भाग जाने का संकेत किया एवं उसे एक तीव्र चाल से दौड़ने वाला घोड़ा दे दिया।

राजा के संकेतानुसार परमहंस ने बड़ी तीव्र गति से वहां से पलायन किया। पलायन करते हुए उसने नगर के बाहर एक धोबी को देखा। धोबी के पास के वस्त्रों के गट्ठरों में से उसने रजक योग्य एक दो वस्त्र लेकर अपना वेष परिवर्तन किया। परमहंस स्वयं तो रजक बन गया और उस धोबी को अपने वस्त्र पहनाकर कहा—"तुम मेरे इस घोड़े पर बैठ कर जितनी द्रुतगति से भाग सको, भाग जाओ। अन्यथा तुम्हारे खून के प्यासे ये बौद्ध सैनिक जो पीछे-पीछे आ रहे हैं, तुम्हें देखते ही मौत के घाट उतार देंगे।"

धोबी ने तत्काल परमहंस के कपड़े पहने और उसी के घोड़े पर बैठकर अपने प्राणों की रक्षा के लिए विकट अटवी की ओर बड़ी ही द्रुत गति से भाग गया। इधर परमहंस पास के ही एक सरोवर में कपड़े धोने में तल्लीन हो गया। थोड़ी ही देर में बौद्ध सुभट सरोवर के पास आ पहुंचे और उससे पूछने लगे—"अरे ओ रजक ! क्या तुमने इधर भाग कर आते हुए एक घुड़सवार को देखा है ? पथ पर उसके पदचिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते, वह किधर भागा है ?"

हाथ के वस्त्रों को सरोवर के जल में आस्फालित करते हुए रजक वेषधारी परमहंस ने ग्राम्यभाषा बोलते हुए विकृत स्वर में उत्तर दिया :—

"वह चोर उस वनी की ओर भाग गया है। मेरे बहुत से वस्त्र भी चुराकर ले गया है। मैं बहुत चिल्लाया पर मेरी एक न सुनी। हाय राम ! मैं तो लुट ही गया।"

बौद्ध सुभट उस रजक को वहीं छोड़ उसके द्वारा बताई हुई दिशा की ओर दौड़ पड़े और कुछ ही क्षणों में वे परमहंस की आंखों से ओझल हो गये। परमहंस भी जिस दिशा में बौद्ध सुभट गये थे उससे भिन्न दिशा में भागने लगा।

अनेक दिनों तक निरन्तर भागते हुए परमहंस अन्ततोगत्वा एक दिन अपने स्थान चित्रकूट नगर में पहुंचा। गुरुचरणों की सेवा में उपस्थित होते ही अपना मस्तक गुरुचरणों पर रखते हुए उसने सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठ सहोदर और स्वयं द्वारा गुरु आज्ञा के प्रतिकूल किये गये अपराध के लिये क्षमायाचना करते हुए—"तन्मे मिथ्या भवतु दुष्कृतम्" का अन्तर्मन से उच्चारण कर अपने दुष्कृत की शुद्धि की। तदनंतर परमहंस ने अथ से इति तक सारे घटनाचक्र को यथावत् अपने गुरु को सुनाया। परमहंस ज्यों ही अपने गुरु के समक्ष अपने ज्येष्ठ बन्धु की मृत्यु का वृतान्त सुना रहा था कि उसी समय उस पर हृदयाघात हुआ और वह निष्प्राण हो गुरु चरणों पर लुढ़क गया।

आचार्य हरिभद्र सूरि को अपने प्रभावक एवं मेधावी शिष्यों के आकस्मिक अवसान पर बड़ा दुख हुआ। उनके मुंह से सहसा अवसादपूर्ण वाक्य निकल पड़े :—"यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि इन होनहार यशस्वी कुल में उत्पन्न हुए जिनशासन प्रभावक मेरे दोनों योग्य और विनीत शिष्यों का इस प्रकार असमय में ही अवसान हो गया। क्या मेरे योग है कि मैं शिष्य सम्पत्ति विहीन ही रहूंगा ?"

अपने सुयोग्य शिष्यों की वियोगाग्नि से सन्तप्त हरिभद्र सूरि के हृदय में सहसा बौद्धों पर क्रोध उग्र रूप धारण कर गया। वे सोचने लगे :—"बौद्धों द्वारा किये गये इस नृशंस अपराध का यदि मैंने प्रतिशोध नहीं ले लिया तो अन्तिम समय तक यह शल्य मेरे हृदय में त्रिशूल के समान खटकता रहेगा।"

इस प्रकार प्रतिशोध लेने का दृढ संकल्प करके हरिभद्र बिना अपने गुरु को पूछे अपने उपाश्रय स्थल से चल पड़े। वे सीधे राजा सूरपाल के पास पहुंचे। उन्होंने राजा को आशीष देते हुए कहा :—"हे शरणागत प्रतिपाल ! नरपति ! तुमने परमहंस की रक्षा के लिये जो साहस दिखाया है उसकी शब्दों द्वारा प्रशंसा नहीं की जा सकती। यह आप ही का प्रशंसनीय अनुपम साहस था कि अपार सैन्यबल के धनी बौद्धराज की किंचित्मात्र भी परवाह किये बिना आपने अपने शरणागत की रक्षा की। मेरे प्राणप्रिय निरपराध शिष्यों के साथ जो अमानवीय व्यवहार उन बौद्धों द्वारा किया गया है उसके प्रतिकार के लिए मैं समस्त बौद्धों को पराजित करना चाहता हूं।"

राजा सूरपाल ने कहा :—"महात्मन् ! जिस प्रकार आप उन्हें जीतना चाहते हैं उसी प्रकार मेरी भी उनको पराजित करने की उत्कट इच्छा है। परन्तु वे लोग बड़े ही प्रपंची कुटिल और छल छद्म से भरे हुए हैं। उनका सैन्यबल भी

अपार है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन अजेय बौद्धों को किसी प्रपंच से ही जीता जा सकता है। ऐसा प्रपंच तो मैं रचना जानता हूं जिससे वे स्वतः ही नष्ट हो जायें। पर इसके साथ एक बात मैं आपसे जानना चाहता हूं कि क्या आप में कोई ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि जिससे आप वाद में उनसे पराजित नहीं हो सको। वाद में उनके विद्वानों को जीत सको।"

आचार्य हरिभद्र ने कहा :—"राजन् अभी तो इस धरती पर मुझे शास्त्रार्थ में जीतने वाला कोई पैदा नहीं हुआ। शासनाधिष्ठात्री अम्बिकादेवी अहर्निश मेरे पार्श्व में रहती है।"

हरिभद्र की बात सुनकर राजा सूरपाल के आनन्द का पारावार न रहा। उसने तत्काल एक अतीव वाक्पटु, प्रपंचरचना में प्रवीण और विचक्षण बुद्धिशाली दूत को बौद्धों की राजधानी में भेजा। उस दूत ने बौद्ध गुरु के समक्ष उपस्थित होकर निवेदन किया कि साक्षात् सरस्वती स्वरूप गुरुवर! मेरे राजा सूरपाल ने प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति के साथ आपको प्रणाम करते हुए यह प्रार्थना की है :—"मेरे नगर में एक विद्वान् आया है जो अपने आपको अजेय उद्‌भटवादी कहता है। आप जैसे त्रिभुवन विख्यात विद्वान् के समक्ष उस गर्वोन्मत्त विद्वान् का अपने आपको वादी के रूप में अभिहित करना हमें सहन नहीं होता। वह आपके द्वारा विजित हो जाने पर स्वयमेव निधन को प्राप्त हो जाय, इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिये।"

वह बौद्ध आचार्य बोला :—"मैं उसे क्षण भर में ही पराजित कर दूंगा। किन्तु तुम यह बताओ कि क्या वह वादी इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने को उद्यत है कि यदि वह मुझ से वाद में पराजित हुआ तो स्वयमेव निर्धारित रीति से अपना प्राणान्त कर लेगा ?"

वचन चातुरी में निष्णात दूत ने कहा :—"मैं इसके लिए उसे राजी कर लूंगा। मैं अपनी वाक्पटुता से असम्भव को भी सम्भव बनाने की क्षमता रखता हूं। आप तो बस इतना प्रतिज्ञा-पत्र भर दीजिये कि शास्त्रार्थ में जो भी पराजित हो जायगा वह प्रतप्त तेल से भरे हुए कडाह में कूदकर अपना प्राणान्त कर लेगा।"

बौद्धाचार्य वांछित प्रतिज्ञा पत्र भरने को राजी हो गये। दो-चार दिनों के पश्चात् बौद्धाचार्य अति विशाल सेवक समूह के साथ राजा सूरपाल की सभा में पहुंचे और वांछित प्रतिज्ञा-पत्र भरकर हरिभद्र सूरि के साथ शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ किया।

बौद्धाचार्य ने मन ही मन सोचा—"इस साधारण जैनवादी के साथ वाद करने के लिये अपनी अधिष्ठात्री देवी को स्मरण करने का क्या प्रयोजन है क्योंकि वैसे भी वह पराजित शत्रु का तत्काल प्राणान्त नहीं करती। मैं

उसे वैसे ही आसानी से पराजित करके शर्त के अनुसार उसका प्राणान्त करवा दूंगा ।" यह विचार कर बौद्धाचार्य ने विना देवी का स्मरण किये ही हरिभद्र के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ करते हुए बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त क्षणिकवाद को अपने पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया । आचार्य हरिभद्र ने बौद्धाचार्य की युक्तियों को खंडित विखंडित करते हुए अपनी अकाट्य युक्तियों से कुछ ही क्षणों में निरुत्तर एवं पराजित कर दिया ।

'बौद्धाचार्य पराजित हो गया ।' सभ्यों के इस निर्णय को सुनते ही बौद्धाचार्य को शर्त के अनुसार प्रतप्त तेल के कड़ाह में कूदकर अपने प्राण देने पड़े । वहां उपस्थित कई बौद्ध विद्वान् वाद के लिये एक के बाद एक हरिभद्र के समक्ष उपस्थित हुए और हरिभद्र से पराजित हो जाने पर शर्त के अनुसार उन्होंने भी प्रतप्त तेल के कड़ाह में कूदकर अपने प्राणान्त कर लिये ।

अन्ततोगत्वा पीछे बचे हुए बौद्ध विद्वानों में निराशा छा गई और वे सभी अपनी अधिष्ठात्री देवी को कोसने लगे । देवी प्रकट होकर कहने लगी—"मैं तुम्हारे कटु वचनों से किंचित्मात्र भी रुष्ट नहीं हूं । किन्तु एक बात जो मैं तुम्हें कहना चाहती हूं उसे ध्यान से सुनो । तुम्हारे सिद्धान्तों का अध्ययन करने की उत्कट इच्छा से जो दो किशोर बड़े दूर देश से तुम्हारे यहां आये थे, उनकी ज्ञान की भूख इतनी तीव्र थी कि इसके लिये तुम्हारे द्वारा बाध्य किये जाने पर अपने आराध्य जिनेश्वर के सिर पर पैर रखने जैसे घोर पाप कार्य करने में भी संकोच नहीं किया । हालांकि इसमें कुछ चतुराई से उन्होंने काम लिया । न्यायमार्ग के पथिक वे दोनों मुनि जब अपने प्राणों की रक्षा के लिये पलायन कर रहे थे उस वक्त उन भागते हुए दोनों भाइयों में से एक को तुमने नृशंसतापूर्वक मार डाला था । उसी पाप का फल अब तुम लोग भोग रहे हो । इसलिये अब शोक को दूर कर शीघ्र ही अपने अपने स्थान को लौट जाओ । इस जैनाचार्य से वाद में मत पड़ो ।

इतना कहकर देवी तिरोहित हो गई । वे बचे हुए बौद्ध विद्वान् भी अपने अपने स्थान को लौट गये ।

बौद्धों के प्रतप्त तेलकुण्ड में कूदने की घटना के सम्बन्ध में कुछ लेखक यह मानते हैं कि हरिभद्र सूरि ने अपने मन्त्रबल से बौद्धों को आकृष्ट करके उन्होंने उन्हें तपे हुए तेल के कुण्ड में डाला ।

जिन भट्ट सूरि ने अपने शिष्य हरिभद्र के इस अद्भुत प्रकोप के सम्बन्ध में अपने शिष्यजनों से जब सुना तो वे स्वयं चलकर हरिभद्र के पास आये । उन्होंने धीर, गम्भीर मधुर वचनों से हरिभद्र को समझा-बुझाकर शान्त किया । "मैंने शिष्यों के मोह में पड़कर इस प्रकार का घोर दुष्कर्म किया है" ऐसा समझकर परम गुरु भक्त हरिभद्र ने अपने पाप की शुद्धि के लिये गुरु के आदेशानुसार घोर तपश्चरण प्रारम्भ

किया। कठिन तपश्चर्या से उन्होंने अपने शरीर को सुखा डाला। पर शिष्यों का शोक उनको सदा सन्तप्त करता ही रहा। उन्हें अति चिन्तित देखकर अधिष्ठात्री देवी ने उनके समक्ष प्रकट होकर कहा—"घर द्वार अन्न, धन, पुत्र कलत्रादि के संग से पूर्णतः विमुक्त तुम्हारे जैसे निःसंग साधक के हृदय में परिताप कैसा ? जिन शासन के सिद्धान्तों और शास्त्रों में निष्णात, विशुद्ध बुद्धि के धनी ! यह तुम से छिपा नहीं है कि अपने-अपने कर्मों का फल समय आने पर सबको भोगना पड़ता है। आचार्य वर ! गुरु के चरण कमलों को अपने हृदय में रखते हुए विशुद्ध तपश्चरण से अपने जन्म को सफल बनाओ जिससे कि तुम्हारे सब दुष्कृत नष्ट हो जायं।"

हरिभद्र ने शासन देवी से निवेदन किया : "अम्बे ! मुझे इस बात का शोक नहीं है कि मेरे दो विनीत शिष्य पंचत्व को प्राप्त हुए। पर मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि मेरे पश्चात् मेरा पवित्र गुरुकुल समाप्त हो जायगा।"

इस पर अम्बा ने कहा : "वत्स ! वस्तुतः तुमने कुल वृद्धि का पुण्य संचित नहीं किया है। महामुने ! तुमने तो केवल अपनी शास्त्र सन्तति के रूप में विशाल शास्त्रों के समूह की रचना का ही पुण्य संचय किया है।"

हरिभद्र ने यह सुनकर अपने शोक को दूर कर दिया। उन्होंने सर्वप्रथम समरार्क चरित्र (समराइच्चकहा) की रचना की, जो लगभग बारह शताब्दियों से जैन साहित्य के क्षितिज में महान् ग्रन्थ रत्न के रूप में लोकप्रिय है।

समराइच्चकहा की रचना के पश्चात् हरिभद्रसूरि ने लगभग १५०० प्रकरणों की रचना की और इन ग्रन्थ रत्नों को ही हरिभद्र सूरि ने अपनी सन्तति के रूप में माना। अपने अत्यन्त प्रिय शिष्यों के विरह को न भुला पाने के कारण उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना के अन्त में अपने नाम के साथ 'भव विरह' पद का प्रयोग किया है।

आचार्य हरिभद्र महान् कृतज्ञ थे। यदि उन्हें कृतज्ञ शिरोमणि भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस वयोवृद्धा साध्वी ने

"चक्किदुगं हरिपणगं..............."

इस गाथा के माध्यम से न केवल सम्यग् बोध का किन्तु श्रमण धर्म का भी उन्हें लाभ करवाया था उनको जीवन भर वे अपनी धर्म माता ही कहते रहे। आचार्य हरिभद्र ने उस महनीया साध्वी के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु अपनी प्रत्येक कृति के अन्त में अपने नाम से पहले 'भव विरह' के पश्चात् 'याकिनी महत्तरासूनु' इस पदावलि का भी प्रयोग किया है।

स्वयं द्वारा रचित उन लगभग १५०० से भी अधिक शास्त्रों की टीकाओं तथा ग्रन्थों का देश के कौने-कौने में किस प्रकार से प्रचार-प्रसार किया जाय वे इस विचार में निरत रहने लगे।

एक दिन उन्होंने कार्पासिक नामक एक व्यक्ति को देखा जिसके हृदय में जिनशासन के प्रति थोड़ा प्रेम अवशिष्ट रह गया था। उसको देखते ही शुभ शकुन हुए। निमित्त ज्ञान से आचार्य हरिभद्र जान गये कि इसी व्यक्ति के माध्यम से उनकी उन सहस्रों महत्वपूर्ण धर्म रचनाओं का देश में चारों ओर प्रसार होने वाला है।

यह जानकर उन्होंने उस कार्पासिक वणिक् से प्रकट में कहा :—"जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये अधिकाधिक संख्या में धर्मग्रन्थों की, सुन्दर कृतियों की प्रतियां लिखवा कर और उन्हें श्रमण श्रमणी वर्ग को दान देकर तुम अपूर्व पुण्य का अर्जन करो। तुम्हें इससे इतना पुण्य होगा कि जिसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते।"

इस पर वह इस कार्य को करने के लिये सहर्ष समुद्यत हो गया। आचार्य हरिभद्र ने उससे फिर कहा :—"आज से तीन दिन पश्चात् दूसरे देश के व्यापारियों का एक बहुत बड़ा समूह तुम्हारे नगर के बाहर आवेगा। उनके पास जितना भी जैसा भी क्रयाणक हो वह तुम क्रय कर लेना। उस क्रयाणक से तुम देश के एक माने हुए प्रमुख ऋद्धिवन्त श्रीमन्त बन जाओगे।"

श्रेष्ठी कार्पासिक ने अक्षरशः आचार्य देव के कथन का परिपालन किया। वह विपुल ऋद्धि का स्वामी बन गया। उसने आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित सभी धर्मग्रन्थों को लिपिकारों से लिखवा लिखवा कर उन्हें देश के कौने-कौने में श्रमण श्रमणियों में वितरित किया। उसने अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण भी करवाया। आचार्य हरिभद्र ने कार्पासिक श्रेष्ठी की भांति ही अन्य भव्यों को प्रबुद्ध कर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना के अनेकों कार्य करवाये।

आचार्य हरिभद्र सूरि को एक अति प्राचीन जीर्ण-शीर्ण स्थान-स्थान पर दीमकों द्वारा खाई हुई महानिशीथ शास्त्र की प्रति मिली। उनके समय में उस प्रति के अतिरिक्त महानिशीथ की कोई अन्य प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं थी। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अहर्निश अथक् श्रम करते हुए अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं प्रबल मति वैभव के बल पर उस महानिशीथ शास्त्र ग्रन्थ का उद्धार किया। रिक्त स्थानों पंक्तियों पत्रों आदि को पूर्वापर प्रसंग के अनुसार पुनर्रचना करते हुए महानिशीथ सूत्र का कुछ पुनर्लेखन भी किया।

आचार्य हरिभद्र सूरि के सत्ताकाल के सम्बन्ध में कुछ ही वर्षों पूर्व अनेक प्रकार की भ्रान्तियां थीं। देश के गण्यमान्य जैन विद्वानों ने समुचित शोध के पश्चात् इनका सत्ताकाल विक्रम सम्वत् ७५७ से ८२७ के बीच निर्णीत किया है। इन सब पर इसी ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग तथा प्रस्तुत तृतीय भाग में भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है।[1]

कुलगुरुओं के सम्बन्ध में मर्यादा का निर्धारण

बत्तीसवें (३२) युग प्रधानाचार्य पुष्यमित्र के आचार्य काल में घटित हुई कतिपय घटनाओं के पर्यालोचन से प्रकट होता है कि उस समय तक अपने आप को सुविहित परम्परा के नाम से अभिहित करने वाली अधिकांश श्रमण परम्पराओं पर भी चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था।

अमुक परिवार का मैं कुलगुरु हूं, परम्परा से अमुक श्रावक परिवार मेरा उपासक रहा है। इस विषय को लेकर समय-समय पर चौरासी गच्छों के आचार्यों में विवाद होने लगे। इस प्रकार के विवादों का एक स्पष्ट उल्लेख प्राचीन पत्रों में उपलब्ध होता है जो इस प्रकार है :—

विक्रम सं. २०२ (वीर नि. सं. ६७२) में भिन्नमाल के विशाल राज्य पर सोलंकी वंश का राजा अजितसिंह राज्य करता था। अनेक शताब्दियों तक भिन्नमाल पर इसी वंश का शासन रहा। वि. सं. ५०३ (वीर नि. सं. ६७३) में भिन्नमाल पर इसी वंश के राजा सिंह का राज्य था। राजा सिंह के कोई पुत्र नहीं हुआ अतः उसने अवन्ती निवासी मोहक नामक क्षत्रिय के सद्यप्रसूत पुत्र को अपना दत्तक पुत्र घोषित कर उसका लालन पालन एवं शिक्षण-दीक्षण किया। राजा सिंह ने अपने इस दत्तक पुत्र का नाम 'जइआण' रखा।

वि. सं. ५२७ (वीर नि. सं. ६९७) में राजा सिंह का देहावसान हो जाने पर 'जइआण' भिन्नमाल के राज सिंहासन पर आसीन हुआ। जइआण के पश्चात् उसका पुत्र श्री कर्ण और श्री कर्ण के पश्चात् श्री कर्ण का पुत्र संमूल वि. सं. ६०५ (वीर नि. सं. १०७५) में भिन्नमाल के विशाल राज्य का स्वामी बना। राजा संमूल की मृत्यु के पश्चात् वि. सं. ६४५ (वीर नि. सं. १११५) में उसका पुत्र गोपाल भिन्नमाल के राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ। ३० वर्ष तक शासन करने के अनन्तर राजा गोपाल के पंचत्व को प्राप्त हो जाने पर उसका पुत्र रामदास वि.

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७१२, भाग ३ हारिल सूरि का प्रकरण।

सं ६७५ (वीर नि. सं. ११४५) में भिन्नमाल के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। वि. सं. ७०५ (वीर नि. सं. ११७५) में रामदास का पुत्र सामन्त भिन्नमाल राज्य का स्वामी बना।

राजा सामंत के जयंत और विजयंत नामक दो पुत्र हुए। सामंतराज ने अपने विशाल राज्य को भिन्नमाल और लोहियाण इन दो भागों में विभक्त कर अपने दोनों पुत्रों में बांट दिया। वि. सं. ७१९ (वीर नि. सं. ११८९) में जयन्त को भिन्नमाल के राजसिंहासन पर और विजयन्त को लोहियाण के राजसिंहासन पर अभीषिक्त किया गया। किन्तु अपने पिता की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् ही जयन्त ने बलात् अपने भ्राता विजयन्त के लोहियाण राज्य को उससे छीनकर अपने भिन्नमाल राज्य में सम्मिलित कर लिया।

विजयन्त लोहियाण से पलायन कर वेणा के तीर पर अवस्थित शंखेश्वर नामक ग्राम में अपने मामा रत्नादित्य के पुत्र व्रजसिंह के पास रहने लगा। उस समय शंखेश्वर में वृहद्गच्छीय आचार्य सर्वदेव सूरि का चातुर्मास था। विजयन्त प्रतिदिन आचार्य श्री का उपदेश सुनने जाता और उनके उपदेशों से प्रवोध पा वह विक्रम सं. ७२३ (वीर नि. सं ११९३) की कार्तिक शुक्ला १० गुरुवार के दिन समकित के साथ-साथ वारह व्रत अंगीकार कर जैन धर्म का अनुयायी वन गया।

तदनन्तर रत्नादित्य ने अपने दोनों भानजों में सन्धि करवा कर विजयन्त को पुनः लोहियाण के राजसिंहासन पर आरूढ़ करवाया। लगभग १२ वर्षों तक विजयन्त लोहियाण की प्रजा पर न्याय नीतिपूर्वक शासन करता रहा। वि. सं. ७३५ (वीर नि. सं. १२०५) में विजयन्त का देहावसान हो गया और उसका पुत्र जयमल लोहियाण के राजसिंहासन पर वैठा। छः वर्ष तक शासन करने के पश्चात् जयमल कालधर्म को प्राप्त हुआ। उसके कोई पुत्र नहीं था अतः उसका मंझला भाई जोगा वि. सं. ७४१ (वीर निर्वाण सं. १२११) में लोहियाण का अधिपति वन गया। जोगराज के भी पुत्र नहीं हुआ। अतः वि. सं. ७४९ (वीर नि. सं. १२१९) में उसके परलोकवासी होने पर उसका छोटा भाई जयवंत लोहियाण राज्य का स्वामी हुआ।

जयवन्त के वना और श्रीमल्ल नामक दो पुत्र हुए। वना की जयवन्त के राज्यकाल में ही मृत्यु हो गई और श्रीमल्ल ने नागेन्द्र गच्छ में श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली जो आगे चलकर सोम प्रभाचार्य के नाम से विख्यात हुआ। इसी कारण जयवन्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र (वना का पुत्र) भाण वि. सं. ७६४ (वीर नि. सं. १२३४) में लोहियाण के राज सिंहासन पर वैठा।

उन्हीं दिनों भिन्नमाल के अति वृद्ध राजा जयन्त की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नहीं था। अतः उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उसके कुटुम्बियों में कलह

प्रारम्भ हो गया। भिन्नमाल राज्य में हुए इस गृह कलह का लाभ उठाकर लोहियाण के राजा भाण ने भिन्नमाल के राजसिंहासन पर भी अधिकार कर लिया। लोहियाण और भिन्नमाल इन दोनों राज्यों के परस्पर विलय के कारण राजा भाण एक शक्तिशाली शासक के रूप में उभरा। उसने शौर्य एवं साहस के साथ भिन्नमाल राज्य का क्रमशः विस्तार करके गंगानदी के तट तक उसकी सीमाएं स्थापित की।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि भिन्नमाल के राजा सामन्त का कनिष्ठ पुत्र विजयन्त वि. सं. ७२३ में वेणातटवर्ती शंखेश्वर ग्राम में जैन धर्म का अनुयायी बन गया था। उस विजयन्त के पश्चात् भाण तक लोहियाण के जितने राजा हुए वे सभी जैनधर्म के अनुयायी हुए। राजा भाण भी जैन धर्म का दृढ़ अनुयायी एवं परम श्रद्धालु श्रावक था। उस समय के जैन संघ में राजा भाण की सर्वाग्रणी प्रमुख श्रावक के रूप में गणना की जाती थी।

वि. सं. ७७५ (वीर नि. सं. १२४५) में बृहद् गच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभ का भिन्नमाल में आगमन हुआ। उनके उपदेश से राजा जयन्त की मृत्यु के पश्चात् राज परिवार में जो कलह उत्पन्न हुआ था, वह शान्त हो गया। राजा भाण ने श्री सोम प्रभाचार्य से उस वर्ष भिन्नमाल में ही चातुर्मासावास करने की आग्रह पूर्ण प्रार्थना की। समस्त श्री संघ तथा संघाग्रणी राजा भाण की प्रार्थना स्वीकार कर वीर नि. सं. १२४५ में सोमप्रभाचार्य ने भिन्नमाल नगर में चातुर्मासावास किया। राजा और प्रजा ने चातुर्मासावधि में नियमित रूप से आचार्य श्री के वचनामृत का पान करते हुए धार्मिक कार्य-कलापों में गहरी अभिरुचि ली।

उस समय तक सदल बल संघ के साथ तीर्थयात्राएं करने का प्रचलन पर्याप्त लोकप्रिय हो चुका था। सोमप्रभ सूरि के उपदेश से भिन्नमाल के चतुर्विध संघ ने सर्वसम्मति से विशाल संघ के साथ शत्रुंजय तथा गिरनार की यात्रा करने का निश्चय किया। भिन्नमाल के श्री संघ ने बृहत्गच्छीय आचार्य श्री सोमप्रभ और अन्यान्य गच्छों के अनेक आचार्यों को तीर्थ यात्रा के लिये उस विशाल यात्रा संघ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की। उस समय राजा भाण ने कुल परम्परा से चले आ रहे कुलगुरु उदयप्रभ सूरि को भी उस संघ यात्रा में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। उस संघ यात्रा में सम्मिलित होने के लिये चौरासी गच्छों के आचार्य, साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविकागण भिन्नमाल में एकत्रित हुए। भाण राजा के उस संघ में ७००० रथ, १२५०० घोड़े, १००११ हाथी, ७००० पालकियां, २५००० ऊंट, ५००० माल ढोने के गाडे और ११००० बैलगाड़ियां सुसज्जित की गईं।

राजा भाण को संघवी पद पर अभिषिक्त करने के समय कुलगुरु उदयप्रभ सूरि राजा भाण के तिलक करने के लिए उद्यत हुए। उस समय राजा भाण के संसारी पक्ष के पितृव्य (चाचा) सोमप्रभ सूरि ने कहा—"राजा भाण के संघवी पद

का तिलक मैं करूंगा क्योंकि मेरे उपदेश से ही इस संघ यात्रा का आयोजन किया गया है।"

इस पर आचार्य सोमप्रभ और आचार्य उदयप्रभ के बीच परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ। राजा भाण ने विभिन्न संघों के आचार्यों को मंत्रणा हेतु एक स्थान पर एकत्रित किया और उनसे पूछा कि वस्तुतः संघवी पद का तिलक करने का अधिकार आचार्य श्री सोमप्रभ का है या आचार्य श्री उदयप्रभ का ? सभी आचार्यों ने मन्त्रणा कर निर्णय दिया कि तिलक करने का अधिकार राजा के कुल परम्परागत कुलगुरु आचार्य उदयप्रभ का है, न कि संघ यात्रार्थ प्रतिबोध अथवा प्रेरणा देने वाले आचार्य सोमप्रभ सूरि का।

विभिन्न गच्छों के आचार्यों द्वारा दिये गये उस निर्णय को सभी ने शिरोधार्य किया और आचार्य उदयप्रभ ने राजा भाण के भाल पर संघवी का तिलक किया। संघवी पद पर राजा भाण के अभिषिक्त किये जाने पर वह विशाल संघ तीर्थयात्रार्थ प्रस्थित हुआ।

कुलगुरु के प्रश्न को लेकर भविष्य में कभी किसी प्रकार का कोई विवाद खड़ा न हो इस उद्देश्य से कुलगुरुओं की मर्यादाएं सदा के लिए निर्धारित कर देने का राजा भाण ने निश्चय किया। इस सम्बन्ध में राजा भाण, जहां जहां भी संघ का पड़ाव होता वहां वहां संघ के साथ आये हुए सभी आचार्यों से मन्त्रणा एवं विचार विनिमय करता। इस प्रकार अनेक दिनों के विचार-विनिमय के पश्चात् राजा भाण और सभी संघों के आचार्य इस विषय में एक निर्णय पर पहुंचे और उन्होंने कुलगुरुओं के अधिकारों की निम्नलिखित मर्यादा निर्धारित की।

> "जो कोई आचार्य जिस किसी भी व्यक्ति को प्रतिबोध देगा, वही आचार्य और उसके पट्टधर उस प्रतिबोधित व्यक्ति के सम्पूर्ण परिवार के पीढ़ी प्रपीढ़ियों तक कुलगुरु माने जायेंगे। प्रत्येक कुलगुरु स्वयं द्वारा अथवा अपने शिष्य प्रशिष्यों एवं गुरु-प्रगुरुओं द्वारा प्रतिबोधित श्रावकों के नाम तथा उसके परिवार के सभी सदस्यों के नाम अपनी वही में लिखेगा। इस प्रकार कुलगुरुओं द्वारा अपनी-अपनी वहियों में अपने-अपने श्रावकों के नाम लिख लिये जाने की प्रवृत्ति से पर देश में रहने वाले श्रावकों के सम्बन्ध में भी सब लोगों को यह विश्वास रहेगा एवं यह ज्ञात रहेगा कि अमुक परिवार-अमुक व्यक्ति अमुक गुरु का श्रावक है।
>
> इसी प्रकार एक गच्छ का आचार्य किसी दूसरे गच्छ के व्यक्ति को प्रतिबोध देकर श्रमण धर्म की दीक्षा लेने के लिये कृत-संकल्प

बनाता है, श्रमणत्व ग्रहण करने के लिये तैयार करता है तो उस दशा में उस विरक्त व्यक्ति के कुलगुरु की आज्ञा लेकर ही उसे दीक्षा दी जाय। यदि उसमें कुलगुरु की आज्ञा न मिले तो उसे दीक्षित नहीं किया जाय।

इसी भांति प्रतिष्ठा, संघवी पद का तिलक और व्रत प्रदान आदि कार्य भी अपने-अपने कुलगुरु के हाथ से ही सम्पन्न करवाये जायें। ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर कि जब कुलगुरु कहीं अन्यत्र दूरस्थ प्रदेश में गये हुए हों तो उन्हें आमन्त्रित कर बुलाया जाय। इस प्रकार बुलाने पर भी यदि कुलगुरु नहीं आवें तो उस दशा में वह गृहस्थ किसी दूसरे गच्छ के आचार्य अथवा गुरु के हाथों प्रतिष्ठादि उन कार्यों को सम्पन्न करवाले। इन कार्यों के सम्पन्न होने पर प्रतिष्ठा आदि कराने वाले अन्य गच्छ के आचार्य ही उस समय से उस श्रावक के कुलगुरु माने जाएंगे और भविष्य में प्रतिष्ठा आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर उन नये कुलगुरु बने हुए आचार्य अथवा गुरु से ही प्रतिष्ठा आदि कार्य करवाये जाएंगे।"

इस प्रकार मर्यादाओं के सम्बन्ध में सर्वसम्मत निर्णय से कुलगुरुओं की मर्यादाएं बांधी गई और उन्हें अभिलेख के रूप में लिखा गया। उस लिखत पर अथवा मर्यादा पत्र पर नागेन्द्र गच्छीय श्री (१) सोमप्रभाचार्य, (२) उपकेश-गच्छीय श्री सिद्धसूरि, (३) निवृत्ति गच्छीय श्री महेन्द्र सूरि, (४) विद्याधर गच्छीय श्री हरियाणन्द सूरि, (५) ब्राह्मण गच्छीय श्री जज्जग सूरि, (६) सांडेर गच्छीय श्री ईश्वर सूरि, तथा (७) वृहद् गच्छीय श्री उदयभद्र सूरि प्रभृति चौरासी गच्छों के नायकों ने हस्ताक्षर किये। राजा भाण ने साक्षी के रूप में उस लिखत पर अपने हस्ताक्षर किये।

यह अभिलेख वर्द्धमानपुर में वि. सं. ७७५ (वीर नि. सं. १२४५) की चैत्र शुक्ला सप्तमी के दिन लिखा एवं हस्ताक्षरित किया गया।

विक्रम की ८वीं शताब्दी में श्रमणों में शिथिलाचार किस सीमा तक बढ़ चुका था इस पर इस लिखत से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अपने-अपने श्रावक को अपनी-अपनी आचार्य परम्परा का अनुयायी बनाये रखने के लिये सतत प्रयत्नशील ही नहीं, अपितु विवाद तक के लिये कटिबद्ध रहना, एवं व्यापारी की तरह बहियां रख कर उनमें अपने-अपने श्रावकों, उनके परिवार के सभी सदस्यों के नाम लिखना, दूसरे गच्छ के अनुयायी श्रावकों को अपने गच्छ का अनुयायी बनाने का प्रयास करना, ममत्व भाव से श्रावक वर्ग को अपने गच्छ में ही सुदृढ़ रखने के लिये विवाद में उलझना और प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि के प्रसंग पर श्रावकों के भाल

पर तिलक करना आदि आदि कार्यकलाप श्रमणों द्वारा, आचार्यों द्वारा बड़े-बड़े समारोहों के साथ किये जाते थे।

कुलगुरुओं की मर्यादा-निर्धारण विषयक इस लिखत से यह स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपनाये गये शिथिलाचार और बाह्याडम्बर पूर्ण अनुष्ठानों, आयोजनों एवं क्रिया-कलापों से जैन धर्म तथा श्रमण परम्परा में मूल विशुद्ध स्वरूप की रक्षा के उद्देश्य से जिस सुविहित परम्परा का प्रादुर्भाव किया गया था, उस सुविहित परम्परा पर भी वीर निर्वाण की १२वीं-१३वीं शताब्दी में चैत्यवासियों द्वारा अपनाये गये शिथिलाचार, बाह्याडम्बर और आगम विरोधी तथा कथित धार्मिक आयोजनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था।

इन कुलगुरुओं ने इस प्रकार परिग्रह रखना तो प्रारम्भ कर दिया और इनका परिग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, किन्तु इस समय तक इन्होंने दार परिग्रह स्वीकार नहीं किया था। आगे चलकर ये कुलगुरु गृहस्थ बन गये।

आचार्य अकलंक

आचार्य अकलंक दिगम्बर परम्परा के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। इनका समय विद्वानों ने ई० सन् ७२० से ७८० तक का निर्धारित किया है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचनाएं कीं। उनमें मुख्य हैं :—

(१) तत्वार्थ वार्तिक सभाष्य, (२) अष्टशती (समन्तभद्र कृत आप्त मीमांसा–देवागमस्तोत्र की वृत्ति), (३) लाघवस्तव सवृत्ति, (४) न्याय विनिश्चय सवृत्ति, (५) सिद्धि विनिश्चय, (६) प्रमाण मीमांसा, (७) प्रमेय मीमांसा, (८) नय मीमांसा, (६) निक्षेप मीमांसा, तथा (१०) प्रमाण संग्रह।

आचार्य अकलंक का जो जीवन परिचय उपलब्ध होता है उसमें इनके पिता का नाम पुरुषोत्तम बताया गया है। पुरुषोत्तम मान्य खेट के राष्ट्रकूट वंशीय राजा शुभतुंग के मंत्री थे। अकलंक के छोटे भाई का नाम निकलंक था। ये दोनों भाई कुशाग्र बुद्धि थे। एक दिन ये दोनों भाई अपने माता-पिता के साथ आचार्य रविगुप्त के दर्शनार्थ गये। माता-पिता के साथ दोनों बालकों ने भी अपने गुरु से ब्रह्मचर्य व्रत अङ्गीकार किया।

जब इन दोनों भाइयों ने किशोरवय पार की, उस समय माता-पिता ने इन दोनों भाइयों का विवाह करने का निश्चय किया किन्तु अकलंक और निकलंक ने माता-पिता के आग्रह को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि उन्होंने बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत गुरुदेव से ग्रहण कर लिया था। अतः अब वे जीवन पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी ही रहेंगे। इन दोनों भाइयों ने अपने संकल्प पर दृढ़ रहते हुए विद्याध्ययन किया और अकलंक की बुद्धि इतनी तीव्र थी कि कठिन से कठिन पाठ भी उन्हें एक बार सुनने मात्र से ही कंठस्थ हो जाता था। वही पाठ निकलंक को दो बार सुनने से कंठाग्र हो जाता था। इस प्रकार के कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उन दोनों भाइयों ने स्वल्प समय में ही अनेक विद्याओं और शास्त्रों में पारंगतता प्राप्त कर ली।

उन दिनों बौद्ध न्याय की चारों ओर धूम थी। बौद्धों की न्याय और तर्क-शास्त्र पद्धति का अध्ययन करने की उन दोनों भाइयों के मन में तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई और वे बौद्ध न्याय का अध्ययन करने के लिये बौद्ध मठ में गये। उन्होंने अपना

धर्म छिपा कर बौद्ध विद्यापीठ में प्रवेश प्राप्त कर लिया और वे वहां बड़ी निष्ठा के साथ बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। उन दोनों भाइयों ने थोड़े समय में ही बौद्ध शास्त्रों में पारंगतता प्राप्त कर ली।

एक दिन उनके आचार्य जब उन्हें अनेकान्त के खण्डन का पाठ पढ़ा रहे थे, तो पूर्व पक्ष का पाठ कुछ त्रुटिपूर्ण रह जाने के कारण स्वयं आचार्य की समझ में नहीं आ रहा था। अतः उन्होंने उस दिन वह पाठ पढ़ाना स्थगित कर दिया। दोनों भाइयों ने बौद्धाचार्य दिग्नाग के अनेकांत के खण्डन के अशुद्ध पूर्व पक्ष के पाठ को रात्रि के समय शुद्ध कर दिया। प्रातःकाल अध्ययन कक्ष में लिखे पाठ पर जब आचार्य की दृष्टि पड़ी तो वे शुद्ध पाठ को देखकर स्तब्ध रह गये। उन्हें विश्वास हो गया था कि उनके विद्यार्थियों में से निश्चित रूप से कोई न कोई जैन शिक्षार्थी छद्म वेष में उनके विद्यापीठ में प्रविष्ट हो गया है। उन्होंने जैन विद्यार्थियों को खोज निकालने का निश्चय किया।

आचार्य हरिभद्र के हंस और परमहंस नामक दोनों शिष्यों को जिन उपायों से बौद्धाचार्य ने खोज निकाला था, उसी प्रकार के उपायों को अकलंक और निकलंक को खोज निकालने के लिये भी उपयोग में लाया गया।

अपने शिष्यों में छद्मवेषधारी जैन कौन आ गया है, इस बात का पता लगाने के लिये बौद्धाचार्य ने मार्ग में ऐसे स्थान पर जिनेन्द्र की मूर्ति रख दी जहां से अनिवार्य रूपेण प्रत्येक शिक्षार्थी को आवागमन करना ही पड़ता था। अकलंक और निकलंक ने उस मूर्ति पर धागा डाल कर उसे अन्य छात्रों की ही तरह जांघ लिया। उस परीक्षा से अपने अभीष्ट की सिद्धि न हुई देख बौद्धाचार्य ने एक दूसरा अचूक उपाय खोज निकाला। मध्य रात्रि में जब सब शिक्षार्थी निश्शंक प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे थे, उस समय बौद्धाचार्य ने कांस्यपात्रों से भरा एक बोरा बड़ी ऊंचाई से छात्रों के शयनकक्ष में मध्य भाग के रिक्त स्थान पर गिराया। कांस्यपात्रों के गिरने से विद्युत की कड़कड़ाहट के समान हुए कर्णभेदी भीषण निघोष को सुन कर सभी शिक्षार्थी तत्काल जाग उठे। अपने ऊपर प्राणापहारी घोर संकट आया समझ सभी छात्रों ने अपने-अपने इष्ट देव का सस्वर स्मरण किया। अकलंक और निकलंक दोनों भाइयों के मुख से भी सहसा "णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं आदि पंच-परमेष्टि-नमस्कार मन्त्र" के स्वर गूंज उठे। परीक्षा हेतु सजग प्रहरी के समान वहां खड़े बौद्धाचार्य ने उन दोनों भाइयों को तत्काल पकड़ कर विद्यापीठ के एकांत कक्ष में बन्दी बनाकर रख दिया।

रात्रि की निस्तब्धता में अकलंक और निकलंक दोनों भाई एक छत्र को पकड़ कर विद्यापीठ के ऊपरी कक्ष से कूद पड़े। बड़ी ही कुशलतापूर्वक उस छत्र को कभी तीच्र्छा तो कभी सीधा रखते हुए वे दोनों भाई बौद्ध विद्यापीठ क्षेत्र से बाहर

सकुशल पृथ्वी पर उतर गये और उन्होंने दवे पांवों बड़ी तीव्र गति से प्राण रक्षार्थ पलायन प्रारम्भ किया।

प्रातःकाल होने पर उस बौद्ध विद्यापीठ के नियमानुसार उन दोनों भाइयों को प्राणदण्ड दिलाने हेतु राजा के समक्ष उपस्थित करने के लिये जब उस कक्ष के द्वार खोले गये, जिसमें कि दोनों भाइयों को बन्दी बनाकर रक्खा गया था, तो उस कक्ष में उन्हें न पा उनकी खोज में चारों ओर राजा की आज्ञा से 'अश्वारोही सैनिक' दौड़ाये गये।

विकट वनी को पार कर जब वे दोनों भाई एक सरोवर के पास पहुंचे तो निकलंक ने देखा कि अश्वारोही उनका पीछा करते हुए भागे आ रहे हैं। उसने अकलंक से कहा—"भैया! आज जिनशासन को आप जैसे एकसन्धि सुतीक्ष्ण बुद्धि विद्वान् की आवश्यकता है। जिन शासन के लिये अनमोल—अमूल्य अपने जीवन को आप येन-केन-प्रकारेण बचाइये। देखिये यह विशाल सरोवर तीन ओर से पहाड़ियों और विशाल वृक्षों की पंक्तियों से घिरा हुआ है। लम्बी भीलों के समान इस सरोवर की जलराशियां पहाड़ों के बीच की टेढ़ी-मेढ़ी अति गहरी खाइयों तक फैली हुई हैं। आप सुयोधन के समान श्वास निरोधपूर्वक जलस्तम्भन की यौगिकी क्रिया में निष्णात हैं। इस विशाल सरोवर में आपको शत्रुओं का टिड्डी दल भी आ जाय तो नहीं खोज सकेगा। मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूं कि आप सभी प्रकार के मोह ममत्व का एक ही झटके में परित्याग कर इस सरोवर की अगाध जल राशि में छुप जाइये। जिनेन्द्र प्रभु के विश्वकल्याणकारी धर्म शासन के हित के लिये आप शीघ्रतापूर्वक जलराशि में प्रविष्ट हो जाइये। शत्रुओं के घोड़ों की टापों से उड़ती हुई धूलि के बादल बड़ी तीव्र गति से हमारे पास उड़े आ रहे हैं। अभी शत्रुओं की क्रूर दृष्टि हम पर नहीं पड़ी है। आपको जिनेन्द्र प्रभु की सौगन्ध है, जिनशासन की शपथ है। शीघ्रता कीजिये और वृक्षों की, लता-गुल्मों के झुरमुटों की ओट में दबे पांवों भागते हुए द्रुतगति से जाइये और इस अगाध विस्तीर्ण जलराशि में शत्रुओं की आंखों से ओझल हो जाइये।"

जिनेन्द्र प्रभु की एवं जिनशासन की शपथ के पश्चात् अकलंक के समक्ष और कोई रास्ता नहीं था। एक बार में ही क्षणभर में अपने अन्तर्ह्रद से पीयूषोपम स्नेहसागर दोनों दृगों से अपने स्नेह केन्द्र लघु सहोदर पर उंडेलता हुआ अकलंक झुरमुटों की ओट में द्रुततर गति से बढ़ता हुआ दो पर्वतों के बीच की टेढ़ी-मेढ़ी जल राशि में समा गया।

यह देखकर पूर्णतः आश्वस्त हो निकलंक भी बड़ी तेज़ गति से विपिन की ओर गुल्म-लता कुंजों की ओट लेता हुआ भागा। उसे भागता देख वस्त्र प्रक्षालनार्थ

सरोवर के घाट पर उसी समय आया हुआ एक रजक (धोबी) भी किसी भयंकर आपत्ति की आशंका से निकलंक का पीछा करता हुआ भागने लगा।

बौद्धराज के अश्वारोही निकलंक और धोबी के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए उनके पीछे तीव्र गति से घोड़े दौड़ाते हुए उस विकट अटवी की ओर बढ़े। कुछ ही क्षणों में बौद्ध सेना के अश्वारोही उन दोनों भागने वालों के पास जा पहुंचे और उन्होंने अपनी तलवार की तीखी धार के एक ही प्रहार से उन दोनों के सिर काट दिये।

उन्हें मरा हुआ जानकर बौद्ध सैनिक लौट गये। बौद्ध सैनिकों के लौट जाने पर अकलंक जलाशय से बाहर निकले और कलिंग के रत्नसंचयपुर नगर में पहुंचे। वहां उन्होंने राजा हिमशीतल की राजसभा में बौद्धाचार्य संघश्री के साथ शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ प्रारम्भ करते समय संघश्री ने यह शर्त रखी थी कि वह यवनिका (पर्दे) के पीछे बैठ कर शास्त्रार्थ करेगा।

शास्त्रार्थ बड़े लम्बे समय तक चलता रहा और ६ महीने चलते रहने पर भी जब जय-पराजय का निर्णय नहीं हो सका तो अकलंक ने इसमें कुछ रहस्य की आशंका से चक्रेश्वरी देवी का स्मरण किया।

चक्रेश्वरी देवी ने अकलंक को बताया :—"बौद्धाचार्य शास्त्रार्थ नहीं कर रहा है बल्कि उनकी आराध्या देवी तारा पर्दे के पीछे रखे घट में बैठी हुई शास्त्रार्थ कर रही है। कल तुम उसे आज के शास्त्रार्थ में उसके द्वारा कही गई अन्तिम बात को दोहराने को कहना। देवी एक बार कही हुई बात को नहीं दोहराती। अतः वह मौन रहेगी। तुम उसी समय यवनिका के अन्दर प्रवेश कर पार्ष्णि-प्रहार से उस घट को फोड़ देना। बौद्धाचार्य घट में बैठी हुई तारादेवी के बल पर ही अभी तक शास्त्रार्थ में पराजित नहीं हो सका है। घट के फोड़ दिये जाने पर वह पूर्णतः शक्तिविहीन हो जायगा और शास्त्रार्थ में तुम्हारे समक्ष क्षण भर भी टिक नहीं सकेगा।"

दूसरे दिन हिमशीतल की राजसभा में शास्त्रार्थ को प्रारम्भ करते हुए अकलंक ने कल कही हुई बात दोहराने को कहा। प्रतिपक्ष की ओर से अकलंक के कथन का कोई उत्तर नहीं मिला।

प्रतिपक्षी को मौन देख कर अकलंक ने तत्काल यवनिका का पटाक्षेप करते हुए उसके अन्दर प्रवेश किया। वहां घट को देख उन्होंने पाद-प्रहार से उस घड़े को फोड़ दिया। अकलंक द्वारा पुनः पुनः प्रश्न किये जाने पर भी बौद्धाचार्य संघश्री की जिह्वा तो दूर ओष्ठ तक नहीं हिले। वह अवाक् बना अकलंक की ओर देखता ही रहा।

अकलंक नाम के और भी अनेक विद्वान् हुए हैं। उनके नाम अनुमानित काल के अनुसार इस प्रकार हैं :—(१) अकलंक पण्डित–ई० १०६८, (२) अकलंक त्रैविद्य-ई० ११६३ में स्वर्गस्थ हुए, (३) अकलंकचन्द्र–ई० १२००, (४) अकलंकदेव ई० १२५६ में स्वर्गस्थ हुए, (५) अकलंक मुनि नन्दिसंघ, बलात्कारगण के जयकीर्ति के शिष्य, (६) अकलंकदेव मूलसंघ–ई० १५५०–१५७५, (७) भट्टारक अकलंकदेव कर्णाटक शब्दानुशासन के रचनाकार–ई० १५८६ से १६१५ तक। ये ६ भाषाओं में कविता करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। इन्होंने रायबहादुर नरसिंहाचार्य के अभिमतानुसार अनेक राजसभाओं में हुए शास्त्रार्थों में विजयी होकर जिनशासन की महती प्रभावना की, (८) अकलंक मुनिप – देशीगण, पुस्तकगच्छ के कार्कल मठ के भट्टारक–ई० १८१३ में स्वर्गस्थ हुए, (९) अकलंकदेव—अनुपलब्ध प्रतिष्ठाकल्प के रचयिता। इनका समय ईसा की १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया जाता है, (१०) अकलंक—परमागमसार नामक कन्नड़ ग्रन्थ के रचनाकार। समय अज्ञात, (११) अकलंक—चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमणसूत्र, साधु श्राद्ध प्रतिक्रमण एवं पदपर्याय मंजरी आदि के कर्त्ता। समय अनिर्णीत।[1]

---

[1] विशेष जानकारी के लिए देखिये, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, परमानन्द शास्त्री लिखित पृष्ठ १५४, १५५

भगवान् महावीर के ३४ एवं ३५वें पट्टधर क्रमशः हरिषेण व जयसेण के आचार्यकाल के समय के प्रमुख ग्रन्थकार

जिनदास गणि महत्तर : जैन जगत् के चूर्णिकारों में जिनदास गणि महत्तर का सर्वोच्च स्थान है। इन्होंने नन्दिचूर्णि, निशीथ सूत्र चूर्णि और आवश्यक चूर्णि नामक बड़े ही महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएं कीं। इन्होंने अपने परिचय के साथ निशीथ चूर्णि की रचना का समय अपनी इन निम्नलिखित गाथाओं में दिया है :—

संकरजड मउड विभूसणस्स तण्णामसरिस णामस्स ।
तस्स सुतेणेसकता विसेस चुण्णी णिसीहस्स ॥

ततो चेव णिति णामओ फुड पदत्थो रइतो परिभासाए साहूण अणुग्गहट्ठाए ।

ति चउपण अट्ठम वग्गा ति पण ति तिग अक्खरावते तेसिं ।
पढम ततिएहिंति दु सर जुएहिं णामकयं जस्स ॥

गुरुदिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स मुद्धेहिं ।
तेण कएसा चुण्णी विसेसनामा निसीहस्स ॥

नन्दि सूत्र की चूर्णि के अन्त में दी हुई प्रशस्ति में जिनदास गणि महत्तर ने उल्लेख किया है कि शक सम्वत् ५९८ तदनुसार विक्रम सम्वत् ७३३ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १२०३ में नन्दि सूत्र चूर्णि पूर्ण की।

महत्तर जिनदासगणि द्वारा रचित चूर्णियां श्रमण-श्रमणी वर्ग एवं साधक वर्ग के लिए अपने शास्त्रीय ज्ञान का अभिवर्द्धन करने में परम सहायक होने के साथ साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं। आवश्यक चूर्णि को यदि जैन इतिहास की अक्षय निधि कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यापनीय परम्परा के आचार्य अपराजित सूरि (विजयाचार्य)

विक्रम की आठवीं शताब्दी में यापनीय परम्परा के भी एक बहुत बड़े विद्वान् आचार्य हुए हैं जिनका नाम अपराजित सूरि है।

यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ के छठे प्रकरण में विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है। उसमें अपराजित सूरि का भी यत्किंचित परिचय दिया गया है।

जैन इतिहास की दृष्टि से यापनीय आचार्य अपराजित सूरि का स्थान बहुत ऊंचा और बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इन्होंने बहुत सम्भव है कि दशवैकालिक सूत्र के समान ही अनेक सूत्रों पर टीकाओं की रचनाएं की हों। किन्तु इनके द्वारा लिखी गई आगमों की टीकाओं में से केवल दशवैकालिक टीका के कतिपय उद्धरण ही आज जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं।

मूलाराधना की टीका में इनके द्वारा रचित दशवैकालिक टीका के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इनके द्वारा लिखित वर्तमान में केवल एक ही टीका ग्रन्थ उपलब्ध होता है, वह है आराधना की विजयोदया टीका। आराधना की विजयोदया टीका में ही दशवैकालिक सूत्र की विजयोदया टीका का उसके अनेक उद्धरणों के साथ में उल्लेख उपलब्ध होता है।

इन अपराजित सूरि का अपर नाम विजयाचार्य था इसलिये अपने इस अपर नाम पर ही अपनी उन दो महत्वपूर्ण टीकाओं का उन्होंने नामकरण किया है।

जैन इतिहास में अपराजित सूरि का और इनके द्वारा निर्मित उपरिलिखित दोनों टीकाओं का इस लिये बड़ा ऐतिहासिक महत्व है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो परम्पराओं के रूप में श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ के विभक्त हो जाने पर यापनीय परम्परा के इन आचार्य ने इन दोनों संघों को एकसूत्र में पुनः आवद्ध करने की दृष्टि से सम्भवतः पूरा-पूरा प्रयास किया।

यापनीय परम्परा के आचार्य उन सभी आगमों को प्रामाणिक मानते थे जिन्हें कि श्वेताम्बर परम्परा प्रामाणिक मानती है। इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य

३५वें से ३८वें पट्टधर तथा युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के समय की राजनैतिक घटनाएँ

ईसा की सातवीं शताब्दी में दक्षिण में कांची के पल्लवों और चालुक्यों में संघर्ष चलता रहा। इस लम्बे संघर्ष का सूत्रपात उस समय हुआ, जब पुलकेशिन (द्वितीय) ने ईसा की ७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में पल्लवराज महेन्द्र वर्मन पर आक्रमण किया। पुलकेशिन अपनी शक्तिशाली सेना के साथ पल्लव राज्य की सीमा में दूर तक बढ़ता हुआ जब कांची से उत्तर में लगभग १५ मील की दूरी पर ही रह गया तब पल्लव सेना के प्रतिरोध पर पुल्लकूर में दोनों सेनाओं के बीच भीषण युद्ध हुआ। पल्लव राज्य का उत्तरी भाग पुलकेशिन को देकर महेन्द्र वर्मन ने उसके साथ सन्धि की और इस प्रकार उसने अपनी राजधानी की शत्रु से रक्षा की।

पल्लवों और चालुक्यों के बीच संघर्ष का सूत्र-पात इसी घटना से हुआ। ई० सन् ६२१ में राजधानी में लौटते ही उस समय के अपने सामन्त विष्णुवर्द्धन को अपने प्रतिनिधि के रूप में आन्ध्र का शासक बना कर वहां विरोधी शक्तियों को नष्ट करने और अपने राज्य को सुदृढ़ एवं विशाल बनाने के लिये भेजा।

विष्णुवर्द्धन[1] ने १० वर्ष तक आन्ध्र का शासन करते हुए वहां पुलकेशिन के राज्य की सीमा में भी उल्लेखनीय अभिवृद्धि के साथ-साथ राज्य को निष्कण्टक बना दिया।[2] आन्ध्र में अपने राज्य की स्थिति के सुदृढ़ हो जाने पर पुलकेशिन द्वितीय ने ई० सन् ६३१ के पश्चात् अपने भाई की स्वीकृति से एक राजवंश की स्थापना की, जिसकी तेलुगु देश पर ५०० वर्ष तक सत्ता रही। पुलकेशिन बड़ा शक्तिशाली राजा था। इसने ई० सन् ६२५–६२६ में अपना राजदूत ईरान के शाह खुसरो (द्वितीय) के यहां और ईरान के शाह ने पुलकेशिन की राजधानी बादामी में भेजा।

अपनी सफलताओं से प्रोत्साहित हो पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन के पुत्र नरसिंह वर्मन (ई० सन् ६३०–६६८) के शासन काल में पल्लव राज्य पर पुनः आक्रमण किया। पुलकेशिन (द्वितीय) के इस आक्रमण का पल्लवों

---

[1] यह विष्णुवर्द्धन इतिहास प्रसिद्ध होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन से भिन्न ही पुलकेशिन (द्वितीय) का सामन्त—सेनापति था। होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन का शासनकाल ई० सन् ११११० से ११५२ था।

[2] दक्षिण भारत का इतिहास, (डा. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री) पृष्ठ १२६

के सामन्त बाणवंशी राजाओं ने जिनका कि रायल सीमा पर शासन था, बड़ा प्रतिरोध किया। उस भीषण संघर्ष में बाण राज्य पूर्णतः नष्ट हो गया, किन्तु इसके परिणामस्वरूप पुलकेशिन (द्वितीय) की सेना को बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ी। वह अपनी सेना के साथ पल्लव राज्य की सीमा में आगे बढ़ा। नरसिंह वर्मन (प्रथम) महामल्ल ने लंका के राजकुमार मानवर्मा की सहायता से कांचीपुरम् से २० मील पूर्व में स्थित मणिमंगला नामक स्थान पर पुलकेशिन (द्वितीय) की सेना पर आक्रमण कर भीषण युद्ध के पश्चात् उसे परास्त कर दिया। इस युद्ध के पश्चात् तो पुलकेशिन को नरसिंह वर्मन के साथ हुए छोटे-बड़े सभी युद्धों में पराजय पर पराजय होती ही रही और उसे अपनी राजधानी बादामी में लौटने के लिये बाध्य होना पड़ा।

इस विजय से पल्लवराज नरसिंह वर्मन (प्रथम) बड़ा उत्साहित हुआ। उसने अपनी विशाल एवं शक्तिशालिनी सेना से बादामी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। इस युद्ध में पुलकेशिन (प्रथम) की युद्ध भूमि में मृत्यु हो गई।

नरसिंह वर्मन द्वारा बादामी पर अधिकार किये जाने की इस घटना की एक ऐतिहासिक घटना के रूप में पुष्टि नरसिंह वर्मन की "वातापिकोण्डा" अर्थात्–वातापी का विजेता—इस उपाधि से होती है। वातापि वस्तुतः बादामी का ही पुरातन नाम है। इसके अतिरिक्त मल्लिकार्जुन मन्दिर के पीछे की चट्टान पर उट्टंकित नरसिंह वर्मन के शासन के तेरहवें वर्ष के शिलालेख से भी इस घटना की पुष्टि होती है।

पुलकेशिन द्वितीय की बादामी के युद्ध में पराजय एवं मृत्यु से विशाल चालुक्य साम्राज्य एक बार तो बुरी तरह बिखर गया। उसके अधीनस्थ राजाओं और चालुक्य साम्राज्य के प्रतिनिधियों के रूप में प्रशासक पद पर नियुक्त पुलकेशिन (द्वितीय) के पुत्रों ने भी अपने आपको अपने-अपने अधीनस्थ प्रदेशों का स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया।

बादामी के चालुक्य राज्य पर आयी हुई इस घोर संकट की घड़ियों में भी पुलकेशिन (द्वितीय) के एक पुत्र ने, जिसने कि आगे चलकर विक्रमादित्य के विरुद् को धारण किया, बड़े ही साहस से काम लिया। चालुक्य राज्य के इस आपातकाल में गंगराज भूविक्रम[1] अपरनाम श्रीवल्लभ—भूरिविक्रम ने, पुलकेशिन द्वितीय के इस

[1] इसका शासनकाल ई. सन् ६७० तक था। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ २६६, डा. के. एस. नीलकण्ठ शास्त्री ने अपने "दक्षिण भारत का इतिहास" नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ १२७) गंग अविनीत को विक्रम का नाना बताया है किन्तु गंग अविनीत का शासन काल ई० सन् ४२५ से ४७८ तक है। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ २६५।

विक्रम की अपने कोशबल और सैन्यशक्ति से बड़ी सहायता की। गंगराज भू विक्रम की सहायता से विक्रम ने कड़े संघर्ष के पश्चात् नरसिंह वर्मन को बादामी से खदेड़ दिया। बादामी के राजसिंहासन पर पुनः अधिकार करते ही विक्रम ने विद्रोही सामन्तों और बादामी साम्राज्य को आघात पहुंचाने वाले अपने भाइयों को युद्ध में परास्त कर ई० सन् ६५४–६५५ में बादामी में चालुक्य राज्य की पुनः प्रतिष्ठा की। इसने अपने भाई जयसिंह को जिसने कि संकट की घड़ियों में विक्रम का सदा साथ दिया था, दक्षिणी गुजरात का अपना प्रतिनिधि प्रशासक नियुक्त कर उसे पुरस्कृत किया।

उधर नरसिंह वर्मन ने कांची में लौट कर अपने मित्र मानवर्मा की सहायता के लिये दो नौ सैनिक बेड़े लंका भेजे। नरसिंह वर्मा द्वारा दी गई इस सैनिक सहायता से मानवर्मा ने अपने शत्रु राजा को युद्ध में पराजित एवं मार कर अनुराधापुर के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया।

नरसिंह वर्मन की नौ सेना बड़ी शक्तिशाली थी। कांची के पल्लव राजवंश में इसे महान् निर्माता राजा माना गया है। नरसिंह वर्मन की ई० सन् ६६८ के लगभग मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् इसका पुत्र महेन्द्र वर्मन (द्वितीय) कांची के सिंहासन पर बैठा। बादामी के चालुक्य विक्रमादित्य ने कांची पर आक्रमण किया। इस युद्ध में गंगराज भूविक्रम भी इसके साथ था। गंग भूविक्रम ने महेन्द्र वर्मन (द्वितीय) को इस युद्ध में परास्त किया।

महेन्द्र वर्मन का कांची पर स्वल्प काल तक ही शासन रहा। उसके पश्चात् उसका पुत्र परमेश्वर वर्मन कांची के राजसिंहासन पर बैठा। इसके शासन काल में भी बादामी के चालुक्यराज विक्रमादित्य ने आक्रमण किया। इस युद्ध में भी गंगराज भूविक्रम चालुक्यराज विक्रमादित्य प्रथम के साथ था। इस युद्ध में भूविक्रम ने परमेश्वर वर्मन को पराजित कर उसे बन्दी बना लिया। परमेश्वर वर्मन ने अपने मुकुट का बहुमूल्य रत्न और उग्रोदय मणिजटित हार देकर कारागार से मुक्ति पायी। इस युद्ध में परमेश्वर वर्मन की पराजय का एक और भी कारण था, वह यह कि पाण्ड्यराज अरिकेसरी वर्मन अपनी सेना के साथ विक्रमादित्य (प्रथम) से जा मिला।

परमेश्वर वर्मन ने इस पराजय के उपरान्त भी बड़े साहस से काम लेकर पुनः अपनी सेना को सुगठित किया। उसने विक्रमादित्य का ध्यान बटाने के लिए अपनी सेना के एक भाग को बादामी पर आक्रमण करने के लिए भेजा और स्वयं एक शक्तिशाली सेना लेकर उडइयूर से उत्तर पश्चिम दिग्विभाग में स्थित पेरुवल्लनल्लूर नामक स्थान पर चालुक्य सेनाओं के समक्ष आ डटा। उसकी यह रणनीति

पूर्णतः सफल रही। घोर संघर्ष के पश्चात् चालुक्य सेना के पैर उखड़ गये और वह बादामी की रक्षा के लिये बादामी की ओर लौट पड़ा। परमेश्वर वर्मन की वह सेना जो बादामी पर आक्रमण करने जा रही थी, वह भी पराजित चालुक्य सेना को स्वदेश लौटते देख कांची की ओर मुड़ गई। पृथक्-पृथक् टुकड़ियों में बादामी की ओर लौटती हुई चालुक्य सेना के कई दलों को पल्लव सेना ने लूटा और वह लूट में प्राप्त हुई विपुल सामग्री लिये कांची लौट गई। परमेश्वर वर्मन ई. सन् ६८० तक कांची राज्य पर शासन करता रहा।

इस युद्ध के पश्चात् पल्लवों और चालुक्यों का संघर्ष शान्त हो गया। विक्रमादित्य के पश्चात् ई. सन् ६८१ में उसका पुत्र विनयादित्य बादामी के राज-सिंहासन पर बैठा। इसने उत्तर भारत पर आक्रमण किया। इसके पुत्र विजयादित्य ने इस युद्ध में विजय के साथ विपुल कीर्ति अर्जित की। विनयादित्य का शासनकाल ई. सन् ६८१ से ६९६ तक रहा।

ई. सन् ६९६ में इसका पुत्र विजयादित्य बादामी के चालुक्य राजसिंहासन पर आसीन हुआ। इसने ई. सन् ७३३ पर्यन्त ३७ वर्ष तक सुचारू रूप से शासन किया। इसका शासन काल राज्य और प्रजा—उभय पक्ष के लिए शान्ति और समृद्धि का सुखद काल रहा। इस ३७ वर्षों की अवधि में मन्दिरों के निर्माण के अनेक कार्य हुए।

दूसरी ओर कांची में परमेश्वर वर्मन के पश्चात् ई. सन् ६८० में नरसिंह वर्मन् (द्वितीय) राज सिंह कांची का राजा बना। यह बादामी के चालुक्य राज विनयादित्य और उनके पुत्र विजयादित्य का समकालीन था। इसने ४० वर्ष तक शासन किया। इसके शासनकाल में भी चारों ओर शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य रहा। इसके शासनकाल में सामुद्रिक व्यापार में उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

अभिनव साहित्य के साथ-साथ अतीव सुन्दर एवं विशाल मन्दिरों के निर्माण हुए। इसने अपना राजदूत चीन सम्राट के दरबार में भेजा।

जैन संघ पर दूसरा देशव्यापी संकट

यह पहले विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि जैन संघ पर अथवा जैन धर्म पर पहला संकट पल्लवराज कांचिपति महेन्द्रवर्मन प्रथम (ई. सन् लगभग ६०० से ६३०) और मदुरा के शासक सुन्दरपाण्ड्य के शासन काल में आया। जैन संघ पर आया हुआ वह पहला संकट केवल तमिल प्रान्त तक ही सीमित रहा।

जैन संघ पर जो दूसरा संकट कुमारिल्ल भट्ट और शंकराचार्य की दिग्विजयों के माध्यम से लगभग ई. सन् ७०० से प्रारम्भ हुआ वह संकट वस्तुतः सुसंगठित, सुनियोजित और देशव्यापी था।

शंकराचार्य ने आर्यधरा के पूर्व छोर से पश्चिम और दक्षिण छोर से उत्तर दिशा के छोर तक दिग्विजय का अभियान चलाकर चारों दिशाओं में चार शंकराचार्य-पीठों की स्थापना कर इस उद्देश्य से सुदृढ़ व्यवस्था की कि इन चारों ही मठों अथवा शंकरपीठों के अधिष्ठाता-अध्यक्ष अपने-अपने पीठ की निर्धारित परिधि में निरन्तर परिभ्रमण करते रहकर शताब्दियों तक ही नहीं अपितु सुदीर्घतर काल तक उनके ब्रह्माद्वैत संज्ञक वैदिक धर्म का प्रचार करते रहें।

इससे इतर किसी भी मान्यता अथवा सिद्धान्त को चाहे वह बौद्ध, जैन, आदि वेदेतर मान्यताएं हों चाहे नैयायिक, सांख्य, मीमांसक आदि द्वैताद्वैत सिद्धान्तों का प्रचार करने वाली वैदिक परम्परा का नाम धराने वाली मान्यताएं हों, उन सभी मान्यताओं में से किसी भी मान्यता को आर्यधरा पर न पनपने दें, यह उनके अद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का मूलमन्त्र था। उन्होंने कहा :—

"ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव, नापरः।"

अर्थात्— केवल ब्रह्म ही सत्य है (१), यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है (२), जीव कोई पृथक्सत्ताक नहीं (३) और जीव ब्रह्म से कदापि, कथमपि, किंचिदपि भिन्न नहीं है (४)।

"तत्त्वमसि"—ओ आत्मन्! हे जीव! तू वही है जो परब्रह्म है, तू ब्रह्म है।

शंकराचार्य द्वारा आर्यधरा की चारों दिशाओं में आज से लगभग ११००, १२०० वर्ष पूर्व स्थापित किये गये वे चारों मठ आज भी विद्यमान हैं एवं शंकराचार्य द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के कार्य में येन-केन-प्रकारेण गतिमान हैं।

वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु वैदिकेतर धर्मों के विरुद्ध अभियान शंकर से वय में लगभग ८० वर्ष बड़े कुमारिल्ल भट्ट ने ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्तिम, दशक अथवा आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण में प्रारम्भ किया।

कुमारिल्ल भट्ट द्वारा की गयी दिग्विजय के कोई विशेष उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं किन्तु जो भी उल्लेख मिलते हैं, उनसे स्पष्टत: यही प्रकट होता है कि कुमारिल्ल के समय में भारत के विभिन्न प्रान्तों में, विशेषत: दक्षिण के कर्णाटक आदि प्रान्तों में जैनधर्म का वर्चस्व था और वहां जैनधर्मावलम्बियों की संख्या बहुत बड़ी थी। वहां जैनधर्म राजमान्य, बहुजन सम्मत और लोकप्रिय धर्म था। अपने द्वैताद्वैत (वेदों के अद्वैत और औपनिषदिक द्वैत) सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में अनेक क्षेत्रों में बहुजन सम्मत और लोकप्रिय जैनधर्म व बौद्धधर्म को मुख्यत: बाधक समझकर अपने समय के अप्रतिम मीमांसकाचार्य कुमारिल्ल भट्ट ने जैनों और बौद्धों के वर्चस्व को समाप्त करने का निश्चय किया।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और उसकी पुन: प्रतिष्ठा के दृढ़ संकल्प के साथ मीमांसक आचार्य सभी वैदिकेतर विद्वानों पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा लिए दिग्विजय के लिए प्रस्थित हुए। शबर स्वामी के मीमांसा भाष्य पर विद्वत्तापूर्ण विशाल वार्तिक की रचना कर भारत के मूर्द्धन्य कहे जाने वाले विद्वन्मण्डल के हृदय पर कुमारिल्ल ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य की अमिट छाप पहले से ही अंकित कर रखी थी। उन्होंने सर्वप्रथम उत्तरी भारत के वैदिकेतर विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर विपुल ख्याति प्राप्त की।

तदनन्तर वे दिग्विजय हेतु दक्षिणापथ की ओर बढ़े। शंकर दिग्विजय में कुमारिल्ल का उल्लेख है कि स्थान-स्थान पर वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए भट्ट कुमारिल्ल कर्णाटक प्रदेश के उज्जैनी नामक नगर में पहुंचे। उस समय कर्णाटक में सुधन्वा नामक महाराजा राज्य करता था। राजा सुधन्वा बड़ा ही न्यायपरायण राजा था। उसकी राजधानी उज्जैनी में थी।[1] शंकर दिग्विजय के उल्लेखानुसार वह राजा सुधन्वा अन्तर्मन से तो वेदों पर आस्था रखने वाला था किन्तु जैनियों के पंजे में पड़ कर वह जैन धर्म में आस्था रखने लगा था। "जिस समय कुमारिल्ल भट्ट दिग्विजय करते हुए कर्णाटक में आये उस समय कर्णाटक में बौद्ध धर्म और जैन धर्म का बड़ा बोलबाला था। ज्ञान का भण्डार वेद कूड़े कर्कट के समान फेंका जाने लगा था और वेदों के रक्षक ब्राह्मणों की निन्दा होने लगी थी।"[2]

---

[1] न तो कर्णाटक से उपलब्ध हुए शिलालेखों में और न ही किसी जैन वांग्मय में अद्यावधि कर्णाटक के उज्जयिनी नामक नगर का उल्लेख है और राजा सुधन्वा का नाम भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। —सम्पादक

[2] "श्री शंकर"—श्री बलदेव उपाध्याय, एम. ए. साहित्याचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५०, पृष्ठ ६१।

कर्णाटक के राजा सुधन्वा की तो जैनधर्म के प्रति श्रद्धा थी किन्तु उसकी रानी वैदिक धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था वाली वैदिक धर्मानुयायिनी थी। वैदिक धर्म की अपने राज्य में इस प्रकार की अवनत दशा देखकर वह बड़ी खिन्न और चिन्तामग्न रहती थी। एक दिन वह राजप्रासाद के अन्तःपुर में एक गवाक्ष में बैठी हुई वैदिक धर्म की ह्रासोन्मुख स्थिति पर चिन्तन कर रही थी। वह परम विदुषी थी। उसके पीड़ित अन्तःकरण से सहसा इस प्रकार के उद्गार उद्गत हो उठे :—

"किं करोमि क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति ?"

अर्थात्—ओह ! अब मैं क्या करूं और कहां जाऊं, इन वेदों का उद्धार कौन करेगा ?

राजप्रासाद के गवाक्ष के पार्श्वस्थ पथ से संयोगवशात् जाते हुए कुमारिल्ल भट्ट के कर्णरन्ध्रों में रानी के ये शोकपूर्ण उद्गार गूंज उठे। उन्होंने महारानी को आश्वस्त करने के उद्देश्य से उच्च स्वर में, उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा :—

"मा विषीद वरारोहे ! भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।"

अर्थात्—हे राजराजेश्वरी ! आप चिन्ता न करें, अभी तक तो इस धरित्री पर मैं भट्टाचार्य विद्यमान हूं। यह कह कर वे राजसभा में गये।

श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ "श्री शंकराचार्य" में आगे लिखा है— "राजा सुधन्वा स्वयं तो परम आस्तिक थे परन्तु जिस कर्णाटक देश के वे अधिपति थे, वहां जैन धर्म का चिरकाल से बोलबाला था। इनके दरबार में भी जैनियों की प्रभुता बनी हुई थी। कुमारिल्ल ने इस विषम परिस्थिति को देखा कि राजा तो स्वयं वेद धर्म में आस्था रखने वाला है परन्तु उसका दरबार वेदविरोधियों का गढ़ बना हुआ है। इसी को लक्ष्य कर कुमारिल्ल ने कहा :—

"मलिनैश्चेन्न संगस्ते, नीचै काककुलै पिक !
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥६५॥"[1]

अर्थात्—हे राजन् ! तुम वस्तुतः कोकिल हो। यदि मलिन, काले, नीच, वेदों और कर्णरन्ध्रों को दूषित करने वाले इन कौओं से तुम्हारा संसर्ग नहीं होता तो निस्संदेह तुम प्रशंसा के पात्र होते।

जैनों ने कुमारिल्ल भट्ट के इस कथन को सीधा अपने ऊपर ही कटुतर कटाक्ष अनुभव किया और वे बड़े रुष्ट हुए। राजा सुधन्वा तो मन ही मन इस

[1] शंकरदिग्विजय, नवकालिदास की उपाधि से भूषित माधव द्वारा रचित सर्ग १, श्लोक सं. ६५।

अवसर की टोह में था कि जैन विद्वानों और वैदिक विद्वानों की परीक्षा ली जाय। उसने जैनों को आश्वस्त करते हुए कहा, "कल इन नवागन्तुक विद्वान् की और आप लोगों की परीक्षा ली जायगी। परीक्षा के अनन्तर ही इस पर आगे विचार किया जायगा।"

दूसरे दिन राजा ने गुप्त रूप से एक विषैले सर्प को घड़े में बन्द करवाकर उस घड़े को एक ओर रख दिया। जब दोनों पक्ष राजसभा में उपस्थित हुए तो राजा सुधन्वा ने घड़ा मंगवा कर उनके समक्ष रखवाते हुए जैनों से और कुमारिल्ल भट्ट से प्रश्न किया कि उस घड़े में क्या है।

जैनों ने इसके लिए समय मांगते हुए राजा से निवेदन किया—"राजन् ! हम इस प्रश्न का उत्तर कल देंगे।" इसके विपरीत कुमारिल्ल ने उसी समय राजा के प्रश्न का उत्तर एक पत्र में लिखा और उसे दूसरे पत्र में लपेट कर तथा सील लगाकर राजा को समर्पित कर दिया।

तदनन्तर दोनों पक्ष अपने-अपने स्थान को लौट गये। जैनों ने रात भर अपने आराध्य देव की आराधना की और प्रातःकाल राजसभा में उपस्थित हो राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन् ! इस घट में सर्प है।"

राजा ने तत्काल कुमारिल्ल भट्ट द्वारा लिखे गये पत्र को खोलकर पढ़ा तो राजा के आश्चर्य का यह देख कर पारावार न रहा कि उसमें भी वही उत्तर लिखा हुआ था।

दोनों पक्षों के समान उत्तर होने के कारण निर्णय हेतु राजा ने दूसरा प्रश्न किया—"आप लोग बताइये कि क्या इस सर्प के किसी अंग विशेष पर कोई चिह्न है कि नहीं ?"

जैनों ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये भी एक दिन की अवधि का समय मांगा। किन्तु कुमारिल्ल भट्ट ने तत्काल ही राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन् ! इस सर्प के सिर पर पैर के दो चिह्न बने हुए हैं।"

घड़े को खुलवाकर देखा गया तो कुमारिल्ल भट्ट का उत्तर अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ, वास्तव में उस सर्प के सिर पर दो पैरों के निशान थे। जैन लोग ऐसे हतप्रभ हुए कि उन्होंने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस ही नहीं किया राजा ने वेदबाह्य जैनों को राजसभा से निकाल कर बाहर किया और अपने राजवंश में वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। इस घटना के पश्चात् तो किसी भी दर्शन के किसी भी विद्वान् ने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं किया और इस प्रकार कुमारिल्ल की विजयपताका सर्वत्र फहराने लगी।[1]

[1] श्री बलदेव उपाध्याय के "श्री शंकराचार्य"—ग्रन्थ के पृष्ठ ६१ एवं ६२ के आधार पर।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा सुधन्वा का और कर्णाटक में उसकी राजधानी उज्जैनी नगरी का जैन वांग्मय में अथवा कर्णाटक के शिलालेखों में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इतना सब कुछ होते हुए भी इस राजा सुधन्वा को केवल काल्पनिक पुरुष नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वयं शंकराचार्य ने इस राजा सुधन्वा के सम्बन्ध में अनेक बार उल्लेख किया है। शंकर दिग्विजय में भी स्पष्ट उल्लेख है कि राजा सुधन्वा अपने सैनिकों के साथ शकराचार्य की दिग्विजय यात्रा में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साथ रहा।

शंकराचार्य के शिष्य माधव ने तो यहां तक उल्लेख किया है कि जब शंकराचार्य के साथ दिग्विजय करते हुए वे लोग कर्णाटक में पहुंचे तो वहां के कापालिकों की सशस्त्र सेना के नायक ऋकच्च ने अपने सैनिकों के साथ शंकराचार्य के शिष्यों पर आक्रमण किया। माधव लिखते हैं कि यदि राजा सुधन्वा अपने अस्त्र-शस्त्रों से उन्हें मार नहीं भगाते तो ऋकच्च और उसकी सेना शंकर के सभी शिष्यों को मौत के घाट उतार देते। राजा सुधन्वा ने बड़ी वीरता के साथ भैरव की सेना को अपने तीरों के तीखे प्रहारों से यमधाम भेज दिया और इस प्रकार राजा सुधन्वा ने शंकर के शिष्यों की प्राणरक्षा की। ऋकच्च इस पराजय से बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसने स्वय भगवान् भैरव का अपनी सहायता के लिये आह्वान किया। माधव आगे लिखते हैं कि भैरव ने प्रकट होते ही अपने परम भक्त ऋकच्च को फटकारते हुए कहा—"तुझे पता नहीं है कि ये भगवान् शंकर के ही अवतार हैं।"[1] शंकर की दिग्विजय यात्रा के विवरण में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस दिग्विजय यात्रा में उनके भक्त शिष्यों की एक विशाल मण्डली के साथ-साथ वैदिक धर्म का परम हितैषी राजा सुधन्वा भी शंकराचार्य के शिष्य मंडल की आकस्मिक आपत्तियों से रक्षा करने के लिये शंकराचार्य की शिष्य मण्डली के प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहा।

स्वयं शंकराचार्य ने महाराजा सुधन्वा का निम्नलिखित रूप में अपने महान् शासन में उल्लेख किया है :—

> सुधन्वन: समौत्सुक्यनिवृत्यै धर्म्महेतवे ।
> देवराजोपचारांश्च यथावदनुपालयेत् ।।१५।।
> सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वरा: ।
> धर्म्मपारम्परीमेतां पालयन्तु निरन्तरम् ।।१७।।[2]

स्वयं शंकराचार्य तथा उनके शिष्यों द्वारा किये गये उपर्युक्त उल्लेखों से यही फलित होता है कि कर्णाटक में सुधन्वा नाम का राजा था जिसे कुमारिल्ल भट्ट ने जैन से वैदिक परम्परा का अनुयायी बनाया।

---

[1] श्री शंकराचार्य पृष्ठ संख्या १०५, १०८

[2] वही महानुशासनम्, पृष्ठ २०६, २१०

सुधन्वा की राज सभा में घटित हुई उपरोक्त घटना से जैन संघ को कोई बहुत बड़ा आघात पहुँचा हो, अथवा इसका जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है क्योंकि कुमारिल्ल भट्ट के समकालीन और उत्तर-वर्त्ती काल में कर्णाटक प्रदेश जैन धर्म का, जैन धर्म के दिगम्बर, यापनीय, श्वेताम्बर, कूर्चक आदि संघों का एक सुदृढ़ गढ़ रहा। इस बात की साक्षी उस काल के शिला-लेख, मठ, मन्दिर, निसद्याएं और श्रमण-श्रमणियों के विहार आदि स्पष्ट रूप से दे रहे हैं। यही नहीं, अपितु जैन धर्म को कर्णाटक के राजाओं का भी पूर्ण-रूपेण प्रश्रय और आश्रय उस काल में बराबर प्राप्त रहा।

राजवंशों द्वारा कुमारिल्ल के उत्तरवर्त्ती काल में भी जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिये जो सेवाएँ की गई उनकी साक्षी भी सैकड़ों शिलालेखों में आज भी हमें देखने और पढ़ने को मिलती है। इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही प्रकट होता है कि कुमारिल्ल भट्ट की दिग्विजय यात्रा का सम्भवतः किसी क्षेत्र विशेष में अल्पकालिक ही प्रभाव हुआ होगा। एकांतद रमैया, बसवा (विश्वेश्वर) और चैन्न बसवा के समय के शैव तथा लिंगायत साहित्य के उल्लेखों से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि लिंगायत सम्प्रदाय और रामानुज सम्प्रदाय के अभ्युदय से पूर्व जैन धर्म कर्णाटक प्रदेश का बहुजन सम्मत और लोकप्रिय धर्म था। इसके अनुयायियों की संख्या भी अपेक्षाकृत सर्वाधिक थी।

इतिहासज्ञों का यह अभिमत है कि जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और उसकी अभिवृद्धि को रोकने में कुमारिल्ल भट्ट का बहुत बड़ा हाथ रहा। इसलिये यहां कुमारिल्ल भट्ट का संक्षेप में परिचय दिया जाना संगत है।

कुमारिल्ल भट्ट की जन्मभूमि के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मत वैभिन्य है। तिब्बत के यशस्वी इतिहासवेत्ता तारानाथ ने कुमारिल्ल भट्ट को दक्षिण भारत के चूड़ामणि राज्यान्तर्गत त्रिमलय नामक स्थान का निवासी बताया है। इसके विपरीत आनन्द गिरी ने शंकर दिग्विजय में इन्हें उद्‌गदेश (उत्तर भारत) निवासी बताते हुए लिखा है कि इन्होंने उद्‌गदेश से आकर दुष्ट मतावलम्बी जैनों तथा बौद्धों को परास्त किया। उनका वह उल्लेख इस प्रकार है:—

"भट्टाचार्यो द्विजवरः कश्चित्, उद्‌ग देशात् समागत्य दुष्ट मतावलंबिनो बौद्धान् जैनान् असंख्यातान् निर्जित्य निर्भयो वर्तते।"

(शंकर विजय, पृष्ठ १८०)

उद्‌गदेश प्रायः पंजाब और काश्मीर को ही समझा जाता है इस पर से यह ध्वनि निकलती है कि कुमारिल्ल भट्ट उत्तर भारत के निवासी थे।

कुमारिल्ल भट्ट से तीन सौ ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुए मीमांसक सालिकनाथ ने कुमारिल्ल भट्ट का नामोल्लेख 'वार्त्तिक कार मिश्र' के रूप में किया है। मिश्र शब्द प्रायः उत्तर भारत के ब्राह्मणों से ही सम्बन्धित है।

मैथिल प्रांत में यह पारम्परिक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि कुमारिल्ल भट्ट मैथिल ब्राह्मण थे। इनके जीवन का कहीं विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। तिब्बत के विद्वान् तारानाथ के उल्लेखानुसार कुमारिल्ल भट्ट बड़े ही समृद्ध एवं सम्पन्न गृहस्थ थे। इसके पास धान के अनेक खेत थे। इनके घर में पांच सौ दास तथा पांच सौ दासियां थीं।

तारानाथ ने विख्यात बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति के साथ कुमारिल्ल भट्ट के शास्त्रार्थ का और शास्त्रार्थ में धर्मकीर्त्ति से हार जाने पर बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने की घटना का विस्तार के साथ उल्लेख करते हुए लिखा है कि धर्मकीर्त्ति ने नालन्दा विश्वविद्यालय में वहां के पीठस्थविर बौद्धाचार्य धर्मपाल के साथ बौद्ध-शास्त्रों का और बौद्धन्याय का गहन अध्ययन किया। बौद्धदर्शन में निष्णातता प्राप्त करने के पश्चात् इनके अन्तर्मन में उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि वे वैदिक दर्शन के गूढ रहस्यों का भी अध्ययन करें।

उस समय कुमारिल्ल भट्ट वैदिक दर्शन के अप्रतिम विद्वान् गिने जाते थे। उनके पास वैदिक दर्शन का अध्ययन करने का उन्होंने निश्चय किया। किन्तु एक वैदिक दर्शन का विद्वान् किसी बौद्ध विद्यार्थी को वैदिक दर्शन का ज्ञान कैसे दे सकता है? यह विचार कर वह एक परिचारक के छद्म वेष में कुमारिल्ल के घर में रहने लगे। वहां उन्होंने बड़ी लगन और तत्परता के साथ गृहकार्य करते हुए गृह-स्वामिनी की कृपा प्राप्त कर ली। कुमारिल्ल भट्ट भी इनकी सेवाओं से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी के आग्रह पर वेदपाठी दूसरे विद्यार्थियों के साथ वैदिक दर्शन शास्त्र का पाठ सुनने की उन्हें अनुमति दे दी। कुशाग्र बुद्धि धर्मकीर्त्ति ने स्वल्प काल में ही वैदिक दर्शन के गूढ़ रहस्यों को हृदयंगम कर लिया और वे वैदिक दर्शन के पारदृश्वा विद्वान् बन गये।

अपनी आकांक्षा के पूर्ण हो जाने पर धर्म कीर्ति ने अपना वास्तविक परिचय देते हुए वैदिक विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी। धर्मकीर्ति ने कणाद् गुप्त नामक एक वैशेषिक आचार्य को और वैदिक दर्शन के कतिपय उच्चकोटि के विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। अन्ततोगत्वा उसने कुमारिल्ल भट्ट को भी शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रित किया। गुरु शिष्य दोनों के बीच बहुत दिनों तक वह शास्त्रार्थ चलता रहा और अन्त में कुमारिल्ल भट्ट ने धर्मकीर्त्ति के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हुए अपने पांच सौ शिष्यों के साथ बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।[1]

यह सब कुछ तारानाथ ने तिब्बतीय जनश्रुति के आधार पर उल्लेख किया है। इसके विपरीत कुमारिल्ल भट्ट ने शंकराचार्य के समक्ष स्पष्ट रूप से कहा था :

---

[1] शंकर दिग्विजय, (माधव कृत) सर्ग ७, श्लोक संख्या ९४ से ९९

"श्रयादिपं वेदविघातदक्षैः तान्नाशकं जेतुमबुध्यमानः ।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन्, निषेध्यबोद्धाद्धि निषेध्यबाधः ।।"
(माधव-लिखित शंकरदिग्विजय ७।९३)

अर्थात्—किसी भी दर्शन का अथवा शास्त्र का तब तक समीचीन रूप से खण्डन नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके गूढ़ रहस्यों का पूर्ण रूपेण ज्ञान नहीं कर लिया जाता। मुझे बौद्ध दर्शन की धज्जियां उड़ानी थीं अतः नम्र होकर मैं बौद्धों के विश्वविद्यालय में उनके सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिये गया। नालन्दा में उन्होंने सम्भवतः धर्मपाल नामक बौद्धाचार्य के पास, जो कि उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे, बौद्ध दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया।

बौद्ध दर्शन में निष्णातता प्राप्त कर चुकने के पश्चात् की घटना का उल्लेख करते हुए कुमारिल्ल भट्ट ने शंकराचार्य से कहा था कि एक दिन धर्मपाल बौद्ध धर्म की व्याख्या अपने शिष्यों के समक्ष कर रहे थे। उस समय उन्होंने प्रसंग आने पर वेदों की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। वेदों की निन्दा सुनकर मेरी आंखों से अश्रुओं की अविरल धारा बहने लगी। मेरे पास बैठे हुए मेरे सहपाठियों ने धर्मपाल का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट किया। धर्मपाल द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर मैंने स्पष्ट रूप से उन्हें कहा कि आप वेदों के गूढ रहस्यों को नहीं समझ पाये हैं इसलिये अपनी इच्छानुसार वेदों की निन्दा कर रहे हैं।

मेरा इतना कहना था कि बौद्ध विद्यार्थियों ने मुझे वैदिक ब्राह्मण समझ कर बौद्ध विहार के उच्चतम शिखर से पृथ्वी पर धकेल दिया। सब ओर से अपने आपको असहाय पाकर मैंने वेदों की शरण ली और उच्च स्वर में कहा :

पतन् पतन् सौधतलान्वरोरुहं, यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति ।
जीवेयमस्मिन् पतितो समस्थले, यदि
मज्जीवने तत् श्रुतिमानता गतिः ।।
(शंकर दिग्विजय ७।९८)

संशयात्मक 'यदि' शब्द के प्रयोग कर देने के परिणामस्वरूप मेरी केवल एक आंख ही फूटी और मैं पूर्ण-रूपेण अक्षत अवस्था में धरातल पर इस प्रकार उतरा मानो पुष्प शय्या पर गिरा होऊं। वेद भगवान् ने मेरी रक्षा की।

तदनन्तर कुमारिल्ल ने बौद्धाचार्य धर्मपाल से पण रखकर शास्त्रार्थ किया। धर्मपाल आचार्य कुमारिल्ल भट्ट से पराजित हुआ और अपनी प्रतिज्ञानुसार भूसे की आग में धर्मपाल ने अपने आपको जला डाला।

जहां तक कुमारिल्ल भट्ट के समय का प्रश्न है इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य के स्थान पर मत-वैभिन्य है। प्रसिद्ध नाटककार भवभूति निस्सन्दिग्ध

रूप से कुमारिल्ल भट्ट के शिष्य थे और भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा की सभा के पण्डित थे। यशो वर्मा का शासनकाल ईस्वी सन् ७२५ से ७५२ तक का सुनिश्चित सा है। कल्हण ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में उल्लेख किया है कि ईस्वी सन् ७३३ में काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने भवभूति को पराजित कर दिया था। कल्हण का वह श्लोक इस प्रकार है :

कविर्वाक्पति राज श्री भवभूत्यादि सेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिं वन्दिताम् ।।
(राजतरंगिणी)

इन दोनों तथ्यों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति का समय ईस्वी सन् ७०० से ७५२ के बीच का था। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए विचार किया जाय तो भवभूति के गुरु कुमारिल्ल भट्ट का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा।

शंकराचार्य ने अपनी सौन्दर्य लहरी में जगदम्बिका की स्तुति करते हुए लिखा है :

तवस्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः,
पयः पारावारः परिवहति सारस्वत इव ।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्,
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता ।।

प्रायः सभी टीकाकारों ने इस द्रविड शिशु तमिलनाड के प्रसिद्ध शैव सन्त एवं शैव क्रान्ति के सूत्रधार ज्ञानसम्बन्धर को ही माना है जिसे भगवती ने स्वयं अपने स्तन का दुग्धपान करवाया और इस दैवी कृपा से वह द्रविड शिशु महान् कवि बन गया।

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि ज्ञानसम्बन्धर महान् कवि थे। तेवारम् में निबद्ध उनकी क्रान्तिकारी कविताएं जन-मन को उद्वेलित कर शैव सम्प्रदाय के प्रति उन्हें हठात् आकृष्ट कर लेती थीं।

ज्ञान सम्बन्धर का समय प्रस्तुत ग्रन्थ के पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है कि ईस्वी सन् ६४० के आस-पास उन्होंने पाण्ड्यराज सुन्दरपाण्ड्य को जैन से शैव धर्म में दीक्षित कर उसकी सहायता से जैनों का संहार और शैव धर्म का उद्धार करवाया। शंकराचार्य के इस उपर्युल्लिखित श्लोक से यह सिद्ध होता है कि शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर शंकराचार्य से पूर्वकाल में हुए थे। शंकराचार्य ज्ञान सम्बन्धर के पश्चाद्वर्त्ती काल के धर्माचार्य थे। इससे यह सिद्ध होता है कि कुमारिल्ल भट्ट,

जो कि शंकराचार्य के समकालीन होते हुए भी शंकराचार्य से लगभग ८०-८५ वर्ष वय की दृष्टि से बड़े थे, का समय ज्ञान सम्बन्धर से पश्चात् का अर्थात् ईसा की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का था।

कुमारिल्ल भट्ट की विद्वत्ता के प्रति अपने आन्तरिक उद्गार प्रकट करते हुए बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'श्री शंकराचार्य' में लिखा है :

"वैदिक धर्म के पुनरुत्थान व पुनः प्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल्ल के चिर ऋणि हैं। बौद्धों का वैदिक कर्मकाण्ड के खण्डन के प्रति महान् अभिनिवेष था। कुमारिल्ल ने इस अभिनिवेष को दूर कर वैदिक कर्मकाण्ड को दृढ़ भित्ति पर स्थापित किया तथा वह परम्परा चलाई जो आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है। सच तो यह है कि इन्होंने ही शंकराचार्य के लिये वैदिक धर्म प्रचार का क्षेत्र तैयार किया। आचार्य शंकर की इस अव्याहत सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आचार्य कुमारिल्ल भट्ट को प्राप्त है।"

आचार्य कुमारिल्ल ने अपने गुरु बौद्धाचार्य को अपमानित कर आत्म दाह के लिये बाध्य किया और जैमिनी के सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये ईश्वर में अखण्ड विश्वास रखते हुए भी जो कर्म को प्रधानता दी इसके प्रायश्चित स्वरूप उन्होंने तुस की भूसी की आग में अन्तिम समय में आत्मदाह कर लिया।

शंकराचार्य

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार एवं अद्वैत (ब्रह्माद्वैत) सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठापना के लिये शंकराचार्य ने अपने जीवन के ३२ वर्ष जैसे स्वल्प काल में विपुल वैदिक साहित्य के निर्माण के साथ-साथ आर्य धरा के दक्षिण सागर से उत्तर में हिमांचल के क्रोड़ में स्थित तिब्बत तथा नैपाल प्रदेश तक और पूर्व सागर से पश्चिम सागर तक जिस आश्चर्यजनक द्रुतगति से घूम-घूम कर न केवल बौद्ध एवं जैन सिद्धान्तों का ही अपितु ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त से भिन्न मीमांसक, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि वैदिक मतों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपने ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का विशाल भारत के कोने-कोने में प्रचार किया, उसे देखते हुए सहज ही प्रत्येक मनीषी यही अनुभव करता है कि शंकराचार्य अपने समय के धर्माचार्यों एवं विद्वानों में वस्तुतः अद्भुत मेधा शक्ति, प्रभावोत्पादक अप्रतिम प्रतिभा, अनुपम कर्मठता और अपराजेय अथवा सर्वजयी वाग्मिता के धनी थे।

शंकराचार्य ने १२ वर्ष की वय में वेद-वेदांगों के तलस्पर्शी ज्ञानार्जन के साथ उसमें पारीणता प्राप्त कर, तथा १६ वर्ष की वय में प्रस्थानत्रयी पर महान् भाष्यों का निर्माण कर आर्य धरा के तत्कालीन मूर्धन्य विद्वानों को चमत्कृत एवं आश्चर्याभिभूत कर दिया।

"तत्त्वमसि"

ओ जीव ! तू वही है, जिसे ब्रह्म कहा गया है, कहा जाता है और कहा जाता रहेगा। और—

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।

उनके ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का यह मूल मंत्र जीवन भर शंकराचार्य के कण्ठस्वर से उद्घोषित एवं उनके रोम-रोम से, देह-यष्टि के अणु-अणु से प्रतिध्वनित होता रहा। उनकी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य आदि सभी कृतियों से, उनके दिग्विजय, मठ-स्थापन आदि सभी कार्यकलापों से "तत्त्वमसि" और "जीवो ब्रह्मैव नापरः" यही ध्वनि गुंजरित होती है। उनकी जीवनचर्या से स्पष्टतः प्रकट होता है कि अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार को उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया था। शंकराचार्य की यह आन्तरिक आकांक्षा थी कि वैदिक सिद्धान्त ब्रह्माद्वैतवाद का आर्यधरा पर वर्चस्व रहे, आकल्पांत ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का ही आर्य धरा पर एकछत्र आधिपत्य रहे।

अपने इस लक्ष्य को, अपनी इस आन्तरिक आकांक्षा की पूर्ति के लिये शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य और उपनिषद् भाष्य, इन तीन महाभाष्यों, चार अन्य भाष्यों, ११ स्तोत्रों और सर्व साधारण को ब्रह्माद्वैत सिद्धान्तों का बोध कराने वाले ३९ प्रकरण ग्रन्थों की रचना की। भाष्यों में उन्होंने जैन बौद्ध मीमांसक आदि प्रायः सभी धर्मों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि की।

अद्वैतवाद की पुष्टि पूर्वक, इससे इतर अन्य सभी धर्मों के सिद्धान्तों व मान्यताओं के खण्डन के साथ वैदिक धर्म की प्रतिष्ठापना एवं इसके प्रचार-प्रसार के लिये विशाल भारत की दिग्विजय यात्रा करने का शंकर ने निश्चय किया।

आचार्य शंकर ने सबसे पहले और सबसे पहला शास्त्रार्थ मण्डन मिश्र के साथ किया। इससे पूर्व कि मण्डन मिश्र के साथ शंकराचार्य के शास्त्रार्थ का विवरण प्रस्तुत किया जाय, यहां यह बताना आवश्यक है कि सर्वप्रथम वे मण्डन मिश्र के पास ही शास्त्रार्थ के लिये क्यों गये।

ब्रह्म सूत्र भाष्य का निर्माण करने पर शंकराचार्य ने सोचा कि यदि कोई उच्च कोटि का विद्वान् इस महाभाष्य पर वार्त्तिक की रचना कर दे तो अत्युत्तम रहेगा। उन्होंने कुमारिल्ल भट्ट की प्रशंसा सुनी कि वार्त्तिक लिखने की कला में वे अति निपुण हैं। कुमारिल्ल ने सावर भाष्य पर श्लोकवार्त्तिक और तन्त्रवार्त्तिक ये दो भाष्य लिखकर भारत की सम्पूर्ण विद्वान्मण्डली पर पूरी-पूरी धाक जमा ली थी। शंकराचार्य के मन में कुमारिल्ल के वार्त्तिक कार के रूप में उत्कृष्ट अनुभव और उनके प्रकांड पांडित्य का लाभ उठाने की उत्कट उत्सुकता जागृत हुई। वे अपने शिष्यों सहित त्रिवेणी के तट पर पहुंचे। जब उन्हें यह विदित हुआ कि कुमारिल्ल भट्ट तुषानल में अपना शरीर जला रहे हैं, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे तत्काल कुमारिल्ल के पास गये और उन्होंने देखा कि वस्तुतः उनके शरीर का नीचे का भाग तुषानल में जल रहा है। शंकराचार्य ने देखा कि उनके मुख मण्डल पर अलौकिक आभा और निस्सीम शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। कुमारिल्ल भट्ट ने शंकराचार्य की दिग्दिगन्त व्यापिनी कीर्त्ति को पहले ही सुन रक्खा था। सहसा शंकर को अपने सम्मुख देखकर उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। अपने शिष्यों से कुमारिल्ल ने शंकर की पूजा करवाई। शंकर ने अपना भाष्य कुमारिल्ल को दिखाया। भाष्य को देखकर कुमारिल्ल ने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—"मैं तुषानल में जलने की दीक्षा ग्रहण कर चुका हूं। अन्यथा मैं इस पर वार्त्तिक की अवश्यमेव रचना करता।" शंकर दिग्विजय में कुमारिल्ल के इस कथन का निम्नलिखित रूप में उल्लेख है :—

अष्टौ सहस्राणि विभान्ति विद्वन् !
सद्वार्तिकानां प्रथमेऽत्र भाष्ये ।
अहं यदि स्यामगृहीतदीक्षो,
ध्रुवं विधास्ये सुनिबन्धमस्य ॥

(शंकर दिग्विजय ७ । ८३)

शंकराचार्य ने इस प्रकार तुषानल में जलने का कारण पूछा तो कुमारिल्ल ने कहा :-"मैंने दो बड़े पाप किये हैं। एक तो अपने बौद्ध गुरु धर्मपाल का तिरस्कार अथवा शास्त्रार्थ के पण के अनुसार उसके अग्नि में जल मरने का कारण बना, दूसरा पाप मैंने यह किया कि जैमिनीय के मत की रक्षा के लिए मैंने स्थान-स्थान पर ईश्वर का खण्डन किया। ईश्वर में मेरी पूर्ण आस्था है। वस्तुतः मीमांसा का एक मात्र उद्देश्य है कर्म की प्रधानता दिखलाना। इसी उद्देश्य से मैंने जगत् के कर्त्ता और कर्म फल के दाता के रूप वाले ईश्वर का खण्डन किया है। कुछ भी हो, इन्हीं दोनों अपराधों के प्रायश्चितस्वरूप मैंने यह तुषानल में दाह की प्रतिज्ञा की है। मेरे भाव वस्तुतः दोषहीन थे किन्तु लोक शिक्षण के लिये ही मैं इस प्रकार का प्रायश्चित स्वेच्छा से ग्रहण कर रहा हूं। आप मेरे पट्ट शिष्य मण्डन मिश्र को वेदान्त के अपने अद्वैत मत में दीक्षित कर लीजिये। वह आपके अद्वैत की वैजयन्ती भारत के क्षितिज में अवश्यमेव फहरावेगा। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।"

शंकर ने उसी समय कुमारिल्ल से विदा ले मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। वे मण्डन मिश्र के भव्य भवन पर पहुंचे।

मण्डन मिश्र वस्तुतः तत्कालीन भारत के विद्वानों में उच्चकोटि का विद्वान् और अद्वैत से भिन्न सभी मतावलम्बियों का वह अग्रणी था। शंकराचार्य ने यह अनुभव किया कि मण्डन मिश्र को पराजित करना भारत की समस्त विद्वन्मण्डली को परास्त करने के तुल्य होगा। शास्त्रार्थ के माध्यम से इस प्रकार का विद्वान् शिष्य प्राप्त हो-जाय तो अद्वैत के प्रचार-प्रसार में भी उससे बड़ी सहायता मिलेगी। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया।

शास्त्रार्थ में जय-पराजय का निर्णय देने के लिये मण्डन मिश्र की परम विदुषी धर्मपत्नी भारती को मध्यस्थ बनाया गया। शंकर ने अपना पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा :—

ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलम् विश्वप्रपञ्चात्मना,
शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतम् भासते।

तज्ज्ञानान्निखिल प्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापरं,
निर्वाणं जनिमुक्तमभ्युपगतं मानं श्रुतेर्मस्तकम् ।।
बाढं जये यदि पराजयभागहं स्यां,
संन्यासभंग परिहृत्य कषाय चैलम् ।
शुक्लं वसीय वसनं द्वयभारतीयम्,
वादे जयाजयफल प्रतिदीपिकास्तु ।।

(माधव शंकर दिग्विजय ८।६१-६२)

अर्थात् इस जगत में ब्रह्म एक सत् चित् निर्मल तथा शाश्वत सत्य स्वरूप है। वह इस संसार के रूप से उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार कि सीप चांदी का रूप धारण करके उद्भासित होती है। सीप में चांदी के आभास की तरह यह संसार भी वस्तुतः एकांततः मिथ्या है। उस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर उस मिथ्या प्रपंच का कोहरा नष्ट हो जाता है और जीव बाह्य पदार्थों से निकल कर अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। और इस प्रकार विशुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन होते ही जीव सदा सर्वदा के लिये जन्म जरा मृत्यु से मुक्त हो जाता है। यही मेरा सिद्धांत है। इसमें स्वयं उपनिषद् ही प्रमाण है।

इस प्रकार अपने पूर्व पक्ष को रखते हुए शंकराचार्य ने घोषणा की कि "यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है कि यदि मैं शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र से पराजित हो जाऊंगा तो अपने इन काषाय वस्त्रों को फेंककर गृहस्थ के धारण करने योग्य श्वेत वस्त्रों को धारण कर लूंगा।"

शंकराचार्य की प्रतिज्ञा को सुनने के पश्चात् मण्डन मिश्र ने भी अपने मीमांसक दर्शन का प्रतिपादन करने वाली प्रतिज्ञा इस रूप में की :—

वेदान्ता न प्रमाणं चिति वपुषि पदे पत्र संगत्ययोगात्,
पूर्वो भागः प्रमाणं पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेषे ।
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां,
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामाऽऽयुषः स्यात् समाप्तेः ।।

(शंकर दिग्विजय, ८/६४)

अर्थात् वेद का कर्मकांड भाग ही प्रमाण है। उपनिषदों को मैं प्रमाण की कोटि में नहीं मानता क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करके सिद्ध वस्तु का वर्णन करता है। वेद का तात्पर्य है—विधि का प्रतिपादन करना। किन्तु विधि का प्रतिपादन न करके विधि का समीचीन रूप से वर्णन न करके ब्रह्म के स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है। शब्दों की शक्ति कार्य मात्र के प्रकट करने में है। वस्तुतः दुःखों से मुक्ति तो कर्म के द्वारा ही होती है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु को जीवन

पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान करते रहना चाहिये क्योंकि केवल कहने मात्र से अथवा जान लेने मात्र से तब तक मुक्ति नहीं होने वाली है जब तक कि कथनी के अनुरूप ही और ज्ञान के अनुरूप ही करणी न की जाय। कार्य न किया जाय। कर्म में प्रवृत्ति न की जाय।

मण्डन मिश्र ने घनरव गम्भीर स्वर में प्रतिज्ञा की—"यह मेरी प्रतिज्ञा है कि यदि मैं इस शास्त्रार्थ में पराजित हो गया तो मैं गृहस्थ धर्म को छोड़कर सन्यास धर्म ग्रहण कर लूंगा।"

बड़ा अद्भुत और अभूतपूर्व वह शास्त्रार्थ था इन दोनों मूर्धन्य विद्वानों का।

मण्डन मिश्र ने औपनिषदिक द्वैतवाद की पुष्टि में अनेक युक्तियां प्रयुक्तियां प्रस्तुत कीं क्योंकि वे मीमांसक अनुयायी होने के कारण द्वैतवादी थे। वेदांती होने के कारण शंकराचार्य अद्वैत के पक्षधर थे अतः उन्होंने तत् त्वमसि के मूल मन्त्र के माध्यम से ब्रह्म और जीव को सर्वथा अभिन्न सिद्ध करने के लिये दोनों की अद्वैतता की पुष्टि करते हुए अनेक प्रकार की युक्तियां-प्रयुक्तियां प्रस्तुत कीं। दोनों विद्वान् परस्पर एक दूसरे की युक्ति-प्रयुक्तियों को बड़े कौशल के साथ निरस्त करते रहे। मण्डन ने कहा :—"जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म है सर्वज्ञ सर्वदर्शी। यह तो संसार में प्रत्येक को प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में अल्पज्ञ की और सर्वज्ञ की एकता मानना प्रत्यक्ष प्रमाण से भी और अनुमान प्रमाण से भी सर्वथा अनुचित ही सिद्ध होता है।"

शंकराचार्य ने इस युक्ति को निरस्त करते हुए कहा :—"बस, इसी सिद्धांत में त्रुटि है आपकी, क्योंकि प्रत्यक्ष और श्रुति में कभी कोई विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तुतः अविद्या से युक्त जीव में और माया से युक्त ईश्वर में भेद बतलाता है। श्रुति अविद्या और माया दोनों से रहित शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा और ब्रह्म में अभेद दिखलाती है।" इसे और स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने कहा :—"इस प्रकार प्रत्यक्ष का आश्रय कलुषित जीव और ईश्वर है और श्रुति का आश्रय विशुद्ध आत्मा और ब्रह्म है। विरोध वहां होता है जहां कि एक आश्रय हो। भिन्न आश्रय होने के कारण यहां किसी प्रकार का विरोध परिलक्षित नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण से अभेद श्रुति का किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण उस श्रुति का किसी भी दशा में तिरस्कार नहीं किया जा सकता।"

मण्डन मिश्र ने ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को शंकराचार्य के समक्ष प्रस्तुत किया :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्यो अभिचाकशीति ।।

और कहा :—"यह मन्त्र पूर्णतः स्पष्ट रूपेण जीव और ईश्वर के भेद को प्रकट कर रहा है। इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि जीव कर्म फल का भोक्ता है और इसके विपरीत ईश्वर कर्म फल से किंचित्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता।"

शंकर ने कहा :—"यह भेद प्रतिपादन नितांत निष्फल है। इस ज्ञान से न तो स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न अपवर्ग की ही। श्रुति में वस्तुतः बुद्धि और पुरुष का भेद प्रदर्शित किया गया है, ईश्वर और जीव का नहीं। हां, श्रुति तो यही कहती है कि कर्म के फल को भोगने वाली वस्तुतः बुद्धि ही है। पुरुष उस बुद्धि से नितांत भिन्न है। इसीलिये उसे सुख-दुःख भोगने का फलाफल कदापि नहीं मिल सकता।"

मण्डन मिश्र ने कहा :—"मैं आप द्वारा कहे गये इस अर्थ का विरोध करता हूं। क्योंकि बुद्धि तो जड़ है और भोक्ता जीव चैतन्य है, जड़ पदार्थ नहीं। इस प्रकार की स्थिति में यदि कोई मन्त्र (श्रुति वाक्य) बुद्धि जैसे जड़ पदार्थ को भोक्ता बतलाता है तो इसे कोई भी बुद्धिमान् कदापि स्वीकार नहीं करेगा। आप फिर सोचिए कि उक्त श्रुति का अभिप्राय वस्तुतः जीव और ईश्वर के भेद को प्रकट करना ही है।"

शंकराचार्य ने ब्राह्मण ग्रन्थ के पैंगी रहस्य के निम्नलिखित वाक्य को उद्धृत किया :—

तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्ति इति सत्वं अनश्नन्नन्यो
अभिचाकशीति इति अनश्नन् अन्यः अभिपश्यति
ज्ञस्तावेतौ तत्व क्षेत्रज्ञौ इति।
तदेतत्सत्वं येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीरं
उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ
(पैंगी रहस्य ब्राह्मण)

और कहा :— "इस ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिखा है कि बुद्धि (सत्व) कर्म फल को भोगती है और जीव केवल साक्षी मात्र रहता है। इससे बुद्धि और जीव की भिन्नता स्पष्ट है। तत्व दर्शन का कर्त्ता नहीं बल्कि करण है। इस तरह इस पद का अर्थ जीव न होकर बुद्धि ही है। और क्षेत्रज्ञ के साथ 'शरीर' विशेषण होने के कारण इस पद का अर्थ जीव है जो कि क्षेत्र में अर्थात् शरीर में रहता है, न कि ईश्वर।"

मण्डन मिश्र ने कण्ठोपनिषद् के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करते हुए यह कहा :–"कण्ठोपनिषद् की इस प्रसिद्ध श्रुति पर विचार कीजिये। जो जीव और ईश्वर में ठीक उसी प्रकार का भेद स्वीकार कर रही है जिस प्रकार का कि भेद छाया और धूप में है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।"
(कण्ठोपनिषद् १ । ३ । १)

शंकराचार्य ने कहा—"यह तो लोकसिद्ध भेद का प्रतिपादन मात्र है। जो लोक में सिद्ध नहीं दृष्टिगोचर होता श्रुति अभेद प्रतिपादक उसी नवीन अर्थ को प्रकट करती है। भेद तो जगत में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। अतः उसे सिद्ध करने का प्रयास श्रुति कदापि नहीं कर सकती। क्योंकि श्रुति तो सदा अपूर्व वस्तु के वर्णन में ही निरत रहती है। इस दृष्टि से यह अपूर्व वस्तु अभेद का प्रतिपादन है, न कि भेद का। श्रुतियों के बलाबल के विषय में आपने भलीभांति विचार नहीं किया है। उनकी प्रबलता के विषय में यह सिद्धान्त है कि यदि कोई श्रुति दूसरे प्रमाणों से पुष्ट की जाती है तो वह प्रबल नहीं मानी जा सकती। प्रबल श्रुति तो वह है जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि के द्वारा न प्रकट किये गये अर्थ को प्रकट करे। पदार्थों की परस्पर विभिन्नता जिसे आप अनेक युक्तियां देकर सिद्ध करना चाहते हैं वह विभिन्नता तो विश्व में सर्वत्र प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होती है। अतः उसको प्रतिपादन करने वाली श्रुति दुर्बल होगी। अभेद तो जगत् में कहीं दिखाई नहीं देता। अतः उसको वर्णन करने वाली श्रुति ही पूर्व की अपेक्षा प्रबलतम होगी। बलाबल की इस कसौटी पर श्रुति की उक्ति को कसने पर "तत् त्वमसि" का अभेद प्रतिपादन ही श्रुति का प्रतिपाद्य विषय प्रतीत होता है। अतः उपरिलिखित वाक्य का अर्थ जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने वाला है, जिसका विरोध न तो प्रत्यक्ष से है, न अनुमान से है और न श्रुति से ही है।"

शंकराचार्य की इस युक्ति को सुनते ही मण्डन मिश्र निरुत्तर हो गये। उनके गले की माला मलिन पड़ गयी। शास्त्रार्थ को देखने के लिये विशाल संख्या में उपस्थित हुआ विद्वद् समाज आश्चर्याभिभूत हो अवाक् रह गया। भारती ने शंकर को विजयी और अपने पति मण्डन मिश्र को पराजित घोषित किया।

उस समय के भारत के सबसे उच्च कोटि के विद्वान् मण्डन मिश्र को पराजित कर देने से भारत भर के विद्वानों पर शंकराचार्य के अजेय पांडित्य की धाक सी जम गई।

भारती ने शंकर से कहा:—"विद्वन्! आपने शास्त्रार्थ में अभी तक मेरे पति को ही जीता है, मुझे नहीं, आपकी यह विजय पूरी तभी मानी जायगी जब कि आप

मुझे वाद में परास्त कर देंगे। अभी आपकी यह विजय अधूरी ही है। क्योंकि नारी अपने नर की अर्द्धांगिनी होती है।"

शंकर ने उसकी उक्ति को स्वीकार करते हुए भारती के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया। बहुत दिनों तक वह शास्त्रार्थ चलता रहा। जय पराजय का निर्णय न होते देख भारती ने कामशास्त्र से सम्बन्धित एक साथ अनेक प्रश्न शंकराचार्य से पूछे कि—

कला कियन्त्यो वद पुष्पधन्वनः,
किमात्मिकाः किं च पदं समाश्रिताः।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः,
कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे ॥

(शंकर दिग्विजय ६।६६)

अर्थात् काम की कितनी कलाएं होती हैं? उनका स्वरूप क्या है? वे कलाएं किस स्थान पर रहती हैं? शुक्ल एवं कृष्ण पक्षों में इनकी स्थिति समान ही रहती है अथवा भिन्न-भिन्न? पुरुषों में तथा युवतियों में इन कलाओं का निवास किस प्रकार होता है?

इस प्रश्न को सुनकर शंकर कुछ क्षण अवाक् रहे। उन्होंने अनुभव किया कि उनके समक्ष धर्म संकट आ उपस्थित हुआ है। प्रश्न का उत्तर न देने पर सर्वत्र उनकी अल्पज्ञता ही सिद्ध होगी। अपने सन्यास धर्म की रक्षा करते हुए इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाना कैसे सम्भव हो सकता है। इस प्रकार विचार मग्न रहने के पश्चात् शंकर ने भारती से इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए एक मास की अवधि चाही।

भारती ने यह विचार करके कि एक माह में इनके एतद् विषयक ज्ञान में क्या परिवर्तन आने वाला है, उनको एक मास की अवधि प्रदान की।

शंकर दिग्विजय आदि अनेक ग्रन्थों में उल्लेख है कि काम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिये शंकराचार्य ने अमरूक नामक किसी राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया और वहां रहकर उन्होंने कामशास्त्र में भी निष्णातता प्राप्त कर ली।[1]

---

[1] नास्मिन् शरीरे कृतकिल्विषोऽहं जन्मप्रभृत्यम्ब न संदिहेऽहम्।
व्यधायि देहान्तरसंश्रयाद्यन्नतेन लिप्येत हि कर्मणाऽन्यः ॥
(शंकर दिग्विजय १६/८६)

जब शंकर अपनी प्रतिज्ञानुसार शास्त्रार्थ के लिये भारती के पास पहुंचे तो भारती ने समझ लिया कि शंकर ने काम शास्त्र में भी निष्णातता प्राप्त कर ली है। शंकराचार्य द्वारा दिये गये अपने प्रश्नों के उत्तर सुनकर भारती निरुत्तर हो गई।

अपनी प्रतिज्ञानुसार मण्डन मिश्र ने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर शंकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करते हुए सन्यास ग्रहण किया। सन्यास ग्रहण करने के अनन्तर मण्डन मिश्र का नाम शंकराचार्य ने सूरेश्वर रक्खा।

मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ का थोड़े विस्तार के साथ यह जो विवरण दिया गया है वह यह बताने के लिये दिया गया है कि शंकराचार्य ने अद्वैत मत का एकच्छत्र साम्राज्य आर्यधरा पर प्रतिष्ठापित करने के लिये वैदिक धर्म के अनुयायी मीमांसक विद्वान् मण्डन मिश्र तक को शास्त्रार्थ में पराजित करने का दृढ़ निश्चय किया क्योंकि वे वैदिक धर्म के अनुयायी होते हुए भी श्रुतियों (उपनिषदों आदि) को प्रामाणिक नहीं मानते थे। इस प्रकार की स्थिति में जैनों और बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करने और इनके सिद्धान्तों का खण्डन करने में किसी प्रकार की कोर-कसर क्यों रखते।

इस प्रकार विभिन्न धर्मों के सुदृढ़ गढ़ तुल्य केन्द्र समझे जाने वाले ४२ नगरों अथवा स्थानों पर शंकराचार्य ने अन्य दर्शनों के आचार्यों एवं विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किये।

शंकराचार्य के शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा लिखित शंकर दिग्विजय के विवरणों के उल्लेखानुसार शंकराचार्य ने उन शास्त्रार्थों में सभी धर्मों के विद्वानों को पराजित किया। उन पराजित विद्वानों में से अधिकांश को अद्वैतवादी वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया।

वैदिक अद्वैतवाद के प्रति शंकराचार्य की ऐसी प्रगाढ़ आस्था थी कि उससे किंचित्मात्र भी भिन्न मान्यता वाले किसी भी वैष्णव, शैव अथवा वैदिक सम्प्रदाय को अपनी दिग्विजय यात्रा के अद्वैत मत मण्डनात्मक एवं अद्वैतेतर मत खण्डनात्मक शास्त्रार्थों में अछूता नहीं छोड़ा। शंकर दिग्विजय में स्पष्ट उल्लेख है कि अनन्तशयन नामक स्थान उस समय वैष्णवों के भक्त, भागवत, वैष्णव, पांचरात्र, वैखानस और कर्महीन (नैष्कर्म्य) की इन छः सम्प्रदायों का एक सुदृढ़ गढ़ तुल्य केन्द्रस्थल था। उस अनन्तशयन नामक स्थान पर शंकराचार्य ने अपनी शिष्य मण्डली और अपने परम भक्त महाराजा सुधन्वा के दलबल के साथ एक मास तक निवास किया। शंकराचार्य ने उन सम्प्रदायों के आचार्य एवं विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया। शंकराचार्य की अकाट्य युक्तियों से प्रभावित एवं सन्तुष्ट होकर उन वैष्णव सम्प्रदाय के नायकों एवं अनुयायियों ने भी शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवादी वैदिक धर्म को अंगीकार कर लिया।

इसी प्रकार प्रयाग में भी माधव सोमवादियों, वैशेषिकों, शून्यवादि नगर मतानुयायियों तथा गणपति एवं भानु आदि के उपासकों के साथ शंकराचार्य शास्त्रार्थ का और शंकराचार्य द्वारा उनके पराजित किये जाने का माधव ने शंक विजय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इन सारे दिग्विजय के विवरणों में केवल एक उज्जैनी के विवरण व छोड़कर नामोल्लेखपूर्वक जैनों और बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ का और उन शास्त्रार्थ में शंकर द्वारा उनके पराजित कर दिये जाने का कोई उल्लेख कहीं दृष्टिगोच नहीं होता।

उज्जैनी में शंकराचार्य द्वारा उन्मत्त भैरव नामक शूद्र जाति के कापालिकों चार्वाकों, जैनों एवं बौद्ध मतानुयायियों को पराजित किये जाने का उल्लेख आनन्द गिरि ने किया है। शंकर दिग्विजय के विवरणों में जैनों और बौद्धों के सा शास्त्रार्थ करने अथवा शंकर द्वारा उन्हें पराजित किये जाने का अन्य कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

शंकराचार्य का समय

शंकराचार्य के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर बड़ा मतभेद है। किन्तु अद्ययुगीन विद्वानों ने एक प्रकार से अन्तिम रूप से शंकराचार्य का समय विक्रम सम्वत् ८४५ से ८७७ तदनुसार ईस्वी सन् ७८८ से ८२० तक का माना है। इसकी पुष्टि कृष्ण ब्रह्मानन्द द्वारा रचित "शंकर विजय" के निम्नलिखित उल्लेख से भी होती है :—

> निधि नागेभ वह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः,
> कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दु शतसप्तके। (शक संवत् ७१०)
> कल्यब्दे भूद्वयांकाग्नि सम्मिते शंकरो गुरुः, (ईस्वी सन् ७८८)
> शालिवाह शके त्वक्षिसिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात्। (शक सं. ७४२)
> (ईस्वी सन् ८२०)

दूसरा प्रमाण, ज्ञान सम्बन्धर का शंकर ने सौन्दर्य लहरी में उल्लेख किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है ज्ञान सम्बन्धर ईस्वी सन् ६४० के लगभग विद्यमान था। उसने सुन्दर पाण्ड्य को जैन से शैव बनाकर शैवों का प्रचार और जैनों का संहार करवाया था। इससे यह सिद्ध होता है कि शंकराचार्य शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर के पश्चाद्वर्त्ती होने के कारण ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हो सकते।

इसके अतिरिक्त कुमारिल्ल भट्ट के समय का निर्णय करते समय यह सप्रमाण बताया जा चुका है कि कुमारिल्ल भट्ट का समय ईसा की सातवीं शताब्दी

का उत्तरार्द्ध रहा होगा। शंकराचार्य जिस समय १६ वर्ष की वय के थे उस समय कुमारिल्ल के साथ उनका साक्षात्कार उस समय हुआ जबकि वे तुषानल में अपने आपको जला रहे थे। इससे अनुमान किया जाता है कि कुमारिल्ल शंकराचार्य से वय में लगभग ८० वर्ष बड़े होंगे। इससे भी शंकराचार्य का समय लगभग वही ७८८ से ८२० ईस्वी सन् का आता है। शंकराचार्य की पूर्णायु के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक से निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकाश पड़ता है :—

अष्ट वर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्व शास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्।।

शंकर दिग्विजय और उपरि वर्णित शंकराचार्य के जीवन वृत्त से यह तो सिद्ध होता है कि उन्होंने ब्रह्माद्वैतवादियों के मण्डन के साथ-साथ अन्य सभी मतों का चाहे वे वैदिक परम्परा के हों, वैष्णव परम्परा के हों, सांख्य, बौद्ध, जैनादि परम्पराओं के हों, उसका अपने जीवन काल में बड़े ही सयौक्तिक ढंग से खण्डन किया। अद्वैतवाद के अतिरिक्त और कोई भी मत इस आर्यधरा पर न पनप सके इस उद्देश्य से शंकराचार्य ने चिरकाल तक प्रभावशील योजना भारत की चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना के माध्यम से की।

जैसा कि किंवदन्तियों में बौद्धों के संहार और जैनों पर अत्याचार की लोक कथाएं प्रसिद्ध हैं ऐसा शंकर के दिग्विजय के विवरणों से कोई आभास नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब लेखनी का, युक्तियों का और शास्त्रार्थों का युग था। शैवों और लिंगायतों के धर्मोन्माद में जिस प्रकार प्रतिपक्षी धर्मावलम्बियों का रुधिर बहाया गया उस प्रकार की एक भी घटना कुमारिल्ल भट्ट द्वारा प्रारम्भ किये गये और शंकराचार्य द्वारा अग्रेतर विकसित किये गये वैदिक धर्म के पुनर्संस्थापनार्थ किये गये शास्त्रार्थों में अथवा समग्र धार्मिक अभियानों में :
न घटी होगी ऐसा हमारा विश्वास है। फिर भी इस किंवदन्तो की ऐतिहासिकता की खोज के किये अग्रेत्तर शोध की आवश्यकता है।

कर्णाटक प्रदेश का सुधन्वा नामक राजा दलबल सहित शंकराचार्य के दिग्विजय अभियान में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साथ था। इससे भी यह अनुमान किया जाता है कि श्री शैलम् के कापालिक क्रकच्च को छोड़ किसी भी अन्य मतावलम्वी ने शंकराचार्य के शिष्य मण्डल के विरुद्ध बल प्रयोग का साहस तक नहीं किया होगा।

शंकराचार्य के इस दिग्विजय अभियान से तत्काल जैनों पर किसी प्रकार का कुप्रभाव पड़ा हो या उससे जैन संघ को कोई बड़ी हानि पहुँची हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार कर्णाटक के जैन राजा सुधन्वा को कुमारिल्ल भट्ट द्वारा जैन से वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया गया, वहुत सम्भव है शंकराचार्य ने

भी अपनी दिग्विजय यात्रा में दक्षिण के अथवा विभिन्न प्रदेशों के जैन राजाओं को वैदिक मत का अनुयायी बनाया हो। इस अभियान से जैन संघ पर यदि कोई घातक प्रहार हुआ होता तो शंकराचार्य से उत्तरवर्ती काल में भी राष्ट्रकूट, गंग, होय्सल, कदम्ब आदि राजाओं द्वारा जैनधर्म के अभ्युत्थान के लिए किये गये कार्यों का विवरण आज जो शिलालेखों में उपलब्ध होता है वह नहीं होता।

एक बहुत ही महत्वपूर्ण उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कुमारिल्ल भट्ट और शंकराचार्य द्वारा सभी दर्शनों के विरुद्ध जो धार्मिक अभियान चलाया गया उससे बौद्ध धर्म आर्यधरा से पूर्ण रूप से ही तिरोहित हो गया। किन्तु जैन धर्म की नींव विश्व कल्याणकारी ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित थी कि बौद्धों के समान ही अथवा बौद्धों से भी अधिक कुमारिल्ल भट्ट एवं शंकराचार्य द्वारा जैनों के विरुद्ध किये गये प्रचार के उपरान्त भी जैनधर्म आर्यधरा के जीवित और सम्मानित धर्म के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रहा।

श्रमण भगवान् महावीर के ३९वें पट्टधर आचार्य श्री किशन ऋषि

जन्म	—	वीर नि. सं. १२०८
दीक्षा	—	,, ,, १२३२
आचार्य पद	—	,, ,, १२६३
स्वर्गारोहण	—	,, ,, १२८४
गृहवास पर्याय	—	२४ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	—	३१ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२१ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	५२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	७६ वर्ष

चतुर्विध तीर्थ के प्रवर्तक अन्तिम तीर्थङ्कर शासनेश भगवान् महावीर के ३८वें पट्टधर आचार्य श्री भीमऋषि के स्वर्गगमन के अनन्तर प्रभु के ३९वें पट्टधर के रूप में मुनिश्रेष्ठ श्री किशन ऋषि को चतुर्विध तीर्थ ने वीर नि. सं. १२६३ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। अपने २१ वर्ष के आचार्य काल में आपने चतुर्विध तीर्थ को अध्यात्म साधना में अग्रसर करते रहकर जिनशासन की महती सेवा की।

आपके आचार्य काल में वि. सं. ८०२ तदनुसार वीर नि. सं. १२७२ में चैत्यवासी परम्परा के महाप्रभावशाली आचार्य शीलगुण सूरि ने जो कि गुजरात के शक्तिशाली राजा वनराज चावड़ा के धर्म गुरु थे, अपने परम भक्त राजा वनराज चावड़ा को कहकर इस प्रकार को राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि जिससे चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियों को छोड़ शेष किसी अन्य परम्परा के साधु-साध्वी पाटण राज्य में विचरण करना तो दूर, उसकी सीमाओं में प्रवेश तक न कर पाये।

श्रमण भगवान् महावीर के ४०वें पट्टधर आचार्य श्री राजऋषि

जन्म	—	वीर नि. सं. १२४२
दीक्षा	—	,, ,, १२६१
आचार्य पद	—	,, ,, १२८४
स्वर्गारोहण	—	,, ,, १२९९
गृहवास पर्याय	—	१९ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	१५ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	३८ वर्ष
पूर्ण आयु	—	५७ वर्ष

भगवान् महावीर के ३९वें पट्टधर आचार्य श्री किशन ऋषि के दिवंगत हो जाने के पश्चात् वीर नि. सं. १२८४ में चतुर्विध संघ ने श्री राज ऋषि को श्री वीर प्रभु के ४०वें पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर आसीन किया।

३३वें युगप्रधानाचार्य श्री सम्भूति

जन्म	—	वीर नि. सं. १२२१
दीक्षा	—	,, ,, १२३१
सामान्य व्रतपर्याय	—	,, ,, १२३१-१२५०
युगप्रधानाचार्यकाल	—	,, ,, १२५०-१३००
स्वर्ग	—	,, ,, १३००
सर्वायु	—	७८ वर्ष, २ मास और २ दिन

आर्य पुष्यमित्र के पश्चात् ३३वें युगप्रधानाचार्य आर्य संभूति हुए।

आर्य संभूति का जन्म वीर नि. सं. १२२१ में हुआ। आपने वीर नि. सं. १२३१ में १० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। वीर नि. सं. १२५० में युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के स्वर्गगमन के पश्चात् चतुर्विध संघ द्वारा आगम निष्णात आर्य संभूति को युगप्रधानाचार्य पद प्रदान किया गया। ५० वर्ष के अपने युगप्रधानाचार्य काल में आर्य संभूति ने जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा करते हुए स्वयं का तथा अनेक भव्यात्माओं का कल्याण किया। वीर नि. सं. १३०० में समाधिपूर्वक ७८ वर्ष, २ मास और २ दिन की आयु पूर्ण कर आर्य संभूति स्वर्गस्थ हुए।

"सिरि दुष्षमाकाल समण संघ थयं" 'युगप्रधानाचार्य पट्टावली' एवं युगप्रधानाचार्य परम्परा से सम्बन्धित जो सामग्री कतिपय वर्ष पूर्व तक प्रकाश में आई है, इन सब में तेतीसवें युगप्रधानाचार्य के रूप में आचार्य संभूति के नाम का उल्लेख है। परन्तु "तित्थोगाली पइन्नय" जो युगप्रधानाचार्य परम्परा के सम्बन्ध में अद्यावधि पर्यन्त उपलब्ध सामग्री में सर्वाधिक प्राचीन है, उसमें उल्लिखित तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर ऐसा संदेह होता है कि युगप्रधानाचार्य श्री संभूति और माढ़र संभूति के पूर्वापर क्रम के सम्बन्ध में दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तवकार एवं उनके उत्तरवर्त्ती पट्टावलीकारों द्वारा त्रुटि हो गई हो।

चतुर्दश पूर्व तथा एकादशांगीके समय-समय पर भूत एवं भावी ह्रास अथवा व्यवच्छेद के प्रसंग में तित्थोगाली पइन्नयकार ने वीर नि. सं. १००० के पश्चात् वीर नि. सं १५२० तक हुए युगप्रधानाचार्यों में से ४ युगप्रधानाचार्यों के स्वर्गस्थ होने

तथा विवाह पण्णत्ति आदि पांच अंगों के ह्रास का उल्लेख किया है। माढर सम्भूति से सम्बन्धित जो गाथा तित्थोगाली पइन्नय में है, वह इस प्रकार है :—

समवाय ववच्छेदो, तेरसहिं सतेहिं होहिति वासाणं ।
माढर गोत्तस्स इहं, सम्भूत जतिस्स मरणम्मि ॥८१५॥

अर्थात्—वीर नि०सं० १३०० में माढर गोत्रीय संभूत श्रमणवर के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर समवायांग-सूत्र का ह्रास हो जायेगा।

इस प्रकार तित्थोगाली पइन्नयकार ने स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है कि वीर नि०सं० १३०० में माढर सम्भूति का स्वर्गवास हो गया।

इसके विपरीत दुस्समाकाल समण संघथयं की गाथा संख्या १४ में "संभूई माढर संभूई" इन तीनों शब्दों के द्वारा ३३वें और ३४वें युगप्रधानाचार्य—संभूति—माढर संभूति अथवा माढर संभूति—संभूति का उल्लेख किया गया है। इसी समण संघ थयं की अवचूरि के अन्तर्गत जो—"द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्र" दिया हुआ है, उसमें पहले संभूति का और उनके पश्चात् माढर संभूति का नाम दिया हुआ है। युगप्रधानाचार्यों के जन्म, दीक्षा, युगप्रधान पद, स्वर्ग एवं पूर्णायु का जो समय इस यन्त्र में दिया हुआ है, उसमें श्री संभूति को ३३वां युगप्रधानाचार्य बताकर, उनका वीर नि० सं० १३०० में स्वर्गवास होना बताया गया है।[1]

'तित्थोगाली पइन्नय' में केवल माढर संभूति का ही उल्लेख है। स्पष्ट रूप से संभूति का इसमें कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। तथापि गाथा संख्या ८१६ में जिन आर्जव यति के वीर नि. सं. १३५० में स्वर्गस्थ होने पर स्थानांग सूत्र का ह्रास होना बताया गया है, वहां तित्थोगाली पइन्नयकार ने अज्जव अर्थात् ऋजु-सरल सम्बोधन की दृष्टि से संभूति को ही आर्ज्जव यति के नामसे तो कहीं सम्बोधित नहीं किया है, इस प्रकार का ईहापोह अन्तर में उत्पन्न होता है। 'तित्थोगाली पइन्नय' के उल्लेखानुसार माढर संभूति का स्वर्गवास वीर नि० सं० १३६० में मान लिये जाने की स्थिति में उनके पश्चाद्वर्ती युगप्रधानाचार्य संभूति का स्वर्गवास वीर नि० सं० १३५० के आसपास होना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अन्तर केवल दस वर्ष का रहता है। तित्थोगाली पइन्नयकार ने आर्जव यति (सम्भवतः संभूति) का वीर नि० सं० १३५० में स्वर्गस्थ होना बताया है और 'दुस्समाकाल समण संघथयं' की अवचूरि के अन्तर्गत 'द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्र' में उल्लिखित काल गणना की एक

---

[1] एतत्ग्रन्थकर्तृ णां श्री धर्म घोष सूरीणां विक्रम सं. १३२७ तम वर्षे सूरिपद, वि. सं. १३५७ तम वर्षे स्वर्गगमनम्।

पट्टावली समुच्चय (दुष्षमाकाल श्री श्रमणसंघस्तवम्) पृ. १९ (रिषण)

मान्यता के अनुसार ३४वें युगप्रधान का देहावसान वीर नि०सं० १३६० और दूसरी मान्यता के अनुसार वीर नि० सं० १३५० में होना भी अनुमानित किया जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त "तित्थोगाली पइन्नय" "दुस्समाकाल समरण संघ थयं" की अपेक्षा अति प्राचीन होने के साथ ही साथ तीर्थ के उद्गम, प्रवाह, ह्रास, अवसान अथवा व्यवच्छेद जैसी आत्यन्तिक महत्त्व की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश डालता है, इस दृष्टि से भी एतद्विषयक इसका उल्लेख तब तक प्रामाणिकता की कोटि में प्रविष्ट होने योग्य है, जब तक कि इससे भी प्राचीन और विश्वसनीय कोई अन्य प्रमाण इसके विपरीत प्रकाश में न आ जाय ।

इन सब तथ्यों के पर्यालोचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि माढर संभूति ३३वें और संभूति ३४वें युगप्रधानाचार्य थे ।

चैत्यवासी आचार्य शीलगुण सूरि और चैत्यवासी परम्परा का प्रबल समर्थक जैन राजा वनराज चावड़ा

वीर नि० की १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चैत्यवासी परम्परा में शीलगुण सूरि नाम से एक महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। उन्होंने गुजरात में वीर निर्वाण सं० १२७२ के आसपास एक जैन राजवंश (चावड़ा राजवंश) की स्थापना कर चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष के लिए जो अथक् प्रयास किये वे मध्ययुगीन जैन इतिहास में महत्वपूर्ण हैं।

शीलगुणसूरि चैत्यवासी परम्परा के नागेन्द्र गच्छ के आचार्य थे। एक समय शीलगुणसूरि अपने शिष्यों के साथ अपनी परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिये एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर जा रहे थे। राह में उन्होंने वन में एक स्थान पर, जहां कि इस समय वणोंद नामक ग्राम बसा हुआ है, एक वृक्ष के तने में लटकती हुई एक झोली देखी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पास में जाकर उन्होंने देखा कि वृक्ष की डाली से बंधी हुई उस झोली में एक बालक सो रहा है। उन्होंने बालक को बड़े ध्यान से देखा। उस बालक के मुख, भाल और अंगोपांगों के लक्षणों को देखकर उनके मुख से अनायास ही ये उद्गार निकल पड़े :—"अरे ! यह बालक तो आगे चलकर महा प्रतापी पुरुषसिंह होगा।"

वृक्ष की छाया में अपने बालक के पास साधुमण्डली को खड़ी देखकर वन में कन्द-मूल-फल-फूलादि का चयन करती हुई एक युवा स्त्री उनके पास आई। उसने शीलगुणसूरि को प्रणाम किया और एक ओर मौन साधे एवं बार-बार मुनिमण्डल की ओर दृष्टि निक्षेप करती, एवं लज्जा से सिकुड़ी हुई खड़ी रही।

शीलगुणसूरि ने उस स्त्री से पूछा:—"बहिन ! क्या यह बालक तुम्हारा है ?"

उस महिला ने स्वीकृतिसूचक मुद्रा में अपनी राजहंसिनी तुल्या ग्रीवा झुका दी और वह सहमी हुई सी धरती की ओर दृष्टि गडाए खड़ी रही।

शीलगुणसूरि ने कहा—"बहिन ! तुम्हें और तुम्हारे इस होनहार बालक के लक्षणों को देखने से हमें विश्वास हो गया है कि तुम किसी महान् कुल की वधु हो

और दुर्दैव से इस समय अपने विपत्ति के दिन इस प्रकार वन्यजीवन की विपन्नावस्था में बिता रही हो। सब के दिन सदा एक समान नहीं रहते, यह तो भाग्य का एक अटल विधान है।"

यह सुनते ही उस महिला के स्मृतिपटल पर उसके विगत जीवन का घटनाचक्र उभर आया और उसके विशाल लोचनों से अश्रुओं की अविरल धारा प्रवाहित हो उठी।

सांत्वना भरे स्वर में शीलगुणसूरि बोले—"पुत्री! तुम्हारे ये दुर्दिन भी सदा रहने वाले नहीं हैं। तुम्हारा यह बालक महान् भाग्यशाली है। भविष्य में यह गुर्जरधरा का भाग्य विधाता बनेगा। यदि तुम्हें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो तो मैं यह जानना चाहूंगा कि तुम कौन हो, यह बालक किस कुल का प्रदीप है। भौतिक एषणाओं से सदा दूर रहने वाले साधुओं पर तुम निर्भय होकर विश्वास कर सकती हो। तुम्हारे साहस को देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। हम लोगों से तुम्हें सदा अच्छाई की ही आशा करनी चाहिये। अब तुम हमसे विना किसी बात को छुपाये, सार रूप में अपने बीते जीवन के सम्बन्ध में बताने योग्य बातें बताओ।"

उस बालक की माता ने अपनी फटी साटिका के छोर से अपने आंसू पोंछे और इस प्रकार अपने आपको आश्वस्त करते हुए उसने अपने बीते जीवन का परिचय देना प्रारम्भ किया—"योगीश्वर! मैं पंचासर के राजा जयशेखर की रानी हूं, मेरा नाम रूपसुन्दरी है। कल्याणी-पति भुवड़ के साथ युद्ध करते हुए वे रणांगण में ही स्वर्गस्थ हुए। मेरे पतिदेव महाराज जयशेखर जिस समय स्वर्गस्थ हुए, उस समय यह बालक मेरे गर्भ में ही था। यह तो सर्वविदित ही है कि राजघरानों में राज्य को हथियाने के लिये थोड़ा सा अवसर मिलते ही षड्यन्त्रों का सूत्रपात हो जाता है। मेरे गर्भस्थ शिशु की, राज्य के लोभ में आकर कोई हत्या न कर दे, इस संभावित भय से मैं शत्रुओं से बचकर राजप्रासाद से एकाकी निकली और यहां विकट वन में आकर वन्य जीवन व्यतीत करने लगी। इस वन में ही समय पर मैंने वि० सं० ७५२ की वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस बालक को जन्म दिया है। इस बालक ने दैवदुर्विपाक से राजप्रासाद के स्थान पर इस वन में जन्म लिया, इसलिये मैंने इसका नाम वनराज रखा है।

चापोत्कट वंश का प्रदीप यह बालक अपने जन्मकाल से ही इस विकट वनी के वन्य पशुओं के बीच येन-केन प्रकारेण अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा है। इसके मामा सुरपाल हैं। षड्यन्त्रकारी लोग बड़े सतर्क होते हैं। वे इसके सभी निकट संबन्धियों के यहां इस बालक की टोह में अवश्य लगे होंगे। कहीं मेरा यह नन्हा सा लाल उन षड्यन्त्रकारियों के जाल में न फंस जाय, इसी भय से मैं अपने किसी आत्मीय के पास न जाकर इस एकान्त वन में इसके प्राणों की रक्षा कर रही हूं।"

अपने जीवन के उषाकाल से ही राजमहलों में रहने वाली एक क्षत्रिय बाला हिंस्र पशुओं से संकुल निर्जन वन में किस साहस और आत्मविश्वास के साथ रह रही है, यह देख और सुनकर शीलगुणसूरि अवाक् रह गये। उन्होंने मन ही मन में कहा—"इसी प्रकार की साहस-शौर्य-पुंज क्षत्राणियों की कुक्षि से शौर्यशाली नर-रत्नों का जन्म होता है।"

शीलगुणसूरि ने राजमाता रूपसुन्दरी की ओर अभिमुख होते हुए कहा—"वत्से ! साहस और शौर्य की अप्रतिम प्रतिमूर्ति रत्नगर्भा क्षत्राणी की इस अद्भुत् शौर्यगाथा को सुनकर आर्यधरा के आबालवृद्ध का भाल गर्व से समुन्नत हो जाता है। अब पग-पग पर संकटों की परम्पराओं से परिपूर्ण तुम्हारे वन्य जीवन के दिन समाप्त हुए। तुम मेरे साथ चलो। तुम्हारे रहन-सहन और इस होनहार बालक के लालन-पालन शिक्षण-दीक्षण आदि की सभी भांति की समुचित व्यवस्था कर दी जायगी। हम लोगों के अतिरिक्त तुम्हारा वास्तविक परिचय किसी को नहीं हो पायगा। तुम हमारी धर्मपुत्री हो। गुर्जरभूमि का सम्पूर्ण जैन समाज तुम्हें और तुम्हारे बालक को देश की अनमोल धरोहर मानकर तुम्हारे स्वाभिमान-सम्मान की समुचित रूप से रक्षा करेगा। तुम अपने पुत्र को लेकर पूर्णरूपेण आश्वस्त होकर हमारे साथ चलो।"

रूपसुन्दरी ने तत्काल झोली सहित बालक को अपनी पीठ पर लिया और उस सन्तमण्डली के चरणचिह्नों का अनुसरण करती हुई उनके साथ-साथ पथ पर अग्रसर हो गयी।

शीलगुणसूरि बालक वनराज और उसकी माता के साथ पंचासर के उपाश्रय में आये। उन्होंने अपनी सेवा में उपस्थित हुए जैन श्रीसंघ के प्रधान के साथ गुप्त मंत्रणा कर राजमाता रूपसुन्दरी और उसके पुत्र वनराज की एक सुरक्षित भवन में आवास-भोजन-पान आदि जीवनोपयोगी सभी सामग्रियों की समुचित व्यवस्था कर दी।

बालक वनराज का लालन-पालन बड़े ही प्यार-दुलार के साथ होने लगा। बालक वनराज द्वितीया के चन्द्र की कला के समान क्षात्र-तेज के साथ-साथ उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगा। वह अपना अधिकांश समय चैत्यवासी शीलगुणसूरि के स्थिर आवास-चैत्यालय में ही व्यतीत करता।

शीलगुणसूरि के पट्ट शिष्य देवचन्द्रसूरि ने बालक वनराज के शिक्षण का कार्य स्वयं अपने हाथ में लिया और वे बड़े ही मनोयोगपूर्वक स्नेह से विद्याध्ययन कराने के साथ-साथ जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों की प्रारम्भिक शिक्षा भी देने लगे। उन्होंने बालक वनराज के बालसुलभ निश्छल मानस में क्षत्रियकुमारोचित सत्य,

शील, शौर्य, परोपकार, निर्भीकता आदि उच्च नैतिक धरातल के संस्कारों को भी ढालने का प्रयास किया।

देवचन्द्रसूरि की आशा के अनुरूप ही बालक वनराज भी इन सुसंस्कारों को अनुक्रमशः हृदयंगम करने के साथ-साथ उन्हें अपने जीवन में ढालने लगा। कुशाग्र-बुद्धि बालक वनराज किशोरवय में प्रवेश करते-करते व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ अनेक विद्याओं तथा नीति एवं न्यायशास्त्र में पारंगत बन गया।

समुचित शिक्षण प्रदान कर देने के पश्चात् दूरदर्शी अवसरज्ञ शीलगुणसूरि ने वनराज को उसके मामा सूरपाल के पास क्षत्रियोचित शस्त्रास्त्रों की शिक्षा के लिये भेज दिया। अपने मामा के पास रहकर वनराज ने शस्त्रास्त्र-संचालन और रणभूमि में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की युद्धकौशल-कला का शिक्षण प्राप्त किया।

वनराज बाल्यकाल से ही बड़ा महत्वाकांक्षी था। युवावस्था में पदार्पण करते ही उसने गुर्जर भूमि में एक ऐसे शक्तिशाली एवं सुविशाल राज्य की स्थापना का दृढ़ संकल्प किया, जिसकी ओर कभी कोई शक्तिशाली से शक्तिशाली शत्रु भी आंख उठाकर देख न सके। उसने एक प्रकार से शक्तिशाली गुर्जर राज्य की स्थापना को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। अपने जीवन के इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उसे बड़े लम्बे समय तक संघर्षरत रहना पड़ा। लगभग ३० वर्षों तक संघर्षरत रहने के पश्चात् उसे अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हुई। इतने लम्बे संघर्षकाल में उसे चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि, उनके शिष्य एवं पट्टधर देवचन्द्रसूरि और चैत्यवासी संघ से लगातार किसी न किसी रूप में सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। संघर्ष की घड़ियों में बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी वह कभी निराश नहीं हुआ। अपने संघर्षपूर्ण जीवनकाल में अनेक बार आई अभावपूर्ण विपन्नावस्था में भी वह शक्तिशाली गुर्जर राज्य की स्थापना के स्वप्न देखता रहा और अपनी कल्पना के भावी विशाल राज्य के योग्य पहले से ही, प्रधानामात्य, मन्त्री, दण्डनायक-सेनापति आदि पदों के गुरुतर भार को वहन करने में सक्षम व्यक्तियों का चयन करने में संलग्न रहा। अपने स्वप्नों के साम्राज्य को सुचारुरूप से चलाने के लिए वनराज द्वारा किये गये सुयोग्य व्यक्तियों के चयन की घटनाएं बड़ी ही रोचक होने के साथ-साथ महत्वाकांक्षी मनीषियों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इस दृष्टि से उनमें से दो तीन मुख्य घटनाओं को यहां उद्धृत किया जा रहा है:—

१. संघर्ष की विकट घड़ियों में अपने सैनिकों के भरण-पोषण एवं शत्रुओं के साथ संघर्ष के लिये शस्त्रास्त्रों की पूर्ति हेतु वनराज को दस्यु कर्म भी अंगीकार करना पड़ा।

एक दिन जांब अथवा चांपा नामक श्रीमाली जातीय जैन व्यापारी घृत बेचने के लिये नगर की ओर जा रहा था। जब वह घृतपात्रों से भरे अपने गाडों के साथ एक वन को पार कर रहा था, उस समय वनराज को परिस्थितिवशात् दस्युकर्म करने के लिये बाध्य होना पड़ा था। गाडों के साथ व्यापारी को देखते ही वनराज ने अपने दो साथियों के साथ आगे बढ़ कर उसे रोका। प्रत्युत्पन्नमति वणिक् ने ताड़ लिया कि आज उसे लूटा जायेगा। वह स्वयं धनुर्धारी था। उसने तत्काल अपने तूणीर में से सभी तीरों को निकाला। वे कुल ५ तीर थे। उन पांच तीरों में से दो तीरों को उसने वनराज के देखते-देखते ही तोड़-मरोड़ कर एक ओर फैंक दिया और शेष तीन तीरों को हाथ में लेकर खड़ा हो गया।

वनराज ने आश्चर्य प्रकट करते हुए उस व्यापारी से पूछा :—"ए वणिक् ! इन पांच बाणों में से दो को तोड़ कर तुमने एक ओर क्यों फैंक दिया ?"

जाम्ब ने तत्काल बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया—"तुम लोग तीन हो अतः तुम्हारे लिये ये तीन बाण ही पर्याप्त हैं। शेष दो बाणों का बोझा मैं व्यर्थ ही क्यों ढोऊं, इस लिये मैंने इनको तोड़कर एक ओर फैंक दिया।"

हास्य भरे आश्चर्यमिश्रित स्वर में वनराज ने पूछा—"अच्छा ! इतना अटूट विश्वास है तुम्हें अपनी धनुर्विद्या पर ? यदि ऐसा है तो वायु के झोंकों से झकझोरित उस वृक्ष की टहनी के वाम पार्श्व में झूमते हुए उस फल का लक्ष्यवेध करो।"

जाम्ब ने तत्काल अपने धनुष की प्रत्यंचा पर शरसंधान करके तीर चला दिया। जिसकी ओर वनराज ने संकेत किया था वही फल पृथ्वी पर आ गिरा।

हर्षविभोर होकर वनराज ने कहा—"तुम्हारे साहस और दुस्साध्य लक्ष्यवेध से मैं बड़ा प्रसन्न हूं। गुर्जर राज्य की स्थापना के साथ ही मैं तुम्हें अपने राज्य का महामंत्री बनाऊंगा। समझ लो कि आज इस क्षण से ही तुम मेरे विशाल गुर्जर राज्य के प्रधान मन्त्री हो। अपने बुद्धि-कौशल से तुम कोई ऐसा उपाय सोचो कि हमें विपुल धनराशि की प्राप्ति हो। तुम्हारी बुद्धि और मेरी शक्ति के योग से सफलता हमारे चरण चूमेगी। भावी गुर्जर राज्य के महामात्य ! जाओ और अपार धनराशि की प्राप्ति के लिये अभी से उपाय खोजना प्रारम्भ कर दो।"

श्रेष्ठि जाम्ब ने भी वनराज की आज्ञा को ठीक उसी रूप में शिरोधार्य किया, जिस लहजे से एक प्रधानमन्त्री अपने सम्राट् की आज्ञा को शिरोधार्य करता है।

वनराज ने श्रेष्ठि जाम्ब का नाम, ग्राम आदि अपनी दैनन्दिनी में लिखा और उसे सहर्ष जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

२. संघर्ष के दिनों में अपने सैनिकों की आवश्यकतापूर्ति के लिए वनराज को रात्रि के समय काकर नामक ग्राम के श्रीमाली जातीय जैन श्रीमन्त के घर में सेंध लगाने के लिये बाध्य होना पड़ा। उस घर के किसी एक कक्ष में घुसते ही उसने एक भाण्डागार के कपाट खोलकर उसमें अपना हाथ डाला। संयोग की बात थी कि उसका हाथ अंधकार के कारण दही से भरे चौड़े मुंह के एक पात्र में जा पड़ा। जब उसने अनुभव किया कि उसका हाथ दही पर लगा है तो वह बिना कुछ लिये ही तत्काल खाली हाथ वहां से लौट गया।

प्रातःकाल जब घर वालों को पता चला कि घर में रात्रि के समय सेंध लगी है, तो घर में अच्छी तरह छानबीन की गई। केवल दधि दुग्धादि के भाण्डागार के कपाट खुले देखकर और दही में किसी के हाथ के रेखाचिह्न देखकर सब घर वालों को पूरा विश्वास हो गया कि सेंध लगी अवश्य है किन्तु घर में से कोई भी वस्तु गई नहीं है।

श्रेष्ठि की बहन श्रीदेवी ने दही के उस भाण्ड को बाहर निकालकर देखा तो उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। उसने अपने भाई और पारिवारिक जनों को कहा—"जो व्यक्ति हमारे घर में सेंध डालने आया था, वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं अपितु वह तो कोई महान् भाग्यशाली प्रतापी पुरुष है। उसके हाथ की रेखाओं के जो चिह्न दही की ऊपरी सतह पर उभरे हैं, वे पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं किन्तु जो एक-दो रेखाचिह्न स्पष्ट दिख रहे हैं, उनसे सुनिश्चित रूपेण यह कहा जा सकता है कि या तो वह वर्तमान में ही कोई महाप्रतापी पुरुष है अथवा निकट भविष्य में ही उसका सूर्य के समान भाग्योदय होने वाला है। मुझे आश्चर्य है कि इस प्रकार के भाग्यशाली पुरुष को सेंध लगाने की आवश्यकता क्यों पड़ी।"

श्रीदेवी ने उस घटना की वास्तविकता को न समझ पा सकने के कारण अपने मन में उत्पन्न हुई अन्तर्व्यथा को अभिव्यक्त करते हुए कहा—"क्या ही अच्छा हो कि वह पुरुष एक बार अपने घर में पुनः आवे, तो मैं उसके हाथ की रेखाओं को ठीक से देखूं और उसे बताऊं, कि वास्तव में वह क्या है और क्या होने वाला है।"

कर्ण-परम्परा से श्रीदेवी द्वारा प्रकट किये गये उद्गार वनराज तक भी पहुंच गये। दूसरे दिन वह छद्मवेष में काकर के उस श्रेष्ठि के घर पहुंचा और उसने उस श्रेष्ठि के साथ उसकी बहिन श्रीदेवी से साक्षात्कार किया। श्रीदेवी ने उसके लक्षणों एवं हस्तरेखाओं से पहचान लिया कि यही वह पुरुष है, जिसके हाथ का निशान दही के भाण्ड में अंकित दिखाई दिया था। श्रीदेवी ने वनराज को अपना धर्मभ्राता मान कर उसके हाथ में अंकित रेखाओं को देखा और कहा कि निकट भविष्य में ही आप एक महान् साम्राज्य के स्वामी होने वाले हैं। उसने बड़े ही स्नेह सम्मान के साथ वनराज को अपने घर भोजन करवाया और बातों ही बातों में उच्च आदर्शों पर अटल रूप से स्थिर रहने की उसे प्रेरणाप्रद शिक्षा भी दी।

"तुम मेरी धर्म बहिन हो"—यह कहते हुए वनराज ने श्रीदेवी द्वारा दी गई शिक्षाओं को अपने जीवन में ढालने का आश्वासन देते हुए अपना आन्तरिक दृढ़ संकल्प प्रकट किया कि जिस समय वह राजसिंहासन पर बैठेगा तो उस समय अपनी धर्मबहिन श्रीदेवी के हाथ से ही राजतिलक करवायेगा।

३. इसी प्रकार वनराज ने चावड़ा राजवंश के राजसिंहासन पर आसीन होने से पूर्व ही अपने सांधिवैग्रहिक अथवा परम विश्वासपात्र अथवा अपने रहस्यपूर्ण कार्य-कलापों में गुप्त मन्त्रणा कारक मन्त्री मोढ़ जातीय जैन श्री आशक का मनोनयन भी कर लिया था।

जाम्ब श्रेष्ठी वनराज से जंगल में भेंट के पश्चात् समय-समय पर मिलकर उसे अपने बुद्धि बल से अर्थ प्राप्ति के उपाय बता कर उसे धन प्राप्ति करवाता रहा। श्रेष्ठि जाम्ब ने एक दिन देखा कि भुवड राजा के राजस्व अधिकारी राजस्व की उगाही के लिये गुजरात में आये हुए हैं। जाम्ब ने उनसे सम्पर्क साध कर उन्हें भूराजस्व आदि की वसूली में बड़ी सहायता की और वह भुवड़ के राजस्व अधिकारियों का परम प्रीतिपात्र एवं विश्वास पात्र बन गया। जाम्ब ने उगाही की धन राशि को स्वर्ण मुद्राओं के रूप में परिवर्तित करवाया।

राजस्व की पूरी वसूली हो जाने के पश्चात् भुवड़ के अधिकारियों की कल्याणी की ओर लौटने की तिथि निश्चित हुई। जाम्ब ने बड़े ही गुप्त ढंग से वनराज से सम्पर्क साध कर भुवड़ के अधिकारियों के लौटने के मार्ग एवं तिथि आदि से उसे अवगत कर दिया।

वनराज भुवड़ के कोष रक्षक सैनिकों की संख्या से चौगुनी संख्या में अपने सैनिकों को साथ ले भुवड़ के राज्याधिकारियों के लौटने के मार्ग में उन पर आक्रमण करने के लिये उपयुक्त स्थान पर वृक्षों की ओट में अपना शिविर डाल दिया।

भुवड़ के राजस्व अधिकारी विपुल धनराशि एवं सैनिकों के साथ ज्यों ही उस वन में पहुंचे वनराज अपने सैनिकों के साथ उन पर टूट पड़ा। भुवड़ के सैनिक वनराज के प्रबल आक्रमण के समक्ष नहीं टिक सके। कुछ ही क्षणों में भुवड़ के सैनिक क्षत-विक्षत हो धराशायी हो गये।

इस आक्रमण में वनराज को २४ लाख स्वर्ण मुद्राएं, ४०० घोड़े, अनेक हाथी और शकट, शस्त्रास्त्र आदि अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई।

इतनी बड़ी धनराशि एकत्रित हो जाने पर वनराज ने एक शक्तिशाली सेना का गठन कर अपने पैत्रिक राज्य पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। भुवड़

को अपने चरों से ज्ञात हो गया कि वनराज ने अजेय शक्ति एकत्रित कर ली है अत: उसने गजरात की ओर से अपना मुख मोड़ लिया।

अन्ततोगत्वा लम्बे संघर्ष के पश्चात् क्रमश: गुर्जर भूमि के छोटे बड़े अनेक क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित करते-करते वनराज चावड़ा गुर्जर भूमि के विशाल एवं शक्तिशाली राज्य का स्वामी बन गया।

अपने गुरु शीलगुणसूरि के निर्देशानुसार वनराज ने विक्रम सं० ८०२ की वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन शीलगुणसूरि द्वारा बताई गई भूमि पर अणहिल्लपुरपत्तन नगर की नींव का शिलान्यास किया।

महाराजा वनराज ने चापोत्कट राजवंश के राजसिंहासन पर आरूढ़ होते समय अपनी धर्मबहिन श्रीदेवी से ही पूर्वकृत संकल्प के अनुसार राजतिलक करवाया।

उसने श्रीमाली जैन जाम्ब—अपर नाम चांपराज को जंगल में की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना मंत्री बनाया। जाम्ब के उत्तराधिकारी वंशधर पीढ़ियों प्रपीढ़ियों तक गुर्जर राज्य के राजकार्यों में सक्रिय योगदान देते रहे। जाम्ब का वंश बड़े लम्बे समय तक मन्त्रीवंश के रूप में गुर्जरभूमि में विख्यात रहा।

वनराज ने पाटण को बसाते समय गांभू के निवासी नीना नामक श्रेष्ठि को पाटण बुलाकर उसे परिवार सहित पाटण में बसाया। वनराज ने नीना को महामंत्री पद प्रदान कर उसे पाटण नगर का महादण्डनायक भी बनाया। जिस प्रकार नन्दिवर्द्धन (प्रथम नन्द) को कल्पाक महामात्य के रूप में मिला और उसने नन्द राजाओं को पीढ़ी प्रपीढ़ी के लिये एक कुशल एवं स्वामिभक्त अमात्यवंश प्रदान किया उसी भांति यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अणहिल्लपुर पत्तन के प्रथम महामन्त्री के रूप में महाराजा वनराज द्वारा मनोनीत महामन्त्री नीना ने भी गुर्जरभूमि के राजवंशों को नीति निपुण एवं स्वामिभक्त जैन अमात्यवंश प्रदान किया। नीना का वंशज लहिर चापोत्कट राजवंश के अन्तिम राजा के शासन-काल में और मूलराज सोलंकी के राज्यकाल में भी दण्डनायक रहा। इसी नीना महामन्त्री के वंशज वीर और नेढ भी पाटण के दण्डनायक रहे। दण्डनायक वीर का पुत्र विमल भी भीमदेव सोलंकी के शासन काल में गुजरात का मंत्री एवं दण्डनायक रहा। इसी प्रकार मंत्री धवल, महामन्त्री आनन्द आदि अनेक अमात्य इसी अमात्य-वंश में हुए। गुर्जरेश जैन महाराजा कुमारपाल का महामात्य पृथ्वीपाल भी नीना महामन्त्री का ही वंशधर था।

इस प्रकार सुयोग्य व्यक्तियों के चयन में वनराज बड़े ही निपुण और अद्भुत् सूझ-बूझ के धनी थे। जहां तक कृतज्ञता ज्ञापन का प्रश्न है चापोत्कट राजवंश

के महाराजा वनराज को दक्षिण के गंगराजवंश एवं होय्सल राजवंश के राजाओं के समकक्षरखा जा सकता है, जिन्होंने शताब्दियों तक अपने राजवंश के संस्थापक जैनाचार्य के प्रति अप्रतिम कृतज्ञता प्रकट करते हुए जैनधर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसके अभ्युदय उत्कर्ष के लिये अनुपम योगदान दिया।

शीलगुणसूरि के कृपाप्रसाद से वनराज का समुचित रूपेण लालन-पालन हुआ। शीलगुणसूरि के पट्टधर शिष्य देवचन्द्रसूरि ने उसे समुचित शिक्षण प्रदान कर सुयोग्य बनाया। इन दोनों ही गुरुशिष्यों ने तथा उनके इंगित मात्र पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले चैत्यवासी जैन श्रीसंघ ने समय-समय पर वनराज को सब भांति की सहायता प्रदान की। अपने अनन्य उपकारियों-शीलगुणसूरि, देव-चन्द्रसूरि और चैत्यवासी जैन श्रीसंघ के प्रति अपनी अगाध कृतज्ञता प्रकट करते हुए वनराज चावड़ा ने गुर्जर राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ होते समय शील-गुणसूरि और देवचन्द्रसूरि के हाथों से वासक्षेप के साथ अपना राज्याभिषेक कर-वाया था। अपने साथ किये गये अनन्य उपकार के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए वनराज ने अपने गुरु शीलगुणसूरि की इच्छानुसार पाटण के विशाल राज्य में चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियों को छोड़कर शेष सभी परम्पराओं के साधु-साध्वियों के प्रवेश तक पर प्रतिवन्ध लगाने की स्थायी आज्ञा निकालकर गुर्जर प्रदेश में चैत्यवासी परम्परा के प्रचार-प्रसार और पल्लवन में ऐसा अपूर्व योगदान दिया था, जिसका उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसे कृतज्ञता प्रकाशन में वनराज द्वारा अपने गुरु को दी गई एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक दक्षिणा की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वनराज द्वारा इस प्रकार प्रसारित की गई प्रतिबन्धात्मक राजाज्ञा का सबसे बड़ा लाभ चैत्यवासी परम्परा को यह मिला कि वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी से ही गुर्जर भूमि में पूर्णवर्चस्व की स्थिति में रहते आ रहे चैत्यवासी वीर नि० की १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गुर्जर भूमि में अपनी परम्परा का ही एकच्छत्र प्रभुत्व जमाये रख सके। गुर्जर भूमि में राज्याश्रय पायी हुई चैत्यवासी परम्परा किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी परम्परा के प्रचार के अभाव में बिना किसी बाधा के उत्तरोत्तर निर्बाध गति से निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित होती ही रही। उसे लगभग ५ शताब्दियों तक विरोध की गरम हवा तक नहीं लगी।

वनराज चावड़ा ने बाल्यकाल में चैत्यवासी आचार्य देवचन्द्रसूरि से जैन सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त की थी। वह जीवन भर शीलगुणसूरि को और देवचन्द्र सूरि को अपना गुरु मानता रहा। इन चैत्यवासी आचार्यों एवं चैत्यवासी संघ द्वारा किये गये उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये न केवल वनराज ही अपितु उसके वंशज भी अपने आपको चैत्यवासी परम्परा के ही उपासक मानते एवं प्रकट करते रहे। क्षत्रिय वंशी चावड़ा चैत्यवासियों को अपना कुलगुरु मानते थे, इस तथ्य का द्योतक एक दोहा बड़ा प्रसिद्ध रहा है, जो इस प्रकार है :—

शिशोदिया सांडेसरा, चउदसिया चउहाण ।
चैत्यवासिया चावड़ा, कुलगुरु एह बखाण ।।

प्रभावक चरित्र में भी चैत्यवासियों के मुख से वनराज चावड़ा पर चैत्यवासी आचार्य देवचन्द्रसूरि द्वारा किये गये उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने हेतु वनराज की आज्ञा से चैत्यवासियों द्वारा असम्मत अन्य सभी जैन परम्परा के साधु-साध्वियों का पाटण के विशाल राज्य में प्रवेश निषेध की राजाज्ञा प्रसारित किये जाने का अधोलिखित रूप में विवरण मिलता है :—

अनुयुक्ताश्च ते चैवं प्राहुः शृणु महीपते !
पुरा श्री वनराजोऽभूत् चापोत्कटवरान्वयः ।।७१।।
स बाल्ये वर्द्धित श्रीमद्देवचन्द्रेण सूरिणा ।
नागेन्द्रगच्छभूद्धार प्राग्वराहोपमास्पृशा ।।७२।।
पचाश्रयाभिधस्थानस्थितचैत्य निवासिना ।
पुरं स च निवेश्येदमत्र राज्यं ददौ नवम् ।।७३।।
वनराजविहारं च तत्रास्थापयत प्रभुः ।
कृतज्ञत्वादसौ तेषां गुरूणामर्हणं व्यधात् ।।७४।।
व्यवस्था तत्र चाकारि संघेन नृपासाक्षिकम् ।
सम्प्रदायविभेदेन लाघवं न यथा भवेत् ।।७५।।
चैत्यगच्छयतिव्रातसम्मतो वसतान्मुनिः ।
नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्यं तदसम्मतैः ।।७६।।[1]

वनराज ने पाटण नगर का विक्रम सं० ८०२ में शिलान्यास करते समय भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर की नींव का शिलान्यास भी किया। पाटण नगर को अपनी राजधानी बनाने के पश्चात् वनराज ने पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा अपने गुरु चैत्यवासी आचार्य शीलगुण सूरि के हाथों निष्पन्न करवाई। पार्श्वनाथ भगवान् के उस मन्दिर का नाम वनराजविहार भी रखा गया। उस वनराज विहार के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख भी उपलब्ध होता है कि वनराज ने यह विहार अपनी माता की सुविधा के लिये बनवाया जिससे कि वह प्रतिदिन पार्श्वप्रभु की पूजा कर सके। वनराज की माता भी परम जिनोपासिका थी।

इस प्रकार वनराज चावड़ा को एक विशाल एवं शक्तिशाली गुर्जर राज्य की स्थापना के अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति में चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि, उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि, चैत्यवासी जैन संघ और जैन मनीषियों का प्रारम्भ से अन्त तक

[1] प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरिचरितम्, पृष्ठ १६३

समय-समय पर सभी भांति सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। पाटण राज्य के आश्रय में जिस प्रकार चैत्यवासी परम्परा फली और फूली उसी प्रकार चैत्यवासियों के सक्रिय सहयोग से वनराज वृहद् गुर्जर राज्य की स्थापना में सफल—काम हुआ, इस तथ्य को प्रायः सभी इतिहासविदों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। यह जैनों मुख्य रूप से चैत्यवासियों के सक्रिय सहयोग का ही सुपरिणाम था कि पाटण लगभग ७ शताब्दियों तक गुर्जर राज्य की राजधानी रहा। वृहद् गुर्जर राज्य की स्थापना में जैनधर्मावलम्बियों के सक्रिय सहयोग के सम्बन्ध में, 'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ के वनराज प्रबन्ध में निम्नलिखित श्लोक मननीय है :—

गौर्जरात्रमिदं राज्यं, वनराजात् प्रभृत्यभूत्।
स्थापितं जैनमन्त्र्याद्यैः, तद्वेषी नैव नन्दति ।।

अर्थात् गुर्जरात्र राज्य की संस्थापना जैन मन्त्रियों के सक्रिय सहयोग से हुई। चापोत्कटवंशीय क्षत्रिय वनराज से वृहद् गुर्जर राज्य का शुभारम्भ हुआ इसी कारण जैन धर्म के प्रति विद्वेष अथवा ईर्ष्या रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस राज्य में समृद्ध नहीं हो पाता।

वनराज चावड़ा का नैतिक धरातल कितना उच्च कोटि का था, इस सम्बन्ध में लोक कथा के रूप में एक आख्यान परम्परा से बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। वह आख्यान इस प्रकार है :—

"वनराज के शासनकाल में एक समय १००० घोड़ों और ५०० हाथियों से लदे जहाज समुद्री पवन के प्रचण्ड झौंके के परिणामस्वरूप अपने लक्ष्य की ओर न बढ़ कर सोमनाथ के समुद्री किनारे पर पाटण राज्य की सीमा में आ पहुंचे। जब वनराज के राजकुमारों को यह सूचना मिली तो तीनों राजकुमार अपने पिता की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पिता से उन जहाजों को लूट लेने की आज्ञा मांगते हुए निवेदन किया—"देव! इस घर आई हुई गंगा से लाभ क्यों नहीं ले लिया जाय।"

वनराज ने अपने पुत्रों को इस प्रकार का कोई कार्य न करने का निर्देश देते हुए कहा—"मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि तुम लोगों के मन में इस प्रकार का अनैतिक कार्य करने के विचार ही कैसे आये। तुम्हें सदा न्याय नीतिपूर्वक अपनी भुजाओं के बल से अर्जित सम्पदा को ही अपनी सम्पदा समझना चाहिये।"

विना प्रयास किये और विना धन के व्यय किये ही १००० जातीय अश्व और ५०० गजराज हाथ लग जायें, यह एक बहुत बड़ा प्रलोभन था। वे राजकुमार अपने पिता द्वारा उन जहाजों को लूट लेने की आज्ञा के प्राप्त न होने पर भी लोभ का संवरण नहीं कर सके। उन्होंने अपने सशस्त्र अनुचरों को भेज कर उन जहाजों को

लुटवा लिया और उस लूट में मिले ५०० हाथियों और १००० घोड़ों को वनराज के समक्ष उपस्थित किया। अपने पुत्रों द्वारा किये गये इस अवैध कार्य से वनराज को बड़ा दुःख हुआ, किन्तु उस समय वह मौन रहा। एक दिन समुचित प्रसंग उपस्थित होने पर वनराज ने अपने पुत्रों से कहा--"हमारे आस-पास के राजा गण अन्य सभी राजाओं की तो मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं किन्तु जहां गुर्जर भूमि का नाम आता है तो वे लोग यह कह कर हमारी हंसी उड़ाते हैं कि गुजरात में चोरों का राज्य है। हमें इस कलंक को धोना है। किन्तु तुमने राजाज्ञा का उल्लंघन कर गुर्जर राज्य के भाल में लगे इस कलंक के टीके को और गहरा, और ताजा किया है। इसका मुझे गहरा दुःख है।"

तदनन्तर वनराज ने अपने तीनों पुत्रों के समक्ष एक धनुष प्रस्तुत करते हुए उस पर शरसंधान की आज्ञा दी। क्रमशः तीनों राजकुमारों ने शरसंधान का प्रयास किया किन्तु उनमें से कोई शरसंधान नहीं कर सका। यह देख कर वनराज ने उस धनुष को अपने हाथ में लेकर उसी समय शरसंधान कर दिया। शर संधान किये हुए वनराज ने अपने पुत्रों से कहा—"पुत्रो! तुमने राजाज्ञा का उल्लंघन किया है, इस अपराध का दन्ड या तो तुम स्वयं भोगो अन्यथा मुझे तुम्हारा संरक्षक होने के कारण तुम्हारे अपराध का दण्ड भोगना होगा।" यह कहते हुए वृहद् गुर्जर राज्य के संस्थापक वनराज ने जीवन भर के लिये अन्न-जल का त्याग कर पूर्ण अनशन कर दिया। कतिपय दिनों तक अनशन के साथ अध्यात्म साधना में लीन रहते हुए वनराज ने १०९ वर्ष की आयु पूर्ण कर विक्रम सं० ८६२ में इहलीला समाप्त की। न केवल गुजरात प्रदेश के अपितु आर्यधरा के इतिहास में वृहद् गुजरात राज्य के आद्य संस्थापक जैन धर्मानुयायी राजा वनराज का नाम सदा सम्मान के साथ लिया जाता रहेगा।

आश्चर्याभिभूत हो अवाक् रह गये। उन्हें बालक सूरपाल साक्षात् सरस्वती-पुत्र सा प्रतीत होने लगा। अब तो आचार्य सिद्धसेन उस शारदा-पुत्र तुल्य बालक सूरपाल को अपने शिष्य के रूप में पाने के लिये उत्कण्ठित एवं व्यग्र हो उठे।

दूसरे ही दिन आचार्य सिद्धसेन अपने कुछ शिष्यों एवं उस बालक को साथ ले सूरपाल की जन्मभूमि डुंबाउधी ग्राम की ओर प्रस्थित हुए। उग्र एवं अप्रतिहत विहारक्रम से वे कतिपय दिनों पश्चात् डुंबाउधी पहुंचे। मुनिदर्शन के लिये अन्य ग्रामवासियों के साथ क्षत्रिय बप्प और क्षत्राणी भट्टी ने भी आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हो उन्हें वन्दन-नमन किया।

आचार्य सिद्धसेन ने क्षत्रिय दम्पत्ति से कहा—"पुण्यात्माओ! तुम्हारा यह बालक महान् तेजस्वी, कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभाशाली और बड़ा ही होनहार है। तुम अपना यह पुत्र मुझे दे दो। मैं इसे अध्यात्मविद्या में पारंगत बना दूंगा। इसके अलौकिक लक्षणों से स्पष्टतः प्रकट होता है कि यह तुम्हारा बालक भविष्य में जिनशासन का महान् उन्नायक होगा और तुम्हारी कीर्ति को युगयुगान्तर तक चिरस्थायिनी बना देगा।"

क्षत्रिय बप्प और उसकी पत्नी क्षत्रियाणी भट्टी ने हाथ जोड़कर अति विनम्र स्वर में आचार्यश्री से निवेदन किया—"योगीश्वर! हमारा यह एकमात्र पुत्र ही तो हमारे कुल और हमारी आशाओं का केन्द्र-बिन्दु तथा हमारे जीवन का आधार है। इसका विछोह हम किस प्रकार सहन कर सकेंगे?"

आचार्य सिद्धसेन ने उन्हें पुनः समझाते हुए कहा—"भव्यो! जिस प्रकार कूड़े के ढ़ेर में असंख्य कृमि उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, उसी प्रकार इस संसार रूपी अवकर (घूड़े) में पुत्र उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। कृमि तुल्य उस जन्म और मरण का कोई सार नहीं, कोई मूल्य नहीं। तुम्हारा यह परम सौभाग्यशाली सुभव्य पुत्र जन्म-मरण की महाव्याधि को मूलतः विनष्ट करने वाले श्रमण धर्म की आराधना करके अपने आपकी और तुम्हारी कीर्ति को अमर करने के लिये कृतसंकल्प है। इसका यह सुसंकल्प श्लाघ्य है। अतः तुम अपना यह पुत्र हमें समर्पित कर विपुल पुण्य का उपार्जन करो।"

इस पर भी बप्प और भट्टी ने आ० सिद्धसेन से निवेदन किया—"भगवन्! यह हमारा एक मात्र ही तो कुलदीपक है। आप स्वयं ही विचार कीजिये कि हमारे एक मात्र इस कुलतन्तु पुत्र को कैसे दिया जा सकता है?"

इसी बीच बालक सूरपाल ने अपने माता-पिता को सम्बोधित करते हुए कहा—"अम्ब! तात! भीषण नरकावासों के दुस्सह्य दुःखों के समान दारुण दुःखदायी गर्भावास से सदा-सदा के लिये मुक्ति दिलाने वाले श्रमणधर्म को अंगीकार

करने का मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है। मानव जन्म में बुद्धि, ज्ञान और श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम गुणों को प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी यदि नरकावास तुल्य मातृगर्भ में पुनः उत्पन्न होना पड़े तो वे सब गुण निरर्थक हैं।[1]

इस दुर्लभ मानव जन्म में मुझे बुद्धि, ज्ञान और सदसद् विवेक सम्पन्न पौरुष आदि गुण मिले हैं, इन गुणों का मैं संयम ग्रहण कर इस प्रकार उपयोग करूंगा कि मुझे पुनः कभी माता के गर्भावास का, जन्म-मृत्यु का दुःख भोगना ही नहीं पड़े। मेरा यह अटल, अडोल निश्चय है कि मैं श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करूंगा।"

अपने पुत्र के दृढ़ निश्चय को सुनकर क्षत्रिय दम्पत्ति ने कहा—"भगवन् ! हमारा पुत्र सूरपाल भी श्रमणधर्म में दीक्षित होने के लिये कृत-संकल्प है और आप भी इसे शिष्यरत्न के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं। तो ऐसी स्थिति में हमारे इस एकमात्र कुलप्रदीप पुत्र के दीक्षित हो जाने पर हमारा तो कुल और नाम ही समाप्त हो जायगा। इसलिये एक प्रार्थना है कि आप इसे शिष्य के रूप में दीक्षित तो कर लें पर दीक्षित होने पर हम दोनों के नाम को चिरस्थायी रखने के लिये इसका नाम 'बप्प भट्टी' ही रखने की कृपा करें।"

आचार्य सिद्धसेन ने उनके इस आग्रह को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर बप्प और भट्टी ने अपना पुत्र सहर्ष आचार्य सिद्धसेन को समर्पित कर दिया। अपने अभीप्सित की सिद्धि से आचार्य सिद्धसेन को अपार हर्ष हुआ। सूरपाल जैसे महा मेधावी शिष्यरत्न को पाकर उन्होंने अपने आपको, अपने गच्छ को और जिनशासन को धन्य समझा।

बालक सूरपाल को साथ ले आचार्य सिद्धसेन अपने शिष्य समूह सहित सहर्ष मोढेरा लौट आये और वहां विक्रम सं० ८०७ की वैशाख शुक्ला तृतीया, गुरुवार के दिन उन्होंने सूरपाल को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की। दीक्षा प्रदान करते समय आचार्यश्री ने औपचारिक रूप से सूरपाल का नाम भद्रकीर्ति रखा। किन्तु उसके माता-पिता को दिये गये वचन की परिपालना करते हुए आचार्यश्री नवदीक्षित मुनि को बप्प भट्टी के नाम से ही सम्बोधित करते रहे। अतः नवदीक्षित भद्रकीर्ति मुनि सर्वत्र बप्प भट्टी के नाम से ही विख्यात हो गये।[2]

---

[1] सा बुद्धिर्विलयं प्रयातु कुलिशं तत्र श्रुते पात्यताम्,
वल्गन्तः प्रविशन्तु ते हुतभुजि ज्वालाकराले गुणाः।
यैः सर्वैः शरदेन्दुकुन्द-विशदैः प्राप्तैरपि प्राप्यते,
भूयोऽप्यत्र पुरन्ध्रिरन्ध्रनरकक्रोडाधिवास व्यथा ॥

(प्रबन्धकोष, पृ० २७)

[2] मोढ़ेरे ते विहृत्यामु, दीक्षित्वा नाम चादधुः।
स्वाख्या त्रिकेकादशाद्, भद्रकीर्तिरिति श्रुतम् ॥२६॥
तत्पित्रो प्रतिपन्नेन, पूर्वाख्या तु प्रसिद्धिभूः।
शिष्यमौलिमणेरस्य, कलासंकेतवेश्मनः ॥३०॥

(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ८३)

नवदीक्षित मुनि की अलौकिक प्रतिभा पर मुग्ध हो मोढ़ेरा के श्रीसंघ ने आचार्य सिद्धसेन से प्रार्थना की कि वे शिष्यवृन्द सहित मोढ़ेरा में ही रह कर कुशाग्र-बुद्धि नवदीक्षित बप्प भट्टी मुनि को अंगोपांगादि शास्त्रों एवं समस्त विद्याओं का अध्ययन करायें। संघ की अभ्यर्थना स्वीकार कर आचार्य सिद्धसेन अपने शिष्य-समूह सहित मोढ़ेरा में ही रहे और नवदीक्षित मुनि को विद्याभ्यास कराने लगे। सुतीक्ष्ण बुद्धि मुनि बप्पभट्टी ने प्रगाढ़ निष्ठा, उत्कट लगन एवं अतिशय विनयपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। उनकी उत्कट साधना से सरस्वती की उन पर अनन्य कृपा हो गई और वे स्वल्प समय में ही सब विद्याओं में निष्णात एवं अथाह आगम-ज्ञान के मर्मज्ञ महा विद्वान् बन गये। उनकी अलौकिक काव्य-शक्ति को देख कर सर्व साधारण तथा उच्चकोटि के विद्वानों तक की यह धारणा बन गई कि साक्षात् सरस्वती उनके कण्ठों में सदा विराजमान रहती है।

एक दिन मुनि बप्पभट्टी शौचनिवृत्ति के पश्चात् जब जंगल से लौट रहे थे, तो उस समय सहसा वर्षा होने लगी। वर्षा से रक्षा हेतु वे एक देवमन्दिर में प्रविष्ट हुए। उसी समय एक अतीव तेजस्वी एवं सुन्दर क्षत्रिय राजकुमार भी वृष्टि से परित्राणार्थ उस चैत्य में आया और मुनि को वन्दन कर वहां बैठ गया। उस क्षत्रिय कुमार की दृष्टि एक श्यामल शिलापट्ट पर उत्कीर्ण अभिलेख पर पड़ी। उसने उस अभिलेख को पढ़ना प्रारम्भ किया। गूढ़ार्थ एवं रस से ओत-प्रोत उन काव्यों का अर्थ समझ में न आने पर उस क्षत्रियकुमार ने बप्पभट्टी से उन काव्यों को पढ़ने एवं उनका अर्थ समझाने की प्रार्थना की। बप्पभट्टी ने मधुर स्वर में काव्य-पाठ करते हुए क्षत्रियकुमार को उन श्लोकों का अर्थ समझाया। श्लेषपूर्ण श्लोकों के अद्भुत रसपूर्ण अर्थ और बाल मुनि की व्याख्या शैली से वह क्षत्रिय किशोर आश्चर्याभिभूत एवं आनन्दविभोर हो उठा। वह बालक मुनि की अद्भुत् प्रतिभा से पूर्णतः प्रभावित हो गया। वृष्टि रुकने पर वह पथिक क्षत्रिय किशोर मुनि के साथ-साथ सहर्ष वसति में आया। मुनि बप्पभट्टी का अनुसरण करते हुए उस किशोर पान्थ ने भी आचार्यश्री को वन्दन-नमन किया।

नवागन्तुक किशोर के अन्तर्मन को आशीर्वचन से अभिसिंचित करते हुए आचार्यश्री ने उसके ग्राम, कुल, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में पूछा। उस किशोर ने अति विनम्र स्वर में अपना परिचय देते हुए कहा—"जगद्वन्द्य योगीश्वर! महायशस्वी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की वंश परम्परा में कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशोवर्मा का यह अकिंचन पुत्र है। मेरी अमितव्ययी वृत्ति से व्यथित हो पितृदेव ने मुझे मितव्ययी वृत्ति अपनाने की शिक्षा दी। उस हितप्रद शिक्षा से भी मेरा अहं अत्युग्र वेग से जागृत हो अभिवृद्ध हो उठा और मैं माता-पिता को बिना कहे ही राजप्रासाद से एकाकी ही निकल पड़ा और अनेक स्थानों पर घूमता हुआ यहां आपश्री की चरण-शरण में उपस्थित हुआ हूं।"

आचार्यश्री द्वारा अपना नाम पूछे जाने पर उसके विशाल आयत लोचनों के पलकयुगल ग्रीवा के साथ ही नीचे की ओर झुक गये और उसने खटिका से क्षितिपट्ट पर "आम" लिख दिया।

नवागत किशोर के, इस उच्चकुलोद्भव जनोचित संस्कार सम्पन्न व्यवहार को देखकर आचार्य सिद्धसेन को विश्वास हो गया कि वस्तुत: वह कोई उच्च कुलोद्भव महा पुण्यशाली प्राणी है।

उन्हें कुछ आभास सा हुआ कि इस किशोर को कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने कहीं देखा है। उसी क्षण उनके स्मृतिपटल पर विगत अतीत में देखा हुआ एक दृश्य अंकित हो उठा। दश-ग्यारह वर्ष पूर्व रामसीणि की विकट वनी में विचरण करते समय पीलू (जाल) वृक्षों के झुण्ड की छाया के नीचे वस्त्र की झोली में लेटे हुए छ: मास की आयु के एक बालक पर उनकी दृष्टि पड़ी थी। उस छोटे से शिशु के अद्भुत् लक्षणों को देखकर वे उसके सन्निकट खड़े हो गये और बड़ी देर तक उसकी ओर देखते ही रह गये।

कतिपय क्षणों के पश्चात् उन्हें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि बालक के आस-पास चारों ओर छाया का स्थान धूप ले रही है किन्तु बालक के मुख-मण्डल और शरीर पर छाया पूर्व की भांति ही अचल है, सुस्थिर है। उसी समय उन्हें विश्वास हो गया था कि यह कोई महा पुण्यशाली प्राणी है। उनके मन में इस प्रकार का विचार उठा ही था कि आस-पास के वृक्षों से फलों को चुन-चुन कर एकत्रित करती हुई उस बालक की माता वहां आई। उनने बड़ी शालीनता से भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

मुखाकृति से किसी उच्च कुल की कुलवधु प्रतीत होने वाली उस महिला से मैंने पूछा था—"वत्से! तुम कौन हो, किस कुल की वधू हो और तुम्हारी इस विपन्नावस्था का कारण क्या है? हम सब प्रकार के सांसारिक प्रपंचों से विनिर्मुक्त श्रमण हैं, अत: निस्संकोच हो बताने योग्य वास्तविक स्थिति हमारे समक्ष रख दो।"

उस सम्भ्रान्त महिला ने कहा था—"महात्मन्! आप जैसे सम शत्रु-मित्र विश्वबन्धु महायोगी से छुपाने योग्य कोई बात नहीं है। मैं कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशोवर्मा की राजमहिषी हूं। जिस समय यह बच्चा मेरे गर्भ में था, उस समय मेरे प्रति मेरी सपत्नी रानी का सौतिया डाह अत्युग्र वेग से जागृत हुआ। पूर्व में महाराजाधिराज ने किसी समय मेरी उस सपत्नी के किसी कार्य से अत्यधिक प्रसन्न हो उससे यथेच्छ वर मांगने का आग्रह किया था। उसने वह वर उस समय न मांग कर महाराज के पास ही धरोहर के रूप में रख दिया था। मुझे गर्भवती देख कर ईर्ष्याभिभूता मेरी वह सपत्नी मेरे गर्भस्थ शिशु के जीवन को धूलिसात करने के लिये कटिबद्ध हो गई। उसने महाराज से उस वरदान की याचना की और उसके

परिणामस्वरूप महाराज ने मुझे कान्यकुब्ज राज्य से निर्वासित कर दिया। बाल्य-काल से ही आत्मसम्मान मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय रहा है। अपने आत्म-सम्मान की रक्षार्थ मैंने हंसते-हंसते मृत्यु का आलिंगन करना सदा श्रेयस्कर समझा है। इसीलिये श्वसुर गृह से निर्वासित होने पर मैंने पिता के घर जाने की अपेक्षा अरण्य की शरण ग्रहण करना ही उचित समझा। यही कारण है कि मैं आत्म-सम्मान के साथ स्वावलम्बी वन्य जीवन जी रही हूं।"

मैं उस समय उस स्वाभिमानिनी साहस की प्रतिमूर्ति राजरानी की निर्भी-कता देखकर क्षण भर के लिये स्तब्ध रह गया था। अन्त में मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा था—"वत्से ! नगरस्थ हमारे चैत्य में चल कर रहो। वहां चैत्य की शुश्रूषा और इस पुण्यशाली महाप्रतापी पुत्र की प्रतिपालना करती हुई कुछ समय तक अपने आने वाले अच्छे दिनों की प्रतीक्षा करो।"

मेरे परामर्श को स्वीकार कर अपने पुत्र को लिये हुए वह हमारे साथ ही नगर में आ गई थी और चैत्य की शुश्रूषा करने में लग गयी थी।

दूसरे दिन हमने उस नगर से अन्यत्र विहार कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् विहार काल में हमने सुना था कि राजरानी को निर्वासित करवाने वाली रानी का उसकी सौतों द्वारा किये गये षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप प्राणान्त हो गया है और कान्यकुब्जराज यशोवर्मा ने गुप्तचरों से खोज करवाकर उस महारानी और राजकुमार को हमारे चैत्य से ससम्मान बुलवा कर अपने राजप्रासाद में पुनः रख लिया है।"

अपने स्मृतिपटल पर उभरी हुई इस पूर्व घटना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री सिद्धसेन ने परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से राजकिशोर को ऐड़ी से चोटी तक निहारा और मन ही मन उन्हें विश्वास हो गया कि उन्होंने वनवासिनी राजरानी के जिस छोटे से शिशु को पूर्व में पीलू वृक्षों के झुण्ड की छाया में एक झोली में देखा था, वही यह राजकिशोर होना चाहिये। भव्य व्यक्तित्व के साथ-साथ जो प्रशस्त शुभ-लक्षण इस किशोर में दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे राजपुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी में प्रायः परिलक्षित नहीं हुआ करते।

इस प्रकार विचार कर आचार्य सिद्धसेन ने सुवासिक्त स्वर में उस किशोर को सम्बोधित करते हुए कहा—"वत्स ! निश्चिंत हो अपने मित्र मुनि के पार्श्व में रहकर उनसे सभी प्रकार की कलाओं एवं विद्याओं का लगनपूर्वक समीचीन रूपेण अध्ययन करो।"

आचार्यश्री के निर्देशानुसार राजकुमार आम मुनि वप्पभट्टी के साथ रहने लगा। उसने प्रगाढ़ निष्ठा, श्रद्धा, अध्यवसाय तथा परिश्रमपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन

प्रारम्भ किया और समुचित समय में, सभी विद्याओं एवं कलाओं में अद्भुत् प्रवीणता प्राप्त कर ली।

अपना अध्ययन पूर्ण हो जाने पर एक दिन राजकुमार आम ने अपने परम उपकारी गुरु सिद्धसेन के चरणों में मस्तक झुकाते हुए असीम कृतज्ञता भरे स्वर में उनसे निवेदन किया—"अकारण करुणाकर गुरुदेव ! आपने असीम अनुग्रह कर मुझ पर जो पारावार विहीन उपकार किया है, मैं जन्म-जन्मान्तरों तक भी उस ऋण के भार से कभी उऋण नहीं हो सकता।"

तत्पश्चात् गुरु द्वारा किये गये उपकार के भार से अवनत राजकुमार आम ने अपने सखा ब्रह्मचारी मुनि बप्पभट्टी के पास आकर कहा—"महामुने ! गुरुदेव और आप द्वारा मुझ पर किये गये असीम उपकार के भार से मैं दबा जा रहा हूं। यदि मुझे कभी कान्यकुब्ज का विशाल राज्य मिला तो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि निश्चित रूप से मैं आपको राज्य दूँगा।[1]

किशोर मुनि बप्पभट्टी ने ईषत् स्मितपूर्वक बात को टालते हुए केवल इतना ही कहा—"राजकुमार ! हमारे इस निखिल विश्व के एकच्छत्र अध्यात्म साम्राज्य से भी बढ़कर संसार में अन्य और कोई राज्य है क्या ?"

राजकुमार आम के इस प्रकार सकल कलानिष्णात होने के कुछ ही दिनों अनन्तर कान्यकुब्जेश यशोवर्मा रुग्ण हो गया। अपना अन्तिम समय सन्निकट जानकर उसने अपने चरों को आज्ञा दी कि वे यथाशीघ्र राजकुमार आम को ढूँढ़ कर ससम्मान उसके सम्मुख उपस्थित करें। कान्यकुब्जीय गुप्तचरों को स्वल्प श्रम से ही राजकुमार से साक्षात्कार हो गया। आचार्य सिद्धसेन की आज्ञा प्राप्त कर गुप्तचर अपने भावी राजराजेश्वर को लेकर कान्यकुब्जेश्वर की सेवा में पहुँचे।

यशोवर्मा ने बड़े ही हर्षोल्लासपूर्ण महोत्सव के साथ अपने पुत्र आम का कान्यकुब्ज के राज्यसिंहासन पर राज्याभिषेक किया। कान्यकुब्ज राज्य की विशाल चतुरंगिणी सेना ने, जिसमें कि एक लाख अश्वारोही, एक लाख रथारोही, चौदह सौ गजारोही और एक कोटि पदाति थे, गगनवेधी जयघोषों के साथ अपने सद्यः अभिषिक्त कान्यकुब्जेश्वर महाराजा आम का सैनिक रीति से अभिवादन किया। यह बताई गई सैन्य संख्या शोधप्रिय विद्वानों के लिये विचारणीय है।

महाराजा आम के राज्यसिंहासनाधिरूढ़ होने के कुछ ही समय पश्चात् उसके पिता महाराज यशोवर्मा का देहावसान हो गया। महाराजा आम ने अपने प्रधाना-

---

[1] सब्रह्मचारिता सख्याद् राजपुत्र, प्रपन्नवान् ।
बप्पभट्टे ! प्रदास्यामि, प्राप्तं राज्य तव ध्रुवं ॥७५॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० ८२)

मात्य आदि प्रधान पुरुषों को आचार्य सिद्धसेन की सेवा में प्रेषित कर विद्वान् मुनि बप्प भट्टी को उनके साथ ही कान्यकुब्ज भेजने की प्रार्थना की। संघ-प्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कतिपय गीतार्थ मुनियों के साथ अपने परम प्रिय शिष्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज के लिये विदा किया।

नगर से पर्याप्त दूरी पर बप्पभट्टी के आगमन का समाचार सुन कर स्वयं कान्यकुब्जेश्वर उनके सम्मुख गया। वन्दन-नमन, अभिवादन, कुशल प्रश्न आदि के पश्चात् आम राज ने बप्पभट्टी से कान्यकुब्ज राज्य के पट्टहस्ती पर बैठकर नगर प्रवेश करने की प्रार्थना की।

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन्! मैंने सभी प्रकार के सावद्य कार्यों एवं संग आदि का परित्याग कर पंच महाव्रत धारण किये हैं। पट्टहस्ती पर बैठने से तो मेरे श्रमणाचार में अतिचार लगेगा।"

इस पर राजा आम ने कहा—"भगवन्! मैंने आपके समक्ष पहले प्रतिज्ञा की थी कि मुझे राज्य मिलने पर वह राज्य आपको दे दूंगा। यह श्रेष्ठ पट्ट हस्ती राज्याभिषेक का ही प्रतीक है। इस पर आपके बैठने से मेरी प्रतिज्ञापूर्ण हो जायगी। अन्यथा अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने का शल्य मेरे हृदय में जीवन भर खटकता रहेगा।"

यह कहते हुए आम राज ने बप्पभट्टी को अपने प्रलम्ब बाहु-पाश में आवद्ध कर बड़े ही प्रेम से बलात् अभिषेक-हस्ती की पीठ पर सजी अम्बावारी में रखे सिंहासन पर बैठा दिया।[1]

नगर के प्रवेश द्वार से राजप्रासाद तक के मुख्य पथों के दोनों ओर खड़े आबालवृद्ध नागरिकों ने विद्वान् मुनिपुङ्गव बप्पभट्टी का अभूतपूर्व स्वागत किया।

---

[1] भूपः समग्रसामग्र्या, सम्मुखीनस्ततोऽगमत्।
जुंरारोहणे विद्वत्कुंजरस्यर्थनां व्यधात् ॥८३॥
बप्पभट्टिरुवाचाथ, भूपं शमवतां पतिः।
सर्वसंगमुचां नोऽत्र, प्रतिज्ञा हीयतेतमाम् ॥८४॥
राजोवाचे वः पुरा पूर्वं यन्मया प्रतिशुश्रुवे।
राज्यमाप्तं प्रदास्यामि, तल्लक्ष्म वरवारणः ॥८५॥
इत्यालाप्य बलात् पट्ट कुंजरे धरणीधरः।
जितक्रोधाद्यभिज्ञानधृतछत्रचतुष्टयम् ॥८७॥
....
प्रावेशयत् शमीश्रेणीश्वरमत्युत्सवात् पुरम् ॥८८॥
(प्रभावक चरित्र, पृ० ८२)

आमराज ने राजोचित सम्मान के साथ बप्पभट्टी को अपने यहां रखा और अहर्निश अपना अधिकांश समय उनकी सेवा में रहकर धर्म-चर्चा एवं काव्य विनोद में ही वह व्यतीत करने लगा।

कतिपय दिनों के पश्चात् महाराजा आम ने अपने अमात्यों एवं प्रभावशाली पौरजनों के साथ मुनि बप्पभट्टी को आचार्य सिद्धसेन की सेवा में इस प्रार्थना के साथ भेजा कि बप्पभट्टी को आचार्य पद प्रदान कर उन्हें शीघ्र ही पुनः कान्यकुब्ज भेजने की कृपा करें।

बप्पभट्टी को आचार्य पद के सर्वथा योग्य समझते हुए आचार्य सिद्धसेन ने राजा आम की प्रार्थना स्वीकार कर ली और विक्रम सं० ८११ की चैत कृष्णा ८ के दिन शुभ-मुहूर्त्त में बप्पभट्टी को आचार्य पद प्रदान किया।[1]

अपने महाप्रतिभाशाली शिष्य को अपने से दूर न रखने की आंतरिक इच्छा होते हुए भी धर्मप्रभावना और आमराज की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना को ध्यान में रखते हुए आचार्य सिद्धसेन ने आचार्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज के लिये विदा किया।

बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज की ओर विदा करते समय आचार्य सिद्धसेन ने आवश्यक शिक्षा देते हुए उनसे कहा—"वत्स ! तुम जिनशासन के उदीयमान ज्योतिर्मय नक्षत्र हो। तुम यौवन के प्रवेशद्वार की ओर अग्रसर हो रहे हो। तुम इस समय एक सुसमृद्ध जनपद के स्वामी महाराजा आम के पूज्य होकर उसकी राजसभा में जा रहे हो। अपने सम्पूर्ण जीवन में तुम इस बात को कभी न भूलना कि तरुणावस्था और राजा द्वारा पूजित होना ये दोनों ही प्रकार की स्थितियां प्रायशः महान् अनर्थकारिणी होती हैं। अतः तुम अपने जीवन में सदा सजग रहकर विषय वासनाओं की खान नारि-संसर्ग से दूर रहते हुए कामदेव रूपी सम्मोहक पिशाच से सदा सावधानीपूर्वक आत्मरक्षा करते रहना।"

अपने आराध्य गुरुदेव की शिक्षा को शिरोधार्य करते हुए बप्पभट्टी ने कहा—"भगवन् ! मैं अपने भक्तजनों के घर से कभी भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। इसके साथ ही साथ मैं यह भी प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं भविष्य में जीवनपर्यन्त दूध, दही, घृत, तेल और मीठा—इन पांचों ही विगयों अर्थात् विकृतिजनक पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।"

---

[1] एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके, (८११)
विक्रमात् सोऽभवत् सूरिः कृष्णचैत्राष्टमीदिने ॥११५॥

(प्रभावक चरित्र, पृ. ८१)

बप्पभट्टी ने अपनी इन दोनों प्रतिज्ञाओं की जीवनपर्यन्त पूर्णरूपेण परिपालना के लिये अपने गुरु सिद्धसेन से तत्काल विधिवत् नियम ग्रहण किये ।[1]

तदनन्तर कतिपय गीतार्थ मुनियों एवं आमराज के अमात्य आदि प्रधान पुरुषों के साथ अपने गुरु को प्रणाम कर आचार्य बप्पभट्टी कन्नोज की ओर प्रस्थित हुए । विहार क्रम से कतिपय दिनों के पश्चात् कन्नोज पहुंचे और नगर के बहिरस्थ एक उद्यान में ठहरे ।

बप्पभट्टी के आगमन का समाचार सुनते ही आमराज हर्ष-विभोर हो उठा। उसने अपनी चतुरंगिणी सेना, अभिषेक हस्ती, सामन्तों, परिजनों एवं पौरजनों की विशाल जनमेदिनी के साथ आचार्यश्री बप्पभट्टी का बड़े महोत्सव के साथ नगरप्रवेश करवाया । इस प्रकार कान्यकुब्ज में रहकर आचार्य बप्पभट्टी अपने उपदेशामृत से राजा और प्रजा वर्ग को सन्मार्ग पर अग्रसर करने लगे । उनके प्रवचनों को सुनने के लिये प्रतिदिन दूर-दूर से जनसमूह उद्वेलित सागर की लहरों के समान कान्यकुब्ज की ओर उमड़ते रहते।

बप्पभट्टी के उपदेशों में आमराज ने अनेक जनकल्याणकारी कार्य किये । प्रजाजनों के मानस में धर्मजागरण की अभिनव लहर उत्पन्न हुई और लोगों में धार्मिक तथा जनकल्याणकारी कार्यों के प्रति परस्पर होड़ सी लग गई । बप्पभट्टी के उपदेश से महाराजा आम ने दो मन्दिरों का निर्माण करवाया । राजगुरु के रूप में बप्पभट्टी की ख्याति दिग्दिगन्त में प्रसृत हो गई ।

अप्रतिम प्रतिभा, पारगामी पांडित्य, वाचस्पति तुल्य वाग्मिता, अत्यद्भुत कवित्वशक्ति, अक्षोभ्य तार्किक बुद्धि और बड़े से बड़े प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में सहज ही परास्त कर देने वाले अप्रतिम वाद-कौशल आदि गुणों के कारण तथा आमराज्य के शासनकाल में जैनधर्म को राज्याश्रय प्राप्त होने के परिणामस्वरूप जिनशासन की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई ।

आमराज एकदा बप्पभट्टी के पास बैठा हुआ काव्य विनोद का रसास्वादन कर रहा था । उसने अपने अन्तःपुर के किसी रहस्यपूर्ण दृश्य पर गाथार्द्ध का निर्माण

---

[1] अथानुशिष्टो विधिवत्, गुरुभिर्ब्रह्मरक्षणे ।
तारुण्यं राजपूजा च, वत्सानर्थद्वयं ह्यदः ।।१११।।
आत्मरक्षा तथा कार्या, यथा न च्छल्यते भवान् ।
वामकामपिशाचेन, यत्यं तत्र पुनः पुनः ।।११२।।
भक्तं भक्तस्य लोकस्य, विकृतिश्चाखिला अपि ।
आजन्म नैव भोक्ष्येऽहममुं नियममग्रहीत् ।।११३।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ ८३)

किया और उसे समस्या पूर्ति हेतु बप्पभट्टी के समक्ष रखा। सिद्धसारस्वत महाकवि बप्पभट्टी ने तत्काल यथातथ्यरूपेण समस्या पूर्ति कर दी। उस नितरां निगूढ़ रहस्य के इस प्रकार अनायास ही प्रकट हो जाने से आमराज मर्माहत, स्तब्ध एवं सशंक हो उठा। आमराज की विकृत मुखाकृति और वक्र एवं सशंक भावभंगिमा को देखकर आचार्य बप्पभट्टी तत्काल वहां से उठकर अपने विश्राम-स्थल पर लौटे और उन्होंने अपने सब साधुओं को तत्काल वहां से विहार करने का आदेश दिया। जाते समय द्वार के कपाट पर बप्पभट्टी ने निम्नांकित श्लोक लिख दिया :—

याम: स्वस्ति तवास्तु रोहणगिरेर्मत्त: स्थितिप्रच्युता,
वर्तिष्यन्त इमे कथं कथमिति स्वप्नेऽपि मैवम् कृथा:।
श्रीमंस्ते मणयो वयं यदि भवल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा,
ते शृङ्गारपरायणा: क्षितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति न: ।।१६१।।
(प्रभावक चरित्र)

अर्थात्—हे रत्नों के उत्पत्ति केन्द्र रोहण गिरिराज! हम तो जा रहे हैं, तुम्हारा कल्याण हो। तुम कभी स्वप्न में भी इस प्रकार का विचार अपने मन में न लाना कि मेरे आश्रय से पृथक् हुआ यह रत्न कहां, किस दिशा में और किस प्रकार रहेगा? श्रीमन्! हम आपके रत्न हैं, आपसे हमने प्रतिष्ठा प्राप्त की है। अत: शृङ्गाररसिक सभी मुकुटधर महिपाल हमें तत्काल अपने सिर पर बैठा लेंगे।

तदनन्तर संघ एवं आमराज को बिना कुछ कहे-सुने ही आचार्य बप्पभट्टी ने अपने मुनिमण्डल के साथ कान्यकुब्ज से विहार कर दिया। अप्रतिहत विहार क्रम से अनेक स्थानों में विचरण करते हुए वे गौड़ प्रदेश की राजधानी लक्षणावती नगरी के बाहर एक उद्यान में ठहरे।

गौड़राज महाराजा धर्म की राजसभा के विद्वद्शिरोमणि प्रवन्ध कवि वाक्पतिराज को जब ज्ञात हुआ कि महाकवि बप्पभट्टी नगर के बाहर एक उद्यान में आये हुए हैं, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वाक्पतिराज ने तत्काल महाराजा धर्म की सेवा में उपस्थित हो, उसे आचार्य बप्पभट्टी के आगमन की सूचना देते हुए निवेदन किया—"पृथ्वीपाल! साक्षात् बृहस्पति तुल्य सिद्धसारस्वत कवि बप्पभट्टी हमारे सौभाग्य से यहां आये हैं।"

यह सुनते ही धर्म नृपति पुलकित हो उठा और बोला—"कवि कुलकुमुदचंद्र जैनाचार्य बप्पभट्टी जिस दिन हमारे यहां आ जायं, वह दिन वस्तुत: हमारे लिये परम सौभाग्यशाली होगा। केवल एक ही बात विचारणीय है कि आमराज के साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण हैं। बप्पभट्टी हमारे यहां रह जायं और आमराज द्वारा बुलाये जाने पर पुन: उसके पास लौट जायं तो, उस अवस्था में हमारा वस्तुत: लोकदृष्टि से बड़ा तिरस्कार होगा, अपमान होगा। इतना सब कुछ होते हुए भी बप्पभट्टी

जैसे कवीश्वर मुनीश्वर के काव्यामृतपान एवं संसर्ग का स्वर्णिम अवसर हम खोना भी नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में बप्पभट्टी से यहां रहने की प्रार्थना के साथ ही उन्हें निवेदन किया जाय कि आमराज के साधारण आमंत्रण मात्र पर आप हमें छोड़कर न जायं। आमराज आपको अपने यहां पुनः ले जाने के लिये धर्मनृप के समक्ष यहां राजसभा में स्वयं उपस्थित होकर कहें, तभी आप कान्यकुब्ज लौटें। अन्यथा नहीं।"

प्रबन्ध कवि वाक्पतिराज ने महाकवि जैनाचार्य बप्पभट्टी की सेवा में उपस्थित हो वंदन-नमन के पश्चात् उनकी सेवा में गौड़राज धर्म नृपति की ओर से लक्षणावती नगरी में उन्हें विराजने की गौड़राज के शब्दों में ही प्रार्थना की।

आचार्य बप्पभट्टी ने वाक्पतिराज द्वारा की गई राजा धर्म की प्रार्थना को अक्षरशः यथावत् रूप में स्वीकार कर लिया। यह सुनकर राजा धर्म के हर्ष का पारावार न रहा।

वह उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन के पश्चात् महाराजा धर्म ने आचार्यश्री से लक्षणावती नगरी में प्रवेश करने की प्रार्थना की।

महाराजा धर्म ने बप्पभट्टीसूरि को उनके योग्य समुचित स्थान में ठहराया। राजसभा के पार्षदों और पौरजनों के साथ महाराजा धर्म बप्पभट्टी के उपदेशामृत का पान करता हुआ सुखपूर्वक रहने लगा। आचार्यश्री के धर्मोपदेश से गौड़ प्रदेश में भी जिनशासन का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ।

उधर दूसरे दिन प्रातःकाल बप्पभट्टीसूरि को न देख राजा आम ने नगर में, नगर के बाहर उद्यानों में खोज करने हेतु अपने अनुचर भेजे। पर वे कहीं नहीं मिले। अगले दिन स्वयं राजा आम एकाकी ही प्रातः सूर्योदय से बहुत पूर्व, नगर के बाहर अवस्थित उद्यानों की ओर उन्हें खोजने के लिए प्रस्थित हुआ। एक के पश्चात् एक-एक करके उसने सभी उद्यान छान डाले, पर उसे बप्पभट्टीसूरि कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुए। अवशिष्ट अन्तिम उद्यान में उसने एक आश्चर्यजनक अद्भुत दृश्य देखा कि एक काले सर्प ने नेवले के साथ लड़ते-लड़ते नेवले को मार दिया है। यह अद्भुत दृश्य देखकर आमराज को बड़ा विस्मय हुआ। ध्यान से देखने पर आमराज को आभास हुआ कि नाग के सिर में मणि है। निर्भीक आमराज ने झपटकर नागराज के फन को पकड़ा और उसमें से मणि निकाल कर नाग को छोड़ दिया। उस उच्चकोटि की अलभ्य श्रेष्ठ मणि को देखकर आमराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। हर्षातिरेकवशात् आमराज के कण्ठ से उसके आंतरिक हर्षोद्गार निम्नलिखित श्लोकार्द्ध के रूप में सहसा प्रकट हुए :—

शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या, अन्या यो येन जीवति।

राजा आम ने राजसभा में उपस्थित हो विद्वन्मंडली के समक्ष इस श्लोकार्द्ध को समस्यापूर्ति हेतु रखा। छोटे-बड़े सभी कवियों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार

समस्यापूर्ति का प्रयास किया किंतु समस्यापूर्ति किसी भी कवि के द्वारा न किये जाने पर आमराज बड़ा खिन्न हुआ। उसके हृदय में बप्पभट्टी का वियोग शल्य के समान खटकने लगा। उसने स्पष्टतः अनुभव किया कि बप्पभट्टी के बिना न केवल उसकी राजसभा अथवा उसका राज प्रासाद ही अपितु उसका जीवन भी शून्य ही है।

उसने बप्पभट्टी को ढूंढ़ने का दृढ़ संकल्प किया। विचार करते-करते उसने अन्ततोगत्वा एक उपाय खोज ही निकाला। आमराज ने एक पट्ट पर उस समस्या को अंकित करवाकर अपने राज्य में घोषणा करवा दी कि जो कोई भी व्यक्ति इस समस्या की पूर्ति कर देगा, उसे आमराज एक लाख स्वर्णमुद्राएं पारितोषिक के रूप में प्रदान करेगा।

द्यूतक्रीड़ा के दुर्व्यसन में फंसकर रंक बने एक विपन्न व्यक्ति ने इस समस्यापूर्ति को विपुल धनप्राप्ति का साधन समझ कर, उस समस्या को एक पत्र में लिखा और वह स्थान-स्थान पर बप्पभट्टी को खोजता हुआ अन्ततोगत्वा एक दिन लक्षणावती में बप्पभट्टी की सेवा में पहुंच ही गया। वन्दन-नमन के अनन्तर उसने आचार्य श्री के समक्ष वह श्लोकार्द्ध रखा। सारस्वतसिद्ध बप्पभट्टी ने तत्काल निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण करते हुए समस्यापूर्ति कर दी :—

शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या, अन्यो यो येन जीवति।
सुगृहीतं हि कर्त्तव्यं, कृष्णसर्पमुखं यथा॥

वह व्यक्ति लक्षणावती से कान्यकुब्ज लौटा और आमराज की सेवा में उपस्थित हो उसने पूरा श्लोक कान्यकुब्जेश के सम्मुख प्रस्तुत किया। आमराज समुचित समस्यापूर्ति से बड़ा प्रसन्न हुआ। तत्काल उस व्यक्ति को एक लाख स्वर्ण मुद्राएं प्रदान करते हुए आमराज ने पूछा—"भद्र! वस्तुतः इस समस्या की पूर्ति किसने की है? क्या तुम यह बता सकते हो?"

द्यूतव्यसनी ने उत्तर में कहा—"राजन्! सरस्वती पुत्र बप्पभट्टीसूरि ने।"

"कहां हैं वे कविकुलकुमुदचन्द्र?" हर्ष से ओतप्रोत औत्सुक्यपूर्ण स्वर में आमराज ने पूछा।

उत्तर की क्षण भर भी प्रतीक्षा न कर आमराज ने पुनः प्रश्न किया "क्या तुमने स्वयं ने उनको देखा है?"

द्यूतव्यसनी ने कहा—'हां, महाराज! मैंने स्वयं ने उनके दर्शन किये हैं। मैंने उनके समक्ष समस्या रखी और उन्होंने तत्काल समस्यापूर्ति कर दी। वे गौड़ाधिप महाराज धर्म की राजसभा की शोभा बढ़ा रहे हैं।"

दूसरे ही दिन आमराज ने अपने विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न अमात्य के साथ, आचार्य बप्पभट्टी की सेवा में एक पत्र प्रेषित किया, जिसमें क्षमायाचना के पश्चात् अन्तस्तलस्पर्शी भावपूर्ण भाषा में, उन्हें तत्काल कन्नौज लौट आने की प्रार्थना की गई थी।

दूत अतीव द्रुतगति से लक्षणावती पहुंचा और उसने बप्पभट्टी के चरण-कमलों में वह पत्र प्रस्तुत किया। पत्र को पढ़ते ही वे आनन्द-विभोर हो उठे।

उस दूत को, बप्पभट्टी ने, धर्मराज को दिये गये अपने वचन का विवरण सुनाते हुए कहा :—"जब तक आमराज अद्भुत् कौशल से स्वयं महाराजा धर्म के समक्ष उपस्थित हो मुझे अपने यहां पुनः ले जाने की बात न कह दें तब तक लक्षणावती न छोड़ने के लिये मैं वचनबद्ध हूं। अतः आमराज से जाकर कह देना कि वे शीघ्र ही यहां आयें और हमारी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें। जिससे कि मैं शीघ्र ही कान्यकुब्ज आ सकूं।"

बप्पभट्टी ने गूढ़ार्थपूर्ण छन्दों की रचना कर एतद्विषयक अपना सन्देश भी अमात्य के साथ आमराज के पास भेजा।

अपने अमात्य से आचार्य बप्पभट्टी के मौखिक एवं लिखित संदेश को पाकर महाराज आम, बप्पभट्टी की सेवा में उपस्थित होने के लिए आतुर हो उठा। गौड़ेश के साथ कान्यकुब्जेश की प्रगाढ़ शत्रुता थी। इसके उपरान्त भी अपने प्राणाधिक प्रिय आचार्य बप्पभट्टी को कन्नौज लाने के लिये अपने प्राणों तक के मोह का परित्यागकर आमराज प्रच्छन्न वेष में पहले बप्पभट्टी की सेवा में और तदनन्तर उनके साथ धर्मराज की राजसभा में धर्मराज के समक्ष भी जा उपस्थित हुआ।

बप्पभट्टी ने अनेकार्थक गूढ़ एवं अद्भुत श्लेषपूर्ण शब्दों में महाराजा धर्म को आमराज का परिचय दिया। आमराज ने भी उसी श्लेषपूर्ण नितरां अति निगूढ़ शैली में प्रच्छन्न रूप से अपना वास्तविक परिचय देते हुए बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज ले जाने के लिये बड़े ही नाटकीय ढंग से राजा धर्म के समक्ष अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत कर दी।[1]

---

[1] आमराजोऽप्यथ श्रीमान्प्रच्छन्न इवांशुमान्।
विशिष्टैः स्वार्थनिष्ठोऽगात्, स स्थगीधरकैतवात्॥२३६॥
आत्मविज्ञप्तिकां धर्मराजस्यादर्शयद् गुरुः।
आगमिष्यद्वियोगाग्निज्वालामिव सुदुस्सहाम्॥२४०॥
वाचयित्वा च तां पृष्टो, दूतस्ते की दृशो नृपः।
स प्राहास्य स्थगीभर्तुस्तुल्यो देव प्रबुध्यताम्॥२४१॥

[शेष टिप्पणी-सम्बन्ध ५६६ पर]

वह सब कुछ ऐसे नाटकीय ढंग और अद्‌भुत रीति से किया गया था कि राजा आम और बप्पभट्टी के अतिरिक्त किसी अन्य को किंचित्मात्र भी ज्ञात होना तो दूर लवलेशमात्र भी आभास तक नहीं हो पाया कि कान्यकुब्जेश्वर महाराजा आम गौड़राज्याधीश महाराजा धर्म के समक्ष स्वयं उपस्थित हुआ है और उसने आचार्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज ले जाने के सम्बन्ध में महाराजा धर्म को अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत कर दी है।

दूसरे दिन प्रातःकाल आचार्य बप्पभट्टी ने धर्मराज से जाकर कहा— "राजन् ! अब मैं कन्नौज जाने के लिये समुद्यत हूं।"

राजा धर्म ने साश्चर्य आचार्यश्री की ओर देखते हुए कहा—"भगवन् ! जब तक आमराज स्वयं मेरे सम्मुख उपस्थित होकर आपको कान्यकुब्ज ले जाने के लिये मुझे न कहें तब तक आप वहां न जाने के लिये वचन दे चुके हैं। क्या आप अपना वह वचन पूरा हुए बिना ही जा रहे हैं ?"

आचार्य बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् ! स्वयं आमराज ने कल राज्यसभा में आपके समक्ष उपस्थित हो मुझे कन्नौज ले जाने के सम्बन्ध में आपको विज्ञप्ति प्रस्तुत की थी। कल जो दूत आपके समक्ष राजसभा में उपस्थित हुआ था, वह आमराज ही तो था। उसने मुझे कान्यकुब्ज ले जाने के लिये—

(शेष ५६८ का टिप्पणी-सम्बन्ध)

मातुलिंगं करे बिभ्रत् सैष पृष्टश्च सूरिणा।
करे ते किं सचावादीद् 'बीजउरा' इति स्फुटम् ॥२४२॥ (दूसरा राजा अथवा उत्तर से)

दूतेन चाढकीपत्रे, दर्शिते गुरुराह सः।
स्थगीधरं पुरस्कृत्य 'तूअरिपत्त' मित्ययम् ॥२४३॥ (तवारिपत्रम्-तेरा शत्रु)

अथोवाच प्रधानश्च, सूरिरेष श्लथादरः।
अस्मास्विति प्रतिज्ञां य, दुस्तरां विदधे ध्रुवम् ॥२४५॥

विहितेऽत्रापि चेत्पूज्य, आयाति प्राज्य पुण्यतः।
अस्माभिः सह तद्देवाः प्रतुष्टा नो विचार्यताम् ॥२४६॥

तत्ती सीअली मेलावा केहा, धण उत्तावली प्रिय मन्द सिणेहा।
विरहिहिं माणुसु जं मरइ तसु कवण निहोरा, कंनि पवित्तडी जणु जाणइ दोरा ॥२४७॥
(दोरा-दोराद्-द्वौ राजानौ)
(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ८६)

विहितेऽत्रापि चेत्पूज्य आयाति प्राज्यपुण्यत: ।
अस्माभि: सह तद्देवा, प्रतुष्टा नो विचार्यताम् ।।

इस रूप में आपसे निवेदन भी किया था, विज्ञप्ति भी की थी ।"

धर्मराज के मुख से सहसा इस रूप में शोकोद्गार प्रकट हुए—"भगवन् ! मैं कितना मूढ़ हूं कि घर आये हुए शत्रु का न तो स्वागत ही कर सका और न उसे साध ही सका । इन दोनों में से किसी एक भी विधि से चिरसंचित वैर का बदला न चुका सका । अस्तु, अब आपका वियोग किस प्रकार सहन किया जा सकेगा, इस विचार से मन उद्विग्न हो रहा है, खिन्न हो रहा है ।"

आचार्य बप्पभट्टी ने महाराजा धर्म को 'संयोगा हि वियोगान्ता:' आदि सान्त्वनाप्रदायिनी तथ्योक्तियों एवं सूक्तियों से समझा-बुझा कर एवं आश्वस्त कर लक्षणावती से विहार किया । गौड़ राज्य की सीमा के बाहर आमराज ने उनका स्वागत किया और वे सब साथ-साथ पुन: कन्नौज लौटे । आमराज ने बड़े ही हर्षोल्लास एवं अपूर्व महोत्सव के साथ आचार्य बप्पभट्टी का कन्नौज में नगर-प्रवेश करवाया ।

तदनन्तर बप्पभट्टी कान्यकुब्ज में भव्यों को धर्मोपदेश देते हुए—जिनशासन का चहुंमुखी प्रचार-प्रसार एवं विकास करते हुए स्व-पर कल्याण में निरत रहने लगे ।

कालान्तर में एक दिन एक संदेशवाहक ने बप्पभट्टी की सेवा में उपस्थित हो उन्हें उनके गुरु सिद्धसेन का संदेश दिया । उस संदेश में आचार्य सिद्धसेन ने लिखा था :—

"वत्स ! मेरी देहयष्टि जरा से जर्जरित और अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गये हैं । नेत्रों की ज्योति क्षीणप्राया हो चुकने के कारण सब कुछ अस्पष्ट और धुंधला दिखाई देता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों के प्राहुणक प्राण तुम्हारे मुखकमल को देखने की एकमात्र उत्कट अभिलाषा के बल पर ही शरीर में रुके हुए हैं । यदि तुम्हारे मन में मेरा मुख देखने की इच्छा हो तो शीघ्रतापूर्वक यहां आ जाओ ।"

अपने गुरु के इस सन्देश के प्राप्त होते ही बप्पभट्टी ने तत्काल कन्नौज से मोढ़ेरा की ओर विहार किया । आमराज बड़ी दूरी तक उन्हें पहुंचाने आया और विदा करते समय उसने अपने विश्वस्त अधिकारियों एवं सेवकों को अपने गुरु के साथ भेजा ।

उग्र विहारक्रम से बप्पभट्टीसूरि शीघ्र ही मोढ़ेरा ग्राम में अपने गुरु की सेवा में उपस्थित हुए । अपने महान् प्रभावक शिष्य को देखकर आचार्य सिद्धसेन

परम प्रमुदित हुए। संघ का कार्यभार बप्पभट्टी को सम्हला कर उन्होंने आलोचनापूर्वक अनशन किया और समाधिपूर्वक रत्नत्रय की आराधना करते हुए परलोक-गमन किया।

अपने आराध्य गुरुदेव आचार्य सिद्धसेन के स्वर्गवास के अनन्तर बप्पभट्टी ने मोढ़ेरा ग्राम में रहते हुए संघ की समुचित रूप से व्यवस्था की और कुछ समय पश्चात् अपने मोढ़ गच्छ और संघ का कार्यभार गोविन्दसूरि एवं नन्नसूरि को सम्हला कर उन्होंने आमराज के प्रधानों के साथ कान्यकुब्ज की ओर प्रस्थान किया। कतिपय दिनों के पश्चात् वे पुनः कान्यकुब्ज पहुंचे। वहां कई वर्षों तक धर्मोपदेश देते हुए वे वहां राजा और प्रजाजनों को धर्मपथ पर आरूढ़ कर उन्हें उपकृत करते रहे।

कालान्तर में एक दिन गौड़राज महाराजा धर्म ने आमराज के पास अपना दूत भेजकर एक प्रस्ताव रखा कि बौद्ध महावादी वर्द्धनकुन्जर उनके यहां लक्षणावती में आया हुआ है और वह शास्त्रार्थ के लिए देश विदेश के सभी वादी-प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दे रहा है। किन्तु उसके साथ शास्त्रार्थ करने का कोई भी वादी साहस नहीं कर रहा है। ऐसी दशा में बप्पभट्टी और बौद्ध महावादी वर्द्धन कुन्जर के बीच शास्त्रार्थ करवाया जाय।

आमराज ने इस पण के साथ शास्त्रार्थ की चुनौती को स्वीकार कर लिया कि जिसका वादी हार जायेगा, वह राजा अपना सम्पूर्ण राज्य विजयी वादी के पक्षधर राजाको समर्पित कर देगा।

धर्मराज द्वारा इस पण के स्वीकार कर लिये जाने पर दोनों राज्यों की सीमा पर बौद्ध महावादी वर्द्धनकुन्जर के साथ आचार्य वप्पभट्टी का शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। जय पराजय के किसी प्रकार के निर्णय के विना उन दोनों विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ निरन्तर ६ मास तक चलता रहा।

अन्त में उस सौगत ने वप्पभट्टी को महामहिम महावादी बताते हुए उनकी विजय स्वीकार कर ली।

पीठासीन निर्णायकों ने शास्त्रार्थ का निर्णय सुनाते हुए जैनाचार्य वप्पभट्टी को विजयी और सौगत वादी वर्द्धनकुन्जर को पूर्णतः पराजित घोषित किया।

शास्त्रार्थ के इस निर्णय के बाद आमराज ने पूर्वकृत पण के अनुसार धर्मराज से अपना सम्पूर्ण राज्य समर्पित करने को कहा। महाराजा धर्म तत्क्षण अपना सम्पूर्ण गौड़ राज्य कान्यकुब्जेश्वर को समर्पित करने के लिए विधिवत् समुद्यत हो गया। किन्तु वप्पभट्टी के अनुरोध पर धर्मराज का राज्य यथावत् धर्मराज आयत्त ही रखना आमराज ने स्वीकार कर लिया। इसके परिणाम-स्वरूप इन दो

राज्यों की पारम्परिक शत्रुता समाप्त हुई। आमराज तथा धर्मराज दोनों ही पारस्परिक मैत्रीभाव के सूत्र में बंध गये।

आचार्य बप्पभट्टी ने उस बौद्ध आचार्य वर्द्धनकुन्जर को बड़े प्रेम से गले लगाया और उसे जैन सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों का बोध दे उसे बारह व्रतधारी श्रावक बनाया।

वर्द्धनकुन्जर को सभी प्रकार की परीक्षाएं लेने के पश्चात् दृढ़ विश्वास हो गया कि सुसुप्त्यवस्था हो अथवा जागृत अवस्था—सदा सरस्वती बप्पभट्टी के कण्ठ में विराजमान रहती है। सम्यग्दृष्टि बारह व्रतधारी श्रावक बनने के पश्चात् वह वर्द्धनकुन्जर बड़ी श्रद्धाभक्ति से वप्पभट्टी को नमस्कार कर अपने अभीष्ट स्थान पर चला गया। आमराज और धर्मराज भी बड़े प्रेम-पूर्वक एक दूसरे का अभिवादन कर अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

कालान्तर में आमराज और धर्मराज के बीच पुरानी शत्रुता पुनः उग्ररूप धारण करने लगी। यशोवर्मा के पुत्र आमराज ने विशाल सेना के साथ गौड़ राज्य पर आक्रमण किया। दोनों ओर से भीषण युद्ध हुआ। धर्मराज रणांगण में ही आमराज द्वारा यमधाम को पहुंचा दिया गया। धर्मराज का सामन्त प्रबन्ध कवि वाक्पति राज महाराज आम के सेनापति द्वारा बन्दी बना लिया गया। आमराज की युद्ध में विजय हुई और उसने सम्पूर्ण गौड़ राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

प्रबन्धकवि वाक्पतिराज ने कान्यकुब्जेश्वर के सैनिक कारागार में रहते हुए "गौड़वहो" नामक एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की। उससे आमराज उस पर बड़ा प्रसन्न हुआ और वाक्पतिराज को कारागार से मुक्त कर उसे अपनी राज्यसभा का सदस्य बना लिया। राजकवि के रूप में रहते हुए वाक्पतिराज ने आमराज की यशोगाथाओं के अनेक चमत्कारपूर्ण श्लोक बनाये और 'महुमहविजय' नामक एक ग्रन्थरत्न की भी रचना की। आमराज ने प्रसन्न हो प्रतिवर्ष दो लाख स्वर्ण मुद्राओं की आय की जागीर वाक्पतिराज को प्रदान की।

राजा आम न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन और आचार्य वप्पभट्टी के उपदेशानुसार अनेक प्रभावनापूर्ण कार्यों से सद्धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगा। इधर वाक्पतिराज को संसार से पूर्णरूपेण विरक्ति हो चुकी थी। वे आमराज से अनुमति ले मथुरा चले गये और वहां सन्यास ग्रहण कर अपने इष्ट की उपासना करने लगे।

कालांतर में एक दिन धर्मोपदेश देते समय वप्पभट्टी ने विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि विश्व के समस्त धर्मों में जैनधर्म नवनीत के समान सारभूत और उत्तम है। उन्होंने राजा आम

को परामर्श देते हुए कहा—"परीक्षापूर्वक तुम जैन धर्म को विधिवत् अङ्गीकार कर लो।"

आमराज ने कहा—"महात्मन् ! यों तो मैं पूरी परीक्षा के पश्चात् जैन धर्म को ही मानता हूं किन्तु मेरा मन शैवधर्म में अनुरक्त है। मुझे आप अन्य और किसी भी कार्य के लिये कह दीजिये परन्तु मेरे पैतृक धर्म शैवधर्म को छोड़ने के लिये कृपा कर न कहिये और आप रोष न मानें तो एक बात कहूं ?"

"हां, हां राजन् ! अवश्य कहो।"

ईषत् परिहास की मुद्रा में आमराज ने कहा—"भगवन् ! मथुरा के वराह मन्दिर में वाक्पतिराज संन्यस्त हो गले में यज्ञोपवीत एवं रुद्राक्ष की मालाएं धारण किये, हाथ में तुलसी की माला लिये संन्यासियों तथा रासगान-रसिक कृष्ण भक्तों की भीड़ से घिरा हुआ पुराण पुरुषोत्तम परब्रह्म की नासाग्र दृष्टि किये एकाग्रचित्त से आराधना कर रहा है। उसे आप जैन धर्म अङ्गीकार करवा दीजिये।"

राजा आम की बात सुन कर बप्पभट्टी तत्काल मथुरा जाने के लिये उद्यत हो गये। कालांतर में वे मथुरा पहुंचे। वे वराह मन्दिर में गये। वहां उन्होंने देखा कि आमराज द्वारा बताई गई अवस्था में ही संन्यासी का वेष, रुद्राक्ष की मालाएं, यज्ञोपवीत आदि धारण किये वाक्पतिराज तुलसी माला हाथ में लिये ध्यानस्थ हो पारब्रह्म परमेश्वरत्रयी की आराधना कर रहे हैं।

वाक्पतिराज के चित्त की एकाग्रता की परीक्षा हेतु बप्पभट्टी ने निम्नलिखित श्लोकों का सस्वर पाठ प्रारम्भ किया :—

"रामो नाम बभूव हुं तदबला सीतेति हुं तां पितु,
र्वाचा पञ्चवटीवने विचरतस्तामाहरद् रावणः।
निद्रार्थं जननीकथामिति हरेर्हुंकारिणः शृण्वतः,
सौमित्रेय धनुर्धनुर्धनुरिति व्यक्ता गिरः पान्तु वः ॥५७२॥
दर्प्पणार्पितमालोक्य मायास्त्रीरूपमात्मनः।
आत्मन्येवानुरक्तो वः, श्रियम् दिशतु केशवः ॥५७३॥
उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा,
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकवरीभारमंसं वहंत्याः।
सद्यस्तत्कायकांतिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः,
शय्यामालिंग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥५७४॥
सन्ध्यां यत्प्रणिपत्य लोकपुरतो बद्धांजलिर्याचते,
धत्से यत्त्वपरां विलज्ज शिरसा तच्चापि सोढं मया।
श्रीर्जातामृतमन्थने यदि हरेः कस्माद् विषं भक्षितम्,
मा स्त्रीलंपट ! मां स्पृशेत्यभिहितो गौर्याः हरः पातु वः ॥५७५॥

यदमोघमपामन्त्रुप्तम् बीजभज त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ।।५७६।।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, वसुंधरा पुण्यवती त्वयैव ।
अबाह्यसंवित्सुखसिंधुमग्नं, लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चित्तं ।।५७७।।

इन श्लोकों को सुनते ही वाक्पति ने कहा—"सखे ! तुम्हारे ये श्लोक बड़े प्रशंसनीय हैं, पर क्या यही वेला मिली है तुम्हें इन रसकाव्यों को सुनाने की, क्या यही है आपका मेरे साथ मैत्री सम्बन्ध ? क्या यह सब कुछ बप्पभट्टी जैसे महान् आचार्य के मुख से शोभा देता है ? सखे ! यह इस प्रकार के रसकाव्यों को सुनाने की नहीं अपितु मुझे बोधभरी पारमार्थिक वाणी सुनाने की वेला है ।"

आचार्य बप्पभट्टी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—"धन्य है आपकी चित्त की एकाग्रता, हम इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं । किन्तु मेरे परम मित्र ! आपसे कुछ पूछना है । आपके समक्ष अभी मैंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवों का स्वरूप बताया, वह सत्य है अथवा असत्य ? यदि सत्य है तो आप रुष्ट क्यों हो गये ? यदि आप कहते हो कि उन तीनों देवों का जो स्वरूप मैंने बताया वह असत्य है तो वह असत्य हो ही नहीं सकता । उन तीनों का यह स्वरूप निगमागमादि वांग्मय से प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष में तो संदेह के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं । अब आप यह बताइये कि आप जो यह साधना कर रहे हैं, वह राज्यादि सांसारिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा से कर रहे हैं अथवा परमार्थ मोक्ष की अवाप्ति के लिये ? यदि ऐहिक सुखोपभोगों के लिये आराधना कर रहे हैं तो वे तो देवी, देव, राजा, महाराजाओं आदि की आराधना से ही प्राप्त हो जायेंगे । पर यदि परमार्थ—अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत सुखधाम मोक्ष की प्राप्ति के लिये आप साधना कर रहे हैं तो शांत चित्त हो इस सारभूत तत्त्व का विचार करो कि ये तीनों देव जो स्वयं ही सांसारिक काम-भोगादि उपाधियों-प्रपंचों में फंसे हुए हैं, वे तुम्हें मुक्ति प्रदान कर सकेंगे ? इसमें मेरा किंचित्मात्र भी कोई मात्सर्यभाव नहीं है, आप स्वयं इस सम्बन्ध में सब कुछ जानते हैं ।"

बप्पभट्टी के मुख से सारभूत तात्विक बात सुनते ही वाक्पतिराज का व्यामोह दूर हुआ । उनकी भ्रान्ति तिरोहित हो गई । उन्होंने बप्पभट्टी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"यह मेरे पूर्व पुण्योदय का ही फल है कि आप मेरे आध्यात्मिक जीवन की निर्णायक घड़ी में मुझे मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखाने यहां आये हैं । कृपा कर आप मुझे तत्वज्ञान प्रदान कीजिये ।"

आचार्य श्री बप्पभट्टी ने वाक्पतिराज को जैनधर्म के सारभूत मूल सिद्धान्तों का बोध प्रदान करते हुए कहा—"त्रिलोकपूज्य वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरों ने

उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य-इन तीन गुणों से युक्त किन्तु त्रिकालवर्ती शाश्वत षड्द्रव्यों, षड्जीवनिकाय, पंच अस्तिकाय, जीव, लेश्या, १२ व्रत, पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, चौरासी लाख जीवयोनि, और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र रूपी रत्नत्रयी का उपदेश दिया है। उसको यथातथ्य रूप से समझकर हृदयंगम करना, उस पर अटूट आस्था रखना और उसी उपदेश के अनुसार आचरण करना, यही वस्तुतः समस्त कर्मावरण एवं दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला एवं अक्षय-अव्याबाध शाश्वत सुख प्रदान करने वाला मोक्षमार्ग है। जो बुद्धिमान् प्राणी इस प्रकार की वीतराग वाणी को हृदयंगम कर उस पर अविचल श्रद्धा रखता हुआ वीतराग वाणी के अनुसार आचरण करता है, वही सम्यग्दृष्टि है।"

"राग-द्वेष के पूर्ण विजेता सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु ही सच्चे आराध्य देव हैं। पंच महाव्रतधारी, पांचों इन्द्रियों और मन का निग्रह करने वाले, पांचों इन्द्रियों के पांचों विषयों से पूर्णतः विरक्त, पांच समिति और तीन गुप्तियों के धारक, आगम ज्ञान से सम्पन्न, भव्य जीवों को परमार्थ का प्रतिबोध कराने वाले, बयालीस दोष रहित विशुद्ध आहार ग्रहण करने वाले, षड्जीव निकाय को सदा अभयदान देने वाले और मद-मात्सर्य विहीन ही सच्चे गुरु हैं। ऐसे निस्संग, निष्परिग्रही, निरारम्भी और परोपकारव्रती गुरु ही वस्तुतः भव्य जनों को संसार सागर से पार उतारने में समर्थ और मोक्ष का शाश्वत सुख साम्राज्य प्रदान कराने में सक्षम होते हैं। जिस प्रकार शरीर अथवा वस्त्र पर लगे कीचड़ को यदि कीचड़ से ही धोया जाय तो वह साफ शुद्ध होने के स्थान पर और अधिक गन्दा होगा, उसी प्रकार सरागी देव अथवा गुरु की उपासना से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत सरागी देव गुरु की उपासना करने वाले को और अधिकाधिक सुदीर्घ काल तक भवभ्रमण करना होगा, भयावहा भवाटवी में भटकना पड़ेगा।"

बप्पभट्टी के इस घट के पट उद्घाटित कर देने वाले सर्वसंशयोच्छेदी एवं अन्तस्तल स्पर्शी उपदेश से वाक्पतिराज के अन्तस्तल में व्याप्त अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया। उन्होंने कृतज्ञताभरी दृष्टि से बप्पभट्टी की ओर निहारते हुए प्रश्न किया—"भगवन्! आपने जो धर्म का, मुक्ति का रहस्य बताया उससे मेरी सभी प्रकार की भ्रान्तियां दूर हो गई हैं। किन्तु एक संदेह अभी तक भी मेरे मन में घर किया हुआ है कि यदि अनन्त प्राणी इस मनुष्य लोक से मोक्ष में चले जायेंगे तो अन्ततोगत्वा एक न एक दिन मनुष्य लोक प्राणियों से पूर्णतः रिक्त हो जायगा और मोक्ष में भी पूर्णरूपेण उसके सिद्ध जीवों से खचाखच व्याप्त हो जाने के बाद किंचित्मात्र भी स्थान नहीं रहेगा, उस दशा में क्या होगा?"

आचार्य बप्पभट्टी ने कहा—"वाक्पतिराज! न तो कभी मानवलोक प्राणियों से रिक्त होगा और न मोक्ष कभी मुक्तात्माओं से भरेगा ही। संसार में सहस्रों नदियां बहती हैं और अनादि काल से प्रतिदिन कितनी पृथ्वी को प्रतिपल रेणु के रूप में बहा-बहा कर समुद्र में डालती आ रही है। इतना सब कुछ होते हुए भी न तो अभी

तक पृथ्वी ही नष्ट हुई है और न समुद्र ही पृथ्वी बना है। बस, यही एक प्रत्यक्ष दृष्टांत पर्याप्त है तुम्हारी शंका के निवारण के लिये।"

पूर्ण आत्मसंतोष की अनुभूति एवं हर्षातिरेक से वाक्पतिराज की रोमावली अंचित हो उठी। उसने हर्षगद्गद्स्वर में कहा—"भगवन्! आपकी कृपा से आज मुझे वास्तविक तत्वबोध हुआ है, आज मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हुए हैं। मैंने इतना अमूल्य समय मोहलीला और भ्रान्तियों के वशीभूत हो व्यर्थ ही खो दिया। अब मुझे मार्ग-दर्शन कीजिये कि मैं भवभ्रमण के मूल कारण कर्मबन्धनों को काटने के लिये साधनामार्ग पर किस प्रकार अग्रसर हो शीघ्रातिशीघ्र शाश्वत शिवधाम मोक्ष का अधिकारी बनूं। भगवन्! सर्वप्रथम मुझे श्रमणधर्म की दीक्षा दीजिये।"

बप्पभट्टी ने वाक्पतिराज को विधिवत् श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की। श्रमण धर्म अंगीकार करने के पश्चात् वाक्पति राज विशुद्ध संयम की परिपालना के साथ-साथ पंच परमेष्टि की आराधना करते हुए कर्ममल को नष्ट करने में तत्पर हुए। मुनि वाक्पतिराज ने समस्त पापों की आलोचना कर अनशन व्रत अंगीकार किया और १८ दिन तक निरन्तर आत्म विशुद्धि करते हुए स्वर्गारोहण किया।

मुनि वाक्पतिराज के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आचार्य बप्पभट्टी कुछ दिनों तक गोकुल में रहे। वहां उन्होंने भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति करते हुए "शान्तिःकर सर्वभयहरणस्तोत्र" की रचना की, जो आज भी श्रद्धालु साधकों में बड़ा लोकप्रिय है। तदनन्तर गोकुल से विहार कर बप्पभट्टी पुनः कान्यकुब्ज लौटे। आमराज ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—"आचार्यदेव! आपकी वाणी में अमोघ शक्ति है। वाक्पतिराज जैसे उच्चकोटि के विद्वान् को भी आपने जैन बनाकर श्रमण धर्म में दीक्षित कर लिया।"

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन्! मैं अपनी वाणी की शक्ति तो तब अमोघ समझूं जब कि तुम प्रबुद्ध हो जैन धर्म स्वीकार करो।"

इस पर आमराज ने कहा—"भगवन्! वस्तुतः मैं जैनधर्म से पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ हूं किन्तु पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण मुझे शैवधर्म बड़ा प्रिय है अतः मैं इसका परित्याग नहीं कर सकता।"

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् पूर्व जन्म में तुमने अज्ञान तप करते हुए घोर कष्ट सहन किया। उसके फलस्वरूप तुम्हें यह राज्य मिला है।"

यह सुनते ही सभी सभासदों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने राजा आम के पूर्वजन्म का विवरण बताने के लिये बप्पभट्टी से अनुरोधभरी प्रार्थना की।

प्रश्न चूड़ामणिशास्त्र के अपने तलस्पर्शी ज्ञान के बल पर बप्पभट्टी ने राजा आम का पूर्वजन्म बताते हुए कहा—"राजन् ! इससे पूर्व भव में तुम सन्यासी थे। कालिजर पर्वत की उपत्यका में शालमली वृक्ष की शाखा पर अपने दोनों पैरों को बांधकर पैर ऊपर की ओर तथा सिर को नीचे की ओर लटकाये हुए तुमने १०० वर्ष तक तपश्चरण किया था। उस अवस्था में दो दिन तक निराहार रहने के पश्चात् तुम थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करते थे। आयु पूर्ण होने पर तुमने उस शरीर को उसी वृक्ष की शाखा पर लटकता हुआ छोड़ यहां जन्म ग्रहण किया और तुम राजा बने। यदि मेरे इस कथन पर तुम्हें विश्वास न हो तो राजपुरुषों को भेजकर अपनी वह जटा मंगवा लो।"

सब को बड़ा कौतूहल हुआ। तत्काल द्रुतगामी अश्वारोहियों को कालिंजर गिरि की उपत्यका के उस निर्दिष्ट स्थान पर भेजा गया। वहां जा कर राजपुरुषों ने बप्पभट्टी द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर वृक्ष की एक शाखा पर लटकते हुए नरकंकाल (अस्थिपञ्जर) और टहनियों में उलझी हुई जटा को देखा। बड़ी सावधानी से उन्होंने उलझी लटों को सुलझा कर उस जटा को एकत्रित किया और उसे लेकर वे कान्यकुब्ज लौटे।

जटा को देखते ही राजा, राजसभा के सदस्य और समस्त राजपरिवार आश्चर्याभिभूत हो बप्पभट्टी के दिव्य ज्ञान की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे।

कालांतर में आमराज ने अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना ले राजगिरि राज्य पर आक्रमण किया। भीषण नरसंहारकारी युद्ध के अनन्तर आमराज की, शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित शक्तिशालिनी सेना के समक्ष अपनी सैनिक शक्ति को अपर्याप्त समझकर दिन भर युद्ध करने के पश्चात् रात्रि में अपनी सेना के साथ राजगिरि के राजा ने अपने सुविशाल सुदृढ़ दुर्ग की शरण ली।

प्रातःकाल शत्रु सेना को सन्मुख न पाकर आमराज ने राजगिरि के दुर्ग को चारों ओर से घेर लेने का आदेश दिया। तत्क्षण आमराज की सेना द्वारा राजगिरि के दुर्ग को घेर लिया गया। आमराज की सेना चारों ओर से एक साथ दुर्ग की ओर बढ़ी किन्तु राजगिरि के अधिपति समुद्रसेन की सेना ने आमराज की सेना को दुर्ग की ओर बढ़ने से रोक दिया। वह दुर्ग लोहे के समान सुदृढ़ था। राजा आम ने शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि सभी नीतियों का अवलम्बन ले उस दुर्ग को तोड़ने के जितने उपाय सम्भव हो सकते थे वे सभी किये। दुर्ग पर अधिकार करने के लिये छिद्रान्वेषण भी किया गया किन्तु किसी भी उपाय से वह उस दुर्ग को तोड़ने में सफल नहीं हो सका। आमराज वस्तुतः हठी और बात का धनी था। उसने दुर्ग पर अधिकार करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। दुर्ग को तोड़ने का कोई उपाय दृष्टिगत न होने पर उसने बप्पभट्टी से प्रश्न किया—"भगवन् ! यह शैलाधिराज तुल्य दुर्गम दुर्ग कब और कैसे जीता जा सकेगा ?"

प्रश्न चूड़ामणि, शास्त्र के द्वारा किसी भी प्रश्न का समुचित उत्तर प्राप्त करने की विधि से अच्छी तरह भिज्ञ बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् ! आपका भोज नामक पौत्र इस दुर्ग पर अधिकार करेगा।"

राजगिरि दुर्ग पर बिना अधिकार किये ही लौट जाने में आमराज ने अपना अपमान समझा और वह उस दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल कर डटा रहा। इसी स्थिति में बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर युवराज दुन्दुक की युवराज्ञी ने एक पुत्र को जन्म दिया।

आमराज के आदेशानुसार जन्म ग्रहण करते ही उस शिशु को पालने में सुलाकर प्रधानों द्वारा राजा आम के पास लाया गया। उस बालक का मुख दुर्ग के शिखर की ओर कर शिखर को उसके दृष्टिपथ में लाया गया और उसी क्षण दुर्ग पर गोलों की वर्षा की गई। इधर यह किया गया और उधर बिजली की कड़क के समान घोर गर्जन करता हुआ दुर्ग का प्राकार पृथ्वी पर आ गिरा।

सकुटुम्ब राजा समुद्रसेन गुप्तद्वार से निकल कर किसी अज्ञात स्थान की ओर चला गया। आमराज ने उसी समय अपनी सेना के साथ दुर्ग में प्रवेश कर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

आमराज को उस समय किसी अदृष्ट शक्ति से ज्ञात हो गया कि छः मास पश्चात् मागधतीर्थ की यात्रा हेतु नाव से गंगा पार करते समय मगटोड़ा नामक ग्राम के पास उसकी मृत्यु हो जायेगी।

राजगिरि से प्रयाण कर राजा आम वप्पभट्टी के साथ अनेक तीर्थों की यात्रा करता हुआ कान्यकुब्ज पहुंचा। अपने पुत्र दुंदुक को कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर आसीन कर आमराज अपने गुरु वप्पभट्टी के साथ मागध तीर्थ की यात्रा के लिये प्रस्थित हुआ। जिस समय राजा आम आचार्य वप्पभट्टी के साथ नाव में बैठ कर गंगा पार कर रहा था उस समय वप्पभट्टी और आमराज ने देखा कि नाव के पास जल में धुंआ उठ रहा है।

जल में उठते हुये धूम्र को देख कर वप्पभट्टी ने आमराज से कहा—"राजन् ! तुम्हारा अन्तिम समय सन्निकट है, यह देखो मगटोड़ा ग्राम आ गया है। अब अन्तिम समय में ही सही, तुम जैन धर्म अंगीकार कर लो।"

राजा आम ने उसी समय वप्पभट्टी से विधिवत् जैन धर्म अंगीकार कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् वीतराग प्रभु की शरण ग्रहण की।

आचार्य वप्पभट्टी ने आम राजा से कहा—"अभी मेरी पांच वर्ष आयु अवशिष्ट है।"

राजा आम ने बप्पभट्टी के मुखारविन्द से पंचपरमेष्टि नमस्कार मन्त्र का श्रवण करते हुए मगटोड़ा ग्राम के पास गंगा के जल में विक्रम सं० ८६० की भाद्रपद शुक्ला पंचमी, शुक्रवार चित्रा नक्षत्र में दिन के अन्तिम प्रहर में अपनी इहलीला समाप्त की। बप्पभट्टी कान्यकुब्ज लौटे और राजा आम द्वारा पूर्व में उनके लिये नियत भवन में रहने लगे।[1]

राजसंसर्ग का दुष्परिणाम

आचार्य बप्पभट्टी जीवन भर राजगुरु के रूप में राजा आम के निकट सम्पर्क में रहे। इसके अनेक सुपरिणाम भी हुए। प्रथम तो यह कि जैनसमाज को राज्याश्रय प्राप्त रहा। राजमान्य धर्म होने के कारण जैनधर्म का लोकप्रवाह की बदली हुई परिस्थितियों में भी वर्चस्व रहा। बप्पभट्टी के उपदेश एवं परामर्श से अनेक लोक कल्याणकारी कार्यों के साथ-साथ जैनधर्म की प्रभावना एवं प्रचार प्रसार के कार्य भी राजा तथा प्रजा दोनों के द्वारा किये गये। बप्पभट्टी के राज-संसर्ग से जैन समाज की शक्ति और प्रतिष्ठा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई। बप्पभट्टी के राजसंसर्ग से ये सब सुपरिणाम तो हुए। किन्तु एक सर्वारम्भ परित्यागी, ब्रह्मचारी, पंच महाव्रतधारी, निस्संग, अलौकिक महान् प्रतिभाशाली श्रमणश्रेष्ठ होते हुए भी निरन्तर राजसंसर्ग में रहने अथवा राजा के सन्निकट सहवास में रहने पर आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार का पालन किस सीमा तक कर पाता है, इस तथ्य पर यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो बड़ी निराशा होती है। छत्र, चामर, सिंहासन, हस्ती, पालकी आदि वाहनों का उपयोग, नियत निवास, आधाकर्मी आहार आदि जिन बातों के सेवन का शास्त्रों में श्रमण के लिये कड़ा निषेध है, जिनके सेवन से श्रमण धर्म के खण्डित होने का शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है, निरन्तर राजसंसर्ग में, राजसन्निधि में रहा हुआ कोई भी श्रमण, चाहे वह कितना ही उच्चकोटि का विद्वान् अथवा अलौकिक प्रतिभा का धनी श्रमणोत्तम ही क्यों न हो, उसके लिये भी शास्त्रों द्वारा निषिद्ध उन चामरादि के सेवन से श्रमण धर्म की स्खलना से एवं उसके उल्लंघन से बच पाना संभव नहीं है। अन्यान्य विद्वान् आचार्यों द्वारा लिखी गई कृतियों में तथा आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रभावक चरित्र में बप्पभट्टी के जीवन की घटनाओं के जो विवरण उल्लिखित हैं, उनके आधार पर स्पष्टतः प्रकट होता है कि आचार्य बप्पभट्टी भी

---

[1] मा भूत् संवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्मा च ऋक्षेषु चित्रा,
धिग्मासं तं नमस्यं क्षयमपि स खलः शुक्लपक्षोऽपि यातु।
संक्रान्तिर्या च सिंहे विशतु हुतभुजं पंचमी या तु शुक्रे,
गंगातोयाग्निमध्ये त्रिदिवमुपगतो यत्र नागावलोकः ॥७२४॥

(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १०६)

जिनशासन—महाप्रभावक आचार्य सिद्धसेन की ही भांति निरन्तर सुदीर्घ काल तक आमराज के संसर्ग में, सन्निकट सन्निधि में रहने के कारण श्रमणधर्म की मूल मर्यादा के उल्लंघन के अपवाद न रह सके। जीवन भर राज परिवार के अत्यधिक सन्निकट रहने के फलस्वरूप अपने जीवन के अन्तिम समय में, जबकि वे ९० वर्ष की आयु को पार कर ९५ वर्ष की आयु के आस-पास पहुंच रहे थे, आचार्य बप्पभट्टी को राजसंसर्ग के दुष्परिणाम के रूप में अन्तर्द्वन्द्व एवं मानसिक अशान्ति में उलझना पड़ा।

उनको अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक अशान्ति का अनुभव अपने सुदीर्घकालीन घनिष्ठ राजसंसर्ग के कारण ही हुआ। राजा दुन्दुक बड़ा ही निष्क्रिय, दुराचारी और क्रूर निकला। दुराचार में पड़कर वह अपने महा तेजस्वी और होनहार पुत्र भोज तक को अकाल में ही काल का कवल बनाने का षडयन्त्र करने लगा।

राजरानी को जब इस षड्यन्त्र का पता चला तो गुप्त रूप से संदेश भेजकर अपने भाई—पाटलीपुत्र के राजकुमार को कान्यकुब्ज बुलवाया और एक अत्यावश्यक कार्य के ब्याज से वह अपने भाई के साथ अपने पितृगृह पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थित हुई। राजकुमार भोज ने सुपुत्र होने के नाते अपने पिता महाराजा दुन्दुक की आज्ञा लेना आवश्यक समझा और वह राजा के राजप्रसाद की ओर प्रस्थित हुआ।

राजकुमार भोज को मौत के घाट उतार दिये जाने के षड्यन्त्र का आचार्य बप्पभट्टी को पता चल गया था। अतः उन्होंने राजकुमार भोज को षड्यन्त्र से सावधान करते हुए उसे दुन्दुक से बिना मिले ही तत्काल अपनी माता के साथ पाटलीपुत्र चले जाने का परामर्श दिया। आचार्य बप्पभट्टी की दूरदर्शिता पूर्ण कृपा से राजकुमार भोज मृत्यु के मुख से निकल कर अपने नाना पाटलीपुत्र के महाराजा के पास चला गया।

जब दुन्दुक को ज्ञात हुआ कि राजकुमार भोज भी अपनी माता और अपने मातुल के साथ पाटलीपुत्र चला गया है, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने अच्छी तरह सोच-विचार के पश्चात् निर्णय किया कि केवल आचार्य बप्पभट्टी ही किसी न किसी उपाय से पाटलीपुत्र नरेश को भलीभांति समझा-बुझा कर राजकुमार को पाटलीपुत्र से यहां ला सकते हैं, उनके अतिरिक्त यह कार्य अन्य किसी के वश का नहीं है।

इस प्रकार विचार कर राजा दुन्दुक ने एक दिन आचार्यश्री बप्पभट्टी से निवेदन किया—"आचार्य महाराज ! अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र भोज के बिना मुझे यह सब राज्यवैभव अच्छा नहीं लग रहा है। भोज की अनुपस्थिति में मुझे यह समग्र

संसार शून्य-सा प्रतीत हो रहा है। केवल आप ही उसको पाटलिपुत्र से यहां लाने में सक्षम हैं अतः मुझ पर कृपा कर आप पाटलिपुत्र जाकर मेरे परमप्रिय पुत्र भोज को यहां ले आइये। मैं जीवन भर आपका कृतज्ञ रहूंगा।"

आचार्यश्री दुन्दुक के अन्तर्मन में निगूढ़ रहस्य को भलीभांति जानते थे, अतः कुछ समय तक तो यह कह कर दुन्दुक की वात को टालते रहे कि अभी वे अमुक ध्यान की साधना में निरत हैं, उसके पूरा होने पर परमावश्यक योग की साधना करेंगे और तदनन्तर वे पाटलीपुत्र जाकर भोज को ले आयेंगे। इस प्रकार दुन्दुक की प्रार्थना को समय-समय पर किसी न किसी कल्पित अपरिहार्य कारण के व्याज से टालते हुए आमराज की मृत्यु के पश्चात् की जो पांच वर्ष की अपनी आयुष्य अवशिष्ट रही थी, उसमें से पर्याप्त समय व्यतीत कर दिया।

अन्त में महाराजा दुन्दुक के हठाग्रहपूर्ण अन्तिम अनुरोध पर आचार्य वप्पभट्टी को अवश हो पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थित होना ही पड़ा। अनुक्रमशः पाटलीपुत्र की ओर अग्रसर होते हुए जब वे पाटलीपुत्र के समीप पहुंचे तो उन्होंने विचार किया—"यदि मैं राजकुमार भोज को पाटलीपुत्र से कान्यकुब्ज ले जाता हूं तो यह निश्चित है कि वह दुष्ट राजा दुन्दुक राजकुमार भोज की हत्या करवा देगा। और यदि नहीं ले जाता हूं तो वह क्रूर दुन्दुक मुझसे और मेरे धर्मसंघ से रुष्ट हो जिनशासन को अनेक प्रकार की हानि पहुंचा कर मेरे समस्त शिष्य समूह को अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल देगा और इस प्रकार जिनशासन पर भयंकर वज्राघात होगा। ऐसी दशा में मेरी आयु के कतिपय अवशिष्ट दिनों को यहां अनशनपूर्वक ही बिता देना सभी दृष्टियों से श्रेयस्कर होगा।"

इस प्रकार विचार कर आचार्य वप्पभट्टी ने आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि कर पाटलीपुत्र के उस समीपस्थ स्थान में अनशनपूर्वक पादपोपगमन संथारा अंगीकार कर लिया और पंच परमेष्टि की शरण ग्रहण कर वे अध्यात्म ध्यान में लीन हो गये। इस प्रकार समभावपूर्वक क्षुधा, तृषा आदि सभी पीड़ाओं को सहन करते हुए २१ अहोरात्र तक एकाग्र मन से आत्म-चिन्तन करते हुए अपना ६५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वि० सं० ८९५ (वीर नि० सं० १३६५) की श्रावण शुक्ला ८ के दिन चन्द्र का स्वाति नक्षत्र के साथ योग होने पर महान् प्रभावक आचार्य वप्पभट्टी ने स्वर्गारोहण किया।[1]

आचार्य वप्पभट्टी के कृपा प्रसाद के कारण राजकुमार भोज का प्राण संकट टला था। अतः वह जीवन भर अपने उपकारी महान् आचार्य वप्पभट्टी के उत्तराधिकारियों एवं धर्मसंघ का परम भक्त वना रहा। वप्पभट्टी के स्वर्गारोहण के कुछ

---

[1] शर–नन्द–सिद्धिवर्षे (८९५), नभः शुद्धाष्टमी दिने।
स्वातिभेऽजनि पञ्चत्वमामराज गुरोरिह ॥७४१॥ (प्रभावक चरित्र)

समय पश्चात् राजकुमार भोज अपने मातुलों के साथ कान्यकुब्ज पहुंचा। उसने पिता दुन्दुक के दुराचार का सदा-सदा के लिये अन्त कर कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर बैठ अपना परम्परागत अधिकार प्राप्त किया। उसने बप्पभट्टी के पट्टधर दो आचार्यों में से नन्नसूरि को मोढेरा में ही रखा और गोविंदसूरि को अपनी राजसभा में राजगुरु बनाकर रखा। बप्पभट्टी के उपकारों से उऋण होने की उत्कट भावना के साथ राजा भोज ने जिनशासन की महती सेवा की। प्रभावक चरित्र के-

भोजराजस्ततोऽनेक, राज्यराष्टग्रहाग्रहः ।
आमादप्यधिको जज्ञे, जैनप्रवचनोन्नतौ ॥७६५॥

इस उल्लेखानुसार राजा भोज ने अपने पितामह महाराजा आम की अपेक्षा भी, जैनधर्म की अभिवृद्धि एवं अभ्युन्नति के अत्यधिक कार्य किये।

बप्पभट्टी सूरि ने जीवनभर जिनशासन की प्रभावना के अनेक आश्चर्यकारी और महान् कार्य करने के साथ-साथ ५२ प्रबन्धों की रचना कर जैन वांग्मय की श्रीवृद्धि एवं वाग्देवी की महती सेवा की। आचार्य बप्पभट्टी के उन 'तारागण' आदि ५२ कृतियों में से अद्यावधि केवल दो-तीन लघु किंतु अत्यन्त भावपूर्ण कृतियां ही उपलब्ध हो सकी हैं।

सांख्यदर्शन के अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान्, परम वैष्णव और प्रमुख प्रबन्धकवि वाक्पतिराज जैसे परब्रह्मोपासक संन्यासी को न केवल जैन श्रमणोपासक बनाकर अपितु जैन श्रमण धर्म की दीक्षा देकर बप्पभट्टी ने संसार के समक्ष अपनी अलौकिक—असाधारण प्रतिभा का उदाहरण रखा। बप्पभट्टी की इस प्रकार की असाधारण प्रतिभा, भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य आचार्य थावच्चा कुमार और जम्बूस्वामी के शिष्य एवं पट्टधर आचार्य प्रभव का स्मरण करा देती है। शुकदेव जैसे परम भागवत, वहुजनपूज्य, वहुजनसम्मत बहुत बड़े संन्यासी को थावच्चा पुत्र ने और प्रथम श्रुतकेवली आचार्य प्रभव ने वेद-वेदांग पारगामी पण्डित सय्यंभव को प्रतिबोध देकर श्रमण धर्म में दीक्षित कर लिया। इस प्रकार की असाधारण प्रतिभा के उदाहरण अन्यत्र अल्प ही उपलब्ध होते हैं।

आचार्य बप्पभट्टी सूरि महान् प्रभावक आचार्य, असाधारण प्रतिभा के धनी और जिनशासनरूपी क्षीरसागर के कौस्तुभमणि तुल्य अनमोल रत्न थे। जैन इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा।

दिगम्बर सम्प्रदाय में काष्ठा संघ की उत्पत्ति

दिगम्बर सम्प्रदाय में, वीर नि० सं० १२२३ में आचार्य कुमारसेन ने "काष्ठा संघ" नामक एक नवीन संघ की स्थापना की। इस संघ की स्थापना के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए आचार्य देवसेन ने अपनी छोटी सी पर ऐतिहासिक महत्व की पुस्तिका दर्शनसार में लिखा है :—

"सिरि वीरसेणसीसो, जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरि पउमणंदि पच्छा, चउसंघ समुद्धरणधीरो ॥३०॥

तस्स य सीसो गुणवं, गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो।
पक्खुववाससुट्ठमदी, महातवो भावलिंगो य ॥३१॥

तेण पुणो विय मिच्चुं, णाऊण मुणिस्स विणयसेणस्स।
सिद्धंतं घोसित्ता, सयं गयं सग्गलोगस्स ॥३२॥

आसी कुमारसेणो, णंदियड़े विणयसेण दिक्खियओ।
सण्णासभंजणेण य, अगहिय-पुणदिक्खओ जादो ॥३३॥

परिवज्जिऊण पिच्छं, चमरं घित्तूण मोहकलिएण।
उम्मगं संकलियं, बगडविसएसु सव्वेसु ॥३४॥

इत्थीण पुण दिक्खा, खुद्दयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं, छट्ठं च गुणवदं णाम ॥३५॥

आगमसत्थ पुराणं, पायच्छित्तं च अण्णहा किंपि।
विरइत्ता मिच्छत्तं, पवट्टियं मूढ लोएसु ॥३६॥

सो समणसंघवज्जो, कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो, कट्ठं संघं परूवेदि ॥३७॥

सत्तसए तेवण्णे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियड़े वरगामे, कट्ठोसंघो मुणेयव्वो ॥३८॥

णंदियड़े वरगामे, कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी।
कट्ठो, दंसणभट्ठो, जादो संल्लेहणाकाले ॥३९॥"

अर्थात्—श्री वीरसेण के शिष्य सकल शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता जिनसेन नामक आचार्य हुए। पद्मनन्दि के पश्चात् वे ही एक ऐसे आचार्य थे जो चारों संघों के समीचीनरूपेण संचालन के भार को

भली-भांति वहन करने में सक्षम थे। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र हुए जो सर्वगुण सम्पन्न, दिव्य (विशिष्ट) ज्ञानी, पक्षोपवासी अथवा महा तपस्वी एवं भावलिंगी (भट्टारक-द्रव्यलिंगविहीन) साधु थे। उन गुणभद्र ने अपने अवसानकाल को समीप जानकर अपने शिष्य विनय-सेन को समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान देकर स्वर्गलोक को प्रयाण किया। उन आचार्य विनयसेन द्वारा दीक्षित कुमारसेन नामक साधु था। उसने सन्यास धर्म से भ्रष्ट हो जाने के उपरान्त भी पुनः श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण नहीं की। उस कुमारसेन ने पिच्छी का परित्याग कर चंवर (चंवरी गौ के बालों की चंवरी, जिसके मध्यम प्रहार से ही मक्खी-मच्छर आदि जन्तु मर जाते हैं) धारण कर लिया। मोह-विमुग्ध बने उस कुमारसेन ने बागड़ प्रदेश में उन्मार्ग का प्रवर्तन किया। उसने स्त्रियों को श्रमणी धर्म में दीक्षित करने का विधान किया। उसने शूद्र वर्ण के लोगों के घरों से साधु-साध्वियों द्वारा भिक्षा ग्रहण करने का विधान किया। उसने कर्कश-केशग्रहण को छठा गुणव्रत बतलाया। उस कुमारसेन ने अन्य ही प्रकार के नवीन आगमों, शास्त्रों, पुराणों और प्रायश्चित्त ग्रहण करने के ग्रन्थों की रचना कर उन्हें मूढ़ लोगों में प्रचलित करके मिथ्यात्व का प्रसार किया। उस मिथ्यात्वी कुमारसेन को श्रमण संघ से निष्कासित कर दिया गया। उपशम भाव से विहीन रौद्र स्वभाव वाले उस कुमार-सेन ने नंदितट नामक सुन्दरग्राम में विक्रम सं० ७५३ में दर्शनभ्रष्ट हो काष्ठा संघ की स्थापना की।

ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शनसार में काष्ठा संघ की उत्पत्ति विषयक जो उपरिलिखित विवरण देवसेनाचार्य ने प्रस्तुत किया है, उसे अभी तक विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक कसौटी पर नहीं कसा गया है। इस समस्त विवरण को यदि इतिहास की कसौटी पर कसा जाय तो साधारण से साधारण पाठक को भी सहज ही यह ज्ञात हो जायगा कि यह सब विवरण न केवल जनश्रुति के आधार पर अपितु नितान्त अविश्वनीय किंवदन्ती के आधार पर आचार्य देवसेन ने अपनी लघु कृति 'दर्शनसार' में संकलित अथवा निबद्ध किया है। तथ्यों की कसौटी पर कसने के उद्देश्य से ही उपरिलिखित १० गाथाओं को अविकल रूप से यहां उद्धृत किया गया है।

काष्ठा संघ की स्थापना करने वाले कुमारसेन की गुरु-परम्परा के पूर्वाचार्यों में क्रमशः वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र और मुनि विनयसेन-इन पट्टधर आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है। सेन संघ की पट्टावली और उत्तरपुराण आदि की प्रशस्तियों में धवलाकार वीरसेन, जयधवलाकार जिनसेन और उत्तरपुराणकार गुणभद्र के क्रमशः गुरु-शिष्य क्रम से नाम उल्लिखित हैं। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में

गुणभद्र के पट्टधर शिष्य के रूप में आचार्य लोकसेन का नाम उपलब्ध होता है, विनयसेन का नहीं।

यह तो एक निर्विवाद, सर्वसम्मत एवं इतिहास सिद्ध तथ्य है कि पंच-स्तूपान्वयी सेन संघ के आचार्य वीरसेन ने विक्रम सं० ८३० में धवला टीका का, उनके शिष्य जिनसेन ने वि० सं० ८९४ में जयधवला टीका का और वीरसेन के प्रशिष्य तथा जिनसेन के शिष्य उत्तरपुराणकार आचार्य गुणभद्र ने उनके शिष्य लोकसेन द्वारा निर्मित उत्तरपुराण की प्रशस्ति के अनुसार विक्रम सं० ९५५ से कुछ वर्ष पूर्व उत्तरपुराण का निर्माण किया।

इस प्रकार की स्थिति में आचार्य वीरसेन से ५वीं पीढ़ी में, जिनसेन से ४ थी पीढ़ी में और आ० गुणभद्र से तीसरी पीढ़ी में हुए कुमारसेन ने वि० सं० ७५३ में अर्थात् वीर सेन से ७७ वर्ष पूर्व, जिनसेन से १४१ और गुणभद्र से २०२ वर्ष पूर्व ही काष्ठा संघ की स्थापना किस प्रकार कर दी। अपने गुरु अथवा प्रगुरु से ही नहीं किन्तु अपने प्रगुरु के भी गुरु और प्रगरु से पूर्व कुमारसेन ने काष्ठा संघ की स्थापना कर दी, यह आकाश-कुसुम तुल्य असम्भव बात तो किसी भी व्यक्ति को मान्य नहीं हो सकती।

यद्यपि दर्शनसार में काष्ठा संघ की स्थापना का संवत् ७५३ सुस्पष्ट रूपेण उल्लिखित है, तथापि कालक्रम की संगति बैठाने की दृष्टि से यदि इसे शक संवत् भी मान लिया जाय तो भी शक सं० ७५३ का वि० सं० ८८८ होता है। यह समय भी जयधवला के निर्माण कार्य की समाप्ति से ६ वर्ष पूर्व और काष्ठासंघ के संस्थापक कुमारसेन के प्रगुरु गुणभद्र से भी ६७ वर्ष पूर्व पड़ता है।

यदि यह कल्पना की जाय कि दर्शनसार में कुमारसेन की जो गुरु-परम्परा दी गई है, वह पंचस्तूपान्वयी सेनसंघ की आचार्य परम्परा न हो कर किसी अन्य संघ की ही गुरु परम्परा है तो इस पर भी विश्वास नहीं होता। तीन पीढ़ियों तक गुरु शिष्यों के ये ही नाम सेनसंघ के अतिरिक्त अन्य किसी संघ अथवा परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होते। "भट्टारक परम्परा" नामक इतिहास ग्रन्थ के रचनाकार प्रो. वी० पी० जोहरापुरकर ने भी दर्शनसार की उपरिलिखित गाथाओं में जिन आचार्य गुणभद्र का उल्लेख किया गया है, उन्हें दर्शनसार की गाथा सं० ३०-३२ के उल्लेख के साथ सेन गण का आचार्य ही माना है।[1]

देवसेनाचार्य का "दर्शनसार" सुदीर्घावधि से अनेक विद्वानों द्वारा जैन इतिहास के कतिपय तथ्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त रूपेण प्रामाणिक कृति के रूप में

---

[1] भट्टारक-परम्परा, (वी० पी० जोहरापुरकर) पृ० ३

माना जाता रहा है । इतिहास के उच्चकोटि के अनेक विद्वानों ने कतिपय विवादास्पद ऐतिहासिक घटनाओं अथवा आचार्यों के सम्बन्ध में दर्शनसार के उद्धरण दिये हैं । काष्ठासंघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपरिवर्णित विवरण में असंगतियों और अप्रामाणिकता को देख कर भविष्य में सभी विद्वानों को सावधानी बरतनी होगी ।

काष्ठासंघ की उत्पत्ति दिगम्बर संघ में हुई, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है । यह भी सम्भव है कि कुमारसेन नामक किसी आचार्य ने विक्रम सं० ७५३ में इसकी संस्थापना की हो । किन्तु काष्ठासंघ के संस्थापक उस कुमारसेन की गुरु-परम्परा और उसके पूर्वाचार्यों के नाम अन्य ही हो सकते हैं, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि नहीं ।

इस सम्बन्ध में विद्वानों से अग्रेतर शोध की अपेक्षा है ।

यशोवर्म—कन्नौज का महाराजा

वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थ चरण के आस-पास कन्नौज के राजसिंहासन पर यशोवर्मन नामक एक शक्तिशाली राजा बैठा। वाक्पतिराज द्वारा रचित प्राकृत भाषा के उत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ "गौड़वहो" और काश्मीर के महाराजा बालादित्य की राजसभा के कवि कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि कन्नौज राज्य के इस शक्तिशाली शासक ने दूर-दूर तक दिग्विजय करने के साथ-साथ काश्मीर के महाराजा बालादित्य के साथ मिल कर भारत की उत्तरी सीमा से भारत पर किये जाने वाले अरबों के आक्रमण को विफल करने में बड़ी तत्परता और वीरता से काम किया।

पुष्पभूति राजवंश के अन्तिम महाराजा हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात्, इतिहासविदों के अभिमतानुसार लगभग अर्द्ध शताब्दी तक राजनैतिक दृष्टि से बड़ी ही अस्थिरता रही। ई० सन् ७०० के आसपास यशोवर्मन कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। यशोवर्मन कौन था और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कन्नौज राज्य के राजसिंहासन को उसने कैसे प्राप्त कर लिया, यह सब कुछ अभी तक एक ऐसी पहेली बना हुआ है, जिसका कोई समाधान अद्यावधि दृष्टिगोचर नहीं होता।[1]

इतिहासज्ञ इस दिशा में प्रयत्नशील रहे। यशोवर्मन के सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों के अवगाहन के अनन्तर जैन वांग्मय में इसके परिचय का हमें इन्हीं दिनों एक स्रोत उपलब्ध हुआ, जो निम्नलिखित रूप में है :—

> ....प्रभूतवर्ष श्रीपृथ्वीवल्लभराजाधिराज परमेश्वरस्य प्रवर्तमान-श्री राज्यविजयसंवत्सरेषु वहत्सु। चारुचालुक्यान्वयगगनतलहरिणलांछनायमान श्रीवलवर्मनरेन्द्रस्य सूनुः स्वविक्रमावजितसकलरिपुनृपशिरःशेखरार्चितचरणयुगलो यशोवर्मनामधेयो राजा व्यराजत। तस्य पुत्रः 'सुपुत्रः कुलदीपक' इति पुराणवचनमवितथमिह कुर्वन्नतितरां धीराजमानो मनोजात इव मानिनीजनमनस्थलीयः (?) रणचतुरश्चतुरजनाश्रयः श्रीसमालिंगितविशालवक्ष स्थलो नितरामशोभत।
>
> असौ महात्मा—

---

1. Nothing is known of the early history and antecedents of this King......
(भारतीय विद्याभवन, वम्बई द्वारा प्रकाशित हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, क्लासिकल एज, पृष्ठ १२८)

कमलोचितसद्भुजान्तरश्रीविमलादित्य इति प्रतीतनामा ।
कमनीयवपुर्विलासिनीनां भ्रमदक्षिभ्रमरालिवक्रपद्मः ॥

यः प्रचण्डतरकरवालदलितरिपुनृपकरिघटाकुम्भमुक्त मुक्ताफल-विकीर्णित रुचिरक्ताङ्घिकान्तिरुचिरपरीत निजकलत्रकण्ठः शितिकण्ठ इव महितमहिमामोद्यमानरुचिरकीर्तिरशेषगंगमण्डलाधिराज श्रीचाकी राजस्य भागिनेयः भुवि प्रकाशत यस्मिन् कुनुन्गिलनामदेशमयशः परांग्मुखा मनुमार्गेण पालयति सति श्रीयापनीयनन्दिसंघपुंनागवृक्षमूलगणे श्रीकित्या-चार्यान्वये बहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु व्रतसमितिगुप्तिगुप्तमुनि-वृन्दवन्दित-चरणकूविलाचार्य्याणामासीत् (?) तस्यान्तेवासी समुपनतजनपरिश्रंमाहारः स्वदानसंतर्पितसमस्तविद्वज्जनो जनितमहोदयः श्री विजयकीर्तिनाममुनि-प्रभुरभूत् ।

अर्ककीर्तिरिति ख्यातिमातन्वन्मुनिसत्तमः ।
तस्य शिष्यत्वमायातो नायातो वशमेनसाम् ॥

तस्मै मुनिवराय तस्य विमलादित्यस्य शणेश्वर (? सम्भवतः शनि-श्चर) पीड़ापनोदाय मयूरखण्डिमधिवसति विजयस्कन्धावारे चाकिराजेन विज्ञापितो वल्लभेन्द्रः इडिगूर्विषयमध्यवर्तिनं जालमंगलनामयेग्रामं शकनृप-संवत्सरेषु शरशिखिमुनिषु (७३५) व्यतीतेषु ज्येष्ठमासशुक्लपक्षदशम्यां पुष्यनक्षत्रे चन्द्रवारे मान्यपुरवरापरदिग्विभागालंकारभूतशिलाग्रामजिनेन्द्र-भवनाय दत्तवान्.......[1]

इस अभिलेख का सारांश यह है कि चालुक्यवंशीय राजा बलवर्म के पुत्र यशोवर्म हुए, जिन्होंने अपने बाहुबल से अपने समय के समस्त नरेन्द्रमण्डल को विजित कर उन्हें अपने चरणों में झुकाया। उन महाप्रतापी राजा यशोवर्मन् का सुपुत्र विमलादित्य हुआ। वह विमलादित्य बड़ा ही शौर्यशाली और रणनीतिविशारद था। चालुक्य विमलादित्य राष्ट्रकूट राजवंश का अधीनस्थ राजा था और कुनुन्गिल प्रदेश का राजा था। इसका मामा गंगवंशी चाकिराज राष्ट्रकूट राजाओं की ओर से समस्त गंगमण्डल का राज्यपाल नियुक्त किया गया था, जैसा कि इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २६७ पर उल्लेख किया जा चुका है। राष्ट्रकूटवंशीय राजा प्रभूतवर्ष-गोविन्द द्वितीय के शासन काल में जब गंगमण्डल का राज्यपाल चाकिराज मयूरखण्डी नामक स्थल पर अपने सैन्य शिविर में ठहरा हुआ था, उस समय उसने अपने स्वामी राष्ट्रकूटवंशीय प्रभूतवर्ष से प्रार्थना की कि यापनीय संघ के आचार्य अर्ककीर्ति ने

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० १२४, पृष्ठ १३१–१४०, राष्ट्रकूटवंशीय राजा प्रभूतवर्ष (द्वितीय) का दानपत्र, शक सं० ७३५। माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थ-मालासमिति, हस्ताबाग, बम्बई ४, सितम्बर १९५२ में प्रकाशित।

उनके भागिनेय विमलादित्य को शनिश्चर की व्याधि से सर्वदा के लिये मुक्त कर दिया है। इस उपलक्ष में अर्ककीर्ति को एक अच्छा सा ग्राम दान में दिया जाय। प्रभूतवर्ष ने अपने राज्यपाल की प्रार्थना स्वीकार कर अपने अधीनस्थ राजा चालुक्य विमलादित्य को रोगमुक्त कर देने के उपलक्ष में अर्ककीर्ति को जालमंगल नामक एक ग्राम शिलाग्राम में अवस्थित जिन मन्दिर की समुचित व्यवस्था के लिये दान में दिया। राष्ट्रकूट वंश के राजा प्रभूतवर्ष (गोविन्द द्वितीय) का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २६० पर दिया जा चुका है।

उपर्युद्धत अभिलेख में चालुक्य राजा यशोवर्मन् को समस्त नरेन्द्र मण्डल का विजेता बताया गया है। ई. सन् ७०० से ८०० की अवधि में न केवल चालुक्य राजाओं की वंशावलि में अपितु किसी भी अन्य राजवंश की वंशावलि में यशोवर्मन नामक अन्य किसी राजा के होने का उल्लेख नहीं है। दक्षिणी भारत के इतिहास के यशस्वी विद्वान् देसाई ने विमला दित्य से पर्याप्त उत्तरवर्ती काल ईसा की १०वीं ११वीं शताब्दी में दासवर्मन अपर नाम यशोवर्मन नामक एक राजकुमार के बादामी के चालुक्य राजवंश में होने का उल्लेख किया है। यशोवर्मन का उल्लेख करते हुए उन्होंने पुरातत्व सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया है कि विक्रमादित्य पंचम और उसके अय्यन और जयसिंह (द्वितीय) नामक दो भाइयों को वादामी के चालुक्यों की अनेक राजवंशावलियों में चालुक्यराज सत्याश्रय—अपर नाम इडिव-वेडंग के पुत्र होना बताया गया है। किन्तु पुरातत्व सामग्री से यह सिद्ध होता है कि ये तीनों सत्याश्रय के नहीं अपितु सत्याश्रय के लघु भ्राता दासवर्मन अपर नाम यशोवर्मन के पुत्र थे।[1]

यह यशोवर्मन वस्तुतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं। क्योंकि इसके पिता चालुक्यराज तैल द्वितीय का शासनकाल ई. सन् ९७३ से ९९७ और इसके ज्येष्ठ भ्राता चालुक्यराज सत्याश्रय का शासनकाल ई. सन् ९९७-१००८ है।

इस प्रकार की स्थिति में वादामी चालुक्य राजवंश के इस यशोवर्मन अपर नाम दासवर्मन को तो ई. सन् ७०० से अनुमानतः ७४० तक कन्नौज के शक्तिशाली राज्य पर शासन करने वाला यशोवर्मन मान लेने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक यशोवर्मन नाम का उपर्युद्धृत लेख में वर्णित यशोवर्मन को छोड़कर अन्य कोई राजा भारत की किसी भी प्रसिद्ध राजावलि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रकूटवंशीय राजा प्रभूतवर्ष उपरि-वर्णित दानपत्र में जिस महाप्रतापी समस्तनरेन्द्रमण्डल के विजेता के रूप में

---

[1] जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स पी. बी. देसाई लिखित, पेज ३१०

चालुक्यराज यशोवर्मन का उल्लेख किया गया है, वही यशोवर्मन वस्तुतः हर्षवर्द्धन की मृत्यु के लगभग ५३ वर्ष के पश्चात् कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। उस यशोवर्मन के पिता का नाम बलवर्मन और उसके पुत्र का नाम विमलादित्य था, जो कि कालान्तर में राष्ट्रकूट राजवंश का अधीनस्थ राजा अथवा सामन्त था। इस अभिलेख के उल्लेखानुसार यशोवर्मन का विवाह गंगवंशी चाकिराज की बहिन के साथ सम्पन्न हुआ था।

यशोवर्मन के सम्बन्ध में इस प्रकार के कतिपय नवीन ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि के अनन्तर भी अभी तक यह तथ्य अन्धकार में ही है कि यशोवर्मन चालुक्यों की किस शाखा में उत्पन्न हुआ था। इस तथ्य पर प्रकाश डालने वाले प्रमाणों के अभाव में प्रोफेसर भण्डारकर ने यशोवर्मन को चालुक्यों की इतिहास प्रसिद्ध शाखाओं से भिन्न किसी इतर (स्वतन्त्र) शाखा का सदस्य माना है। यशोवर्मन का सम्बन्ध चाहे किसी भी शाखा से हो लेकिन राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष के उपरिउद्धृत अभिलेख से यह तो अन्तिम रूप से सुनिश्चित हो जाता है कि वह चालुक्य वंश का राजा था।

यशोवर्मन जिस प्रकार एक महान् योद्धा और रणनीति-विशारद था, उसी प्रकार वह विद्याप्रेमी और विद्वानों का सम्मान करने वाला था। महाकवि भवभूति और वाक्पतिराज उसकी राजसभा के विद्वद्रत्न और राजकवि थे। वाक्पतिराज ने प्राकृत भाषा में १२०९ गाथाओं का 'गउड़वहो' नामक एक काव्यग्रन्थ की रचना कर कन्नौज के अधीश्वर इन यशोवर्मन की प्रशंसा की है। 'गउड़वहो' में वाक्पतिराज ने यशोवर्मन के अप्रतिम शौर्य और दिग्विजय यात्रा का जो वर्णन किया है, उसका सारांश इस प्रकार है :—

"यशोवर्मा महान् प्रतापी राजा था, वह साक्षात् हरि का अवतार था। प्रलय होने पर, हरि का अवतार होने के कारण केवल यशोवर्मा ही विद्यमान रहेगा। उसके अतिरिक्त यह दृश्यमान समस्त जगत् प्रलयकाल में विलुप्त हो जायगा।"

"इस प्रकार के महा प्रतापी राजा यशोवर्मा ने वर्षाऋतु की समाप्ति पर एक शुभ दिन में अपनी विजययात्रा प्रारम्भ की। शोण नद होते हुए महाराजा यशोवर्मन विन्ध्यगिरि पहुंचा। वहां उसने विन्ध्य गुहानिवासिनी देवी के दर्शन कर उसकी स्तुति की। वहां मगध का गौड़ राजा भी आया हुआ था किन्तु यशोवर्मा को देखते ही गौड़राज भयभीत हो वहां से भाग खड़ा हुआ। रणक्षेत्र में पीठ दिखाकर भाग जाना वस्तुतः क्षत्रिय के लिये बड़ा ही लज्जाजनक और मृत्यु से भी भयानक दुःखदायक है, यह विचार कर गौड़राज के सहायक राजा और उनकी सेना पुनः यशोवर्मन के सम्मुख लौट आई। गौड़राज को भी इस प्रकार की स्थिति में

पुनः उनके साथ यशोवर्मन के सम्मुख लौटना पड़ा। दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। यशोवर्मन ने गौड़राज की सेना को नष्ट कर गौड़राज को भी रणांगण में धराशायी कर दिया।" इसी घटना को लेकर महाकवि वाक्पतिराज ने 'गउड़वहो' की रचना की है। इससे आगे इस सम्पूर्ण काव्यकृति में गौड़राज का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यही आभास होता है कि उस गौड़ राजा को मार डालने और उसकी सेना को नष्ट कर देने के पश्चात् यशोवर्मन ने विशाल मगधराज पर अधिकार कर अपनी दिग्विजय का शुभारम्भ किया।

वाक्पतिराज ने गंउडवहो में आगे लिखा है—"गौड़ राजा का वध करने के पश्चात् यशोवर्मन ने इलायची के वृक्षों की सुगन्ध से सुरभित समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया और उन पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराने के पश्चात् यशोवर्मन बंग प्रदेश पर अपनी विजय का अभियान प्रारम्भ किया। उस समय बंग प्रदेश हाथियों के लिए प्रसिद्ध था। यशोवर्मन ने बंगराज को पराजित कर उसे अपना वशवर्ती राजा बनाया। तदनन्तर महाराजा यशोवर्मन मलयगिरि की तलहटी और उसके पार्श्वस्थ प्रदेशों पर विजय प्राप्त करता हुआ दक्षिणी-समुद्र के तट पर पहुंचा। वहां उसने उस रम्य प्रदेश को देखा जहां बाली लंकापति रावण को अपने पार्श्व में दबाये कई दिनों तक भ्रमण करता रहा। समुद्र के सम्पूर्ण तटवर्ती प्रदेशों पर विजय प्राप्त करता हुआ यशोवर्मन पारसीक जनपद की ओर बढ़ा और उसने पारसीक राजा को युद्ध में परास्त किया। तदनन्तर उसने कोंकण प्रदेश को विजित किया। तदनन्तर नर्मदा नदी के तटवर्ती राज्यों को अपने अधीनस्थ राज्य करता हुआ अपनी विशाल एवं विजयिनी सेना के साथ मरुप्रदेश में पहुंचा। मरुप्रदेश से आगे बढ़कर वह श्रीकण्ठ (स्थानेश्वर राज्य) प्रदेश होता हुआ कुरुक्षेत्र पहुंचा। तत्पश्चात् वह अयोध्या नगरी की ओर बढ़ा। उसने महेन्द्र पर्वत के राजाओं पर विजय प्राप्त की और तदनन्तर उसने उत्तर दिशा की ओर प्रयाण किया।"

इस प्रकार दिग्विजय करने के अनन्तर महाराजाधिराज यशोवर्मन कन्नौज लौटा। कन्नौज लौटने पर उसने अपने उन सभी अधीनस्थ राजाओं को उनके अपने अपने राज्यों में जाने की आज्ञा दी, जो दिग्विजय में उसके साथ हुए थे।

महाकवि वाक्पतिराज ने अपने ग्रन्थ "गउड़वहो" में महाराजा यशोवर्मन की दिग्विजय का इस प्रकार अतीव संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया है। यशोवर्मन के आश्रित राजकवि वाक्पतिराज ने अपने 'गउड़वहो' काव्य में यशोवर्मन की इस दिग्विजय यात्रा का वर्णन प्रस्तुत किया है, इस प्रकार की स्थिति में सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काव्य में ऐतिहासिकता की अपेक्षा कविकल्पना का बाहुल्य हो सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार की नहीं है। नालन्दा से

प्राप्त एक शिलालेख[1] में यशोवर्मन को सार्वभौम सत्तासम्पन्न महाराजा बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसने मगध के राजा गौड़ को मारकर अथवा पराजित कर बंगाल तक विस्तीर्ण उसके मगध-राज्य पर विजय प्राप्त की थी।

यशोवर्मन के समय में अरब देश के खलीफाओं की गृध्र दृष्टि आर्यधरा भारत पर लगी हुई थी। वे ईराक, ईरान आदि देशों की ही तरह विशाल भारत को भी इस्लामी देश बना देने पर कटिबद्ध थे। सिन्ध प्रदेश पर अरबों की सेनाओं ने अधिकार भी कर लिया था। दूरदर्शी यशोवर्मन ने अरब सेनाओं से भारत की रक्षा करने का दृढ़ संकल्प किया। पारसीक देश पर यशोवर्मन के विजय अभियान का जो उल्लेख वाक्पतिराज ने "गउड़वहो" में किया है, उसमें संभवतः वाक्पतिराज ने सिन्धु प्रदेश को ही पारसीक देश के नाम से सम्बोधित किया है। यशोवर्मन का वह पारसीक विजय अभियान संभवतः भारत की अरबों के संभावित आक्रमण से रक्षा करने के दृढ़ संकल्प का प्रारम्भिक क्रियान्वयन, अथवा अपने उस दृढ़ संकल्प की पूर्ति का प्रथम प्रयास ही था।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार हर्षवर्द्धन सम्पूर्ण भारत को सदा सदा के लिए एक शक्तिशाली अजेय राष्ट्र बना देने की आकांक्षा से एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करना चाहता था, ठीक उसी प्रकार यशोवर्मन भी भारत की उत्तरी सीमा के पार अरबों के भारत पर बढ़ते हुए दबाव को देखकर विदेशियों से अपनी जन्म-भूमि भारत की स्थायी रूप से सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करना चाहता था।

चीन देश के स्रोतों से यह सिद्ध होता है कि उसने अरबों के संभावित आक्रमण से भारत की रक्षा हेतु बड़े ही दूरदर्शितापूर्ण प्रयास किये।

चीन के राजकीय अभिलेखों में उल्लेख है कि भारत के मध्यदेश के राजा यी-शा-फू-मो ने ईस्वी सन् ७३१ में अपने एक मन्त्री बौद्ध भिक्षुक पू-ता-सि-न (बुद्धसेन) के नेतृत्व में अपना एक प्रतिनिधि मण्डल चीन के सम्राट् के पास इस प्रार्थना के साथ भेजा कि उत्तर से अरबों और तिब्बतवासियों का भारत पर निरन्तर दबाव बढ़ रहा है। इस सम्भावित संकट से भारत की रक्षा के लिये चीन के सम्राट् की ओर से समुचित सहायता प्रदान की जाय।[2] राजतरंगिणी के अनुवाद में स्टेन द्वारा किये गये उल्लेख के अनुसार काश्मीर के राजा ललितादित्य ने भी ई० सन् ७३६ में चीन के सम्राट् के पास अपना प्रतिनिधि भेजकर प्रार्थना की कि काश्मीर पर अरबवासियों और तिब्बतवासियों के बढ़ते हुए दबाव को रोकने के लिये उन्हें

---

[1] क. भण्डारकर की सूची संख्या २१०५।
ख. क्लासिकल एज भारतीय, विद्याभवन बम्बई के आधार पर पृष्ठ १२६

[2] साइनो इण्डियन स्टडीज, डा. पी. सी. बागची, (१), पृष्ठ ७१

सैनिक सहायता प्रदान की जाय।[1] ललितादित्य ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के माध्यम से चीन के सम्राट् को यह भी निवेदन किया कि अरवों और तिब्बतवासियों के भारत पर बढ़ते हुए दवाव को रोकने का वह (ललितादित्य) और यशोवर्मन सम्मिलित प्रयास कर रहे हैं। इन उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि यशोवर्मन भारत की अखण्डता एवं रक्षा के लिये एक दूरदर्शी सजग प्रहरी के रूप में चिंतित अथवा चिंतनशील था।

ऐतिहासिक घटनाक्रम इस बात का साक्षी है कि ई० सन् ७३४–७३५ में अरबों ने सिंध से लगी हुई गुजरात की सीमाओं में घुसकर कन्नौज, उज्जैन आदि की ओर बढ़ने की इच्छा से सैनिक अभियान प्रारम्भ किये, जिन्हें कि चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय के गुजरात प्रदेश के राज्यपाल अथवा प्रशासक पुलकेशिन और राष्ट्रकूटवंशीय राजा दंतिदुर्ग ने युद्धों में पराजित कर पुनः सिंध की ओर भाग जाने के लिये वाध्य कर दिया। अरवों के इस आक्रमण को विफल करने में यशोवर्मन एवं ललितादित्य द्वारा किसी प्रयास के किये जाने के उल्लेखों के अभाव से यह अनुमान किया जाता है कि इस समय तक यशोवर्मन और ललितादित्य जो अरवों से भारत की रक्षा के पुनीत कार्य के लिये कृत-संकल्प थे, इन दोनों के वीच आपसी मनमुटाव संघर्ष का रूप धारण कर गया था। डॉ० पी० सी० वागची के अभिमतानुसार यशोवर्मन ने चीन के सम्राट् को यह निवेदन भी करवाया था कि वे ललितादित्य और उसके (यशोवर्मन के) बीच उत्पन्न हुए कलह को शांत करने के लिये मध्यस्थता करें।[2]

अरवों द्वारा गुजरात के मार्ग से भारत के मध्यवर्ती कन्नौज, उज्जैन आदि क्षेत्रों की ओर वढ़ने के लिये किये गये उपरिवर्णित प्रयास को विफल करने में ललितादित्य और यशोवर्मन की उदासीनता का जो आनुमानिक कारण ऊपर वताया गया है, उसकी पुष्टि राजतरंगिणी के उल्लेखों से भी होती है।

काश्मीरराज ललितादित्य के प्रीतिपात्र राजकवि कल्हण ने अपने ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रंथ-"राजतरंगिणी" में इन दोनों राजाओं (ललितादित्य और यशोवर्मन) के बीच हुए संघर्ष का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"काश्मीर के महाराजाधिराज ललितादित्य और कन्नौजराज यशोवर्मन के वीच पर्याप्त समय से परस्पर मनोमालिन्य चल रहा था, जिसने अंततोगत्वा संघर्ष का रूप धारण कर लिया। संघर्ष को उग्र रूप धारण करते देख दोनों ने सन्धि करने का विचार किया। सन्धिपत्र का आलेखन भी कर लिया गया। किन्तु उस

---

[1] स्टेन द्वारा आंग्ल भाषा में अनुदित राजतरंगिणी, ४, की टिप्पण सं. १३४

[2] दी हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पीपल, दी क्लासिकल एज, पृष्ठ १३०, टिप्पण ४

सन्धि पत्र के "यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच शांति-सन्धि" इस शीर्षक को देखकर ललितादित्य के सांधिविग्रहिक मंत्री ने अपने स्वामी कश्मीर के महाराजा ललितादित्य से पूर्व यशोवर्मन के नाम के लिखे जाने पर आपत्ति की। दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष अपने स्वामी का नाम दूसरे स्थान पर रखने के लिये सहमत नहीं हुआ। इसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच सन्धि होते-होते रुक गई। यद्यपि ललितादित्य के सेनापति लम्बे युद्ध से ऊब चुके थे तथापि दोनों पक्षों की सेनाओं ने युद्धभूमि में अपने-अपने मोर्चे सम्हाले और भारत को शक्तिशाली बनाने के समान उद्देश्य वाले उन दोनों राजाओं के बीच पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। बड़ा लोमहर्षक युद्ध हुआ।"

यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच हुए इस घोर युद्ध के अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध में राजतरंगिणीकार कल्हण आगे लिखता है :—

"ललितादित्य के साथ हुए यशोवर्मन के युद्ध का परिणाम यह हुआ कि जिस यशोवर्मन की यशस्वी कवि वाक्पतिराज और महाकवि भवभूति सेवा किया करते थे, वह यशोवर्मन अहर्निश ललितादित्य का गुणगान करने वाले साधारण सामन्त की स्थिति (नाममात्र) का राजा रह गया। इस सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, यमुना के तट से (केवल) कालिका नदी के तट तक की सीमा वाले उसके कान्यकुब्ज की परिधि उसके निवास स्थान के एक प्रकोष्ठ के तुल्य उसके अधिकार में रह गई थी। यशोवर्मन को लांघती हुई............... ललितादित्य की सेनाएं बिना किसी प्रयास के सहज ही आनन-फानन में ही पूर्व सागर तक पहुंच गई।"

कल्हण ने यह भी लिखा है कि ललितादित्य ने यशोवर्मन को समूल नष्ट कर दिया।

इस प्रकार भारत को एक अजेय शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का स्वप्न असमय में ही टूट गया। यह भारत के लिये बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी कि दो राजाओं के थोथे अहम् और उन राजाओं के अहमक मन्त्रियों की अदूरदर्शिता के कारण भारत की जो सेनाएं आने वाले दुर्दिनों में देश की रक्षा के लिये काम में आतीं, वे परस्पर ही लड़-भिड़ कर नष्ट अथवा अशक्त हो गई।

३३वें युगप्रधानाचार्य संभूति के समय की राजनैतिक स्थिति (बादामी का चालुक्य राजवंश)

ई. सन् ७३३ में चालुक्य राज विक्रमादित्य के पश्चात् उसका पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) बादामी के राजसिंहासन पर बैठा। इसका शासन ७४४ तक रहा।

सिन्ध प्रदेश में शासन कर रहे अरबों ने दक्षिणापथ की ओर बढ़ने के उद्देश्य से सिन्ध प्रदेश से लगे गुर्जर प्रदेश के क्षेत्रों पर ई. सन् ७३४-३५ में अधिकार करना प्रारम्भ किया। गुजरात में चालुक्य राज के प्रतिनिधि पुलकेसिन ने उन अरबों पर आक्रमण किया और उन्हें परास्तकर पुनः सिंध प्रदेश में भागने के अतिरिक्त उनके लिये अन्य कोई रास्ता नहीं रखा। यह पुलकेसिन चालुक्यराज विक्रमादित्य (प्रथम) के भ्राता उस जयसिंह का पुत्र था जिसने कि प्रथम विक्रमादित्य का बादामी राज्य की पुनः संस्थापना में सदा साथ दिया था और जो विक्रमादित्य द्वारा दक्षिण गुजरात का प्रतिनिधि शासक (सामन्त) नियुक्त किया गया था।

विक्रमादित्य (द्वितीय) दक्षिणी गुजरात के शासक पुलकेसिन की इन शौर्यपूर्ण सेवाओं से अतीव प्रसन्न हुआ। उसने पुलकेसिन का राजसी सम्मान कर उसे "अवनि—जनाश्रय"—अर्थात् पृथ्वी पर बसने वाले मानव मात्र का आश्रय-सहारा अथवा शरण्य-की सर्वोच्च सम्मान पूर्ण उपाधि से अलंकृत किया। अरबों को पुनः सिन्ध की ओर खदेड़ने में राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग (ई. सन् ७३०-७५३) ने भी उल्लेखनीय कार्य किया। यह दन्तिदुर्ग विक्रमादित्य (द्वितीय) के शासनकाल तक बादामी के चालुक्यों का सामन्त था।

कांचिपति नरसिंह वर्मन द्वारा बादामी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार किये जाने और उस युद्ध में अपने पिता के प्रपिता चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय के मारे जाने की घटना बादामी के राजाओं के हृदय में शूल की तरह खटकती आ रही थी। विक्रमादित्य (द्वितीय) के मन में अपने यौवराज्यकाल में ही प्रतिशोध लेने की अदम्य उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उसने गंगराजवंश के १९वें राजा श्री पुरुष (ई. ७२७-८०४) के पुत्र (चालुक्य साम्राज्य के प्रशासक) ऐरेयप्पा की सहायता से एक शक्तिशाली एवं विशाल सेना ले कांची पर आक्रमण किया। उस समय कांची पर नरसिंह वर्मन प्रथम (ई. ६३०–६६८

और पुलकेशिन (द्वितीय) को युद्ध में

द्वितीय (ई० ७२०–७३१) का शासन

पराजित हुआ। बहुत बड़ी धनराशि देकर उसने संधि की जिससे उसका कोश-बल पूर्णतः क्षीण हो गया। गंगराज श्रीपुरुष और उसके पुत्र ऐरेयप्पा द्वारा चालुक्य युवराज को की गई सहायता के परिणामस्वरूप ही ये दुर्दिन देखने पड़े हैं, इस प्रकार विचार कर परमेश्वर वर्मन (द्वितीय) ने श्रीपुरुष से प्रतिशोध लेने की भावना से उस पर अचानक ही आक्रमण कर दिया। विल्लन्द नामक स्थान पर श्रीपुरुष की परमेश्वर वर्मन से मुठभेड़ हुई और श्रीपुरुष ने पल्लवराज परमेश्वर वर्मन को उस मुठभेड़ में मार डाला।

परमेश्वर वर्मन का कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी, मुख्य पल्लव राजवंश में नहीं होने के कारण दूसरी शाखा के पल्लव हिरण्यवर्मन के पुत्र नन्दिवर्मन (द्वितीय) को प्रजा को सम्मति से राजा चुना गया। इससे भयंकर गृह-कलह हुआ किन्तु नन्दिवर्मन पल्लवमल उन संकटों से पार हुआ।

युवराज विक्रमादित्य द्वारा कांची पर किया गया आक्रमण वस्तुतः पल्लव राजवंश को सदा के लिये समाप्त कर देने वाला वज्रप्रहार था। नन्दिवर्मन को विक्रम ने पराजित किया, कुछ समय तक कांची पर अपना अधिकार भी रखा किन्तु बड़ी ही उदारतापूर्ण सूझबूझ से काम लिया। उसने किसी को किसी भी प्रकार की क्षति पहुंचाना तो दूर बड़ी उदारता के साथ दान देकर प्रजाजनों को संतुष्ट किया। कैलाशनाथ के मन्दिर और अन्य मन्दिरों से जो मणों सोना नगर पर अधिकार करते समय लिया गया था, वह सब सोना युवराज विक्रम ने उन मन्दिरों को लौटा दिया। यह सब वृतान्त चौलुक्य युवराज ने कैलाशनाथ मन्दिर के एक स्तम्भ पर उट्टंकित करवाया। उसने चौलुक्य राजवंश के भाल पर जो यह कलंक का टीका लगा था— "पल्लवराज नरसिंह वर्मन ने वादामी पर एक वार अधिकार कर लिया था"—उस कलंक के टीके को धो डाला। यह घटना ई० सन् ७४० के आस-पास की है।

तदनन्तर विक्रमादित्य (द्वितीय) कांची का शासन नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल को सम्हला कर सदलवल वादामी लौट आया।

इसके शासनकाल में भी शान्ति और समृद्धि के साथ-साथ मन्दिरों आदि के निर्माण कार्य में वस्तुतः उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

चालुक्य सम्राट विक्रम (द्वितीय) के पश्चात् उसका पुत्र कीर्तिवर्मन वादामी के राजसिंहासन पर ई० सन् ७४४ में बैठा। इसके कुल मिलाकर सात-आठ वर्ष के शासनकाल में वादामी का प्रतापी राज्य निरन्तर क्षीण एवं निर्बल होता गया। वस्तुतः यह वादामी के चालुक्य शासकवंश का अन्तिम राजा सिद्ध हुआ। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि वज्जटों, चोलों, पाण्ड्यों और राष्ट्रकूटों के साथ इसे अनेक वार युद्धों में उलझना पड़ा।

सर्वप्रथम कीर्तिवर्मन का संघर्ष पाण्ड्य राजा माडवर्मन–राजसिंह (प्रथम) से उस समय हुआ जबकि वह पाण्ड्य-राज्य के विस्तार के अभियान में चालुक्य राज्य की सीमा के क्षेत्रों पर अधिकार कर रहा था। पाण्ड्यराज ने वेन्वाइ के निर्णायक युद्ध में कीर्तिवर्मन और गंगराज श्री पुरुष को पराजित किया। पाण्ड्यराज ने गंगवंश की राजकुमारी का विवाह अपने पुत्र के साथ करवाने की स्वीकृति हस्तगत करने के पश्चात् कीर्तिवर्मन और श्री पुरुष से संधि की।

राष्ट्रकूट वंश के ६ठे राजा दन्तिदुर्ग ने जिस प्रकार बादामी के चालुक्य राज्य पर कीर्तिवर्मन के शासनकाल में भीषण प्रहार किये उनका विवरण राष्ट्रकूट राजवंश के परिचय में प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया जा चुका है।

राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग

वीर नि० सं० १२५७ से १२८० तक मान्यखेट के राष्ट्रकूटवंशीय राजसिंहासन पर इस राजवंश के ६ठे शासक दन्ति दुर्ग अपर नाम :—(१) दन्तिवर्मा, (२) खड्गावलोक, (३) पृथ्वीवल्लभ, (४) वैरमेघ, और (५) साहसतुंग का अधिकार रहा। यह बड़ा प्रतापी राजा था। सभी इतिहासविद् इसे राष्ट्रकूट राजवंश को एक शक्तिशाली राज्य का रूप देने वाला मानते हैं। दिगम्बराचार्य अकलंक ने इसकी राजसभा में उपस्थित हो इसे एक महान् विजेता और दानियों में महादानी बताकर इसकी प्रशंसा की थी। इसने ई० सन् ७४२ में एलोरा पर अधिकार किया। दन्तिदुर्ग ने मालव, गुर्जर, कोशल, कलिंग, और श्रीशैलम् प्रदेश के तेलुगु-चोल राजाओं को क्रमशः एक एक कर के युद्ध में पराजित कर अपना आज्ञावर्ती बनाया। तदनन्तर वह कांची की ओर बढ़ा और कांचिपति नन्दिवर्मन पल्लवमल के साथ अपनी पुत्री रेखा का विवाह किया।

अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर लेने के पश्चात् उसने चालुक्यराज कीर्तिवर्मन पर अपनी मृत्यु से लगभग एक वर्ष पूर्व आक्रमण कर उसे अन्तिम रूप से पराजित किया। चालुक्यराज को पराजित करने के पश्चात् दन्तिदुर्ग ने अपने आपको दक्षिणापथ का सार्वभौम सत्तासम्पन्न राजा घोषित किया।

दन्तिदुर्ग जिनशासन के अभ्युदय, प्रचार-प्रसार के कार्यों में बड़ी रुचि लेता था और वह परम जिनभक्त था।

इसके रेखा नाम की एक पुत्री के अतिरिक्त कोई सन्तति नहीं थी। इसी कारण इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पितृव्य (चाचा) कृष्ण प्रथम मान्यखेट के राजसिंहासन पर बैठा।

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (प्रथम)

वीर नि० सं० १२८० से १३०५ तक राष्ट्रकूट वंशीय राजा कृष्ण प्रथम का विशाल राष्ट्रकूट राज्य पर शासन रहा। यह राष्ट्रकूट वंश के पांचवें राजा इन्द्र का छोटा भाई और छठे राजा दन्तिदुर्ग का पितृव्य था।

कृष्ण प्रथम ने भी अपने २५वर्ष के शासनकाल में राष्ट्रकूट राज्य की चारों दिशाओं में सीमावृद्धि की। मन्ने नामक ग्राम के नरहरियप्प के अधिकार में रहे ताम्रपत्रों पर उट्टंकित लेख (सं० १२३) में इस महाराजा कृष्ण के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख विद्यमान है :—

"यश्चालुक्यकुलादनूनविबुधाधाराश्रयाद् वारिधेः,
लक्ष्मीं मन्दरवत् सलीलमचिरादाकृष्टवान् वल्लभः।

अर्थात्—बिना चक्र इस राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्ण ने बड़े बड़े बुद्धिमानों के आधारभूत चालुक्य कुल रूपी समुद्र से उसकी राज्यलक्ष्मी को बलपूर्वक उसी प्रकार खींच लिया जिस प्रकार कि समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल की मथनी द्वारा सागर तनया भगवती लक्ष्मी को सागर से निकाल लिया गया था।[1]

कृष्ण ने कोंकण पर अधिकार कर वहां शिलाहारवंशीय राजकुमार को सामन्त के रूप में नियुक्त किया। इसने गंग राज्य पर आक्रमण किया। गंगराज श्रीपुरुष को रणांगण में पराजित कर उसे अपना अधीनस्थ राजा बनाया। कृष्ण ने अपने बड़े पुत्र गोविन्द को एक बड़ी सेना के साथ वेंगी के चालुक्य राजा को वश में करने के लिए भेजा। वेंगी के राजा विजयादित्य प्रथम ने राजकुमार गोविन्द के समक्ष उपस्थित हो बिना किसी संघर्ष के ही राष्ट्रकूट राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली। कृष्ण के गोविंद और ध्रुव नामक दो पुत्र थे। ध्रुव को शिलालेखों में धोर के नाम से भी अभिहित किया गया है। राजा कृष्ण ने एलपुर (एलोरा) में एक अति भव्य शिवमन्दिर का निर्माण करवाया। ई० सन् ७७२ में कृष्ण का देहावसान हो गया।

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. १२५

सम्राट् ललितादित्य–मुक्तापीड़

वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी में काश्मीर के राजसिंहासन पर कारकोट अथवा नागवंश का राजा ललितादित्य बैठा। यह कन्नौज के महाराजाधिराज यशोवर्मन का समकालीन महाराजा था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यशोवर्मन ई० सन् ७०० के लगभग कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्मन जब पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में भारत की अन्तिम सीमाओं तक दिग्विजय कर एक विशाल एवं शक्तिशाली कन्नौज राज्य को सुगठित कर चुका था, उस समय ललितादित्य काश्मीर राज्य के राजसिंहासन पर बैठा। जिस समय यशोवर्मन उत्तर दिशा में दिग्विजय करता हुआ बढ़ा, उस समय अरबों और तिब्बतवासियों ने भारत की उत्तरी सीमाओं पर अपनी आक्रामक गतिविधियां संभवतः थोड़ी तेज कर दी थीं। अरबों और तिब्बतवासियों का भारत की सीमाओं पर दवाव संभवतः ई० सन् ७३०–३१ के आसपास बढ़ने लगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यशोवर्मन भारत पर आने वाले विदेशी आक्रमण के संकट से चिन्तित हुआ और उसने चीन के सम्राट् से अपने एक प्रतिनिधिमंडल के माध्यम से ई० सन् ७३१ में प्रार्थना की कि वे भारत पर संभावित विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा में सहायता प्रदान करें। इससे अनुमान किया जाता है कि भारत पर आने वाले इस भावी संकट के सम्बन्ध में भारत की उत्तरी सीमा पर अवस्थित काश्मीर राज्य के महाराजा ललितादित्य से भी विचार विनिमय किया गया। भारत की विदेशी आक्रमणों से रक्षा के पुनीत कार्य को संगठित रूप से किया जाय, इस विचार से यशोवर्मन ने ललितादित्य से मैत्री की। कुछ समय तक ये दोनों राजा सम्मिलित रूप से इस पुनीत कार्य को करते भी रहे थे और उसी समय में किसी क्षेत्र विशेष पर अपना अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करते समय ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया और यह मनमुटाव धीरे-धीरे संघर्ष का रूप धारण करने लगा। ऐसा आभास कल्हण की राजतरंगिणी से होता है।

दोनों राजाओं के बीच इस प्रकार की संघर्षात्मक स्थिति संभवतः ई० सन् ७३६ के पश्चात् ही किसी समय उत्पन्न हुई होगी क्योंकि ई० सन् ७३६ में ललितादित्य ने भी अपना प्रतिनिधिमण्डल चीन के सम्राट् के पास भेज कर अरबों और तिब्बतियों की भारत की सीमा पर गतिविधियों को रोकने की जो प्रार्थना की थी उसमें उसने चीन के सम्राट से यह भी निवेदन करवाया था कि यशोवर्मन उसका मित्र राजा है।

यशोवर्मन द्वारा किये गये कार्यों के परिचय में यह बताया जा चुका है कि राजतरंगिणी में कल्हण के उल्लेखानुसार ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच

उत्पन्न हुए उस संघर्ष को समाप्त करने के लिए एक संधिपत्र भी लिखकर तैयार किया गया था किन्तु अहमक मन्त्रियों की अदूरदर्शिता के परिणामस्वरूप उस संधिपत्र पर दोनों राजाओं के संधिविग्रहिकों के हस्ताक्षर नहीं हो सके और वह संधि का प्रयास भयंकर युद्ध के रूप में परिणत हो गया।

इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव में निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु अनुमान किया जाता है कि दोनों राजाओं की सेनाओं के बीच युद्ध छिड़ जाने पर ललितादित्य की ओर से अप्रत्याशित आकस्मिक आक्रमण और अपने राज्य की सीमाओं से दूरस्थ पहाड़ी प्रदेश की प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण यशोवर्मन की विजयिनी सेनाओं को अपूरणीय भयावह क्षति उठानी पड़ी और यशोवर्मन को अपने राज्य की ओर लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा। यशोवर्मन की सेनाओं को कन्नौज की ओर लौटते देख काश्मीरी सेनाओं का मनोबल बढ़ना सहज स्वाभाविक ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि यशोवर्मन की सैन्यशक्ति नष्टप्राय: हो जाने से और नई कुमुक समय पर नहीं पहुंच पाने से यशोवर्मन की युद्ध में पराजय हुई और ललितादित्य विजयी हुआ। स्वयं कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि मगध एवं बंगाल के गौड़ महाराजा को ललितादित्य ने विश्वास देकर काश्मीर में अपने घर पर बुलाकर उसकी हत्या करवादी और अपने जीवन पर कलंक का अमिट काला टीका लगा लिया। ललितादित्य के विश्वासघात परायण जीवन को देखते हुए यह आशंका करना सहज स्वाभाविक ही है कि उसने कन्नौजराज यशोवर्मन के साथ भी इसी प्रकार का विश्वासघात किया होगा।

यशोवर्मन की पराजय के पश्चात् ललितादित्य की विजयवाहिनी निरन्तर एक के पश्चात् दूसरे प्रदेश में बढ़ती ही रही। प्रतिरोध करने वाली कोई शक्ति थी ही नहीं, इस कारण यशोवर्मन द्वारा लगभग चालीस वर्षों के अपने विजय अभियानों द्वारा उपार्जित विशाल राज्य ललितादित्य को सहज ही प्राप्त हो गया।

इस प्रकार गुप्त साम्राज्य के लगभग ढाई शतक पश्चात् ललितादित्य एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना में सफल हुआ। गुप्तों के पश्चात् भारत का यही एकमात्र अन्तिम सम्राट् हुआ।

ईशा की १२ वीं शताब्दी के, काश्मीर राज्य के राजकवि, विद्वान् एव यशस्वी इतिहासज्ञ कवि कल्हण ने अपने आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्व के काव्यग्रन्थ "राजतरंगिणी" में काश्मीर राज्य का कनिष्क से भी पूर्ववर्ती काल से प्रारम्भ कर अपने समय तक का इतिहास लिखा है। राजतरंगिणी में उल्लिखित काश्मीर के इतिहास को देखकर विद्वान् इतिहासज्ञों की यह मान्यता बन गई है कि भारत के विभिन्न प्राचीन राज्यों में काश्मीर ही एक ऐसा राज्य है, जिसका कि प्राचीन काल से इतिहास एकत्र लिखित रूप में विद्यमान है।

काश्मीर कवि कल्हण ने राजतरंगिणी में जो काश्मीर राज्य का प्राचीन इतिहास निबद्ध किया है, उसमें प्रारम्भिक कतिपय शताब्दियों का इतिहास लोक कथाओं और किंवदन्तियों के आधार पर ही लिखा गया है, क्योंकि सुदीर्घ अतीत की ऐतिहासिक सामग्री कल्हण को उपलब्ध नहीं हो सकी होगी। इतिहासलेखन की कला में निष्णात कल्हण ने इतिहासलेखन के नियमों का निर्वहन किया है। उस प्राचीन काल की घटनाओं का जो विवरण कल्हण ने लिखा है, उसका आधार अधिकांशतः लोक कथाएं, किंवदन्तियां एवं जनश्रुतियां ही रहीं हैं, इसी कारण कल्हण द्वारा प्रस्तुत किये गये काश्मीर के इतिहास का प्राचीन काल का पूर्वभाग, जिसमें गोनन्द राजवंश का इतिहास प्रस्तुत किया गया है, वह असंभाव्यता, अनिश्चितता आदि अनेक दोषों से प्रलिप्त होने से विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इससे आगे ईसा की सातवीं शताब्दी से कल्हण ने काश्मीर का इतिहास लिखा है, वह कतिपय साधारण घटनाओं को छोड़कर शेष इतिहास वस्तुतः इतिहास के दृष्टिकोण से संतोषप्रद और पर्याप्त रूपेण विश्वसनीय कहा जा सकता है।

अपने आश्रयदाता राजवंश को सर्वश्रेष्ठ और राजोचित सभी गुणों से अलंकृत बताने का मोह एक आश्रित इतिहास लेखक में होना सहज संभव है। उस दशा में इस प्रकार के लेखन में अतिशयोक्तियों का भी बाहुल्य अपेक्षित ही रहता है। इतना सब कुछ होते हुए भी कल्हण ने अपने से लगभग चार सौ-साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व हुए काश्मीर के महाप्रतापी महाराजा और भारत के सम्राट् ललितादित्य द्वारा विश्वासघात जैसे जघन्य अपराध का आश्रय लेते हुए गौड़ राजा की काश्मीर में बुलाकर हत्या करवा दीगई, उस घटना को ललितादित्य के जीवन पर कलंक का काला धब्बा बताया है। जिस मूर्ति की शपथ ग्रहण करते हुए ललितादित्य ने गौड़राज को सभी भांति की सुरक्षा का विश्वास दिलाते हुए उसे काश्मीर में बुलाया था और ललितादित्य द्वारा विश्वासघात किये जाने के अनन्तर जिन बंगाली युवकों ने बंगाल से काश्मीर तक की उन दिनों अति कष्ट भरी साहसिक यात्रा कर अपने राजा की विश्वासघात पूर्वक हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए काश्मीर के राजमन्दिर की मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे, उनकी साहसिकता और स्वामिभक्ति की भी कल्हण ने राजतरंगिणी में भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बड़ी साहसिकता के साथ बिना किसी पक्षपात के एक ऐतिहासिक घटना का यथातथ्य रूपेण आलेखन कर कल्हण ने इतिहासलेखन के महत्वपूर्ण कर्तव्य का सम्यक् रीति से निर्वहन कर इतिहास जगत में महती प्रतिष्ठा एवं कीर्ति अर्जित की है।

कल्हण ने "राजतरंगिणी" में काश्मीर का जो इतिहास लिखा है, उसका सारांश निम्न है :—

काश्मीर पर प्राचीन काल में गोनन्द राजवंश का राज्य था। उसमें एक गोनन्दवंशी राजा ने ३०० वर्ष तक राज्य किया और उसके पश्चात् उसी वंश

क्रमशः दो राजाओं ने ८० वर्ष तक राज्य किया, जो कि दोनों सहोदर थे। उस यशस्वी गोनन्दवंश का अन्तिम राजा बालादित्य हुआ।

गोनन्दवंश के अन्तिम काश्मीरराज बालादित्य के एक पुत्री के अतिरिक्त अन्य कोई सन्तति नहीं हुई। अतः उसने अपनी इकलौती पुत्री का विवाह करकोट नामक नागवंश के दुर्लभवर्द्धन नामक राजकुमार के साथ कर अपने जीवन के संध्याकाल में ईस्वी सन् ६२७ में अपने जामाता दुर्लभवर्द्धन का काश्मीर के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक किया। यही दुर्लभवर्द्धन काश्मीर में करकोट नागवंश-राज्य का संस्थापक अथवा प्रथम राजा हुआ। हर्षवर्द्धन के परम प्रीतिपात्र चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने अपनी काश्मीर यात्रा के संस्मरणों में लिखा है कि महाराज दुर्लभवर्द्धन का काश्मीर राज्य के अतिरिक्त तक्षशिला, पूंच, राजोरी, उर्षा (हजारा जिला) और लवण—उत्पादन क्षेत्र सिंहपुर—इन पांच बड़े-बड़े क्षेत्रों पर भी शासन था।

दुर्लभवर्द्धन का काश्मीर राज्य पर ३६ वर्ष तक शासन रहा। उसके पश्चात् उसका पुत्र दुर्लभक ५० वर्ष तक काश्मीर राज्य पर शासन करता रहा। इन दोनों पिता पुत्र का शासनकाल शान्तिपूर्ण रहा। इनके शासनकाल में किसी ऐतिहासिक महत्व की घटना के घटित होने का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। महाराजा दुर्लभक के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र चन्द्रापीड़ काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठा। चन्द्रापीड़ ने अपने राज्य की सीमा के पार अरबों की बढ़ती हुई गतिविवियों के समाचार पा चीन-सम्राट् के पास अपना दूत भेजकर अरबों के संभावित आक्रमण के विरुद्ध सैनिक सहायता प्रदान करने के लिए निवेदन करवाया। इससे अनुमान किया जाता है कि संभवतः उस समय तक मुहम्मदिब्न कासिम काश्मीर राज्य की सीमाओं के आस-पास पहुंच गया था। चीन से चन्द्रापीड़ को किसी प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं हुई और उसने अपनी शक्ति के बल पर ही अरबों के छुटपुट आक्रमणों को विफल कर दिया। उसी समय अरब के खलीफाओं ने अरब सेनाओं के साथ मुहम्मदिब्न कासिम अथवा अन्य किसी सेनापति को पुनः अरब में बुला लिया और अरब पहुंचते ही मुस्लिम सेनापति की मृत्यु हो गई। इससे चन्द्रापीड़ को अपनी सुरक्षात्मक स्थिति सुदृढ़ करने का अवसर मिला। राजा चन्द्रापीड़ बड़ा ही दयालु और न्यायप्रिय शासक था। इसकी न्यायप्रियता और दयालुता की अनेक लोक कथाएं कल्हण के समय तक काश्मीर में प्रचलित रहीं। उनमें से उसकी न्यायप्रियता की एक घटना का कवि कल्हण ने राजतरंगिणी में उल्लेख किया है, जो न केवल शासक वर्ग को ही अपितु सर्वसाधारण को सदा न्याय-पथ पर ही अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती है। काश्मीरी विद्वान् इतिहासकार कवि कल्हण के शब्दों में वह घटना इस प्रकार है :—

एक समय महाराजा चन्द्रापीड़ ने एक विशाल एवं भव्य मन्दिर बनाने का अपने मन्त्रियों को आदेश दिया। राजाज्ञानुसार मन्दिर का निर्माण कार्य

कर दिया गया। जिस स्थान पर मन्दिर का निर्माण किया जा रहा था, वहाँ एक गरीब किसान की झौंपड़ी खड़ी हुई थी। राज्याधिकारियों ने उस किसान को कहा कि वह उस झौंपड़ी में से अपना सामान हटाकर कहीं अन्यत्र झौंपड़ी बना ले। उस किसान ने राज्याधिकारियों से स्पष्ट शब्दों में कहा कि वह किसी भी दशा में उस झौंपड़ी को नहीं छोड़ेगा। अन्त में यह बात महाराज चन्द्रापीड़ तक पहुंची। उन्होंने बड़े ध्यान से अपने राज्याधिकारियों की पूरी बात सुनने के पश्चात् अपने अधिकारियों को ही दोषी ठहराते हुए आक्रोशपूर्ण शब्दों में कहा—"उस किसान की झौंपड़ी तुम उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं ले सकते। निर्माण कार्य को बन्द कर किसी अन्य स्थान पर मन्दिर बनाया जाय। उस किसान के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय नहीं किया जाय।"

उस किसान ने भी राजा के समक्ष उपस्थित हो निवेदन किया—"महाराज ! मेरी झौंपड़ी, मेरे जन्म के समय से ही मुझे मेरी जन्मदायिनी मां के समान प्रिय रही है ! वस्तुतः मेरी झौंपड़ी मेरे अच्छे और बुरे दिनों की, सुख-दुःख की संगिनी है। अतः मैं यह नहीं देख सकता कि मेरी आंखों के सम्मुख ही उसे उखाड़ कर फैंक दिया जाय।"

महाराजा चन्द्रापीड़ ने सान्त्वना भरे स्वरों में आश्वस्त किया कि उसकी इच्छा के विपरीत कोई उसकी झौंपड़ी का स्पर्श भी नहीं कर सकेगा। किसान अपने राजा की न्यायप्रियता से बड़ा ही प्रभावित हुआ। उसने राजप्रासाद से अपनी झौंपड़ी की ओर लौटते समय लोगों से कहा—"यदि महाराज स्वयं मेरी झौंपड़ी पर आकर मन्दिर के निर्माण के लिए मेरी झौंपड़ी की मुझसे मांग करें तो मैं अपनी झौंपड़ी मन्दिर के लिए दे सकता हूं।"

किसान के इस कथन की सूचना मिलते ही काश्मीर नरेश्वर चन्द्रापीड़ तत्काल उस किसान की झौंपड़ी पर गया, किसान से उस झौंपड़ी की मांग की। किसान ने सहर्ष अपनी झौंपड़ी राजा को मन्दिर के निर्माण के लिए दे दी। चन्द्रापीड़ ने उस किसान को उसकी झौंपड़ी के बदले विपुल धनराशि प्रदान की।

इस प्रकार की दयालुता और न्यायप्रियता के परिणामस्वरूप चन्द्रापीड़ को उसकी प्रजा उसे अन्तर्मन से चाहती थी और उसकी कीर्ति उसके राज्य से बहुत दूर-दूर तक प्रसृत हो गई थी।

एक बार चन्द्रापीड़ ने एक ब्राह्मण को उसके इस अपराध से दण्डित किया कि उसने तान्त्रिक मारण विद्या के अनुष्ठान से एक दूसरे ब्राह्मण की हत्या कर दी थी। दण्डित होने के कारण वह जादूगर ब्राह्मण चन्द्रापीड़ पर मन ही मन बड़ा क्रुद्ध हुआ। चन्द्रापीड़ के छोटे भाई तारापीड़ ने इसे अपने हित में उचित अवसर समझकर उस ब्राह्मण की क्रोधाग्नि को और अधिक भड़काते हुए उस तान्त्रिक

ब्राह्मण को इस बात के लिए प्रलोभन आदि से प्रोत्साहित किया कि वह चन्द्रापीड़ पर अपने मारण अनुष्ठान का प्रयोग करे। उस ब्राह्मण ने चन्द्रापीड़ पर अपने जादू मारण अनुष्ठान (मूठ) का प्रयोग किया और उससे चन्द्रापीड़ की मृत्यु हो गई। इस प्रकार केवल साढ़े आठ वर्ष के स्वल्प शासनकाल में ही विपुल कीर्ति अर्जित कर न्याय-नीतिपरायण राजा चन्द्रापीड़ अपने सहोदर की दुरभिसंधि के परिणाम-स्वरूप इस संसार से उठ गया।

चन्द्रापीड़ के पश्चात् उसका छोटा भाई तारापीड़ काश्मीर का राजा वना। वह बड़ा ही क्रूर और दुष्ट प्रकृति का राजा था। उसके अत्याचारों से प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गई। किन्तु चार वर्ष तक ही उसका क्रूरतापूर्ण शासन रहा और उसकी मृत्यु हो गई।

तारापीड़ की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई ललितादित्य अपर नाम मुक्तापीड़ लगभग ई० सन् ७२४ में काश्मीर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। ललितादित्य का अपर नाम मुक्तापीड़ था। काश्मीर के राजाओं में यह सबसे प्रतापी यशस्वी, रणनीतिनिष्णात और भाग्यवान् राजा हुआ।

कन्नौज के राजाधिराज यशोवर्मन के परिचय में प्रसंगवशात् इसके जीवन-वृत्त पर लगभग पूरी तरह प्रकाश डाला जा चुका है। कन्नौज के, राजसिंहासन पर यशोवर्मन ई० सन् ७०० के आस-पास और काश्मीर के राजसिंहासन पर ललितादित्य ई० सन् ७२४ में बैठा और संभवत: ई० सन् ७३२-३३ के आसपास इन दोनों राजाओं में सौहार्दपूर्ण संपर्क हुआ। अरबों और तिब्बतियों के संभावित आक्रमणों से भारत की रक्षा के लिए इन दोनों राजाओं ने मिलकर कुछ समय तक सम्मिलित प्रयास भी किये। किन्तु, जैसा कि पहले वताया जा चुका है इन दोनों की मैत्री स्वल्प काल में ही शत्रुता में परिणत हो गई। दोनों राजाओं में कतिपय वर्षों तक युद्ध भी चलता रहा। युद्ध के पश्चात् अस्थाई शान्ति हुई, सन्धि के प्रयास किये गये, सन्धि-पत्र भी लिखकर तैयार कर लिया गया, किन्तु "हम वड़े, तुम छोटे"—इस छोटी सी वात को लेकर सन्धि के प्रयास विफल हुए। घोर युद्ध हुआ और उस युद्ध में यशोवर्मन की पराजय हो जाने के कारण लगभग ३५-३६ वर्ष के अपने शासनकाल में यशोवर्मन ने जो-जो कार्य किये, शत्रुओं का संहार कर एक विशाल सुदृढ़ एवं सशक्त कन्नौज राज्य की स्थापना की थी, यशोवर्मन के उस सुदीर्घकालीन कठोर परिश्रम का फल सहज ही ललितादित्य को मिल गया। यशोवर्मन पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् ललितादित्य ने कन्नौज नगर पर और चारों दिशाओं में दूर-दूर तक फैले विशाल कन्नौज राज्य पर अधिकार किया और वह भारत का शक्तिशाली सम्राट् वना।

कल्हण के उल्लेखानुसार ललितादित्य जीवन भर विजय अभियानों में ही संलग्न रहा। यशोवर्मन को युद्ध में परास्त करने के पश्चात् कल्हण के उल्लेखा-

नुसार ललितादित्य ने मगध, कलिंग, कर्नाटक, कोंकण, गुजरात, काठियावाड़, द्वारिका, अवन्ति आदि की अपनी विजयी सेनाओं के साथ विजय यात्रा की। तदनन्तर उसने कम्बोजों, तिब्बतियों और दरद आदि पहाड़ी आदिवासी जातियों को अपने वश में किया। कल्हण ने ललितादित्य के लिये तीन वार उल्लेख किया है कि उसने मम्मुनि को पराजित किया। अनुमान किया जाता है कि यह कोई अरब आक्रान्ता था। ललितादित्य के शासनकाल में अरबों का भारत की उत्तरी सीमाओं पर मुख्यतः काश्मीर की सीमाओं पर वड़ा दवाव था और कांगड़ा पर तो अरबों ने उस समय एक वार अधिकार भी कर लिया था। ललितादित्य ने उन अरबों को वुरी तरह पराजित कर पंजाव की अरबों से रक्षा की।

कल्हण द्वारा राजतरंगिणी में उल्लिखित ललितादित्य की इन विजयों की पुष्टि करने वाले प्रमाणों के अभाव में सुनिश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

विशाल भारत के अपने सुविशाल साम्राज्य की आय का पर्याप्तरूपेण अच्छा अंश ललितादित्य ने काश्मीर की राजधानी को सुन्दरतम वनाने में व्यय किया। ललितादित्य द्वारा काश्मीर की राजधानी में निर्मापित मार्तण्ड मन्दिर उस समय की श्रेष्ठ कलाकृति का प्रतीक है।

कल्हण ने राजतरंगिणी में जहां ललितादित्य के शौर्य एवं उसके द्वारा की गई दिग्विजयों की प्रशंसा की, वहां साथ ही ललितादित्य के दो अवगुणों का यथातथ्यरूपेण दिग्दर्शन कराने में इतिहास लेखक के कर्त्तव्य का भी भलीभांति निर्वहन किया है। कल्हण ने लिखा है कि ललितादित्य के यशस्वी जीवन पर दो काले धव्वे हैं। पहला तो यह कि एक समय मदिरापान कर मदोन्मत्त अवस्था में ललितादित्य ने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि वे तत्काल, काश्मीर राज्य के सुन्दर नगर प्रवरपुर को अग्नि में जलाकर भस्म कर दें। मंत्रियों ने यह जानते हुए भी कि ललितादित्य की आज्ञा का उल्लंघन मृत्यु को निमन्त्रण देने तुल्य है, उसकी आज्ञा को उसके समक्ष शिरोधार्य कर लेने पर भी उस नगर को नहीं जलाया। सुरा का नशा समाप्त होने पर ललितादित्य को अपनी उस मूर्खता पर वड़ा पश्चाताप हुआ और जव उसे वताया गया कि वस्तुतः नगर को नहीं जलाया गया है तो वह वड़ा प्रसन्न हुआ।

ललितादित्य के जीवन पर लगे एक बड़े कलंक के सम्बन्ध में कल्हण ने लिखा है कि ललितादित्य ने विष्णुपरिहास केशव की मूर्ति को साक्षी में गौड़ राज को विश्वास दिलाया था कि उसके साथ सभी भांति सुन्दर व्यवहार किया जायगा। इस विश्वास के साथ उसने गौड़राज को काश्मीर बुलाया किन्तु उसने काश्मीर

आने पर उसके साथ विश्वासघात कर उसकी हत्या करवा दी। कल्हण ने लिखा है कि यह उसके जीवन पर बहुत बड़ा कलंक था।

विश्वासघात की इस सूचना के मिलते ही गौड़राज के थोड़े से स्वामिभक्त बंगाली युवकों ने बंगाल से काश्मीर की यात्रा की और वहां राजमन्दिर में बलपूर्वक प्रवेश कर वहाँ रखी हुई विष्णुरामास्वामिन् की मूर्ति को विष्णु परिहास केशव की मूर्ति समझ कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसी समय काश्मीर के सैनिक मंदिर में आ पहुंचे और उन्होंने उन सब बंगाली युवकों को तलवारों के प्रहारों से खण्डशः काट-काट कर मौत के घाट उतार दिया। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए कल्हण ने उन अद्भुतशौर्यशाली स्वामिभक्त वीर बंगाली युवकों को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए लिखा है :—

"अपने मृत राजा के प्रति उन बंगाली वीर युवकों की प्रगाढ़ स्वामिभक्ति की, और उनकी इतनी कठिन और लम्बी यात्रा की कहां तक प्रशंसा की जाय। रामास्वामी की मूर्ति आज दिन तक उस मन्दिर में प्रतिष्ठापित न किये जाने की दृष्टि से वह मन्दिर तो आज भी सूना है किन्तु उन वीर स्वामिभक्त गौड़ युवकों के यश से समस्त संसार ओतप्रोत है।"

कल्हण के कथनानुसार पूर्व से पश्चिम तक और दक्षिण से उत्तर तक विशाल भारत का सम्राट ललितादित्य ई० सन् ६९५ से ७३२, अर्थात् ३७ वर्षो तक शासन करने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ। इतिहासवेत्ता कनिंघम ने चीन में उपलब्ध एतद्विषयक प्रमाणों के आधार पर ललितादित्य का समय ई० सन् ७२४ से ७६० तक माना है।

ललितादित्य ने भारत को एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न केन्द्रीय शासन देकर कुछ समय के लिये भारत को एक सशक्त राष्ट्र का रूप दिया किन्तु उसके पश्चात् न तो उसके उत्तराधिकारियों में ही और न भारत के दूसरे राज्यों में ही ऐसा प्रतापी राजा हुआ जो भारत को एकता के शासन सूत्र में आवद्ध रख सकता। ललितादित्य की मृत्यु के पश्चात् भारत के अन्तिम सम्राट ललितादित्य का साम्राज्य विघटित हो पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया।

श्रमण भगवान महावीर के ४१वें पट्टधर आचार्य श्री देवसेन स्वामी

जन्म	—	वीर नि. सं. १२१७
दीक्षा	—	वीर नि. सं. १२७५
आचार्य पद	—	वीर नि. सं. १२९९
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १३२४
गृहवास पर्याय	—	५८ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२५ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	४९ वर्ष
पूर्ण आयु	—	१०७ वर्ष

वीर नि. सं. १२९९ में वीर प्रभू के ४०वें पट्टधर आचार्य श्री राज ऋषि के दिवंगत होने पर ८२ वर्ष की अवस्था के वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध मुनिवर श्री देवसेन स्वामी को भगवान् महावीर के ४१वें पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

श्रमण भगवान महावीर के ४२वें पट्टधर आचार्य श्री शंकर सेन

जन्म	—	वीर नि. सं. १२३९
दीक्षा	—	वीर नि. सं. १२८४
आचार्य पद	—	वीर नि. सं. १३२४
स्वर्गारोहण	—	वीर नि. सं. १३५४
गृहवास पर्याय	—	४५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	४० वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३० वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	७० वर्ष
पूर्ण आयु	—	११५ वर्ष

प्रभु महावीर के ४१वें (इकत्तालीसवें) पट्टधर आचार्य श्री देवसेन स्वामी के वीर नि सं १३२४ में दिवंगत होने पर ज्ञान वृद्ध वयोवृद्ध मुनि श्री शंकर सेन को चतुर्विध संघ ने शासनपति श्रमण भगवान् महावीर के ४२वें पट्टधर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। इन दीर्घायुष्क मुनीश्वर ने अपनी ७० वर्ष की व्रतपर्याय में ३० वर्ष तक आचार्य पद के गुरुतर भार का निष्ठा एवं कुशलता पूर्वक निर्वहन करते हुए जिनशासन की महती सेवा की।

३४वें युगप्रधानाचार्य श्री माढर संभूति

जन्म	—	वीर नि. सं. १२६०
दीक्षा	—	वीर नि. सं. १२७०
सामान्य व्रतपर्याय	—	वीर नि. सं. १२७०–१३००
युगप्रधानाचार्यकाल	—	वीर नि. सं. १३००–१३६०
स्वर्ग	—	वीर नि. सं. १३६०
सर्वायु	—	१०० वर्ष, ५ मास और ५ दिन

'दुस्समा समण संघ थयं' और उसकी अवचूरि के अन्तर्गत 'द्वितीयोदय युग प्रधान यन्त्रम्' के उल्लेखानुसार संभूति को ३३वां और माढ़र संभूति को ३४वां युगप्रधानाचार्य माना गया है। किन्तु तित्थोगाली पइन्नय में उल्लेख है कि वस्तुतः माढ़र संभूति ३३वें युगप्रधानाचार्य थे और संभूति ३४वें। प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ–'तित्थोगाली पइन्नय' के उल्लेखों को यदि सवल प्रमाण माना जाय तो संभूति का ३४वें युगप्रधान के रूप में परिचय दिया जाना चाहिये। यदि तित्थोगाली पइन्नय में अज्जव यति के नाम से अभिहित श्रमणवर को युगप्रधानाचार्य संभूति मान लिया जाय तो वे गूढार्थ सहित सम्पूर्ण स्थानांग सूत्र के धारक थे। श्रमण श्रेष्ठ संभूति के वीर नि. सं. १३५० अथवा १३६० में स्वर्गस्थ होते ही स्थानांग सूत्र के वृहदाकार का ह्रास, आकुंचन अथवा व्यवच्छेद हो गया। एतद्विषयक तित्थोगाली पइन्नय की गाथा इस प्रकार है :—

> तेरस वरिस सतेहिं, पण्णास समहिएहिं वोच्छेदो।
> अज्जव जतिस्स मरणे, ठाणस्स जिणेहिं निद्दिट्ठो। (८१६)

अर्थात् :—वीर नि. सं. १३५० में आर्जव यति (संभूत) के दिवंगत होने पर स्थानांग सूत्र का व्यवच्छेद (ह्रास) होना जिनेश्वरों (तीर्थङ्करों) ने बताया है।

इतिहास के विद्वानों से इस सम्बन्ध में समुचित शोध की अपेक्षा है।

आचार्य वीरभद्र

वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वीर भद्र नामक एक आचार्य हुए हैं। वे किस गच्छ के थे, उनके गुरु कौन थे और उनकी शिष्य परम्परा में उनके पट्टधर कौन-कौन हुए इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है। कुवलय माला की प्रशस्ति से इनके सम्बन्ध में इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे सिद्धान्तों के अपने समय के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य थे और उद्योतन-सूरि ने जालौर में रहकर उनके पास सिद्धान्तों का अध्ययन किया। इनके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्धि है कि जाबालिपुर (जालोर) में भगवान् ऋषभदेव का एक विशाल, प्रसिद्ध एवं भव्य मन्दिर आपके उपदेश से बनवाया गया।

आचार्य वीरभद्रसूरि ने कुवलयमालाकार उद्योतन सूरि को शास्त्रों का अध्ययन करवाया। इससे यह प्रमाणित होता है कि वे याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि के समकालीन और सम्भवतः पर्याप्तरूपेण वयोवृद्ध आचार्य थे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने जिस समय महानिशीथ की जीर्ण-शीर्ण, खण्डित-विखण्डित एकमात्र प्रति के आधार पर महानिशीथ का पुनरुद्धार किया उस समय आगमों के तलस्पर्शी ज्ञाता ये आचार्य वीरभद्रसूरि स्वर्गस्थ हो गये हों। यदि ऐसा नहीं होता तो अपने समय के जिन महान् विद्वान् आचार्यों को हरिभद्र सूरि ने महानिशीथ की स्वयं द्वारा पुनरुद्धरित प्रति सम्मत्यर्थ दिखलाई और जिनका हरिभद्र सूरि ने नामोल्लेख किया है, उनमें इन वीरभद्र सूरि का भी नामोल्लेख अवश्यमेव होता। आगमों के तलस्पर्शी ज्ञान के धारक आचार्य वीरभद्र महानिशीथ के उद्धार तक विद्यमान रहें और उनको हरिभद्रसूरि सम्मत्यर्थ महानिशीथ की प्रति न दिखायें, इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार की परिस्थिति में आचार्य वीरभद्र सूरि के समय के सम्बन्ध में कुवलयमाला प्रशस्ति के एवं अनुमान के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर निर्वाण की १२वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मध्यवर्ती समय में आचार्यपद पर आसीन रहे। वे नागेन्द्रगच्छ के थे अथवा किसी अन्य गच्छ के इस सम्बन्ध में ठोस प्रमाणों के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

३४वें युगप्रधानाचार्य श्री

जन्म	—
दीक्षा	—
सामान्य व्रतपर्याय	—
युगप्रधानाचार्यकाल	—
स्वर्ग	—
सर्वायु	—

'दुस्समा समण संघ थयं' और उसकी अव
युग प्रधान यन्त्रम्' के उल्लेखानुसार संभूति को ३३वां
युगप्रधानाचार्य माना गया है । किन्तु तित्थोगाली पइ
माढर संभूति ३३वें युगप्रधानाचार्य थे और संभूति
ग्रन्थ-'तित्थोगाली पइन्नय' के उल्लेखों को यदि सबल
का ३४वें युगप्रधान के रूप में परिचय दिया जाना चाहि
में अज्जव यति के नाम से अभिहित श्रमणवर को
लिया जाय तो वे गूढार्थ सहित सम्पूर्ण स्थानांग सूत्र
संभूति के वीर नि. सं. १३५० अथवा १३६० में स्वर्ग
के बृहदाकार का ह्रास, आकुंचन अथवा व्यवच्छेद
तित्थोगाली पइन्नय की गाथा इस प्रकार है :—

> तेरस वरिस सतेहिं, पण्णास समहिएहिं वा
> अज्जव जतिस्स मरणे, ठाणस्स जिणेहिं निदिट्ठ

अर्थात् :—वीर नि. सं. १३५० में आर्जव यति (संभूत)
पर स्थानांग सूत्र का व्यवच्छेद (ह्रास) होना जिनेश्वरों (तीर्थङ्करों)

इतिहास के विद्वानों से इस सम्बन्ध में समुचित शोध की अपेक्षा

मानव जन्म में ही समीचीन रूप से सिद्ध की जा सकती है। ऐसे अनमोल मानव भव को, कभी तृप्त न होने वाली विषय-वासनामयी भोग लिप्सा में खो देना वस्तुतः चिन्तामणि रत्न को ओर-छोर विहीन अथाह दल-दल से ओत-प्रोत अन्धकूप में फेंक देने तुल्य महामूर्खतापूर्ण कृत्य ही होगा।

इस प्रकार बोधि लाभ होते ही राजकुमार उद्योतन को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने अथक् प्रयास कर माता-पिता से श्रमण धर्म में दीक्षित होने की अनुज्ञा प्राप्त की। राजकुमार उद्योतन ने राजकीय ऐश्वर्य, भोगोपभोग, पारिवारिक मोह-ममत्व आदि का तृणवत् त्याग कर तत्वाचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्रमण धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि उद्योतन ने अपने गुरु तत्वाचार्य की सेवा में रहते हुए शास्त्रों का अध्ययन किया। अपने मेधावी शिष्य उद्योतन मुनि की कुशाग्र बुद्धि और उत्कट ज्ञान पिपासा से प्रभावित हो तत्वाचार्य ने उन्हें अपने समय (विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी) के जैन सिद्धांतों के उच्चकोटि के यशस्वी विद्वानों के पास अध्ययन हेतु भेजने का निश्चय किया। निश्चयानुसार तत्वाचार्य ने मुनि उद्योतन को जैन आगमों के उस काल के महान् ज्ञाता वीरभद्र सूरि के पास भेजा। वीरभद्र सूरि की सेवा में रहकर मुनि उद्योतन ने जैन सिद्धांतों का तल स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर तत्वाचार्य ने उद्योतन मुनि को न्याय शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये दर्शन और न्याय शास्त्र के उद्भट विद्वान् याकिनी महत्तरा-सूनु भव विरह-हरिभद्र सूरि की सेवा में भेजा। अपने समय के अप्रतिम न्याय शास्त्री, बहुमुखी ज्ञान के धनी हरिभद्र सूरि के चरणों की सन्निधि में रहकर मुनि उद्योतन ने युक्तिशास्त्रों (न्याय शास्त्रों) के अध्ययन के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों का बड़ी ही लगन एवं निष्ठा के साथ अध्ययन किया। अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब उद्योतन सूरि ने "कुवलय माला" नामक ग्रन्थरत्न की रचना की तो उसकी प्रशस्ति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उन्होंने हरिभद्र सूरि के सान्निध्य में रहकर न्याय शास्त्रों और सिद्धांतों का अध्ययन किया। वह प्रशस्ति गाथा इस प्रकार है :—

"सो सिद्धंतेण गुरु, जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्दो।
बहुसत्थगंथवित्थर-पत्थारियपयड सच्चत्थो।।"[1]

अर्थात् हरिभद्र सूरि ने मुझे दर्शन शास्त्रों की शिक्षा दी, इसलिये सिद्धांततः मेरे गुरु हैं। उन महान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने आगम शास्त्रों एवं ग्रन्थों पर व्याख्या एवं वृत्तियों की कई रचनाएं कीं। साथ ही दर्शन न्याय, दार्शनिक ग्रन्थों,

---

[1] कुवलय माला प्रशस्ति, गाथा संख्या १५

उद्योतन सूरि (दाक्षिण्यचिन्ह)

गद्य-पद्य मिश्रित परम रोचक प्रसादपूर्ण शैली में "कुवलयमाला" नामक प्राकृत कथा साहित्य के अनुपम ग्रन्थ का निर्माण कर चन्द्रकुल हारिलगच्छ के आचार्य उद्योतन सूरि—अपर नाम दाक्षिण्य चिन्ह ने अक्षय कीर्ति अर्जित की।

उद्योतन सूरि का जन्म क्षत्रिय राजवंश में वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण में हुआ था। राजवंश के राजकुमार होने के कारण आपको राजर्षि कहा गया। महाद्वार (मडार) राज्य के राजा उद्योतन के आप पौत्र और राजा वटेश्वर के पुत्र थे।

राजकुमार उद्योतन के दक्षिण भाग में स्वस्तिक का एक प्रशस्त चिन्ह जन्म काल से ही था, इसी कारण आपकी राज-परिवार, राज्य और कालान्तर में लोक में भी उद्योतन सूरि के साथ दाक्षिण्य चिन्ह के नाम से भी प्रसिद्धि हुई।

बाल्यावस्था में राजकुमार उद्योतन को समीचीन रूप से राजकुमारोचित शिक्षा दी गई। उद्योतन के अन्तर्मन में बाल्यकाल से ही अव्यक्त चिन्तन की एक ऐसी अद्भुत वृत्ति उत्पन्न हो गई थी जो साधारणतः सामान्य बालकों में प्रायः परिलक्षित नहीं होती। चांचल्य, खेल-कूद के प्रति प्रबल आकर्षण, क्षण-क्षण में किसी भी वस्तु के लिये मचल उठना, हठ करना आदि बाल-स्वभाव सुलभ वृत्तियां बालक उद्योतन में अतीव स्वल्प मात्रा में परिलक्षित होती थीं।

बालक राजकुमार उद्योतन की आरम्भ से ही अध्ययन में गहरी अभिरुचि थी। कुशाग्र बुद्धि किशोर उद्योतन ने क्रमशः अध्ययन करते-करते विविध विषयों की विद्याओं में आधिकारिकता प्राप्त की। संयोगवश युग प्रधानाचार्य हारिल सूरि के विद्वान् शिष्य आचार्य राजर्षि देव गुप्त सूरि द्वारा अपने गुरु के नाम पर स्थापित किये गये "हारिल गच्छ"[1] के छठे पट्टधर तत्वाचार्य के दर्शन-प्रवचन-श्रवण एवं संसर्ग का राजकुमार उद्योतन को सुअवसर मिला। तत्वाचार्य के उपदेशों से राजकुमार उद्योतन को इस शाश्वत सत्य का बोध हुआ कि इस निस्सार क्षण भंगुर जगत् में आध्यात्मिक साधना ही सार भूत है। आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही जन्म-जरा-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि असंख्य आदि अन्तविहीन दुःखों के सागर संसार को पार कर उन सब प्रकार के दुःखों से सर्वदा के लिये छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है और इस प्रकार की अमृतत्व प्रदायिनी आध्यात्मिक साधना दुस्साध्य

---

[1] हारिल गच्छ के परिचय के लिये देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ [illegible]

मानव जन्म में ही समीचीन रूप से सिद्ध की जा सकती है। ऐसे अनमोल मानव भव को, कभी तृप्त न होने वाली विषय-वासनामयी भोग लिप्सा में खो देना वस्तुतः चिन्तामणि रत्न को ओर-छोर विहीन अथाह दल-दल से ओत-प्रोत अन्धकूप में फेंक देने तुल्य महामूर्खतापूर्ण कृत्य ही होगा।

इस प्रकार बोधि लाभ होते ही राजकुमार उद्योतन को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने अथक् प्रयास कर माता-पिता से श्रमण धर्म में दीक्षित होने की अनुज्ञा प्राप्त की। राजकुमार उद्योतन ने राजकीय ऐश्वर्य, भोगोपभोग, पारिवारिक मोह-ममत्व आदि का तृणवत् त्याग कर तत्वाचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्रमण धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि उद्योतन ने अपने गुरु तत्वाचार्य की सेवा में रहते हुए शास्त्रों का अध्ययन किया। अपने मेधावी शिष्य उद्योतन मुनि की कुशाग्र बुद्धि और उत्कट ज्ञान पिपासा से प्रभावित हो तत्वाचार्य ने उन्हें अपने समय (विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी) के जैन सिद्धांतों के उच्चकोटि के यशस्वी विद्वानों के पास अध्ययन हेतु भेजने का निश्चय किया। निश्चयानुसार तत्वाचार्य ने मुनि उद्योतन को जैन आगमों के उस काल के महान् ज्ञाता वीरभद्र सूरि के पास भेजा। वीरभद्र सूरि की सेवा में रहकर मुनि उद्योतन ने जैन सिद्धांतों का तल स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर तत्वाचार्य ने उद्योतन मुनि को न्याय शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये दर्शन और न्याय शास्त्र के उद्भट विद्वान् याकिनी महत्तरा-सूनु भव विरह-हरिभद्र सूरि की सेवा में भेजा। अपने समय के अप्रतिम न्याय शास्त्री, बहुमुखी ज्ञान के धनी हरिभद्र सूरि के चरणों की सन्निधि में रहकर मुनि उद्योतन ने युक्तिशास्त्रों (न्याय शास्त्रों) के अध्ययन के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों का बड़ी ही लगन एवं निष्ठा के साथ अध्ययन किया। अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब उद्योतन सूरि ने "कुवलय माला" नामक ग्रन्थरत्न की रचना की तो उसकी प्रशस्ति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उन्होंने हरिभद्र सूरि के सान्निध्य में रहकर न्याय शास्त्रों और सिद्धांतों का अध्ययन किया। वह प्रशस्ति गाथा इस प्रकार है :—

"सो सिद्धंतेण गुरु, जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभट्टो।
बहुसत्थगंथवित्थर–पत्थारियपयड सच्चत्थो।।"[1]

अर्थात् हरिभद्र सूरि ने मुझे दर्शन शास्त्रों की शिक्षा दी, इसलिये सिद्धांततः मेरे गुरु हैं। उन महान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने आगम शास्त्रों एवं ग्रन्थों पर व्याख्या एवं वृत्तियों की कई रचनाएं कीं। साथ ही दर्शन न्याय, दार्शनिक ग्रन्थों,

[1] कुवलय माला प्रशस्ति, गाथा संख्या १५

आचार ग्रंथों, स्तुत्यात्मक ग्रन्थों आदि अनेक विषयों के ग्रन्थों का निर्माण कर अपनी इस विपुल-विशाल ग्रन्थराशि से शाश्वत सत्य पर प्रकाश डाला।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी उद्योतन सूरि की यह गाथा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। हरिभद्र सूरि के समय के सम्बन्ध में जो मान्यता भेद सुदीर्घकाल से चला आ रहा था, उस विवादास्पद समस्या का समुचित समाधान करने एवं उनके वास्तविक समय के निर्धारण में यह गाथा सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुई है। इस गाथा से यह ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आता है कि शक सं० ६९९ (तदनुसार वीर नि० सं० १३०४, वि० सं० ८३४ और ई० सन् ७७७) में प्राकृत कथा साहित्य के लोकप्रिय ग्रन्थ "कुवलय माला" की रचना करने वाले उद्योतन सूरि ने हरिभद्र सूरि की सन्निधि में रहकर दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया और इस प्रकार हरिभद्रसूरि और उद्योतन सूरि गुरु-शिष्य होने के कारण कुछ समय के लिये समकालीन रहे हैं।

उद्योतन सूरि ने "कुवलय माला" की रचना जालोर नगर स्थित भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर में, शालिवाहन शक संवत्सर के समाप्त होने में जब केवल एक दिन अवशिष्ट रहा था, तब चैत्र वदी १४ के दिन तृतीय प्रहर में, सम्पन्न की। उद्योतन सूरि ने यह सब विवरण प्रस्तुत करते हुए अपने ग्रन्थ कुवलय माला की प्रशस्ति में लिखा है कि जिस समय जालौर में श्रीवत्स राजा का राज्य था उस समय उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की। पुन्नाट संघीय आचार्य जिन सेन ने अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण की प्रशस्ति के श्लोक संख्या ५२ में वत्सराज का नामोल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि वर्द्धमानपुर की नन्नराज वसति के भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर में शक संवत्सर ७०५ में अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण की रचना सम्पन्न की। उस समय उत्तरी भारत पर इन्द्रायुध का, दक्षिणापथ पर राष्ट्रकूट वंशीय राजा कृष्ण के पुत्र श्री वल्लभ (गोविंद द्वितीय) का, पूर्वी भारत पर अवन्ति राज वत्सराज का और पश्चिमी भारत के सौराष्ट्र पर वीर जयवराह राजा का शासन था।

हरिवंश पुराण की प्रशस्ति से उद्योतन सूरि के इस उल्लेख की पुष्टि के साथ-साथ यह एक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आता है कि शक सं० ७०५ तदनुसार वि० सं० ८४० में उपरि नामोल्लिखित सभी राजा समकालीन थे और अवन्ति के राजा वत्स का जालोर तक राज्य था। अवन्ति नरेश वत्सराज प्रतिहार वंशी राजा था।

कुवलय माला की प्रशस्ति में ऐतिहासिक महत्त्व के और भी अनेक तथ्यों का उल्लेख किया गया है। उन ऐतिहासिक तथ्यों में से हूणराज तोरमाण (तोरमाण) के पव्वइया (पार्वतिका) नामक राजधानी में रहते हुए शासन करने, तोरमाण के हारिल सूरि का भक्त उपासक बनने, हारिल गच्छ की उत्पत्ति, हारिल गच्छ के आचार्यों द्वारा किये गये जिनशासन प्रभावना के कार्यों का विवरण आदि तथ्यों का विस्तृत विवरण हारिल सूरि के एवं हारिल गच्छ के परिचय में दिया जा चुका है।

कुवलय माला की प्रशस्ति अनेक दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है, अतः उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कतिपय अंश यहां उद्धृत किये जा रहे हैं :—

अत्थि पुहई-पसिद्धा, दोण्णिपहा दोण्णि चेय देसत्ति ।
तत्थत्थि पहं णामेण उत्तरा बुह -- जणाइण्णं ॥४॥

सुइ-दिय-चारु-सोहा, वियसिय कमलाणणा विमल देहा ।
तत्थत्थि जलहि-दइया, सरिया अह चन्दभायत्ति ॥५॥

तोरम्मि तीय पयडा, पव्वइयाणाम रयण सोहिल्ला ।
जत्थ ट्टिटएण भुत्ता, पुहई सिरि तोरराएण ॥६॥

तस्स गुरु हरिउत्तो, आयरिओ आसि गुत्त वंसाओ ।
तीए णयरीए दिप्पो, जेण णिवेसो तहिं काले ॥७॥

तस्सविसिसो पयडो, महाकई देव उत्त-णामो त्ति ।
(तस्स उण) सिवचन्द गणी, अह महयरो त्ति ॥८॥

सो जिणवन्दण हेउं, कह वि भमन्तो कमेण सम्पत्तो ।
सिरि-भिल्लमाल-णयरम्मि, संठिओ कप्प रुक्खो व्व ॥९॥

तस्स खमासमण-गुणो, गामेण य जक्ख दत्त गणिणामो ।
सीसो महइ-महप्पा, असि तिलोए वि पयड जसो ॥ १० ॥

तस्य य वहुया सीसा तव-वीरिय-वयण लद्धि संपण्णा ।
रम्मो गुज्जर-देसो जेहि कओ देवहरएहिं ॥ ११ ॥

णागो विदो मम्मड, दुग्गो आयरिय-अग्गिसम्मो य ।
छट्ठो वडेसरो छम्मुहस्स वयण व्व से आसि ॥ १२ ॥

आगासवप्प णयरे, जिणालयं तेण णिम्मवियं रम्मं ।
तस्स मुह दंसणे विय, अवि पसमइ जो अहव्वो वि ॥ १३ ॥

तस्स वि सीसो अण्णो, तत्तायरिओ त्ति णाम पयड गुणो ।
आसि तव-तेय-णिज्जिय, पावतम्मोहो दिणयरो व्व ॥ १४ ॥

जो दूसम-सलिल-पवाह-वेग-हीरंत-गुण सहस्साण ।
सीलंग-विउल-सालो, लक्खण रुक्खो व्व णिक्कंपो ॥ १५ ॥

सीसेण तस्स एसा, हिरिदेवी-दिण्ण-दंसण-मणेण ।
रइया कुवलयमाला, विलसिय-दक्खिण-इन्धेण ॥ १६ ॥

[शिक्षा-गुरु]

दिण्ण जहिच्छिय-फलओ, वहु-कित्ती-कुसुम-रेहिराभोओ ।
आयरिय वीरभद्दो, अघावरो कप्पस्क्खो व्व ॥ १७ ॥
सो सिद्धन्तेण गुरु जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
वहु सत्थ गन्थ वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो ॥ १८ ॥

[वंश परिचय]

आसि तिकम्माभिरओ, महादुवारम्मि खत्तिओ पयडो।
उज्जोयणो त्ति णामं, तच्चिय परि भुंजिरे तइया ॥ १६ ॥
तस्स वि पुत्तो संपइ, णामेण वडेसरो त्ति पयडगुणो ।
तस्सुज्जोयण णामो, तणओ अह विरइया तेण ॥ २० ॥

[ग्रन्थ-प्रणयन-स्थल]

तुंगमलं घ जिण-भवण-मणहर सावयाउकं विसमं ।
जावालिउरं अट्ठावयं व अह अत्थि पुहई ए ॥ २१ ॥
तुङ्गं धवलंमणहारि-रयण-पसरंत धयवडाडोयं ।
उसभ जिणिंदायथणं करावियं वीर भद्देण ॥ २२ ॥
तत्थ ठिएणं अह चोद्दसीए तेतस्स कण्ह पक्खम्मि ।
णिम्मविया बोहिकरी, भव्वाणं होउ सव्वाणं ॥ २३ ॥
पर भउ-भिडडी-भंगो, पणईयण-रोहिणी-कला-चंदो ।
सिरि वच्छराय णामो, रणहत्थी पत्थिवो जइया ॥ २४ ॥
थोय-मइणा वि वद्धा, एसा हिरिदेवि वयणेणं ।
चंद कुलावयवेणं आयरिय उज्जोयणेण रइया मे ॥ २५ ॥
सगकाले वोलीणे वरिसाणं सयेहिं सत्तहिं गएहिं ।
एग दिणेणूणेहिं, रइयां अवरण्ह-वेलाए ॥ २६ ॥[1]

"कुवलय माला" वस्तुत: प्राकृत कथा साहित्य का उत्तम ग्रन्थ है। इसमें भाषा का प्रवाह कल-कल निनादी प्राकृतिक निर्झर के समान सहज स्वाभाविक और प्रसाद गुणोपेत है। दाक्षिण्य चिन्ह ने बड़ी दक्षता से संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रयोगों, सूक्तियों-सुभाषितों, प्रहेलिकाओं, देश-देशान्तरों में वाणिज्य हेतु भ्रमण करने वाले कुशल व्यापारियों द्वारा बोल-चाल के समय व्यवहार में लाये गये देश-देशान्तरों की बोलियों के सुन्दर शब्दों, वाक्यों आदि से अपनी इस सुन्दर कृति का शृंगार कर इसकी सुन्दरता में चार चांद लगा दिये हैं। इसके रचनाकार उद्योतन सूरि पर अपने शिक्षा गुरु हरिभद्र की अमर कृति समराइच्च कहा का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है। कुवलय माला की भाषा, वर्णन शैली इस बात का प्रमाण है कि दाक्षिण्य चिन्ह आचार्य का अध्ययन बड़ा गहन था।

---

[1] कुवलय माला, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा मुद्रित, वि. सं. २०१५, पृष्ठ २८२-२८३

इनके दो शिष्यों—श्रीवत्स और बलदेव को संघ द्वारा ज्येष्ठार्या विरुद से विभूषित किया गया था, इससे अनुमान किया जाता है कि उद्योतन सूरि के शिष्य भी परम प्रभावक थे।[1]

उपरि लिखित गाथा संख्या १६ के द्वितीय चरण में उल्लिखित "महा-दुवारम्मि खत्तियो पयडो" को देखकर हठात् प्रत्येक पाठक को इस प्रकार की शंका होना सम्भव है कि उद्योतन कोई राजा नहीं अपितु साधारण क्षत्रिय ही थे। इस शंका का निवारण इस गाथा के तृतीय और चतुर्थ चरण को पढ़ते ही हो जाता है। शब्द-संयोजना थोड़ी क्लिष्ट है, इसलिये प्राकृत भाषा का सम्यक्-बोध न होने की दशा में इस प्रकार की शंका का उत्पन्न होना सम्भव है। इसी कारण इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

"उज्जोयणो त्ति णामं, तच्चिय परिभुंजिरे तइया।" इस अन्तिम गाथार्द्ध को प्रथम गाथार्द्ध के साथ पढ़ने से इस गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा :—

"महाद्वार नामक नगर में न्याय, नीति और धर्म इन तीनों कर्त्तव्यों का अक्षुण्ण रूप से पालन करने वाला उद्योतन नामक लोक प्रसिद्ध क्षत्रिय था। वह उद्योतन क्षत्रिय उस समय उस महाद्वार राज्य का उपभोग कर रहा था, अर्थात् महाद्वार राज्य का राजा था।"

इससे राजा उद्योतन के पौत्र और राजा वटेश्वर के पुत्र उद्योतनसूरि वस्तुतः राजकुमार थे, इसमें किसी प्रकार की शंका का अवकाश नहीं रह जाता।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग ३, पृष्ठ ४४३ देखें।

आचार्य जिनसेन (पुन्नाटसंघ)

विक्रम की ६वीं शताब्दी में दिगम्बर परम्परा में अनेक प्रभावक और महान् ग्रन्थकार आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अनेक अमर कृतियों की रचना कर जैन साहित्य को समीचीनतया समृद्ध किया। उन महान् ग्रन्थकार आचार्यों में पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन का नाम अग्रगण्य है। पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन का हरिवंश पुराण नामक एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है किन्तु यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ऐसा ग्रन्थरत्न है, जिसको दिगम्बर परम्परा में इसके रचनाकाल से ही आगमतुल्य माना गया है।

आचार्य जिनसेन ने अपने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में इसके रचनाकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

शाकेष्वव्द शतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुध नाम्नि कृष्णनृपजे श्री वल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादि राजे परां,
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणैः परिवर्द्धमानविपुले श्री वर्द्धमाने पुरे,
श्री पार्श्वालिय नन्नराज वसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाप्रजनित प्राज्यार्चनावर्जने,
शांतेः शांतगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम्॥५३॥

अर्थात्—शक सं० ७०५ तदनुसार वि० सं० ८४० में, जिस समय कि उत्तरी भारत पर इन्द्रायुध का शासन था, महाराजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र महाराजा श्रीवल्लभ (गोविन्द द्वितीय) दक्षिणापथ में शासन कर रहा था, अवन्ति नरेश वत्सराज का पूर्व दिशा पर राज्य था और राजा वीर जय वराह भारत के पश्चिमी प्रदेश सौरों के अधिमण्डल सौराष्ट्र पर शासन कर रहा था, उस समय विपुल स्वर्णराशियों से समृद्ध (सभी भांति पूर्णत श्रीसम्पन्न) वर्द्धमान (वर्तमान बढ़वाण) नगर में, नन्नराज-वसति के नाम से विख्यात भगवान् पार्श्वनाथ के मंदिर में इस हरिवंश पुराण नामक ग्रंथ को प्रारम्भ कर दोस्तटिका (बढ़वाण से गिरिनगर—पगरनार मार्ग पर अवस्थित दोत्तड़ि) ग्राम के प्रजा द्वारा भक्तिसहित सुचारु रूप से पूजित-अर्चित भगवान् शांतिनाथ के मंदिर में उसे पूर्ण किया।

हरिवंश पुराण की यह प्रशस्ति ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें विक्रम की नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तरी भारत, दक्षिणी भारत,

पूर्वी भारत और पश्चिमी भारत—इस प्रकार सम्पूर्ण भारत के शक्तिशाली राजवंशों के महाराजाओं का नामोल्लेख किया गया है। प्रशस्ति में नामांकित भारत की चारों दिशाओं के चारों प्रमुख शासकों में से दक्षिण का राष्ट्रकूटवंशीय महाराजा श्री वल्लभ अपर नाम गोविन्द (द्वितीय) और पूर्वी भारत के शासक अवन्ति नरेश वत्सराज (जिसको इस प्रशस्ति में वर्णित राष्ट्रकूटवंशीय राजा श्रीवल्लभ के भ्राता ध्रुवराज ने परास्त कर उससे अवन्ति का राज्य छीन लिया था)—ये दोनों ही शासक इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा हैं। उत्तरी भारत के शासक इंद्रायुध किस राजवंश का था, इस सम्बन्ध में इतिहासज्ञ अद्यावधि सर्वसम्मत निर्णय नहीं कर पाये हैं। यशस्वी इतिहासविद् स्व० श्री हीराचन्द ओझा ने इंद्रायुध को राठौड़वंशीय राजा और स्व० चिंतामणि विनायक वैद्य ने भण्डि कुल (वर्म वंश) का होना अनुमानित किया है। इसी प्रकार पश्चिमी भारत के शासक जयवराह के सम्बन्ध में भी इतिहासज्ञ अद्यावधि निश्चित नहीं कर पाये हैं कि वह चालुक्य राजवंश का शासक था या चावड़ा वंश का ?

हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन (पुन्नाट संघी) ने मुख्य रूपेण महायशस्वी हरिवंश की यादव शाखा के वर्णन के साथ-साथ विशेषतः यादवकुल के तिलक बावीसवें तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) और नौवें नारायण (वासुदेव) श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया है। हरिवंशपुराणकार ने महाभारत के अतिविशाल कथानक को भी इसी में समाविष्ट कर लिया है। वर्णनशैली अतीव मर्मस्पर्शी मनोहारी और बड़ी ही रोचक है। इसमें अतिशय-प्रौढ़ता, प्रांजलता और प्रासादिकता आदि महाकाव्य के सभी लक्षण, विद्यमान हैं। सभी रसों का इसमें बड़ी शालीनता से समावेश किया गया है।

हरिवंश पुराण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रमण भगवान् महावीर से लेकर स्वयं (जिनसेन पुन्नाट संघीय) तक की अविछिन्न गुरु परम्परा दी गई है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में इस गुरु परम्परा पट्टावली को सर्वाधिक सुसम्बद्ध और अविच्छिन्न पट्टावली कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।[1] इस गुरु परम्परा में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। वह यह है कि आचार्य शिवगुप्त ने अपने गुणों के प्रभाव से "अर्हद्बलि" पद प्राप्त किया। इससे संघ विभाजन करने वाले दिगम्बराचार्य अर्हद्बलि के सम्बन्ध में अग्रेतर शोध में सहायता मिल सकती है।

यों तो अपनी गुरु परम्परा का जिनसेनाचार्य ने अपनी विशाल कृति हरिवंश पुराण में विस्तारपूर्वक क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत किया है। तथापि अपने प्रगुरु, गुरु आदि का गुणकीर्तन के साथ ग्रन्थ-प्रशस्ति[2] में निम्नलिखित रूप में दिया है :—

---

[1] विशिष्ट जानकारी के लिये देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३", पृष्ठ ७४० से ७४२।

[2] हरिवंशपुराण की प्रशस्ति, श्लोक सं० २९–३३।

"षट्खण्डागमादि सिद्धांत शास्त्रों के विशेषज्ञ, कर्मप्रकृति के तलस्पर्शी ज्ञान को हृदयंगम कर आत्मकल्याण के लिये श्रेयस्कर उसके सारभूत तत्त्वज्ञान को अपने जीवन की दैनन्दिनी में ढालने वाले इन्द्रिय जयी जयसेनाचार्य उनके प्रगुरु थे। जयसेन के शिष्य अमितसेन पुन्नाट संघ के उनके पट्टधर आचार्य हुए। आचार्य अमितसेन जैन सिद्धान्तों के पारदृश्वा विद्वान् और अपने समय के विख्यात वैयाकरणी थे। वे दीर्घजीवी अर्थात् सौ वर्ष की आयुष्य वाले एवं जिनशासन प्रभावक तथा उग्रतपस्वी थे। आचार्य अमितसेन ने श्रद्धालु जिज्ञासुओं को शास्त्रों का ज्ञान प्रदान कर अपनी अद्भुत दानशीलता का परिचय दिया। उन आचार्य अमितसेन के ज्येष्ठ गुरुभ्राता का "यथा नाम तथा गुणा:" की सूक्ति को चरितार्थ करने वाला नाम मुनि कीर्तिषेण था। वे कीर्तिषेण मुनि महान् तपस्वी, शांत, दान्त और बड़े मेधावी थे। आचार्य अमितसेन के ज्येष्ठ गुरुभाई उन्हीं कीर्तिषेण मुनि के प्रमुख शिष्य जिनसेन ने शाश्वत शिवसुख के स्वामी भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति से प्रेरित हो इस हरिवंशपुराण नामक ग्रन्थ की रचना की।

वस्तुत: आचार्य जिनसेन का हरिवंशपुराण जैन धर्म के पुरातन इतिहास और धर्म में अभिरुचि रखने वाले जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा को शांत करने में बड़ा सहायक ग्रंथरत्न है।

पुन्नाट संघ दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रदेश का धर्म संघ था, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है क्योंकि श्रवण बेलगोल स्थित पार्श्वनाथ वसति के लगभग शक सं. ५२२ के वहां के सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख सं. १ के अनुसार द्वितीय भद्रबाहु अपने शिष्यसंघ के साथ दक्षिणापथ के कर्णाटक प्रदेश में कटवप्र नामक स्थान पर गये थे।[1] उस समय पुन्नाट प्रदेश की राजधानी कित्तूर में थी इसी कारण पुन्नाट प्रदेश को कित्तूर-कटवप्र के नाम से अभिहित किया जाता था। पुन्नाट प्रदेश के ये आचार्य जिनसेन अप्रतिहत विहार करते हुए संभवत: गिरनार की यात्रार्थ आये हों। उसी समय उन्होंने हरिवंशपुराण की रचना की। आप, जयधवला और आदि पुराण के रचनाकार पंचस्तूपान्वयी जिनसेनाचार्य के समकालीन थे-।

---

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ पृष्ठ सं. १, शिलालेख सं. १

कृष्णर्षि गच्छ

कृष्णर्षि गच्छ थारपद्र (बटेश्वर) गच्छ की ही शाखा के रूप में उदित हुआ। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किसी समय हारिल गच्छ के महा तपस्वी कृष्णर्षि ने अपने नाम पर कृष्णर्षि गच्छ की स्थापना की।

इस गच्छ के संस्थापक कृष्णर्षि, कुवलयमालाकार उद्योतनसूरि के गुरु भ्राता तथा हारिल गच्छ के छठे आचार्य तत्वाचार्य के शिष्य यक्ष महत्तर के शिष्य थे।

आचार्य कृष्णर्षि बड़े ही तपस्वी थे। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनका तपस्या का क्रम निरन्तर चलता ही रहता था। एक वर्ष में ये केवल ३४ ही पारणक (भोजन ग्रहण) किया करते थे। एक महीना और चार दिन के अतिरिक्त शेष १० मास और २६ दिन घोर निराहार तपस्या में ही व्यतीत होते थे। इस प्रकार के घोर तपश्चरण के कारण कृष्णर्षि को अनेक प्रकार की सिद्धियां स्वत: ही प्राप्त हो गई थीं। कुलगुरुओं की वहियों के उल्लेखानुसार कृष्णर्षि ने शक सं० ७१९ तदनुसार वि० सं० ८५४ में नागोर के श्रेष्ठि नारायण को जैन धर्मावलम्बी बनाकर ओसवालों के बरड़िया गोत्र की स्थापना की। इस श्रेष्ठी नारायण ने कृष्णर्षि की प्रेरणा से नागौर नगर में एक जिनमन्दिर बनवा कर उसमें भ. महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठापना करवाई। कृष्णर्षि ने इस मन्दिर की सुव्यवस्था एवं सुरक्षा के लिये ७२ गण्यमान्य श्रावकों की एक व्यवस्था समिति का गठन करवाया।

इस प्रकार की स्थिति में अनुमान किया जाता है कि कृष्णर्षि ने विक्रम की ९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किसी समय कृष्णर्षि गच्छ की स्थापना की।

इन्हीं कृष्णर्षि के शिष्य आचार्य जयसिंहसूरि ने आमराज के पौत्र ग्वालियर के राजा भोजदेव के शासन काल में वि. सं. ९१५ की भाद्रपद शुक्ला ५ के दिन ९८ गाथात्मक धर्मोपदेश माला और उस पर ५७७८ श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना कर उसकी प्रशस्ति में थारपद्र गच्छ के संस्थापक एवं हारिल गच्छ के आचार्य वटेश्वर सूरि से लेकर अपने (आचार्य जयसिंह के) समय तक की पट्ट-परम्परा दी है।

कृष्णर्षि ने अनेक अजैनों को जैन एवं श्रद्धालु श्रावक बनाया। इन्होंने तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों की यात्राएं कीं, अनेक संघ-यात्राएं आयोजित करवाईं, इनकी प्रेरणा से अनेक मन्दिर बने और इस प्रकार कृष्णर्षि ने जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार किया।

—•—

भट्टारक परम्परा के महान् ग्रन्थकार आचार्य वीरसेन

विक्रम की नौवीं शताब्दी में सेन गण-पंचस्तूपान्वयी संघ के एक महान् टीकाकार एवं ग्रन्थकार जिनसेन ने अपनी महान् कृतियों—धवला और जय धवला की रचना द्वारा जिनशासन की प्रभावना के साथ-साथ जैन वांग्मय की महती सेवा कर अक्षय कीर्ति अर्जित की। पंचस्तूपान्वयी परम्परा से भिन्न परम्परा के आचार्यों एवं अग्रगण्य ग्रन्थकारों ने भी आपकी कवित्वशक्ति तथा आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन ने श्री वीरसेन आचार्य को कवियों में सार्वभौम सम्राट् चक्रवर्ती की उपमा देते हुए हरिवंश पुराण में लिखा है :—

जितात्मपरलोकस्य, कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेन गुरोर्कीर्तिरकलंका बभासते ॥३९॥

पुन्नाट संघीय भट्टारक जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने धवलाकार वीरसेन भट्टारक को प्रतिवादियों के मद को, अहं को चूर्णित-विचूर्णित कर देने वाला और ज्ञान तथा चारित्र के सारभूत श्रेष्ठतम परमाणुओं से निर्मित अथवा सशरीर साक्षात् ज्ञान और चारित्र की प्रतिमूर्ति बताते हुए इनकी प्रशंसा में कहा है :—

तत्र वित्रासिताशेष प्रवादिमदवारणः।
वीरसेनाग्रणी वीरसेन भट्टारको बभौ ॥३॥

....।

ज्ञानचारित्रसामग्रीमग्रहीदिव विग्रहम् ॥४॥ उत्तर पु. प्रशस्ति।

वीरसेन के शिष्य जयधवलाकार ने अपने इन गुरु की ज्ञान-गरिमा की श्लाघा करते हुए लिखा है :—

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां, दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीं।

जाता सर्वज्ञ संवादे, निरारेका मनीषिणः ॥ २१ ॥ जय ध. प्रशस्ति।

अर्थात्— निगूढ़तम, गहनतम विषयों अथवा प्रश्नों का यथातथ्य-रूपेण निरूपण कर देने वाली वीरसेन की स्वाभाविकी ज्ञानगरिमा अथवा मेधाविता को देख कर किसी भी विचारक मनीषी को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी केवलज्ञानी की सत्ता में

किसी प्रकार की शंका नहीं रह जाती। उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि संसार में सुनिश्चित रूप से सर्वज्ञ हुए हैं, होते हैं और होंगे।

आचार्य वीरसेन ने धवला की प्रशस्ति के "तह णत्तुवेण पंचथूहण्णयभाणुणा मुणिणा" इस श्लोकार्द्ध में अपने आपको पंचस्तूपान्वयी बताया है। इनके प्रशिष्य गुणभद्र के शिष्य लोकसेन ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति के दूसरे श्लोक में "महापुरुष-रत्नानां, स्थानं सेनान्वयो जनि।" इस पद से अपनी गुरु परम्परा को सेन परम्परा बताया है।

"भट्टारक सम्प्रदाय" नामक ग्रन्थ के रचनाकार प्रोफेसर जोहरापुरकर के अभिमतानुसार सेन गण और पुन्नाट संघ–ये दो आम्नाय भट्टारक परम्परा के प्राचीनतम स्वरूप हैं। सेन गण से सम्बन्धित प्रशस्तियों और अन्य उल्लेखों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सेनगण का पूर्व रूप पंचस्तूपान्वय था। पंचस्तूपान्वय का सम्बन्ध मथुरा के पांच स्तूपों से है अथवा नहीं यह प्रश्न शोध की अपेक्षा रखता है। अपने ग्रन्थ "भट्टारक सम्प्रदाय" के लेख सं. ११ और १२ का उल्लेख करते हुए श्री जोहरापुरकर ने सिद्ध किया है कि सेन गण के साथ इसके पोगरि गच्छ का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में उपलब्ध होता है। इनसे उत्तरवर्तीकाल के लेख संख्या २१, २४ और ३२ में पोगरि गच्छ का नाम "पुष्कर गच्छ" ने ले लिया है। "पुष्कर गच्छ"–इस संस्कृत शब्द का ही पोगरि गच्छ कन्नड़ी भाषा में रूपान्तर है। आन्ध्र प्रदेश में पोगरि नामक एक स्थान है। इस पोगरि गच्छ अथवा पुष्कर गच्छ का सम्बन्ध राजस्थान प्रदेशवर्ती पुष्कर से है अथवा आन्ध्र प्रदेश के पोगरि स्थान से, इस विषय में अनुसन्धान की आवश्यकता है।[1]

इन्द्रनन्दि ने अपनी कृति "श्रुतावतार" में अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ विभाजन के समय ही पंच स्तूपों के स्थान से आये हुए सेन और भद्र नामक आचार्यद्वय से सेन गण की उत्पत्ति बताने वाले एक अज्ञातकर्तृक श्लोक को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है :—

आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतो शोकवाटा-
द्देवाश्चान्यो परादिर्जित इति यतिपौ सेन भद्राह्वयौ च।
पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर वृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्॥

इससे भी यह सिद्ध होता है कि सेन गण बहुत प्राचीन गण है और पंच-स्तूपों से आये हुए मुनियों में से सेन मुनि के नाम पर यह गण प्रचलित हुआ, इसी कारण इसका दूसरा नाम पंचस्तूपान्वय भी लोक में प्रसिद्धि पाता रहा।[2]

---

[1] भट्टारक सम्प्रदाय (प्रो. वी. पी. जोहरापुरकर) पृष्ठ २६

[2] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ७३८

पंचस्तूपान्वयी आचार्य वीरसेन ने धवला की प्रशस्ति में अपने आपको आचार्य चन्द्रसेन का प्रशिष्य और आर्य नन्दि (पंचस्तूपान्वयी) का शिष्य बताते हुए लिखा है कि चित्रकूट पुर के एलाचार्य से षट्खण्डागम (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) नामक सिद्धान्त शास्त्र का अध्ययन किया। तदनन्तर अनेक सूत्रों, सिद्धान्त ग्रन्थों का अवलोकन कर एलाचार्य की प्रेरणा से षट्खण्डागम पर धवला टीका का वाटग्राम में निर्माण प्रारम्भ किया। षट्खण्डागम पर वीरसेन से बहुत पूर्व अनेक टीकाएं लिखी गई थीं, जिनमें कुंदकुंदाचार्यकृत परिकर्म, शामकुंडकृत पद्धति, तुम्बुलूराचार्यकृत चूड़ामणि, समन्तभद्रकृत टीका और बप्पदेव गुरु द्वारा कृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीकाएं प्रमुख थीं। ईशा की तीसरी चौथी शताब्दी से ६ठी शताब्दी के बीच की अवधि में निर्मित उन टीकाओं में से वर्तमान में एक भी टीका उपलब्ध नहीं है।

आचार्य वीरसेन ने बप्पगुरुदेव की षट्खण्डागम पर जो व्याख्या-प्रज्ञप्ति नाम की टीका थी, उसके आधार पर षट्खण्डागम की धवला नामक विशाल टीका का निर्माण किया। प्रशस्ति में वीरसेन द्वारा किये गये उल्लेख के अनुसार उन्होंने वि. सं. ७३८ में जगतुंग देव के राज्य काल के पश्चात् (सम्भवतः अमोघवर्ष प्रथम के शासनकाल में) वाटग्राम में कार्तिकशुक्ला त्रयोदशी के दिन धवला टीका की रचना सम्पन्न की। इस टीका के निर्माण में आचार्य वीरसेन ने चूर्णिकारों की शैली को अपनाकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। धवला टीका कुल मिलाकर ७२ हजार श्लोक प्रमाण का विशाल ग्रन्थ है। धवला टीका का तीन चौथाई भाग प्राकृत में और शेष भाग संस्कृत भाषा में है। टीका की प्राकृत भाषा मुख्यतया शौरसेनी है। धवला का निर्माण ६ खण्डों में किया गया है। इसकी शैली सुन्दर, सुबोधगम्य, परिमार्जित और प्रौढ़ है। इसमें छेदसूत्र, जीवसमास, सत्कर्मप्राभृत, पंचत्थिपाहुड़, कषायप्राभृत, सन्मतिसूत्र, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, तत्वार्थसूत्र, मूलाचार, दशकर्णिसंग्रह अकलंककृत तत्वार्थभाष्य आदि अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। आचार्य वीर सेन की इस धवला टीका में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा बहुमान्य आचारांग, बृहत्कल्पसूत्र, दशवैकालिक सूत्र, अनुयोग द्वार और आवश्यक निर्युक्ति आदि आगम एवं आगमिक ग्रन्थों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। वीरसेन ने धवला में नागहस्ति (श्वेताम्बराचार्य) के उपदेशों को "पवाइज्जंत" अर्थात् आचार्य-परम्परागत बताया है और दूसरी ओर आर्य मंक्षु (श्वेताम्बराचार्य आर्य मंगु) के उपदेशों को अपवाइज्जंत अर्थात् प्रचलन में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखने वाला बताया है। वीरसेन के इस प्रकार के उल्लेखों से यह एक नई बात प्रकट होती है कि आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ति इन गुरुशिष्य आचार्यों में कतिपय प्रकार के मान्यता भेद भी थे।

आर्य मंक्षु के उपदेशों को आचार्य परम्परा द्वारा असम्मत एवं प्रचलन में नहीं आ रहे तथा आर्य नागहस्ति के उपदेशों को आचार्य परम्परा द्वारा सम्मत

एवं प्रचलन में आ रहे बता कर उनमें परस्पर मान्यता सम्बन्धी मतभेद की बात को प्रकट करने के साथ-साथ धवलाकार ने अपनी टीका में स्थान-स्थान पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति इन दो मान्यताओं का उल्लेख किया है। आपने दक्षिण प्रतिपत्ति को ऋजु (सरल) एवं आचार्य परम्परागत और उत्तर प्रतिपत्ति को अनृजु (जटिल) तथा आचार्य परम्परागत से भिन्न माना है। यह उनका दक्षिणापथ एवं उत्तरापथ की आचार्य परम्पराओं की ओर संकेत प्रतीत होता है।

आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के ६ खण्डों में से प्रथम पांच खण्डों पर ही धवला टीका की रचना की है। छठे खण्ड का नाम महाबन्ध है, इसे महाधवल के नाम से भी अभिहित किया जाता है। षट्खण्डागम के इस छठे खण्ड महाबन्ध की रचना भूतबलि ने की है। महाबन्ध नामक इस छठे खण्ड का परिमाण ३० हजार श्लोक प्रमाण है।

आचार्य वीरसेन की दूसरी कृति :

षट्खण्डागम पर ७२ हजार प्रमाण धवला नामक टीका का निर्माण सम्पन्न करने के पश्चात् आचार्य वीरसेन ने कषायपाहुड़ पर जयधवला नामक टीका का निर्माण करना प्रारम्भ किया। वे जयधवला टीका की २० हजार श्लोक प्रमाण ही रचना कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया। इसकी पूर्णाहूति वीरसेन के पट्टधरशिष्य जिनसेन ने शक सं. ७५९ तदनुसार विक्रम सं. ८९४ में की।

यह संयोग की ही बात है कि सेनगण में लगातार तीन चार पीढ़ियों तक विद्वान् ग्रन्थकार होते रहे और अपने गुरु द्वारा प्रारम्भ किये हुए पर दैववशात् अधूरे रहे हुए कार्य को शिष्य पूरे करते रहे। वीरसेन ने जयधवला की रचना प्रारम्भ कर दी थी किन्तु वे २० हजार श्लोक प्रमाण ही इस टीका का निर्माण कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया और उनके शिष्य जिनसेन ने ४० हजार श्लोकप्रमाण उससे आगे की टीका की रचना कर अपने गुरु वीरसेन द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण किया।

इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय, जयधवला आदि के निर्माण के अनन्तर महापुराण की रचना प्रारम्भ की। महापुराण का पूर्वार्द्ध 'आदि-पुराण' वे सम्पूर्ण नहीं कर पाये थे कि उनका स्वर्गारोहण हो गया। जिनसेन ने आदि पुराण के ४७ पर्व और बारह हजार श्लोकों में से ४२ पर्व पूर्ण और ४३वें सर्ग के केवल ३ श्लोक ही लिखे थे। शेष चार पर्वों के १६२० श्लोक उनके विद्वान् शिष्य गुणभद्र ने लिखकर आदि पुराण को पूर्ण किया और महापुराण के उत्तरार्द्ध उत्तर पुराण की रचना की। इस प्रकार गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेन के अपूर्ण रहे हुए कार्य को पूर्ण किया।

इसी प्रकार सम्भवतः गुणभद्र भी उत्तर पुराण का थोड़ा सा अन्तिम अंश और इसकी प्रशस्ति पूर्ण नहीं कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया और उनके शिष्य लोकसेन ने उनके कुछ अंशों में अपूर्ण रहे हुए कार्य को पूर्ण किया।

सिद्ध भू-पद्धति उत्तर पुराण की प्रशस्ति के निम्नलिखित श्लोक से :—

सिद्ध भू पद्धतिर्यस्य, टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः।
टीक्यते हेलयान्येषां, विषमापि पदे-पदे ।।

यह प्रकट होता है कि भट्टारक वीरसेन ने सिद्धभूपद्धति–टीका नामक एक टीका ग्रन्थ की भी रचना की थी, जिसकी सहायता से जटिलतर गद्य-पद्यों के वास्तविक अर्थ को जिज्ञासु सहज ही हृदयंगम कर सकते थे। किन्तु वर्तमान में वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

वत्सराज-गुर्जर-मालवराज

वीर निर्माण की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण से लेकर चौदहवीं शताब्दी की बीच की अवधि में जालौर के राजसिंहासन पर वत्सराज नामक बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने सुविशाल अवन्ती राज्य पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कुवलयमालाकार उद्योतनसूरि और हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन के उल्लेखानुसार विक्रम की ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में वत्सराज की भारत के शक्तिशाली राजाओं में गणना की जाती थी। राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्ण (प्रथम) के दोनों पुत्र–गोविन्द द्वितीय (वल्लभ) और ध्रुव इस मालवा तथा जालोर के राजा वत्सराज के समकालीन थे।

वत्सराज का समय वस्तुतः राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं का उत्कर्ष काल था। ई० सन् ७३०–७३५ के बीच राष्ट्रकूट वंश के शक्तिशाली राजा दन्तिदुर्ग (ई० ७३०–७५३) ने बादामी के चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा को पराजित कर लगभग सम्पूर्ण चालुक्य–राज्य को अपने राज्य में मिला मान्यखेट राज्य को अपने समय का सबसे शक्तिशाली राज्य बना दिया था। दन्तिदुर्ग के पश्चात् राष्ट्रकूट वंश के ७वें राजा कृष्ण प्रथम और उसके दोनों पुत्रों–गोविन्द (द्वितीय) और ध्रुव–इन आठवें और ९वें राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं ने भी राष्ट्रकूट राज्य की सीमाओं एवं शक्ति में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ही की।

राष्ट्रकूटवंश के इस शक्ति–संवर्द्धन का दुष्प्रभाव वत्सराज पर पड़ा। अनुमानतः ई० सन् ७८७ के आस-पास राष्ट्रकूटवंशीय राजा ध्रुव ने मालवराज वत्सराज पर एक शक्तिशाली बड़ी सेना के साथ आक्रमण किया। वत्सराज उस युद्ध में ध्रुव से पराजित हुआ। वत्सराज को मालवे के राज्य से वंचित होने के साथ-साथ मालवा छोड़कर मरु प्रदेश की ओर पलायन करने के लिये बाध्य होना पड़ा। ध्रुव की दुर्द्धर्ष सैन्य शक्ति को देखकर वत्सराज को विश्वास हो गया कि अब मालवा राज्य पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करना तो दूर, मालवे में रहना भी उसके लिये सर्वनाश का कारण हो सकता है, अतः वह अपनी बची सेना के साथ अपने मालवा–गुजरात–राज्य की राजधानी जाबालिपुर (जालौर) लौट आया और वहीं रहकर जालौर का शासन करने लगा।

कर्णाटक के मन्ने नामक ग्राम से, शानभोग नरहरियप्प नामक एक व्यक्ति के अधिकार में उपलब्ध शक सं० ७२४ के ताम्र–शासन में भी वत्सराज की ध्रुव से पराजय और मालवा छोड़कर मरुधर प्रदेश की ओर पलायन का निम्नलिखित रूप में उल्लेख है:—

घोरो धैर्यधनो विपक्षवनितावक्त्राम्बुजश्रीहरो,..............
हेला–स्वीकृत–गौड़–राज्य–कमलान् चान्तःप्रविश्याचिराद्,
उन्मार्गे मरु–मध्यम–प्रतिबलैर्यो वत्सराजं बलैः ।[१]

अर्थात्—राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्ण प्रथम के (गोविन्द द्वितीय से छोटे) पुत्र घोर–अपर नाम ध्रुव ने गौड़ राज्य पर अधिकार करने के पश्चात् मालवा पर आक्रमण किया और वत्सराज को युद्ध में पराजित कर मरुभूमि की ओर भाग जाने के लिये बाध्य कर दिया ।

उद्योतनसूरि द्वारा रचित कुवलयमाला की प्रशस्ति के अनुसार शक संवत् ६९९ में वत्सराज का जाबालिपुर पर शासन था। हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में जिनसेन के उल्लेखानुसार शक सं० ७०५ में अवन्ति (मालव) राज्य पर वत्सराज का शासन था । इन दोनों ऐतिहासिक महत्व के उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि शक सं० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ तक वत्सराज का मालवा और जालौर इन दोनों ही राज्यों पर और ध्रुव के बड़े भाई गोविन्द द्वितीय अपर नाम वल्लभ का प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर अधिकार था । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ध्रुव राष्ट्रकूट वंश राजसिंहासन पर आरूढ़ नहीं हुआ था । इससे अनुमान किया जाता है कि ई० सन् ७८५ के आस-पास ध्रुव ने अपने बड़े भाई गोविन्द द्वितीय को भीषण युद्ध में हरा राज्य–च्युत और सोरब के छोटे से राज्य का स्वामी बनाकर राष्ट्रकूट राज्य पर अधिकार किया । राज्य की बागडोर सम्हालते ही ध्रुव ने अपने बड़े भाई को युद्ध में सहायता करने वाले शिवमार को बन्दी बनाया और पल्लवमल्ल से कर के रूप में अनेक हाथी मंगवा कर एक प्रकार से दण्डित किया । तत्पश्चात् ध्रुव ने अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया । सर्वप्रथम उसने गौड़ों को युद्ध में पराजित कर उन्हें अपना वशवर्ती बनाया । तत्पश्चात् विन्ध्य पर्वत को पार कर मालवा के राजा वत्सराज पर आक्रमण किया । इन सब कार्यों को सम्पन्न करने में ध्रुव को वर्ष–डेढ़ वर्ष का समय तो कम से कम अवश्य ही लगा होगा । इन सब तथ्यों पर विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि ध्रुव ने ई० सन् ७८७ के आस-पास वत्सराज को मालवा से जालोर की ओर पलायन करने के लिये बाध्य किया ।

मालवा में अपनी पराजय के पश्चात् वत्सराज अपने जीवन के अन्त समय तक जालोर में ही रहा । जैन संघ के साथ वत्सराज के बड़े मधुर सम्बन्ध थे ।

---

[१] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १२३, पृ. १२५

आमराज—नागभट्ट द्वितीय

विक्रम की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आचार्य बप्पभट्टी का समकालीन एवं परम भक्त आम नामक प्रतिहारवंशीय राजा कन्नौज पर शासन करता था। आमराज अपने समय का महान् योद्धा और जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला राजा था। इसने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं अभ्युदय के लिये जो-जो कार्य किये उनका संक्षेप में आचार्य बप्पभट्टी के परिचय में उल्लेख किया जा चुका है। नागभट्ट (द्वितीय) और नागावलोक, इसी आमराज के अपर नाम थे।

आमराज (नागभट्ट) के पिता का नाम यशोवर्मन था। यशोवर्मन गुजरात के लाट प्रदेश का बड़ा शक्तिशाली राजा था। आमराज का बाल्यकाल बड़ी ही संकटापन्न स्थिति में व्यतीत हुआ। इसका कारण यह था कि यशोवर्मन की एक रानी से जब आमराज का जन्म हुआ तो उसकी दूसरी रानी ने सौतिया डाह से प्रेरित हो यशोवर्मन को आमराज की माता के विरुद्ध भड़का कर उसे लाट राज्य से निकलवा दिया। आमराज की माता निराश्रय हो अपने शिशु को लिये वन्य जीवन व्यतीत करने लगी। बप्पभट्टी के गुरु आचार्य सिद्धसेन ने जब उसे जंगल में निराश्रित देखा तो मोढ़ेरा ग्राम के जैन संघ को कहकर आमराज और उनकी माता के भरण-पोषण की व्यवस्था करवाई। कुछ ही समय पश्चात् आमराज की सौतेली माता की मृत्यु हो जाने पर यशोवर्मन ने अपनी रानी और पुत्र की खोज करवा उन्हें पुनः अपने राजप्रासाद में बुलवा लिया।

विक्रम सं० ८६० के आस-पास राष्ट्रकूट वंश के दशवें राजा गोविन्द तृतीय (जगत्तुंग) ने यशोवर्मन पर आक्रमण कर उससे लाट प्रदेश छीनकर[1] अपने गुजरात राज्य में मिला लिया और अपने लघु भ्राता इन्द्र को गुजरात का राज्यपाल नियुक्त कर दिया।

गोविन्द तृतीय से पराजित होने और लाट प्रदेश के अपने राज्य के हाथ से निकल जाने पर यशोवर्मन कन्नौज की ओर बढ़ा और वहां के चक्रायुध नामक राजा को मारकर स्वयं कन्नौज के राज-सिंहासन पर बैठ गया। स्वाभिमानी आमराज की अपने पिता से किसी बात पर अनबन हो गई और वह कन्नौज से प्रच्छन्न रूप से निकल कर मोढेरा चला आया। मोढेरा ग्राम के बाहर एक मन्दिर में मुनि बप्पभट्टी से उसकी भेंट हुई। बप्पभट्टी उसे अपने गुरु के पास ले गये और गुरु ने नाम आदि

---

[1] लाट विजय के सम्बन्ध में देखिये इसी ग्रन्थ का पृ० २६१

घोरो धैर्यधनो विपक्षवनितावक्त्राम्बुजश्रीहरो,…………
हेला–स्वीकृत–गौड़–राज्य–कमलान् चान्तःप्रविश्याचिराद्,
उन्मार्गे मरु–मध्यम–प्रतिबलैर्यो वत्सराजं बलैः।[1]

अर्थात्—राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्ण प्रथम के (गोविन्द द्वितीय से छोटे) पुत्र घोर–अपर नाम ध्रुव ने गौड़ राज्य पर अधिकार करने के पश्चात् मालवा पर आक्रमण किया और वत्सराज को युद्ध में पराजित कर मरुभूमि की ओर भाग जाने के लिये बाध्य कर दिया।

उद्योतनसूरि द्वारा रचित कुवलयमाला की प्रशस्ति के अनुसार शक संवत् ६९९ में वत्सराज का जाबालिपुर पर शासन था। हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में जिनसेन के उल्लेखानुसार शक सं० ७०५ में अवन्ति (मालव) राज्य पर वत्सराज का शासन था। इन दोनों ऐतिहासिक महत्व के उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि शक सं० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ तक वत्सराज का मालवा और जालौर इन दोनों ही राज्यों पर और ध्रुव के बड़े भाई गोविन्द द्वितीय अपर नाम वल्लभ का प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर अधिकार था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ध्रुव राष्ट्रकूट वंश राजसिंहासन पर आरूढ़ नहीं हुआ था। इससे अनुमान किया जाता है कि ई० सन् ७८५ के आस-पास ध्रुव ने अपने बड़े भाई गोविन्द द्वितीय को भीषण युद्ध में हरा राज्य–च्युत और सोरब के छोटे से राज्य का स्वामी बनाकर राष्ट्रकूट राज्य पर अधिकार किया। राज्य की बागडोर सम्हालते ही ध्रुव ने अपने बड़े भाई को युद्ध में सहायता करने वाले शिवमार को बन्दी बनाया और पल्लवमल्ल से कर के रूप में अनेक हाथी मंगवा कर एक प्रकार से दण्डित किया। तत्पश्चात् ध्रुव ने अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उसने गौड़ों को युद्ध में पराजित कर उन्हें अपना वशवर्ती बनाया। तत्पश्चात् विन्ध्य पर्वत को पार कर मालवा के राजा वत्सराज पर आक्रमण किया। इन सब कार्यों को सम्पन्न करने में ध्रुव को वर्ष–डेढ़ वर्ष का समय तो कम से कम अवश्य ही लगा होगा। इन सब तथ्यों पर विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि ध्रुव ने ई० सन् ७८७ के आस-पास वत्सराज को मालवा से जालोर की ओर पलायन करने के लिये बाध्य किया।

मालवा में अपनी पराजय के पश्चात् वत्सराज अपने जीवन के अन्त समय तक जालोर में ही रहा। जैन संघ के साथ वत्सराज के बड़े मधुर सम्बन्ध थे।

[1] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १२३, पृ. १२५

आमराज—नागभट्ट द्वितीय

विक्रम की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आचार्य बप्पभट्टी का समकालीन एवं परम भक्त आम नामक प्रतिहारवंशीय राजा कन्नौज पर शासन करता था। आमराज अपने समय का महान् योद्धा और जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला राजा था। इसने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं अभ्युदय के लिये जो-जो कार्य किये उनका संक्षेप में आचार्य बप्पभट्टी के परिचय में उल्लेख किया जा चुका है। नागभट्ट (द्वितीय) और नागावलोक, इसी आमराज के अपर नाम थे।

आमराज (नागभट्ट) के पिता का नाम यशोवर्मन था। यशोवर्मन गुजरात के लाट प्रदेश का बड़ा शक्तिशाली राजा था। आमराज का बाल्यकाल बड़ी ही संकटापन्न स्थिति में व्यतीत हुआ। इसका कारण यह था कि यशोवर्मन की एक रानी से जब आमराज का जन्म हुआ तो उसकी दूसरी रानी ने सौतिया डाह से प्रेरित हो यशोवर्मन को आमराज की माता के विरुद्ध भड़का कर उसे लाट राज्य से निकलवा दिया। आमराज की माता निराश्रय हो अपने शिशु को लिये वन्य जीवन व्यतीत करने लगी। बप्पभट्टी के गुरु आचार्य सिद्धसेन ने जब उसे जंगल में निराश्रित देखा तो मोढ़ेरा ग्राम के जैन संघ को कहकर आमराज और उनकी माता के भरण-पोषण की व्यवस्था करवाई। कुछ ही समय पश्चात् आमराज की सौतेली माता की मृत्यु हो जाने पर यशोवर्मन ने अपनी रानी और पुत्र की खोज करवा उन्हें पुनः अपने राजप्रासाद में बुलवा लिया।

विक्रम सं० ८६० के आस-पास राष्ट्रकूट वंश के दशवें राजा गोविन्द तृतीय (जगत्तुंग) ने यशोवर्मन पर आक्रमण कर उससे लाट प्रदेश छीनकर[1] अपने गुजरात राज्य में मिला लिया और अपने लघु भ्राता इन्द्र को गुजरात का राज्यपाल नियुक्त कर दिया।

गोविन्द तृतीय से पराजित होने और लाट प्रदेश के अपने राज्य के हाथ से निकल जाने पर यशोवर्मन कन्नौज की ओर बढ़ा और वहां के चक्रायुध नामक राजा को मारकर स्वयं कन्नौज के राज-सिंहासन पर बैठ गया। स्वाभिमानी आमराज की अपने पिता से किसी बात पर अनबन हो गई और वह कन्नौज से प्रच्छन्न रूप से निकल कर मोढेरा चला आया। मोढेरा ग्राम के बाहर एक मन्दिर में मुनि बप्पभट्टी से उसकी भेंट हुई। बप्पभट्टी उसे अपने गुरु के पास ले गये और गुरु ने नाम आदि

---

[1] लाट विजय के सम्बन्ध में देखिये इसी ग्रन्थ का पृ० २६१

का परिचय पाते ही राजकुमार आमराज को पहचान लिया। आचार्यश्री ने आमराज से कहा कि वह उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में मोढेरा में ही रहकर उनके पास और बप्पभट्टी के पास विद्याध्ययन करे।

आचार्य सिद्धसेन के निर्देशानुसार राजकुमार आमराज उनके पास रहकर विद्याध्ययन करने लगा। इस प्रकार आचार्यश्री के सान्निध्य में बप्पभट्टी के संसर्ग में रहते हुए राजकुमार आमराज के अन्तर्मन में बप्पभट्टी के प्रति प्रगाढ़ अनुराग हो गया। आमराज ने आचार्यश्री और बप्पभट्टी की सेवा में रहते हुए बड़ी निष्ठा के साथ अध्ययन किया।

अनुमान किया जाता है कि आमराज का पिता यशोवर्मन एक साहसी योद्धा होने के साथ-साथ सरस्वती का भी उपासक और अच्छा लेखक था। उसने "रामाभ्युदय" नामक एक नाटक की भी रचना की थी। यह नाटक 'वर्तमान में उपलब्ध' नहीं है किन्तु "ध्वन्यालोक", साहित्य दर्पण आदि में यशोवर्मन के इस नाटक का उल्लेख है।[१] अस्तु।

कालान्तर में यशोवर्मन की मृत्यु होते ही कन्नौज के मन्त्रियों ने राजकुमार आमराज को मोढेरा से कन्नौज ले जाकर उसका कन्नौज के राज-सिंहासन पर राज्याभिषेक किया।

आमराज अपर नाम नागावलोक एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। इसने कन्नौज राज्य की चहुंमुखी समृद्ध्यभिवृद्धि के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। संभवतः आमराज के पूर्व नागभट्ट (द्वितीय) एवं "अवनिजनाश्रय" तथा "दक्षिणभट" अर्थात् दक्षिणापथ का सुदृढ़ आधारस्तम्भ आदि उपाधियों से विभूषित पुलकेशिन (चालुक्यराज विक्रमादित्य द्वितीय के द्वारा नियुक्त दक्षिण गुजरात के राज्यपाल) जैसे देशभक्त योद्धाओं ने भारत पर किये गये अरबों के आक्रमण को पूर्णतः असफल कर अरब आक्रान्ताओं की शक्ति को अन्तिम रूप से नष्ट कर दिया। इस सम्बन्ध में आर. सी. मजूमदार आदि विद्वान् इतिहासज्ञों द्वारा संपादित--'दि क्लासिकल एज' का निम्नलिखित उल्लेख गौरवानुभूति के साथ पठनीय एवं मननीय है :--

.........These Arab expeditions took place between A. D. 724 and 738.

But the success of the Arabs was short-lived, and they were defeated by the Pratihara king Nagabhatta and the Chalukya ruler of Lata (S. Gujarat) named Avanijanasruya Pulkeshiraj. The latter's heroic stand earned him the titles 'solid pillar of Dakshinapatha, and 'the repeller of the unrepellable.' The Gurjara king Jayabhatta IV of Nandipuri also claims to have defeated

---

[१] क्लासिकल एज, पृ० ३१०

the Arabs. Apart from these claims, authenticated by contemporary records, we have traditions about several Indian rulers as having defeated the Mlechchhas, and some of them at any rate refer probably to the Arab invaders of this period. It is also admitted in the Arab chronicles that under Junaid's successor Tamin, the Muslims lost the newly conquered territories and fell back upon Sindh. Even here their position became insecure. According to Arab chronicles, 'a place of refuge to which the Muslims might flee was not to be found,' and so the governor of Sindh built a city on the further side of the lake, on which later the City of Mansurah stood, as a place of refuge for them. It is thus clear that the period of Confusion in the Caliphate during the last years of the Umayyads also witnessed the decline of Islamic power in India.[1]

ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों के इतिहास के पर्यालोचन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि जो अरब शक्ति टर्की, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों में प्रचण्ड आंधी की तरह बड़े वेग से इन राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित करती हुई बढ़ती ही गई, वह चालुक्य वंशी कन्नौज राज यशोवर्मन, काश्मीर के राजा ललितादित्य, प्रतिहार वंशीय राजा नागभट्ट (द्वितीय) दक्षिण गुजरात के राज्यपाल चालुक्यवंशीय पुलकेशिन आदि-आदि भारतीय वीरों की फौलादी दीवार से टकराकर चकनाचूर हो गई।

आमराज के जीवन की प्रमुख घटनाओं और उसके धार्मिक कार्य कलापों का वप्पभट्टीसूरि के इतिवृत्त में परिचय दे दिया गया है। अपनी आयु के केवल ६ मास अवशिष्ट रहने पर आमराज ने वप्पभट्टी के साथ तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। अनेक तीर्थों की यात्रा करने के पश्चात् मागध तीर्थ की, नाव में बैठ कर यात्रा करते समय मगटोड़ा नामक ग्राम के पास आमराज ने जिनेन्द्रप्रभु की शरण ग्रहण कर वप्पभट्टी से पंच परमेष्टि नमस्कार मन्त्र का श्रवण करते हुए गंगा की धारा के प्रवाह के मध्य भाग में नौका में ही वि० सं० ८६० की भाद्रपद शुक्ला ५ के दिन अपनी इहलीला समाप्त की। मगटोड़ा ग्राम में ही आमराज की और्ध्वदैहिकी क्रियाएं सम्पन्न की गईं।

आमराज के पश्चात् उसका पौत्र मिहिरभोज कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर (वि० सं० ८६० में) बैठा। मिहिरभोज भी परम श्रद्धानिष्ठ जैन राजा था। इसने अपने जीवन काल में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और अभ्युदय-अभ्युत्थान के लिए अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। मिहिरभोज ने वप्पभट्टी के दो पट्टधरों में से एक पट्टधर आचार्य गोविन्दसूरि को अपनी राजसभा में राजगुरु के पद पे रखा।

श्रमण भगवान् महावीर के ४३वें पट्टधर आचार्य श्री लक्ष्मीवल्लभ

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् १२९२
दीक्षा	—	,, ,, ,, १३२१
आचार्य पद	—	,, ,, ,, १३५४
स्वर्गारोहण	—	,, ,, ,, १३७१
गृहवास पर्याय	—	२९ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय		३३ वर्ष
आचार्य पर्याय		१७ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय		५० वर्ष
पूर्ण आयु		७९ वर्ष

वीर निर्वाण सम्वत् १३५४ में भगवान् महावीर के ४२ वें पट्टधर आचार्य श्री शंकर सेन के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर चतुर्विध संघ ने महामुनि श्री लक्ष्मीवल्लभ को प्रभु महावीर के तयालीसवें (४३) पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

श्रमण भगवान् महावीर के ४४ वें पट्टधर आचार्य
श्री राम ऋषि स्वामी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् १३०४
दीक्षा	—	,, ,, १३३८
आचार्य पद	—	,, ,, १३७१
स्वर्गारोहण	—	,, ,, १४०२
गृहवास पर्याय	—	३४ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	३३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३१ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	६४ वर्ष
पूर्ण आयु	—	९८ वर्ष

वीर निर्वाण सम्वत् १३७१ में भगवान् महावीर के ४३वें पट्टधर आचार्य श्री लक्ष्मीवल्लभ के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् चतुर्विध संघ ने महामुनि श्री राम ऋषि स्वामी को प्रभु महावीर के धर्म संघ के ४४ वें पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

भ० महावीर के ४३ वें पट्टधर आचार्य लक्ष्मीवल्लभ और ४४ वें पट्टधर रामऋषि स्वामी के समकालीन पैंतीसवें (३५) युगप्रधानाचार्य धर्म ऋषि

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत्		१३२५
दीक्षा	—	"	"	१३४०
सामान्य साधु पर्याय	—	"	"	१३४० से १३६०
युगप्रधानाचार्य काल	—	"	"	१३६० से १४००
स्वर्ग	—	"	"	१४००
सर्वायु	—	७५ वर्ष चार मास और चार दिन		

माढर सम्भूति के पश्चात् धर्म ऋषि ३५ वें युगप्रधानाचार्य हुए। आपका जन्म वीर निर्वाण सम्वत् १३२५ में हुआ। आप वीर निर्वाण सम्वत् १३४० में श्रमण-धर्म में प्रव्रजित हुए। वीर निर्वाण सम्वत् १३६० में ३४ वें युगप्रधानाचार्य माढर सम्भूति के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर चतुर्विध संघ द्वारा आपको युगप्रधानाचार्य पद प्रदान किया गया। चालीस वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद के कार्यभार को बड़ी योग्यता और कुशलता के साथ वहन करते हुए आपने भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की। वीर निर्वाण सम्वत् १४०० में ७५ वर्ष ४ मास और ४ दिन की आयु पूर्ण कर आचार्य धर्म ऋषि ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

भट्टारक जिनसेन (पंचस्तूपान्वयी)
(दिगम्बर परम्परा)

भट्टारक परम्परा के पंचस्तूपान्वय-सेन गण के धवलाकार आचार्य वीर-सेन के शिष्य जिनसेन वीर निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी के यशस्वी ग्रन्थकार थे।

जयधवला प्रशस्ति के श्लोक सं. २२ के उल्लेखानुसार जिनसेन, जिस बाल वय में कर्णवेध संस्कार भी नहीं होता, उस बाल वय में ही पंचस्तूपान्वयी सेन गण के आचार्य भट्टारक वीर सेन के पास श्रमण धर्म में दीक्षित हो गये थे। जिस समय जिनसेन अपने गुरु के पास भट्टारक परम्परा में दीक्षित हुए उस समय उनकी वय कितनी होगी, इसका अनुमानतः बोध कराने वाला एक साधन है। पुन्नाट संघीय जिनसेनाचार्य ने शक सं. ७०५ में हरिवंश पुराण की रचना पूर्ण की। हरिवंश के प्रारम्भ में ही अपने से पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों के स्मरण गुणकीर्त्तन के साथ साथ श्लोक सं. ४० में 'पार्श्वाभ्युदय' के रचनाकार पंचस्तूपान्वयी जिनसेन और उनके इस काव्य की भी प्रशंसा की गई है। शक सं० ७०५ में सम्पूर्ण किये गये विशाल हरिवंश पुराण की रचना में पांच-सात वर्ष का समय तो अवश्य लगा होगा। इससे यह फलित होता है कि जिनसेन ने शक सं० ६९५ से ७०० के बीच की अवधि में 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना पूर्ण कर दी थी। अन्यथा हरिवंश पुराण के प्रारम्भ में 'पार्श्वाभ्युदय' का उल्लेख करना पुन्नाट संघीय जिनसेन के लिए संभव नहीं हो पाता। 'पार्श्वाभ्युदय' जैसे विद्वानों द्वारा प्रशंसा पाने योग्य उत्कृष्ट-कोटि के काव्य की रचना के लिये काव्यालंकार व्याकरण छन्दोशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ वयस्कता की भी अपेक्षा की जाती है।

'पार्श्वाभ्युदय' काव्य समस्यापूर्त्यात्मक एवं सम्पूर्ण मेघदूत को अपने अंक में परिवेष्टित (समाविष्ट) कर लेने वाला एक ऐसा अनुपम खण्ड काव्य है, जिसकी तुलना में अन्य काव्य नहीं ठहर सकते। 'मेघदूत' की कथावस्तु है विरही यक्ष का अपनी प्रेयसी के प्रति विषय-वासनाओं के पुट से संपुटित संदेश। इसके विपरीत 'पार्श्वाभ्युदय' की कथावस्तु त्याग विराग से ओत-प्रोत पार्श्वनाथ-चरित्र है। दोनों कथावस्तुओं में आकाश पाताल जैसा अथवा अमावस्या की अन्धकार पूर्ण कालरात्रि और शरद पूर्णिमा की चांदनी रात जैसा अन्तर है। इस प्रकार की घोर असमानता के उपरान्त भी जिनसेन ने अपने पार्श्वाभ्युदय खण्ड काव्य में मेघदूत को समाविष्ट करते हुए अपनी कृति से विद्वानों को विमुग्ध एवं विस्मित कर दिया। इस प्रकार की अद्भुत क्षमता प्राप्त करने के लिये कम से कम [illegible] वर्ष की वय का होना तो परम आवश्यक है।

इन तथ्यों को दृष्टि-गत रखते हुए विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना जिस समय जिनसेन ने की उस समय उनकी वय २० वर्ष की होगी और उनका जन्म शक सं. ६८० के आस-पास हुआ होगा। पौगण्ड पौधावस्था में ही अपने समय के उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् वीर सेन की सेवा में रहते हुए मेधावी जिनसेन ने किशोर वय में ही व्याकरण काव्यालंकार आदि विषयों में निष्णातता प्राप्त कर यौवन में पदार्पण करने के साथ ही काव्य रचना के क्षेत्र में प्रवेश किया और शक सं. ७०० में अनुमानतः २० वर्ष की आयु में ही 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य का निर्माण कर दिया। यह आयु बीस से ऊपर होना भी सम्भव है।

'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना आचार्य जिनसेन ने अपने ज्येष्ठ गुरु भ्राता विनयसेन मुनि की प्रेरणा से की, यह इस काव्य की प्रशस्ति में उल्लिखित है। इसी प्रकार सम्भव है कि अपने किशोर वय के मेधावी शिष्य जिनसेन की काव्य रचना में अद्भुत क्षमता से प्रसन्न हो भट्टारक वीर सेन ने उन्हें महाभारत के समान ही चौबीस तीर्थंकरों, बारह चक्रवर्तियों, नौ नारायणों, नौ बलदेवों और नौ प्रति-नारायणों—यों सब मिलाकर त्रिषष्टि शलाका पुरुषों के जीवन चरित्रों पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालने वाले महापुराण की रचना की प्रेरणा की हो। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर जिनसेन ने आदि पुराण और उत्तर पुराण इन दो विशाल खण्डों में महापुराण की रचना का संकल्प कर उसके पूर्वार्द्ध आदि पुराण की रचना 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना के स्वल्प काल पश्चात् ही प्रारम्भ कर दी हो।

सम्भव है जिनसेन आदि पुराण के कुछ ही पर्वों की रचना कर पाये होंगे कि उनके गुरु वीर सेन ने 'षट्खण्डागम' पर धवला टीका का निर्माण प्रारम्भ कर दिया हो। धवला टीका के निर्माण जैसे श्रमसाध्य महान् कार्य में विद्वान शिष्यों की सहायता की आवश्यकता अनुभव करते हुए वीर सेन ने अपने विद्वान शिष्य जिनसेन की धवला के निर्माण कार्य में सहायता ली होगी। इस कारण सम्भवतः महापुराण की रचना का कार्य जिनसेन को स्थगित करना पड़ा।

वीरसेन ने धवला टीका की रचना का कार्य शक सं. ७३८ तदनुसार वि. सं. ८७३ (ई. सन् ८१६) की कार्तिक शुक्ला १३ बुधवार के दिन प्रातःकाल सम्पन्न किया। ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका के निर्माण में उन्हें अपने मेधावी विद्वान शिष्य जिनसेन की कम से कम दो दशक तक तो सहायता की अनिवार्यरूपेण आवश्यकता रही होगी। धवला में मणिप्रवाल शैली को अपना कर वीरसेन ने जैन वाङ्मय के सभी ग्रन्थ रत्नों का आलोडन कर स्थान-स्थान पर उनके उद्धरण देने के साथ-साथ जटिल प्रश्नों का समाधान करते हुए इस विशाल ग्रन्थ को अतीव सुन्दर स्वरूप देने में जो अथक श्रम किया है और जो श्रम अपने

शिष्यों से लिया है उसे देखते हुए दो दशक जैसे समय का लगना सहज सम्भव प्रतीत होता है।

धवला के निर्माण के पश्चात् धुन धनी कर्मठ विद्वान वीरसेन ने 'कषाय पाहुड़' पर जय धवला टीका की रचना का कार्य अपने हाथ में लिया। इसमें भी जिनसेन का अति श्रमपूर्ण सक्रिय सहयोग अवश्य रहा होगा। आचार्य भट्टारकवर वीरसेन 'कषाय पाहुड़' पर जयधवला टीका की २० हजार श्लोक प्रमाण ही रचना कर पाये थे कि वे स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार जिनसेन अपने गुरु के कार्य में हाथ बटाते रहने के कारण महापुराण निर्माण के कार्य को २५ से तीस वर्ष की अवधि तक कोई विशेष गति नहीं दे सके।

अपने गुरु वीरसेन के दिवंगत होने पर जिनसेन को सम्भवतः अपने गुरु के अन्त समय के अनुरोध की पूर्ति हेतु अपूर्ण रही जयधवला टीका को पूर्ण करने में जुटना पड़ा। क्योंकि वीरसेन कषायप्राभृत के प्रथम स्कंध की चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका ही लिख पाये थे कि वे स्वर्गस्थ हो गये।

बहुश्रुत तत्वद्रष्टा वीरसेन गुरु का वरदहस्त अपने सिर पर से उठ जाने के कारण जयधवला को पूर्ण करने में जिनसेन को पूरे मनोयोग से रात-दिन जुटे रहना पड़ा। अपने गुरु के दिवंगत होने के अनन्तर अनेक वर्षों तक जिनसेन को जयधवला टीका की रचना के कार्य में संलग्न रहना पड़ा और अन्ततोगत्वा उन्होंने शक सं. ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी के दिन, प्रातः कालवाट ग्राम में, नन्दीश्वर महोत्सव के समय, महाराजा अमोघवर्ष के शासन काल में, जय धवला की टीका की रचना पूर्ण की, जिसका कि जय धवला की प्रशस्ति में जिनसेन ने उल्लेख किया है :—

इति श्रीवीरसेनीया, टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद् गुर्जरार्यानुपालिते ॥ ६ ॥

फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे, दशम्यां शुक्ल पक्षके।
प्रवर्धमान पूजोरु-नन्दीश्वर महोत्सवे ॥ ७ ॥

अमोघवर्ष राजेन्द्र राज्य प्राज्य गुणोदया।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥

एकोनषष्टि समधिकसप्तशताब्देषु शक नरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता, जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥९॥

जिनसेन के गुरु वीरसेन ने जयधवला की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना की थी। उसके आगे जिनसेन ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना कर इसे पूर्ण किया। इस प्रकार वीरसेन द्वारा रचित धवला टीका ७२ हजार

श्लोक प्रमाण और जयधवला नामक 'कषाय पाहुड' की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका वीरसेन द्वारा और ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका जिनसेन द्वारा निर्मित की गई।

इस प्रकार आचार्य वीरसेन और आचार्य जिनसेन—इन दोनों गुरु शिष्य ने मिलकर १,३२,००० श्लोक प्रमाण धवला और जयधवला नामक दो विशाल टीका ग्रन्थों की रचना की।

इस महान् कार्य में जिनसेन अपने गुरु के जीवनकाल में उनके साथ और उनके दिवंगत होने पर अपने गुरु भ्राता श्रीपाल और अपने शिष्य गुणधर के साथ कम से कम तीस वर्ष तक पूर्णतः व्यस्त रहे होंगे। अपने गुरुभ्राता श्रीपाल को तो जयधवला का संपालक अर्थात् सुचारु रूपेण लालन-पालन करने वाला बताया है।[1]

जिनसेन की तीसरी महान् कृति 'आदि पुराण'

जयधवला टीका पूर्ण करने के अनन्तर अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जिनसेन ने अपने गुरु के महाभारत पुराण जैसे ही जैन परम्परा के महापुराण की रचना के स्वप्न को साकार करने का कार्य पुनः अपने हाथ में लेते हुए इसके पूर्वार्द्ध 'आदि पुराण' की अग्रेतर रचना प्रारम्भ की। जयधवला टीका की रचना से पूर्व वे 'आदि पुराण' की किस पर्व तक रचना कर चुके थे और उसके पश्चात् कितने वर्षों तक वे इसकी रचना में संलग्न रहे—इन सब तथ्यों का उल्लेख कहीं उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आदि पुराण के सब मिलाकर ४७ पर्वों में से आचार्य जिनसेन पूरे ४२ पर्वों का और ४३ वें पर्व के तीन श्लोकों का निर्माण कर पाये थे कि वे दिवंगत हो गये।

'आदि पुराण' वस्तुतः संस्कृत भाषा का एक उच्च कोटि का महाकाव्य है। इसमें प्रायः सभी छन्दों, रसों और अलंकारों को समाविष्ट किया गया है। सूक्तियों का तो 'आदि पुराण' को समृद्ध निधान कहा जा सकता है। उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य में जिस प्रकार के लक्षण होने चाहिए, वे सभी लक्षण 'महापुराण' में विद्यमान हैं।

शक सं० ७०५ में पूर्ण किये गये अपने ग्रन्थ 'हरिवंश पुराण' की आदि में पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन की और इनकी लालित्यपूर्ण काव्यकृति 'पार्श्वाभ्युदय'

---

[1] टीका श्री जयचिह्नितोऽरु धवला सूत्रार्थ संद्योतिनी।
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतपः श्रीपालसंपालिता।
(जयधवला, पृष्ठ ४३)

की प्रशंसा की गई है। इससे अनुमान किया जाता है कि जयधवलाकार आचार्य जिनसेन का जन्म शक सं. ६७५ के आसपास हुआ होगा। शक सं. ७३८ में जब आचार्य वीरसेन ने धवला टीका की रचना पूर्ण की, उस समय उनकी लगभग ६३ वर्ष की आयु हो गई होगी। उसके अनन्तर ४० हजार श्लोक प्रमाण अवशिष्ट जयधवला टीका पूर्ण करने और तत्पश्चात् आदि पुराण के ४२ पर्वों और ४३वें पर्व के ३ श्लोक—कुल मिलाकर १०३८० श्लोकों के निर्माण में कम से कम २५ वर्ष तक तो उन्हें श्रम करना ही पड़ा होगा। इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि लगभग ८८ अथवा ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर आचार्य जिनसेन शक सं. ७६५ के आस-पास स्वर्गवासी हुए होंगे। इस प्रकार उनका जीवन काल शक सं. ६७५ से ७६५ तदनुसार वि. सं. ८१० से ९०० के बीच का अनुमानित किया जा सकता है।

आचार्य जिनसेन शैशवावस्था को पार कर बालवय में ही वीरसेन के पास दीक्षित हो गये थे अतः वीरसेन ही उनके शिक्षा गुरु भी रहे और दीक्षा गुरु भी। आचार्य जिनसेन वस्तुतः अपने गुरु के अनुरूप ही कर्मठ विद्वान् थे और वे लगभग ७०-७५ वर्ष तक जैन वांग्मय और जिनशासन की सेवा में निरत रहे।

शाकटायन-पाल्यकीर्ति

आचार्य शाकटायन की भारत के आठ शाब्दिकों अर्थात् वैयाकरणों में पांचवें और पाणिनी तथा अमरसिंह से भी पूर्व स्थान पर गणना की गई है। शाकटायन का अपरनाम पाल्यकीर्ति भी है। आचार्य शाकटायन यापनीय परम्परा के महान् आचार्य और ग्रन्थकार थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में यापनीय परम्परा के प्रकरण में यापनीय परम्परा के परिचय के साथ-साथ आचार्य शाकटायन आदि कतिपय आचार्यों की रचनाओं का उल्लेख भी किया गया है।[1]

शाकटायन द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं :—

१. शब्दानुशासन।

२. शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति।

३. स्त्रीमुक्ति प्रकरण।

४. केवली भुक्ति प्रकरण।

शाकटायन का 'शब्दानुशासन' अनेक शताब्दियों तक पूर्व काल में सम्पूर्ण भारत का लोकप्रिय व्याकरण रहा है। पाल्यकीर्ति और इनके 'शब्दानुशासन' की प्रशंसा करते हुए वादिराज सूरी ने 'पार्श्वनाथ चरित्र' में लिखा है :—

> कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
> श्रीपद-श्रवणं यस्य, शब्दिकान् कुरुते जनान्॥

अर्थात्—उन महान् ओजस्वी पाल्यकीर्ति की अचिन्त्य शक्ति की महिमा किन शब्दों में की जाय—वह शक्ति उन्हें कहां से प्राप्त हुई कि जो इसका केवल "श्री" यह एक पद सुनने मात्र से ही यह लोगों को शब्द शास्त्र में पारंगत वैयाकरण बना देती है।

पाल्यकीर्ति के 'शब्दानुशासन' पर 'स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति' के अतिरिक्त ६ अन्य टीकाएं (१) शाकटायन न्यास (२) चिन्तामणि लघीयसी टीका (३) मणि प्रकाशिका (४) प्रक्रिया संग्रह (५) शाकटायन टीका और तमिल के दशवीं शताब्दी के जैन वैयाकरण अमित सागर के शिष्य दयापाल मुनि द्वारा रचित (६) रूप सिद्धि।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६०-२५१

पाल्यकीर्ति ने शाकटायन व्याकरण—शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ वृत्ति का शुभारम्भ "श्रीममृत ज्योतिः" इस आदि मंगलाचरण से किया है। वादिराजसूरि ने इसी 'श्री' को लक्ष्य कर उपर्युक्त श्लोक में यह बात कही है कि शाकटायन व्याकरण को प्रारम्भ करते ही व्यक्ति व्याकरण का विद्वान् बन जाता है। शाकटायन ने शब्दानुशासन की अमोघवृत्ति के अनेक सूत्रों में यापनीय संघ की मान्यताओं का उल्लेख किया है। वे सभी श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं के समान हैं।[1]

वादिराज सूरि से भी पाल्यकीर्ति की प्रशंसा करने में आगे बढ़कर यक्षवर्मा ने चिन्तामणि टीका में पाल्यकीर्ति के लिये सकलज्ञान "साम्राज्य पद माप्तवान्" इस वाक्य से यहां तक कह दिया है कि पाल्यकीर्ति ने सम्पूर्ण ज्ञान के साम्राज्य पद अर्थात् सार्वभौम सम्राट चक्रवर्ती का पद प्राप्त कर लिया था।

उपर्युक्त उल्लेखों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्ति की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी और जिस प्रकार हेमचन्द्राचार्य की उत्तरी भारत में और मुख्यतः गुजरात व राजस्थान में कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में प्रसिद्धि हो गई थी, ठीक उसी प्रकार भारत के सुदूरस्थ प्रदेशों में विशेषतः सम्पूर्ण दक्षिणापथ में पाल्यकीर्ति की "सकल ज्ञान साम्राज्य सम्राट" के रूप में और सम्पूर्ण भारत में महान् वैयाकरण के रूप में प्रसिद्धि हो गई थी।

पाल्यकीर्ति जैसे उच्चकोटि के विद्वान् ने और भी अनेक ग्रन्थों की रचनायें की होंगी, किन्तु यापनीय परम्परा के विलुप्त होने के अनन्तर यापनीय परम्परा के विपुल साहित्य के साथ संभव है पाल्यकीर्ति द्वारा रचित कतिपय ग्रन्थ भी दूसरी परम्पराओं द्वारा अपने साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिये गये हों अथवा सार-सम्हाल, देख-रेख करने वाले यापनीय परम्परा के साधु-साध्वियों तथा उपासक-उपासिकाओं के अभाव में नष्ट हो गये हों। इस प्रकार की आशंका निराधार भी नहीं है। इन्हीं विद्वान् पाल्यकीर्ति की मान्यता का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने काव्य मीमांसा में पाल्यकीर्ति के किसी ग्रन्थ का उद्धरण दिया है, जो इस प्रकार है :—

"यथा तथा वास्तु-वस्तुनो रूपं वक्त प्रकृतिविशेषायत्तातु रसवत्ता। तथा चायमर्थरिक्तः स्तौति, ते विरक्तो विनिन्दति, मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते इति पाल्यकीर्तिः।"

इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि पाल्यकीर्ति का कोई एक ऐसा ग्रन्थ पूर्वकाल में विद्यमान था जिससे कि राजशेखर ने इस गद्य को अपने ग्रन्थ में उद्धृत

---

[1] विशेष विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का यापनीय प्रकरण (पृष्ठ १६०-२५१) देखें।

किया है। उद्धरण तो काव्य मीमांसा में होने से सुरक्षित रह गया किन्तु पाल्यकीर्ति का वह ग्रन्थ विलुप्त हो गया और आज उसका नाम तक किसी को ज्ञात नहीं है।

पाल्य कीर्ति-शाकटायन का समय

पाल्यकीर्ति के सत्ताकाल को ज्ञात करने के अनेक साधन विद्यमान हैं पर आवश्यकता है उन साधनों की खोज के लिये श्रम करने की।

पाल्यकीर्ति ने अपने शब्दानुशासन के सूत्र "ख्याते दृष्ये" की टीका करते हुए उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है :—

"अदहदमोघवर्ष आरातीन्"—अर्थात् अमोघवर्ष ने अपने शत्रुओं को जला दिया।[1] पाल्यकीर्ति के इस उल्लेख में अमोघवर्ष द्वारा अपने शत्रुओं के संहार की पुष्टि करने वाला एक शिलालेख शक सं. ८३२ का उपलब्ध हुआ है, जिसमें उस घटना का उल्लेख करते हुए इस वाक्य का प्रयोग किया गया है—"भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह।" अर्थात्—अपने राज्य के लिये कण्टक तुल्य (कांटों के समान) विद्रोही राजाओं को घेर कर राष्ट्रकूट राजराजेश्वर अमोघवर्ष ने उन्हें जला दिया। इस घटना की पुष्टि करने वाला कोन्नूर जिला धारवाड़ का शक सं. ७८२ का तलेयूर ग्राम के दान का वह शिलालेख है—जिसमें यह उल्लेख है कि विद्रोही राजाओं द्वारा सशस्त्र विद्रोह किये जाने की बात सुनकर अमोघवर्ष ने अपने महासामन्त बंकेय को आदेश दे उन पर आक्रमण कर उन्हें पूर्णतः नष्ट कर दिया।[2]

यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्ष का शासन काल शक सं. ७३६ से शक सं. ७९७ तक रहा और अमोघवर्ष की आज्ञा से उसके सामन्त बंकेय ने शक सं. ७७२ में अनेक विद्रोहियों को मौत के घाट उतार कर और अनेकों विद्रोहियों को बन्दी बनाकर इस विद्रोह को पूर्णतः कुचल डाला।[3] यह अमोघवर्ष के शासन काल का तीसरा और अन्तिम विद्रोह था, इसके पश्चात् उसके शासनकाल में कभी विद्रोह नहीं हुआ। अनुमान किया जाता है कि यह शिलालेख शत्रुदमन की घटना के १० वर्ष पश्चात् लिखा गया हो, जैसा कि प्रायः होता आया है।

कर्नाटक यापनीयों का सुदृढ गढ़ अथवा केन्द्र स्थल था। पाल्यकीर्ति अपने 'शब्दानुशासन' पर उस समय स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति की रचना में संलग्न होंगे और बहुत सम्भव है कि मान्यखेट में ही हों। जब उन्होंने सुना कि अमोघवर्ष ने अपने

---

[1] एपिग्राफिका इंडिका, वोल्यूम-१, पेज ५४

[2] जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या १२७, पृष्ठ १४१ से १५०

[3] प्रस्तुत ग्रंथ (जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग-३) पृष्ठ २९२

शत्रुओं को जलाकर ध्वस्त कर दिया है तो 'ख्याते दृश्ये' अर्थात् निकट भूत में घटित हुई प्रसिद्ध बड़ी घटना के सम्बन्ध में अपनी वृत्ति में उदाहरण स्वरूप "अदहत्" का प्रयोग कर दिया। पाल्य कीर्ति के समय के सुनिश्चित रूपेण निर्धारण के लिये यही एक प्रमाण पर्याप्त है कि पाल्यकीर्ति ने शक सं. ७७२ में (अपने काल के ३६वें वर्ष में) अपने 'शब्दानुशासन' पर स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति की रचना शक सं ७७२-७७३ में अथवा दो चार वर्ष पश्चात् की। उपरिवर्णित शक सं० ८३२ का शिलालेख अमोघवर्ष की मृत्यु के ३५ वर्ष पश्चात् का और दूसरा शक सं ७८२ का कोन्नूर का शिलालेख सं. १२७ है। अमोघवर्ष की मृत्यु से १५ वर्ष पूर्व का। ये दोनों अभिलेख अमोघवर्ष द्वारा शत्रुओं के संहार की घटना की पुष्टि के लिये सक्षम प्रमाण हैं। पर पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति की रचना शक सं. ७७२ में की। इसकी पुष्टि के लिये तो अमोघवर्ष द्वारा शक सं. ७७२ में अपने शत्रुओं के ध्वस्त किये जाने की घटना का समय ही सक्षम है।

जैन ग्रन्थकार महाराजाधिराज अमोघवर्ष नृपतुंग

वीर निर्वाण सम्वत् १३७५ के आसपास राष्ट्रकूटवंशीय महाराजाधिराज अमोघवर्ष (प्रथम) अपरनाम नृपतुंग ने 'कविराज मार्गालंकार' की और १४०० के आसपास 'रत्नमालिका' की रचना की। 'रत्नमालिका' की प्रशस्ति में स्वयं नृपतुंग-अमोघवर्ष ने लिखा है :—

विवेकात्यक्त राज्येन, राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण, सुधियां सदलंकृति ॥

इस प्रशस्ति श्लोक से अनुमान किया जाता है कि महाराजा अमोघवर्ष ने ई. सन् ८७५ (वीर निर्वाण सम्वत् १४०२) में राज्य का त्याग करके जैन मुनियों के सत्संग में रहकर आत्म साधना करते समय 'रत्नमालिका' नामक इस ग्रन्थ की रचना की।

महाराजा अमोघवर्ष अपने समय का महान् योद्धा होने के साथ-साथ जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठा रखने वाला विद्वान ग्रन्थ निर्माता भी था। इस राजा ने वस्तुत: अनेक संग्रामों में विजय प्राप्त करते समय शस्त्रास्त्रों के प्रहारों से शत्रुओं के संहार के साथ-साथ स्वयं के शरीर के अंग प्रत्यंग को शत्रुओं द्वारा किये गये प्रहारों के घावों से मंडित कर और राज सिंहासन का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर अपना अन्तिम समय जैनाचार्यों के पास अध्यात्म साधना में बिताते हुए 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' इस आर्षोक्ति को अक्षरक्ष: सत्य सिद्ध कर बताया।

शीलांकाचार्य अपर नाम शीलाचार्य तथा विमल मति

वीर निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी में प्राकृत भाषा के उच्च कोटि के ग्रन्थ 'चउवन्न महापुरिस चरियं' के रचनाकार आचार्य शीलांक, अपर नाम विमलमति तथा शीलाचार्य प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान् एवं महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए हैं। शीलांकाचार्य नाम के तीन विद्वान् आचार्य भिन्न-भिन्न समय में हुए हैं। उनमें एक शीलांकाचार्य का महान् कोशकार के रूप में जैन वांग्मय में उल्लेख उपलब्ध होता है, पर वह कोश वर्तमान काल में कहीं उपलब्ध नहीं है। दूसरे शीलांकाचार्य वे हैं जिन्होंने वीर नि० सं० १४०३ में आचारांग-टीका की रचना की, इनका यथाशक्य पूरा परिचय दिया जा चुका है। इन्हीं शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका का और जीवसमासवृत्ति की रचनाएं कीं। इसी नाम के तीसरे विद्वान् आचार्य हैं शीलांक—शीलाचार्य अथवा विमलमति आचार्य। इन्होंने वि० सं० ६२५ में "चउवन्नमहापुरिसचरियं" नामक उच्च कोटि के चरित्रग्रन्थ की प्राकृत भाषा में रचना की। आपका जीवनवृत्त जैन, वांग्मय के विभिन्न ग्रन्थों में बिखरा हुआ उपलब्ध होता है। उन सब ग्रन्थों के आधार पर आपके जीवन की घटनाओं को क्रमबद्ध रूप से एक जगह लिखा जाय तो आपका जीवनपरिचय निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है :—

> प्रभावकचरित्र के अनुसार श्री सर्वदेवसूरि ने कोरंटक नगर के चैत्यवासी उपाध्याय देवचन्द्र को प्रतिबोध देकर वनवासी परम्परा में दीक्षित किया। देवचन्द्र ने वनवासी परम्परा में दीक्षित होने के पश्चात् घोर तपश्चरण के साथ-साथ आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर श्री सर्वदेवसूरि ने वाराणसी में देवचन्द्र मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। जिस समय देवसूरि को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया, उस समय वे पर्याप्तरूपेण वयो-वृद्ध हो चुके थे, इस कारण वे वृद्धदेवसूरि के नाम से लोक में विख्यात हुए। वृहत् पौषधशालिक पट्टावली में उल्लेख है कि इन वृद्ध देवसूरि को वनवासी परम्परा को पुनरुज्जीवित करने वाले आचार्य सामन्तभद्र के उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद प्रदान किया गया था। वह उल्लेख इस प्रकार है:—
>
> "सिरि वज्जसेणसूरि, कुलहेऊ चंदसूरितप्पट्टे।
> सामन्तभद्दसुगुरु, वणवास रईविरायेण ॥६॥
> सिरिवुड्ढदेवसूरि, पज्जोयण माणदेव मुणिदेवा....... ॥७॥[1]

---

[1] श्री देव विमलगणि द्वारा रचित "श्री मन्महावीर पट्टधर परम्परा" के श्लोक सं० ६४–६८ में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

वृद्धदेवसूरि के पश्चात् उनके पट्टधर प्रद्योतनसूरि हुए। प्रद्योतनसूरि के उपदेशों से प्रभावित एवं प्रबुद्ध होकर नाडोल निवासी श्रेष्ठि जिनदत्त की पतिपरायरण धर्मपत्नी धारिरणी की कुक्षि से उत्पन्न मानदेव ने श्रमरणधर्म की दीक्षा ग्रहरण की। उद्योतनसूरि के पास निष्ठापूर्वक अध्ययन कर कुशाग्रबुद्धि मानदेव ने अनेक विद्याओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं जैन सिद्धान्तों में निष्णातता प्राप्त की। अन्त में सभी भांति सुयोग्य समझ कर उद्योतनसूरि ने अपने शिष्य मानदेव को आचार्य पद प्रदान किया। आचार्य पद प्रदान करते समय मानदेव के परम प्रभावक भव्य व्यक्तित्व एवं सम्मोहक सौन्दर्य को देख कर प्रद्योतन सूरि को मन ही मन यह शंका उत्पन्न हुई कि इस प्रकार के सम्मोहक व्यक्तित्व का धनी यह मानदेव आचार्य पद की सत्ता प्राप्त हो जाने के बाद संयम—मार्ग में किस प्रकार स्थिर रह सकेगा? कहीं यह आगे चलकर संयम मार्ग से च्युत तो नहीं हो जायेगा?

इंगितज्ञ मानदेव सूरि ने अपने आराध्य गुरुदेव के मनोभावों को समझ लिया और तत्क्षरण उन्होंने हाथ जोड़कर अपने गुरु से निवेदन किया कि भगवन्! मैं जीवन भर के लिये घृत दधि दूध तैल आदि सभी प्रकार की विकृतियों का त्याग करता हूं।[1]

आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् घोर तपश्चरण करते हुए श्री मानदेव सूरि ने जिन शासन की महती प्रभावना की। उनकी तपस्या के प्रभाव से अनेक प्रकार की लब्धियां एवं सिद्धियां स्वतः ही आकर उनके अधीन हो गईं।

प्रभावक चरित्र और अनेक अन्य ग्रन्थों तथा पट्टावलियों में इस प्रकार का उल्लेख है कि तपोधन मानदेव सूरि की सेवा में जया और विजया नामकी दो देवियां सदा उपस्थित रहती थीं।[2]

उधर समृद्ध श्रावकों और चैत्यों से सुशोभित तक्षशिला नगरी में भयंकर महामारी का प्रकोप प्रारम्भ हो गया। चतुर्विध संघ ने महामारी की शान्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्नादि किये किन्तु महामारी का प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। चतुर्विध संघ ने और कोई उपाय न देखकर वीरदत्त नाम के एक श्रावक को

---

[1] पदप्रदानावसरे समीक्ष्य साक्षात्तदंसोपरिवारिणपद्मे।
राज्यादिव क्षोणिपुरन्दरस्य भ्रन्शोऽस्य भावो नियमस्थितेर्हा ॥७२॥
इत्थं गुरुं स्वं विमनायमानमालोक्य लोकेश्वरगीतकीर्त्तिः।
तत्याज यः षड्विकृतीर्व्रतींद्रः षडांतरारीनिव जेतुकामः ॥७३॥
(श्रीमन्महावीर पट्ट परम्परा)

[2] प्रभावाद् ब्रह्मरणस्तस्य मानदेवप्रभोस्तदा।
श्री जयाविजयादेव्यौ नित्यं प्ररणमतः क्रमौ ॥२५॥
(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ११८)

मानदेव सूरि की सेवा में नाडोल इस विज्ञप्ति के साथ प्रेषित किया कि वे चतुर्विध संघ की कृपा कर महामारी के कराल गाल से रक्षा करें।

जिस वक्त वीरदत्त श्रावक नाडोल मानदेव सूरि के उपाश्रय में पहुंचा उस समय जया और विजया देवी उनके मुखारविन्द पर दृष्टि लगाये उनकी पर्युपासना कर रही थीं।

यह देखकर श्रावक वीरदत्त को इस प्रकार की शंका हुई कि एकान्त में स्त्रियों से निषेवित इन आचार्य में महामारी को दूर करने की शक्ति कैसे हो सकती है। जया और विजया ने उसके मनोगत भावों को जानकर उसकी भर्त्सना की और कहा :— "जहां इस प्रकार के अधम श्रावक नामधारी रहते हैं वहां महामारी से भी अति भयंकर अन्यान्य प्रकोप हो सकते हैं।"

वीरदत्त श्रावक ने अपने दुर्विचारों के लिये पश्चात्ताप करते हुए देवियों से क्षमायाचना की। करुणासिन्धु मानदेव सूरि ने श्री शान्तिस्तव नामक मन्त्र लिखवा-कर दिया और संघ को कहलवाया कि इसका निरन्तर जाप किया जाय।

वीरदत्त श्रावक से श्रीमानदेव सूरि द्वारा प्रेषित शान्तिस्तव के सामूहिक जाप से महामारी का प्रकोप तत्काल शान्त हो गया।

कालान्तर में यवनों द्वारा तक्षशिला पर आक्रमण किया गया। यवनों ने तक्षशिला निवासियों की सम्पत्ति एवं प्राणों आदि को भयंकर क्षति पहुंचाते हुए तक्षशिला को ध्वस्त कर दिया, और इस प्रकार जया विजया का कथन सत्य हुआ।

निर्वृ ति कुल के इन्हीं महान् प्रभावक मानदेव सूरि के शिष्य थे शीलांका-चार्य, शीलाचार्य अथवा विमल सूरि। इन विमलमति आचार्य शीलांक ने विक्रम सम्वत् ६२५ में 'चउवन महापुरुष चरियं' नामक ग्रन्थ की रचना की, जोकि प्राकृत साहित्य का एक अनमोल ग्रन्थरत्न है।

इससे अधिक शीलांकाचार्य का परिचय उपलब्ध नहीं होता।

शीलांकाचार्य (अपरनाम तत्वाचार्य)

वीर निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की बीच की अवधि के आचार्य शीलांक का नाम देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल के आगममर्मज्ञ आचार्यों में शीर्ष स्थान पर आता है। वे अपने, तत्वाचार्य—इस अपर नाम से भी विख्यात रहे हैं। प्रभावक चरित्रकार ने आपका एक और अपर नाम 'कोट्याचार्य' भी दिया है। आप संस्कृत और प्राकृत–दोनों ही भाषाओं के बड़े ही उच्चकोटि के विशिष्ट विद्वान् थे। अपने समय में शीलांकाचार्य आगमों के साधिकारिक प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। गूढ़ार्थों एवं अनेकार्थों से ओतप्रोत दुरूह आगमों को साधु-साध्वी समूह एवं मुमुक्षु साधक उन आगम-पाठों को सुगमतापूर्वक समझ कर हृदयंगम कर सकें, इस परम परोपकार की भावना से अनुप्राणित हो आचार्य शीलांक ने 'स्वान्त: सुखाय समष्टि-हिताय च'–प्रभाचन्द्रसूरि के उल्लेखानुसार आचारांगादि ग्यारहों अंगों पर टीकाओं की रचना की। शीलांकाचार्य द्वारा रचित उन ग्यारह अंगशास्त्रों की टीकाओं में से वर्तमान काल में केवल आचारांग-टीका और सूत्रकृतांग-टीका—ये दो टीकाएं ही उपलब्ध होती हैं। शेष ६ आगमों पर आप द्वारा निर्मित टीकाएं वर्तमानकाल में अनुपलब्ध हैं, इस बात का प्रभावक चरित्र में स्पष्ट उल्लेख है।[1] अभयदेवसूरि ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र' की स्वयं द्वारा निर्मित टीका में, अपने से पूर्व के टीकाकार का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है,[2] इससे भी यही फलित होता है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका की रचना करते समय अभयदेवसूरि के समक्ष शीलांकाचार्य द्वारा निर्मित व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका थी। अभयदेवसूरि के अतिरिक्त अन्य किसी ने व्याख्या प्रज्ञप्ति पर उनसे पूर्व टीका की रचना की हो, इस प्रकार का कोई उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि आचार्य शीलांक ने आचार्य प्रभाचन्द्र के कथनानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि सभी अंगों पर टीकाएं लिखी थीं।

---

[1] श्री शीलांक: पुरा कोट्याचार्यनाम्ना प्रसिद्धिभू:।
वृत्तिमेकादशांग्या: स, विदधे धौतकल्मष: ॥१०४॥
अंगद्वयं विनान्येषां, कालादुच्छेदमाययु:।
वृत्तयस्तत्र संघानुग्रहायाद्य कुरूद्यमम् ॥१०५॥
(प्रभावक चरित्र, (१६ अभयदेवसूरिचरितम्) पृष्ठ १६४)

[2] अयं च प्राग्व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यात: कुतोऽपि कारणादिति।
(व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका रतलाम संस्करण, पृष्ठ १०)

ब्रह्मद्वीपिक शाखा के आचार्य गन्धहस्ति ने ग्यारहों अंगों पर विवरण लिखे थे, इस प्रकार का उल्लेख 'हिमवंत स्थविरावली' में उपलब्ध होता है। वह उल्लेख इस प्रकार है :—

आर्य रेवतीनक्षत्राणां आर्य सिंहाख्या शिष्या अभवन्। ते च ब्रह्मद्वीपिकशाखोपलक्षिता अभवन्। तेषामार्य सिंहानां स्थविराणां मधुमित्रार्य स्कंदिलाचार्य नामानौ द्वौ शिष्यावभूताम्। आर्य मधुमित्राणां शिष्या आर्य गन्धहस्तिनोऽतीव विद्वांसः प्रभावकाश्चाभवन्। तैश्च पूर्वस्थविरोक्तं सोमास्वातिवाचकरचित तत्वार्थोऽपरि अशीतिसहस्र श्लोक प्रमाणं महाभाष्यं रचितं। एकादशांगोपरि चार्य स्कंदिल स्थविराणामुपरोधतस्तै विवरणानि रचितानि। यदुक्तं तद्रचिताचारांग विवरणान्ते यथा :—

थेरस्स महुमित्तस्स, सेहेहिं तिपुव्वनाणजुत्तेहिं।
मुणिगणविवंदिएहिं, ववगयरागाइ दोसेहिं ॥ १ ॥
बंभदीवियसाहामउड़ेहिं, गंधहत्थि विबुधेहिं।
विवरणमेयं रइयं, दो सय वासेसु विक्कमओ ॥ २ ॥

....स्वल्पमति भिक्षूणामुपकारार्थं चार्यस्कंदिल स्थविरोत्तंसै प्रेरिता गन्धहस्तिन एकादशांगानां विवरणानि भद्रबाहुस्वामिविहितनिर्युक्त्यनुसारेण चक्रुः। ततः प्रभृति च प्रवचनमेतत्सकलमपि माथुरीवाचनाया भारते प्रसिद्धं बभूव। मथुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेणौशवंशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्सकलमपि प्रवचनं गंधहस्तिकृतविवरणोपेतं तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्यः स्वाध्यायार्थं समर्पितम्।[1]

अर्थात् ब्रह्मद्वीपिका शाखा के आद्य आचार्य सिंह के मधुमित्र और आर्य स्कन्दिलाचार्य नामक दो शिष्य थे। आचार्य मधुमित्र के शिष्य आर्य गन्धहस्ति महान् प्रभावक और विद्वान् थे। उन्होंने उमास्वाति द्वारा रचित तत्वार्थसूत्र पर ८० हजार श्लोक प्रमाण महाभाष्य की रचना की। आर्य स्कन्दिलाचार्य के अनुरोध पर आर्य गन्धहस्ति ने ग्यारह अंगों पर विवरणों की रचना की। जैसा कि आर्य गन्धहस्ति द्वारा निर्मित आचारांग सूत्र के विवरणों के अन्त में उल्लेख है :—

"स्थविर मधुमित्र के शिष्य विशिष्ट विद्वान् गन्धहस्ति ने, जो कि तीन पूर्वों के ज्ञान के धारक, मुनिगणों द्वारा वन्दित, रागद्वेष विहीन और

[1] स्व. पं. श्री कल्याणविजयजी महाराज की कृपा से उनके भण्डार की हस्तलिखित प्रति से लिखित हिमवन्त स्थविरावली। आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर में उपलब्ध, पृष्ठ ६१।

ब्रह्मद्वीपिक शाखा के मुकुट तुल्य थे, विक्रम सं. २०० में इस विवरण की रचना की।

आचारांग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन पर विवरण लिखते समय शीलांकाचार्य ने पूर्वाचार्य श्री गन्धहस्ति द्वारा इस अध्ययन पर लिखे गये विवरण को अति गहन बताते हुए उसमें से सार ग्रहण कर प्रथम अध्ययन की टीका करने का निम्नलिखित रूप में संकल्प किया है :—

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम् ।
तस्मात्सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमंजसा सारम् ।।३।।

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर विवरण लिख चुकने के अनन्तर भी शीलांक ने लिखा है—"गन्धहस्ति द्वारा आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन पर पूर्व में जो विवरण लिखा गया था, वह अतीव गहन था, उस पर मेरे द्वारा विवरण का लेखन सम्पन्न कर दिया गया है। अब मैं आचारांग के शेष अध्ययनों पर विवरण लिखता हूं।"

इसी प्रकार आचारांग-प्रथम श्रुतस्कन्ध के ६ठे अध्ययन पर विवरण लिख चुकने के अनन्तर आचार्य शीलांक ने आठवें अध्ययन पर विवरण लिखा, प्रारम्भ करने से पूर्व लिखा है—"आचारांग"—प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन विलुप्त हो चुका है अतः मैं अब आठवें अध्ययन का विवेचन प्रारम्भ कर रहा हूं।

आचार्य शीलांक द्वारा आचारांग टीका में किये गये इन दो उल्लेखों से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है। एक तो इस तथ्य पर कि गन्धहस्ति द्वारा शस्त्रपरिज्ञा नामक (आचारांग) प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन पर गन्धहस्ति द्वारा एक अति गहन और विशद विवरण लिखा गया था। दूसरे इस तथ्य पर शक सं० ७९८ तदनुसार विक्रम सं० ९३३ एवं वीर निर्वाण सं० १४०३ में जब कि आचार्य शीलांक ने आचारांग पर विवरणात्मक टीका की रचना की, उससे पूर्व ही आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन व्यवच्छिन्न अर्थात् विलुप्त हो गया था।

आचारांग और सूत्रकृतांग— इन दोनों सूत्रों पर शीलांकाचार्य ने जो विवरणात्मक टीकाएं लिखी हैं, उनमें टीकाकार ने केवल शब्दार्थ तक ही सीमित न रह कर मूल सूत्र, निर्युक्ति एवं शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर गन्धहस्ति द्वारा लिखे गये विवरण—इन सबको विस्तृत व्याख्या की परिधि में लेते हुए प्रत्येक विषय पर तलस्पर्शी विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। शीलांक द्वारा रचित विवरण की वर्णन

शैली बड़ी ही सुन्दर होने के कारण सहज सुबोध्य है। इस प्रकार "तस्मात्सुख-बोधार्थं"—अपने इस प्रारम्भ में ही किये गये संकल्प का सुचारुरूपेण अन्त तक निर्वहन किया है।

आचार्य शीलांक ने आचारांग और सूत्रकृतांग इन दोनों सूत्रों पर किस समय, किस स्थान पर, किसकी सहायता से टीकाओं की रचना की और वे किस परम्परा के आचार्य थे, स्वयं उन्होंने इन सब बातों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम् ।
संवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्ल पंचम्याम् ।।१।।

शीलाचार्येण कृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा ।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं, मात्सर्यविनाकृतैरार्यैं ।।२।।

इस प्रकार का उल्लेख देवचन्द लालभाई पु० फंड से प्रकाशित शीलांकाचार्य द्वारा रचित टीका सहित आचारांग सूत्र (पत्र ३१९) में है।

राय धनपतसिंह द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित आचारांग सूत्र सटीक के अन्त में शीलांकाचार्य द्वारा दी गई पुष्पिका में निम्नलिखित श्लोक दिये हुए हैं :—

आचार–टीका–करणे यदाप्तं, पुण्यं मया मोक्षगमैकहेतुः ।
तेनापनीया शुभराशिमुच्चैराचारमार्गप्रवणोऽस्तु लोकः ।।१।।
शकनृपकालातीतसंवत्सर शतेषु सप्तसु चाष्टानवत्यधिकेषु ।
वैशाखशुद्ध पंचम्यां (२) आचार टीका कृतेति ।।

देवचन्द लालभाई पुस्तक फण्ड से प्रकाशित आचारांग टीका की पुष्पिका के अन्त में "शकनृप कालातीत ...."—यह श्लोक नहीं है।

शीलांकाचार्यकृत टीका सहित आचारांग की जो प्रतियां वर्तमान में उपलब्ध होती हैं, उनमें शीलांकाचार्य द्वारा टीका की रचना का भिन्न-भिन्न समय उल्लिखित है। किसी में शक सं० ७७२, किसी में गुप्त सं० ७७२, किसी में शक सं० ७९८ और किसी में शक सं० ७८४ इस टीका की रचना का समय लिखा हुआ है। जहां तक विभिन्न शक संवतों का उल्लेख है, उससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। केवल १२ और २६ वर्ष आगे-पीछे का लेखनकाल का अन्तर रहता है। किन्तु यदि गुप्त सं० ७७२ को इस टीका की रचना का समय मान लिया जाय तो उपरिलिखित से क्रमशः वि० सं० ९०७, १०९१, ९३३ और वि० सं० ९१९ और तीन भिन्न-भिन्न शक संवतों के उल्लेखानुसार टीका के रचनाकाल में १५८, १७२, १८४ वर्षों तक का अन्तर आ जाता है। विक्रम सं० १३५ में शक संवत्सर का

प्रचलन हुआ और वि. सं. ३१९ में गुप्त संवत्सर चला। तदनुसार आचारांग सूत्र की विभिन्न प्रतियों में जो उपरिलिखित ४ प्रकार का समय लिखा गया है, उनसे क्रमशः वि. सं. ९०७, १०९१, ९३३ और ९१९ यों चार प्रकार का एक-दूसरे से भिन्न लेखनकाल प्रकट होता है। इस प्रकार १५८ से लेकर १८४ वर्ष तक का लेखनकाल में अन्तर बताने वाले उल्लेखों के कारण ही शीलांकाचार्य जैसे महान् उपकारी विद्वान् आचार्य का सत्ताकाल अभी तक विवादास्पद ही बना हुआ है।

इस विवादास्पद प्रश्न के हल के लिये हमें प्रभावक चरित्र के इसी प्रकरण के प्रारम्भ में उद्धृत उन दो श्लोकों पर विचार करना होगा जिनमें शासनाधिष्ठात्री देवी ने अभयदेवसूरि से अंग शास्त्रों पर वृत्तियों की रचना करने की प्रार्थना करते हुए निवेदन किया था। प्रभावक चरित्रकार के उल्लेखानुसार देवी ने अभयदेव सूरि से कहा था—"प्राचीन काल में कोट्याचार्य इस अपर नाम से प्रसिद्ध शीलांकाचार्य ने ग्यारहों अंगों की वृत्तियों की रचना की थी। काल के प्रभाव से अर्थात् पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने के कारण उन ग्यारह अंगों की वृत्तियों में से दो अंगों की वृत्तियों (आचारांग और सूत्रकृतांग) को छोड़कर शेष सभी अंगों की वृत्तियों का व्यवच्छेद हो गया है। इसलिये अब आप चतुर्विध तीर्थ पर कृपा करके ९ अंगों पर वृत्तियों की रचना के लिये उद्यम कीजिये।"

प्रभावक चरित्र के इस उल्लेख से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य शीलांक द्वारा रचित ९ अंगों की वृत्तियां उनकी रचना के अनन्तर पर्याप्त समय बीत जाने पर नष्ट हो गईं, विलुप्त हो गईं।

नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने ज्ञाताधर्मकथांग की वृत्ति की रचना विक्रम सं. ११२० और व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग की वृत्ति की रचना विक्रम सं. ११२८ में सम्पूर्ण की, यह इन दोनों अंगों की वृत्तियों के अन्त में स्वयं श्री अभयदेव सूरि द्वारा निर्मित पुष्पिकाओं से निर्विवादरूपेण सिद्ध है।[1]

इस प्रकार की स्थिति में शीलांकाचार्य द्वारा निर्मित आचारांग वृत्ति का रचनाकाल गुप्त संवत् ७७२ तदनुसार विक्रम संवत् १०९१ मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि शीलांकाचार्य द्वारा आचारांग सूत्र पर विवरण अथवा

---

[1] एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिल्लपाटनगरे विजयदशम्यां च सिद्धेयम् ॥ १२ ॥

—ज्ञाताधर्मकथांग वृत्ति

अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके।
अणहिल्लपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ ॥ १५ ॥

—व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति

टीका की रचना की जाने के केवल २६ वर्ष पश्चात् ही वि. सं. ११२० में स्थानांग और समवायांग जैसे विशाल अंगों के साथ-साथ ज्ञाताधर्मकथांग पर भी (इस प्रकार के तीन अंगों पर) वृत्तियों का निर्माणकार्य सम्पन्न कर दिया।

इन तीन अंगों पर वृत्तियों की रचना सम्पन्न करने में उन्हें कम से कम चार-पांच वर्ष तो अवश्य लगे होंगे और आगमों पर वृत्तियां, टीकाएं लिखने योग्य न केवल जैनागमों, जैन वांग्मय ही अपितु तत्कालीन प्रमुख दर्शनों के धर्म-शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने में कम से कम पन्द्रह-वीस वर्ष का समय भी उन्हें लगा होगा तो प्रत्येक विचारक को यह मानने में कोई बाधा नहीं होगी कि शीलांकाचार्य के जीवनकाल में ही अभयदेवसूरि जैनदर्शन और अन्यान्य दर्शनों के अध्ययन में संलग्न थे।

इस प्रकार की स्थिति में अभयदेव को लक्ष्य कर शासन देवी यह नहीं कहती—

वृत्तिमेकादशांग्याः स, विदधे धौतकल्मशः ।। १०४ ।।
'अंगद्वयं विनान्येषां, कालादुच्छेदमाययुः ।। १०५ ।।

शीलांकाचार्य ने एकादशांगी पर टीका-विवरणों की रचना की और उन ११ टीकाओं में से ६ टीकाएं उनके जीवन काल में ही नष्ट हो गई, अथवा २६ वर्ष पश्चात् ही नष्ट हो गई, विलुप्त हो गई, यह मानने के लिये कोई भी विज्ञ उद्यत नहीं होगा। साधु-साध्वियों के लिये–साधक मात्र के लिये परमोपयोगी आगम–ज्ञान की अनमोल कुंजियों को चतुर्विध धर्म संघ ने सुनिश्चित रूपेण संजोकर सुरक्षित रखने के उपाय किये होंगे। इस प्रकार की स्थिति से शीलांक द्वारा रचित स्थानांग, समवायांग आदि शेष ६ अंगों की टीकाओं को, प्रकृतिजन्य वा मानवजन्य विप्लवों आदि के परिणामस्वरूप विलुप्त होने में कम से कम सौ, डेढ़ सौ वर्ष का समय तो अवश्य ही लगा होगा। इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर शीलांकाचार्य द्वारा निर्मित आचारांग वृत्ति की किसी प्रति में शक सं. ७७२, दूसरी प्रति में शक सं. ७८४ और किन्हीं प्रतियों में शक सं. ७६८ दिये हुए हैं, उनमें से किसी भी एक को इसका रचनाकाल मान लेने में किसी भी प्रकार की बाधा व आपत्ति के लिये कोई अवकाश नहीं। ऐसा मान लेने पर आचारांग टीका का रचनाकाल वि. सं..६०७, अथवा ६१७ व अधिक से अधिक ६३३, इन तीनों में से एक सिद्ध होता है। शक सं. ७६८ (अर्थात् वि. सं. ६३३) का उल्लेख पुष्पिका में है, ऐसी स्थिति में विक्रम सं. ६३३ को ही आचारांग टीका का रचनाकाल मान लेना सर्वथा समुचित होगा। इससे शीलांकाचार्य और अभयदेवसूरि की उपर्निर्दिष्ट रचनाओं के काल में १८७ वर्ष का अन्तराल शीलांकाचार्य द्वारा रचित शेष ६ अंगों की टीकाओं के विलुप्त होने में काल की दृष्टि से युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इन

सब तथ्यों को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर शीलांकाचार्य का समय विक्रम की ६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १०वीं शती के पूर्वार्द्ध का प्रमाणित होता है।

शीलाचार्य द्वारा आचारांग की टीका के निर्माण काल के इस प्रकार सुनिश्चित हो जाने पर प्रश्न यह रहता है कि किस स्थान पर उन्होंने इस टीका का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में ऊपर उल्लिखित श्लोक में बता दिया गया है कि गम्भूता नामक नगरी में रहते हुए इस टीका का निर्माण किया। पुष्पिका में दिये हुए इस वाक्य से कि "तदात्मकस्य ब्रह्मचर्याख्यश्रु तस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीन श्रीशीलाचार्येण तत्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति"- उन्होंने यह अभिव्यक्त किया है कि वे निर्वृति कुल के आचार्य थे और उन्होंने वाहरि साधु की सहायता से आचारांग की टीका की रचना की।

सूत्रकृतांग—टीका की पुष्पिका में भी उन्होंने इसी बात का उल्लेख किया है कि वाहरि साधु की सहायता से उन्होंने सूत्रकृतांग की टीका का निर्माण किया।

इन दो आगमों की सारगर्भित सुबोध्य, सुविस्तृत और अतीव सुन्दर टीकाओं की रचना कर शीलांकाचार्य ने जैन जगत् पर और अध्ययनशील तत्व जिज्ञासुओं पर महान् उपकार किया है। इन दो अनमोल कृतियों ने शीलांकाचार्य की कीर्ति और उनके नाम को अमर कर दिया है।

सांडेर गच्छ

सांड़ेरगच्छ वस्तुतः चैत्यवासी परम्परा का एक प्राचीन गच्छ रहा है। इस गच्छ की उत्पत्ति मारवाड़ के सांड़ेराव नामक नगर से हुई प्रतीत होती है। इसी कारण इसे सांड़ेरावगच्छ के नाम से भी अभिहित किया जाता है। सांड़ेराव नगर, शैवों के तीर्थस्थान "नीम्बा रा नाथ" के पास ही वसा हुआ है। सांड़ेरा गच्छ का एक अपर नाम सांड़ेसरा गच्छ भी उपलब्ध होता है। इस गच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, प्रमाणाभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विक्रम की दशवीं शताब्दी के प्रथम चरण में यह गच्छ अपने प्रभावक आचार्यों के प्रभाव से प्रसिद्धि में आया।

सांड़ेरा गच्छ में ईश्वरसूरि के शिष्य यशोभद्रसूरि नामक एक महान् प्रभावक आचार्य विक्रम की दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। उनके सम्बन्ध में अनेक लोक कथाएं जनश्रुतियों के रूप में चली आ रही हैं। उन किंवदन्तियों के अनुसार वे अपने समय के वहुत बड़े मन्त्रवादी थे। उन्होंने अपने विद्यावल एवं मन्त्रवल के प्रभाव से अनेक अजैनों को जैनधर्मावलम्वी वनाया।

त्रिपुटी मुनि दर्शनविजयजी आदि ने अपने ग्रन्थ 'जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १' में यशोभद्रसूरि का आचार्यकाल वि. सं. ९६८ से अनुमानतः वि. सं. १०२९ अथवा १०३९ तक होने का उल्लेख किया है।[1] किन्तु यशोभद्रसूरि के प्रमुख शिष्य वलिभद्रसूरि के जीवनवृत्त की घटनाओं के पर्यवेक्षण से यह प्रकट होता है कि चित्तौड़ के महाराणा अल्लट और वलिभद्रसूरि समकालीन थे। महाराणा अल्लट जिस समय आहड़ में निवास करते थे उसी समय वलिभद्रसूरि ने अल्लट की राठोड़ी महाराणी को असाध्य रोग से वि. सं. ९७३ के आस-पास मुक्त किया। अल्लट का सत्ताकाल वि. सं. ९२२-१०१० इतिहास सिद्ध है। इस प्रकार की स्थिति में यशोभद्रसूरि का आचार्यकाल विक्रम की दशवीं शताब्दी के तृतीय चरण तक ही संगत वैठता है। हमारे इस अनुमान की पुष्टि जूनागढ़ के लूट-खसोट करने वाले राजा खंगार द्वारा जैनसंघ को धनप्राप्ति की दृष्टि से गिरनार की यात्रा करने से रोके जाने और वलिभद्रसूरि द्वारा किये गये चमत्कार प्रदर्शन से वाध्य हो राजा खंगार द्वारा वौद्धों के अधिकार में चले आ रहे गिरनार तीर्थ को श्वेताम्वरों के अधिकार में दिये जाने की घटना से भी होती है। राव खंगार का सत्ताकाल विक्रम की दसवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध इतिहास सम्मत है और अल्लट की महारानी को वलिभद्रसूरि द्वारा रोगमुक्त किये

[1] जैन परम्परा नों इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५६८

जाने की घटना गिरनार तीर्थ के श्वेताम्बरों के अधिकार में आने की घटना से पश्चात् की है। अस्तु।

सांड़ेराव गच्छ में आचार्य यशोभद्रसूरि महान् प्रभावक आचार्य हुए यह अनेक प्रमाणों से पुष्ट है। यशोभद्रसूरि के पश्चात् भी सांड़ेरा गच्छ में शालिसूरि, सुमतिसूरि, शान्तिसूरि आदि १६ जिनशासनप्रभावक एवं यशस्वी आचार्य हुए। इस गच्छ के ९वें आचार्य शान्तिसूरि (द्वितीय) ने विक्रम सं. १२२९ में (कुलगुरुओं के उल्लेखानुसार) कतिपय क्षत्रिय परिवारों को जैनधर्मावलम्बी बनाकर ओसवाल वंश की शीशोदिया शाखा की स्थापना की। गुगलिया, भण्डारी, चतुर, दूधोड़िया, आदि ओसवालों की १२ जातियां सांड़ेरा गच्छ की अनुयायी—उपासक जातियां थीं। शीशोदियों के सम्बन्ध में तो निम्नलिखित दोहा कुलगुरु काल से ही प्रसिद्ध है :

शीशोदिया सांडेसरा, चउदसिया चौहाण।
चैत्यवासिया चावड़ा, कुलगुरु एह प्रमाण ।।

यशोभद्रसूरि के दो प्रमुख शिष्य थे, जिनका नाम था बलिभद्र और शालिभद्र। बलिभद्र ने अपने गुरु की अनुज्ञा के बिना ही अनेक विद्याओं और मन्त्रों की साधना कर ली और उन्होंने अपनी चमत्कारपूर्ण विद्याओं का प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया। इससे रुष्ट होकर यशोभद्रसूरि ने उन्हें अपने से पृथक् कर स्वेच्छानुसार विहार करने का निर्देश दिया। अपने बड़े शिष्य बलिभद्र को अपने से पृथक् करने के पश्चात् यशोभद्रसूरि ने अपने द्वितीय प्रमुख शिष्य शालिभद्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद प्रदान किया। ये शालिभद्रसूरि चौहानवंशीय क्षत्रिय थे।

इस प्रकार सांड़ेर गच्छ के आचार्य यशोभद्रसूरि ने अपने बड़े शिष्य बलिभद्र को आचार्य पद प्रदान न कर उनसे छोटे शिष्य शालिभद्र को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। इस पर बलिभद्र पर्वतश्रेणियों में जा गिरिगुहाओं में तपश्चरण करने लगे। घोर तपश्चरण के फलस्वरूप उन्हें अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हुईं।

बलिभद्रसूरि ने महाराणा अल्लट की महारानी को जिस समय रोगमुक्त किया, उस समय महाराणा ने प्रसन्न हो उन्हें कोई बड़ी जागीर देने का प्रस्ताव किया। बलिभद्र मुनि ने यह कहते हुए जागीर लेना अस्वीकार कर दिया कि हम निष्परिग्रही जैन साधु परिग्रह के नाम पर राज्य अथवा जागीर की बात तो दूर—एक कौड़ी तक भी नहीं रखते। हम लोग तो अहर्निश स्व-पर-कल्याण में निरत रहते हैं। अध्यात्मपथ के पथिकों को चल अथवा अचल, किसी भी प्रकार की सम्पत्ति से क्या लेना देना है।

इसके उपरान्त भी जब महाराणा अल्लट ने कोई न कोई सेवा-कार्य बताने का अत्याग्रहपूर्ण अनुरोध किया तो बलभद्र मुनि ने कहा—"राजन् ! यदि आप कुछ करना ही चाहते हैं तो मेरा एक काम कीजिये। मेरे गुरुदेव ने हमारे सांडेर गच्छ का आचार्य पद मुझे प्रदान न कर मेरे छोटे गुरुभ्राता शालिसूरि को दिया है। आप शालिसूरि से कहकर आचार्य पद का आधा भाग मुझे दिलवा दीजिये।"

"इन तपस्वी मुनि के उपकार के भार से थोड़ा बहुत तो उऋण होऊंगा" यह विचार कर महाराणा अल्लट बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बड़े सम्मान के साथ शालिसूरि को आहड़ में बुला राजकीय ठाट-बाट से उनका नगरप्रवेश महोत्सव किया। एक दिन उपयुक्त अवसर देखकर महाराणा अल्लट ने शालिसूरि से निवेदन किया—"बलिभद्र मुनि बड़े त्यागी, तपस्वी और आपके बड़े गुरुभाई हैं। आप अपना आधा आचार्यपद का अधिकार उन्हें दे दीजिये। इसके उपलक्ष में आप जो भी कहें, वह करने के लिये मैं सर्वथा समुद्यत हूं।"

शालिसूरि ने मधुर मुस्कान भरे स्वर में कहा—राजन् ! जिस प्रकार की राजनीति राजन्यवर्ग में प्रचलित है, उसी प्रकार की धर्मनीति हमारे श्रमणसमाज में भी परम्परागत रूप से प्रचलित है। राजन्यवर्ग प्रजावर्ग के सदस्यों की भांति अपने राज्य का आधा भाग अथवा एक से अधिक भाई हों तो उस अनुपात से राज्य का भाग अपने भाइयों को नहीं देते। राज्यसिंहासन पर केवल उत्तराधिकारी का ही पूर्ण अधिकार रहता है। यही राजनीति परम्परा से चली आ रही है। ठीक इसी प्रकार श्रमण वर्ग में भी आचार्य पद का अधिकारी एक ही शिष्य होता है। गुरु जिस शिष्य को आचार्य पद प्रदान कर देते हैं, वही वस्तुतः आचार्य पद का अधिकारी रहता है। इस आचार्य पद के अधिकार को विभाजित कर गुरु भाइयों में विभक्त नहीं किया जा सकता।"

शालिसूरि के उत्तर से महाराणा अल्लट को पूर्ण सन्तोष हुआ। उसने बलिभद्र मुनि के उपकार से उऋण होने के लिये अनेक गृहस्थों को बलिभद्रमुनि का श्रावक बना कर उन्हें महोत्सव के साथ आचार्य पद पर अधिष्ठित करवाया। आचार्य पद पर आसीन करते समय बलिभद्र का नाम वासुदेवसूरि रखा गया।

हथूंडी गच्छ की स्थापना

आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् आचार्य बलिभद्र विहार क्रम से हथूंडी पहुंचे। वहां हथूंडी के राठोड़ वंशीय राजा विदग्धराज को धर्मोपदेश दे जैनधर्मानुयायी बनाया। विदग्ध राज ने हथूंडी में आदिनाथ भगवान् का एक मन्दिर बनवाकर उसमें आचार्य बलिभद्रसूरि के हाथ से भ. ऋषभदेव की मूर्ति की वि. सं. ९७३ में प्रतिष्ठा करवाई। विदग्धराज ने उसी समय उस मन्दिर की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं व्यवस्था हेतु व्यापार और कृषि की आय के कुछ करों का भाग

प्रदान किया। इसी मन्दिर की व्यवस्था के लिये विदग्धराज के पुत्र राजा मम्मट ने विक्रम सं. ६६६ में इन्हीं वासुदेवसूरि को एक नया दानशासन प्रदान किया। कालान्तर में विदग्ध राज के पौत्र धवलराज ने भी आचार्य शान्तिभद्र के उपदेश से वि. सं. १०५३ में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया और इसकी व्यवस्था के लिए एक कूप की भूमि दान में दी।

इस प्रकार हथूंडी के शासकों के राज्याश्रय से बलिभद्रसूरि का यह नवीन संघ हथूंडी में फला-फूला और दूर-दूर तक इसकी प्रसिद्धि हुई। इसी कारण यह गच्छ हथूंडी गच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। इस गच्छ को हस्तिकुण्डी गच्छ के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, जो कि हथूंडी का ही संस्कृत स्वरूप है।

जैसा कि प्रारम्भ में बताया जा चुका है, सांडेरा गच्छ चैत्यवासी परम्परा का प्राचीन गच्छ था। जब तक चैत्यवासी परम्परा का प्राबल्य रहा, उस परम्परा के कुलगुरु भी अपने-अपने गच्छ के अनुयायियों को, चाहे वे देश के किसी भी भाग में क्यों न रहे हों, बराबर सम्हालते रहे और अपने-अपने गच्छ के गृहस्थों के नये नाम, स्थान आदि का अपनी बहियों में उल्लेख करते रहे। किन्तु जब चैत्यवासी परम्परा उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी होती रही, त्यों-त्यों तपागच्छ परम्परा के कुलगुरुओं को चैत्यवासी परम्परा के कुलगुरु अपनी बहियां सम्हलाते गये और इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के लुप्त होते ही सांड़ेरा गच्छ के अधिकांश श्रावक गण तपागच्छ के श्रावक बन गये।

सांडेरगच्छ की पट्टावली को देखते हुए ऐसा अनुमान किया जाता है कि चैत्यवासी परम्परा का, न्यूनाधिक रूप से अस्तित्व विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम उत्तरार्द्ध तक बना रहा।

हटूंडिया गच्छ भी एक प्रकार से सांडेरा गच्छ की ही शाखा थी अतः इस शाखा के श्रावक भी अन्ततोगत्वा चैत्यवासी परम्परा के लुप्त होने पर तपागच्छ के उपासक बन गये।

मन्त्र-तन्त्र और चमत्कार प्रदर्शन के युग में वस्तुतः सांडेरगच्छ के आचार्य यशोभद्रसूरि एवं बलिभद्र सूरि ने जिनशासन की उल्लेखनीय प्रभावना की।

यशोभद्र सूरि (चैत्यवासी परम्परा)

मरुधर प्रदेश के विक्रम की दशवीं शताब्दी में हुए आचार्यों में चैत्यवासी-परम्परा के यशोभद्र नाम के एक प्रभावक आचार्य हुए हैं। इनका युग चमत्कारों और मन्त्रशक्तियों की प्रतिस्पर्धा का युग था। मरुधरा के नारलाई के आस-पास के क्षेत्र में प्रचलित दन्तकथा के अनुसार नारलाई के गोसांइयों और यतियों (चैत्यवासी सांड़ेरा गच्छ के आचार्य) में मन्त्रशक्ति का प्रदर्शन करने की प्रतिस्पर्धा ठनी। दोनों पक्ष मन्त्रशक्ति के चमत्कार-प्रदर्शन में परस्पर एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करने लगे। दोनों पक्षों ने इसके निर्णय के लिये परीक्षा के रूप में एक शर्त रखी कि लूणी नदी के तट पर बसे खैरथल ग्राम में एक तो आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का मन्दिर है और दूसरा शंकर का मन्दिर। यति और गौसांई इन दोनों पक्षों में से जो पक्ष अपने आराध्य प्रभु के मन्दिर को अपनी मन्त्र शक्ति के वल पर खैरथल से उठाकर सूर्योदय से पहले पहले नारलाई में ले आवेगा उसी पक्ष को मन्त्र शक्ति में श्रेष्ठ और बड़ा समझा जायेगा और उसी पक्ष को यह अधिकार होगा कि वह अपने उस मन्दिर को नारलाई के पहाड़ पर प्रतिष्ठापित करे। जो पक्ष अपने आराध्य देव के मन्दिर को अपने प्रतिपक्षी के पश्चात् विलम्ब से लायगा, वह पक्ष अपने मन्दिर को पहाड़ पर न रख कर उस से नीचे के किसी समतल स्थान पर ही स्थापित कर सकेगा। दोनों पक्षों में से जो पक्ष अपने आराध्य के मन्दिर को सूर्योदय के पश्चात् तक भी खैरथल से नारलाई में नहीं ला सकेगा, वह पक्ष पूर्णतः पराजित घोषित कर दिया जायेगा।

दोनों पक्षों ने इस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर अपनी-अपनी मन्त्र शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ किया।

वहां प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी मन्त्र शक्ति के चमत्कार से, इस सर्वथा असम्भव समझे जाने वाले कार्य को संभव कर बताया। गोसांई खैरथल में स्थित भगवान शिव के मन्दिर को यतियों की अपेक्षा कुछ क्षण पूर्व नारलाई के आकाश में लाये, इस कारण शंकर का मन्दिर नारलाई के पहाड़ पर और आदिनाथ का मन्दिर, नीचे के भाग पर स्थापित किया गया।

वर्तमान में नारलाई की पहाड़ी पर शिवजी का मन्दिर और नीचे के भाग पर आदिनाथ का मन्दिर, ये दो मन्दिर नारलाई में विद्यमान् है।

कहा जाता है कि नारलाई के आदिनाथ मन्दिर के शिलालेख में इस प्रकार का अभिलेख उट्टंकित है कि यह मन्दिर यशोभद्र सूरि अपनी मन्त्र शक्ति द्वारा यहां लाये।

वस्तुतः किंवदन्तियों के लिये और विशेषतः असंभव प्रतीत होने वाले कार्यों के निष्पादन से सम्बन्धित किंवदन्तियों के लिये इतिहास में कोई स्थान नहीं। तथापि शताब्दियों से चली आ रही किंवदन्ती के आधार पर जनमानस में घर की हुई इस चमत्कारिक घटना का इतिहास से इस कारण गहरा सम्बन्ध है कि मन्त्र-तन्त्र और चमत्कारों की शक्ति प्रदर्शन का भी एक सुदीर्घावधि तक युग आर्यधरा पर रहा है और उस युग पर भी भगवान् की विशुद्ध श्रमण परम्परा के विकृत स्वरूप यति परम्परा के आचार्यों–यतियों को मंत्र-तंत्र शक्ति की, चमत्कारी कार्य निष्पादित कर देने की शक्ति की छाप शताब्दियों तक रही है। उस चमत्कार प्रदर्शन के अनेक चमत्कारिक कार्यों का विवरण अन्य मतावलम्बियों के साहित्य के समान यति युग के जैन वांग्मय में भी विपुल मात्रा में उपलब्ध होता है। किसी न किसी रूप में इस प्रकार की घटनाओं का यत्किंचित उल्लेख परमावश्यक हो जाता है। अन्यथा असम्भवता के नाम पर अथवा चमत्कारिक किंवदन्तियों के नाम पर इस प्रकार की घटनाओं की एकान्ततः उपेक्षा को "इतिहास में एक युग की उपेक्षा" की संज्ञा दी जा सकती है। मध्ययुग में इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शन के उपलक्ष में राजाओं अथवा राज प्रतिनिधियों द्वारा मान्त्रिक जैनाचार्यों को ग्रामदान-भूमिदान दिये जाने के शिलालेखों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में, राष्ट्रकूट राजवंश के परिचय में किया जा चुका है।

देखिये—"जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग-३, पृष्ठ २६१ का अन्तिम पैरा।

खिम ऋषि (क्षमा ऋषि)

सांड़ेरा गच्छ (चैत्यवासी-परम्परा) के आचार्य यशोभद्रसूरि के वलिभद्रसूरि तथा शालिसूरि के अतिरिक्त अनेक शिष्य थे। उनमें खिम ऋषि नामक मुनि घोर तपस्वी और क्षमामूर्ति थे। उनका जीवनवृत्त निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :—

चित्तौड़ के समीपस्थ बड़गांव नामक ग्राम में बोधा नामक एक नितान्त निर्धन वणिक् रहता था। अपने जीवन निर्वाह के लिए वह कभी घृत का तो कभी तेल का व्यापार करता था। वह वस्तुतः नाममात्र का व्यापारी था। येन केन प्रकारेण दो तीन सेर भार का एक कुल्हड़ कभी घी से भर कर तो कभी तेल से भर कर समीपस्थ नगर में ले जाता और उससे जो साधारण सी आय होती उसी से अपना जीवन-निर्वाह करता था। एक दिन उसने अपने गांव में घूम कर एक घड़ा घी से भरा और उसे बेचने के लिए नगर की ओर जाने के लिये घर से निकला कि उसको ठोकर लगी। वह नीचे गिर पड़ा। घी से भरा मिट्टी का घड़ा टूक-टूक हो गया और उसका पूरा का पूरा घृत धूल में मिल गया।

गांव वाले उसकी स्थिति को जानते थे। व्यापारियों ने उसे एक दूसरा घड़ा घी से भर कर दिया। किन्तु दुर्भाग्य की बात कि ज्योंही वह नगर की ओर प्रस्थित हुआ कि वह दूसरा घड़ा भी उसके सिर पर से गिर पड़ा। वह घृत भी धूलिसात् हो गया।

वणिक् बोधा को अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते संसार से विरक्ति हो गई। संयोगवशात् सांडेरा गच्छ के आचार्य यशोभद्र सूरि के उपदेश-श्रवण का उसे अवसर मिला।

आचार्यश्री के उपदेश को सुनने के पश्चात् उसे विश्वास हो गया कि सुख-दुःख की प्राप्ति में पुराकृत शुभ-अशुभ कर्म वास्तव में सबसे बड़े और प्रमुख कारण हैं। उसने अपने पूर्वसंचित अशुभ कर्मों को नष्ट करने का निश्चय किया और वह आचार्यश्री के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।

तीन वर्ष तक अपने गुरुदेव की सेवा में रहते हुए तपश्चरणपूर्वक बोधा मुनि ने ज्ञानार्जन किया। तदनन्तर गुरु की आज्ञा ले बोधा मुनि मरघटों, वनों एवं गिरि-कन्दराओं में जा कर घोर तपश्चरण करने लगे। सभी प्रकार के सङ्कटों, उपसर्गों और कष्टों को समभाव से सहन करते हुए वे आत्मचिन्तन में लीन रहते।

जिन दिनों में वे अवन्ति नगरी के समीपस्थ धामनोद ग्राम के तालाब की पाल के निकट वन में तपश्चरण में निरत थे उन दिनों ग्राम के ब्राह्मणों के उद्दण्ड किशोर उनके पास आते और ताड़न—तर्जनपूर्वक उन्हें अनेक प्रकार के दारुण दुःख देते। बोधा ऋषि न उन पर आक्रोश ही करते और न ध्यान से ही विचलित होते। इनकी इस प्रकार की सहनशक्ति, तपश्चर्या, क्षमा और शान्ति के प्रताप से अनेक प्रकार की सिद्धियां उन्हें स्वतः अनायास ही उपलब्ध हो गईं। एक दिन वे उस तालाब की पाल के पास श्मशान में एक विशाल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। उसी समय उस ग्राम के धनाढ्य ब्राह्मणों के किशोर सदा की भांति वहां आ एकत्रित हुए और खिम ऋषि को ध्यान से विचलित करने के लिये उन पर ढेलों, पत्थरों और यष्टिकाओं से प्रहार करने लगे। उन्हें भयंकर पीड़ा होने लगी किन्तु वे अड़ोल, निष्कम्प ध्यानमग्न खड़े रहे। वे ब्रह्मकिशोर उन्हें इतनी मार के उपरान्त भी निश्चल खड़ा देख उन पर तीव्र वेग से पत्थरों और डण्डों की बौछार करने लगे। खिम ऋषि के अंग-प्रत्यंग से लहू की धाराएं बहने लगीं। किन्तु खिम ऋषि यह समझ कर कि मेरे कर्मबन्धन इन अबोध बालकों द्वारा काटे जा रहे हैं, शुभ्र ध्यान में लीन रहे। उनके मन में अणु मात्र भी क्रोध अथवा उत्तेजना उत्पन्न नहीं हुई। निरपराध, क्षमासागर खिम ऋषि पर उन उद्दण्ड किशोरों द्वारा किये जा रहे निर्दयतापूर्ण प्रहारों को देख न सकने के कारण उस श्मशान में अवस्थित कोई दिव्य शक्ति क्रुद्ध हो उठी। तत्क्षण उन उद्दण्ड किशोरों के मुख-नासिकाओं से अनवरत रूपेण लहू की धाराएं प्रवाहित हो गईं। क्षण भर में ही वे कुमार्गगामी किशोर अपने-अपने घरों की ओर ऐसे भागे मानो एक धमाके के शब्द से चिड़ियों का झुंड उड़ा हो।

अपने पुत्रों के मुख और नाक से बहती हुई खून की धाराओं को देख कर उनके माता-पिता, स्वजन-स्नेही एवं पास-पड़ौस के आबाल वृद्ध उन किशोरों के चारों ओर एकत्रित हो गये। लहू के प्रवाह को रोकने के अनेक उपाय किये, पर सब व्यर्थ। एक वृद्ध वैद्य ने कहा—"सबके एक साथ समान रूप से खून का प्रवाह हो रहा है, अतः वस्तुतः यह कोई व्याधि नहीं, अवश्यमेव दैवी प्रकोप है।"

उन किशोरों को सान्त्वना भरे शब्दों में पूछा गया कि वे कहां थे, क्या कर रहे थे और सब के एक साथ समान रूप से मुख और नाक से रक्त-प्रवाह का कारण क्या है? सभी किशोर मूक बने एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। एक अल्पवयस्क किशोर ने रोते-रोते श्मशान में खिम ऋषि पर उन सबके द्वारा पत्थर बरसाये जाने का वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में उसने कहा—"ये लोग प्रतिदिन इसी प्रकार खिम ऋषि पर ढेले, पत्थर, डण्डे बरसाते रहते हैं। मैं क्या करूं मुझे भी साथ में पकड़ कर ले जाते हैं। खिम ऋषि तो कुछ भी नहीं बोले, हिले-डुले भी नहीं। और तो और उन्होंने तो आंख तक नहीं खोली। बिलकुल चुपचाप चोटें खाते रहे।"

उस बालक की बात सुन कर गांव का आबाल वृद्ध श्मशान की पाल की ओर उमड़ पड़ा। उन्होंने देखा कि खिम ऋषि का अंग प्रत्यंग चोटों से क्षत-विक्षत हो रहा है। घोर तपश्चरण के परिणामस्वरूप उनके शरीर का रक्त तो सूख चुका है, तथापि घावों में रुधिर कण चमक रहे हैं। सभी ग्रामनिवासी उन उद्दण्ड एवं निर्दयी ब्राह्मण पुत्रों की ओर घृणापूर्ण दृष्टि से घूरने लगे।

रक्त उगलते हुए उन किशोरों के माता-पिता खिम ऋषि के चरणों के समक्ष अपना शिर पृथ्वी पर रगड़-रगड़ कर अपने पुत्रों को क्षमा कर देने की भीख मांगने लगे। खिम ऋषि ध्यान मुद्रा में निश्चल खड़े थे। उनके मुखमण्डल पर प्रशांत महासागर के समान शान्ति का अखण्ड साम्राज्य विराजमान था।

एक वयोवृद्ध ग्रामीण ने कहा :- "ये तो क्षमा के अवतार हैं। इनके लिये अपकारी और उपकारी दोनों ही समान हैं। ये तो मन से भी किसी का वुरा नहीं सोच सकते। यह तो इनकी अनन्य उपासिका किसी दिव्य शक्ति का ही प्रकोप है। इनके चरणों का प्रक्षालन कर उस चरणोदक को इन उद्दण्ड छोकरों के मुख, मस्तक और तन पर छिड़को एवं इन्हें वह चरणामृत पिलाओ। शीघ्रता करो, अभी ये सब पूर्णतः स्वस्थ हो जायेंगे।"

उस ग्रामवृद्ध के कथनानुसार खिम ऋषि के चरणोदक की बूंदें उन किशोरों के मुख एवं मस्तक पर छिड़कते ही उन सबका रक्तप्रवाह रुक गया। सभी ग्राम निवासियों ने उन महर्षि के चरणों में अपना मस्तक रख अपने भाल पर उनकी चरणरज लगाई। उसी दिन से उस ग्राम के निवासी वोधा ऋषि को खिम ऋषि अर्थात् क्षमा ऋषि के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से अभिहित करने लगे और दूर-दूर तक उनकी ख्याति खिम ऋषि के नाम से फैल गई।

ब्राह्मणों ने उसी दिन विपुल धनराशि एकत्रित कर खिम ऋषि के समक्ष रख दी किन्तु कन्चन-कामिनी के त्यागी उन महा मुनि ने उसकी ओर आंख तक उठा कर नहीं देखा। अन्ततोगत्वा वह धनराशि समष्टि के लिये कल्याणकारी कार्यों में व्यय की गई।

खिम ऋषि का तपश्चरण उत्तरोत्तर उग्र होता रहा। प्रत्येक तपश्चर्या के पारण के लिये वे वड़ा ही विचित्र अभिग्रह करते। उन्होंने पारण के लिये ८४ प्रकार के ऐसे विचित्र अभिग्रह किये, जिनकी पूर्ति असम्भव को सम्भव एवं असाध्य को साध्य वना देने वाली आत्मशक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति से कदापि सम्भव नहीं। उन दुष्कर ८४ अभिग्रहों में से उदाहरणार्थ एक का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

एक दिन तपस्या का प्रत्याख्यान करते हुए खिम ऋषि ने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि धाराधिपति मुंज के लघु सहोदर सिंधुल का अनन्य नम्र राज कुमार

सद्यस्नात, विकीर्णकेश एवं उद्विग्न मनःस्थिति में २१ अपूप (पूवे) भिक्षा में दे तो खिम ऋषि अपनी तपश्चर्या का पारण करे, अन्यथा जीवन भर निराहार ही रहे।

अभिग्रह का नियम है कि वह मन ही मन किया जाता है किसी को इस प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का संकेत तक नहीं किया जाता। अपने अन्तर्मन में खिम ऋषि द्वारा की गई इस प्रतिज्ञा का किसी को भला कैसे पता चलता। ३ महीना और ८ दिन तक खिम ऋषि अपने अभिग्रह के अनुसार निराहार तपश्चरण में सन्तोष का अथाह सागर अपने अन्तस्थल में समेटे लीन रहे। दूसरे दिन घोर तपस्वी खीम ऋषि क्षत्रियश्रेष्ठ रावकृष्ण के आवास पर पहुंचे। रावकृष्ण उस समय स्नान कर स्नानागार से निकला ही था, उसके बालों में न तेल डला था और न कंघी ही की हुई थी। वह किसी कारण उद्विग्न अवस्था में खड़ा था। शिशिर की शीत लहर के कारण उसका तन-बदन ठिठुर रहा था। उसी समय चांदी के तसले में गरम-गरम अपूप (पूवे) लिये उसकी सेविका भोजनागार से निकल कर रावकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुई। सहसा रावकृष्ण की दृष्टि द्वार में प्रविष्ट होते हुए खिम ऋषि पर पड़ी। उसने तत्काल पूवों से भरा चांदी का तसला सेविका के हाथ से लिया और खिम ऋषि की ओर बढ़े।

नतमस्तक हो उद्विग्न राव कृष्ण ने खिम ऋषि से प्रार्थना की:—"महर्षिन्! कृपा कर लीजिये ये गरम-गरम पूवे। आज तो ऐसी भयंकर ठंड पड़ रही है कि धमनियों का रक्तप्रवाह भी जैसे बरफ की तरह जम जायेगा। लीजिये दया सिन्धो! पूर्णतः निर्दोष और विशुद्ध कल्पनीय आहार है यह।"

रजतपात्र में रखे पूओं को खिम ऋषि ने गिना तो वे संख्या में पूरे २१ थे, न तो एक भी न्यून और न एक भी अधिक था। अपना अभिग्रह पूर्णतः पूर्ण हुआ देख खिम ऋषि ने झोली में से भिक्षापात्र निकाला और राव कृष्ण की ओर बढ़ा दिया। राव कृष्ण ने इक्कीसों अपूप अपने रजतपात्र से महर्षि खिम मुनि के भिक्षापात्र में उंडेल दिये।

इस प्रकार अभिग्रह पूर्ण होने पर खिम ऋषि की तीन मास और ८ दिन की लम्बी निराहार तपश्चर्या का पारण हुआ। रावकृष्ण के राजभवन में खिम ऋषि के पारण का समाचार तत्काल विद्युत् वेग से धारा नगरी में फैल गया। धारा नगरी के घर-घर से धन्य धन्य के कण्ठस्वर गूंज उठे। धाराविवासियों और धाराधीश तक ने राव कृष्ण के भाग्य की मुक्तकण्ठ से सराहना की। धारा निवासी तपस्वीराज खिम ऋषि के दर्शनार्थ उमड़ पड़े। राजकुमार सिंधुल के साथ राव कृष्ण भी खिम ऋषि के विश्राम स्थल पर गया। जब राव कृष्ण को ज्ञात हुआ कि अब उसकी आयु के केवल ६ मास ही अवशिष्ट रहे हैं, तो उन्होंने अपना शेष जीवन समग्ररूपेण अध्यात्मसाधना में ही व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय कर अपने आत्मीय जनों से अनुज्ञा प्राप्त कर श्रमणधर्म अंगीकार कर लिया।

कृष्ण ऋषि

विपुल चल-अचल सम्पत्ति, ऐश्वर्य, ऐहिक सुखोपभोग, पुत्र, कलत्र, परिवार घर-द्वारादि सभी प्रकार के सांसारिक मोह-ममत्व को नागराज द्वारा छोड़ी जाने वाली केंचुल के समान एक ही झटके में छोड़ छिटका कर राव कृष्ण ने क्षत्रियोचित साहस का परिचय दिया । संयम ग्रहण करते ही वे राव कृष्ण से कृष्णर्षि बन अपने गुरु के पदचिन्हों पर चलते हुए घोर तपश्चरण पूर्वक वे अहर्निश ज्ञान-ध्यान की आराधना में, अध्यात्मरमण में लीन रहने लगे ।

इस प्रकार ६ मास तक विशुद्ध संयम की पालना कर कृष्णर्षि अपने मानव जीवन को अन्तिम समय में सफल कर स्वर्गस्थ हुए ।

कालान्तर में खिम ऋषि भी ६० वर्ष की संयम साधना के पश्चात् ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए ।

इन महर्षियों के जीवनवृत्त से अन्तर्मन में विश्वास होता है कि चैत्यवासी आदि विभिन्न परम्पराओं में भी स्व-पर-कल्याणकारी अनेक महापुरुष समय-समय पर हुए हैं ।

कवि महासेन (सुलोचना कथा के रचनाकार)

वीर नि० की बारहवीं शताब्दी के लगभग महासेन नामक एक महान् कवि हुए हैं। वे किस समय हुए, किस परम्परा के, किस आचार्य के शिष्य और कहाँ के थे इस सम्बन्ध में जैन वांग्मय में कोई उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो रहा है। इनकी एकमात्र कृति 'सुलोचना कथा' का उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्तमान में वह भी अनुपलब्ध है।

विद्वान् समर्थ कवि आचार्य उद्योतन सूरि ने अपनी लोकप्रिय कृति 'कुवलय-माला' में, जिसे कि उन्होंने शक संवत् ६९९ के अन्तिम दिनों में पूर्ण किया, कवि महासेन की कृति 'सुलोचना कथा' की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

"सण्णिहिय जिणवरिंदा, धम्मकहा बंधदिक्खय णरिंदा।
कहिया जेण सुकहिया, सुलोयणा समवसरणं व ॥३९॥"

"अर्थात्—जिस प्रकार तीर्थंकर प्रभु समवसरण में विराजमान होकर धर्मकथा सुनाते हैं और उस धर्मकथा को सुनकर नरेन्द्र तक श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाते हैं, उसी प्रकार कवि महासेन ने बड़ी ही सुन्दर ढंग से सुलोचना कथा की रचना की है, जिसे सुनकर एक राजा ने दीक्षा ग्रहण कर ली।"

पुन्नाट संघीय आचार्य अमितसेन के शिष्य जिनसेन ने अपनी वीर नि० सं० १३१० की महान् कृति हरिवंश पुराण में महासेन की इस सुन्दर कृति को "शीला-लंकारधारिणी सुनयनी सुन्दरी" की उपमा दी है।

इन दोनों महान् ग्रन्थकार आचार्यों से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थकार की कृति में कवि महासेन और उनकी कृति 'सुलोचना कथा' के सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि सुलोचना कथा के रचनाकार विद्वान् कवि महासेन वीर निर्वाण की बारहवीं शताब्दी में किसी समय हुए होंगे।

शोधार्थी विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस नितरामतीव सुन्दर एवं अमोघ उपदेशप्रदा 'कथा' को खोज निकालने की दिशा में प्रयास करेंगे।

कवि परमेष्ठी (वागर्थ संग्रह के रचनाकार)

वीर निर्वाण की बारहवीं शताब्दी के उपान्त्य चरण में परमेष्ठी नामक एक महान् ग्रन्थकार विद्वान् हुए हैं। ये कहां हुए, किस निश्चित समय में हुए, किस परम्परा के किस आचार्य के शिष्य थे, इनका समय कव से कब तक रहा, ये सब तथ्य आज विस्मृति के गहन अन्धकार में आच्छादित होने के कारण उपलब्ध नहीं हैं। कवि परमेष्ठी ने 'वागर्थ संग्रह' नामक एक विशिष्ट ग्रन्थरत्न की रचना की थी, जिसे अनेक विद्वानों ने आदर्श ग्रन्थरत्न समझ कर अपने-अपने ग्रन्थ प्रणयन के समय उसकी शैली से, उसमें निहित तथ्यों से मार्ग-दर्शन प्राप्त किया। आज कवि परमेष्ठी का 'वागर्थ संग्रह' ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु उसकी प्रशंसा में किये गये आदरपूर्ण उल्लेख विक्रम की ९ वीं शताब्दी के महान् ग्रन्थकार पंचस्तूपान्वयी भट्टारक जिनसेन ने, आदि पुराण में उनके शिष्य गुणभद्र ने, उत्तर पुराण में, और श्रमणबेलगोल में गोम्मटेश्वर (बाहुबली) की गगनचुम्बी विशाल मूर्ति के निर्माता एवं प्रतिष्ठापक चामुण्डराय ने, अपने ग्रन्थ 'चामुण्डपुराण' (ई० सन् १०३० के आसपास) में, आज भी विद्यमान हैं।

आदिपुराणकार भट्टारक जिनसेन ने कवि परमेष्ठी को कवियों का परमेश्वर बताते हुए उनके वागर्थ संग्रह की निम्नलिखित शब्दों में प्रशंसा की है :—

"स पूज्यः कविभिर्लोके, कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थ-संग्रह-कृत्स्नं, पुराणं यः समग्रहीत् ॥[1]"

भट्टारक जिनसेन द्वारा वागर्थ संग्रह के सम्बन्ध में किये गये इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि कवि परमेष्ठी का 'वागर्थ संग्रह' वृहत् पुराण ग्रन्थ होगा।

भट्टारक जिनसेन से पूर्ववर्ती किसी विशिष्ट ग्रन्थकार द्वारा कवि परमेष्ठी के सम्बन्ध में किया गया उल्लेख अद्यावधि कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ है, इससे यह अनुमान किया जाता है कि कवि परमेष्ठी भी "सुलोचना कथा" के रचनाकार कवि महासेन के संभवतः समकालीन, वीर निर्वाण की १२वीं शताब्दी के किसी समय में हुए होंगे।

---

[1] आदिपुराण १। ६०

भ० महावीर के ४३ वें और ४४ वें पट्टधर के समय की राजनैतिक स्थिति

भ० महावीर के ४३ वें पट्टधर आचार्य लक्ष्मीवल्लभ और ४४ वें पट्टधर आ० रामऋषि स्वामी के आचार्यकाल में राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्ष का शासन रहा। अमोघ वर्ष की गणना वीर निर्वाण की १४ वीं शताब्दी के सर्वाधिक शक्तिशाली राजाओं में की जाती है। जिन शासन के प्रति उसकी श्रद्धा-निष्ठा अटूट एवं प्रगाढ़ थी। वह स्वभाव से ही धार्मिक वृत्ति का आदर्श व्यक्ति था। वस्तुतः वह उस समय के भारतवर्ष के राजाओं में सर्वाधिक शक्तिशाली राजा होते हुए भी युद्धों की अपेक्षा धर्म और साहित्य के प्रति अधिक प्रेम रखता था। वह अनेक वार अपने राज्य-कार्यों और राजप्रासादों को छोड़ कर जैन साधुओं की सत्संगति में चला जाता था।

अमोघ वर्ष के पिता, राष्ट्रकूट वंश के सर्वाधिक प्रतापी सम्राट गोविन्द तृतीय, जिस समय १२ राजाओं की सुविशाल शक्तिशाली सेना को युद्ध में पराजित करने के पश्चात् मालवा, लाट, गुजरात, कन्नौज आदि राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दक्षिणापथ की विजय के लिये आगे बढ़ रहा था उस समय नर्मदा तट पर अवस्थित श्रीभवन नामक स्थान पर उनके शैन्य-शिविर में ही वीर नि० सं० १३२९ (ई० सन् ८०२)[1] में अमोघवर्ष का जन्म हुआ। अमोघवर्ष के जन्म के पश्चात् गोविन्द तृतीय को अनेक वड़ी वड़ी उपलब्धियां हुईं। उसने दक्षिण के शक्तिशाली पल्लव राजा दन्तिदुर्ग को युद्ध में पूर्ण रूपेण पराजित कर पल्लवराज्य की राजधानी कांची पर अधिकार कर लिया। जव गोविन्द तृतीय, नवविजित कांची में ही विद्यमान था उस समय श्रीलंका के राजा ने उसके पास अपना दूत भेज कर उसकी (गोविन्द तृतीय की) आधीनता स्वीकार की।

अमोघ वर्ष के जन्म के पश्चात् गोविन्द तृतीय, वस्तुतः भारत का उस समय का सबसे वड़ा शक्तिशाली राजा कहलाने लगा। राष्ट्रकूट वंश के तत्कालीन राज कवियों ने गोविन्द तृतीय को अजेय सम्राट वताते हुए लिखा है कि जिस प्रकार श्री कृष्ण के जन्म के पश्चात् यादव अजेय हो गये उसी प्रकार राष्ट्रकूट राजवंश में गोविन्द तृतीय के जन्म के पश्चात् राष्ट्रकूट वंश अजेय हो गया।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २९१ की पंक्ति सं. ३ और ११ में ई. सन् ८०३ के स्थान पर ई. सन् ७९४ पढ़ें। उपलब्ध नवीन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि ई. सन् ७९४ में ध्रुव की मृत्यु और गोविन्द तृतीय का राज्यारोहण हुआ था।

गोविन्द तृतीय ने अपने (वीर नि० सं० १३२१—१३४१) बीस वर्ष के शासनकाल में मलखेड़ के राष्ट्रकूट राज्य को एक शक्तिशाली साम्राज्य का स्वरूप प्रदान कर दिया। वीर नि० सं० १३४१ में उसकी मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष राष्ट्रकूट के विशाल साम्राज्य के राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

गोविन्द (तृतीय) की मृत्यु के अनन्तर जिस समय अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-वंशीय विशाल साम्राज्य के राजसिंहासन पर बैठा उस समय उसकी अवस्था केवल १२ वर्ष की ही थी। सुविशाल साम्राज्य के स्वामी की बालवय को देख कर यह स्वाभाविक ही था कि उस साम्राज्य के राज्यलिप्सु सामन्त, शत्रु राजा और पड़ौसी राजा सिर उठाते। अमोघवर्ष के राजसिंहासन पर बैठते ही पूर्वी चालुक्य राजवंश के बैंगी के राजा विजयादित्य एवं गंगवंशीय राजा राचमल्ल प्रथम का पृष्ठबल पा कर राष्ट्रकूट साम्राज्य के सामन्तों एवं राज्याधिकारियों ने राष्ट्रकूट साम्राज्य में चारों ओर विद्रोह की आग भडका दी। अमोघवर्ष ने बाल वय होते हुए भी बड़े धैर्य और सूझ बूझ से काम लिया। अपने चचेरे भाई लाट प्रदेश के शासक कर्क और अपने सेनापति बंकैया की सहायता से उसने एक के पश्चात् एक करके सभी विद्रोह को कुचल डाला।

उन्नीस (१६) वर्ष की आयु में पदार्पण करते करते अमोघवर्ष ने अपने राज्य में चारों ओर शान्ति स्थापित कर दी। ईस्वी सन् ८५० के आस-पास पूर्वी चालुक्यों के बैंगी नरेश गुणग विजयादित्य तृतीय ने अपने राज्य को राष्ट्रकूटों के आधिपत्य से मुक्त कराने की चेष्टा की। इस कारण पूर्वी चालुक्यों के साथ अमोघवर्ष को पुनः युद्ध करना पड़ा। करनूल जिले के विंगावलि नामक स्थान पर गुणग विजयादित्य की चालुक्य सेना के साथ अमोघवर्ष की सेना का भयंकर युद्ध हुआ। अमोघवर्ष की उसमें निर्णायक विजय हुई। इस युद्ध में पराजय के पश्चात् वेंगी का राजा पूर्वी चालुक्य गुणग विजयादित्य जीवन भर अमोघवर्ष का स्वामि-भक्त सामन्त बना रहा।

पूर्वी चालुक्यों को वशवर्त्ती बनाने के अनन्तर गंग राजा राचमल्ल प्रथम के पुत्र एडय नीतिमार्ग ने जब राष्ट्रकूट साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया तो अमोघवर्ष को पुनः युद्ध करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस युद्ध में भी अमोघवर्ष के सेनापति बंकैया ने गंग राज को पराजित कर उसे राष्ट्रकूट वंश का वशवर्त्ती राजा बना लिया।

इस प्रकार अमोघवर्ष को लगभग ४६ वर्ष तक संघर्षरत रहना पड़ा। उसके शासन काल के अन्तिम १८ वर्ष लगभग पूर्ण शान्ति के साथ बीते।

महाराणा अल्लट चित्तौड़ का शिशोदियावंशीय राजा

चित्तौड़ का महाराणा अल्लट जैन धर्म और जैनाचार्यों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा भक्ति रखने वाला मेवाड़ नरेश्वर था। मेवाड़ के यशस्वी शिशोदिया राजवंश में वप्पा रावल के पश्चात् महाराजा अल्लट बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ है।

मेवाड़ के महाराणा भर्तृभट्ट (द्वितीय) की महाराणी, राठौड़ वंश की राजकुमारी महालक्ष्मी की कुक्षि से अल्लट का जन्म हुआ। महाराणा भर्तृभट्ट के पश्चात् वि. सं. ६२२ के आस-पास अल्लट चित्तौड़ के राजसिंहासन पर बैठा। 'टाड राजस्थान' में अल्लट का समय वि. सं. ६२२ उल्लिखित है और वि. सं. १०१० तक के इसके राज्यकाल के शिलालेख उपलब्ध होते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि मेवाड़ के राजसिंहासन पर वि. सं. ६२२ से वि सं. १०१० तक आसीन रह कर अल्लट मेवाड़ का शासन करता रहा।

एक समय जैनाचार्य वलिभद्रसूरि का विहार क्रम से हथूंडी में पदार्पण हुआ। उस समय महाराणा अल्लट की महारानी महालक्ष्मी हथूंडी में थी और वह असाध्य रेवती रोग से पीड़ित थी। अनेक प्रकार के उपचारों के उपरान्त भी महारानी की व्याधि शान्त होने के स्थान पर उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही थी। वलिभद्रसूरि के त्याग और तपश्चर्या की महिमा सुन कर महारानी महालक्ष्मी भी राजपुरुषों एवं परिचारिकाओं के साथ उनके दर्शन के लिये गई। आचार्यश्री के दर्शन कर उनके त्याग एवं तपस्तेज से महारानी बड़ी प्रभावित हुई और उसने अपनी असाध्य व्याधि की करुण कहानी संक्षेप में आचार्य श्री को निवेदित कर दी।

आचार्य वलिभद्रसूरि के दर्शनों और उनके द्वारा वताये गये व्रत-नियम, प्रत्याख्यान एवं पथ्यों के पालन से मेवाड़ की महालक्ष्मी का असाध्य रोग प्रथम दिन से ही क्रमशः शान्त होने लगा और इने-गिने दिनों में ही वह उस असाध्य रोग से मुक्त हो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गई। महारानी की रोगमुक्ति का समाचार पा महाराणा अल्लट आचार्य वलिभद्रसूरि के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आचार्य श्री ने राजा अल्लट को जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का सारतः वोध दे सम्यक्त्व का महत्व वताया। महाराणा अल्लट पर आचार्य श्री के उपदेश का ऐसा अमिट प्रभाव हुआ कि वह जीवन भर जैनाचार्यों के सत्संग का लाभ लेने के साथ-साथ यथाशक्य जैन संघ की प्रभावना के कार्यों में सहयोग देता रहा। वलिभद्रसूरि के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अल्लट ने अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों को वलिभद्रसूरि के श्रद्धालु श्रावक एवं भक्त वनाया। उसने हथूंडी के राजा विदग्धराज को भी सदा आचार्य श्री की सेवा में तत्पर रहने का परामर्श दिया। वि. सं. ६७३ के आस-पास की इस

घटना के पश्चात् महाराणा अल्लट जैन धर्म में गहरी रुचि लेने लगा। इसने अनेक जैनाचार्यों के उपदेश सुने और उनका राजकीय सम्मान किया। उन जैनाचार्यों में आचार्य नन्नसूरि, आचार्य जिनयश, आचार्य विमलचन्द्र, आचार्य प्रद्युम्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाराणा अल्लट की राजसभा में आचार्य प्रद्युम्न-सूरि ने एक दिगम्बराचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित कर उसे अपना शिष्य बनाया।

कहा जाता है कि महाराणा अल्लट की एक रानी का नाम हरियदेवी था। वह हूण राजा की पुत्री थी। अपनी उस हूणवंशीया रानी के नाम पर अल्लट ने हर्षपुर नामक एक नगर बसाया जो वर्तमान काल में हांसोट नामक एक ग्राम के रूप में अवशिष्ट रह गया है।

अल्लट के राज्यकाल के अनेक शिलालेख मिलते हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि महाराणा अल्लट ने अपने दीर्घकाल के शासन में जैन धर्म के प्रति उल्लेखनीय अभिरुचि ली।

—※—

हथूंडी का राठौड़ राजवंश और जैनधर्म

क्रमशः मंडोवर (मण्डोर) और जोधपुर राज्य पर शासन करने वाले राठौड़ राजवंश के मरुधरा में आगमन के पर्याप्त प्राचीन काल से ही राठौड़ों की एक शाखा का राज्य मारवाड़ में हथूंडी (मारवाड़ के गोडवाड़ क्षेत्र में बीजापुर से एक कोस दूर) नामक नगर पर था। यह कोई विशेष बड़ा राज्य नहीं था किन्तु मेवाड़, सिरोही आदि राज्यों का सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण रणनीति की दृष्टि से इसका बड़ा महत्व था। हथूंडी राजवंश का उस समय के बड़े-बड़े राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध था। मेवाड़ के महाराणा अल्लट की महारानी महालक्ष्मी हथूंडी राजवंश की राजकुमारी थी।

विक्रम की दशवीं शताब्दी के शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि हथूंडी राज्य के कतिपय राठौड़वंशी राजा जैनधर्म के प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति रखते थे और उनमें से कतिपय जैनधर्मावलम्वी थे। यह पहले बताया जा चुका है कि मेवाड़ के महाराणा अल्लट के निर्देशानुसार हथूंडी का राठौड़ वंशीय राजा विदग्धराज आचार्य बलिभद्रसूरि की सेवा में तत्पर रहता था। उनके उपदेशों से विदग्धराज की जैन धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हुई और आचार्य वासुदेवसूरि के उपदेशों से वह जैनधर्मावलम्वी बन गया।

वि० सं० ९७३ के उसके एक दानशासन से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि हथूंडी के राजा विदग्धराज ने हथूंडी में भ० आदिनाथ का एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसकी दैनन्दिनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं सुदीर्घ काल तक समुचित व्यवस्था हेतु सभी प्रकार के व्यापारिक लेन-देन एवं कृषि उपज पर एक धर्मादा कर निर्धारित किया। विदग्धराज द्वारा अपने तोल के बराबर स्वर्ण का तुलादान दिये जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। विदग्धराज का शासनकाल विक्रम की दशवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अनुमानित किया जाता है।

विदग्धराज के पश्चात् उसका पुत्र मम्मटराज हथूंडी का राजा हुआ। मम्मटराज ने भी एक दानशासन लिखकर अपने पिता विदग्धराज के दानशासन का अनुमोदन करते हुए, कपास, केसर, मजीठ, गेहूं, जौ, मूंग आदि के आदान-प्रदान व्यापार पर भी धर्मादा कर लगाकर उससे आदिनाथ के मन्दिर के सभी धार्मिक कार्यों को और अधिक समुचित रूप से चलाते रहने की व्यवस्था की। राठौड़राज मम्मट ने वि० सं० ९९६, माघ कृष्णा ११ के उस दानशासन में सर्व-साधारण को देवद्रव्य की पूरी तरह रक्षा के लिये सदा सतर्क रहने का परामर्श दिया

हुए लिखा कि देवद्रव्य के लेशमात्र का भी दुरुपयोग अथवा उसका निजी स्वार्थ के लिये उपयोग घोर पाप है, अतः देवद्रव्य को चुराने अथवा खाने जैसे जघन्य अपराध से प्रत्येक व्यक्ति बचता रहे।

सामाजिक दृष्टि से भी हथूंड़ी का बहुत बड़ा महत्व है क्योंकि ओसवाल जाति के झामड़ गोत्र की उत्पत्ति हथूंड़ी से ही हुई। कुलगुरुओं की बहियों के उल्लेखानुसार वि० सं० ९८८ में आचार्य सर्वदेवसूरि विहार क्रम से हथूंडी पधारे और उनके उपदेशों से प्रभावित हो राव जगमाल ने अपने कौटुम्बिक जनों के साथ अहिंसामूल जैनधर्म अंगीकार कर अपने क्षत्रिय परिजनों के साथ ओसवाल जाति में सम्मिलित हुआ और उन सबका झामड़ गोत्र रखा गया।

मम्मट के पश्चात् उसका पुत्र धवलराज हथूंड़ी के सिंहासन पर बैठा। धवलराज वस्तुतः बड़ा ही शक्तिशाली और शरणागत-प्रतिपाल राजा था।

इसके शासनकाल में मालवराज ने आहड़ पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर डाला। उस समय धवलराज ने मेवाड़ के महाराणा शालिवाहन, सम्भवतः खुमाण चतुर्थ को अपने राज्य में शरण दी। इसने चौहान महेन्द्र की बड़ी सहायता की और गुजरात के शक्तिशाली राजा मूलराज के आतंक से आतंकित वढवाण के राजा धरणीवराह को भी शरण दी।

इसने अपने दादा विदग्धराज के द्वारा निर्मापित भ० आदिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया और वि० सं० १०५३ की माघ शुक्ला १३ के दिन भगवान् आदिनाथ की नवीन भव्य मूर्ति की शान्तिसूरि से प्रतिष्ठा करवाई।

श्रमण भगवान महावीर के ४५वें पट्टधर आचार्य श्री पद्मनाभ स्वामी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् १३३६
दीक्षा	—	वीर निर्वाण सम्वत् १३६६
आचार्य पद	—	वीर निर्वाण सम्वत् १४०२
स्वर्गारोहण	—	वीर निर्वाण सम्वत् १४३४
गृहवास पर्याय	—	३० वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	३३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३२ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	६५ वर्ष
पूर्ण आयु	—	६५ वर्ष

वीर निर्वाण सम्वत् १४०२ में भगवान् महावीर के ४४वें पट्टधर आचार्य श्री रामऋषि स्वामी के स्वर्गगमन के पश्चात् महामुनि श्री पद्मनाभ स्वामी को प्रभु वीर के ४५वें (पैंतालीसवें) पट्टधर आचार्य पद पर तत्कालीन चतुर्विध जैन संघ ने अधिष्ठित किया।

श्रमण भगवान् महावीर के ४६ वें (छयालीसवें) पट्टधर आचार्य श्री हरिशर्म स्वामी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत्		१३७०
दीक्षा	—	"	"	१३९१
आचार्य पद	—	"	"	१४३४
स्वर्गारोहण	—	"	"	१४६१
गृहवास पर्याय		२१ वर्ष		
सामान्य साधु पर्याय		४३ वर्ष		
आचार्य पर्याय		२७ वर्ष		
पूर्ण साधु पर्याय		७० वर्ष		
पूर्ण आयु		९१ वर्ष		

वीर निर्वाण सम्वत् १४३४ में भगवान महावीर के ४५ वें (पैंतालीसवें) पट्टधर आचार्य श्री पद्मनाभ स्वामी के स्वर्गगमन पर महामुनि श्री हरिशर्म स्वामी को प्रभु महावीर के ४६ वें (छियालीसवें) पट्टधर आचार्य पद पर चतुर्विध संघ ने अधिष्ठित किया।

श्रमण भगवान् महावीर के ४७ वें (सैंतालीसवें) पट्टधर आचार्य श्री कलशप्रभ स्वामी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत्		१३६६
दीक्षा	—	"	"	१४३५
आचार्य पद	—	"	"	१४६१
स्वर्गारोहण	—	"	"	१४७४
गृहवास पर्याय		६६ वर्ष		
सामान्यसाधु पर्याय		२६ वर्ष		
आचार्य पर्याय		१३ वर्ष		
पूर्ण साधु पर्याय		३९ वर्ष		
पूर्ण आयु		१०५ वर्ष		

वीर निर्वाण सम्वत् १४६१ में भगवान् महावीर के ४६वें (छियालीसवें) पट्टधर आचार्य श्री हरिशर्म स्वामी के स्वर्गस्थ होने पर चतुर्विध संघ ने महामुनि श्री कलशप्रभ स्वामी को प्रभु महावीर के सैंतालीसवें (४७) पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

भ० महावीर के ४५, ४६ और ४७ वें पट्टधरों के समय में हुए ३६ वें युगप्रधानाचार्य ज्येष्ठांग गरिण

जन्म	—		वीर नि. सं. १३७०
दीक्षा	—		वीर नि. सं. १३८२
सामान्य साधुपर्याय	—		वीर नि. सं. १३८२–१४००
युगप्रधानाचार्यकाल	—		वीर नि॰ सं. १४००–१४७१
गृहस्थ पर्याय	—	१२ वर्ष	
सामान्य साधु पर्याय	—	१८ वर्ष	
युगप्रधानाचार्य पर्याय	—	७१ वर्ष	
स्वर्ग	—		वीर नि. सं. १४७१
सर्वायु	—		१०१ वर्ष, ३ मास और ३ दिन

३५ वें युगप्रधानाचार्य धर्म ऋषि के स्वर्गस्थ होने के उपरान्त वीर नि० सं. १४०० में महामुनि श्री ज्येष्ठांग गणि को चतुर्विध संघ ने युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित किया। इस प्रकार ज्येष्ठांग गरिण ३६ वें युगप्रधानाचार्य हुए।

आप कहां के रहने वाले थे, आपके माता-पिता का नाम क्या था, इस सम्बन्ध में जैन वांग्मय में कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। दुस्समा समणसंघ थयं के अनुसार आपका जन्म वीर निर्वाण सं० १३७० में हुआ। १२ वर्ष की आयु में ही आपने वीर निर्वाण सं० १३८२ में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। १८ वर्ष तक सामान्य साधुपर्याय में रहते हुए आपने आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया और वीर नि० सं० १४०० में अप्रतिम प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण आपको युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन किया गया था। ३६ वें युगप्रधानाचार्य ज्येष्ठांग गणि ने ७१ वर्षों तक युगप्रधानाचार्य पद पर विराजमान रहते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की। १०१ वर्ष, ३ मास और तीन दिन की आयुष्य समाधिपूर्वक पूर्ण कर आपने वीर नि० सं० १४७१ में स्वर्गारोहण किया। 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक प्राचीन ग्रन्थ में आपके सम्बन्ध में निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है :

चोद्दस वरिस सतेहिं, वोच्छेदो जिट्ठभूति समणंमि ।
कासव गुत्ते णेयो, कप्प-ववहार सुत्तस्स ।।८१७।।[1]

अर्थात्—वीर निर्वाण के १४०० वर्ष पश्चात् काश्यप गोत्री ज्येष्ठभूति नामक श्रमण के स्वर्गस्थ होने पर कल्प-व्यवहार सूत्र का ह्रास हो जायगा।

कल्प व्यवहार सूत्र के ह्रास जैसी आत्यन्तिक महत्व की ऐतिहासिक घटना का आचार्य के नाम के साथ सुनिश्चित समय का उल्लेख होने के कारण प्राचीन प्रकीर्णक ग्रन्थ तित्थोगालि पइण्णय की उपरिलिखित गाथा में निहित तथ्य वस्तुतः इतिहास के सभी विद्वानों के लिये बड़ी गहराई से विचार करने योग्य है।

तित्थोगाली पइण्णय में अधिकांश ऐसे ऐतिहासिक तथ्य दिये गये हैं जिनकी कि पुष्टि जैन वांग्मय के विभिन्न ग्रन्थों से होती है। इस ग्रन्थ की गाथा संख्या ८१२ से १४ तक (युगप्रधानाचार्य) पुष्यमित्र के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि वीर निर्वाण सम्वत् १२५० में गणि पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर व्याख्या प्रज्ञप्ति का छः अन्य अंगों के साथ ह्रास हो जायगा। यथा :

पण्णासा वरिसेहिं य बारस वरिस सएहिं वोच्छेदो ।
दिण्णगणि पूसमित्ते सविवाहाणं छलंगाणं ।।

"दुस्समा समण संघ थयं" के द्वितीयोदय के युग प्रधान यन्त्र में भी बत्तीसवें युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र का यही समय दिया हुआ है।

तित्थोगालिपइण्णय की गाथा संख्या ८१५ में माढर सम्भूत गणि के वीर निर्वाण सम्वत् १३०० में स्वर्गस्थ हो जाने पर समवायांग के ह्रास का उल्लेख है। इसके विपरीत युगप्रधानाचार्य पट्टावलिदुस्समासमणसंघथयं के युगप्रधान यन्त्र में माढर सम्भूति को चौतीसवां युग प्रधान बताते हुए वीर निर्वाण सम्वत् १३६० में उनके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है। माढर सम्भूति से पहले उस युगप्रधान यन्त्र में सम्भूति को तेंतीसवां युगप्रधानाचार्य बताकर वीर निर्वाण सम्वत् १३०० में उनके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

तित्थोगालि पइण्णय की गाथा संख्या ८१६ में आर्जव नामक यति के वीर निर्वाण सम्वत् १३५० में स्वर्गस्थ हो जाने पर स्थानांग सूत्र के ह्रास का उल्लेख किया गया है जबकि युगप्रधान यन्त्र में माढर सम्भूति के वीर निर्वाण सम्वत् १३६० में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

इसी प्रकार तित्थोगालि पइण्णय की गाथा सं० ८१७ में जैसा कि ऊपर बताया गया है वीर निर्वाण सम्वत् १४०० में काश्यप गोत्रीय ज्येष्ठ भूति श्रमण के

[1] पं० श्री कल्याणविजयजी और गजसिंह राठौड़ द्वारा संपादित तित्थोगाली पइन्नय

स्वर्गस्थ होने पर कल्प व्यवहार सूत्र के ह्रास का उल्लेख है। इसके विपरीत युग प्रधानाचार्य यन्त्र अथवा युगप्रधानाचार्य पट्टावलि में वीर निर्वाण सम्वत् १४०० में ३५ वें युगप्रधानाचार्य धर्मऋषि के स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

इसके आगे तित्थोगालि पइण्णय की गाथा संख्या ८१८ में उल्लेख है कि वीर निर्वाण सम्वत् १५०० में गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर दशाश्रुतस्कंध का ह्रास हो जायगा।

युगप्रधानाचार्य यन्त्र में भी ३७ वें युगप्रधानाचार्य (सैंतीसवें) फल्गुमित्र का वीर निर्वाण सम्वत् १५२० में (लिपिक की त्रुटि को सुधारा जाय तो वीर निर्वाण सम्वत् १५००) स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है।

इसी ग्रन्थ की गाथा संख्या ८१९ में भरद्वाज गोत्रीय महा सुमिरण नामक मुनि के वीर निर्वाण सम्वत् १९०० में स्वर्गस्थ हो जाने पर सूत्रकृतांग के ह्रास का उल्लेख किया गया है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि एवं यन्त्र में ४२ वें (बयालीसवें) युगप्रधानाचार्य सुमिरण मित्र का वीर निर्वाण सम्वत् १९१८ में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि और तित्थोगालि पइण्णय के सुमिरण मित्र सम्बन्धी उल्लेख में १८ वर्ष का अन्तर है।

सारांश यह है कि तित्थोगालि पइण्णय में और युगप्रधानाचार्य पट्टावली में ३२ वें (बत्तीसवें) युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ होने का समय समान रूप से वीर निर्वाण सम्वत् १२५० उल्लिखित है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि में पुष्यमित्र के पश्चात् सम्भूति को ३३ वां (तैंतीसवां), युगप्रधान माढर सम्भूति को ३४ वां (चौंतीसवां), धर्मऋषि को ३५ वां (पैंतीसवां), ज्येष्ठांग गणि को ३६ वां (छत्तीसवां), फल्गुमित्र को ३७ वां (सैंतीसवां) और सुमिरण मित्र को ४२ वां (बयालीसवां) युगप्रधान बताया गया है।

इसके विपरीत तित्थोगालि पइण्णय में पुष्यमित्र के पश्चात् माढर सम्भूति, आर्जव यति, ज्येष्ठभूति, फल्गुमित्र और महा सुमिरण मुनियों का क्रमशः उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि इनके स्वर्गस्थ होने पर भिन्न-भिन्न सूत्रों का ह्रास हुआ।

वस्तुतः दुस्समा समण संघथयं के रचनाकार धर्मघोष सूरि का समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी अर्थात् विक्रम सम्वत् १३२७ से १३५७ तक (वीर निर्वाण सम्वत् १७९७ से १८२७) का है जबकि तित्थोगालि पइण्णय का रचनाकाल अनेक

तथ्यों के आधार पर वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी के आसपास का अनुमानित किया जाता है ।[1]

इस प्रकार की स्थिति में तित्थोगालि पइण्णय के उल्लेखों पर विचार करना परमावश्यक हो जाता है । इतिहास के शोधप्रिय विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध में शोधपूर्ण प्रकाश डालेंगे ।

---

[1] तित्थोगालि पइण्णय की गजसिंह राठौड़ द्वारा लिखित भूमिका का पृष्ठ ५ से ७, प्रकाशक श्वेताम्बर (चारथुइ) जैन संघ, जालोर, सम्पादक, श्री [illegible] [illegible] मोठवाड़ा (जालोर) ।

राजगच्छ

राजगच्छ श्वेताम्बर परम्परा में बड़ा यशस्वी गच्छ रहा है। इस गच्छ में अनेक प्रभावक और ग्रन्थकार आचार्य हुए हैं। जिन शासन के प्रचार एवं प्रसार में उल्लेखनीय योगदान इनसे मिला।

इस गच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन वांग्मय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनका सारांश इस प्रकार है :—

तलवाडा (तहनगढ करौली बसने से पूर्व उसके आसपास का एक राजधानी नगर) के राजा, जो आगे जाकर नन्न सूरि हुए, अपने गृहस्थ जीवन में एक दिन मृगया के लिये निकले। वन में भागते हुए मृगों के एक टोले को लक्ष्य कर उन्होंने तीर चलाया। उन्होंने जाकर देखा कि जिस शिकार को उनका तीर लगा है वह हरिणी है, और वह भी गर्भवती हरिणी है। हरिणी और उसके वाहर गिर पड़े गर्भ के बच्चे को तड़पते देखकर राजा का हृदय पश्चात्ताप की आग में जलने लगा। राजा को स्वयं पर बड़ी घृणा हुई। पश्चात्ताप करते-करते उसे संसार से ही विरक्ति हो गई। राज्य, घर और परिवार को तृणवत् त्यागकर वे तलवाडा से निकल पड़े। पुण्य योग से उन्हें वनवासी गच्छ के एक आचार्य के दर्शन हुए। राजा ने उन आचार्य से धर्म का मर्म सुना। सच्चे धर्म का बोध होते ही उस राजा ने उन वनवासी आचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा देते समय नवदीक्षित का नाम नन्न मुनि रक्खा गया। बड़ी निष्ठा और विनयपूर्वक नन्नमुनि ने अपने आचार्य देव से अनेक विद्याओं और शास्त्रों का अध्ययन किया। वनवासी आचार्य ने अपना अवसान काल समीप समझकर और नन्न मुनि को सर्वथा सुयोग्य पात्र समझकर आचार्य पद प्रदान किया।

अपने गुरु के स्वर्गारोहण के पश्चात् नन्न सूरि अपने शिष्य परिवार के साथ विभिन्न क्षेत्रों में अप्रतिहत विहार करते हुए जिनधर्म का प्रचार एवं प्रसार करने लगे। नन्न सूरि वड़े विद्वान्, प्रतिभाशाली और कुशल व्याख्याता थे। अतः उनका गच्छ उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगा। नन्न सूरि का जन्म राजवंश में हुआ था इसलिये लोग उन्हें राजर्षि और उनके गच्छ को राजगच्छ कहने लगे। इस प्रकार राजगच्छ वीर निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी के मध्याह्न में मध्य गगन गत सूर्य के समान चमकने लग गया। राजगच्छ के आचार्य अपने आपको मूलतः चन्द्रगच्छ के ही आचार्य मानते हैं और कहते हैं कि राजगच्छ चन्द्रगच्छ की ही शाखा है। यही कारण है कि राजगच्छ और चन्द्रगच्छ इन दोनों गच्छों की पट्टावलियों

को देखते समय किसी विज्ञ के लिये भी यह बतलाना बड़ा कठिन हो जाता है कि अमुक आचार्य चन्द्रगच्छ के हैं अथवा राजगच्छ के।

इन्हीं नन्न सूरि के शिष्य अजित यशोवादी सूरि प्रशिष्य सहदेव सूरि और प्रप्रशिष्य प्रद्युम्नसूरि हुए। आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने बाल्यकाल से ही वेद वेदांगों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्होंने सब दर्शनों का अध्ययन करते समय जैन दर्शन का भी अध्ययन किया। तुलनात्मक दृष्टि से सभी दर्शनों का विवेचन करने पर उन्हें इस प्रकार का विश्वास हो गया कि जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र और सम्यग् तपश्चरण की आराधना से ही जन्म, जरा, व्याधि आदि संसार के घोरातिघोर दारुण दुःखों से सदा सर्वदा के लिये मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अन्तर्मन में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास होते ही उन्होंने राजगच्छ के आचार्य सहदेव सूरि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने गुरु की चरण शरण में रहते हुए उन्होंने आगमों का एवं अनेक विद्याओं का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। न्याय शास्त्र में निष्णातता प्राप्त कर वे महान् वादी बने। उन्होंने सवालक, ग्वालियर, त्रिभुवनगिरि चित्तौड़ आदि अनेक राज्यों की राजसभाओं में अन्य दर्शन के विद्वानों से शास्त्रार्थ किये। जैन वांग्मय में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि प्रद्युम्नसूरि ने अपने जीवन में चौरासी वादों में विजय प्राप्त की। शिशोदिया महाराणा अल्लट राज (विक्रम सम्वत् ९२२ से १०१०) की राजसभा में उन्होंने एक दिगम्बर आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपना शिष्य बनाया। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि इस विजय के उपलक्ष्य में चित्तौड़ के किले में एक विजयस्तम्भ का निर्माण करवाया गया।[1]

प्रद्युम्न सूरि के पश्चात् अभयदेव सूरि राजगच्छ के पांचवें आचार्य हुए, जो 'तर्क पंचानन अभयदेव सूरि' के नाम से विख्यात हुए। वे भी बड़े उच्चकोटि के विद्वान् थे। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि थारपद्र गच्छ के आचार्य वादि-वैताल शान्ति सूरि (उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार) ने इन तर्क पंचानन अभयदेव सूरि के पास न्याय शास्त्र का अध्ययन किया था। इन अभयदेवसूरि ने आचार्य सिद्धसेन सूरि के सम्मति तर्क नामक ग्रंथ पर पच्चीस हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ की रचना की। जो वाद महार्णव के नाम से प्रसिद्ध है। इस विशाल ग्रन्थ में जैन और जैनेतर दर्शनों की सैकड़ों प्रकार की विचारधाराएं उपलब्ध होती हैं।

संयोग की बात है कि यह अभयदेव सूरि तर्क पंचानन भी अपने गृहस्थ जीवन में राजकुमार थे इसलिये इन्हें भी लोग राजर्षि के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से अभिहित किया करते थे।

---

[1] अल्लूसभायां विजिते दिगम्बरे तदीयपक्षः किल कोशरक्षकः।
तानु प्रमोदेनपदं समानयत् तमेकमट्टं जयन्ते सुधीषु यः ॥३॥
(प्रभावक चरित्र प्रशस्ति, पृष्ठ संख्या २१३)

इन आचार्य अभयदेव सूरि के पट्टधर शिष्य का नाम धनेश्वर सूरि था। धनेश्वर सूरि त्रिभुवनगिरि नामक राज्य के कर्दम नामक राजा थे। प्रभावक चरित्रकार ने इनके सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ प्रभावक चरित्र की प्रशस्ति में इस प्रकार लिखा है :

त्रिभुवनगिरि स्वामी श्रीमान् कर्दम भूपति
स्तदुप समभूत् शिष्य: श्रीमद्धनेश्वर संज्ञया।
अजनि सुगुरुस्तत्पट्टेऽस्मात् प्रभृत्यवनिस्तुत :
तदनु विदितो विश्वे गच्छ : स राज पदोत्तर : ।।५।।

इन कर्दम राज के सारे शरीर में अनेक विषैले फफोले उत्पन्न हो गये। अनेक कुशल वैद्यों आदि से अनेक प्रकार के उपचार करवाये गये। किन्तु उनका वह भीषण रोग नाममात्र के लिये भी शान्त नहीं हुआ। उनके शरीर में इन फफोलों के कारण प्रतिपल ऐसी भीषण असह्य जलन होती थी मानो उनके शरीर पर जाज्वल्यमान अंगारे रक्खे हों। एक दिन त्रिभुवनगिरि में राजर्षि अभयदेव सूरि का आगमन हुआ। उनके तपश्चरण, त्याग और ज्ञान की महिमा कर्दमराज ने भी सुनी। वह येन केन प्रकारेण तर्क पंचानन अभयदेव सूरि के दर्शनार्थ उनके विश्राम-स्थल पर गया। वह उनके प्रभावशाली सौम्य व्यक्तित्व को देखकर बड़ा प्रभावित हुआ और उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उसकी पीड़ा में, जलन में थोड़ी शान्ति आई है। कर्दमराज ने विचार किया कि जिस महापुरुष के दर्शन मात्र से भीषण जलन थोड़ी बहुत मन्द हुई है तो अहर्निश इनके संसर्ग में रहने अथवा इनके चरणोदक को अपने शरीर पर छिड़कने से निश्चित रूप से यह व्याधि पूर्णत: निर्मूल हो सकती है। कर्दमराज ने तत्क्षण अचित्त जल मंगवाकर अभयदेव सूरि के चरणों का प्रक्षालन किया और उस चरण प्रक्षालन के जल से फफोलों पर, अपने उत्तमांग मुख एवं अंगोपांगों पर छिड़काव किया। उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा कि उसके फफोलों की जलन पूर्णत: शान्त हो गई है और वह अपने-आपको पूर्ण-रूपेण स्वस्थ अनुभव कर रहा है।

तदनन्तर कर्दमराज ने अभयदेव सूरि से धर्मोपदेश सुना। उपदेश से उसे बोधिलाभ हुआ। बोधिलाभ के कारण उसका अन्तर्मन वैराग्य के कभी न उतरने वाले प्रगाढ़ रंग में रंग गया। उसने अपने पुत्र को राज सिंहासन पर अभिषिक्त कर तर्क पंचानन अभयदेव सूरि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा देने पर आचार्य अभयदेव ने अपने नव दीक्षित शिष्य का नाम धनेश्वर रक्खा।

मुनि धनेश्वर ने गुरु की सेवा में रहते हुए विविध विद्याओं और आगमों का गहन ज्ञान प्राप्त किया। वे अनेक विद्याओं और आगमों के विशिष्ट विद्वान् बन गये। अपने अन्तिम समय में अभयदेव सूरि ने अपने शिष्य धनेश्वर मुनि को सर्वथा सुयोग्य समझकर राजगच्छ का आचार्य पद प्रदान किया।

आचार्य धनेश्वर सूरि उच्च कोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ बड़े प्रभावशाली व्याख्याता थे। इनकी वाणी में ओज और माधुरी ओतप्रोत थी। इन्होंने अनेक शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की। इनके समय में राजगच्छ एक विशाल और प्रभावशाली गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। धनेश्वर सूरि ने अनेक राजाओं को प्रबुद्ध कर जैनधर्मानुयायी बनाया।

इस प्रकार का भी उल्लेख उपलब्ध होता है कि चित्तौड़नगर में इन्होंने अठारह हजार ब्राह्मणों को उपदेश देकर जैन धर्मानुयायी बनाया। इनके विशाल शिष्य परिवार में १८ शिष्य उच्च कोटि के विद्वान् थे। गच्छ की विशालता को देखते हुए धनेश्वरसूरि ने अपने उन अठारहों विद्वान् शिष्यों को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और उनसे राजगच्छ की १८ शाखाएँ प्रचलित हुईं।

धनेश्वर सूरि के राजगच्छ की उन १८ शाखाओं में से जिस शाखा का मुख्य क्षेत्र चित्तौड़ रहा, वह चैत्रवाल गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1]

इन धनेश्वर सूरि के पश्चात् राजगच्छ के पट्टधर आचार्य अजितसिंह सूरि हुए और अजितसिंह सूरि के पश्चात् आचार्य वर्द्धमान सूरि हुए।

इन वर्द्धमान सूरि ने विक्रम सम्वत् ९८० से ९९१ के बीच की अवधि में वनवासी गच्छ के आचार्य विमलचन्द्र सूरि के शिष्य वीरमुनि को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। इस प्रकार इस राजगच्छ में अनेक विद्वान् और धर्म प्रभावक आचार्य हुए। उनका यथास्थान परिचय देने का प्रयास किया जायेगा।

---

[1] जैन परम्परा नुं इतिहास, भाग १ पृष्ठ ५०८

दिगम्बर परम्परा में माथुर संघ की उत्पत्ति

दिगम्बर परम्परा में विक्रम सं० ९५३ तदनुसार वीर नि० सं० १४२३ में आचार्य रामसेण ने मथुरा में माथुरसंघ की संस्थापना की। ये रामसेण मथुरा प्रदेश के दिगम्बर परम्परानुयायियों में बड़े ही लोकप्रिय थे। इन्होंने दिगम्बर परम्परा में उस समय में प्रचलित अनेक प्रमुख मान्यताओं से पूर्णतः भिन्न मान्यताएं प्रचलित कीं। आचार्य रामसेन द्वारा प्रचलित की गई नवीन मान्यताओं में से प्रमुख दो मान्यताएं निम्न प्रकार है—

साधुओं के लिये मयूरपिच्छ, बलाकपिच्छ अथवा—पिच्छ आदि किसी भी प्रकार की पिच्छी रखने की कोई आवश्यकता नहीं। उन्होंने अपने साधुओं को किसी भी प्रकार की पिच्छी रखने का निषेध किया। इसी कारण दिगम्बर परम्परा में इनका माथुर संघ निष्पिच्छक गच्छ के नाम से अभिहित किया जाने लगा।

आगमिक उल्लेखों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि साधु के पंच महाव्रतों में से प्रथम अहिंसा नामक महाव्रत की समीचीन रूप से परिपालना के लिये रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो धर्मोपकरण प्रत्येक साधु-साध्वी के लिये अनिवार्यरूपेण परमावश्यक उपकरण बताये गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य एकादशांगी के एतद्विषयक सुस्पष्ट उल्लेखों को देखने से यह सिद्ध होता है कि श्रमण भगवान् महावीर द्वारा किये गये तीर्थ-प्रवर्तन के समय से ही पंच महाव्रतधारियों के लिये, अहिंसा महाव्रत के निरतिचार—रूपेण परिपालनार्थ इन दो धर्मोपकरणों का अर्थात् रजोहरण (पिच्छी) एवं मुखवस्त्रिका का रखना निरपवादतः अनिवार्य रूपेण आवश्यक बताया गया है। दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य मान्य धर्मग्रन्थों में भी पिच्छी और कमण्डलु इन दो धर्मोपकरणों का रखना, तीर्थकरों को छोड़ सभी पंच महाव्रतधारियों के लिये, दिगम्बर परम्परा के प्रादुर्भाव काल से ही अनिवार्य रखा गया है।

किन्तु माथुरसंघ के संस्थापक आचार्य रामसेण ने "दर्शनसार" के निम्न उल्लेखानुसार साधुओं को किसी प्रकार की पिच्छी रखने का निषेध किया—

तत्तो दुसएतीदे, महुराए महुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो, णिपिच्छं वण्णियं तेण ॥४०॥

अर्थात्—तदनन्तर यानि विक्रम सं० ७५३ में नन्दितट नामक सुन्दर ग्राम में काष्ठासंघ की स्थापना के २०० वर्ष पश्चात् वि० सं० ९५३ में मथुरा प्रदेश के

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे, सन्ति त्रयो गुणाः ।।

इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि माघ कितना बड़ा प्रकाण्ड पण्डित था। अपने ज्येष्ठ भ्राता (ताऊ के पुत्र) माघ के समान ही सिद्धर्षि भी अप्रतिम काव्य प्रतिभा के धनी थे। जहां उनके ज्येष्ठ बन्धु महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' की रचना कर केवल साहित्यिक जगत् में ही विपुल कीर्ति प्राप्त की; वहां सिद्धर्षि ने, सकल कर्मकलुष को धोकर जीवनमुक्त होने की कामना वाले मुमुक्षु साधकों के लिये प्रकाशस्तम्भ तुल्य प्रशस्त पथप्रदर्शक 'उपमिति भवप्रपंच कथा' नामक महाकाव्य के सभी गुणों से परिपूर्ण एवं अध्यात्मज्ञान से ओत-प्रोत अत्युत्तम विशाल ग्रन्थ की रचना कर आध्यात्मिक जगत् और साहित्यिक जगत्—दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से अक्षय-कीर्ति अर्जित की। वे संसार में अध्यात्म रस को ही सारभूत एवं अमृतत्व प्रदायी रस समझते थे। इस आगमवचन के अनुसार—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ।।

(उत्तराध्ययन सूत्र)

वे अध्यात्मकला के अतिरिक्त संसार की सब कलाओं को निरर्थक समझते थे। उन सिद्धर्षि का जीवनवृत्त संक्षेप में इस प्रकार है :—

विशाल गुजरात राज्य के अधिपति वर्मलात नामक महाराजा के महामात्य सुरप्रभ के कनिष्ठ पुत्र शुभंकर की पतिपरायणा—धर्मनिष्ठा पत्नी लक्ष्मी की कुक्षि से सिद्धर्षि का जन्म गुजरात की राजधानी श्रीमाल में विक्रम की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भकाल के आस-पास हुआ। शुभंकर श्रेष्ठि विपुल वैभव का धनी एवं महादानी था। अतः सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से सम्पन्न एवं ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण में शिशु सिद्ध का बड़े दुलार से लालन-पालन किया गया। शिक्षा योग्य वय हो जाने पर पिता ने अपने पुत्र के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की। कुशाग्र-बुद्धि बालक सिद्ध युवावस्था में पदार्पण करते-करते अनेक विद्याओं में निष्णात हो गया।

सिद्धकुमार अतुल सम्पदा के स्वामी माता-पिता का इकलौता पुत्र था। सुखोपभोग की सामग्री की इसके यहां किसी प्रकार की कमी नहीं थी। एक कुलीन कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया गया। उसके समवयस्क मित्रों की संख्या भी बढ़ने लगी। कुछ मनचले व्यसनप्रिय मित्रों के संसर्ग के परिणामस्वरूप सिद्ध कुमार को जुआ खेलने का व्यसन लग गया। द्यूतक्रीड़ा के दुर्व्यसन में वह शनैः-शनैः इतना अधिक ग्रस्त हो गया कि रात्रि में बड़ी देर से वह घर लौटने लगा। उसकी पत्नी उसकी प्रतीक्षा में रात-रात भर जागती रहती। इस प्रकार नित्य निरन्तर

रात्रिजागरण और चिन्ता के फलस्वरूप सिद्ध की पत्नी उत्तरोत्तर कृष से कृषतर होती गई और अस्वस्थ रहने लगी।

एक दिन गृहस्वामिनी लक्ष्मी ने अपनी पुत्रवधु की इस प्रकार की स्थिति देखकर चिन्ता प्रकट करते हुए पूछा :—"पुत्रि ! तुम इन दिनों कृष क्यों होती जा रही हो ? तुम्हारी सौम्य एवं मनोहारी मुखमुद्रा पर चिन्ता की रेखाएं क्यों उभरती जा रही हैं ? तुम्हें किस बात का दु:ख है, निस्संकोच होकर स्पष्ट कहो।"

सिद्धकुमार की पत्नी ने विनम्र स्वर में उत्तर दिया :—"मां ! आपकी ममतामयी छत्रछाया में मुझे दु:ख किस बात का हो सकता है।" उत्तर देते-देते उसका गला भर आया और अन्तस्तल के उद्वेग को रोकने का पूर्ण प्रयास करने पर भी उसकी आंखों से हठात् अश्रुकण ढुलक पड़े। अश्रुओं को छिपाने का प्रयास करते हुए उसने अपना सिर झुका लिया।

सास ने बड़े दुलार से अपनी पुत्रवधु को अपने वक्षस्थल से लगा लिया और दुलार से उसकी पीठ सहलाते हुए पूछा :—"बेटी ! कहीं अपनी मां से भी भला कोई बात छुपाई जाती है। स्पष्ट कहो, तुम्हें किस बात का दु:ख है, किस बात की चिन्ता है ?"

एक बार तो सिद्ध कुमार की पत्नी के मानस में बड़े प्रबल वेग से ज्वार उठा किन्तु तत्क्षण अपने आपको सम्हालते हुए उसने अपनी सास से कहा :—"मां ! दु:ख और चिन्ता की तो कोई बात नहीं, किन्तु आपके सुपुत्र रात्रि में बाहर से बड़ी देर से प्राय: उषा वेला में घर लौटते हैं। मुझे रात भर जागृत रहते हुए उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। निरन्तर रात्रि-जागरण के कारण मैं आपको उदास और कृष प्रतीत हो रही हूं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं है।"

सास ने कहा :—"अच्छा ! तुमने पहले मुझे इस बात से अवगत क्यों नहीं किया ? खैर, मैं अब समुचित प्रबन्ध कर दूंगी। तुम निश्चिन्त रहो।"

सायंकाल सब प्रकार के आवश्यक कार्यों से निवृत्त होने के अनन्तर गृहस्वामिनी ने अपनी पुत्रवधु को निश्चित होकर सो जाने का निर्देश दिया और स्वयं गृह के मुख्य द्वार के समीप वाले कक्ष में बैठ कर अपने पुत्र के घर लौटने की प्रतीक्षा करने लगी। रात्रि के चतुर्थ चरण का कुछ समय व्यतीत होने पर गृहस्वामिनी लक्ष्मी को प्रवेश द्वार के समीप अपने पुत्र के पदचाप की ध्वनि सुनाई पड़ी। वह कुछ क्षण मौन साधे बैठी रही। गृह द्वार खोले जाने की प्रार्थना किये जाने पर उसने घनरव गम्भीर स्वर में पूछा—

"इस समय कौन है, यह द्वार पर ?

"माता की बोली सुनकर सहमे हुए स्वर में सिद्ध ने उत्तर दिया:–"सिद्ध।"

माता ने कुछ आक्रोश भरे स्वर में पूछा —"कौन सिद्ध ? कैसा सिद्ध ? ऐसे होते हैं सिद्ध ?"

विनम्र स्वर में सिद्ध ने उत्तर दिया—मां ! यह तो मैं तुम्हारा पुत्र सिद्ध हूं।"

पुत्र को शिक्षा देने के लिये उसने किंचित् कठोर स्वर में कहा—"मैं नहीं जानती स्वेच्छा विहारी उस सिद्ध को, जिसके घर आने-जाने का कोई समय निश्चित नहीं। यह भी कोई समय है इतनी रात गये घर लौटने का ? गृहस्थों के घरों के द्वार रात भर खुले नहीं रह सकते।"

पुत्र ने अपने अपराध को स्वीकार करने के स्वर में माता से प्रश्न किया – तो, इस समय मैं अन्यत्र कहाँ जाऊँ माँ ?"

आज यदि द्वार नहीं खोलूंगी तो मेरा पुत्र भविष्य में सदा समय पर आया करेगा, यह विचार कर मां ने उत्तर दिया—"चला जा वहीं, जहां रात में द्वार खुले रहते हों।"

इसे मां के आदेश के रूप में ग्रहण करते हुए सिद्ध तत्काल बिना कुछ बोले ही अपने घर के द्वार से मुड़कर श्रीमाल नगर के मुख्य मार्ग पर दोनों पार्श्व के घरों की ओर दृष्टिनिपात करता हुआ आगे की ओर बढ़ने लगा। उसने देखा कि सभी घरों के द्वार बन्द हैं, एक भी घर का द्वार खुला हुआ नहीं है। जहां वह मां के आदेश के अनुसार जा सके। खुले द्वार वाले घर की खोज में विभिन्न मार्गों, वीथियों और रथ्याओं में भ्रमण करते करते सिद्ध की दृष्टि एक ऐसे घर पर पड़ी, जिसके द्वार पूर्णतः खुले थे।

माता के आदेश के अनुरूप यही वह घर है, जहां वह जा सकता है। इस प्रकार विचार कर सिद्ध ने उस घर में प्रवेश किया। वह एक जैन उपाश्रय था। वहां उसने देखा कि उसमें एक जैनाचार्य अपने श्रमण शिष्यों के साथ विराजमान हैं। सभी मुनि जागृत एवं विविध आध्यात्मिक साधनाओं में निरत थे। सिद्धकुमार ने देखा कि कतिपय मुनि पट्ट पर पद्मासन से आसीन अपने गुरु के सम्मुख विनयावनत हो जिज्ञासु मुद्रा में बैठे हुए अपनी तत्वज्ञान पिपासा को शान्त कर रहे हैं, कतिपय मुनि स्वाध्याय में लीन हैं, कतिपय उत्कटासन लगाए हुए तो कतिपय गोदुहासन लगाये हुए आत्मचिन्तन में तल्लीन हैं।

उन शान्त-दान्त मुनियों के दर्शनमात्र से ही सिद्धकुमार के अन्तस्तल में अनिर्वचनीय शान्ति का झरना फूट पड़ा। उसे अनुभव हुआ, कितना अन्तर है इन मुनियों के और उसके जीवन में। वह सोचने लगा –"कहां तो ये शील एवं संयम की

साधना तथा ईश्वर की उपासना में अहर्निश लीन रहने वाले महान् सन्त और कहां विषय-कषायों का कृमि एवं दुर्व्यसनों का दास मैं। ये महापुरुष अभ्युत्थान के पथ पर आरूढ़ हो अमृतत्व एवं अक्षय शान्ति की प्राप्ति के लिये मुक्ति पथ पर अग्रसर हो रहे हैं और कहां मैं विषय-कषायों के हलाहल विषपान से उन्मत्त बना अधःपतन के गर्त में बड़े तीव्र वेग से गिरा जा रहा हूं। ये महापुरुष शान्ति, शील, संयम एवं सदाचार के रास्ते पर चल कर मानव जन्म को सफल बना रहे हैं और मैं दुर्व्यसनों का क्रीत दास बना अपने मानव जन्म को न केवल विफल ही बना रहा हूं, अपितु मिट्टी में मिला रहा हूं। धिक्कार है मुझे जो मैं दुर्व्यसनों के घोर दलदल में फंस कर अपने इहलोक में अपशय का और परलोक में दुस्सह्य दारुण दुःखों का भाजन बनने का उपक्रम कर रहा हूं। यह मेरे पुराकृत किसी महान् पुण्योदय का ही फल है कि आज मुझे इन तरण-तारण, स्व-पर कल्याण में रत महापुरुषों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आज का दिन वस्तुतः मेरे लिये महान् शुभ दिन है, जबकि मां का कोप भी मेरे लिये इस रूप में वरदान स्वरूप सिद्ध हो रहा है।"

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ सिद्धकुमार पट्ट पर विराजमान आचार्य के समक्ष पहुंचा और उसने उन्हें प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति के साथ वन्दन नमन किया।

आचार्य ने आशिषमुद्रा में करतल उठाते हुए उससे प्रश्न किया—"सौम्य ! तुम कहां के रहने वाले हो, इस वेला में तुम्हारा यहां आगमन कैसे हुआ ?"

सिद्ध ने सब कुछ यथातथ्यरूपेण स्पष्टतः प्रकट करते हुए कहा—"भगवन् ! मैं इस नगर के श्रेष्ठि शुभंकर का इकलौता पुत्र हूं। मेरा नाम सिद्ध है। मैं द्यूत-क्रीड़ा के व्यसन में इतना अधिक लिप्त हो गया कि रात्रि में बड़ी देर से घर आने लगा। सदा तो मेरी पत्नी गृह के मुख्यद्वार खोल देती थी किन्तु आज जब मैंने द्वार खटखटाये तो माता ने द्वार खोलने से मना कर दिया और मुझे कहा कि जहां रात्रि में द्वार खुले रहते हों, उसी घर में चला जा। इस भवन के द्वार खुले देख कर माता के कथन की अनुपालना करता हुआ मैं यहां आ गया। यहां आपके दर्शन कर मैं कृतकृत्य हो गया। अब आज से लेकर जीवन-पर्यन्त मैंने आपके चरणों की शरण में रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। संसार सागर से पार लगाने वाले महान् जलपोत तुल्य आपको पाकर अब मैं अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहता। संसार में भला ऐसा कौन मूर्ख होगा जो नाव के मिल जाने पर भी समुद्र को पार नहीं करना चाहेगा।"

सिद्ध के विनय, व्यक्तित्व और वाग्मिता को देख कर आचार्य ने जब ज्ञानोपयोग लगाया तो वे मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें नवागन्तुक कुमार सिद्ध में जिनशासन के भावी महान् प्रभावक के सभी लक्षण दृष्टिगोचर हुए।

इसे समझ कर आचार्य ने सिद्ध को मधुर सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए कहा—सौम्य ! हमारे पास तो वही रह सकता है जो हमारे जैसा वेष धारण कर ले। श्रमणधर्म अंगीकार किये बिना कोई भी हमारे पास नहीं रह सकता और तुम्हारे जैसे स्वेच्छाचारी के लिये श्रमणधर्म को अंगीकार करना बड़ा कठिन कार्य है। कन्दर्प के दर्पका पूर्णरूपेण दलन कर दुश्चर घोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग कर मधुकरी से–जीवन-निर्वाह करना, शरीर के अंग-प्रत्यंग में पीड़ा उत्पन्न कर देने वाला केशलुंचन करना, बालुकापिण्ड के भक्षण के समान नितान्त निस्स्वादु संयम का पालन करना, ग्रामकण्टक दुष्ट पुरुषों के तीखे व्यंगपूर्ण दुस्सह्य कटुवचन शान्त समभाव से सुनना, लोहे के चने चबाने तुल्य २२ प्रकार के परीषहों को हर्षामर्षविहीन शान्त चित्त से सहन करना, उग्र चपश्चरण करना, ये सब तलवार की धार पर चलने के समान दुश्चर, दुरूह और दुस्साध्य हैं।"

आचार्य श्री की बात ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् सिद्ध ने संयत, सुदृढ़ एवं विनम्र स्वर में निवेदन किया–"भगवन् ! मैं विगत कुछ समय से दुर्व्यसन में लिप्त हूं। जो लोग दुर्व्यसनों के दास बन जाते हैं, वे लोग अन्ततोगत्वा चोरी आदि घोर अपराध करना प्रारम्भ कर देते हैं। उनके अपराधों के दण्ड के रूप में राज्य द्वारा उन लोगों के नाक, कान, बाहु-युगल और चरण-युगल तक काट दिये जाते हैं। उनके घर वाले उन्हें घर से निकाल देते हैं। इस प्रकार अपंग, असहाय, और अवश बने वे लोग भीख मांग कर अपनी उदरपूर्ति करते हैं। देव ! दुर्व्यसनियों की अवश्यंभावी इस प्रकार की दयनीय दुरवस्था की तुलना में भी क्या आपके द्वारा बताये गये श्रमणधर्म की परिपालना में आने वाले कष्ट अधिक दुस्सह्य एवं दारुण हैं ? संयम तो वस्तुतः विश्ववन्द्य है। मेरी मान्यता है भगवन् ! कि दुर्व्यसनियों के जीवन में अवश्यंभावी उन दुःखों की तुलना में तो संयम जीवन में होने वाले कष्ट नगण्य एवं नहीं वत् हैं। इसके उपरान्त भी सबसे बड़ी बात यह है कि दुर्व्यसनजन्य उन दारुण दुखों को इहलोक में भोग लेने के पश्चात् परलोक में भी दुर्व्यसनियों का दुःखों से छुटकारा नहीं होता। परलोक में तो उन्हें इहलोक के उन कष्टों से भी अधिक घोरातिघोर दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं। इसके विपरीत संयम-जीवन के स्वेच्छापूर्वक वरण किये गये दुःखों-कष्टों–परीषहों को समभावपूर्वक सहन कर लेने के पश्चात् या तो साधक उत्कट साधना द्वारा सदा-सर्वदा के लिये सब प्रकार के दुःखों का उसी भव में अन्त कर शाश्वत–अव्याबाध अनन्त सुख का अधिकारी हो जाता है अथवा दिव्य देव सुखों एवं महर्द्धिक मानव-भव के सुखों को भोगकर दो, तीन या इने-गिने भवों में ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अजरामर पद को प्राप्त कर लेता है। भगवन् ! मैं अब सब प्रकार के दुःखों का सदा-सदा के लिये अन्त करने का दृढ़ संकल्प कर चुका हूं। अतः इस दीन पर दया करके इसे श्रमण धर्म की दीक्षा देकर अपने इन सकल संताप, पाप, भवतापहारी चरण-कमलों

में शरण दीजिये। इस दास के सिर पर अपना वरद हस्त रख कर कृतकृत्य कीजिये।"

सिद्ध द्वारा दृढ़ संकल्प के साथ अभिव्यक्त किये गये आन्तरिक उद्गारों एवं उसकी भावाभिव्यंजना की शैली से आचार्यश्री अतीव चमत्कृत हो मन ही मन बड़े प्रमुदित हुए। उन्होंने कहा—"वत्स ! हम कोई भी बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करते। हमारे पास संयम लेने के लिये तुम्हारे माता-पिता-पत्नी की स्वीकृति आवश्यक है। तब तक के लिये धैर्य रखो।" आचार्यदेव के आदेश को शिरोधार्य कर सिद्ध कुमार उपाश्रय में ही रह गया। सुयोग्य शिष्य की उपलब्धि की आशा में आचार्यश्री को आन्तरिक आह्लाद का अनुभव हुआ।

उधर प्रातःकाल होने पर रात्रि की सारी घटना का हाल अपनी पत्नी से सुनकर शुभंकर शीघ्र ही अपने घर से बाहर निकला और अपने पुत्र को ढूंढ़ता हुआ उसी उपाश्रय में आया तो शान्ति के पीयूष से सद्यस्नात की भांति अपने पुत्र को शान्त-दान्त मुद्रा में वहां बैठे देखा। उसने सिद्ध के समीप जा कर कहा—पुत्र ! यदि प्रारम्भ से ही मैं तुम्हें इन महापुरुषों के सत्संग में देखता तो मुझे अत्यन्त आनन्द होता किन्तु साधुओं के आचार से बिल्कुल विपरीत द्यूतक्रीड़ा के व्यसनी का संगम मुझे सूर्य और केतु के संयोग के तुल्य दुखद प्रतीत हो रहा है। चलो अब घर चलो, तुम्हारी माता अतीव उत्कट उत्कण्ठापूर्वक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम्हारे चले आने के कारण तुम्हारी माता शोकाग्नि में संतप्त हो रही है।"

पिता की बात सुन कर सिद्ध ने कहा—"तात ! अब तो भवाब्धिपोत तुल्य तारण-तरण समर्थ गुरुदेव के चरणों में मेरा चित्त लीन हो गया है। मैं अब जीवन-पर्यन्त इनके चरणों की शरण में रह कर घोरातिघोर दारुण दुःखों से ओत-प्रोत संसार सागर से पार होने का प्रयास करूंगा। अतः अब मैं घर नहीं लौटूंगा। सार तत्व को समझ लेने के पश्चात् मुझे उस घर से अब कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। अब तो इन समर्थ गुरुदेव के चरणों में श्रमणधर्म की दीक्षा अंगीकार करने के लिये मेरा मन व्यग्र हो रहा है। अब आप अपने मन से मेरे प्रति मोह को सदा के लिये पूर्णतः दूर कर दीजिये। माता ने मुझे आदेश दिया था कि जहां सदा सब द्वार खुले रहते हों, वहीं चले जाओ। मां की आज्ञा की अनुपालना में पुराकृत विपुल पुण्य के प्रताप से मैं संसार के सर्वाधिक उपयुक्त स्थान पर अब आ गया हूं, तो अब जीवन भर इन महापुरुषों की चरण-शरण में ही रहूंगा। जीवन-पर्यन्त अपनी जननी की उस महाकल्याणकारिणी आज्ञा का पालन करता रहूंगा, इसी से मेरी कुलीनता निष्कलंक एवं अक्षत बनी रह सकेगी।"

अपने अन्तस्तल में अगाध पीड़ा का अनुभव करते हुए शुभंकर श्रेष्ठि ने कहा—"पुत्र ! इस प्रकार का विचार तुम्हें अपने मन में भूल कर भी नहीं लाना

चाहिये। लोगों में हमारी गणना न केवल कोटिध्वज श्रीमन्त के रूप में अपितु असंख्य ध्वजाधिपति श्रीमन्त के रूप में की जाती है। थोड़ा इस बात पर तो विचार करो कि यदि हमारे घर के एक मात्र दीपक तुम्हीं घर-बार का त्याग कर अपरिग्रही साधु बन जाओगे तो इस असंख्य ध्वज-मिता सम्पदा का उपभोग कौन करेगा? इसका उपयोग क्या होगा? अतः उठो, घर चलो और सत्पुरुषों द्वारा श्लाघनीय सदाचार के मार्ग पर चलते हुए अपार लक्ष्मी का अपनी इच्छानुसार उपभोग करो, दान-पुण्य आदि उभयलोक कल्याणकारी कार्यों में इसका उपयोग करो। तुम्हारी ममतामूर्ति माता के तुम नयनतारे हो। नवोढ़ा कुलवधु, जिसने अभी-अभी यौवन की देहली पर पदार्पण किया है, वह भी अभी तक संततिविहीन ही है। उन दोनों के तुम्हीं एक मात्र जीवनाधार हो। मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूं। मेरा क्या भरोसा, न जाने किस क्षण सदा के लिये आंखें निमीलित कर अज्ञात लोक की ओर प्रयाण कर जाऊं। अतः अतुल वैभव का, सांसारिक सुखों का तुम उपभोग करो। यदि तुम जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा चाहते हो तो अपने वंश की परम्परा को अक्षुण्ण रूप से चलाने वाली संतति के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाना।"

सिद्धि को ही अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य बना चुकने वाले सिद्ध को मोह, ममता, प्रलोभन आदि सांसारिक प्रपंच उसके दृढ़ निश्चय से किंचित्मात्र भी विचलित नहीं कर सके। सिद्ध ने अपने पिता से कहा—"तात! इन सांसारिक प्रपंचों में फंसा रहने के कारण मैं भी अन्य संसारी जीवों की भांति अनन्त काल से कराल काल की विकराल चक्की में निरन्तर पिसता आ रहा हूं। अब मैं क्षण भर के लिये भी इन सांसारिक प्रपंचों में नहीं फंसना चाहता। मेरा मन अब ब्रह्म में, आत्मस्वरूप में लीन हो बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बन चुका है। अब किसी भी प्रकार के लौकिक प्रलोभन का मेरे अन्तर्मन पर किंचित्मात्र भी प्रभाव होने वाला नहीं है। अब तो आपसे एक ही विनम्र प्रार्थना है कि आप इन गुरुदेव से यह प्रार्थना कीजिये—"करुणासिन्धो! कृपा कर मेरे पुत्र इस सिद्ध को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर सदा के लिये अपनी शरण में लेने का अनुग्रह कीजिये।" इस प्रकार सिद्ध ने पुनः पुनः अपने पिता से यही अनुरोध किया।

शुभंकर को जब पूर्ण विश्वास हो गया कि उसके पुत्र के मन में न तो किसी प्रकार का आक्रोश है और न रोष ही, एवं उसका अन्तर्मन पूर्णतः वैराग्य के अमिट रंग में रंग गया है, संसार की कोई शक्ति उसको अब योगमार्ग से मोड़ कर भोगमार्ग में प्रवृत्त नहीं कर सकती, तो अन्य कोई उपाय न देखकर शुभंकर ने आचार्यदेव के चरणों में प्रणिपातपूर्वक प्रार्थना की—"विश्ववन्द्यो! आचार्यदेव! कृपा कर आप मेरे इस मुमुक्षु पुत्र सिद्ध को श्रमणधर्म में दीक्षित कर सदा के लिए अपनी चरण-शरण में ले लीजिये।"

शुभंकर की प्रार्थना स्वीकार कर आचार्यश्री ने कतिपय दिनों पश्चात् शुभ मुहूर्त में सिद्धर्षि को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की। गुरु ने अपने नवदीक्षित शिष्य सिद्ध को अपनी गुरु परम्परा के कतिपय आचार्यों के नाम सुनाते हुए कहा—"वत्स ! सावधान होकर सुनो। पुरातन काल में भगवान् महावीर के (युगप्रधानाचार्य परम्परा की पट्टावली के अनुसार) १८वें पट्टधर आर्य वज्रस्वामी नामक एक महान् प्रभावक युगप्रधानाचार्य हुए हैं, जो कि दश पूर्वों के ज्ञान के धारक थे। वीर नि. सं. ५८५ में आर्य वज्रस्वामी के स्वर्गस्थ होने पर उनके पट्टधर आचार्य वज्रसेन हुए। आचार्य वज्रसेन के नागेन्द्र, निर्वृत्ति, चन्द्र और विद्याधर नामक चार मुख्य शिष्य थे। आचार्य वज्रसेन के उन चारों प्रमुख शिष्यों के नाम पर चार गच्छ प्रचलित हुए। निर्वृत्ति गच्छ में सूराचार्य नामक एक महान् आचार्य हुए। उन्हीं सूराचार्य का शिष्य मैं गर्ग ऋषि नामक आचार्य तुम्हारा दीक्षा गुरु हूं। प्रमाद से दूर रहकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंच महाव्रतों का तुम्हें जीवन-पर्यन्त विशुद्ध रूपेण पालन करना है।"

सिद्ध मुनि ने अपने गुरु गर्गर्षि की आज्ञा को सविनय शिरोधार्य कर उग्र तपश्चरण के साथ-साथ बड़ी ही निष्ठापूर्वक आगमों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। कुशाग्र बुद्धि के धनी सिद्ध मुनि ने अपेक्षित समय से पूर्व ही न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, नीति आदि सभी विद्याओं में निष्णातता प्राप्त कर ली और वे अंग शास्त्रों के विशिष्ट मर्मज्ञ विद्वान् बन गये। विभिन्न दर्शनों के तर्कग्रन्थों का अध्ययन कर न्याय शास्त्र पर विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् सिद्धर्षि के मन में विचार उत्पन्न हुआ—"अपने और अन्यान्य प्रायः सभी धर्मों के तर्कग्रन्थों का अध्ययन तो मैंने कर लिया किन्तु बौद्ध धर्म के न्यायशास्त्र तो केवल बौद्धबहुल सुदूरस्थ प्रान्त के बौद्ध विद्यापीठ में ही पढ़ाये जाते हैं। अतः मुझे वहां जाकर बौद्ध न्याय का भी अध्ययन कर अपने ज्ञान में और वृद्धि करनी चाहिये।"

इस प्रकार विचार करते-करते सिद्धर्षि के मन में बौद्ध न्याय का अध्ययन करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। एक दिन उन्होंने अपने गुरु की सेवा में उपस्थित हो उनके समक्ष, अपनी बौद्ध न्याय पढ़ने की अभिलाषा प्रकट करते हुए सुदूरस्थ बौद्ध विद्यापीठ में अध्ययनार्थ जाने की अनुज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की।

अपने निमित्त ज्ञान का उपयोग लगाकर गर्गर्षि ने अपने शिष्य सिद्धर्षि से कहा—"वत्स ! विद्याध्ययन के विषय में सन्तोष न करना तो वस्तुतः शुभ लक्षण है किन्तु तुम्हारे इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में मुझे स्पष्टतः यह आभास हो रहा है कि बौद्धों के कुतर्कों एवं हेत्वाभासों से तुम्हारी मति भ्रान्त हो जायगी। उसका परिणाम यह होगा कि अपने धर्म के प्रति तुम्हारी आस्था लुप्त हो जायगी और बौद्ध धर्म के प्रति तुम आस्थावान् बन जाओगे। इसने आज तक तुमने पंच

महाव्रतों का पालन करते हुए जो पुण्य अर्जित किया है, वह तुम्हारा पुण्य नष्ट हो जायगा, तुम्हारी आज तक की हुई अध्यात्मसाधना व्यर्थ चली जायगी। ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारे हित में यही उचित समझता हूं कि तुम्हें बौद्धों के शिक्षण संस्थान में जाकर बौद्ध-न्याय के अध्ययन का विचार अपने मन से निकाल देना चाहिये। यदि वहां जाने का विचार तुम्हारे मन से किसी भी प्रकार नहीं निकलता है तो तुम मेरे समक्ष यह प्रतिज्ञा करो कि बौद्धों के कुतर्कों से भ्रान्तचित्त हो जाने के उपरान्त भी तुम उनके संघ के सदस्य बनने से पूर्व एक बार मेरे पास अवश्य आओगे और हमारे प्रथम महाव्रत अहिंसा का जो प्रधान एवं सर्वप्रमुख उपकरण तथा अनिवार्य चिह्न यह रजोहरण है, इसे तुम स्वयं हमें ही लाकर समर्पित करोगे।"

अपने गुरु के मुख से इस प्रकार की बात सुनते ही सिद्धर्षि अपने दोनों करतलों से अपने दोनों कर्णरन्ध्रों को आच्छादित करते हुए बोले—शान्तं पापं, शान्तं पापं, अमंगलं प्रतिहतं अर्थात् पाप शान्त हो, अमंगल का नाश हो। गुरुदेव ! ऐसा कृतघ्न शिष्य कौन होगा जो आपके द्वारा उद्घाटित अपने ज्ञान-चक्षुओं को परवादियों के विषधूम्र तुल्य कुतर्कों से मलिन कर अपनी सम्यग्दृष्टि को पुनः दूषित कर लेगा ? देव ! रजोहरण समर्पित करने की अन्तिम बात आपने मेरे लिये मेरे किस अपराध के उपलक्ष में कही है ? भगवन् ! कोई भी कुलीन व्यक्ति अपने गुरु को कभी नहीं छोड़ सकता। धतूरे के नशे के प्रभाव से भ्रान्तचित्त हुए मानव के समान यदि वहां जाने पर मुझे कदाचित् मतिविभ्रम हो भी गया, तो भी मैं आपके आदेश का पालन कर आपकी सेवा में अवश्यमेव उपस्थित होऊंगा, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है। सुनता आया हूं कि बौद्धों का न्यायशास्त्र तर्कजाल से परिपूर्ण होने के कारण बड़ा ही दुर्गम, जटिल एवं दुरूह है। अतः बहुत दिनों से मेरे अन्तर्मन में यह अभिलाषा बलवती होती जा रही है कि मैं भी उनको पढ़ूं और देखूं कि वे कैसे जटिल हैं। उनके अध्ययन से मुझे भी अपनी बुद्धि के सम्बन्ध में ज्ञात हो जायगा कि इसमें कितनी क्षमता है।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने और अपने गुरु की अनुज्ञा प्राप्त हो जाने के पश्चात् सिद्धर्षि वहां से प्रस्थित हो अनुक्रमशः ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ बड़ी लम्बी यात्रा पूर्ण कर एक दिन महाबोधि नामक बौद्धों के एक विख्यात शिक्षा केन्द्र में पहुंचा। विद्यार्थी के रूप में उसने बौद्ध विद्यापीठ में प्रवेश प्राप्त कर बौद्ध दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया। जिन जटिल न्याय-ग्रन्थों, तर्कशास्त्रों के गुत्थियों से भरे निगूढ़तम मर्म को उच्चकोटि के उद्भट विद्वान् भी समझने समझाने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करते थे, उन गूढ़ विषयों-रहस्यों को अनायास ही हृदयंगम कर विशद् व्याख्या सहित समझने-समझाने की उस नवागन्तुक विद्यार्थी सिद्धर्षि की अदृष्टपूर्व अद्भुत् क्षमता एवं कुशाग्र बुद्धि को देख कर अनुक्रमशः

अध्यापक, प्राचार्य और उस विद्यापीठ के सभी विद्वान् आचार्य एवं अधिष्ठाता तक बड़े चमत्कृत हुए। स्वल्पकाल में ही सिद्धर्षि ने समस्त बौद्ध वांग्मय का तलस्पर्शी अध्ययन सम्पन्न कर उसमें निष्णातता प्राप्त कर ली। सिद्धर्षि की गणना बौद्ध दर्शन के मूर्द्धन्य विद्वानों में की जाने लगी।

सिद्धर्षि की सूच्यग्र मेधाशक्ति की महिमा विभिन्न बौद्ध विद्यापीठों में फैलते-फैलते सम्पूर्ण बौद्ध संघ में प्रसृत हो गई। विद्यापीठ के अधिष्ठाता बौद्ध-दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ–पारगामी विद्वान्, बौद्ध भिक्षु अथवा महावादी बौद्धाचार्यों में से जिस किसी ने भी सिद्धर्षि के साथ साक्षात्कार किया, उससे किसी भी विषय पर चर्चा की, वे सभी सिद्ध के मुख से जटिल से जटिलतम गूढ़ तत्वों पर विशद् विवेचन एवं सुगम व्याख्या सुनकर आश्चर्याभिभूत हो अवाक् रह गये।

बौद्ध संघ के मूर्धन्य विद्वानों, संचालकों एवं आचार्यों ने मिलकर एकान्त में गूढ़ मन्त्रणा की :—"यह सिद्ध वस्तुतः चिन्तामणि तुल्य अद्भुत प्रतिभाशाली नर-रत्न है। वर्तमान में तो दूर-दूर तक इसके समान ऐसा अद्भुत प्रतिभा का धनी कोई व्यक्ति कहीं देखने सुनने में नहीं आया। यदि यह विद्वान् किसी भी उपाय से बौद्ध-संघ में दीक्षित हो जाय तो बौद्ध संघ की सर्वतोमुखी उन्नति हो सकती है। अतः येन-केन प्रकारेण सत्कार-सम्मान, प्रोत्साहन, मृदु-मंजुल संभाषण, वाग्जाल, अभिवर्द्धन आदि सभी भांति के उपायों से बौद्ध संघ में दीक्षित होने के लिये इसे आकर्षित किया जाय।"

इस प्रकार गुप्त मन्त्रणा कर बौद्धाचार्यों, भिक्षुओं एवं विद्वानों आदि ने सिद्धर्षि को अपने जाल में फंसाने का इस चातुरी से प्रयास प्रारम्भ किया कि अन्त में सिद्ध के मस्तिष्क में मतिविभ्रम उत्पन्न हो गया और उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा स्वीकार कर ली।

सिद्ध ने उस विद्यापीठ का वह सर्वश्रेष्ठ सम्मान प्राप्त किया, जिसे सिद्ध से पूर्व कोई विद्वान् प्राप्त नहीं कर सका था। अब तो बौद्ध संघ ने सर्वसम्मति से सिद्ध के समक्ष प्रस्ताव रखा कि संघ उसे आचार्य पद पर अधिष्ठित करने के लिये अति व्यग्र है अतः वह आचार्य पद प्रदान– महोत्सव के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करे।

उसी समय सिद्ध को अपने गुरु के समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। उसने बौद्ध संघ से निवेदन किया–"यहां अध्ययनार्थ आते समय मैंने अपने जैन गुरु के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि अध्ययन पूर्ण होते ही मैं एक बार आपकी सेवा में अवश्यमेव उपस्थित होऊंगा। सभी दर्शनों में प्रतिज्ञापालन सर्वोपरि माना गया है अतः एक बार मुझे अपने गुरु के पास जाने की अनुमति प्रदान की जाय, यही मेरी महासंघ से प्रार्थना है।"

"सत्यसन्धता" को भगवान् बुद्ध ने अतीव श्रेष्ठ बताया है—यह कहते हुए संघाग्रणियों ने सिद्ध को अपने गुरु के पास जाने और उनसे मिलकर आने की अनुज्ञा दे दी।

अपने गुरु के पास पहुंचकर सिद्ध ने उन्हें न वन्दन-नमन किया और न उनका चरण-स्पर्श ही किया। गुरु के समक्ष स्थाणु के समान सीधे खड़े रहकर सिद्ध ने ईषत् स्मित की मुद्रा में प्रश्न किया—"ऊर्ध्व स्थान पर बैठे हुए आप अच्छे तो हैं न ?"

अपने शिष्य सिद्ध के इस प्रकार के रंग-ढंग देखकर गर्गर्षि सोचने लगे—"इस परम विनीत एवं महा विद्वान् सुशिष्य की मति को सौगतशास्त्रों के कुतर्कों तथा वितण्डावाद ने भ्रान्त कर दिया है। जैन निमित्त ज्ञान वस्तुतः कितना ध्रुव, अटल और तथ्य से ओत-प्रोत है। इस ज्ञान के माध्यम से उस समय मुझे जो कुछ ज्ञात हुआ था, वह शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हो रहा है। अब तो किसी अमोघ उपाय से इसे पुनः सत्पथ पर लाया जाय, इसी में संघ का हित है। अन्यथा इस विद्वान् के बौद्ध संघ में चले जाने से जिनशासन की एक अपूरणीय क्षति होगी।"

इस प्रकार विचार करते हुए गर्गर्षि अपने आसन से उठकर अपने शिष्य सिद्धर्षि के सम्मुख गये। उसे बड़े स्नेह के साथ हाथ पकड़कर आसन पर बिठाया। तदनन्तर हरिभद्रसूरि द्वारा रचित ललितविस्तरा वृत्ति सिद्ध के हाथ पर रखते हुए गुरु ने सिद्ध से कहा—"सौम्य ! मैं चैत्यवन्दन कर अभी थोड़ी ही देर में आ रहा हूं। तब तक तुम इस ग्रन्थ को पढ़ो।"

सिद्धर्षि ने ललितविस्तरा को प्रारम्भ से पढ़ना प्रारम्भ किया। सिद्धर्षि ज्यों ज्यों ललितविस्तरा के पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते गये त्यों-त्यों उनके मन एवं मस्तिष्क पर छाया हुआ बौद्ध शास्त्रों के कुतर्कों का कोहरा खुली हवा में रखे गये कपूर के समान उड़ता गया। सिद्धर्षि ललितविस्तरा का चतुर्थांश भी नहीं पढ़ पाये थे कि उनके मस्तिष्क में बौद्ध संघ के माध्यम से उत्पन्न की गई सभी प्रकार की भ्रान्तियां नष्ट हो गईं। गुरु के प्रति किये गये कुशिष्य योग्य अपने व्यवहार के लिए उनके मन में स्वयं अपने आपके प्रति घृणा हो गई। सिद्धर्षि मन ही मन स्वयं को धिक्कारते हुए विचारने लगे—'अहा ! मैं बिना सोचे-विचारे कैसा अनर्थ करने जा रहा था। इससे बढ़कर और क्या मूर्खता हो सकती है कि अमृत भरे स्वर्णपात्र को ठुकराकर मैं हलाहल विष भरे अयस-पात्र को अधरों से लगा चुका था। हाय ! मैं कितना पुण्यहीन हूं, जो स्वर्गापवर्ग में पहुंचाने वाली दिव्य निश्रेणी तुल्य जिनधर्म का परित्याग कर रसातल में पहुंचाने वाले विपथ पर आरूढ़ हो निविड़ान्धकारपूर्ण पाताल की ओर जा रहा था। मैं वस्तुतः चिन्तामणि रत्न के बदले में कांच का टुकड़ा लेने जैसी ही भयंकर मूर्खता कर रहा था। मैं अपने इस भयंकर अपराध का गुरुदेव से

प्रायश्चित ग्रहण करूंगा और जीवन भर गुरुदेव के चरणों की शरण में ही रहूँगा। इस ललितविस्तरा ग्रन्थ ने मेरे मतिविभ्रम को, कुतर्कजन्य व्यामोह को एवं मेरे चित्त की भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया है।"

सहसा सिद्धर्षि के अन्तस्तल से हरिभद्रसूरि के प्रति कृतज्ञता भरे उद्गार वायुमण्डल में गुंजरित हो उठे—"हरिभद्रसूरि हमारे महान् उपकारी हैं, वे ही मुझे धर्म का बोध कराने वाले मेरे धर्मगुरु हैं। उन्होंने अवश्यंभावी इस अनागत को पहले से ही जानकर मुझ जैसे पथभ्रष्ट को पुनः धर्मपथ पर आरूढ़ करने के लिये ही ललितविस्तरा नामक इस वृत्तिग्रन्थ की रचना की थी। जिन्होंने मेरे मानस में भरे मिथ्वात्व के हलाहल विष को भस्मीभूत कर मेरे मानस को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी के अमृत से आपूरित कर दिया है, उन हरिभद्रसूरि को मेरा कोटिशः नमन है।"

ललितविस्तरा वृत्ति को पढ़ते हुए सिद्धर्षि जब इस प्रकार विचार कर रहे थे, उसी समय गर्गर्षि उपाश्रय में लौटे और सिद्धर्षि को निर्निमेष दृष्टि से ललितविस्तरावृत्ति को पढ़ने में निमग्न देखकर उन्हें अन्तर्मन में असीम आनन्द की अनुभूति हुई।

गुरु के मुख से नैषेधिकी शब्द को सुनते ही सिद्धर्षि सहसा उठे और गुरु-चरणों पर अपना मस्तक रख पुनः-पुनः उनसे अपने अपराध की क्षमा मांगने लगे।

गर्गर्षि ने पश्चात्ताप की ज्वाला में जलते हुए अपने शिष्य सिद्धर्षि को प्रोत्साहनपूर्ण मधुर वचनों से आश्वस्त किया। सिद्धर्षि के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर गर्गर्षि ने उन्हें समुचित प्रायश्चित प्रदान किया। प्रायश्चित से आत्मशुद्धि कर लेने के पश्चात् सिद्धर्षि ने सदा गुरुचरणों के सान्निध्य में रहते हुए विशुद्ध—निरतिचार संयम की पालना के साथ-साथ गुरुमुख से आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। सिद्धर्षि में जिन-शासन-क्षितिज के उदीयमान दिव्य नक्षत्र के दर्शन करते हुए चतुर्विध संघ ने उनके प्रति अधिकाधिक प्रगाढ़ प्रीति श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। उनके प्रति गुरु के वात्सल्य भाव और चतुर्विध संघ की श्रद्धा-भक्ति एवं प्रीति में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई। सिद्धर्षि स्वल्प काल में ही जन-जन के प्रीतिपात्र वन गये।

आचार्य गर्गर्षि ने सिद्धर्षि के लोकोत्तर गुणों से असीम आनन्द का अनुभव करते हुए कालान्तर में उन्हें अपने उत्तराधिकारी पट्टधर के रूप में स्वयं अपने करकमलों से चतुर्विध संघ के समक्ष आचार्य पद प्रदान कर—गच्छ के संचालन का कार्य-भार उनके सवल स्कन्धों पर रख दिया। अपने शिष्य शिरोमणि सिद्धर्षि को आचार्य पद पर आसीन कर गर्गर्षि वन में जा वहां मासोपवासादि घोर

तपश्चरण करने लगे। निरन्तर कठोर तपश्चरण एवं आत्म-साधना में निरत रहते-रहते गर्गर्षि ने अन्त में आलोचनापूर्वक पादपोपगमन संथारा किया और समाधि-पूर्वक आयु पूर्ण कर वे स्वर्गस्थ हुए।

इधर आचार्य पद पर आसीन होने के अनन्तर सिद्धर्षि जैन संघ का सर्वतोमुखी अभ्युत्थान करने में संलग्न हो गये। सिद्धर्षि का युग शास्त्रार्थों का युग था। उस युग में अपने से भिन्न दर्शनों के दिग्गज विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने दर्शन का सर्वोपरि वर्चस्व स्थापित करने की प्रवृत्ति यत्र-तत्र प्रसृति की पराकाष्ठा छूने लगी थी। सिद्धर्षि के बढ़ते हुए वर्चस्व से असूयाभिभूत हुए अनेक दर्शनों के वादियों की ओर से आये दिन सिद्धर्षि के पास शास्त्रार्थ की चुनौतियां आने लगीं। सिद्धर्षि ने इस प्रकार की चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार कर बड़े बड़े वादेच्छुक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किये। उन्होंने स्थान-स्थान पर अन्य दर्शनों के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् वादियों, महावादियों एवं प्रतिवादियों को शास्त्रार्थों में पराजित कर आर्य धरा पर जिनशासन की विजय वैजयन्ती फहराई। उस समय के उच्च कोटि के व्याख्याता एवं अपराजेय वादी के रूप में उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई। उन्होंने धर्म प्रभावना के अनेक कार्य करवाये। उनके सम्बन्ध में चारों ओर जन-मानस में यह विश्वास घर कर गया था कि सिद्धर्षि को वस्तुतः वचनसिद्धि की महान् ऋद्धि प्राप्त हो गई है।

आचार्य हरिभद्र को उद्योतन सूरि ने अपना "सिद्धंतेण गुरु" और सिद्धर्षि ने "वोधकरो गुरु" लिखा है। इसी भ्रान्तिवश प्रभावक चरित्रकार ने उद्योतन सूरि से १२८ वर्ष पश्चात् हुए सिद्धर्षि को उनका गुरुभाई मान कर लिखा है कि कालान्तर में सिद्धर्षि ने सर्वप्रथम धर्मदास गणि की तत्कालीन लोकप्रिय आध्यात्मिक कृति 'उपदेशमाला' पर वृत्ति की रचना कर साहित्य-सेवा का शुभारम्भ किया। युवा सिद्धर्षि ने कुवलयमालाकार अपने गुरुभ्राता उद्योतन सूरि को अपनी कृति 'उपदेशमाला-वृत्ति' दिखायी। 'उपदेशमालावृत्ति' का अवलोकन करते समय उद्योतन सूरि को अपने लघु गुरुभ्राता सिद्धमुनि में एक समर्थ महाकवि की अप्रतिम प्रतिभा के दर्शन हुए।

उद्योतन सूरि ने अपने गुरु भ्राता सिद्धर्षि को किसी अनुपम आध्यात्मिककृति की रचना के लिये प्रेरणा देने के अभिप्राय से 'उपदेशमाला वृत्ति' को उपेक्षाभाव से देखते हुए कहा :—"सिद्ध ! अन्य विद्वानों की कृतियों पर रचना करने में कोई विशेष लाभ नहीं। "समराइच्च कहा" जैसे किसी उत्कृष्ट कोटि के स्वतन्त्र आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना के साथ-साथ रचनाकार का नाम भी अमर हो सकता है।"

सिद्ध मुनि को आशा थी कि उनकी उस नवीन कृति की व्याख्या में दो शब्द उद्योतन सूरि के मुख से सुनने को मिलेंगे। इसके विपरीत उनके मुख से इस प्रकार

के उद्गार सिद्धर्षि को उपेक्षापूर्ण प्रतीत हुए। उनके हृदय को उद्योतन सूरि के उपेक्षापूर्ण उद्गार से आघात भी पहुँचा। अपने अन्तर्मन में उत्पन्न हुई उन सब प्रतिक्रियाओं को अपनी मुखमुद्रा पर लेशमात्र भी प्रकट न होने देने का प्रयास करते हुए सिद्धर्षि ने कहा—"महामुने ! 'समराइच्चकहा' जैसे ग्रन्थरत्न की रचना करने वाले सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् पूर्वर्षि के समक्ष मैं तो केवल एक क्षुद्र खद्योत समान हूँ। आप जैसे उदारमना मनीषि महर्षि का आशीर्वाद ही कोई फल ले आये तो कह नहीं सकता, अन्यथा मुझ जैसा अकिंचन तो है ही किस योग्य ?"

सिद्धर्षि ने अपने गुरु भ्राता उद्योतन सूरि द्वारा प्रेरणा प्रदान के अभिप्राय से अभिव्यक्त किये गये उद्गार को व्यंग के रूप में ले लिया था अतः अपने अन्तर्मन में उन्होंने एक हल्का सा आघात भी अनुभव किया। परन्तु इस घटना का परिणाम परम श्रेयस्कर सिद्ध हुआ। स्वयं सिद्धर्षि के लिये भी और समस्त साधक वर्ग के लिये भी। "समराइच्च कहा" जैसे किसी एक उच्चकोटि के ग्रन्थरत्न की रचना की एक ऐसी अमिट ललक उनके अन्तर्मन में उद्भूत हुई कि वे अध्यात्म रस से ओत-प्रोत एक महान् गद्यात्मक महाकाव्य की रचना में अहर्निश तल्लीन रहने लगे। अन्ततोगत्वा "उपमिति भव प्रपंच कथा" नामक एक ऐसे अध्यात्म ज्ञान से ओत-प्रोत उच्चकोटि के ग्रन्थरत्न की रचना में सिद्धर्षि सफल हुए, जो साधक मात्र के लिये उसके चरम-परम लक्ष्य की प्राप्ति में प्रशस्त पथ प्रदर्शक प्रदीप के समान सच्चा सहायक और अन्त तक साथ निर्वहन करने वाला सच्चा सहृदय सखा है। सिद्धर्षि की अमर आध्यात्मिक कृति 'उपमिति भव प्रपंच कथा' को पढ़ लेने के पश्चात् सांसारिक कार्य-कलाप वस्तुतः—

"सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंवियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥
(उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३)

इस आगमवचन के अनुसार विषवत् त्याज्य प्रतीत होते हैं। ये सब नाचरंग सुख सुविधा-भोग, यह समग्र संसार एक अतिविशाल कारागार, ज्वालमालाओं से संकुल भीषण भट्टी अथवा भँवरजालों से परिव्याप्त ओर-छोर-विहीन, उद्वेलित अथाह सागर के समान प्रतीत होता है।

'उपमिति भव प्रपंच कथा' नामक इस अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थरत्न की रचना से आध्यात्मिक क्षितिज में सिद्धर्षि की कीर्ति पराकाष्ठा को भी पार कर गई। सिद्धर्षि का नाम आध्यात्मिक जगत् में अमर हो गया।

वर्तमान में आचार्य सिद्धर्षि की निम्नलिखित चार रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—

(१) उपमिति भव प्रपंच कथा,

(२) चन्द्र केवली चरित्र,

(३) उपदेश माला विवरण और

(४) सिद्धसेन न्यायावतार की टीका ।

सिद्धर्षि की इन चार रचनाओं में से 'उपमिति भव प्रपंच कथा' एक ऐसी उच्चकोटि की आध्यात्मिक कृति है, जिससे सिद्धर्षि की कीर्ति पताका आध्यात्मिक क्षितिज में तब तक लहराती रहेगी जब तक कि हमारी इस आर्यधरा पर जिनशासन का वर्चस्व विद्यमान रहेगा।

सिद्धर्षि ने उपमिति भवप्रपंच कथा नामक अपने ग्रन्थ की प्रशस्ति में अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—

"द्योतिताखिल भावार्थः, सद्भव्याब्जप्रबोधकः ।
सूराचार्योऽभवद्दीप्तः, साक्षादिव दिवाकरः ।। १ ।।

स निवृत्तिकुलोद्भूतो, लाटदेशविभूषणः ।
आचारपंचकोद्युक्तः, प्रसिद्धो जगतीतले ।। २ ।।

अभूद्भूतहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तर : ।
ज्योतिर्निमित्तशास्त्रज्ञः, प्रसिद्धो देशविस्तरे ।। ३ ।।

ततोऽभूदुल्लसत्कीर्तिर्ब्रह्मगोत्रविभूषणः ।
दुर्गस्वामी महाभागः, प्रख्यातः पृथिवितले ।। ४ ।।

प्रव्रज्या गृह्णता येन, गृहं सद्धनपूरितम् ।
हित्वा सद्धर्म माहात्म्यं, क्रिययैव प्रकाशितम् ।। ५ ।।

सद्दीक्षादायकं तस्य, स्वस्य चाहं गुरूत्तमम् ।
नमस्यामि महाभागं, गर्गर्षि मुनिपुंगवम् ।। ७ ।।

विलष्टेऽपि दुःषमाकाले, यः पूर्वमुनिचर्यया ।
विजहारैव निःपंगो, दुर्गस्वामी धरातले ।। ८ ।।

सद्देशनांशुभिर्लोके, द्योतित्वा भास्करोपमः ।
श्री भिन्नमाले यो धीरः, गतोऽस्तं तद्विधानतः ।। ६ ।।

तस्मादतुलोपशमः, सिद्ध (सद) षिरभूदनाविलमनस्कः ।
परहितनिरतैकमतिः, सिद्धान्तनिधि (रति महाभागः ।। १० ।।

—अथवा—

आचार्य हरिभद्रो मे, धर्मबोधकरो गुरुः ।
प्रस्तावे भावतो हन्त, स एवाद्ये निवेदितः ।। १५ ।।

विशं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ।। १६ ।।

अनागतं परिज्ञाय, चैत्यवन्दनसंश्रया ।
मदर्थैव कृता येन, वृत्तिर्ललित विस्तरा ।। १७ ।।

यत्रातुलरथयात्राधिकमिदमिति, लब्धवरजयपताकम् ।
निखिल सुरभुवनमध्ये, सततं प्रमदं जिनेन्द्रगृहम् ।। १८ ।।

यत्रार्थस्टंकशालायां, धर्मः सद्देवधामसु ।
कामो लीलावती लोके, सदास्ते त्रिगुणो मुदा ।। १६ ।।

तत्रेयं तेन कथा कविना, निःशेषगुणगणाधारे ।
श्री भिल्लमाल नगरे, गदिताग्रिममण्डपस्थेन ।। २० ।।

प्रथमादर्शे लिखिता, साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या ।
दुर्गस्वामि गुरूणां, शिष्यकयेयं गणाभिधया ।। २१ ।।

संवत्सरशतनवके, द्विषष्टिसंहितेऽतिलंघिते चास्या ।
ज्येष्ठ सितपंचम्यां, पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ।।२२ ।।

उपर्युल्लिखित प्रशस्ति में सिद्धर्षि ने सूराचार्य से लेकर निवृत्तिकुल के पट्टधर आचार्यों की एक छोटी सी पट्टावली इस प्रकार दी है :—

१. सूराचार्य :—इनकी प्रशंसा में सिद्धर्षि ने लिखा है कि सूराचार्य समस्त तत्वों अथवा आगमों के पारगामी व्याख्याता विद्वान थे। वे भव्य प्राणियों को बोधिलाभ देकर उनके हृदयकमल को प्रफुल्लित करने में साक्षात् सूर्य के समान थे। वे निवृत्ति कुल के आचार्य लाट देश के शृंगार के समान और पंच महाव्रतों के पालन में सदा सजग समुद्यत रहते थे। धरातल पर चारों ओर उनकी प्रसिद्धि प्रसृत हो गई थी।

२. आचार्य देल्ल महत्तर :—सिद्धर्षि के उल्लेखानुसार देल्ल महत्तर ज्योतिष-शास्त्र एवं निमित्त शास्त्रों के उच्चकोटि के विद्वान् होने के कारण देश देशान्तरों में विख्यात थे।

३. आचार्य उल्ल :—आचार्य देल्ल महत्तर के पश्चात् उनके पट्टधर श्री उल्ल निवृत्ति कुल के आचार्य हुए। ब्राह्मण कुल विभूषण आचार्य उल्ल की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी।

४. दुर्गस्वामी :—आचार्य उल्ल के पट्टधर आचार्य दुर्ग स्वामी हुए। गृहस्थ पर्याय में वे बड़े ही समृद्धिशाली लक्ष्मीपति थे।

श्रमण धर्म में दीक्षित होते समय उन्होंने अन्न, धन, लक्ष्मी, दास, दासी आदि से परिपूर्ण सुसमृद्ध घर को तृणवत् त्याग कर अपनी उत्कट विशुद्ध क्रिया के द्वारा ही धर्म के माहात्म्य को प्रकट किया। उन दुर्गस्वामी को तथा मुझे (सिद्धर्षि को) निरतिचार विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा देने वाले उनके और मेरे गुरुवर श्रमणश्रेष्ठ प्रातः स्मरणीय गर्गर्षि को सादर प्रणाम करता हूं। अभाव अभियोग आदि अनेक प्रकार के क्लेशों से ओतप्रोत इस दुष्षमाकाल में भी जो पूर्वाचार्यों की भांति निस्संग–निर्लिप्त भाव से ही विचरण करते रहे, उन दुर्गस्वामी को मैं नमस्कार करता हूं। सूर्य के समान जो अपने सदुपदेशों की किरणों से जीवनभर लोक में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश फैलाते रहे, वे (दुर्गस्वामी) भिल्लमाल नगर में समाधि-संलेखनापूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

५. सिद्धर्षि :—दुर्गर्षि के पश्चात् उपशम भाव को धारण करने वाला, स्थिरमना, परकल्याण में निरत और आगमों में अभिरुचि रखने वाला सिद्धर्षि हुआ।

बौद्धों के तर्कजाल रूपी दुर्भेद्य पाश से सदा सर्वदा के लिये विमुक्त करने वाले आचार्य हरिभद्र महत्तरासूनु को अपना बोधप्रदायी गुरु मानते हुए सिद्धर्षि ने कहा है :—

"जिन्होंने मुझ पर कृपा कर के मेरे अन्तस्तल में व्याप्त कुवासनापूर्ण (दुर्गंधपूर्ण बौद्ध–सिद्धान्तों के) विष को पूर्णतः विनष्ट कर, उसके स्थान पर अपने कल्पनातीत युक्तिकौशल के बल से मेरे अन्तस्तल को, मेरे रोम-रोम को जैन सिद्धान्तों की अचिन्त्य सौरभपूर्ण अक्षय सुधा से ओतप्रोत एवं सिंचित कर दिया, उन हरिभद्रसूरि को मैं नमस्कार करता हूं। लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व ही, मेरे साथ घटित होने वाली भावी घटना को जानकर कि मैं सौगत सिद्धान्तों के विष से विदग्ध होने वाला हूं, जिन्होंने मेरे लिये ही "ललितविस्तरा-वृत्ति" की रचना की, (उन हरिभद्र को मैं नमस्कार करता हूं।)"

सिद्धर्षि ने अपने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति के शेष ५ श्लोकों में जो कहा है, उसका सारांश यह है कि भिल्लमाल नगर के देवभवनों में भी अतीव सुन्दर, अगणित रथयात्राओं, अनेकानेक तीर्थयात्राओं में सब मन्दिरों में आगे होने के कारण विजय की पताका का मानो वर प्राप्त किये हुए, रत्नमयी और धर्म के केन्द्र जिन-मन्दिर के अग्रमण्डप में रहते हुए सिद्धर्षि ने इस "उपमिति भवप्रपंच कथा"—नाम के

ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की प्रथम आदर्श प्रति का लेखन श्रुतदेवी स्वरूपा गणा नाम की साध्वी ने किया जो गुरुदेव दुर्गस्वामी की शिष्या हैं। संवत् ६६२ की ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, गुरुवार के दिन चन्द्र का पुनर्वसु नक्षत्र के साथ योग होने पर इस ग्रन्थ की रचना अन्तिम रूप से सम्पन्न हुई।

"भिन्नमालस्थ जिन मन्दिर के अग्रिम मण्डप में रहते हुए यह कथा कही"– यह वाक्य शोधार्थियों के लिये विचारणीय है।

उपमिति भव प्रपंच कथा की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हुए विश्वविख्यात विद्वान् डा. हर्मन जेकोबी ने लिखा है :—

> I did find something, still more important, the great literary value of the 'Upamiti Bhava Prapancha Katha' and the fact that it is the first alegorical work in Indian literature.
> (उपमिति भव प्रपंच कथा की अंग्रेजी प्रस्तावना)

आचार्य वर्द्धमान सूरि ने अपनी उपदेश माला-वृत्ति के अन्त में लिखा है :—

कृतिरियं जिन-जैमिनी-कणभुक् सौगतादि दर्शन-वेदिनः।
सकल-ग्रन्थार्थ-निपुणस्य श्री सिद्धर्षेर्महाचार्यस्येति ॥

इससे सिद्धर्षि की सभी धर्मों के सिद्धान्तों में पारंगतता का प्रमाण मिलता है। वे न केवल जैन सिद्धान्तों के ही अपितु मीमांसक, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि सभी भारतीय दर्शनों के पारदृश्वा विद्वान् थे।

आचार्य गुण भद्र

भट्टारक परम्परा के पंचस्तूपान्वयी सेनगरण के आचार्य गुणभद्र की भी अपने समय के अग्रगण्य ग्रन्थकारों में गणना की जाती है। अपने प्रगुरु भट्टारक वीरसेन एवं गुरु जिनसेन के चरणचिह्नों का जीवनभर अनुसरण करते रहकर आचार्य गुणभद्र ने भी जैन वांग्मय की सेवा के माध्यम से जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

अपने शिक्षा गुरु जिनसेनाचार्य के स्वर्गगमन पर उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये 'महापुराण' लेखन के अपूर्ण रहे हुए शेष लेखन को गुणभद्र ने पूर्ण किया।

गुणभद्र वीरसेन के प्रशिष्य और दशरथसेन के शिष्य थे। दशरथसेन आचार्य जिनसेन (जयधवलाकार) के गुरु भ्राता थे। उत्तर पुराण प्रशस्ति के श्लोक सं० १४ में "शिष्य श्री गुणभद्र सूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः" इस पद से लोकसेन ने अपने गुरु गुणभद्र को जिनसेन और दशरथसेन, इन दोनों विद्वानों का शिष्य बताया है। इससे यही प्रकट होता है कि आचार्य गुणभद्र मुनि दशरथ गुरु के हस्त दीक्षित शिष्य थे और उन्होंने शास्त्रों और विद्याओं का ज्ञान अपने दीक्षा गुरु के गुरुभ्राता आचार्य जिनसेन से प्राप्त किया था।

जिनसेन के स्वर्गारोहण के पश्चात् आचार्य गुणभद्र ने सब मिलाकर १६२० श्लोकों में आदि पुराण के ४३ से अन्तिम ४७वें पर्व तक—इन पांच पर्वों की रचना कर 'महापुराण' के पूर्वार्द्ध 'आदिपुराण' को पूर्ण किया।

तदनन्तर गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' की रचना प्रारम्भ की। ८ (आठ) हजार श्लोक प्रमाण उत्तर पुराण की रचना गुणभद्र ने पूर्ण कर दी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रशस्ति के २७ श्लोक ही वे लिख पाये थे कि प्रशस्ति पूर्ण करने से पहले ही वे स्वर्गवासी हो गये, इसीलिए 'उत्तर पुराण' की प्रशस्ति के २८ वें श्लोक से अंतिम ३७ वें श्लोक तक की रचना उनके शिष्य लोकसेन ने करके इस प्रशस्ति को पूर्ण किया।

लोकसेन ने प्रशस्ति श्लोक संख्या ३१ से ३७ में लिखा है :—

जिस समय अकालवर्ष नामक राष्ट्रकूट वंशीय नरेश अपने सभी प्रमुख शत्रुओं को परास्त करने के पश्चात् पृथ्वी (के विशाल भाग) पर निष्कण्टक राज्य कर रहे थे। (उनके सामन्त) अपने अतिशायन मुकुट के

कुल रूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य के प्रताप के समान जिनका प्रताप शत्रुओं को नष्ट कर देने के कारण चारों ओर प्रसृत हो रहा था, जो चेल्ल केतन महासामन्त बंकेय का पुत्र, चेल्ल ध्वज का लघुभ्राता और स्वयं मयूर चिह्नांकित पताका वाला था, जो प्रचार-प्रसार–प्रभावना आदि के माध्यम से जैन धर्म की अभिवृद्धि करने वाला था—ऐसा यशस्वी लोकादित्य जिस समय बंकापुर में वनवासी देश का शासन कर रहा था। उस समय लोकादित्य के पिता बंकेय के नाम पर बसाये गये बंकापुर नामक सुन्दर नगर में शक सं० ८२० की आश्विन शुक्ला पंचमी के दिन भव्य जनों द्वारा पूजित यह उत्तर पुराण विश्व में जयवन्त रहे।

इस प्रशस्ति से यही प्रकट होता है कि भट्टारकाचार्य गुणभद्र ने बंकापुर में शक सं० ८२० तदनुसार वि० सं० ९५५ में उत्तर पुराण की रचना पूर्ण की।

आचार्य जिनसेन महापुराण को महाभारत के समकक्ष एक ऐसे पुराण का स्वरूप देना चाहते थे, जिसमें चौबीसों तीर्थंकरों के काल का प्रमुख पुरातन इतिहास विस्तार पूर्वक समाविष्ट हो जाय। महापुराण का पूर्वार्द्ध आदि पुराण तो पर्याप्त अंशों में जिनसेन की अभिलाषा के अनुरूप ही वन गया किन्तु महापुराण का उत्तरार्द्ध उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं वन सका। इस वात को स्वयं गुणभद्र ने निम्नलिखित रूप में स्वीकार किया है :—

इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभाविरसावहम्।
यथातथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥(१४)॥

अर्थात् :— इक्षुदण्ड के पूर्वार्द्ध खण्ड की ही भांति इस महापुराण का पूर्वार्द्ध (आदि पुराण) वड़ा सरस वन पड़ा है, उत्तरार्द्ध में तो इक्षुदण्ड के उपरितन भाग की भांति येन-केन प्रकारेण स्वल्पतर (विरस) रस की प्राप्ति हो सकेगी। यही समझ कर मैं इसकी रचना प्रारम्भ कर रहा हूं।

प्रशस्ति में गुणभद्र ने उत्तर पुराण के जिनसेन के आदि पुराण के अनुरूप ही विशद विशाल स्वरूप न दे पाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है :—

अतिविस्तर भीरुत्वादवशिष्ट संगृहीतममलधिया।
गुणभद्र सूरिणेदं, प्रहीण कालानुरोधेन ॥(२०)॥[1]

अर्थात् :— निरन्तर त्वरित गति से हीनता अथवा ह्रास की ओर उन्मुख एवं प्रवृत्त हो रहे काल के कुप्रभाव के परिणाम स्वरूप और महान्

---

[1] उत्तरपुराण प्रशस्ति।

आचार्य गुण भद्र

भट्टारक परम्परा के पंचस्तूपान्वयी सेनगण के आचार्य गुणभद्र की भी अपने समय के अग्रगण्य ग्रन्थकारों में गणना की जाती है। अपने प्रगुरु भट्टारक वीरसेन एवं गुरु जिनसेन के चरणचिह्नों का जीवनभर अनुसरण करते रहकर आचार्य गुणभद्र ने भी जैन वांग्मय की सेवा के माध्यम से जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

अपने शिक्षा गुरु जिनसेनाचार्य के स्वर्गगमन पर उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये 'महापुराण' लेखन के अपूर्ण रहे हुए शेष लेखन को गुणभद्र ने पूर्ण किया।

गुणभद्र वीरसेन के प्रशिष्य और दशरथसेन के शिष्य थे। दशरथसेन आचार्य जिनसेन (जयधवलाकार) के गुरु भ्राता थे। उत्तर पुराण प्रशस्ति के श्लोक सं० १४ में "शिष्य श्री गुणभद्र सूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः" इस पद से लोकसेन ने अपने गुरु गुणभद्र को जिनसेन और दशरथसेन, इन दोनों विद्वानों का शिष्य बताया है। इससे यही प्रकट होता है कि आचार्य गुणभद्र मुनि दशरथ गुरु के हस्त दीक्षित शिष्य थे और उन्होंने शास्त्रों और विद्याओं का ज्ञान अपने दीक्षा गुरु के गुरुभ्राता आचार्य जिनसेन से प्राप्त किया था।

जिनसेन के स्वर्गारोहण के पश्चात् आचार्य गुणभद्र ने सब मिलाकर १६२० श्लोकों में आदि पुराण के ४३ से अन्तिम ४७वें पर्व तक—इन पांच पर्वों की रचना कर 'महापुराण' के पूर्वार्द्ध 'आदिपुराण' को पूर्ण किया।

तदनन्तर गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' की रचना प्रारम्भ की। ८ (आठ) हजार श्लोक प्रमाण उत्तर पुराण की रचना गुणभद्र ने पूर्ण कर दी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रशस्ति के २७ श्लोक ही वे लिख पाये थे कि प्रशस्ति पूर्ण करने से पहले ही वे स्वर्गवासी हो गये, इसीलिए 'उत्तर पुराण' की प्रशस्ति के २८ वें श्लोक से अंतिम ३७ वें श्लोक तक की रचना उनके शिष्य लोकसेन ने करके इस प्रशस्ति को पूर्ण किया।

लोकसेन ने प्रशस्ति श्लोक संख्या ३१ से ३७ में लिखा है :—

जिस समय अकालवर्ष नामक राष्ट्रकूट वंशीय नरेन्द्र अपने सभी प्रमुख शत्रुओं को पराजित करने के पश्चात् पृथ्वी (के विशाल भाग) पर निष्कण्टक राज्य कर रहे थे। (उनके सामन्त) अपने प्रपितामह मुकुल के

बड़ गच्छ

बड़ गच्छ पट्टावली के अनुसार भ० महावीर के ३५वें पट्टधर आ० सर्वदेव सूरि के गुरु उद्योतन सूरि से बड़ गच्छ की उत्पत्ति हुई। अंचल गच्छ पट्टावली में भी इन्हें भ० का ३५वां पट्टधर कहा है।

उक्त पट्टावली में इस प्रकार का उल्लेख भी किया गया है कि इस परम्परा में सर्वदेव सूरि के पश्चात् हुए आठवें आचार्य तथा इस पट्टावली के उल्लेखानुसार भगवान महावीर के ४४वें पट्टधर जगच्चन्द्र सूरि के समय तक यह गच्छ बड़ गच्छ के नाम से अभिहित किया जाता रहा। भगवान के ४४ वें पट्टधर जगच्चन्द्र सूरि ने जीवन पर्यन्त आचाम्ल व्रत करते रहने की प्रतिज्ञा की। घृत, दूध, दही, तेल, नमक, मिर्ची, मसाले आदि सब चीजों का आजीवन त्याग कर बिना नमक की पूर्णतः शुष्क रुक्ष रोटी तथा उबला हुआ अथवा भुना हुआ अन्न ही ग्रहण करने का प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) अथवा अभिग्रह अंगीकार किया। आजीवन आचाम्ल व्रत के अतिरिक्त वे उपवास, बेला, तेला आदि घोर तपश्चरण भी करते रहते थे। बारह वर्ष पर्यन्त इस प्रकार के घोर तपश्चरण के साथ अप्रतिहत विहार के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को धर्म मार्ग पर स्थिर करते हुए वे जगच्चन्द्र सूरि आघाड़ (आहड़ अथवा आघाटक) नगर में आये। आघाड़ उन दिनों (विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में) मेवाड़ राज्य का पट्ट नगर—राजधानी था। मेवाड़ के महाराणा ने उनके घोर तपश्चरण की यशोगाथाएं सुनकर उनके तप एवं त्याग की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए उन्हें तपा के विरुद से विभूषित किया। इस विरुद से पहले इस गच्छ के साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका वर्ग बड़ गच्छीया नाम से अभिहित किये जाते थे किन्तु इस तपा विरुद से विभूषित किये जाने पर इनकी तपा के नाम से लोक में ख्याति हुई और बड़ गच्छ वि० सं० १२८५ में तपा गच्छ के नाम से लोक में विख्यात हुआ। तपा गच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार जगच्चन्द्र सूरि ने साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार देख क्रियोद्धार किया ?[1]

इस सम्बन्ध में नाकोडाजी से उपलब्ध हस्तलिखित पट्टावली के शब्द इस प्रकार हैं :—

"तत्पट्टे श्री जगच्चन्द्र सूरि (४४ वें पट्टधर) जिणै महादुर्गं जावजीव आंबिल नो पच्चखाण कीधो, त्यारै आघाड़ नगरै पधारया, त्यारै

[1] यः क्रियाशिथिलमुनिसमुदायं ज्ञात्वा गुर्वाज्ञया वैराग्यरसैक समुद्रं चैत्रगच्छीय श्री देवभद्रोपाध्यायं सहायमादाय क्रियायामौग्र्यात् हीरला जगच्चन्द्र सूरिरिति ख्यातिमाप् [illegible]।
—पट्टावली समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली) पृष्ठ [illegible]

विस्तार के भय से अपने आयु, शरीर बल, बुद्धिबल आदि को दृष्टिगत रखते हुए गुणभद्रसूरि ने कुछ त्वरा (जल्दी) में संक्षेपतः ही इस उत्तर पुराण को निबद्ध किया है।

वस्तुतः यह एक बड़ी भारी कमी रह गयी है, अन्यथा आदि पुराण की भांति उत्तर पुराण भी होता तो सम्पूर्ण पुरातन जैन इतिहास पर अपूर्व प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ रत्न वृहदाकार पुराण के रूप में उपलब्ध होता। यद्यपि जिनसेनाचार्य का महापुराण की रचना करने का स्वप्न उनके दिवंगत हो जाने के कारण उनकी इच्छा के अनुरूप तो साकार नहीं हो सका तथापि भट्टारक गुणभद्र का प्रयास स्तुत्य ही रहा कि उन्होंने अपने गुरु के अधूरे रहे हुए कार्य को उत्तर पुराण की रचना कर पूरा कर दिया।

उत्तर पुराण प्रशस्ति में आचार्य गुणभद्र ने—

"कवि परमेश्वरनिगदित गद्य कथा मातृकं पुरोश्चरितम्" इस पद से स्वीकार किया है कि उत्तर पुराण की रचना करते समय उन्होंने कवि परमेष्ठी द्वारा रचित 'वागर्थ संग्रह पुराण' से बड़ी सहायता ली। गुणभद्र के समय तक "वागर्थ संग्रह पुराण" उपलब्ध था, यह भी इस उल्लेख से सिद्ध होता है।

आचार्य गुणभद्र की—"आत्मानुशासन" और "जिनदत्त चरित्र"—ये दो कृतियां उपलब्ध हैं। २६६ श्लोकात्मक आत्मानुशासन मुमुक्षुओं के लिए बड़ा उपयोगी है। 'जिनदत्त चरित्र' संस्कृत भाषा का चरित्रात्मक काव्य है।

बड़ गच्छ

बड़ गच्छ पट्टावली के अनुसार भ० महावीर के ३५वें पट्टधर आ० सर्वदेव सूरि के गुरु उद्योतन सूरि से बड़ गच्छ की उत्पत्ति हुई। अंचल गच्छ पट्टावली में भी इन्हें भ० का ३५वां पट्टधर कहा है।

उक्त पट्टावली में इस प्रकार का उल्लेख भी किया गया है कि इस परम्परा में सर्वदेव सूरि के पश्चात् हुए आठवें आचार्य तथा इस पट्टावली के उल्लेखानुसार भगवान महावीर के ४४वें पट्टधर जगच्चन्द्र सूरि के समय तक यह गच्छ बड़ गच्छ के नाम से अभिहित किया जाता रहा। भगवान के ४४ वें पट्टधर जगच्चन्द्र सूरि ने जीवन पर्यन्त आचाम्ल व्रत करते रहने की प्रतिज्ञा की। घृत, दूध, दही, तेल, नमक, मिर्ची, मसाले आदि सब चीजों का आजीवन त्याग कर बिना नमक की पूर्णतः शुष्क रूक्ष रोटी तथा उबला हुआ अथवा भुना हुआ अन्न ही ग्रहण करने का प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) अथवा अभिग्रह अंगीकार किया। आजीवन आचाम्ल व्रत के अतिरिक्त वे उपवास, बेला, तेला आदि घोर तपश्चरण भी करते रहते थे। बारह वर्ष पर्यन्त इस प्रकार के घोर तपश्चरण के साथ अप्रतिहत विहार के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को धर्म मार्ग पर स्थिर करते हुए वे जगच्चन्द्र सूरि आघाड़ (आहड़ अथवा आघाटक) नगर में आये। आघाड़ उन दिनों (विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में) मेवाड़ राज्य का पट्ट नगर—राजधानी था। मेवाड़ के महाराणा ने उनके घोर तपश्चरण की यशोगाथाएं सुनकर उनके तप एवं त्याग की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए उन्हें तपा के विरुद से विभूषित किया। इस विरुद से पहले इस गच्छ के साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका वर्ग बड़ गच्छीया नाम से अभिहित किये जाते थे किन्तु इस तपा विरुद से विभूषित किये जाने पर इनकी तपा के नाम से लोक में ख्याति हुई और बड़ गच्छ वि० सं० १२८५ में तपा गच्छ के नाम से लोक में विख्यात हुआ। तपा गच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार जगच्चन्द्र सूरि ने साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार देख क्रियोद्धार किया?[1]

इस सम्बन्ध में नाकोडाजी से उपलब्ध हस्तलिखित पट्टावली के शब्द इस प्रकार हैं :—

"तत्पट्टे श्री जगच्चन्द्र सूरि (४४ वें पट्टधर) जिणें महापुरुषे जावजीव आंबिल नो पच्चखाण कीधो, त्यारे आघाड़ नगरे पधारया, त्यारे

---

[1] यः क्रियाशिथिलमुनिसमुदायं ज्ञात्वा गुर्वाज्ञया वैराग्यरसैकसमुद्रं चैत्रगच्छीय श्री देवभद्रोपाध्यायं सहायमादाय क्रियायामौग्र्यात् हीरला जगच्चन्द्र सूरिरिति ख्यातिमाप् क्रमात्।
—पट्टावली समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली) पृष्ठ [illegible]

राणैजी तपिया देखी नें 'तपा' विरुद दीधो। संवत् १२४५ तपा विरुद हूंयो। पेहला वड़गच्छा हुता, पछै तपा विरुद हूंयौ, तेह थी तपा कैहवाणा। तत्पट्टे श्री देवचन्द्रसूरि (४५)

वड़गच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन वांग्मय में जो उल्लेख उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है कि एक समय अर्बुदाचल की तीर्थयात्रा के पश्चात् उद्योतन सूरि आबू पहाड़ से नीचे उतर कर टेली नामक ग्राम के पास एक विशाल वट वृक्ष की छाया में विश्राम करने के लिये बैठे। उस समय चिन्तन करते-करते उनके ध्यान में यह बात आई कि यदि वे अपने किसी शिष्य को उस समय आचार्य पद प्रदान कर दें तो उसके पट्ट की वंश परम्परा की सुदीर्घकाल तक स्थायी वृद्धि के साथ-साथ जिन शासन की प्रभावना में भी अद्भुत अभिवृद्धि हो सकती है। उस समय चल रहा मुहूर्त उन्हें अतीव श्रेष्ठ प्रतीत हुआ और उन्होंने तत्काल उस सुविशाल वट वृक्ष की छाया में ही सर्वदेव सूरि आदि अपने आठ प्रमुख एवं विद्वान् शिष्यों को आचार्य पद प्रदान कर दिये। कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि उद्योतन सूरि ने उस समय अपने एक ही शिष्य श्री सर्वदेव सूरि को आचार्य पद प्रदान किया, शेष सात शिष्यों को नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वदेव सूरि के प्रशिष्य सर्वदेव सूरि द्वितीय ने अपने आठ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया था, जिनमें से एक धनेश्वर सूरि थे, इसी नाम साम्य के कारण सम्भवतः उद्योतन सूरि द्वारा सर्वदेव सूरि के साथ ७ शिष्यों को आचार्य पद दिये जाने की बात कही जाती हो।

बृहद् गच्छ गुर्वावली (वड़गच्छ गु०) के उल्लेखानुसार उद्योतन सूरि ने वि० सं० ९९४ में सर्वदेव सूरि आदि को टेली ग्राम के पास के लोकड़िया नामक वट वृक्ष के नीचे आचार्य पद प्रदान किया। उस समय उन्होंने अपने बहुत से शिष्यों को आचार्य पद प्रदान करते समय प्रत्येक आचार्य को ३००-३०० साधुओं का समूह प्रदान किया।[1] प्रारम्भ में लोग इस गच्छ को वट गच्छ के नाम से पुकारते थे किन्तु जब वड़गच्छ शाखा-प्रशाखाओं में फैले हुए विशाल वट वृक्ष के समान एक शक्तिशाली और विशाल गच्छ का रूप धारण करने लगा तथा इसमें गुणी साधुओं की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी तो सभी गच्छ इससे प्रभावित हो इसे बृहद् गच्छ के सम्मानास्पद नाम से सम्बोधित करने लगे। बृहद् गच्छ के उत्तरोत्तर बढ़ते रहने का परिणाम यह हुआ कि चन्द्र कुल अपने सहजन्मा 'नागिल', 'निवृत्ति' और 'विद्याधर' इन तीनों कुलों पर छा गया और वे तीनों ही कुल इसके विस्तार के नीचे एक प्रकार से ढँक से गये।

कहीं बड़गच्छ की उत्पत्ति उद्योतन सूरि से बताई गई है तो कहीं सर्वदेव सूरि से। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः उद्योतन सूरि बड़गच्छ के संस्थापक हैं और उनके शिष्य सर्वदेव सूरि उसके प्रथम आचार्य। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उद्योतन सूरि ने बड़गच्छ की संस्थापना की और सर्वदेव सूरि से बड़गच्छ की परम्परा प्रचलित हुई।

इनके (सर्वदेव सूरि के) पश्चात् ३७वें पट्टधर देव सूरि हुए। देवसूरि के पश्चात् भगवान महावीर के ३८वें पट्टधर श्री सर्वदेव सूरि (द्वितीय) हुए। उन ३८वें पट्टधर द्वितीय सर्वदेव सूरि ने अपने आचार्य काल में आठ सुयोग्य शिष्यों को पृथक साधु समूह देकर आचार्य पद प्रदान किये। इस प्रकार ३८वें पट्टधर के आचार्य काल में बड़गच्छ के आठ आचार्य हो गये और यह एक वहुत वड़ा गच्छ वन गया।

बड़गच्छ वस्तुतः वटवृक्ष की भांति चारों ओर प्रसृत हो गया और इस सर्वतोमुखी अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप यह बड़गच्छ अपने उत्कर्ष काल से ही वृहद् गच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।

श्री सर्वदेव सूरि-द्वितीय—(३८वें पट्टधर) ने अपने जिन ८ प्रमुख शिष्यों को आचार्य पदों पर अधिष्ठित किया था, उनमें उनके एक शिष्य का नाम धनेश्वर था। ये धनेश्वर सूरि महान् प्रभावक आचार्य हुए। उन्होंने वृहद् पौषधशालिक पट्टावली के उल्लेखानुसार ७०१ दिगम्बर साधुओं को अपनी परम्परा में दीक्षित कर अपने शिष्य बनाये। चैत्रपुर नगर में उन धनेश्वर सूरि ने वीर जिन की प्रतिष्ठा की। इस कारण धनेश्वर सूरि का विशाल शिष्य समूह और उनके उपासकों का वर्ग "चैत्र गच्छ" के नाम से विख्यात हुआ।[1] यह चैत्र गच्छ 'बड़ गच्छ' अथवा 'वृहद् पौषध शालिक गच्छ' की ही शाखा था। चैत्र गच्छ का अपर नाम चित्रवाल गच्छ भी प्रसिद्ध है। चित्रवाल गच्छ के आचार्य देवभद्रगणी की सहायता से बड़ गच्छ के ४२वें आचार्य (तपाविरुदधर) जगच्चन्द्र सूरि ने उस समय के साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार को, कठोर नियमों का पालन एवं क्रियोद्धार कर, दूर किया।[2] जगच्चन्द्र सूरि ने देवभद्र गणि के पास उपसम्पदा ग्रहण की इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[3]

---

[1] जेण य अट्ठायरिया, समयं सुतत्थंदायगा ठविया।
तत्थ धणेसर सूरि, पभावगो वीर तित्थस्स ॥ (११)
खवणाणं सत्तसया-एगुत्ति अदिक्खिआ सहत्थेण।
चित्तपुरि जिण वीरो पइट्ठिओ चित्तगच्छो य (१२)
—वृहत्पौषध शालिक-पट्टावली

[2] पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ २७ और ५७

[3] पट्टावली पराग संग्रह, पं० कल्याण विजयजी, पृष्ठ १७४

गर्गर्षि

विक्रम की १० वीं शताब्दी में गर्गर्षि नामक एक विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होंने पासक केवली और कर्म विपाक नामक ग्रन्थों की रचना की। ये विक्रम की १० वीं शताब्दी के प्रथम दशक के विद्वान थे। आप निवृत्ति कुल के आचार्य थे।[1]

"पज्जीवालीय गच्छ पट्टावली" के उल्लेखानुसार गर्गर्षि—गर्गाचार्य वि० सं० ६१२ में स्वर्गस्थ हुए। इनके गुरु भ्राता दुर्ग स्वामी का वि० सं० ६०२ में स्वर्गवास हुआ।[2]

कवि चतुर्मुख

विक्रम की आठवीं शताब्दी में चतुर्मुख नाम के एक समर्थ कवि हुए हैं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा में 'रिट्ठ नेमि चरिउ' (हरिवंश पुराण), 'पउम चरिउ' (पद्म पुराण) और 'पंचमी चरिउ' की रचनाएं कीं। किन्तु अपभ्रंश भाषा के चतुर्मुख द्वारा रचित इन तीनों महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से आज एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि महाकवि स्वयम्भू इन्हीं के पुत्र और महाकवि त्रिभुवन स्वयम्भू इनके पौत्र थे। विद्वानों का यह भी अभिमत है कि कवि चतुर्मुख की इनके पुत्र स्वयम्भू ने इन तीनों ग्रन्थों की रचना में सहायता की थी।

कवि स्वयम्भू और त्रिभुवन स्वयम्भू

नवमीं शताब्दी के इन दोनों कवियों ने जो कि पिता पुत्र थे पउम चरिउ, रिट्ठनेमि चरिउ और स्वयम्भू छन्द इन तीन ग्रन्थों की रचना की। पउम चरिउ महाकवि विमल सूरि के पउम चरिउ के आधार पर बनाया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि स्वयम्भू ने अपने इस ग्रन्थ में रामकथा को वही रूप दिया है जो कि विमल सूरि ने अपने पउम चरिउ में दिया है। महाकवि विमलसूरि ने अपने ग्रन्थ पउम चरिउ की रचना इसकी प्रशस्ति के अनुसार वीर निर्वाण सम्वत् ५३० में की। विमल सूरि का पउम चरिउ वस्तुतः जैन साहित्य की राम कथाओं का प्रारम्भ में प्रमुख स्रोत रहा है। कवि स्वयम्भू और त्रिभुवन स्वयम्भू की तीनों ही रचनाएं वस्तुतः उच्च कोटि की रचनाएं होने के कारण जैन साहित्य के अमोल रत्न समझे जाते हैं।

कवि स्वयम्भू का स्वयम्भू छन्द नामक उत्कृष्ट कोटि का छन्दोग्रन्थ है। 'स्वयम्भू छंद' के अनेक छन्दों के लक्षण और उदाहरण श्री हेमचन्द्राचार्य के छन्दानुशासन में पाये जाते हैं।

विजयसिंह सूरि

नागेन्द्र गच्छ के आचार्य समुद्र सूरि के शिष्य विजयसिंह सूरि ने वीर नि० की पन्द्रहवीं शताब्दी (विक्रम सं० ९७५) में ८९११ गाथाओं के प्राकृत भाषा के 'भुवन सुन्दरी' नामक एक कथाग्रन्थ की रचना की। कथा साहित्य में यह ग्रन्थ बड़ा ही शिक्षाप्रद और रोचक है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध है। इससे अधिक इनका परिचय उपलब्ध नहीं होता।

आचार्य हरिषेण

वीर निर्वाण की पन्द्रहवीं शताब्दी में आचार्य हरिषेण नामक दिगम्बर परम्परा के एक विद्वान् ग्रन्थकार हुए हैं। इन्होंने वर्द्धमानपुर में विक्रम सम्वत् ९८८ तदनुसार शक सम्वत् ८५३ में आराधना कथा कोष नामक १२५०० श्लोक प्रमाण एक कथाग्रन्थ की रचना की।

जैन कथा साहित्य का यह एक बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर १५७ कथाएं संस्कृत पद्यों में लिपिबद्ध की गई हैं। ये हरिषेण पुन्नाट संघ के आचार्य मौनि भट्टारक के प्रप्रशिष्य थे। इनके गुरु का नाम भरतसेन था। इन्होंने अपने गुरु भरतसेन के लिये इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है कि वे छन्द शास्त्रज्ञ, कवि, वैयाकरण, अनेक शास्त्रों में निष्णात और एक विशिष्ट तत्ववेत्ता थे।

कथा कोष की कथाओं को पढ़ने और उन पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन पर और इनकी इस कृति पर यापनीय आचार्य शिवार्य की 'आराधना' का पूर्ण प्रभाव रहा है। अपने ग्रन्थ की प्रशस्ति के आठवें श्लोक में 'आराधनाद्धृत' वाक्य से हरिषेण ने स्वयं ने यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की रचना करते समय शिवार्य की 'आराधना' उनके समक्ष आदर्श के रूप में रही है।

कथाकोष की प्रशस्ति में एक ऐतिहासिक महत्व का श्लोक दिया हुआ है जो उस समय के प्रतिहार राजाओं के राज्य विस्तार पर प्रकाश डालता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सम्वत्सरे चतुर्विशे वर्तमाने खराभिधे,
विनयादिक पालस्य राज्ये शक्रोपमानके ॥ १३ ॥

इससे यह प्रकट होता है कि उस समय (विक्रम की दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में) प्रतिहारों का राज्य केवल राजपूताने के अधिकांश भागों में नहीं, बल्कि गुजरात, काठियावाड़, मध्य भारत और उत्तर में सतलज से लेकर बिहार तक फैला हुआ था। यह विनायकपाल महाराजाधिराज महेन्द्रपाल का पुत्र और महीपाल तथा

भोज (द्वितीय) का भाई और क्रमश उत्तराधिकारी था। विक्रम सम्वत् ९५५ का एक दानपत्र भी उपलब्ध होता है।[1]

यह विनायकपाल अपने साम्राज्य की राजधानी कन्नोज में रहता था।

इन्द्रनन्दी

विक्रम की दशवीं शताब्दी में दिगम्बर परम्परा के इन्द्रनन्दी नामक एक महान् मन्त्रवादी आचार्य ने "ज्वालामालिनी" नामक एक मन्त्रशास्त्र की रचना की। इनके गुरु का नाम बप्पनन्दी और प्रगुरु का नाम वासव नन्दी था। इन्द्रनन्दी ने इस ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ से विवरण प्रस्तुत करते हुए उपक्रम के पश्चात् लिखा है कि हेलाचार्य ने ज्वालामालिनी देवी के आदेश से पूर्व काल में "ज्वालिनी-मत" नामक ग्रन्थ की रचना की। गुरु परिपाटी से यह 'मन्त्रराज गुणनन्दी' नामक मुनि को प्राप्त हुआ। गुणनन्दी से गूढ़ार्थ एवं रहस्य सहित इन ग्रन्थ का ज्ञान इन्द्रनन्दी ने प्राप्त किया। वह ग्रन्थ वस्तुतः बड़ा क्लिष्ट था। इसलिए इन्द्रनन्दी ने विश्व को आश्चर्य में डाल देने वाले इस जनहितकारी ग्रन्थ की नवीन रूप से सुबोध्य शैली में रचना प्रारम्भ की।

राष्ट्रकूट वंशीय राजाओं की राजधानी मान्यखेट (मलखेड़) के कटक में इन्द्रनन्दी ने राष्ट्रकूट राजा श्रीकृष्ण के शासनकाल में, शक सं० ८६१ में इस ज्वालामालिनी (कल्प) नामक ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की।[2]

"ज्वालामालिनी" नामक इस ग्रन्थ में कुल १० अधिकार हैं। इन दश अधिकारों में मन्त्र शास्त्र के सभी प्रमुख अंगों पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रनन्दी ने इस मन्त्र की साधना की विधि का भी निरूपण किया है।

मध्यकाल में यह ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय रहा। राज्याश्रय प्राप्त कर जैन धर्म के अभ्युत्थान के लिए और जनमत को अधिकाधिक संख्या में जिनशासन की ओर आकर्षित करने के लिए इस मन्त्रशास्त्र का खूब उपयोग किया गया। इस दिशा में अनेक आचार्यों को आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई।

---

[1] (क) इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द संख्या १५, पृष्ठ १४०–१४१
(ख) राजपूताना का इतिहास जिल्द १, पृष्ठ १६३

[2] अष्टशतस्यैकषष्टि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु,
श्री मान्यखेट कटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ।
शतदलसहित चतुःशतपरिमाणग्रन्थरचनया युक्तम्,
श्रीकृष्णराज राज्ये समाप्तमेतन्मतं देव्याः ॥

भ० महावीर के ४८वें पट्टधर उसभ ऋषि और ४९वें जयसेण के समय के

प्रभावक आचार्य श्री महेन्द्र सूरि

अवन्ति प्रदेश की राजधानी धारानगरी में जिस समय राजा भोज राज्य कर रहे थे उस समय महेन्द्रसूरि नामक आचार्य धारानगरी में आये। आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करने वाले उपदेशों को सुनने के लिए धारानगरी के सभी वर्गों के लोग उमड़ पड़े। जिन-जिन लोगों के मन में जो-जो भी शंकाएं थीं उन्होंने अपनी शंकाओं का महेन्द्रसूरि से समाधान प्राप्त किया।

एक दिन सर्वदेव नाम का एक ब्राह्मण आचार्य श्री महेन्द्रसूरि के उपाश्रय में आया। तीन दिन और तीन रात तक वह उस उपाश्रय में महेन्द्रसूरि के आसन के समक्ष बैठा रहा। चौथे दिन महेन्द्रसूरि ने उस सर्वदेव ब्राह्मण से पूछा :—"हे द्विजोत्तम ! क्या आपको कोई प्रश्न पूछना है ? यदि तुम्हारे मन में धर्म के विषय में किसी प्रकार की शंका हो तो हमारे समक्ष रक्खो।"

सर्वदेव ने कहा :—"महात्मन् ! केवल महात्माओं के दर्शन से ही महान् पुण्य का अर्जन हो जाता है। तथापि एक कार्य के लिए मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं। क्योंकि हम गृहस्थ लोग तो वस्तुतः अभ्यर्थी हैं अर्थात् अपने लौकिक अभ्युदय के इच्छुक हैं अथवा भौतिक आकांक्षा से लिप्त हैं। अतः मैं एकान्त में ही आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूं।"

महेन्द्रसूरि उसके साथ एक ओर एकान्त स्थान में गये। तब ब्राह्मण सर्वदेव ने कहा :—"हे ज्ञानसिन्धो ! मेरे पिता का नाम देवर्षि था। वे मालवपति के बहु-मान्य विद्वान् थे। मालवराज सदा एक लाख स्वर्ण मुद्राओं का कतिपय दिनों तक दान करते रहे। मेरा विश्वास है कि मेरे पिता द्वारा वह धन हमारे ही घर में कहीं गाड़ा गया था। आप दिव्य दृष्टि सम्पन्न हैं। मेरे घर पर चलकर यदि आप हमारा वह छिपा हुआ धन बता देंगे तो इस ब्राह्मण का और साथ ही इसके परिवार का बड़े आनन्द के साथ दान पुण्यादि करते हुए जीवन व्यतीत हो जायगा। हम सब आपके सदा-सदा कृतज्ञ रहेंगे।

निमितज्ञ महेन्द्र सूरि ने देखा कि उस ब्राह्मण के माध्यम से उन्हें एक महान् प्रभावक शिष्य और श्रावक का लाभ होने वाला है अतः उन्होंने प्रश्न किया :—"द्विजवर ! यदि तुम्हें छिपा हुआ धन मिल गया तो तुम हमें क्या दोगे ?"

भोज (द्वितीय) का भाई और क्रमश उत्तराधिकारी था। विक्रम सम्वत् ९५५ का एक दानपत्र भी उपलब्ध होता है।[1]

यह विनायकपाल अपने साम्राज्य की राजधानी कन्नोज में रहता था।

इन्द्रनन्दी

विक्रम की दशवीं शताब्दी में दिगम्बर परम्परा के इन्द्रनन्दी नामक एक महान् मन्त्रवादी आचार्य ने "ज्वालामालिनी" नामक एक मन्त्रशास्त्र की रचना की। इनके गुरु का नाम बप्पनन्दी और प्रगुरु का नाम वासव नन्दी था। इन्द्रनन्दी ने इस ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ से विवरण प्रस्तुत करते हुए उपक्रम के पश्चात् लिखा है कि हेलाचार्य ने ज्वालामालिनी देवी के आदेश से पूर्व काल में "ज्वालिनी-मत" नामक ग्रन्थ की रचना की। गुरु परिपाटी से यह 'मन्त्रराज गुणनन्दी' नामक मुनि को प्राप्त हुआ। गुणनन्दी से गूढ़ार्थ एवं रहस्य सहित इन ग्रन्थ का ज्ञान इन्द्रनन्दी ने प्राप्त किया। वह ग्रन्थ वस्तुतः बड़ा क्लिष्ट था। इसलिए इन्द्रनन्दी ने विश्व को आश्चर्य में डाल देने वाले इस जनहितकारी ग्रन्थ की नवीन रूप से सुबोध्य शैली में रचना प्रारम्भ की।

राष्ट्रकूट वंशीय राजाओं की राजधानी मान्यखेट (मलखेड़) के कटक में इन्द्रनन्दी ने राष्ट्रकूट राजा श्रीकृष्ण के शासनकाल में, शक सं० ८६१ में इस ज्वालामालिनी (कल्प) नामक ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की।[2]

"ज्वालामालिनी" नामक इस ग्रन्थ में कुल १० अधिकार हैं। इन दश अधिकारों में मन्त्र शास्त्र के सभी प्रमुख अंगों पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रनन्दी ने इस मन्त्र की साधना की विधि का भी निरूपण किया है।

मध्यकाल में यह ग्रन्थ बड़ा ही लोकप्रिय रहा। राज्याश्रय प्राप्त कर जैन धर्म के अभ्युत्थान के लिए और जनमत को अधिकाधिक संख्या में जिनशासन की ओर आकर्षित करने के लिए इस मन्त्रशास्त्र का खूब उपयोग किया गया। इस दिशा में अनेक आचार्यों को आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई।

---

[1] (क) इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द संख्या १५, पृष्ठ १४०–१४१
(ख) राजपूताना का इतिहास जिल्द १, पृष्ठ १६३

[2] अष्टेशतस्यैकषष्ठि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु,
श्री मान्यखेट कटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम्।
शतदलसहित चतुःशतपरिमाणग्रन्थरचनायुक्तम्,
श्रीकृष्णराज राज्ये समाप्तमेतन्मंत्रं देव्याः॥
—ज्वालामालिनिकल्प प्रशस्ति

सर्वदेव ने कहा :—"वत्स ! तुम सुपुत्र हो। पिता की आज्ञा का पालन करने में तुम्हें इसी प्रकार कृत-संकल्प रहना चाहिये। तुम ध्यान से सुनो। महेन्द्र सूरि ने हमारी इस छिपी हुई पैतृक सम्पत्ति को हमें बताया है। मैंने इस सम्बन्ध में यह प्रतिज्ञा की थी कि इसके बदले में जो आपको अच्छा लगेगा उसका आधा मैं आपको दूंगा। अब वे मेरे पुत्र युगल में से अर्थात् तुम दोनों में से एक को मांग रहे हैं। बस, इसी चिन्ता से मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूं कि क्या करूं ? हे पुत्र ! इस घोर धर्म संकट से तुम्हीं मेरा उद्धार कर सकते हो। मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये तुम उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लो।"

यह सुनते ही विद्वद् शिरोमणि धनपाल बड़ा क्रुद्ध हुआ और कहने लगा :—"जैसा आपने कहा है। उसको कोई भी उचित नहीं कहेगा। हम वेद वेदान्त-पाठी ब्राह्मण सब वर्णों में उत्तम वर्ण वाले हैं। मुंजराज मुझे सदा अपना पुत्र ही समझते थे। मैं राजा भोज का बाल सखा हूं। इन शूद्रों की दीक्षा ग्रहण करके मैं महाराज मुंज के और आपके पूर्वजों को रसातल में गिराऊं यह कभी नहीं हो सकता। आपको ऋण से मुक्त करने के लिये मैं सब पूर्वजों को पाताल में गिरादूं इस प्रकार का सज्जनों द्वारा निन्दित कार्य मैं कभी नहीं करूंगा। मेरा यह अन्तिम निर्णय है कि आपके इस कार्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।" यह कहकर वह अन्यत्र चला गया।

सर्वदेव द्विज की आंखों से अश्रुपात होने लगा। आंसुओं की धारा बह चली। वह निराश हो गया कि अब इस घोर धर्म संकट से वह कैसे बचे। वह इस प्रकार चिन्ता सागर में डूब रहा था कि उसका दूसरा पुत्र शोभन घर में आया। अपने पिता को चिन्तामग्न देखकर पिता से पूछा :—"आप शोकमग्न क्यों हैं ?"

सर्वदेव ने निराशाभरे स्वर में कहा :—"जिस कार्य के सम्पादन में तुम्हारे बड़े भाई धनपाल ने भी मेरी सब आशाओं पर पानी फेर दिया उस कार्य को क्योंकि अभी तुम बालक हो कैसे सिद्ध कर सकोगे। तुम जाओ। स्वयं द्वारा किये गये कर्मों का फल मैं स्वयं भोग लूंगा।"

ब्राह्मण ने कहा :—"उसमें से आधा मैं आपको दूंगा।"

महेन्द्र सूरि ने कहा :—"नहीं, तुम्हारे पास जो कुछ भी अच्छा होगा उसमें से आधा मैं लूंगा।"

ब्राह्मण सर्वदेव ने साक्षीपूर्वक इस शर्त्त को स्वीकार कर लिया।

महेन्द्रसूरि को उपाश्रय से सर्वदेव अपने घर ले आया। उसने अपने बड़े पुत्र धनपाल और छोटे पुत्र शोभन को महेन्द्र सूरि के साथ हुई बात का सारा विवरण सुनाया। एक दिन शुभ मुहूर्त्त में ब्राह्मण महेन्द्रसूरि को फिर अपने घर ले गया। वहां सूरि ने अपने ज्ञानबल से देखकर सर्वदेव को वह स्थान बता दिया जहां कि धन गड़ा पड़ा था। ब्राह्मण ने उस स्थान को खोदा तो चालीस लाख स्वर्ण मुद्राएं वहां से निकलीं। श्री महेन्द्रसूरि तो बिलकुल निस्पृह थे। अतः उसी समय बिना कुछ लिये वहां से लौट आये। एक वर्ष तक सर्वदेव प्रति दिन महेन्द्र सूरि की सेवा में उपस्थित होकर आधा धन ग्रहण करने की उनसे प्रार्थना करता रहा। महेन्द्र सूरि सदा इसे टालते रहे। एक दिन सर्वदेव ने आचार्य महेन्द्र सूरि की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया:—"महर्षिन्! आज तो मैं आपको आपका देय दिये बिना अपने घर नहीं लौटूंगा।"

महेन्द्र सूरि ने कहा :—"द्विजोत्तम! तुम्हें भली भांति स्मरण होगा कि मैंने क्या कहा था? मैंने यही कहा था कि मुझे जो अच्छा लगेगा उसमें से आधा लूंगा।"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया :—"हां, तो महाराज, वह लीजिये न।"

महेन्द्र सूरि ने कहा :—"तुम्हारे घर में तुम्हारे पास पुत्र युगल की एक जोड़ी है। यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करना चाहते हो तो अपने धनपाल और शोभन इन दो पुत्रों में से एक मुझे दे दो। अन्यथा आनन्द से घर जाओ।"

यह सुनते ही सर्वदेव किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया। बड़े कष्ट से उसके मुंह से यह वाक्य निकला :—"दूंगा महाराज!"

तदनन्तर चिन्तामग्न वह ब्राह्मण अपने घर की ओर लौट गया और एक कक्ष में पड़ी खाट पर लेट गया। जब उसके बड़े पुत्र धनपाल ने प्रासाद से लौटकर अपने पिता को इस प्रकार चिन्तामग्न देखा तो पूछा :—"पूज्यपाद! आपके इस अकिंचन पुत्र की विद्यमानता में आपको किस बात का शोक है? मैं तो आपकी प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य करता आया हूं। अतः आप अपनी चिन्ता का कारण बताइये।"

सर्वदेव ने कहा :—"वत्स ! तुम सुपुत्र हो । पिता की आज्ञा का पालन करने में तुम्हें इसी प्रकार कृत-संकल्प रहना चाहिये । तुम ध्यान से सुनो । महेन्द्र सूरि ने हमारी इस छिपी हुई पैतृक सम्पत्ति को हमें बताया है । मैंने इस सम्बन्ध में यह प्रतिज्ञा की थी कि इसके बदले में जो आपको अच्छा लगेगा उसका आधा मैं आपको दूंगा । अब वे मेरे पुत्र युगल में से अर्थात् तुम दोनों में से एक को मांग रहे हैं । बस, इसी चिन्ता से मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूं कि क्या करूं ? हे पुत्र ! इस घोर धर्म संकट से तुम्हीं मेरा उद्धार कर सकते हो । मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये तुम उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लो ।"

यह सुनते ही विद्वद् शिरोमणि धनपाल बड़ा क्रुद्ध हुआ और कहने लगा :—"जैसा आपने कहा है । उसको कोई भी उचित नहीं कहेगा । हम वेद वेदान्त-पाठी ब्राह्मण सब वर्णों में उत्तम वर्ण वाले हैं । मुंजराज मुझे सदा अपना पुत्र ही समझते थे । मैं राजा भोज का बाल सखा हूं । इन शूद्रों की दीक्षा ग्रहण करके मैं महाराज मुंज के और आपके पूर्वजों को रसातल में गिराऊं यह कभी नहीं हो सकता । आपको ऋण से मुक्त करने के लिये मैं सब पूर्वजों को पाताल में गिरादूं इस प्रकार का सज्जनों द्वारा निन्दित कार्य मैं कभी नहीं करूंगा । मेरा यह अन्तिम निर्णय है कि आपके इस कार्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें ।" यह कहकर वह अन्यत्र चला गया ।

सर्वदेव द्विज की आंखों से अश्रुपात होने लगा । आंसुओं की धारा बह चली । वह निराश हो गया कि अब इस घोर धर्म संकट से वह कैसे बचे । वह इस प्रकार चिन्ता सागर में डूब रहा था कि उसका दूसरा पुत्र शोभन घर में आया । अपने पिता को चिन्तामग्न देखकर पिता से पूछा :—"आप शोकमग्न क्यों हैं ?"

सर्वदेव ने निराशाभरे स्वर में कहा :—"जिस कार्य के सम्पादन में तुम्हारे बड़े भाई धनपाल ने भी मेरी सब आशाओं पर पानी फेर दिया उस कार्य को क्योंकि अभी तुम बालक हो कैसे सिद्ध कर सकोगे । तुम जाओ । स्वयं द्वारा किये गये कर्मों का फल मैं स्वयं भोग लूंगा ।"

अपने पिता के इस प्रकार निराशापूर्ण वचन सुनकर शोभन ने कहा :—"पितृदेव ! मेरे जीवित रहते आप कभी इस प्रकार विह्वल न हों । बड़े भाई धनपाल राजपूज्य हैं और हमारे परिवार का भरण-पोषण करने में सक्षम हैं । अतः उसकी कृपा से मैं तो पूर्णतः निश्चिन्त हूं । आप शीघ्र ही [illegible] प्रदान कीजिये । मैं आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करूंगा । भाई धनपाल तो वेद वेदांग और स्मृति शास्त्रों के पारगामी विद्वान हैं । क्या करणीय है और क्या अकरणीय है इसका अपनी इच्छानुसार विवेचन करने में वे निष्णात हैं । आपको ज्ञात ही है कि मैं तो बाल्यावस्था से ही नितान्त सरल हूं और [illegible]

हूं कि पिता की आज्ञा के पालन से बढकर पुत्र के लिये और कोई धर्म नहीं है। पिता की आज्ञा पालन में मैं करणीय अथवा अकरणीय का विचार नहीं करता। आप चाहें तो मुझे कुए में फेंक सकते हैं और चाहें तो नरभोजी क्रूर मानवों तक को समर्पित कर सकते हैं।"

यह सुनते ही सर्वदेव ने शोभन को अपने वक्षस्थल से लगा लिया। उसने कहा :—"वत्स ! मुझे एक ऋण से मुक्त करके मेरा उद्धार कर दो।"

तदनन्तर सर्वदेव ने अपने पुत्र शोभन को महेन्द्रसूरि के साथ हुई प्रतिज्ञा और उस प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के लिये अपने दो पुत्रों में से एक पुत्र को उन्हें सदा के लिये शिष्य के रूप में दे देने की बात कही।

यह सुनते ही शोभन के हर्ष का पारावार नहीं रहा। वह बोला :— तात ! यह कार्य तो मुझे प्रिय से प्रियतर है। ये जैन मुनि तो तपोपूत त्याग की कान्ति से प्रकाशमान् और अहिंसा सत्य अस्तेय आदि महान् व्रतों के धारक हैं और महान् सत्वशाली होते हैं। उनके चरणों की सेवा करने का सौभाग्य पूर्व जन्मार्चित महान् पुण्यों के प्रताप से ही प्राप्त होता है। प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करना ही वस्तुतः सच्चा धर्म है। और यह साकार धर्म उन जैन मुनियों के अन्दर ही विद्यमान है। उनके चरणों में दीक्षित होने के स्वर्णिम अवसर को छोड़कर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो यह करना है वह करना है तो यह भी करना है और वह भी करना है इस प्रकार की चिन्ता से रात-दिन मानव को चिन्ता की ज्वाला में जलाते रहने वाले विषय-वासनाओं के घोर पंकिल आवास गृहस्थावास में रहना पसन्द करेगा। भईया तो दोनों ओर से डरते हैं। अपनी प्राण प्रिया पत्नी धनश्री से और सभी प्रकार की भोग्य वस्तुओं के विद्यमान होते हुए भी उसमें अपनी असन्तोष वृत्ति से। हे तात ! किसी कन्या के साथ सम्वन्ध में आबद्ध कर दिये जाने के अनन्तर मेरी भी इसी प्रकार की दुर्गति अवश्यम्भाविनी है। ऐसी दशा में मुझे जो कार्य सबसे अधिक प्रिय है—श्रमणधर्म में दीक्षित होने का—उसके लिये आप शीघ्र ही मुझे अनुमति क्यों नहीं प्रदान करते हैं। इसलिये चिन्ता का परित्याग कर उठिये, स्नान देवार्चन वैश्वदेवादिकी क्रियाओं से निवृत्त होकर भोजन कीजिये और उसके पश्चात् शीघ्र ही मुझे ले जाकर उन महान् जैनाचार्य महेन्द्र सूरि के क्रोड में समर्पित कर दीजिये जिससे कि मैं उन पूज्य पुरुषों की चरण सेवा करके अपने जन्म को सार्थक करूं। अपने इस जन्म को पवित्र करूं।"

अपने छोटे पुत्र शोभन की इस वात को सुनते ही देवोत्तम सर्वदेव के लोचन युगल आनन्दाश्रुओं से ओतप्रोत हो छलक उठे। उसने अपने पुत्र का प्रगाढ आलिगन किया। उसके मस्तक को सूंघा। तदनन्तर सभी आवश्यकीय क्रियाओं से निवृत्त होकर अपने पुत्र शोभन के साथ महेन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित होकर

उनके क्रोड में अपने प्राणप्रिय पुत्र को बिठा दिया और हाथ जोड़कर निवेदन किया :—"परम पूज्य आचार्यदेव ! अब जैसा आप इसे बनाना चाहते हैं वैसा बनाइये। यह पूर्णरूपेण आपका है।"

महेन्द्रसूरि ने शुभ मुहूर्त्त में शोभन देव को पंच महाव्रतों की भागवती दीक्षा प्रदान की और धारानगरी से दूसरे दिन प्रातःकाल विहार कर गये। विहारक्रम से वे कुछ समय पश्चात् अरणहिल्लपुर पट्टण पहुंचे।

इधर धनपाल ने लोगों में अपने पिता की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। कहने लगा कि इन्होंने अपने पुत्र को धन के बदले बेच दिया है। वे जैन साधु शूद्र हैं। मुख देखने योग्य नहीं हैं। वे स्त्रियों और बालकों को भुलावे में डाल देते हैं। इन पाखंडियों को हमारे देश से निर्वासित करवा दिया जाय। उसने क्रोध के वशीभूत हो राजा भोज से निवेदन किया। राजा भोज ने उसकी बात सुनकर जैन श्रमणों का विहरण विचरण मालव प्रदेश में राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करवा दिया। इस प्रकार राजा भोज की आज्ञा से मालव प्रदेश में बारह वर्षों तक जैन श्रमणों का दर्शन तक दुर्लभ हो गया।

धारानगरी के जैन संघ ने महेन्द्रसूरि की सेवा में जैन श्रमणों के मालव में विचरण सम्बन्धी राजा भोज की निषेधाज्ञा का पूरा विवरण प्रस्तुत कर दिया।

शोभनदेव को श्रमणधर्म में दीक्षित करने के पश्चात् आचार्य महेन्द्रसूरि ने उसे सभी विद्याओं और आगमों का अध्ययन प्रारम्भ करवाया। मेधावी शोभनदेव ने बड़ी निष्ठा, लगन और परिश्रम के साथ अध्ययन करते हुए आगमों के तलस्पर्शी ज्ञान के साथ-साथ सभी विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। आचार्य महेन्द्रसूरि ने शोभनदेव के प्रकाण्ड पांडित्य, वाग्मिता, विनय, आदि गुणों से प्रसन्न होकर इन्हें वाचनाचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

अवन्ति के संघ ने महेन्द्रसूरि की सेवा में विज्ञप्तिपत्र प्रस्तुत किया कि वे अपने चरणों से अवन्ति को पवित्र करें। शोभनदेव ने अपने गुरु महेन्द्रसूरि से निवेदन किया :–"पूज्यपाद ! मैं धारानगरी में जाऊंगा और अपने भ्राता को शीघ्र ही प्रतिबोध दूंगा। यह सब मन-मुटाव मेरे निमित्त से ही पैदा हुआ है। मैं ही इसका प्रतिकार करूंगा और टूटे हुए इस सम्बन्ध को पुनः जोड़ने का प्रयास करूंगा। इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे धारानगरी जाने की अनुज्ञा प्रदान कीजिये।"

सम्पन्न करने की आज्ञा प्रदान कर दी। कतिपय गीतार्थ एवं सेवा परायण मुनियों के साथ उपाध्याय श्री शोभन ने अणहिल्लपुर पत्तन से धारा नगरी की ओर विहार किया। विहार क्रम से स्थान-स्थान पर भव्य उपासकों को धर्मपथ पर आसीन एवं दृढ़ करते हुए उपाध्याय श्री शोभन अपने सन्तसमूह के साथ कतिपय दिनों के पश्चात् धारा नगरी पहुंचे और अपनी संतमंडली सहित वे वहां एक उपासनाभवन-उपाश्रय में ठहरे।

मधुकरी का समय उपस्थित होने पर शोभन गुरु ने अपने दो साधुओं को भिक्षा की गवेषणार्थ अपने ज्येष्ठ भ्राता धनपाल के घर पहुंच कर उन्हें धर्मलाभ दिया। उस समय महाकवि धनपाल अपने शरीर में तैलमर्दन के अनन्तर स्नानार्थ समुद्यत था। उसने साधुओं का अभिवादन करते हुए अपनी धर्मपत्नी से कहा—"इन अतिथियों को कुछ न कुछ भोजन-पेय आदि अवश्य ही देना चाहिये। क्योंकि गृहस्थ के घर से अभ्यर्थियों का बिना कुछ लिये ही रिक्तहस्त लौट जाना उस सद्गृहस्थ के लिये पापकारक होता है।"

धनपाल की गृहिणी ने कुछ पक्वान्न उन मुनियों को दिया और उन्हें दही देने के लिए दधिपात्र हाथ में लिया। मुनियों ने प्रश्न किया कि यह दही कितने दिन का है ?

इस प्रश्न के सुनते ही धनपाल आवेशपूर्ण स्वर में बोला—"यह दही तीन दिन का है। कहिये, क्या इसमें भी जीव उत्पन्न हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है, आप लोग नये-नये ही दयाव्रतधारी बने हैं। लेना हो तो लीजिये, अन्यथा शीघ्र ही यहां से अन्यत्र चले जाइये।"

एक साधु ने बड़े ही शांत एवं मृदु स्वर में कहा—"विद्वन्! जैन श्रमणों के लिए जो मधुकरी के सम्बन्ध में आचार-संहिता बनी हुई है, उसकी अनुपालना में इस प्रकार की जानकारी करना हमारा अनिवार्य कर्त्तव्य रखा गया है। पूरी जानकारी कर लेने के पश्चात् जब हमें विश्वास हो जाय कि भिक्षा में गृहस्थ द्वारा दी जाने वाली वस्तु पूर्णत: दोषरहित है तभी हम उसे ग्रहण करते हैं, अन्यथा नहीं। बस इतनी सी बात पर आप कुपित क्यों हो रहे हैं? आक्रोश वस्तुत: अनिष्टकर और प्रियवचन सदा सब के लिए श्रेयस्कर होते हैं। दो दिनों के पश्चात् दही आदि गोरस में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। यह ज्ञानियों का कथन है।"

महाकवि धनपाल ने आश्चर्यपूर्ण मुद्रा में कहा—"यह नई बात तो मैंने अपने जीवन में पहली बार आपके मुख से ही सुनी है। तो आप इस दही में उन जीवों को दिखाइये कि दही में इस प्रकार के जीव होते हैं, जिससे कि हमें भी प्रत्यक्ष दर्शन से आपकी इस बात की सत्यता पर विश्वास हो जाय।"

उन दोनों साधुओं ने कहा—"महाकवे ! इस दही में थोड़ा सा अलता का रंग डाल दीजिये ।"

इधर धनपाल ने दही में किंचितमात्र रंग डाला और उधर तत्काल ही दही के वर्ण के ही अनेक जीव जो अब तक अदृष्ट थे, दृष्टिगोचर हो दधिपात्र में इधर-उधर चलने लगे ।

दधिपात्र में इस प्रकार अगणित जीवों को इधर-उधर चलते और किलबिलाते देख जैन धर्म के सम्बन्ध में कवि धनपाल के अन्तर्मन में जो भ्रान्तियां थीं वे तत्काल प्रणष्ट हो गईं, उसके मन और मस्तिष्क पर छाया हुआ मिथ्यात्व का कोहरा तत्क्षण समाप्त हो गया । उसने मन ही मन सोचा—"अहो ! जैन दर्शन में सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को वस्तुतः यथातथ्य रूपेण गहन दृष्टि से सोचा, देखा और बताया गया है । वस्तुतः जैन दर्शन संसार के प्राणिमात्र के प्रति दया अनुकम्पा की भावनाओं से ओतप्रोत, विश्वबन्धुत्व का प्रतीक और संसार के सभी जीवों के लिये सभी भांति कल्याणकारी है ।" उसने अनुभव किया कि उसके अन्तर्मन में अलौकिक आलोक की एक दिव्य किरण प्रकट हुई है ।

महाकवि धनपाल ने अंजलिबद्ध हो सादर मस्तक झुकाते हुए विनम्र स्वर में उन दोनों साधुओं से पूछा :—"महात्मन् ! आपका आगमन कहां से हुआ है, आपके गुरु कौन हैं और आप यहां धारा नगरी में किस स्थान पर ठहरे हुए हैं ?"

एक साधु ने धनपाल के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"महाकविन् ! हम यहां गुर्जरभूमि से आये हैं । महेन्द्रसूरि के सुयोग्य शिष्य शोभनाचार्य हमारे गुरु हैं और इस नगर में आदिनाथ भगवान् के मन्दिर के पास एक उपाश्रय में हम सब ठहरे हुए हैं ।" तदनन्तर वे दोनों साधु महाकवि धनपाल के भवन से निकलकर जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा की ओर लौट गये ।

विचारमग्न धनपाल ने तत्काल स्नान किया, शुद्ध वस्त्र धारण किये और बिना भोजन किये ही वह उपाश्रय की ओर प्रस्थित हुआ । धनपाल ने ज्यों ही उपाश्रय में प्रवेश किया कि शोभनाचार्य की दृष्टि उन पर पड़ी । अपने बड़े भाई के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए वे धनपाल के सम्मुख गये । धनपाल के अन्तर्हृदय में भ्रातृस्नेह उद्वेलित हो उमड़ पड़ा । उसने तीव्र गति से आगे बढ़कर अपने लघु सहोदर शोभनाचार्य को अपने बाहुपाश में आबद्ध कर अपने वक्षस्थल से लगा लिया ।

के मालव राज्य में विचरण पर प्रतिबन्ध लगवा कर घोर पाप का उपार्जन किया है, इस बात का मुझे बड़ा दुःख है। अब मैं अपने इस पाप की पूर्णरूपेण शुद्धि करने का अभिलषुक हूं। वस्तुतः हमारे पिताश्री और आप महान् भाग्यशाली एवं क्षीर-नीर-विवेक की श्लाघायोग्य बुद्धि से सम्पन्न हैं, जो आप दोनों ने भयावहा भवाटवी में अनंतकाल तक भ्रमण करवाने वाले कर्मबंधनों का समूलोच्छेद करने में सर्वथा सक्षम और अन्त में शाश्वत, अक्षय-अव्याबाध अनन्त सुख प्रदान करने वाले जैन धर्म को स्वीकार किया है। मैं तो अभी तक विमूढ़ बना हुआ अधर्म को ही धर्म समझ कर धर्माभास के महाविनाशकारी क्रोड़ में पड़ा हुआ हूं। हे अनुज! तुम वस्तुतः हमारे वंशरत्नाकर के कौस्तुभमणि हो, अतः मुझ पर कृपा कर मुझे उस वास्तविक धर्म का स्वरूप समझाओ जो भवप्रपंच के सृजनहार कर्मसमूह का समूलोच्छेद कर अक्षय आत्मिक सुख का प्रदाता है।"

बोधि-बीजार्थी अपने ज्येष्ठ भ्राता के आंतरिक उद्गारों को सुन शोभनाचार्य का मानस विशुद्ध वात्सल्य की उत्ताल तरंगों से तरंगित हो उठा। उन्होंने सुमधुर कण्ठस्वर में कहा—"आप हमारे कुलाधार हैं। आपके अन्तर्मन में उत्पन्न हुई धर्म के मर्म को समझने की जिज्ञासा वस्तुतः स्तुत्य है। मैं आपके समक्ष देव, धर्म और गुरु के स्वरूप के साथ धर्म के मर्म के सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालता हूं, आप उसे एकाग्रचित्त हो सुनिये एवं हृदयंगम कीजिये।

प्राणिमात्र के सर्वाधिक प्रबल एवं प्रमुख शत्रु महामोह और काम (विषय-वासनासक्ति) को जीत लेने वाले जिनेन्द्रदेव ही वस्तुतः सच्चे देव हैं, जो स्वयं कर्मबन्धनों से पूर्णतः मुक्त और दूसरे भव्यप्राणियों को मुक्त करवाने में सर्वथा सक्षम हैं। सुनिश्चित रूपेण वे जिनेन्द्र देव ही मुमुक्षुओं को परमानन्दप्रदायी निरंजन-निराकार शिवपद प्रदान करने वाले हैं। जो देव रागद्वेष मूलक शाप देने व अनुग्रह करने वाले, विषय-वासनाओं के घोर पंकिल दल-दल में निमग्न एवं स्त्री, शस्त्र तथा माला को धारण करने वाले हैं, वे देव तो वास्तव में राजा के समान ही रुष्ट होने पर रंक और तुष्ट हो जाने पर राव बना देने वाले हैं। ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो राजा में और उन शापानुग्रहादि प्रदान करने में समर्थ देवों में कोई विशेष अन्तर नहीं।

सच्चे देव के पश्चात् सही अर्थों में सच्चे गुरु वे ही हैं जो संसार के प्राणिमात्र के अनन्य बन्धु, शत्रु तथा मित्र सभी पर समान भाव रखने वाले, पांचों इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाले, प्राणिमात्र के श्रद्धाकेन्द्र, सदाचार से ओतप्रोत संयम के साक्षात् साकार स्वरूप, प्रतिपल प्राणि वर्ग के कल्याण में निरत, अहर्निश सब दुःखों के मूल कारण कर्मबंधनों को काटने में प्राणपण से संलग्न और आत्मनद को कर्म जलौघ से प्रतिपल आपूरित करते रहने वाले आस्रव-द्वारों को इन्द्रिय दमन, इच्छानिरोध, ध्यान, स्वाध्याय एवं तपश्चरण आदि के माध्यम से

अवरुद्ध करने वाले हैं। कविवर बन्धो! जो स्वयं विपुल परिग्रह के भार से दवे हुए, महा आरम्भ–समारम्भ के कार्यों में संलग्न, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूप से जीवहिंसा-कारी कार्यों में प्रवृत्त हैं, जिनमें सभी प्रकार की अभिलाषाएं विद्यमान हैं और जो अध्यात्मज्ञान से विहीन हैं, उन लोगों को गुरु कैसे कहा और माना जा सकता है। इस प्रकार के तथाकथित गुरु तो वस्तुतः स्वयं संसार सागर में डूबने वाले और दूसरों को डुबाने वाले हैं। उन्हें तारक गुरु कैसे कहा जा सकता है?

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दया, मनशुद्धि, क्षमा, मार्दव, ऋजुता, सन्तोष और तपश्चरण–इन सद्गुण सम्पन्न सत्कार्यों में यथाशक्ति प्रवृत्ति और उत्तरोत्तर प्रगति करते रहना ही सच्चा धर्म है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रदर्शित किया गया है।

इसके विपरीत जिस तथाकथित धर्म में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील-सेवन, महा आरम्भ–समारम्भ आदि के माध्यम से परिग्रह संचय, असन्तोष, कुटिलता, कर्कशता, पशुहिंसा आदि सदोष कार्यों का संपुट लगा हुआ है, जिसमें पग-पग पर प्राणिहिंसा की गन्ध आती है, वह धर्म के नाम से कैसे अभिहित किया जा सकता है।"

अपने लघु सहोदर शोभनाचार्य के मुख से इन सारगर्भित उपदेशों को सुनते ही महाकवि धनपाल के अन्तर्मन में वोधिवीज अंकुरित हो उठा। सम्यक्त्व सुरतरु की सुवास से उसका मन मगमगायमान हो मुदित हो उठा। दृढ़ संकल्प से ओत-प्रोत सुदृढ़ स्वर में धनपाल ने करबद्ध हो शोभनाचार्य से कहा–"ज्ञानसिन्धो! मैं सद्गति दायक जैन धर्म को अन्तर्मन से अंगीकार करता हूं।"

सर्वप्रथम धनपाल ने अपने उस घोर पाप की विशुद्धि का दृढ़ संकल्प किया जो उसने मालव राज्य में जैन श्रमणों के विचरण पर राजा भोज की आज्ञा से प्रतिबन्ध लगवाने के रूप में अर्जित किया था। धनपाल ने राजा भोज से निवेदन कर प्रतिबन्ध को निरस्त करवा दिया। धारा नगरी के जैन संघ ने उस प्रतिबन्ध के हटा दिये जाने के अनन्तर महेन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित हो, उन्हें धारा नगरी में पधारने और वहां जिनधर्म की अपने उपदेशामृत से श्रीवृद्धि करने की प्रार्थना की। संघ की विनति को स्वीकार कर महेन्द्रसूरि भी धारा नगरी में पधारे। महेन्द्रसूरि के उपदेशों से धनपाल की सम्यक्त्व में आस्था दृढ़ से दृढ़तर और दृढ़तर से दृढ़तम होती गई। वह सदा इस बात के लिये सजग रहता था कि प्रमाद अवस्था में भी उसके सम्यक्त्व में कहीं किंचित्मात्र भी कोई दोष न लग जाय।

कि राजा भोज ने गुप्त रूप से धनपाल की हत्या कर देने का संकल्प कर लिया। उसके विद्याबल ने उसके प्राणों की रक्षा कर उसे उस घोर संकट से बचाया।

धनपाल ने भगवान् ऋषभदेव का एक विशाल मन्दिर धारा नगरी में बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा उसने महेन्द्रसूरि से करवाई। धनपाल ने जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा के समय भगवान् आदिनाथ की मूर्ति के समक्ष बैठ कर "जय जन्तु कप्प" इस चरण से प्रारम्भ कर ५०० गाथाओं वाली ऋषभजिन की स्तुति का निर्माण किया।

राजा भोज के अनुरोध पर महाकवि धनपाल ने बारह हजार श्लोक प्रमाण तिलकमंजरी नामक एक ग्रन्थरत्न की रचना की। उस जैन-कथाओं के ग्रन्थरत्न के वाचन अथवा श्रवण के समय ऐसा प्रतीत होता था मानो नवों ही रस मूर्त स्वरूप धारण कर श्रोताओं के हृदयपटल पर अवतरित हो थिरक रहे हों।

ग्रन्थ समाप्ति पर उस ग्रन्थ रत्न के शोधन का जब प्रश्न आया तो महेन्द्रसूरि के परामर्षानुसार गुर्जरनरेश भीम की राजसभा के विद्वान् वादिवैताल के विरुद से सुशोभित श्री शान्त्याचार्य को धारा नगरी में बुलाया गया। शांतिसूरि ने कतिपय दिनों तक धारा नगरी में निवास करते हुए केवल इसी दृष्टि से उस ग्रन्थरत्न का शोधन किया कि कहीं उसमें सर्वज्ञ वीतराग की वाणी के विपरीत तो कोई बात नहीं है। क्योंकि "सिद्ध सारस्वत" की उपाधि से अलंकृत महाकवि धनपाल की रचना में व्याकरण अथवा छंदो-शास्त्र सम्बन्धिनी त्रुटि की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।

वह तिलकमंजरी ग्रन्थ राजा भोज को अत्यन्त रुचिकर एवं अतीव सुन्दर लगा। उसने धनपाल से तिलकमंजरी में निम्नलिखित परिवर्तन करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया :—

१. इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में सुस्पष्टरूपेण शिव की स्तुति की जाय।

२. अयोध्या का जहां जहां इस ग्रन्थ में उल्लेख है, वहां धारा नगरी का नामोल्लेख किया जाय।

३. शक्रावतार के स्थान पर महाकाल के अवतार का उल्लेख किया जाय।

४. वृषभ के स्थान पर शंकर का नामोल्लेख किया जाय।

५. मेघवाहन के आख्यान में मेरा (धाराधिपति भोज का) नाम लिखा जाय।

राजा भोज ने अनुरोधपूर्ण आग्रह के साथ धनपाल से कहा—"कवीश्वर ! मेरे कहने से तुम यदि इस ग्रन्थरत्न में इस प्रकार परिवर्तन कर दोगे तो तुम्हारा यह ग्रन्थरत्न जब तक चन्द्र और सूर्य हैं तब तक इस धरा पर अमर रहेगा।"

धनपाल भोज का बालसखा था। उसे शैशवकाल से ही राजा मुंज का भोज के समान ही स्नेहसिक्त दुलार मिला था और सम्यक्त्व में उसकी अटूट आस्था थी अतः उसने निर्भीक स्वर में कहा—"राजन् ! इस प्रकार के परिवर्तनों से इस ग्रन्थ की वही दशा होगी जो सद्यःस्नात कर्मकाण्डी ब्राह्मण के हाथ पर रखे दुग्धपात्र में सुरा की एक बूंद डालने से होती है। ऐसी दशा में इस प्रकार के परिवर्तन इस ग्रन्थ में नहीं किये जा सकते। नरेश्वर ! इस प्रकार के परिवर्तन से किये गये अपवित्रीकरण का दुष्परिणाम यह होगा कि मेरे कुल, आपके राज्य और राष्ट्र की महती क्षति होगी।"

अपने अनुरोध के इस प्रकार ठुकरा दिये जाने पर राजा भोज की क्रोधाग्नि बड़े ही उग्र रूप से भड़क उठी। उसने तत्काल कर्पूरमंजरी नामक उस अपूर्व ग्रन्थ को अपने पास ही रखी हुई अंगीठी की जाज्वल्यमान ज्वालाओं में डाल दिया। सब के देखते ही देखते वह ग्रन्थरत्न जल कर भस्मीभूत हो गया।

इस घटना से धनपाल के हृदय को गहरा आघात लगा। उसके मुख से आक्रोशमिश्रित निराशापूर्ण केवल ये ही शब्द निकले—"ओ राजा भोज ! तू वास्तव में पक्का मालवीय है। तुमने अपने कपटपूर्ण व्यवहार से धनपाल को भी निर्लिप्त नहीं छोड़ा, किसी अन्य की तो तुम्हारे समक्ष गणना ही क्या है। काव्यकृति के प्रति इस प्रकार की निष्ठुरता और स्वजनों की वंचना—ये दो दोष तुम्हारे अन्दर कहांसे आ गये हैं ?"[1]

राजा के समक्ष अपना आक्रोश इन शब्दों में अभिव्यक्त कर धनपाल राजसभा से बाहर निकल गया और अपने घर आकर शोकाकुल मुद्रा में एक ओर शय्या पर लेट गया। अपनी कृति के इस प्रकार जला दिये जाने से उसको ऐसी असह्य पीड़ा हो रही थी कि न तो उसने स्नान किया, न देवार्चन किया, न अपने परिवार के किसी भी सदस्य से बात ही की और न भोजन का नाम तक ही लिया। निद्रा तो मानो उससे कोसों दूर भाग गई थी। बिना करवट के ही शय्या पर औंधे मुख लेटा हुआ चिन्तासागर में गहरे गोते लगाने में निमग्न था। धनपाल की इस प्रकार अदृष्टपूर्व मनःस्थिति देख कर उसके परिवार के सभी सदस्य अवाक् बने

---

[1] मालविओसि किमन्नं मन्नसि कव्वेण निव्वुइं तंसि।
धणपालं पि न मुंचसि पुच्छामि सवंचणं कत्तो ॥२१५॥

—प्रभावकचरित्र, पृष्ठ १४६

अनेक प्रकार के ईहापोह करने लगे। अन्ततोगत्वा धनपाल की नववर्षीया छोटी पुत्री उसके पास आई और उसने अपने पिता से बड़े प्यार भरे स्वर में चिन्ता का कारण पूछा।

चिन्ता का कारण ज्ञात होते ही बालिका ने अपने पिता को आश्वस्त करते हुए उत्साहपूर्ण स्वर में कहा—"पिताजी ! आप इस बात की रंच मात्र भी चिन्ता न कीजिये। पुस्तक को जला दिया तो क्या हुआ, उसका एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति सब कुछ मुझे कण्ठस्थ है।" यह कहती हुई बालिका ने सहज ही कण्ठस्थ हुई तिलकमंजरी का पाठ आदि से ही अपने पिता को सुनाना प्रारम्भ किया। धनपाल को अपनी पुत्री के मुख से तिलकमंजरी का अस्खलित एवं पूर्णतः विशुद्ध पाठ धारा प्रवाह रूप में सुनकर ऐसी अनुभूति हुई मानो बालरूपा सरस्वती ही उसके समक्ष बोल रही हो।

बालिका ने अपने पिता से पूछा—"क्यों पिताजी ! अब तो आपको पक्का विश्वास हो गया न, कि आपकी अनमोल कृति अमर है, उसे संसार की कोई शक्ति नहीं जला सकती। अब आप उठिये। स्नान, पूजा आदि से निवृत्त हो शीघ्र ही भोजन कर लीजिये, जिससे कि मैं आपको तिलकमंजरी का पाठ लिखवाना प्रारम्भ करूं।"

महाकवि धनपाल के चित्ताकाश पर जो चिन्ता की घनी काली घटाएं मंडरा रहीं थीं, वे तत्काल छिन्न-भिन्न हो पल भर में ही तिरोहित हो गईं। धनपाल ने निश्चिन्त हो स्नान-ध्यानादि के पश्चात् भोजन किया और अपनी पुत्री के मुख से सुन-सुन कर तिलकमंजरी को लिखना प्रारम्भ कर दिया। कतिपय दिनों के अहर्निश प्रयास से धनपाल ने अपनी पुत्री की सहायता से पूर्ण तिलकमंजरी के २७ हजार श्लोक प्रमाण पाठ में से २४ हजार श्लोक प्रमाण कण्ठस्थ पाठ लिपिबद्ध कर लिया। बालिका कदाचित् कहीं-कहीं जिन स्थलों को नहीं सुन पाई थी, वे स्थल रिक्त रह गये। इस प्रकार तिलकमंजरी के जला दिये जाने के कारण उसका तीन हजार श्लोक प्रमाण अंश विस्मृति के गह्वर में विलीन हो गया। तिलकमंजरी का पुनरालेखन सम्पन्न होते ही धनपाल ने अपने परिवार के साथ धारा नगरी से पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। राजा भोज द्वारा अपनी कृति तिलकमंजरी के जला दिये जाने के पश्चात् धनपाल को धारा नगरी का निवास किंचित्मात्र भी सुखद अथवा शान्तिकर प्रतीत नहीं हो रहा था। बड़ी तीव्र गति से पश्चिम की ओर अग्रसर होता हुआ धनपाल अपने परिवार के साथ मरुधरा के सत्यपुर (वर्तमान जालोर) नामक नगर में पहुंचा। धनपाल सत्यपुर में सुखपूर्वक रह कर अपना अधिक समय जिनाराधन में व्यतीत करने लगा। उसने भगवान् महावीर के चैत्य में "देव निम्मल" नाम की महावीर की स्तुति की रचना की।

उधर कतिपय दिनों पश्चात् राजा भोज ने अपने विश्वासपात्र सेवक को महाकवि धनपाल के घर उसे बुलाने के लिये भेजा। जब सेवक से भोज को यह विदित हुआ कि धनपाल अपने कुटुम्ब के साथ धारा नगरी छोड़ कर कहीं अन्यत्र चला गया है तो उसके हृदय को गहरा आघात पहुंचा। उसने मन ही मन सोचा— "जिस समय मैं यह सोचता हूं कि धनपाल बिना किसी प्रकार के संकोच के मेरी बात का विरोध कर बैठता था, तब तो मुझे ऐसा अनुभव होता है कि ऐसा मेरे मन पर मनचाही चोट करने वाला वह धनपाल चला गया तो कोई बात नहीं। यह तो एक साधारण सी बात है किन्तु जब मैं गहराई से विचार करता हूं तो सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि साक्षात् सरस्वती के समान सत्य, सुन्दर और कल्याणकारी यथातथ्य वाणी बोलने वाला धनपाल के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टिगोचर ही नहीं होता। यह मेरे मन्दभाग्य का ही फल है कि इस प्रकार के कविवर राजहंस के संसर्ग से मैं वंचित हो गया हूं।" धनपाल की अनुपस्थिति राजा भोज को अहर्निश हृदय के शूल के समान खटकने लगी।

उन्हीं दिनों धर्म नाम का एक विद्वान् राजा भोज की राजसभा में उपस्थित हुआ और अनेक गर्वोक्तियों के साथ उसने मन-चाहे विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये, वहां उपस्थित सभी विद्वानों को ललकारा। राज सभा के सभी विद्वान् अपने अपने नयनयुगल नीचे की ओर झुकाये हुए मौनस्थ रहे। किसी भी विद्वान् ने धर्म नामक उस विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस प्रकट नहीं किया।

इस प्रकार की दयनीय स्थिति देख कर भोज को बड़ी निराशा हुई। उसके मुख से सहसा इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट हो गये—"हा दैव! एक धनपाल के बिना आज मेरी सम्पूर्ण राजसभा वस्तुतः शून्य ही है। अब उस धनपाल के सम्बन्ध में चरों के माध्यम से ज्ञात किया जाय कि इस समय वह कहां है और उसे किस प्रकार यहां लाया जा सकता है"—इस प्रकार मन ही मन विचार कर राजा ने धनपाल की खोज में चारों ओर अपने विश्वस्त चर भेजे।

भोज भूपाल द्वारा धनपाल की खोज में गये हुए दूतों में से एक दूत सत्यपुर पहुँचा। उसने अपने स्वामी की ओर से कवि धनपाल की सेवा में निवेदन किया कि वे शीघ्र ही धारा नगरी के लिये प्रस्थान कर दें। "धारा निवास के प्रति अब मेरे मन में लवलेश मात्र भी रुचि नहीं रही है। राजाधिराज भोज से मेरी ओर से निवेदन करना कि मैं यहाँ सभी-भांति प्रसन्न हूं और इस तीर्थस्थान में जगद्बन्धु त्रिलोकीनाथ जिनेश्वर की आराधना में संलग्न हूं।"—यह कहते हुए धारानगरी में निवास की अपनी नितान्त अरुचि अभिव्यक्त की।

में एकान्ततः अनिच्छा की बात सुनकर उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने चरों के माध्यम से धनपाल को धारानगरी लौट आने का आग्रह करते हुए कहलवाया—"सखे ! तुम सदा राजा मुंज के परम प्रीतिपात्र रहे हो। उन्होंने तुम्हें अपना पुत्र मानकर सदा पुत्र की भांति ही तुम्हारा लालन-पालन, शिक्षण-दीक्षण किया था। मैंने भी सदा तुम्हें अपने ज्येष्ठ भ्राता के तुल्य ही माना। मैं तो तुम्हारा छोटा भाई हूं, ऐसी स्थिति में तुम्हें अपने छोटे भाई की बात पर इस प्रकार अप्रसन्न नहीं होना चाहिये। तुम्हें भली-भांति स्मरण होगा कि एक दिन राजा मुंज ने तुम्हें अपने अंक में बिठा कर कहा था—"वत्स धनपाल ! तुम वस्तुतः कूर्चाल सरस्वती हो। तुम्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि धारा नगरी तुम्हारी स्वर्ग से भी महामहिमामयी महामहती मातृभूमि है। आज सुदूरस्थ प्रान्त से आया हुआ एक पण्डितंमन्य अभिमानी विद्वान् सरस्वती की लीलास्थली धारानगरी के यश को धूलिसात् करने पर कटिबद्ध हो रहा है। अतः अपनी जन्मभूमि की गौरवगरिमा की रक्षा हेतु शीघ्र ही धारानगरी में लौट आओ। यदि तुमने धारा आने में किंचित्मात्र भी विलम्ब किया तो यह धर्म कौल नामक अभिमानी परदेशी मालवराज्य की राजसभा को वाद में पराजित कर एवं धारा के समुन्नत शुभ्र भाल पर पराजय का काला तिलक लगा कर यहां से चला जायगा। मानापमान की इस विकट निर्णायक वेला में सिद्धसारस्वत ! तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि पुकार रही है।"

दूत के मुख से राजा भोज का यह सन्देश सुन कर धनपाल के मानस में मातृभूमि के प्रति अनुराग का सागर उद्वेलित हो उठा। उसने तत्क्षण धारा नगरी की ओर प्रस्थान कर दिया। द्रुततर गति से यात्रा पूरी कर धनपाल धारा नगरी पहुंचा। अपने बालसखा के आने का समाचार सुनकर भोज भूपति उसकी अगवानी के लिये उसके सम्मुख गया। भोजराज ने धनपाल को देखते ही अपने भुजपाश में आबद्ध करते हुए उसे अपने वक्षस्थल से लगा लिया और पश्चातापपूर्ण स्वर में कहा—"बन्धो ! मुझे अपने अविनयपूर्ण अपराध के लिये क्षमा कर दो।" कवीश्वर और नरेश्वर के दृगों से प्रवाहित हुए हर्षाश्रुओं ने उन दोनों अनन्य बालसखाओं के मनोमालिन्य को तत्काल सदा-सदा के लिये धो डाला।

एक दिन भोजराज की राज्यसभा में विद्वान् धर्म कौल और महाकवि धनपाल के बीच शास्त्रार्थ हुआ। वितण्डावाद में निष्णात विद्वान धर्म कौल ने जब भली-भांति समझ लिया कि धनपाल वस्तुतः उच्चकोटि का विद्वान् और सिद्ध सारस्वत कवि है, तो उसने वितण्डावाद का अवलम्बन छोड़कर यह कहते हुए अपनी पराजय स्वीकार कर ली कि वस्तुतः धनपाल महान् विद्वान् और अप्रतिम कवित्व शक्ति के धनी महा कवि हैं। मैं इनके समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करता हूं। इस धरातल पर इनकी तुलना का कोई कवि अथवा विद्वान् नहीं है।

धनपाल ने तत्काल धर्म कौल को सम्बोधित करते हुए कहा—"विद्वन् ! यह मत कहो कि धरा पर कोई और विद्वान् नहीं है, क्योंकि युगादि से ही इस पृथ्वी को

"रत्नगर्भा वसुन्धरा" माना गया है। वस्तुतः यह पृथ्वी सभी प्रकार के रत्नों की खनि है। इसमें न तो उद्भट विद्वानों की नास्ति रही है, न रहेगी और न आज भी उनकी नास्ति है। इस धरामण्डल पर अनेक उच्च से उच्च कोटि के विद्वान् विद्यमान हैं। वे विद्वान् अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करते, इसी कारण अधिकांश लोगों की दृष्टि से छुपे हुए हैं। यदि तुम इस प्रकार के उच्चकोटि के विद्वान् के दर्शन करने के उत्कट अभिलषुक हो तो सत्यपुर अवश्य जाओ, वहां तुम्हें सभी विद्याओं के निधानस्वरूप महा विद्वान् शान्तिसूरि के दर्शन होंगे। उनके साथ वार्तालाप करते ही तुम्हारे मन में विद्वानों के सम्बन्ध में जो यह "नास्ति" की कल्पना घर कर गई है वह "अस्ति" के रूप में अवश्यमेव परिवर्तित हो जायगी।"

धनपाल के संकेत पर राजा भोज ने उस धर्म कौल नामक विद्वान् को परास्त हो चुकने के उपरान्त भी एक लाख स्वर्ण-मुद्राएं प्रीतिदान के रूप में देने का अपने कोषाध्यक्ष को आदेश दिया किन्तु उसने यह कहते हुए वह राशि लेना अस्वीकार कर दिया—"मान (सम्मान-प्रतिष्ठा) ही मनीषी मानवमात्र का महान् जीवन-धन है। उसके चले जाने पर तो वह निष्प्राण शव के समान ही है।"

पराजित हो जाने के पश्चात् धर्म कौल के लिये धारा नगरी का निवास प्रतप्त अग्निकुण्ड में रहने तुल्य दाहक प्रतीत हो रहा था। धनपाल के मुख से शान्तिसूरि की विद्वत्ता की महिमा सुन कर धर्म कौल को विद्वद् दर्शन का एक अच्छा मिष (बहाना) मिल गया। वह तत्काल धारा नगरी से विदा हो सत्यपुर की ओर प्रस्थित हुआ। सत्यपुर पहुंचकर धर्म कौल ने शान्तिसूरि के साथ भी शास्त्रार्थ किया। शान्तिसूरि की विद्वता से वह बड़ा प्रभावित हुआ और अन्त में शान्तिसूरि के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हुए उनकी विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

धनपाल के लघु सहोदर शोभनाचार्य ने भी जिनेन्द्र प्रभु की यमकालंकारों से समन्वित और भावपूर्ण स्तुतियों की रचना की। शोभनाचार्य जिनेश्वरों की स्तुतियों की रचना में इतने अधिक तल्लीन हो गये कि सोते, उठते, चलते-फिरते प्रतिपल प्रतिक्षण भक्ति रस में ही निमग्न रहते। मधुकरी के लिए अटन करते-करते एक दिन वे भक्ति रस में सर्वात्मना-सर्वभावेन निमग्न हो जाने के कारण एक ही गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिये तीन वार चले गये। गृहिणी द्वारा उस बात की ओर ध्यान दिलाये जाने पर उन्होंने पश्चाताप प्रकट करते हुए कहा कि भक्ति-रस में लीनता के कारण उन्हें इस प्रकार का कोई भान ही नहीं रहा।

शोभनाचार्य की इस प्रकार की तन्मयता की बात जब उनके गुरु को विदित हुई तो अपने शिष्य के मुख से उन्होंने उनकी रचनाओं को सुना। अपने शिष्य की अद्भुत कवित्वशक्ति से वे बड़े चमत्कृत हुए। उन्होंने शोभनाचार्य की कवित्व शक्ति

की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। कुछ समय पश्चात् शोभनाचार्य तीव्र ज्वर की बाधा से पीड़ित हो अपनी इहलीला समाप्त कर स्वर्गवासी बन गये।

महाकवि धनपाल ने शोभनाचार्य द्वारा रचित "शोभनस्तुति" नामक ग्रन्थ पर टीका की रचना की।

अपनी आयु का अवसानकाल सन्निकट जानकर महाकवि धनपाल महाराज भोज की अनुज्ञा प्राप्त कर धर्म-साधना हेतु अनहिल्लपुर पाटण गया। वहां अहर्निश महेन्द्रसूरि की सेवा में रहते हुए उसने धर्मसाधना प्रारम्भ की। गृही वेष में रहते हुए भी उसने अपने समस्त दुष्कृतों की समीचीन रूपेण अपने गुरु के समक्ष आलोचना की। तपश्चरण के साथ अध्यात्मसाधना में निरत रहते हुए धनपाल ने जीवनपर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्यागकर अनशन पूर्वक संलेखना-संथारा किया। शास्त्रों के पारगामी स्थविर मुनियों ने उसकी पंडितमरण की अन्तिम साधना के समय निर्यापना की। अन्त में धनपाल ने समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुआ। (प्रभावक चरित्र के आधार पर)

सूराचार्य के प्रकरण में धनपाल के हृदय में जिनशासन के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा एवं प्रेम के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि उसने सूराचार्य को, उन पर आये घोर प्राण-संकट के समय किस प्रकार धारा नगरी से गुप्तरूपेण बाहर निकालकर अणहिल्लपुर पाटण पहुंचाया।

महाकवि धनपाल विक्रम की १०वीं-११वीं शताब्दी का एक अग्रगण्य जिनशासन-प्रभावक जैन महाकवि था। "पाइय लच्छी नाममाला" नामक अपनी कृति में जो धनपाल ने प्रशस्ति दी है, उससे उसका समय अन्तिमरूपेण सुनिश्चित रूप से विक्रम की १०वीं-११वीं शताब्दी सिद्ध होता है। महेन्द्रसूरि, सूराचार्य, शोभनाचार्य आदि विद्वान् आचार्यों के कालनिर्णय में वह प्रशस्ति बड़ी सहायक है अतः उसे अविकल रूप से यहां उद्धृत किया जा रहा है :—

विक्कमकालस्स गए अ उणत्तीसुत्तरे सहस्संमि। (वि: सं. १०२६)
मालव नरिंद-धाडीए लूडिए मन्नखेडंमि॥
धारा नयरीए परिठिएण मग्गेठियाए अणवज्जे।
कज्जे कणिट्ठ वहिणीए सुंदरी नामधिज्जाए॥
कइणो अंध जण किवा कुसलंत्ति पयाणमंतिमा वण्णा।
नामंमि जस्स कमसो, तेणेसा विरइआ देसी॥

अर्थात्—वि० सं० १०२६ में मालवा के राजा ने जिस समय राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्यखेट को लूटकर वहां राष्ट्रकूट राज्य को समाप्त किया,

उस समय मार्ग में स्थित धारा नगरी में रहते हुए धनपाल (धणवाल) नामक कवि ने सुन्दरी नाम की अपनी छोटी बहिन के लिए "पाइय लच्छीनाममाला" नाम्नी (देशी भाषा की) कृति की रचना की।

यह एक बड़े ही ऐतिहासिक महत्व की प्रशस्ति है। इससे राष्ट्रकूट राज्य के पतनकाल के साथ-साथ धनपाल के समकालीन अनेक विद्वानों के समय का भी प्रामाणिक निर्णय किया जा सकता है।

—꧁—

सूराचार्य

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के जैन जगत् के गण्यमान्य उच्चकोटि के विद्वानों, महा कवियों और महान् प्रभावक श्रमणवरों में सूराचार्य का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है।

गुजरात प्रदेश के इन महान् आचार्य ने मालव प्रान्त में जाकर 'सरस्वती-वरलब्धप्रसाद' के विरुद से अभिहित किये जाने वाले धाराधीश भोजराज की सभा को पराजित कर विजयश्री प्राप्त की। केवल यही नहीं, अपितु राजा भोज की सभा के उद्भट वादी को शास्त्रार्थ में पराजित करने के उपरान्त भी अनेक संकट-पूर्ण स्थितियों का सामना करते हुए सकुशल जीवितावस्था में गुजरात लौट आये।

उस समय देश के पंडितवर्ग में यह धारणा घर किये हुए थी कि जो भी विद्वान् राजा भोज की ओर से शास्त्रार्थ के लिये खड़े किये गये विद्वान् को पराजित कर देता है उस विजयी विद्वान् को येन केन प्रकारेण छल प्रपंच आदि के द्वारा मरवा दिया जाता है। सूराचार्य के जीवन का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है :—

गूर्जर प्रदेश में अनहिलपुरपट्टन नामक पट्टनगर में महान् शक्तिशाली भीम नाम के राजा राज्य करते थे। राजा भीम जिन शासन के प्रति प्रगाढ़ आस्थावान् था। वह न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का परिपालन, संवर्द्धन, संरक्षण करता था। वह बड़ा लोकप्रिय राजा था। द्रोण नामक जैनाचार्य राजा के धर्मगुरु थे जो नियमित रूप से राजा और मन्त्री वर्ग को धर्मशास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे। वे गुरु द्रोण राजा भीम के क्षत्रिय कुलोत्पन्न मामा थे। द्रोण के एक छोटे भाई भी थे। जिनका नाम संग्रामसिंह था। जिनके महिपाल नाम का एक विशिष्ट प्रज्ञा, एवं प्रतिभाशाली पुत्र था।

संग्रामसिंह के असामयिक देहावसान के पश्चात् महिपाल की माता अपने छोटे से बालक को साथ लेकर अनहिलपुरपट्टन पहुंची। उसने द्रोणाचार्य के समक्ष उपस्थित होकर अपने पुत्र को उनके चरणों पर रखते हुए निवेदन किया :— "आचार्य देव! आप अपने भ्रातृज को अपनी सेवा में रखिये और इसको समुचित शिक्षा-दीक्षा प्रदान कीजिये।"

गुरु द्रोण ने बालक महिपाल के सुन्दर शारीरिक सुलक्षणों और निमित्त के बल पर यह जान लिया कि यह बालक आगे जाकर जिन शासन का महान् प्रभावक

आचार्य होगा। उन्होंने बड़े आदर के साथ उस बालक को अपनी सेवा में रख लिया और अपनी लघु भ्रातृपत्नी को अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान कर आश्वस्त किया।

द्रौणाचार्य ने बालक महिपाल को शब्द शास्त्र, प्रमाण नय, साहित्य, आगम, संहिता आदि विविध विद्याओं का क्रमिक पाठ प्रारम्भ करवाया। वे सब विद्याएं सदैव महिपाल के कंठों में आकर विराजमान होने लगीं। गुरु द्रौण तो केवल साक्षी मात्र ही थे।

द्रौणाचार्य के प्रति महिपाल के मन में प्रगाढ़ प्रीति एवं आस्था उत्पन्न हो गई। वह क्षण भर के लिये भी गुरु चरणों से दूर रहने में पीड़ा का अनुभव करता था अतः उसने द्रौणाचार्य से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। सभी विद्याओं और शास्त्रों का तल-स्पर्शी पांडित्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् आचार्य द्रौण ने उसे आचार्य पद के सर्वथा सर्वाधिक सुयोग्य समझकर आचार्य पद प्रदान किया और इस प्रकार मुनि महिपाल आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् सूराचार्य के नाम से लोक-विश्रुत हुए।

एक दिन सरस्वती के सदन और कलाओं के महासिन्धु राजा भोज के प्रधान पुरुष राजा भीम की राजसभा में उपस्थित हुए और उन्होंने निम्नलिखित एक गाथा का राज्यसभा में तालस्वर से उच्चारण किया :—

हेलानिद्दलियगइंदकुंभपयडियपयावपसरस्स।
सीहस्स मएण समं न विग्गहो नेय संधाणं ॥१५॥

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १५२)

अर्थात् —जिसने घनघोर गर्जन के साथ छलांग भरते हुए केवल एक ही पंजे के प्रहार से मदोन्मत्त गजराज के गंडस्थल को विदारित कर अपना अप्रतिम प्रभाव चारों ओर प्रकाशित कर दिया है उस सिंह का किसी एक मृग के साथ न तो विग्रह ही हो सकता है और न सन्धि ही।

राजा भीम ने अत्यन्त तिरस्कार भाव से भरी हुई उक्त गाथा को सुनकर पूर्ण संयम से काम लिया। ललाट में किंचिंत्मात्र भी सलवट अथवा आंखों में लाली न आने दी।

राजा भोज के प्रधानों का राजा भीम ने यथोचित स्वागत सत्कार किया और अशन पान निवासादि की समुचित व्यवस्था का आदेश देकर उन लोगों को विश्राम करने का परामर्श दिया।

राजा भोज के अमात्यों के चले जाने पर भीम ने अपने प्रधानमन्त्री आदि अमात्यों को आदेश दिया कि इस गाथा का समुचित उत्तर प्रदान करने में सक्षम किसी अद्‌भुत प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की खोज की जाय।

राजा भीम की सभा में वैठे हुए अनेक कवियों ने अपनी बुद्धि के अनुसार उस आर्या (गाथा) का समुचित उत्तर प्रदान करने की इच्छा से अनेक प्रति आर्याओं की रचनाएं कीं। किन्तु राजा को उनमें से एक भी आर्या चमत्कारपूर्ण नहीं लगी। इस प्रकार के किसी अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् की खोज के लिये महामात्य अमात्यों एवं अन्य राजपुरुषों ने सब धर्मों के आश्रमों में, मठों, मन्दिरों, स्थानकों, धर्म स्थानों आदि में चौराहों पर, तिराहों पर, चैत्यों के झरोखों में जाना आना शुरु किया।

एक दिन वे राजा भीम के प्रधान पुरुष गोविन्दसूरि के चैत्य में पहुंचे। उस दिन संयोग से उस चैत्य में किसी वड़े पर्व के उपलक्ष्य में नृत्यकला में निष्णात नर्तकियों के नृत्य संगीत का आयोजन किया गया था। विभिन्न भाव भंगिमाओं के साथ अंग-प्रत्यंगों के पुनः पुनः संचालन, संगीत की स्वर लहरियों के आरोह अवरोह के अनुसार द्रुततर गति से पाद निक्षेप, कटि संचालन और देह यष्टि को चारों ओर पुनः पुनः घुमाने फिराने आदि के परिश्रम से पूर्णतः परिश्रान्त हुई मुक्ताफल तुल्य मुख मण्डल पर मंडित स्वेद कणों को पौंछती हुई एक नर्तकी, ने अपना स्वेद सुखाने के लिये पवन की टोह में संगमरमर के प्रस्तर से निर्मित एक स्तम्भ को अपने वाहुपाश में आवद्ध कर लिया और वह वहां निश्चल मुद्रा में विश्राम लेने लगी।

उसे इस स्थिति में देखकर वहां उपस्थित विशिष्ट अतिथियों, सम्माननीय नागरिकों और उच्च कोटि के विद्वानों ने गोविन्द सूरि से निवेदन किया :—
"आचार्य देव ! इस नर्तकी की और इस प्रस्तर स्तम्भ की इस प्रकार की अद्‌भुत दशा का सुन्दर काव्य में चित्रण करवाया जाय।"

सूराचार्य वहीं उपस्थित थे। गोविन्द सूरि ने सूराचार्य की ओर देखते हुए उन्हें इस अद्‌भुत दृश्य के वर्णन करने का अनुरोध किया।

आशु कवि सूराचार्य ने अपने अद्‌भुत काव्य कौशल से सबको चमत्कृत करते हुए निम्नलिखित श्लोक सुनाया :—

यत् कंकणाभरणकोमलबाहुवल्लिसंगात् कुरंगकदृशोर्नवयौवनायाः।
न स्विद्यसि प्रचलसि प्रविकम्पसे त्वं तत् सत्यमेव दृषदा ननु निर्मितोऽसि ॥२६॥

(प्रभावक चरित्र) पृष्ठ १५२

अर्थात्--हे प्रस्तर-स्तम्भ ! स्वर्ण कंकणादि आभरणों के कमनीय संसर्ग से सुकोमल हुई इस नवयौवना मृगनयनी के बाहुयुगल का आलिंगन प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी न तो तुम में कोई स्वेदकण उत्पन्न हुआ है, न तुम किंचितमात्र भी चलायमान हुए हो और न तुम्हारे अंग में किसी प्रकार का कम्पन ही उत्पन्न हुआ है। यह सब देखकर मेरी तो यही समझ में आया है कि तुम पत्थर-हृदय हो--और अरे हां, तुम ! वस्तुतः पत्थर से ही तो निर्मित हो।

इस पर सहस्रकंठों से प्रकट हुए सूराचार्य के जयघोषों से एवं उनके साधुवादों से गोविन्दसूरि के चैत्य की नाट्यशाला और गगनांगण सभी पुनः पुनः प्रतिध्वनित हो उठे।

राजा भीम के अमात्य भी वहां उपस्थित थे। उन अमात्यों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्काल राजा को जाकर निवेदन किया कि गोविन्दाचार्य के पास एक अद्भुत प्रतिभाशाली ऐसा महाकवि है जो राजा भोज की आर्या का समुचित प्रत्युत्तर देने में सर्वथा समर्थ है।

राजा ने कहा--"अरे ! गोविन्दाचार्य तो हमारे साथ बड़ा ही सौहार्द्र रखने वाले सूरि हैं। उस कवि का सम्मान करके उसे और उसके गुरु को यहां लाओ।"

गोविन्द सूरि के साथ सूराचार्य को देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला--"अरे ये तो मेरे मामा के पुत्र हैं अतः मेरे ये लघुभ्राता ही हैं। ये असम्भव को भी सम्भव करने में सर्वथा सक्षम हैं।"

सूराचार्य आशीर्वाद प्रदान के पश्चात् राजा द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठ गये। राज सभा के विद्वानों ने राजा भोज द्वारा उसके प्रधानों के साथ भेजी हुई गाथा सूराचार्य को सुनाई।

उस गाथा को सुनते ही--"इसके उत्तर में विलम्ब की आवश्यकता ही क्या है, यह तो बड़ा ही पुण्योदय का प्रसंग है"--यह कहते हुए सूराचार्य ने निम्नलिखित गाथा का घनरव गम्भीर स्वर में उच्चारण किया :--

अंधयसुयाणकालो भीमो पुहवीइ निम्मिओ विहिणा।
जेण सयं पि न गणियं का गणणा तुज्झ इक्कस्स ॥ ३३ ॥

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १५३)

अर्थात् अंधे धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के लिये काल के समान भीम का निर्माण विधि ने इस पृथ्वी पर कर दिया है, जिसने धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों की भी अवहेलना अवमानना करते हुए उनका प्राणांत कर दिया। उस भीम के समक्ष मेरी गणना की क्या गिनती है ?

राजा भोज के गर्व को क्षण भर में धूलिसात् कर देने वाले इस अतीव सुन्दर उत्तर को सुनते ही सभी सभ्य हर्षविभोर हो उठे। सबने समवेत स्वरों में सूराचार्य की अत्यद्भुत् कवित्वशक्ति और प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्नता की प्रशंसा की। महाराज की प्रसन्नता और आन्तरिक आत्मतुष्टि का तो कोई पारावार ही नहीं रहा। उसने तत्काल अपने राजपुरुषों को भेज कर मालवराज भोज के प्रधानपुरुषों को अपनी राजसभा में बुलाया और सूराचार्य द्वारा निर्मित गाथा उनके हाथ में रखते हुए कहा :—"सरस्वती के परमोपासक मालवराज को मेरी ओर से यह सर्मपित कर देना।" यह कहकर राजा भीम ने उन्हें ससम्मान विदा किया।

भोज भूपाल के विशिष्ट राजपुरुषों ने धारा की ओर प्रस्थान किया, और वहां पहुंच कर उन्होंने गुर्जरेश भीम का वह पत्र अपने स्वामी की सेवा में समर्पित किया। उस गाथा को पढ़ते ही राजा भोज अवाक् और स्तब्ध रह गया। अद्भुत् कवित्व शक्ति के चमत्कार से चमत्कृत राजा भोज के मुख से सहसा ये भाव उद्गत हो उठे :—"धन्य है वह गुर्जर देश, जहां इस प्रकार के अद्भुत प्रतिभाशाली कवि उस धरा के शृंगार के समान विद्यमान है। इस प्रकार के उच्च कोटि के कवियों के वैभव से सम्पन्न देश को कौन पराजित कर सकता है।"

उधर राजा भीम ने कृतज्ञताभरे शब्दों में सूराचार्य को बड़े सम्मान के साथ विदा करते हुए कहा :—"आप जैसे प्रत्युत्पन्नमति उच्च कोटि के कवि के यहां रहते हुए विद्वानों के विशाल समूह से परिवृत्त भोज मेरा क्या कर सकता है।"

गुरु द्रोण ने अपनी शिष्य मण्डली को सभी विद्याओं में निष्णात करने के लिये सूराचार्य को उनके शिक्षण-दीक्षण आदि का कार्यभार सौंपा। सूराचार्य बड़े परिश्रम के साथ उन साधुओं को पढ़ाने लगे। जटिल से जटिल विषय भी उन शिष्यों के सहज ही समझ में आ जाय इस प्रकार विशद् विवेचनपूर्वक सूराचार्य उन साधुओं को पढ़ाते। पढ़ाये हुए ग्रन्थों में से परीक्षार्थ पूछने पर यदि कोई शिक्षार्थी साधु किंचित्मात्र भी त्रुटि कर देता तो सूराचार्य के क्रोध की सीमा नहीं रहती। युवावस्था और प्रकांड पांडित्य उनके आवेश में अभिवृद्धि कर देते और वे रजोहरण की डंडी से उन शिक्षार्थी साधुओं को पीट भी देते। कहा जाता है कि वे प्रतिदिन ओघे की एक डंडी अपने विद्यार्थियों को पीटने में ही तोड़ देते थे।

इससे भी सन्तुष्ट न होकर सूराचार्य ने एक दिन अपने एक श्रद्धालु श्रावक से कहा कि वह उनके रजोहरण के लिये एक लोहे की डंडी बनवाए।

यह सुनकर तो शिष्य साधु बड़े भयभीत हुए। येन केन प्रकारेण उन्होंने वह दिन तो व्यतीत किया। लोहे की डंडी से पिटाई होने के भय से उन विद्यार्थियों को रात्रि में बड़ी देर तक नींद नहीं आई। अर्द्ध रात्रि के समय वे अपने गुरु द्रोणा-

चार्य की सेवा में उपस्थित हुए । उस असमय में सबके सामूहिक रूप से उपस्थित होने का गुरु द्वारा कारण पूछने पर सूराचार्य की सारी बातें सुनाते हुए अन्त में उन्होंने कहा :—"भगवन् ! हम सब आपकी शरण में हैं । हमें भय है कि हमारे उपाध्याय सूराचार्य लोहे की डंडी से हमारा सिर फोड़ देंगे ।"

अपने शिष्यों से सम्पूर्ण परिस्थिति को जान कर द्रोणाचार्य ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—"सूराचार्य तुम्हारे साथ वैर के कारण नहीं अपितु तुम्हारे ही हित के लिये तुम्हें दंड देते हैं । उनका आन्तरिक लक्ष्य यही है कि तुम सम्पूर्ण शास्त्रों का शीघ्रतापूर्वक अध्ययन कर स्व-पर कल्याण में सक्षम बन जाओ । हां, उन्होंने लोहे के डण्डे के प्रयोग की जो बात कही है वह तो हमारे श्रमण धर्म के ही विरुद्ध है । मैं सूराचार्य को अच्छी तरह से समझा दूंगा कि वह तुम्हारे साथ इस प्रकार व्यवहार न करे ।"

अपने गुरु के इस कथन से आश्वस्त होकर वे साधु-शिष्य अपने-अपने स्थान पर जाकर सो गये । सूराचार्य भी कुछ क्षणों पश्चात् गुरु की सेवा में गुरु की सेवा-सुश्रूषा करने के लिये उपस्थित हुए । उन्होंने गुरु को वन्दन किया । किन्तु कृत्रिम कोप को इंगित से प्रकट करते हुए गुरु द्रोण ने उनकी वन्दना को स्वीकार नहीं किया ।

यह देखकर सूराचार्य ने विनयपूर्वक अपने गुरु से पूछा :—"आर्य ! आज मुझे सदा की भांति आपका कृपा प्रसाद प्राप्त नहीं हो रहा है । आपकी अप्रसन्नता का कारण क्या है ?"

गुरु द्रोण ने कहा :—"लोह दण्ड तो यमराज का शस्त्र है न कि पंच महाव्रतधारी साधुओं का; क्योंकि हिंसाकारी होने के साथ ही साथ लोह दंड परिग्रह की परिधि में भी आजाता है । आदि काल से लेकर आज तक क्या किसी उपाध्याय ने अपने शिष्य वर्ग को लोहदण्ड से दण्डित किया है ? शिक्षार्थी वर्ग के हृदय को विदीर्ण कर देने वाली इस प्रकार की भावना तुम्हारी बुद्धि में कैसे आई ? यह बड़े आश्चर्य की बात है ।"

और शास्त्रों के पारगामी विद्वान् वन जायं। मुझे तो केवल यही चिन्ता है कि आपका यह शिष्य वर्ग किस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र मेरी विद्या को ग्रहण कर जिन-शासन प्रभावक महान् श्रमण वनें।"

गुरु द्रोण ने कहा :—"सूर! सब में गुण समान रूप से नहीं होते। महान् पुरुषों में जो गुण थे उनमें से करोड़वां अंश भी आज हम में नहीं है। इसलिये गुण अथवा ज्ञान का मद किसी को नहीं करना चाहिये।"

सूराचार्य ने इस पर विनयपूर्वक निवेदन किया :—"भगवन्! मुझे किसी वात का कोई गर्व नहीं है। मेरी तो सदा से यही आन्तरिक इच्छा रही है कि मेरे द्वारा पढ़ाये हुए ये साधु देश के कोने-कोने में विहार कर अन्य दर्शनों के वादियों पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करें। सूर्य की किरणों के समान ही ये साधु आपकी किरणें वनकर संसार में व्याप्त जड़ता का समूलोच्छेद कर दें। ज्ञान का प्रकाश फैलावें जिससे कि आपकी यशोकीर्ति दिग-दिगन्त में व्याप्त हो जाय और जिन-शासन की जयपताका समग्र धरा के क्षितिज पर लहराए।"

गुरु ने कहा :—"अभी अध्ययन में निरत इन वालकों की वात तो छोड़ो। अनेक विद्याओं में प्रकांड पांडित्य प्राप्त करके भी क्या तुम राजा भोज की सभा को विजित करके यहां आये हो?"

सूराचार्य ने कहा :—"भगवन्! आपका यह आदेश शिरोधार्य है। आपके इस आदेश को जव तक मैं पूर्ण नहीं कर लूंगा तव तक मैं किसी भी प्रकार की कोई भी विकृति (घृत दुग्ध दध्यादि) ग्रहण नहीं करूंगा।"

तदनन्तर वे अपने गुरु को प्रणाम कर अपने स्थान पर जाकर सो गये। प्रातःकाल सूराचार्य ने अपने शिक्षार्थी साधुओं से कहा :—"आज अध्यापन का अवकाश रहेगा।"

वाल स्वभाव के कारण छोटे साधु वड़े प्रसन्न हुए। मध्यान्ह में साधुओं द्वारा आहार लाये जाने पर द्रोणाचार्य ने सूराचार्य को वुलाया। सूराचार्य तत्काल सेवा में उपस्थित हुए। पर उन्होंने किसी भी विकृति अर्थात् घृत आदि को ग्रहण नहीं किया। द्रोणाचार्य ने समझाया। अन्य वयोवृद्ध गीतार्थ साधुओं ने भी उन्हें समझाया। अन्ततोगत्वा चतुर्विध संघ ने भी उन्हें यत्किंचित् विकृतियां ग्रहण करते रहने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया किन्तु सूराचार्य अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे।

उन्होंने कहा :—"यदि इस विषय में मुझे और कुछ कहा गया तो मैं अनशन कर लूंगा।"

एक दिन द्रोणाचार्य ने कतिपय गीतार्थ युवा साधुओं के साथ सूराचार्य को धारानगरी जाने की अनुज्ञा प्रदान की। गुरु द्रोण ने अपने प्रिय शिष्य सूर को अपने वक्षस्थल से लगाते हुए सुदूर प्रदेश की यात्रा के लिये विदाई देते समय जो शिक्षा दी जाती है वह शिक्षा दी। उन्होंने कहा :—"वत्स ! सदा सुदूरस्थ क्षेत्रों के विहार के समय सजग रहना। तुम में महापुरुष के योग्य सब गुण हैं। तुमने इन्द्रियों को भी वश में किया है। किन्तु सदा इस बात का ध्यान रखना कि युवावस्था सदा सबके लिये अविश्वसनीय होती है।"

गुरु के उपदेशों को शिरोधार्य कर और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर सूराचार्य भीम भूपाल की राज सभा में उनसे विदा लेने गये। राजा ने रत्नजटित सिंहासन पर बिठाकर सूराचार्य का बड़ा सम्मान किया। संयोग ऐसा हुआ कि उसी समय मालव राज भोज के प्रधान पुरुष राजा भीम की सभा में उपस्थित हुए और निवेदन किया—"महाराज भोज आपके यहां के विद्वानों की अप्रतिम प्रतिभा से अतीव प्रसन्न हैं। वे आपके यहां के विद्वानों को देखने के लिये बड़े उत्कंठित हैं। अतः कृपा कर आप अपने यहां के विद्वानों को राजा भोज की सभा में हमारे साथ धारा-नगरी भेजें।"

राजा भीम ने कहा :—"ये मेरे ममेरे भाई महा विद्वान् हैं। किन्तु ये मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं। इसलिये इन्हें दूरस्थ देश में भेजने के लिये मेरा अन्तर्मन साक्षी नहीं देता। फिर भी यदि आपके स्वामी मेरी ही तरह इनका आदर सत्कार करने, स्वयं इनके समक्ष आकर इनका नगर प्रवेश आदि करवाने और इन्हें सम्मानपूर्वक रखने का आश्वासन दें तो मैं इन्हें आपके यहां भेज सकता हूं।"

"राजा भोज की ओर से आपके यहाँ के विद्वानों का पूर्ण रूपेण मुनासिब रूप से सम्मान किया जायगा और जैसा आपने चाहा है वैसा ही किया जायगा"—इस प्रकार आश्वासन भोज के उन प्रधान पुरुषों द्वारा दिलाये जाने पर राजा भीम ने अपनी ओर से सूराचार्य को मालव देश जाने की स्वीकृति प्रदान की।

सूराचार्य ने विचार किया :—'मेरे गुरुदेव की कृपा से आज यह शुभ संयोग अनायास ही मिला है कि इधर मैं जाने को उद्यत था और उधर राजा भोज का निमन्त्रण भी प्राप्त हो गया। उन्होंने राजा भीम से कहा :—"राजा भोज के यहां की कविता को मैंने देखा और उसका उत्तर भी दिया और मैं अब आपसे विदा होकर स्वयं राजा भोज के पास जा रहा हूं। यह संसार बड़ा विचित्र है। हम समताधारी साधुओं के लिये कहीं कोई कौतुक एवं भय की बात नहीं होती। मुझे कहीं किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। आप चिन्ता न करें।"

राजा भीम ने सूराचार्य से पूछा—"आप वहां राजा भोज की स्तुति किस प्रकार करेंगे ?"

सूराचार्य ने उत्तर दिया :—"मुनि राजा की स्तुति किस कारण और क्यों करने लगा ?"

राजा भीम ने एक हाथी पांच सौ अश्वारोही सैनिक और एक हजार पदाति सैनिकों के साथ सूराचार्य को विदा दी।

राजा भोज के प्रधान पुरुषों और राजा भीम के सैनिकों के साथ विहार करते हुए सूराचार्य कुछ ही दिनों में गुजरात और मालव की सीमा सन्धि पर पहुंचे। राजा के प्रधान पुरुषों ने जब अपने स्वामी राजा भोज को सूराचार्य के आगमन की सूचना दी तो राजा भोज अपने प्रधानामात्यों और दलबल के साथ स्वयं सूराचार्य के स्वागतार्थ मालव सीमा पर उपस्थित हुआ।

श्रमणाचार के अनुसार किसी भी साधु का गज आदि पर बैठना निषिद्ध है। तथापि राजामात्यों के आग्रह पर प्रायश्चित्त कर लेने के संकल्प के साथ सूराचार्य हाथी पर बैठकर मालव राज की सीमा की ओर बढे।

एक दूसरे के सम्मुख होने पर गजारूढ राजा भोज ने सूराचार्य को, और सूराचार्य ने राजा भोज को देखा और वे दोनों हाथी से उतर पड़े। दोनों परस्पर भाई-भाई की तरह गले मिले। राजा ने पूरे सम्मान और आदर के साथ सूराचार्य का नगर प्रवेश करवाया।

धारानगरी के मध्यभाग में एक अति विशाल सुन्दर जैन विहार था। सूराचार्य उस विहार में गए और राजा भोज अपने राजभवन में गये।

जैन विहार में स्थित मन्दिर में प्रतिमा के दर्शन करने के पश्चात् सूराचार्य वहां के अधिष्ठाता आचार्य वूटसरस्वती के विद्यालय-कक्ष में गये, जहां कि चारों ओर ज्ञान का प्रकाश होते रहने के कारण अज्ञानान्धकार का कहीं अणुमात्र भी दिखाई नहीं दे रहा था और जो शिक्षार्थियों के स्वाध्यायघोष से गुंजरित हो रहा था।

सूराचार्य को देखते ही वूट सरस्वती ने सम्मुख जाकर प्रणाम करते हुए उनका स्वागत सत्कार किया और आश्रम के शिष्यों ने भी स्वागत गानों से गगन को गुंजरित करते हुए उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा भक्ति प्रकट की। तदनन्तर शुद्ध एषणीय आहार-पान देकर उन्हें भक्तिपूर्वक भोजन कराया।

उन दिनों राजा भोज के मन में सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने की एक प्रबल लहर उठी हुई थी। उसने अपने नगर के छहों ही दर्शनों के सभी प्रमुखों को बुलाकर कहा :—"आप लोग ही वस्तुतः सब लोगों को भ्रान्ति में डाल रहे हो। आपके एक दूसरे से भिन्न आचार-विचार इस बात के प्रमाण हैं। इसलिये

आप छहों दर्शनों के लोग एक साथ बैठकर विचार विनिमय करो और सब दर्शनों को मिलाकर एक सर्व सम्मत दर्शन का स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत करो, जिससे कि हम लोगों को किन्चितमात्र भी सन्देह न हो कि यह सच है अथवा वह। वह झूठ है अथवा यह।"

मन्त्रियों ने राजा से निवेदन किया कि "क्या आज तक प्राचीन राजाओं में से किसी एक ने भी इस प्रकार का प्रयास किया है और क्या विधाता भी सब दर्शनों का समन्वय करने में कभी समर्थ रहा है?"

राजा भोज ने प्रश्न के उत्तर में प्रति प्रश्न किया :—"क्या परमार वंश के अन्दर कभी कोई ऐसा राजा हुआ है, जिसने अपनी शक्ति से गौड़ प्रदेश सहित दक्षिणापथ पर अपना शासन स्थापित किया हो?"

उन लोगों को निरुत्तर देखकर राजा ने अपने भृत्यों से नगर के सहस्रों प्रमुख स्त्री-पुरुषों को एकत्रित कर एक विशाल भवन में बन्द कर दिया और यह कहा कि जब तक तुम सब लोगों में सर्वसम्मत एक दर्शन पर मतैक्य नहीं हो जाएगा, तब तक तुम लोगों को खाने के लिए कुछ भी नहीं दिया जायगा।

सब लोग भूखों मरने लगे और इस बात पर सबका मतैक्य हो गया कि अपने प्राणों की रक्षा किस प्रकार की जाय। जैन दर्शन के आचार्य होने के कारण सूराचार्य भी वहां उपस्थित थे।

सभी दर्शनों के प्रमुखों ने उनसे निवेदन किया :-–"राजा सब दर्शनों को एक रूप में देखना चाहता है। पर ऐसा न कभी भूतकाल में हुआ है और न कभी भविष्य में ही होगा। आप गुर्जर देश के विद्वान् हैं। अतः आप अपनी वचन चातुरी से राजा को इस प्रकार का कदाग्रह छोड़ने के लिये राजी कीजिये। इस प्रकार हजारों लोगों को प्राणदान देकर आप असीम पुण्य का उपार्जन कर सकेंगे।"

सूराचार्य ने कहा :—"हम लोग तो अतिथि की तरह सुदूर प्रदेश से यहां आये हैं। ऐसी स्थिति में राजा मेरी बात माने अथवा न माने, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथापि सभी दर्शन हमारे लिये आदरणीय रहे हैं। अतः इस संकट से मुक्ति के लिये यथाशक्य मैं प्रयत्न करूंगा।"

एक मन्त्री के माध्यम से सूरर्षि ने राजा भोज से कहलवाया :—"राजन्! हमारे यहां आने के थोड़ी देर पश्चात् ही आप चले गये थे। इस कारण अभी तक हम दोनों की कोई खास बात नहीं हो पाई है। किन्तु सभी दर्शनों के सहस्रों लोगों की अनुकम्पा के कारण मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूं। यदि आप सुनना चाहें तो अवसर दें।"

राजा की अनुमति प्राप्त हो जाने पर सूराचार्य मन्त्रियों के साथ राज भवन में पहुंचे। जाते ही उन्होंने राजा से कहा :—"राजन् ! अतिथियों का आतिथ्य सत्कार बड़े अद्भुत ढंग से आपने किया है। पर यह सत्कार आपने उचित ही किया है क्योंकि तपस्वियों के लिये तप ही सर्वस्व है। मैं कोई अपने कार्य से आपके पास नहीं आया हूं। आपने सब दर्शन वालों को यहां एक तरह से वन्दी बना रखा है। यह मेरे हृदय में खटक रहा है। अतः मैं अब अपनी जन्मभूमि को लौट रहा हूं। मैं आपसे केवल यही पूछना चाहता हूं कि गुर्जर भूमि में लौटने पर वहां के लोग धारा नगरी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार का विवरण पूछेंगे तो मैं उन्हें क्या बताऊं ?"

राजा भोज ने उत्तर दिया :—"आप अतिथियों के सम्मुख मैं कुछ भी नहीं कहता। मैं तो इन दर्शन वालों से ही पूछता हूं कि तुम्हारी परस्पर भिन्नता का क्या कारण है ? धारा के स्वरूप का जहां तक सम्बन्ध है, वह स्वरूप मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हूं। उसे आप ध्यान से सुनिये। चौरासी जहां पर गगनचुम्बी विशाल प्रासाद पंक्तियां हैं, प्रत्येक प्रासाद पंक्ति में चौरासी-चौरासी चतुष्पथ (चौराहे) हैं। इसी प्रकार नगरी में चौरासी हट्टों (बाजारों) का निर्माण इस धारानगरी में किया गया है। यह है धारानगरी का स्वरूप।"

इस पर सूराचार्य ने पूछा :—"राजन् ! इन चौरासी बाजारों का एक ही बाजार बना दीजिये। इन बहुत से बाजारों का क्या प्रयोजन ? चौरासी बाजारों के स्थान पर एक ही बाजार बना दिये जाने से लोगों को इधर-उधर भिन्न-भिन्न बाजारों में भटकना भी नहीं पड़ेगा और एक ही बाजार में उन्हें यथेप्सित वस्तुएं मिल जावेंगी।"

राजा ने कहा :—"भिन्न-भिन्न वस्तुओं के ग्राहकों के एक ही स्थान पर एकत्रित होने से बड़ी बाधा और अव्यवस्था हो जायगी। इसी विचार से मैंने इन चौरासी बाजारों का पृथक्-पृथक् निर्माण करवाया है।"

यह सुनते ही सूराचार्य ने विनोदपूर्ण मुद्रा में कहा :—"महाराज ! आप इतने बड़े विद्वान् हैं तो आप इस बात पर विचार क्यों नहीं करते कि जब अपने बनाये हुए इन हाटों को इन बाजारों को तुड़वा कर एक कर देने में आप अक्षम हैं तो अनादिकाल से चले आ रहे इन षड्दर्शनों को नष्ट कर एक करने के लिये आप क्यों उद्यत हो रहे हैं ? जिस प्रकार पृथक्-पृथक् बाजारों में अपनी अभीप्सित वस्तु को लेने के लिये लोग जाते हैं, ठीक उसी प्रकार येन-केन-प्रकारेण संसार के सुखों का उपभोग करने के इच्छुक चार्वाक् दर्शन के पास, व्यावहारिक प्रतिष्ठा सुख स्वर्गादि के इच्छुक वैदिक दर्शन के पास और मुक्ति के इच्छुक निरंजन निराकार की उपासना करने वाले तथा जीवदया पर सर्वाधिक बल देने वाले जैन दर्शन के पास और इसी

तरह विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु लोग विभिन्न दर्शनों के पास जावेंगे। चिरकाल से रूढ हुई और चित्त में घर की हुई मान्यताओं में सभी लोग आवद्ध हैं। ऐसी स्थिति में हे राजन ! आप ही सोचिये कि ये सभी दर्शन एक कैसे हो सकते हैं ?"

राजा को यह तर्क बड़ा युक्तिसंगत लगा। उसने अपने हठाग्रह अथवा कदाग्रह का त्याग कर सभी दर्शनों के प्रमुखों को ससम्मान भोजन करवाकर यथेच्छ अपने अपने स्थान पर जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

सभी दर्शनों के अनुयायियों ने सूराचार्य के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापित की और इस प्रकार सूराचार्य स्वल्प समय के आवास में ही सम्पूर्ण धारानगरी में विख्यात हो गये।

सूराचार्य ने बूटसरस्वती आचार्य के साथ वहां के मठ के एक उपाध्याय से विद्यार्थियों के शिक्षण के सम्बन्ध में बात करते हुए पूछा--"आपके यहां कौन-कौन से ग्रन्थों का अध्ययन करवाया जाता है।"

उपाध्याय ने उत्तर दिया :—"श्री भोजराज द्वारा निर्मित व्याकरण और छन्द शास्त्र का प्रमुख रूप से अध्ययन कराया जाता है।"

उसमें नमस्कार के प्रथम श्लोक को सुनाइये—सूराचार्य द्वारा यह वात कहने पर उपाध्याय तथा छात्रों ने निम्न श्लोक का समवेत स्वरों में उच्चारण किया।

चतुर्मुख मुखाम्भोजवन हंसवधूर्मम।
मानसे रमतां नित्यं शुद्धवर्णा सरस्वती।।"

सूराचार्य ने काव्य विनोद की मुद्रा में उत्प्रास गर्भित भाषा में कहा :— "इस प्रकार के विद्वान् इसी देश में होते हैं। अन्यत्र नहीं। हम यह सुनते आ रहे हैं कि माता सरस्वती ब्रह्मचारिणी है, कुमारी है, परन्तु आज आप लोगों के मुख से हम लोगों को यह सुनने को मिला है कि वह वधू है। इस स्तुतिपरक श्लोक में वधू शब्द के साथ ही 'मम मानसे रमतां' इन शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है ?"

उपाध्याय इस कथन का उत्तर देने में पूर्णतः अक्षम था इसलिये इधर-उधर की वातों में उसने येन केन प्रकारेण समय व्यतीत किया।

सन्ध्या समय उस उपाध्याय ने राजा भोज के समक्ष उपस्थित हो मठ में हुए सूराचार्य के साथ के वार्तालाप से अवगत करवाया। राजा भोज को बड़ा विस्मय हुआ।

उसने दूसरे दिन बूट सरस्वती के साथ सूराचार्य को राज सभा में निमन्त्रित किया। वे दोनों राजा भोज की सभा में उपस्थित हुए। राजा ने राजसभा के पार्श्वनाथ प्रांगण में एक शिला रखवा दी और गुर्जर भूमि के निवासी सूराचार्य को अपना अद्भुत पौरुष दिखलाने की आकांक्षा से उस शिला में एक छिद्र करवा-कर उसे शिला के समान ही वर्ण वाले पदार्थों से बन्द करवा दिया। राजा ने सूराचार्य को ज्योंही राजसभा में आते हुए देखा त्योंही धनुप पर शरसन्धान कर प्रत्यन्चा को कान तक खींचते हुए उस शिला पर बाण छोड़ा। छिद्र को पार करता हुआ बाण दूर चला गया। और सबको स्पष्टत: दृष्टिगोचर होने लगा कि राजा ने शर से शिला को विद्ध कर दिया है।

सूराचार्य की तीक्ष्ण दृष्टि से वह छल छिपा नहीं रह सका और उन्होंने तत्काल गूढार्थ भरे निम्नलिखित श्लोक का घनरव गम्भीर सुमधुर स्वर में उच्चारण किया :

विद्धा विद्धा शिलेयं भवतु परमत: कार्मुकक्रीडितेन ।
श्रीमन्पाषाणभेदव्यसनरसिकतां मुंच मुंच प्रसीद ।
वेधे कौतूहलं चेत् कुलशिखरिकुलं बाणलक्षीकरोपि ।
ध्वस्ताधारा धरित्री नृपतिलक ! तदा याति पातालमूलम् ।।"

अर्थात्—हे श्रीमन् ! आपने इस शिला का वेध कर दिया है। किन्तु अब आगे इस भांति की शरसन्धान-क्रीडा से दूर ही रह कर पत्थर को फोड़ डालने वाले व्यसन में कृपा कर अभिरुचि छोड़ देना। अगर वेध में ही आपको कौतूहल की अनुभूति होती है तो परमार कुल के पवित्र अर्बुदगिरि को अपने बाण का लक्ष्य बनाना जिससे कि हे नृप शिरोमणि ! धारा नगरी सहित सम्पूर्ण धरती पाताल के गहनतम तल में चली जाय।

सूराचार्य के इस प्रकार के अद्भुत वर्णन सामर्थ्य से भोजराज बड़ा सन्तुष्ट हुआ। वहीं सभा में उपस्थित राजा भोज की राजसभा के रत्न महा जैन कवि धनपाल को भी यह विदित हो गया कि वस्तुत: सूराचार्य अप्रतिहत प्रज्ञा के धनी हैं। इनके सम्मुख कल्पना चातुरी, काव्य कौशल, विद्वत्ता आदि गुणों में कोई विद्वान् ठहर नहीं सकता।

कवि धनपाल ने तत्काल ही भोज भूपाल के मुख पर उभरे क्षणिक भावों से यह भांप लिया कि गूढोक्ति में निष्णात इन जैनाचार्य को किस प्रकार से जीता जाय।

राजा ने सूराचार्य का बड़ा सम्मान किया। सूराचार्य अपने निवास पर लौट आये।

राजा ने अपने मन्त्रणाकक्ष में सभी विद्वानों को एकत्रित कर उनसे कहा—"यह गुर्जरदेशवासी जैन आचार्य यहां आया है। क्या इसके साथ शास्त्रार्थ करने में आप में से कोई विद्वान् सक्षम है ?

वहां उपस्थित पांच सौ पंड़ितों में से प्रत्येक की ग्रीवा झुक गई। राजा को बड़ा खेद हुआ।

राजा ने कहा :—"क्या मेरे सब पंडित गेहेनर्दी ही हैं जो राज्य द्वारा दी गई वृत्ति से अपना और अपने परिवार का केवल भरण-पोषण करते हैं और व्यर्थ ही अपने आपको विद्वान् बताते हैं ?"

विद्वद् समाज के लिये इस उद्विग्नकारी स्थिति से दुखित होकर एक विद्वान् ने राजा से कहा :—"स्वामिन् ! आप इतने निराश न हों। यह धरती रत्नगर्भा है। ये गुर्जरवासी जैन साधु वस्तुतः दुर्जेय होते हैं। इन्हें सीधी राह नहीं जीता जा सकता। इन्हें जीतने के लिये तो कोई न कोई गूढ़ उपाय करना होगा। इसके लिए १६ वर्ष तक की उम्र के किसी कुशाग्र बुद्धिवाले छात्र को बुलवाया जाय और उसको किसी प्रकांड पंडित के माध्यम से प्रमाण शास्त्रों का शिक्षण दिलाया जाय।"

यह सुनकर राजा भोज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने कहा—"ऐसा ही हो। पर इस कार्य को तुम्हीं निष्पन्न करो।"

एक सौम्य मेधावी, वाक्पटु, तीव्र बुद्धि, लघु वय के बालक को ढूंढकर लाया गया और उसे तर्क शास्त्र का अध्ययन करवाया गया। उसने स्वल्प समय में ही तर्क शास्त्र में बड़ी निपुणता प्राप्त करली। राजा ने शास्त्रार्थ के लिये शुभ मुहूर्त निकलवाया और वाद करने में शूर सूराचार्य को उस नूतन बाल पंडित से शास्त्रार्थ के लिए निमन्त्रित किया।

सूराचार्य के वाद हेतु राज्य सभा में उपस्थित होने पर राजा भोज ने सूराचार्य को सम्बोधित करते हुए कहा :—"विद्वन् ! आपके समक्ष वाद के लिए समुद्यत यह बाल पंडित आपका प्रतिवादी है।"

राजा भोज ने कहा :—"महर्षिन् ! केवल वय और वपु को देखकर ही आप यह मत समझ लीजिये कि यह शिशु है। आप विश्वास रखिये कि इस शिशु के रूप में साक्षात् वाग्वादिनी देवी सरस्वती ही इस राज्यसभा में आपके समक्ष शास्त्रार्थ के लिए समुपस्थित है। मेरा यह दृढ़ मत है कि इस सरस्वती स्वरूप प्रतिवादी को आपके द्वारा जीत लिये जाने पर मैं मान लूंगा कि आपने मेरी राजसभा को जीत लिया है।"

सूराचार्य ने गम्भीर स्वर में कहा :—"अस्तु, यदि आपका यही निर्णय है तो वह मुझे स्वीकार है। किन्तु शास्त्रार्थ के नियमानुसार वादी प्रतिवादियों में वय की दृष्टि से लघु हो, उसी को अपना पूर्वपक्ष सर्वप्रथम रखने का अधिकार होता है। इस परम्परागत नियम के अनुसार यह बालक प्रतिवादी वाद के लिए अपना पूर्वपक्ष पहले प्रस्तुत करे।"

सूराचार्य की बात सुनते ही उस बाल वादी ने विराम, अल्पविराम, विभक्ति, पद, वाक्य आदि की ओर कोई ध्यान न देते हुए अपने रटे-रटाये पाठ को धारा-प्रवाह रूप से बोलते हुए अपना पूर्वपक्ष रखा।

प्रतिवादी के मुख से इस प्रकार के उच्चारण को सुनकर सूराचार्य तत्काल समझ गये कि रटे हुए पाठों को बिना उसका अर्थ समझे ही यह बाल पंडित बोल रहा है। इसे यह भी बोध नहीं है कि यह पाठ शुद्ध है अथवा अशुद्ध।

जब वह बाल प्रतिवादी द्रुतगति से रटा हुआ पाठ बोलता ही चला गया तो उचित समझते हुए बीच में टोकते हुए सूराचार्य ने उसे कहा—"महानुभाव ! आपने जो अन्तिम वाक्य का उच्चारण किया है, वह वस्तुतः अशुद्ध है। कृपया उसे पुनः बोलिये।"

बालक प्रतिवादी ने बालस्वभाववशात् अपनी स्मरण शक्ति पर अटल आस्था प्रकट करते हुए सरलमन से सच्चाई प्रकट करते हुए तत्काल उत्तर दिया—"मैं दृढ़ विश्वास के साथ कहता हूं कि जैसा पट्टिका पर लिख कर मुझे दिया गया है, वही मैं बोल रहा हूं।"

प्रतिवादी का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाने पर कि वाद के लिये जैसा उसे रटाया गया है, वही वह अक्षरशः बोल रहा है, सभी सभ्य स्तब्ध रह गये।

सूराचार्य ने रहस्यपूर्ण प्रश्न किया :—"मालवेश ! आपके मालव प्रदेश में क्या इसी प्रकार का शास्त्रार्थ होता है ? मैंने मालव प्रदेश को भली-भांति देख लिया है और वहां के मण्डकों (लघु गोलाकार मोटी रोटी) का रसास्वादन भी कर लिया है।"

इस प्रकार राजा भोज की राजसभा को शास्त्रार्थ में पराजित एवं निरुत्तर कर सूराचार्य तत्काल अपने आवास की ओर प्रस्थित हुए। रहस्य के प्रकट हो जाने की ग्लानि और वाद में पराजय के शोक से पीड़ित राजा भोज ने तत्काल राजसभा को विसर्जित कर दिया और स्वयं मन्त्रणाकक्ष में चला गया।

आचार्य बूट सरस्वती ने अपने अतिथि सूराचार्य से कहा— "विद्वद् शिरोमणे! आपकी वाग्मिता एवं विद्वत्ता से जिन शासन की प्रभावना हुई है, इसका सम्मान बढ़ा है, इस बात की तो मुझे बड़ी सुखानुभूति हो रही है किन्तु आपका जीवन अब संकट में है। आपकी उस आसन्न मृत्यु की आशंका से मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। क्योंकि राजा भोज वस्तुतः अपनी सभा को जीत लेने वाले विद्वान् को अपने स्वभाव के अनुसार येन-केन-प्रकारेण मरवा ही देता है। क्या किया जाय? यहां जय अथवा पराजय, दोनों ही स्थितियों में हानि ही हानि है, लाभ तो किंचित्मात्र भी नहीं।"

सूराचार्य ने बूट सरस्वती को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप किसी बात की चिन्ता मत कीजिये। मैं इस सहसा उत्पन्न प्राणसंकट से अवश्यमेव आत्मरक्षा कर लूंगा।"

उसी समय महाकवि धनपाल द्वारा भेजा गया उनका एक विश्वस्त पुरुष मठ में आया और उसने सूराचार्य को अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए कहा— "पूज्यवर! आप पूर्णतः गुप्तरूपेण शीघ्र ही मेरे घर पर चले आइये। इस राजा का कोई विश्वास नहीं है। इसकी प्रसन्नता भी अन्ततोगत्वा बड़ी भयानक होती है। जिसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। आप जैसे विद्वान् वस्तुतः हमारी आर्य धरा के सभी प्रदेशों के शृंगार हैं। आप जैसों के दर्शन मेरे जैसे व्यक्तियों को पूर्वार्जित प्रबल पुण्यों के प्रताप से ही होते हैं। मेरे यहां चले आने के पश्चात् आपको कुछ भी नहीं करना होगा, मैं स्वयं ही सम्पूर्ण समुचित व्यवस्था कर दूंगा। और आपको सकुशल एवं सुखपूर्वक गुर्जर भूमि में पहुंचा दूंगा।"

अपने स्वामी का यह सन्देश सुना कर धनपाल का वह विश्वासपात्र पुरुष अपने स्वामी के पास लौट गया।

वृद्ध सरस्वती ने अपनी चिन्ता को अन्तर्मन में छुपाते हुये कहा :—"अवश्य। ऐसा ही करूंगा।"

नायक मठ के चारों ओर घेरा डाले डटा रहा। मठ का आवागमन पूर्णरूपेण अवरुद्ध कर दिया गया था। न तो कोई मठ के अन्दर से बाहर जा सकता था और न बाहर से कोई भी व्यक्ति मठ के अन्दर प्रवेश कर सकता था।

जब मध्याह्न में सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से धरातल को प्रतप्त कर रहा था, उस समय सूराचार्य ने एक वयोवृद्ध साधु की मैली, फटी चादर ओढ़ कर वेश परिवर्तन किया। पट्ट पर एक स्थूलकाय जराजीर्ण साधु को बैठा कर सूराचार्य एक फटी पुरानी चादर से अपने मस्तक एवं ग्रीवा को ढक कर एक अतिवृद्ध साधु की भांति कमर को झुकाये मठ से बाहर निकल कर मुख्य द्वार की ओर बढ़े। द्वार पर पहुंचते ही उन्हें अश्वारोहियों ने टोकते हुए कहा—"ओ वृद्ध ! कहां जा रहे हो। राजाज्ञा है कि वह गुर्जर कवि जब तक राज्य सभा में नहीं पहुंच जाय तब तक किसी को न तो मठ के अन्दर प्रवेश करने दिया जाय और न किसी को मठ से बाहर जाने दिया जाय। अतः तुम शीघ्र ही मठ के भीतर लौट जाओ। उस गुर्जरदेश से आये विद्वान् साधु को हमें सौंप देने के पश्चात् तुम सभी यथेच्छ जहां कहीं जाना चाहो जा सकोगे।"

यह सुनते ही अतीव शान्त, गम्भीर पर आक्रोश भरी मुद्रा में छद्मवेशधारी सूर सूरि ने कहा—"राजाओं के समान शोभा सम्पन्न वे गूर्जर कवि अन्दर पट्ट पर विराजमान हैं, उनको आप ले जा सकते हैं। हम तो आपके इस नगर में आकर भूखों मर रहे हैं। इस प्राणापहारिणी प्रचण्ड धूप में प्यास से मेरे कण्ठ सूख रहे हैं। इस जराजर्जरित बूढ़े साधु को बिना पानी के तो मत मरने दो, कहो तो पास ही से पानी पी आऊं, तुम्हें बड़ा धर्म होगा।"

एक अश्वारोही को दया आ आई। उसने कहा—"अच्छा, अच्छा जाओ। पानी पी कर शीघ्र ही लौट आना।"

सूराचार्य इस प्रकार अश्वारोहियों के घेरे से बाहर निकले और वे सीधे धनपाल कवीश्वर के निवास-स्थान पर पहुंचे। उन्हें देखते ही कवि धनपाल के हर्ष का पारावार नहीं रहा।

अभिवादनानन्तर उसने हर्षगद्गद् स्वर में कहा - "हे जिनशासनदिवाकर ! यह सम्पूर्ण जैन जगत का सौभाग्य ही है कि आप सकुशल वहां से यहां आकर मुझे कृतकृत्य एवं परमानन्दित कर रहे हैं।"

कवि धनपाल ने गुर्जरभूमि की ओर प्रस्थान करने के लिये समुद्यत [illegible]-पथों के कुछ बड़े व्यापारियों को अपने यहां आमन्त्रित किया। उन्हें भोजन-पानादि

पानादि से सम्मानित कर कवि धनपाल ने उनसे कहा—"आप लोग अभी ताम्बूलपत्रों से भरे अपने शकटों के समूह के साथ गुर्जर भूमि की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। मेरे एक भाई को भी कृपया आप अपने साथ लेते जाइये और उन्हें सकुशल अनहिल्लपुरपत्तन नगर में पहुंचा दीजिये।"

ताम्बूलपत्रों के व्यापारियों ने कवि धनपाल के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

महाकवि धनपाल ने उन व्यापारियों को १०० स्वर्णमुद्राएं भेंट कीं। व्यापारियों ने पान के पिटारों के बीच एक शकट में सूराचार्य को बैठा दिया। व्यापारियों के शकटों का समूह गुर्जरभूमि की ओर उसी समय प्रस्थित हो गया। शकटों को वहन करने वाले पुष्ट वृषभ द्रुतगति से गुर्जर भूमि की ओर बढ़ने लगे।

उधर प्रतीक्षा से ऊबकर भोज के सैनिकों ने मठ में प्रवेश किया। उन्होंने देखा कि मठ के एक विशाल कक्ष में बहुमूल्य परिधान पहने एक स्थूलकाय साधु एक पट्ट पर बैठा हुआ है। सैनिकों के नायक ने उन्हीं वृद्ध को सूराचार्य समझ कर, उन्हें ले जाकर राजा भोज के सम्मुख उपस्थित कर दिया। उस वृद्ध सन्त को देख कर घटना की वास्तविकता मालवेश की समझ में आ गई। वे बोल उठे–"हमारी राजसभा को पराजित कर और मेरे सैनिकों को भी धोखे में रखकर वह गुर्जर कवि चला गया। वह बड़ा प्रत्युत्पन्नमति एवं चतुर निकला।"

सूराचार्य सकुशल अणहिलपुर पट्टण पहुंच गये। आचार्य द्रोण और राजा भीम दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजा भीम ने एक प्रश्न किया –"महर्षिन्! मैं यह जानने को उत्कण्ठित हूं कि आपने मालव नरेश भोज की स्तुति किस प्रकार की।"

पाताल में प्रविष्ट होते ही आपकी यह धारा नगरी और सम्पूर्ण धरित्री पाताल के गहनतम तल में चले जायेंगे ।

इसी श्लोक का दूसरा अर्थ यह होता है कि पहले से ही विद्ध की हुई इस शिला के छिद्र को लक्ष्य कर आपने बाण चलाया और इस शिला का वेध कर दिया। पूर्व में किये हुए छिद्र को लक्ष्य कर शिलावेध करने से किसी भी धनुर्धर का पराक्रम प्रकट नहीं होता । अतः इस प्रकार की छलपूर्ण धनुक्रीड़ा का परित्याग ही कर दीजिये । पत्थरों के भेदन का यह व्यसन अन्ततोगत्वा महाविनाशकारी व्यसन है ।

प्रस्तर वेध के करते-करते यदि यह व्यसन उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और आपके कुलपर्वत नगाधिराज अर्बुद पर शर प्रहार किये जाते रहे तो धरित्री को धारण करने वाले भूधर अर्बुदगिरि के पाताल के गहन तल में जाने के साथ-साथ आपकी यह अतीव प्रिया धारा नगरी और यह सम्पूर्ण पृथ्वी ही पाताल के गहन तल में पहुंच जायेंगे ।"

गुर्जराधीश भीम यह सुन कर हर्षातिरेक से कह उठे—"मेरे भ्राता (मातुल-पुत्र सूराचार्य) ने भोज को जीत लिया है, अब मुझे उसको जीतने की कोई आवश्यकता ही नहीं है ।"

सूराचार्य ने भगवान् ऋषभदेव और नेमिनाथ पर द्विसन्धान काव्य और नेमिचरित महाकाव्य की रचना की । उन्होंने अपने गुरु के समक्ष उन सब दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण किया, जो दोष उनको मालव राज्य की यात्रा के समय लगे थे । सूराचार्य ने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने पहले के विद्यार्थी श्रमणों को भी अग्रेतर अध्ययन करवाना प्रारम्भ किया । अपने अध्यापन कौशल से उन्होंने उन शिक्षार्थी साधुओं को सभी विद्याओं में निष्णात बना उन्हें आगम शास्त्रों का भी गहन अध्ययन कराया ।

द्रोणाचार्य ने अन्त में समस्त पापों की आलोचना कर संलेखनापूर्वक स्वर्ग-गमन किया । द्रोणाचार्य के पश्चात् अनेक वर्षों तक सूराचार्य जैनधर्म का प्रचार प्रसार करते रहे और अपने जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने सभी प्रकार के आहार पानीय आदि का परित्याग कर आजीवन अनशन अर्थात् प्रायोपवेशन अंगीकार किया ।

यह अनशन (संथारा) ३५ दिन तक चला और अन्त में आत्मचिन्तन करते हुए वे स्वर्गस्थ हुए ।

वादि वैताल शान्ति सूरि

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में थारपद्र गच्छ में शान्ति सूरि नामक एक प्रभावक आचार्य हुए हैं। जिला जालोर के अन्तर्गत रायसीण ग्राम के एक जिन-मन्दिर में उपलब्ध वि० सं० १०८४ के शिलालेख से अनुमान किया जाता है कि आपका दूसरा नाम संभवतः शान्तिभद्रसूरि भी था। रायसीण ग्राम के उस शिलालेख में यह उल्लेख है कि थारपद्र गच्छ के शान्तिभद्रसूरि ने वि० सं० १०८४ में जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की।

उनकी 'जीव-विचार प्रकरण'[1] और 'उत्तराध्ययन टीका' ये दो रचनाएं उपलब्ध होती हैं। इन दोनों रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि श्री शान्तिसूरि प्राकृत तथा संस्कृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे और उनका सैद्धान्तिक ज्ञान गहन एवं तलस्पर्शी था। आपने अपनी 'जीवविचार प्रकरण' नामक रचना में अपने गच्छ अथवा अपनी गुरु परम्परा विषयक किसी प्रकार का विवरण न देकर केवल अपने नाम का ही उल्लेख किया है। अपनी दूसरी कृति 'उत्तराध्ययन-टीका' में आपने अपना केवल इतना ही परिचय दिया है कि वे 'वटगच्छ' की शाखा-थारपद्र गच्छ के मुनि थे।[2] शान्तिसूरि की इन दो कृतियों से तो उनका केवल इतना ही परिचय प्राप्त होता है, इससे अधिक नहीं। किन्तु प्रभावक चरित्र और तपागच्छ पट्टावली में वादिवैताल शान्तिसूरि के जीवन की कतिपय महत्वपूर्ण घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

प्रभावक चरित्र में आचार्य श्री शान्तिसूरि का जो जीवन-वृत्त दिया हुआ है, वह सार रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रभावक चरित्रकार ने शान्तिसूरि का जीवन वृत्त प्रस्तुत करते हुए प्रारम्भ में "पातु वो वादि—वैतालः कालो दुर्मन्त्रवादिनाम्।" इस पद से जो उनकी स्तुति की है, इससे ही उनके महान् प्रभावक आचार्य होने का पता लगता है।

प्रभावक चरित्रकार के उल्लेखानुसार उन्नतायु नामक ग्राम के श्रीमाल वंशीय श्रेष्ठि श्री धनदेव की धर्मपत्नी धनश्री की कुक्षि से शान्तिसूरि का जन्म

हुआ। उन्नतायु ग्राम गुजरात प्रान्त की तत्कालीन राजधानी अणहिल्लपुर पत्तन के पश्चिम में बसा हुआ था। जिस समय शान्तिसूरि का जन्म हुआ उस समय गुजरात के महाप्रतापी राजा भीम अणहिल्लपुरपत्तन में गुजरात के राजसिंहासन पर आसीन थे। शान्तिसूरि के जन्मकाल में चन्द्रगच्छ की शाखा थारपद्र गच्छ का सर्वत्र वर्चस्व था। उस समय थारपद्र गच्छ के आचार्य पद पर श्री विजयसिंहसूरि विराजमान थे। श्री विजयसिंह सूरि की कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही थी।

श्रेष्ठिवर धनदेव ने अपने पुत्र का नाम भीम रखा। सभी प्रकार के शुभ लक्षणों से सम्पन्न बालक भीम क्रमशः ज्यों-ज्यों वय में बढ़ने लगा त्यों-त्यों उसके शुभ लक्षणों एवं गुणों की सौरभ दूर-दूर तक फैलने लगी।

एक समय विजयसिंह सूरि ग्रामानुग्राम विचरण कर भव्यों को धर्म का उपदेश देते हुए बालक भीम के ग्राम उन्नतायु में आये। उन्होंने वहां अनेक शुभलक्षणों से सम्पन्न आजानुभुज बालक भीम को देखा। बालक भीम के विशाल वक्षस्थल, प्रशस्त भाल, उन्नत एवं पुष्ट कन्धों तथा अन्यान्य असाधारण शुभ लक्षणों को देख कर विजय सिंहाचार्य ने अनुभव किया कि यह बालक समय आने पर धर्मसंघ के संचालन के गुरुत्तर भार को वहन करने में सक्षम और जिनशासन का उन्नायक होगा।

चैत्य में आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव को प्रणाम कर विजय सिंहाचार्य श्रेष्ठि धनदेव के घर गये और उससे उन्होंने कहा—"श्रेष्ठिन्! जिनशासन की अभ्युन्नति के लक्ष्य से हम तुमसे तुम्हारे इस होनहार पुत्र भीम की याचना करते हैं।"

धनदेव श्रेष्ठि ने हर्षविभोर हो अतीव विनम्र एवं मृदु स्वर में उत्तर दिया— "आचार्य देव! इससे बढ़कर मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है कि मेरा पुत्र आपके अभीष्ट कार्य का प्रसाधक बन सकेगा। मैं इसे अपना अहोभाग्य समझकर भीम को आपके चरणों में समर्पित करता हूं। मेरे पुत्र भीम को स्वीकार कर आप अपने इस दास को कृतकृत्य कीजिये।" यह कहते हुए धनदेव ने अपने पुत्र भीम को विजयसिंहाचार्य के चरणों में समर्पित कर दिया।

विजय सिंहाचार्य ने प्रतिभाशाली बालक भीम को समुचित शिक्षण देना प्रारम्भ किया और उसे सभी भांति सुयोग्य एवं कुशाग्रबुद्धि समझकर कालान्तर में श्रमणधर्म में दीक्षित किया। दीक्षित करते समय आचार्य श्री विजयसिंह ने बालक भीम का नाम शान्ति मुनि रखा। कुशाग्र बुद्धि शान्तिमुनि ने बड़ी निष्ठा के साथ शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया और क्रमशः उन्होंने सभी कलाओं, विद्याओं एवं आगमों का गहन ज्ञान प्राप्त कर उनमें निष्णातता प्राप्त की।

आचार्य श्री विजयसिंह ने अपने सुयोग्य शिष्य शान्ति मुनि को सभी विद्याओं में पारंगत और संघभार को वहन करने में पूर्णतः सक्षम समझकर उन्हें शुभ मुहूर्त में आचार्य पद प्रदान किया। अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी को अपने गच्छ का भार सम्हलाकर विजयसिंह सूरि ने संलेखना और अनशन पूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

शान्ति सूरि ने आचार्य पद पर आसीन होने के अनन्तर अनेक प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने गच्छ की प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त होने लगी। अणहिल्लपुर पाटण में महाराजा भीम की राजसभा में उन्हें कवीन्द्र का पद प्रदान किया गया। उस समय के उच्चकोटि के विद्वानों में उनकी गणना की जाने लगी।

शान्ति सूरि के आचार्यकाल में अवन्ति प्रदेश में धनपाल नामक एक विख्यात कवि रहता था एवं उसी प्रदेश में महेन्द्राचार्य नाम के एक अन्य विद्वान् जैनाचार्य धर्म प्रचार करते हुए विचरण कर रहे थे। उन महेन्द्राचार्य के आदेशानुसार उनके शिष्यों ने धनपाल को एक अवसर पर प्रत्यक्ष दिखाया कि गोरस में, दो दिन के पश्चात् जीव उत्पन्न हो जाते हैं। साधुओं द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखाये जाने पर कवि धनपाल महेन्द्राचार्य की सेवा में उपस्थित हुआ और उनके उपदेश से प्रबुद्ध हो वह दृढ़ सम्यक्त्वी बना। सम्यक्त्व ग्रहण करने के पश्चात् धनपाल ने "तिलकमञ्जरी" नामक ग्रन्थ की रचना की। तिलक मंजरी की रचना सम्पन्न हो जाने के पश्चात् धनपाल ने महेन्द्राचार्य से पूछा—"भगवन् अब इस तिलकमञ्जरी ग्रन्थ का शोधन कौन करेगा?"

आचार्य महेन्द्र ने कहा:—"शान्तिसूरि तुम्हारी इस कृति का संशोधन करेंगे।"[1]

धनपाल द्वारा विरचित तिलकमंजरी के संशोधन करने हेतु धारापति ने शान्तिसूरि से प्रार्थना की। इस पर शान्ति सूरि ने "तिलकमंजरी कथा" का शोधन एवं परिमार्जन किया। शान्तिसूरि द्वारा शोधित तिलकमंजरी को देख कर राजा भोज अतीव प्रसन्न हुआ और उसने चैत्यों के निर्माण के लिये १२ लाख मुद्राएं प्रदान कीं।

मालव प्रदेश में जिनशासन की कीर्तिपताका फहराने के अनन्तर वादि-वैताल विरुदधारी शान्तिसूरि गुजरात प्रान्त में लौटे और विहार क्रम से अनेक स्थानों में धर्मोपदेश देते हुए पाटण नगर में पधारे। आपके पाटण में आगमन से पूर्व ही वहां के प्रमुख श्रेष्ठि जिनदेव के पुत्र पद्म को एक विषधर ने डस लिया था। सब प्रकार के उपचार किये गये, मांत्रिकों ने भी अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु पद्म पर विष का प्रभाव बढ़ता ही गया। अन्ततोगत्वा सब उपायों के निष्फल हो जाने पर आत्मीयों ने श्मशान में एक गड्ढा खोदकर पद्म के शरीर को उस खड्डे में रख उस खड्डे को मिट्टी से पाट दिया और वे अपने घर लौट आये।

पाटण में पहुंचने पर शान्ति सूरि ने अपने शिष्यों से श्रेष्ठिपुत्र पद्म को सांप के डसने और उसे भूमि में गाड देने का वृत्तान्त सुना तो वे जिनदेव के घर गये और उससे कहा कि वह एक बार सर्प से डसे हुए पद्म को उन्हें दिखाये। अपने कौटुम्बिक जनों सहित जिनदेव, आचार्य श्री शान्तिसूरि के साथ श्मशान भूमि में गये। वहां गड्ढे से निकालकर उन्होंने पद्म का शरीर शान्तिसूरि को दिखाया। शान्तिसूरि ने अमृततत्व का स्मरण कर पद्म के शरीर का स्पर्श किया। शान्तिसूरि के कर स्पर्श करते मात्र से सर्पविष विनष्ट हो गया और तत्काल पद्म ने उठकर शान्तिसूरि को वन्दन करते हुए पूछा :—"भगवन् ! आप, मैं और मेरे आत्मीयजन यहां श्मशान में कैसे आये हैं ?"

जिनदेव के हर्ष का पारावार नहीं रहा। हर्षावरुद्ध कण्ठ से उसने अपने पुत्र को संक्षेप में पूरा वृत्तान्त सुनाया। इस अद्भुत् चमत्कार से सभी आश्चर्याभिभूत और हर्ष विभोर हो उठे। यह परमाश्चर्यकारी सुखद सम्वाद विद्युल्लता से तत्क्षण ही पाटण के घर-घर में प्रसृत हो गया। इस अदृष्ट पूर्व चमत्कार को देखने के लिये पाटण के आबाल वृद्ध नर-नारियों के वृन्द घर-घर, गली-गली से तत्काल श्मशान की ओर उमड़ पड़े। श्मशान के चारों ओर देखते ही देखते अति विशाल जन समुद्र लहराने लगा। शान्तिसूरि के जयघोषों से गगन मण्डल गुंजरित हो उठा।

आचार्य श्री शान्तिसूरि का अनुसरण करते हुए श्रेष्ठि जिनदेव, श्रेष्ठि पुत्र पद्म और पाटण के नागरिकों का विशाल जनसमूह महामहोत्सव के रूप में नगर में लौटा। स्थान-स्थान पर शान्तिसूरिजी का अभिनन्दन किया गया। इस घटना से समस्त गुजरात प्रान्त ही नहीं अपितु दिग्दिगन्त में धर्म की बड़ी प्रभावना हुई।

कालान्तर में नाडोलनगर से मुनिचन्द्र नामक आचार्य [illegible] पाटण में आये। उनकी असाधारण कुशाग्र बुद्धि से प्रभावित हो शान्तिसूरि ने मुनिचन्द्र और

को न्यायशास्त्र की शिक्षा प्रदान कर उन्हें बौद्ध परम्परा के प्रमाण शास्त्रों के दुर्भेद्य प्रमेयों को निरस्त करने में प्रवीण बना दिया।

उसी समय शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र की टीका की रचना की। सुविहित परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र सूरि ने शान्तिसूरि से न्याय शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने शिष्य देवसूरि को प्रमाण प्रमेय आदि की तलस्पर्शी शिक्षा दे उन्हें अजेय वादी बना दिया। कालान्तर में इन्हीं देवसूरि ने शान्तिसूरि द्वारा निर्मित उत्तराध्ययन की टीका से स्त्रीमुक्ति प्रकरण का अध्ययन कर अणहिलपुर पाटण के महाराज सिद्धराज की सभा में दिगम्बराचार्य को वाद में पराजित किया।

इस प्रकार अनेक वर्षों तक जिनशासन की चहुंमुखी अभिवृद्धि करने के अनन्तर अपनी आयु का अवसान समीप देख शान्तिसूरि ने वीरसूरि, शीलभद्र सूरि और सर्वदेवसूरि इन तीन विद्वान् मुनियों को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद प्रदान किया। तदनन्तर उन्होंने साढ़ नामक श्रावक के साथ उज्जयन्त पर्वत की ओर प्रयाण किया। उज्जयन्त गिरि पर पहुंच कर उन्होंने संलेखनापूर्वक अनशन किया। पच्चीस दिन के अनशन के पश्चात् उन्होंने विक्रम सं० १०९६ में कार्तिक शुक्ला नवमी के दिन स्वर्गारोहण किया।[1]

'तपागच्छ पट्टावली' में प्रभावक चरित्र के उपरिवर्णित उल्लेख से कुछ भिन्न प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है। 'तपागच्छ पट्टावली' में बताया गया है कि वि० सं० १०९७ में हुए धूलकोट के पतन के सम्बन्ध में शान्तिसूरि ने कुछ दिन पूर्व ही भविष्यवाणी कर ७०० श्रीमाली परिवारों को मौत के मुख से निकाल लिया। तदनन्तर विक्रम सं० ११११ में कानोड में उनका स्वर्गगमन हुआ।

इस साधारण उल्लेख भेद के अतिरिक्त शान्तिसूरि के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में प्रभावक चरित्र और तपागच्छ पट्टावली में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे यही प्रकट होता है कि शान्तिसूरि विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के एक अप्रतिम प्रतिभाशाली, अजेय वादी, प्रकाण्ड पण्डित एवं महान् प्रभावक आचार्य थे।

---

१. श्री विक्रमवत्सरतो वर्ष सहस्रे गते षण्णवतौ।
शुचिसिति नवमीकुजकृत्तिकासु शान्तिप्रभोरभूदस्तम् ॥ १३० ॥

धनपाल द्वारा विरचित तिलकमंजरी के संशोधन करने हेतु धारापति ने शान्तिसूरि से प्रार्थना की। इस पर शान्ति सूरि ने "तिलकमंजरी कथा" का शोधन एवं परिमार्जन किया। शान्तिसूरि द्वारा शोधित तिलकमंजरी को देख कर राजा भोज अतीव प्रसन्न हुआ और उसने चैत्यों के निर्माण के लिये १२ लाख मुद्राएं प्रदान कीं।

मालव प्रदेश में जिनशासन की कीर्तिपताका फहराने के अनन्तर वादि-वैताल विरुदधारी शान्तिसूरि गुजरात प्रान्त में लौटे और विहार क्रम से अनेक स्थानों में धर्मोपदेश देते हुए पाटण नगर में पधारे। आपके पाटण में आगमन से पूर्व ही वहां के प्रमुख श्रेष्ठि जिनदेव के पुत्र पद्म को एक विषधर ने डस लिया था। सब प्रकार के उपचार किये गये, मांत्रिकों ने भी अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु पद्म पर विष का प्रभाव बढ़ता ही गया। अन्ततोगत्वा सब उपायों के निष्फल हो जाने पर आत्मीयों ने श्मशान में एक गड्ढा खोदकर पद्म के शरीर को उस खड्डे में रख उस खड्डे को मिट्टी से पाट दिया और वे अपने घर लौट आये।

पाटण में पहुंचने पर शान्ति सूरि ने अपने शिष्यों से श्रेष्ठिपुत्र पद्म को सांप के डसने और उसे भूमि में गाड देने का वृत्तान्त सुना तो वे जिनदेव के घर गये और उससे कहा कि वह एक बार सर्प से डसे हुए पद्म को उन्हें दिखाये। अपने कौटुम्बिक जनों सहित जिनदेव, आचार्य श्री शान्तिसूरि के साथ श्मशान भूमि में गये। वहां गड्ढे से निकालकर उन्होंने पद्म का शरीर शान्तिसूरि को दिखाया। शान्तिसूरि ने अमृततत्व का स्मरण कर पद्म के शरीर का स्पर्श किया। शान्तिसूरि के कर स्पर्श करते मात्र से सर्पविष विनष्ट हो गया और तत्काल पद्म ने उठकर शान्तिसूरि को वन्दन करते हुए पूछा :—"भगवन् ! आप, मैं और मेरे आत्मीयजन यहां श्मशान में कैसे आये हैं ?"

जिनदेव के हर्ष का पारावार नहीं रहा। हर्षावरुद्ध कण्ठ से उसने अपने पुत्र को संक्षेप में पूरा वृत्तान्त सुनाया। इस अद्भुत् चमत्कार से सभी आश्चर्याभिभूत और हर्ष विभोर हो उठे। यह परमाश्चर्यकारी सुखद सम्वाद विद्युत्वेग से तत्क्षण ही पाटण के घर-घर में प्रसृत हो गया। इस अदृष्ट पूर्व चमत्कार को देखने के लिये पाटण के आबाल वृद्ध नर-नारियों के वृन्द घर-घर, गली-गली से तत्काल श्मशान की ओर उमड़ पड़े। श्मशान के चारों ओर देखते ही देखते अति विशाल जन समुद्र लहराने लगा। शान्तिसूरि के जयघोषों से गगन मण्डल गुंजरित हो उठा।

आचार्य श्री शान्तिसूरि का अनुसरण करते हुए श्रेष्ठि जिनदेव, श्रेष्ठि पुत्र पद्म और पाटण के नागरिकों का विशाल जनसमूह महामहोत्सव के रूप में नगर में लौटा। स्थान-स्थान पर शान्तिसूरिजी का अभिनन्दन किया गया। इस घटना से समस्त गुजरात प्रान्त ही नहीं अपितु दिग्दिगन्त में धर्म की बड़ी प्रभावना हुई।

कालान्तर में नाडोलनगर से मुनिचन्द्र नामक आचार्य अणहिलपुर पाटण में आये। उनकी असाधारण कुशाग्र बुद्धि से प्रसन्न हो शान्तिसूरि ने मुनिचन्द्र सूरि

को न्यायशास्त्र की शिक्षा प्रदान कर उन्हें बौद्ध परम्परा के प्रमाण शास्त्रों के दुर्भेद्य प्रमेयों को निरस्त करने में प्रवीण बना दिया।

उसी समय शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र की टीका की रचना की। सुविहित परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र सूरि ने शान्तिसूरि से न्याय शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने शिष्य देवसूरि को प्रमाण प्रमेय आदि की तलस्पर्शी शिक्षा दे उन्हें अजेय वादी बना दिया। कालान्तर में इन्हीं देवसूरि ने शान्तिसूरि द्वारा निर्मित उत्तराध्ययन की टीका से स्त्रीमुक्ति प्रकरण का अध्ययन कर अणहिलपुर पाटण के महाराज सिद्धराज की सभा में दिगम्बराचार्य को वाद में पराजित किया।

इस प्रकार अनेक वर्षों तक जिनशासन की चहुंमुखी अभिवृद्धि करने के अनन्तर अपनी आयु का अवसान समीप देख शान्तिसूरि ने वीरसूरि, शीलभद्र सूरि और सर्वदेवसूरि इन तीन विद्वान् मुनियों को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद प्रदान किया। तदनन्तर उन्होंने साढ़ नामक श्रावक के साथ उज्जयन्त पर्वत की ओर प्रयाण किया। उज्जयन्त गिरि पर पहुंच कर उन्होंने संलेखनापूर्वक अनशन किया। पच्चीस दिन के अनशन के पश्चात् उन्होंने विक्रम सं० १०९६ में कार्तिक शुक्ला नवमी के दिन स्वर्गारोहण किया।[1]

'तपागच्छ पट्टावली' में प्रभावक चरित्र के उपरिवर्णित उल्लेख से कुछ भिन्न प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है। 'तपागच्छ पट्टावली' में बताया गया है कि वि० सं० १०९७ में हुए धूलकोट के पतन के सम्बन्ध में शान्तिसूरि ने कुछ दिन पूर्व ही भविष्यवाणी कर ७०० श्रीमाली परिवारों को मौत के मुख से निकाल लिया। तदनन्तर विक्रम सं० ११११ में कानोड़ में उनका स्वर्गगमन हुआ।

इस साधारण उल्लेख भेद के अतिरिक्त शान्तिसूरि के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में प्रभावक चरित्र और तपागच्छ पट्टावली में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे यही प्रकट होता है कि शान्तिसूरि विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के एक अप्रतिम प्रतिभाशाली, अजेय वादी, प्रकाण्ड पण्डित एवं महान् प्रभावक आचार्य थे।

---

1. श्री विक्रमवत्सरतो वर्ष सहस्रे गते षण्णवतौ।
शुचिसिति नवमीकुजकृत्तिकासु शान्तिप्रभोरभूदस्तम् ॥ १३० ॥

आचार्य अज्जणन्दि (आर्यनन्दि)

विक्रम की ८वीं-९वीं शताब्दी में अज्जणन्दि नामक एक महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने तमिलभाषी प्रदेश में लुप्तप्राय हुए जिनशासन को पुनरुज्जीवित किया। ईसा की सातवीं शताब्दी में तिरु ज्ञानसम्बन्धर, तिरु अप्पर आदि शैव सन्तों द्वारा दक्षिणापथ के मदुरई एवं कांची राज्यों में शैव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये प्रारम्भ की गई धार्मिक क्रान्ति अथवा धार्मिक विप्लव में राज्याश्रय का पीठ-बल प्राप्त किये शैवों द्वारा जैनधर्मावलम्बियों पर जो लोमहर्षक-हृदयद्रावी अत्याचार किये गये, उनके परिणामस्वरूप जैन धर्म तमिलभाषी अनेक क्षेत्रों में तो वस्तुतः लुप्तप्राय हो गया था। इस धार्मिक विप्लव की प्रचण्ड लहर का कुप्रभाव पाण्ड्य एवं पल्लव राज्यों के पड़ौसी चोल और चेर राज्यों पर भी पड़ा और इसका परिणाम यह हुआ कि उस विप्लव से पूर्व जो जैनधर्म उन प्रदेशों का बहुजनसम्मत धर्म था वह विप्लव के पश्चात् नाम मात्र के लिये वहां अवशिष्ट रह गया।

ज्ञानसम्बन्धर आदि अनेक शैव सन्तों द्वारा बनाये गये तेवारम् के पदों के माध्यम से चारों ओर जैनों एवं बौद्धों के विरुद्ध धुंआंधार प्रचार किया गया। जैनों के विरोध में बनाये गये उन पदों का नगर नगर, गांव-गांव और घर घर प्रचार किया गया। इस प्रकार के सामूहिक एवं सुदूरव्यापी प्रयासों द्वारा जैन श्रमणों तथा जैनधर्मावलम्बियों के प्रति चारों ओर घृणा का प्रचार किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग अर्द्ध शताब्दी तक तो कतिपय कट्टरपंथी क्षेत्रों में किसी जैन श्रमण का पदार्पण तक दूभर हो गया था।

इस प्रकार की संकट की घड़ियों में आचार्य अज्जणन्दि ने बड़े साहस के साथ उन क्षेत्रों में जहां जिनेश्वर अथवा जैन का नाम तक लेने वाला नहीं रह गया था, वहां जैन धर्म की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने का बीड़ा उठाया।

अज्जणन्दि ने तामिलनाड़ के उन प्रदेशों में घूम घूम कर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। सदा से अहिंसा में अटूट आस्था रखते हुए शांति की उपासना करते आ रहे जैनधर्मावलम्बियों को धर्मक्रान्ति के नाम पर उठी धर्मोन्माद की प्रचण्ड आंधी के कटु अनुभवों से बड़ी निराशा हुई थी। वह निराशा लगभग अर्द्ध शतक तक जैनों के मन और मस्तिष्क पर घर किये रही। उस निराशा को अज्जणन्दि ने अपने अन्तस्तल स्पर्शी उपदेशों से दूर कर जैनधर्मावलम्बियों में नई आशा का संचार किया। जैनधर्मावलम्बियों के अन्तर्मन में नव्य-नूतन आशा

की किरण का संचार करने के लिये घोरातिघोर कष्ट सहन कर भी अज्जणन्दि ने जो कार्य किये, उनके उन कार्यों की यशोगाथाएँ दक्षिणा पथ की अनेक पर्वत-मालाओं की चट्टानों पर, अनेक गिरिगुहाओं में आज भी पढ़ी जा सकती हैं। विद्वान्, वाग्मी और प्रतिभाशाली आचार्य अज्जणन्दि ने तमिलनाड् के पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक सागरतट पर्यन्त के सभी क्षेत्रों में घूम घूम कर जैनधर्म का प्रचार किया, अनेक पर्वतों की शिलाओं पर तीर्थंकरों और उनके यक्षों की शिलाचित्रों के रूप में मूर्तियां उट्टंकित करवाई।

ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने (अज्जणन्दि ने) धर्म प्रचार का अपना यह अभियान उत्तरी आर्काट जिले से प्रारम्भ किया, जहां अप्पर और ज्ञान सम्बन्धर द्वारा धर्मयुद्ध के रूप में प्रारम्भ किये गये शैव मत के अभियान के समय भी जैनधर्म का पर्याप्त वर्चस्व रहा था। उत्तरी आर्काट जिले के वल्लीमलै नामक पर्वत की चट्टानों पर जिनेश्वरों के चित्र उट्टंकित करवाये।[1]

तदनन्तर अज्जणन्दि ने शैव मतावलम्बियों के सुदृढ़ गढ़ मदुरा में जैनधर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने मदुरा जिले में स्थित आनैमलै, ऐवरमलै, अलगरमलै, करूंगालक्कुड़ी और उत्तमपालैयम पर्वतों की चट्टानों पर तीर्थंकरों और यक्षों आदि की मूर्तियां उट्टंकित करवाई। मदुरा जिले के अनेक पर्वतों पर अज्जणन्दि द्वारा उट्टंकित करवाई हुई तीर्थंकरों की मूर्तियों को देखने पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि अज्जणन्दि ने मदुरा जिले में पर्याप्त समय तक रह कर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। तदनन्तर अज्जणन्दि दक्षिणापथ के गांव गांव में लोगों को जैनधर्म के विश्वकल्याणकारी सारभूत सिद्धान्तों का उपदेश देते हुए तिन्नेवेली जिले में पहुंचे। वहां उन्होंने ऐरूवाड़ी की प्राकृत गुफाओं में उराणिगोट्टार नामक चट्टान पर तीर्थंकरों की मूर्तियां बनवाई।[2]

अज्जणन्दि ने शेट्टिपोड़वु की गुफाओं और उस पर्वत की चोटी पर "पेच्छिपल्लम"—(बोलता हुआ बिल) नामक प्राचीन स्थान पर भगवान् पार्श्वनाथ और अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियां उट्टंकित करवाईं। यहां चट्टान को काट कर अज्जणन्दि की माता 'गुणमत्तियार' की भी मूर्ति बनी हुई है।

इन सब के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों के अनेक पहाड़ों पर अज्जणन्दि ने तीर्थंकरों, उनके यक्षों आदि की मूर्तियां बनवाईं।

मदुरा ताल्लुक के क्लिक्कुडी नामक ग्राम के पास पर्वत पर एक प्राचीन गुफा है। उस गुफा को दृष्टि पसार कर देखने मात्र से ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वस्तुतः वह गुफा बड़े लम्बे समय तक जैन श्रमणों की विश्रामस्थली अथवा साधनास्थली रही है। इस गुफा का नाम है "शेट्टिपोड़वु" जिसका हिन्दी रूपान्तर होता है—"प्रमुख व्यापारियों की खोह-गुहा अथवा गुफा।" इस गुफा में यत्र-तत्र जैन संस्कृति के पुरातात्विक स्मारक यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस गुफा का प्रवेशद्वार महराबदार बना हुआ है। इस गुफा में तीन जैनाचार्यों की मूर्तियां चट्टानों को काट कर बनाई गई हैं। आचार्यों की इन तीन मूर्तियों के अतिरिक्त दो मूर्तियां भगवान् महावीर की यक्षिणी सिद्धायिका देवी की प्रतीत होती हैं। सिद्धायिका देवी की इन मूर्तियों में से एक मूर्ति युद्ध की देवी के रूप में और दूसरी शान्ति की देवी के रूप में उट्टंकित की गई है। सिद्धायिका यक्षिणी को जिस मूर्ति में युद्ध की देवी का स्वरूप दिया गया है, वह स्वरूप बड़ा ही हृदयग्राही अथवा रुचिकर है। यह चतुर्भुजाओं वाली युद्ध की देवी सिंह पर आरूढ़ है। उसके दक्षिण हाथ में प्रत्यंचा चढ़ा धनुष और वाम हस्त में तीर है। शेष दो हाथों में शस्त्र हैं। सिंह ने एक हाथी पर आक्रमण किया है जिस पर कि एक महिला एक हाथ में कृपाण और दूसरे हाथ में ढाल लिये बैठी है। शान्ति की देवी सिंहासन पर बैठी है। उसके दक्षिण हस्त में फल है और उसका वाम हस्त सिंहासन पर रखा हुआ है। इन मूर्तियों का निर्माण किसने करवाया, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जैनाचार्यों की मूर्तियों के समीप युद्ध की देवी और शान्ति की देवी इन दोनों देवियों की मूर्तियों को उट्टंकित करवाने का क्या उद्देश्य रहा होगा, इस सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से कहना तो सम्भव नहीं। पर अनुमान किया जाता है कि जैन धर्मावलम्बियों में संकटापन्न स्थिति में आक्रान्ताओं एवं अत्याचारियों से अपनी रक्षा के लिये युद्ध देवी स्वरूपा सिद्धायिका को और शान्ति-समृद्धिपूर्ण उत्कर्षकाल में शान्ति की स्वरूपा सिद्धायिका देवी को अपना आदर्श मान कर बड़े साहस एवं धैर्य के साथ कर्त्तव्य का पालन करते रहने की प्रेरणा देना रहा हो।

उपरलिखित कोंगर पुलियमंगलम् ग्राम के नाम को देखते हुए ऐसा विचार आता है कि इस ग्राम का वास्तविक नाम कोंगर आपुलियमंगलम् तो नहीं रहा है।

आपुलिय और गोप्य ये दोनों शब्द यापनीय शब्द के ही पर्यायवाची शब्द हैं। आपुलियों अर्थात् यापनीय संघ के अनुयायियों का किसी समय में यह ग्राम अथवा गिरि गुहा, केन्द्रस्थल, साधनास्थल अथवा कार्य क्षेत्र रहा हो। इस सम्बन्ध में तमिल भाषा के विशेषज्ञ जैन विद्वान् यदि शोधपूर्ण प्रकाश डालें तो ऐतिहासिक दृष्टि से उनका वह प्रयास प्रशंसनीय होगा। पेरियाकुलम् ताल्लुक में अवस्थित 'उत्तमपालैयम्' में जो जैन मूर्तियां उट्टंकित हैं, उनके नीचे अज्जणन्दि के नाम के साथ-साथ आचार्य अरिट्ठनेमि—पेरियार और उनके गुरु अष्टोपवासीगल के नाम भी खुदे हुए हैं। कदम्बहल्लि से प्राप्त शक सं. १०४० के एक स्तम्भलेख में यापनीय परम्परा के प्राचीन सूरस्थगण के ९ प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावली उपलब्ध हुई है, उसमें आचार्य अष्टोपवासी को सूरस्थगण का पांचवां आचार्य बताया गया है।[१] इससे यह विचार उत्पन्न होता है कि अज्जणन्दि के साथ जिन आचार्य अष्टोपवासिगल का नाम उपरिवर्णित मूर्तियों के नीचे उट्टंकित है, वे आचार्य कहीं यापनीय परम्परा के आचार्य तो न हों। इस दृष्टि से भी कोंगर पुलियमंगलम् नामक इस ग्राम के सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है कि कहीं इस गांव का नामकरण आपुलिय संघ अर्थात् यापनीय संघ से तो सम्बन्धित नहीं है। अस्तु।

तिरुमंगलम् ताल्लुक के इस कोंगर पुलियमंगलम् नामक ग्राम के पास के पर्वत पर जो चट्टानों को काट काट कर मुनियों के लिये शिला पलंग बनाये गये हैं, उसी पहाड़ के ढाल पर अज्जणन्दि की सिद्धासनस्थ एक बहुत सुन्दर मूर्ति चट्टान को काट कर बनाई गई है। इस मूर्ति के चारों ओर चट्टान को छाजे के आकार में बड़े कौशल से तराशा गया है, जिससे कि वर्षा के पानी से मूर्ति की पूर्ण रूप से रक्षा हो सके। इस मूर्ति के नीचे "श्रीअज्जणन्दि" उट्टंकित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अज्जणन्दि के किन्हीं शिष्यों ने अथवा उपासकों ने अज्जणन्दि के स्वर्गस्थ होने पर इसका निर्माण करवाया हो।

अज्जणन्दि ने बहुत बड़ी संख्या में दक्षिणापथ के अनेक पर्वतों की शिलाखण्डों को कटवा कटवा कर जैनमूर्तियों का निर्माण करवाया किन्तु न तो स्वयं और न उनके शिष्यों ने ही उनका कोई परिचय उट्टंकित करवाया। सभी मूर्तियों के नीचे केवल अज्जणन्दि का नाम ही उट्टंकित है। इससे अनुमान किया जाता है कि अज्जणन्दि अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध लोकप्रिय आचार्य थे, इसी कारण उनके नाम के अतिरिक्त उनका कोई परिचय उनकी ऐतिहासिक कृतियों के नीचे उट्टंकित नहीं करवाया गया।

६

के मोड़ आदि के आधार पर पुरातत्वविदों ने उनका (अज्जणन्दि का) समय ईसा की ८ वीं ६वीं शताब्दी का अनुमानित किया है।

अनेक प्रकार के कष्टों, विघ्न-बाधाओं को समभाव से सहन कर नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में कट्टरतम शैवधर्मावलम्बियों के सुदृढ़ गढ़ों, केंद्रस्थलों में घूम घूम कर आचार्य अज्जणन्दि ने तमिलनाडू के निराश जैनों में आशा का संचार कर जिस साहस के साथ वहां जैनधर्म का पुनरुद्धार किया, उनकी इन अमूल्य जिनशासन सेवा के लिये जैन इतिहास में उनका नाम सदा सदा प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा।

दक्षिण के जैन इतिहास के विशेषज्ञ एवं लब्धप्रतिष्ठ पुरातत्ववेत्ता स्वर्गीय श्री पी. बी. देसाई ने अज्जणन्दि के सम्बन्ध में लिखा है :—

"All these facts are profoundly significant and they help us to judge the place of Ajjanandi in the history of Jainism in the Tamil country. During the later part of the 7th century and after, a very grave situation arose in the Tamil Country against the followers of the jain doctrine. The tide of revival in favour of the Saivite and Vaishnavite faiths began to shake the very foundations of Jainism. Saint Appar in the Kanchi area and Sambandhar in the Madura region, launched their crusades against supporters of the Jain religion. Consequently, Jainism lost much of its prestige and influence in the society. It was in this critical situation that Ajjanandi appears to have stepped on the scene. He must have been a remarkable personality endowed not only with profound learning and dialectical skill, but also with practical insight and organising capacity. Inspired by the noble ideals of his faith and sustained by indomitable energy, he, it seems, travelled from one end of the Country to the other, preaching the holy gospel, erecting the images and shrines in honour of the deities and popularising once again the principles and practices of Jainism."[1]

वस्तुत: यह एक बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि जैन धर्मावलम्बियों पर आये हुए इस प्रकार के घोर संकट के समय जिस महापुरुष ने तमिलनाडु के हताश-निराश जैनों में नवजीवन का, नई चेतना का संचार किया उस महापुरुष के जीवन परिचय को समाज संजोकर नहीं रख सका। इस प्रकार की स्थिति में ऐसी आशंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि अज्जनन्दि, वर्तमान काल में जितनी परम्पराएं प्रचलित हैं, उन परम्पराओं से भिन्न ही किसी यापनीय परम्परा जैसी विलुप्त परम्परा के आचार्य रहे होंगे। अन्यथा उन महापुरुष (अज्जणंदि) का जीवन परिचय अवश्यमेव सुरक्षित रखा जाता।

विद्वद्वृन्द से अज्जणंदि के जीवन परिचय के सम्बन्ध में गहन शोध की अपेक्षा है। □□

---

१ Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs, by-P.B. Desai. P. ६३-६४

आचार्य विद्यानन्दि (ग्रन्थकार)

वीर निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी में गंगवंशीय महाराजा शिवमार (ई० सन् ८०४ से ८१५) और उसके भ्रातृज राछमल्ल-सत्यवाक्य (८६६–८९३) के शासनकाल में किसी समय आचार्य विद्यानन्दि नामक एक महान् ग्रंथकार हुए हैं। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना कर जैनसाहित्य की समृद्धि में अभि-वृद्धि की :—

(१) तत्वार्थश्लोकवार्तिक। यह तत्वार्थ सूत्र की विशाल टीका है। इस दार्शनिक ग्रन्थ में आचार्य विद्यानन्दि ने वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल्ल भट्ट और बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति द्वारा जैनदर्शन के खण्डन में प्रस्तुत की गई युक्तियों को बड़े ही सबल तर्कों से निरस्त किया है।

(२) अष्टसहस्री

(३) युक्त्यनुशासनालंकार

(४) आप्तपरीक्षा

(५) प्रमाण परीक्षा

(६) पत्र परीक्षा

(७) सत्यशासन परीक्षा

(८) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र और

(९) विद्यानन्द महोदय (अनुपलब्ध)।

ये किस परम्परा के और किसके शिष्य थे—इस सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता किन्तु इनकी विद्वत्ता पूर्ण कृतियों से इनके [illegible] पाण्डित्य का परिचय मिलता है। वे महान् दार्शनिक, जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनों के भी पारगामी विद्वान्, महान् कवि, महान् [illegible] और [illegible] से ओतप्रोत एवं तरंगित मानस के धनी महान् स्तुतिकार भी थे।

वीर नि० सं० १४०० से १४७१ की अवधि में भ० महावीर के ४५ वें से ४७ वें पट्टधर और ३६ वें युगप्रधान के समय की राजनैतिक परिस्थिति

उपरिलिखित अवधि के प्रारम्भकाल में महान् शक्तिशाली राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघ वर्ष के शासनकाल का ५६वां वर्ष था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है वीर नि० सं० १४०२ में अमोघवर्ष ने अपने विशाल साम्राज्य का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर कृष्ण द्वितीय का राज्याभिषेक किया और अपना शेष जीवन जैन श्रमणों की सेवा में रहते हुए आत्मसाधना में व्यतीत किया। इतिहास के यशस्वी विशिष्ट विद्वान् डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने अमोघवर्ष का शासनकाल ई० सन् ८१४ से ८८० तक अनुमानित किया है।[1]

अमोघवर्ष के पश्चात् कृष्ण द्वितीय का राष्ट्रकूट राज्य पर ई० सन् ८७५ से ९१२ तक शासन रहा। इसका पूर्वी चालुक्यों के साथ अनेक वर्षों तक संघर्ष चलता रहा।

यह राजा बड़ा ही उदार और जिनशासन-प्रभावक था। बन्दलिके वसति के प्रवेश द्वार के पाषाण पर उट्टंकित शिलालेख में इसकी उदारता का ज्वलंत उदाहरण आज भी विद्यमान है। उस अभिलेख में उल्लेख है कि नागरखंड सत्तर के अपने सामन्त नालगुण्ड सत्तरस नागार्जुन की मृत्यु हो जाने पर (संभवतः उसके कोई सन्तति न होने पर भी) अपने स्व० सामन्त की पत्नी जक्कियव्वे को आवुतवूर और नागरखण्ड सत्तर का राज्य प्रदान किया। उस महिलारत्न जक्कियव्वे ने भी अनेक वर्षों तक सुचारू रूप से शासन संचालन कर अपनी अद्‌भुत प्रशासनिक योग्यता का प्रदर्शन किया। अन्त में जक्कियव्वे ने संलेखना-संथारा स्वीकार कर जिनेश्वर भगवान् के स्मरण में लौ लगाये हुए पंडितमरण पूर्वक अपने जीवन को सफल किया।[2]

कृष्ण द्वितीय के पश्चात् ई० सन् ९१२ से ९४५ (डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री के अनुमानानुसार ई० सन् ९३५) की अवधि के बीच गोविन्द चतुर्थ, इन्द्र, गोविन्द-सुवर्ण-वर्ष वल्लभ, कृष्ण, अमोघवर्ष और खोट्टिग इन ६ राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं का राज्य रहा। इन ६ राजाओं में से प्रायः सभी का अति स्वल्पावधि तक ही राज्य रहा।

---

[1] दक्षिण भारत का इतिहास, पृ० २३५

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १४०, पृष्ठ १६२ से १६४

ईसा की ६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध दक्षिण में पल्लवों और पांड्यों के बीच संघर्ष का युग रहा । ई. सन् ८८० में श्रीमाड़ श्रीवल्लभ के उत्तराधिकारी पांड्यराजा वरगुणवर्मन् (द्वितीय) और पल्लवराज नृपतुंगवर्मन के पुत्र अपराजित के बीच कुम्बकोनम के समीप पुड़मवियम में भयंकर युद्ध हुआ । चोल राजा आदित्य प्रथम और गंगराजा पृथ्वीपति प्रथम भी इस युद्ध में अपनी सेनाओं के साथ पल्लवराज अपराजित के पक्षधर बनकर सम्मिलित हुए । इस युद्ध में यद्यपि गंग राजा पृथ्वीपति प्रथम रणांगण में लड़ता-लड़ता मृत्यु को प्राप्त हुआ किन्तु पाण्ड्यराज वरगुणवर्मन बुरी तरह पराजित हुआ । अन्ततोगत्वा चोलराज आदित्य प्रथम ने पल्लव राज्य पर भी आक्रमण कर दिया और तोंडइमण्डम के युद्ध में पल्लवराज अपराजित को पराजित कर दिया । आदित्य छलांग मार कर अपराजित के हाथी पर चढ़ गया और एक ही भरपूर प्रहार से उसका प्राणान्त कर दिया । इस युद्ध में विजय से प्रायः पूरा का पूरा पल्लव राज्य चोल राज्य के अन्तर्गत आ गया । आदित्य ने कौंगू देश पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और इस प्रकार पुनः एक शक्तिशाली चोल राज्य का गठन करने में आदित्य सफल हुआ ।

ई० सन् ९०७ में आदित्य के पश्चात् उसका पुत्र परांतक चोल राज्य के सिंहासन पर बैठा । आदित्य के एक पुत्र का नाम कन्नरदेव था, जो राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्ण (द्वितीय) का दौहित्र था । अपने दौहित्र को चोल राजसिंहासन से वंचित रखे जाने से क्रुद्ध होकर कृष्ण ने वाणों और वैदुम्ब शासकों की सहायता से चोल राज्य पर आक्रमण कर दिया । उस युद्ध में परान्तक की विजय हुई किन्तु अन्ततोगत्वा इन तीन राजशक्तियों के साथ परान्तक की शत्रुता वस्तुतः परान्तक के लिये घातक सिद्ध हुई । जैसा कि आगे बताया जायगा इस शत्रुता के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रकूटों ने चोलराज्य पर आक्रमण किया और इस युद्ध में गंगराज बुतुग ने परान्तक के बड़े पुत्र राजादित्य को युद्ध में मार डाला ।

गुजरात में एक नवीन सोलंकी राज्यशक्ति का उदय

ईसा की १० वीं शताब्दी के चार चरणों में से प्रथम चरण में जिस समय चापोत्कट राजवंश के संस्थापक वनराज चावड़ा के नृपवंश का अन्तिम राजा सामन्तसिंह अणहिलपुरपट्टन के राजसिंहासन पर आसीन था, उस समय राजी, बीज और दंडक नामक तीन क्षत्रिय किशोर अपने निवासस्थल से सोमनाथ की यात्रा के लिये प्रस्थित हुए। सोमनाथ की यात्रा के पश्चात् अपने निवासस्थल (जन्मस्थान) की ओर लौटते समय वे अणहिलपुरपट्टन में रुके। जब उन्होंने सुना कि एक त्यौहार के उपलक्ष में राजकीय ठाट-बाट के साथ अश्वारोहण कला का प्रदर्शन हो रहा है और उसे देखने के लिये जनसमूह प्रदर्शन-स्थल की ओर उमड़ रहा है, तो वे तीनों भाई भी गुजरात की अश्वारोहण कला को देखने के लिये मेले में पहुंचे। घुड़दौड़, सरपट दौड़ते हुए घोड़े की पीठ पर बैठे हुए अश्वारोहियों द्वारा भाले से लक्ष्यवेध आदि अनेक प्रकार के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों के पश्चात् स्वयं राजा सामन्तसिंह एक जात्यश्व पर आरूढ़ हो अपनी अश्वारोहण कला का चमत्कार प्रदर्शित करने आगे आया। जंघाओं के इंगितमात्र से अपना कौशल बताने वाले उस उत्कृष्ट जाति के घोड़े पर जब राजा चाबुक का प्रहार करने के लिये उद्यत हुआ तो क्षत्रिय किशोर राजी बड़े उच्च स्वर में "ऐसे नहीं, ऐसे नहीं" कहता हुआ राजा की ओर बड़े वेग से बढ़ा।

एक सौम्य-सुकुमार साहसी युवक को अपनी ओर द्रुत वेग से आता हुआ देख राजा रुका। युवक के पास आने पर उसने उससे बात की और उसके परामर्शानुसार सामन्तसिंह ने अश्वसंचालन किया। राजा और दर्शकों के आश्चर्य का पारावार न रहा कि उस जात्यश्व ने इंगितमात्र पर अनेक प्रकार के अद्भुत करिश्मे बताये।

तदनन्तर सामन्तसिंह ने वही अपना अश्व उस नवागन्तुक युवक को सम्हलाते हुये अश्वारोहण की कला प्रदर्शन करने का उससे आग्रह किया। राजाज्ञा को शिरोधार्य कर राजी उस उच्च जाति के अश्व की पीठ पर आरूढ़ हुआ और उसने अपनी अद्भुत अश्वारोहण कला का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। घोड़ा भी समझ गया कि उसके योग्य आरोही अब आया है।

श्रेष्ठ जाति के अश्व और अश्वविद्या-निष्णात अश्वारोही राजी के सुयोग ने[1] कुछ ही क्षणों में "सोने में सुगन्ध"–इस सुकोमल सुंदर कल्पना जगत की मृदु-मंजुल-सुमधुर अननुभूत लोकोक्ति को अक्षरशः चरितार्थ कर बताया। अश्व अपने आरोही के इंगिताकारानुरूप और आरोही अपने अश्व के मनोनुकूल अश्वकला-अश्वारोहण कला का प्रदर्शन करने लगे। अदृष्टपूर्व अद्भुत अश्वारोहण, अश्वसंचालन और अश्व द्वारा अपने आरोही के मन को लुभा देने वाली कमनीय कलाओं को देखकर राजा

---

[1] अश्वाश्ववारयोः सदृग योगमालोक्य.........मूलराजप्रबन्ध, प्रबन्धचिन्तामणि।

राजपरिवार और प्रजा—सभी दर्शक वर्ग झूम उठे। साधु, साधु ! अद्भुत ! अतीव सुन्दर ! सारू छे ! सारू छे ! के गगन भेदी घोषों से दिग्दिगंत प्रकम्पित एवं प्रतिध्वनित हो उठे। सबके मनकुसुम पूर्णतः प्रफुल्लित हो उठे।

समारोह की समाप्ति पर सामन्तसिंह ने क्षत्रियकिशोर राजी को अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लिया। वह राजी और उसके दोनों भाइयों को अपने साथ राजमहलों में ले गया और अपने पास ही रखने लगा। अब तो राजी राजदुलारा और प्रजाजनों की आंखों का तारा बन गया।

राजी के आजानुभुजदण्ड, शैलशिलानिभ विशाल वक्षस्थल, मौक्तिकों जैसी चमक से ओतप्रोत मनोहारि आयत लोचन युगल समुन्नत सुविशाल भाल और सिंहशावक जैसी शौर्यपूर्ण चालढाल आदि क्षत्रियोचित गुणों से राजा एवं राज-परिवार को एवं राज-मन्त्रियों आदि को विश्वास हो गया कि यह उच्च कुलीन भुयडराजवंशीय मुंजाल देव का राजकुमार है तो सामन्तसिंह की सहोदरा राज-कुमारी लीलादेवी के साथ उसका विवाह कर दिया गया। राज-जामाता राजी सुखपूर्वक अणहिल्लपुर पाटण के राजप्रासादों में रहने लगा। समय पर लीलादेवी गर्भवती हुई। राजपरिवार में हर्ष की लहर सी दौड़ गई। प्रसवकाल आने पर प्रसव से पूर्व ही लीलादेवी का सहसा देहावसान हो गया। निष्प्राणा गर्भवती लीला देवी के उदर को तत्काल चीर कर गर्भस्थ शिशु को जीवितावस्था में ही निकाल लिया गया। उदीयमान अरुण वरुण के समान बालक को देख कर शोकसागर में निमग्न राजपरिवार को एक आशासम्बल मिला।

बालक का जन्म मूला नक्षत्र में हुआ था, इसलिये उसका नाम मूलराज रखा गया। मूला नक्षत्र में उत्पन्न बालक मूलराज के सम्बन्ध में ज्योतिषियों ने बताया—

> मूलार्कः श्रूयते शास्त्रे सर्वकल्याणकारकः।
> अधुना मूलराजेन, योगश्चित्रं प्रशस्यते ॥

सामन्तसिंह सुरापान के व्यसन में आकण्ठ डूबा हुआ था। अपने भागिनेय मूलराज द्वारा उस अल्प वय में ही की जाने वाली अपने राज्य की अभिवृद्धि के शौर्यपूर्ण साहसिक कार्यों से सामन्तसिंह फूला न समाता। सुरा के नशे में वह मूलराज को अपने राजसिंहासन पर बिठाता और कहता—"वत्स ! आज से इस राज्य का तू ही स्वामी है। मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुझे दे दिया है।"

जब सुरा का नशा ढलने लगता तो सामन्तसिंह अपने भागिनेय मूल राज को हाथ पकड़ कर राजसिंहासन से उतार देता और अपने अनुचरों आदि के समक्ष उसका तिरस्कार करता हुआ कहता—"हठ जा यहां से, आया है राजा बनने वाला। मेरी कृपा पर पला छोकरा राजसिंहासन पर बैठा है।"

सामन्तसिंह का यह प्रायः प्रतिदिन का कार्य था। नशा होते ही वह मूलराज को सिंहासन पर बैठा देता। उसे हाथ जोड़ कर राजाधिराज के सम्बोधन से सम्बोधित करता हुआ पूर्ण सम्मान प्रकट करता। अपने परिजनों, राज्याधिकारियों और मन्त्रियों तक को कहता—"यह नरशार्दूल मेरा भागिनेय तुम्हारा, मेरा और हम सबका राजराजेश्वर है, इसकी प्रत्येक आज्ञा का तत्काल पालन करो।"

मद्य के नशे का प्रभाव कम होते ही सामन्तसिंह सबके समक्ष उसका तिरस्कार करता। सामन्तसिंह के इस प्रकार के दान और अपमान की बात दूर-दूर तक फैल गई। जन-जन के मुख से सदा सब ओर यही सुनने को मिलता "नशा मां राजदान, सादा मां धक्का।"

इस प्रकार के अपमानजनक प्रसंगों से बचे रहने का स्वाभिमानी मूलराज अनेक बार प्रयत्न करता किन्तु मद्यपान से उन्मत्त बना सामन्तसिंह उसके पैरों पड़ जाता, स्नेह प्रदर्शित करता और शपथें तक ग्रहण करता कि अब एक बार राजसिंहासन पर उसे आसीन कर सदा उसे अपना राजा ही मानता रहेगा, भविष्य में कभी उसका तिरस्कार नहीं करेगा। परन्तु सब शपथें, सब प्रतिज्ञाएं क्षण भर में ही कपूर की तरह उड़ जातीं। वस्तुतः सामन्तसिंह के शरीर का अणु-अणु, रोम-रोम सदसद्—विवेकविनाशिनी सुरा के प्रगाढ़ रंग में पूर्णरूपेण रंग गया था। वह सुरा का ऐसा अनन्य दास बन गया था कि सुरापान करते ही वह अपनी सब शपथें, सभी प्रतिज्ञाएं भूल जाता था। मद्यपान करते ही उस मद्यपी सामन्तसिंह के तन मन पर छाई हुई सुरा स्वचालित यन्त्र के समान अपने उसी प्रतिरात्रि के क्रम को दुहराना प्रारम्भ कर देती। सुरा के चढ़ते हुए नशे की स्थिति में सर्वप्रथम तो सामन्तसिंह रूठे हुए अपने भागिनेय मूलराज को मनाता। अनुनय—विनय करता, शपथों की झड़ी लगा देता, उसके चरणों पर अपना मस्तक तक रख देता और अपने परिचारक, स्वजन, परिजन, प्रधानामात्य, अमात्यों के समक्ष बड़े ठाट से मूल राज को सब राजचिह्नों से अलंकृत कर अपने राजसिंहासन पर

बिठा देता, उसका राज्याभिषेक करता, राज्याभिषेक के पश्चात् राज्याभिषेक महोत्सव के उपलक्ष में १०८ तोपें दागने का आदेश देता। जब तक सुरा का उन्माद उसके मन मस्तिष्क पर छाया रहता, तब तक हाथ जोड़ कर परम आज्ञाकारी अनुचर की भांति मूलराज के समक्ष खड़ा रहता। ज्योंही मद्य का मद ढलने लगता मद्यपात्र में और मद्य उन्डेल कर उसे पानी की तरह पी जाता। मध्यरात्रि में, किसी नाटक के पटाक्षेप की भांति उसके मस्तिष्क पर दूसरी धुन सवार होती। लाल-लाल आंखें तरेर कर वह मूल राज को घूरता, डांट पर डांट और फटकार पर फटकार की वर्षा करता एवं उसे हाथ पकड़ कर सिंहासन से उतार, उस विशाल समारोह कक्ष से बाहर कर देता और अति कर्कश स्वर में समारोह का विसर्जन कर सुरापान से निश्चेष्ट निस्संज्ञ हो, कहीं भी लुढ़क जाता।

यह सामन्तसिंह का प्रतिरात्रि का सुनिश्चित एवं नियत कार्यक्रम था। मूलराज के किसी विजय अभियान से लौटने पर तो इस प्रकार के समारोह की शोभा वस्तुतः पराकाष्ठा पर पहुंच जाती थी। इधर मूलराज मन ही मन प्रपीड़ित था, प्रतिरात्रि में अपने मातुल द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के हास्यास्पद एवं अपमानजनक व्यवहार से। उधर मन्त्रीगण, सेनानी, सैनिक और प्रजाजन सभी मूलराज के शौर्यशाली साहसिक विजय अभियानों से पूर्णरूपेण प्रभावित थे।

इसका एक बहुत बड़ा कारण था। दो तीन पीढ़ी से चापोत्कट राजवंश के राजसिंहासन पर आसीन होते आये राजाओं ने सुरापान के वशीभूत हो पाटण के प्रभुत्व को उत्तरोत्तर क्षीण करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने अपने महाप्रतापी पूर्वज वनराज चावड़ा द्वारा संस्थापित विशाल गुर्जरात्र राज्य की चारों दिशाओं में दूर-दूर तक प्रसृत सीमाओं को अपनी सुरा-सुन्दरी में निरत रहने की प्रवृत्तियों के कारण क्रमशः संकुचित, सीमित करते करते प्रतापी चावड़ा साम्राज्य को एक साधारण राजशक्ति की स्थिति में ला रख दिया था। इन उत्तरवर्ती चापोत्कट राजाओं की विलासप्रियता एवं अकर्मण्यता के परिणामस्वरूप पाटण के प्रभुत्व को एवं पाटण राज्य की प्रतिष्ठा को भी बड़ा धक्का लगा था।

प्रतिदिन मूलराज के प्रति किये जा रहे इस प्रकार के अद्भुत् मानापमान का बड़ा उपहास किया जाता था।[1]

अन्ततोगत्वा मूलराज के श्रद्धालु शुभचिन्तकों ने और मूलराज ने इस प्रकार की हास्यास्पद एवं अपमानजनक स्थिति का सदा के लिये अन्त करने का अति निगूढ़ निश्चय किया।

सदा की भांति सुरापान से उन्मत्त अणहिल्लपुरपट्टनाधिपति सामन्तसिंह ने आषाढ़शुक्ला पूर्णिमा की दुग्धधवला शुभ्र रात्रि में मूलराज को अपने सिंहासन पर बड़े समारोह के साथ अभिषिक्त किया। उसने स्वयं "अणहिल्लपुरपट्टनाधिपति मूलराज की जय हो" के जयघोष किये। कुछ समय तक वह दोनों हाथ जोड़े मूलराज के समक्ष एक आज्ञाकारी सामन्त के समान खड़ा रहा। इस प्रकार सामन्तसिंह ने उन्मत्तावस्था में अपनी "राजदान" की प्रथम धुन तो पूर्ण कर दी। परन्तु अर्द्धरात्रि में जब सदा की भांति मूलराज का उपहास करने की धुन उसके शिर पर सवार हुई और मूलराज को राजसिंहासन से धक्का दे कर उतारने के लिये ज्यों ही वह आगे बढ़ा कि मूलराज के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लिये हुए सेनानियों एवं सेवकों ने उस विशाल कक्ष में प्रवेश कर सामन्तसिंह को बन्दी बना लिया। पूर्वनियोजित कार्यक्रमानुसार मन्त्रियों, सेनानियों एवं गण्य-मान्य नागरिकों ने मूलराज का विधिवत् रात्रि के द्वितीय प्रहर की अवसान वेला में अणहिल्लपुर पट्टन के राजसिंहासन पर अभिषेक किया। इस प्रकार वनराज चावड़ा द्वारा वि० सं० ८०२ में संस्थापित चापोत्कट राजवंश के अणहिलपुरपट्टन के राज्य पर वि०सं० ९९८ में सोलंकी मूलराज का अधिकार हो गया। यह मूलराज सोलंकी (चालुक्य) राजवंश का संस्थापक हुआ। मूलराज द्वारा अनहिलपुरपत्तन के चापोत्कट राज्य पर अधिकार किये जाने के सम्बन्ध में विधि पक्ष (अंचलगच्छ) के इतिहासविद् विद्वान् आचार्य मेरुतुंग ने अपने ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि में जो विवरण दिया है, वह इस प्रकार है :—

"स इत्थमनुदिनं विडम्ब्यमानो निजपरिकरं सज्जीकृत्य विकलेन मातुलेन स्थापितो राज्ये तं निहत्य सत्यं एव भूपतिर्बभूव। सं० ९९८ वर्षे श्री मूलराजस्य राज्याभिषेको निष्पन्नः।"[2]

मूल पाठ की एक ("एम" संज्ञा वाली) प्रति में एतद्विषयक उल्लेख निम्नलिखित रूप में है :—

---

[1] बालार्क इव तेजोमयत्वात्सर्ववल्लभतया पराक्रमेण मातुलमहिपालं प्रवर्द्धमान—साम्राज्यं कुर्वन मदमत्तेन श्री सामंतसिंहेन साम्राज्येऽभिषिच्यते त्वमत्तेनोत्थाप्यते च तदादि चापोत्कटानां दानमुपहासप्रसिद्धं। —प्रबंध चिंतामणि, पृष्ठ २३

[2] प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० २४

"सं० ९९३ वर्षे आषाढ़सुदि १५ गुरौ, अश्विनी नक्षत्रे सिंहलग्ने रात्रिप्रहर-द्वयसमये जन्मत एकविंशतितमे वर्षे श्रीमूलराजस्याभिषेकः समजनि।"[1]

"मूलराज ने अपने मामा सामन्तसिंह को मार कर अणहिलपुरपत्तन के राज्य पर अधिकार किया।" इस प्रकार का उल्लेख केवल आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने प्रबन्ध चिंतामणि नामक ग्रन्थ में किया है। उदयप्रभ सूरि ने अपने 'सुकृत-कीर्तिकल्लोलिनी' नामक ग्रन्थ में और अरिसिंह ने अपने 'सुकृतसंकीर्तन' नामक ग्रंथ में यह तो लिखा है कि मूलराज सामन्तसिंह का भागिनेय था किन्तु मूलराज अन-हिलपुरपत्तन राज्य का स्वामी किस प्रकार बना, इस विषय में उन्होंने किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है। यशपाल ने अपने 'मोहराजपराजय' नामक नाटक में अनहिलपुरपत्तन के चापोत्कट राजवंश के उत्तरवर्त्ती राजाओं को सुरापान के लिये कुख्यात बताया है।

इतिहास के पाश्चात्य विद्वान् बूह्लर ने एतद्विषयक 'प्रबन्धचिंतामणि' में मेरुतुंगसूरि द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण को अविश्वसनीय बताते हुए लिखा है—"सामंतसिंह का राज्यकाल केवल ७ वर्ष का रहा। उस दशा में सामंतसिंह द्वारा अपनी बहिन का राजी के साथ विवाह करना और उससे उत्पन्न हुए ६ वर्ष के बालक द्वारा सामंतसिंह का वध करवाकर राजसिंहासन पर बैठना, यह किसी प्रकार बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में मूलराज ने विश्वासघात से नहीं अपितु अपने पौरुष से चालुक्यराज पर अधिकार किया।[2]

मूलराज द्वारा सामंतसिंह के राज्य का संवर्द्धन किये जाने और अन्ततो-गत्वा सामंतसिंह को मार कर पाटण के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिये जाने विषयक मेरुतुंग के उल्लेख का सामञ्जस्य बिठाने के लिये इस अनुमान का आश्रय लिया जा सकता है कि राजी के साथ चालुक्य राजकुमारी के विवाह की घटना संभवतः सामंतसिंह के यौवराज्यकाल की हो।

इतिहास विशेषज्ञ बूह्लर के उपर्युल्लिखित आनुमानिक अभिमत की पुष्टि निम्नलिखित पुरातात्विक प्रमाणों से होती है :—

(१) वड़नगर प्रशस्ति में उल्लेख है कि मूलराज ने [illegible] देकर कर-भार को बहुत हल्का बना अपनी प्रजा का [illegible] स्नेह प्राप्त किया। उसने चापोत्कट वंश के [illegible] सुखसम्पत्ति और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बनाया, [illegible] में वन्दी बना लिया था।

---

[1] प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० २४

[2] चालुक्याज ऑफ गुजरात, भारतीय विद्याभवन, बम्बई [illegible]

(२) सोमेश्वर ने अपनी रचना कीर्तिकौमुदी और दमोई के प्रशस्ति-लेख में लिखा है :—एक यशस्वी विजेता के सभी गुणों से समलंकृत मूलराज ने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और गुजरात के राजाओं की संरक्षिका राज्यलक्ष्मी स्वेच्छा से मूलराज की नववधु बन गई।

(३) सोमेश्वर ने अपनी कृति 'सुरथोत्सव' में लिखा है—मूलराज ने सोला नामक कर्मकाण्डी धर्मिष्ठ विद्वान् को अपना राजपुरोहित बनाया ?[१]

इन सब पुरातात्विक प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि मूलराज ने अपने भुजबल से वलात् अणहिलपुरपत्तन के राजसिंहासन पर अधिकार किया।

वड़नगर की प्रशस्ति में उल्लिखित—उसने चापोत्कट राजवंश के राजकुमारों के (सुन्दर) भाग्य का निर्माण किया, जिन्हें कि उसने पहले बन्दी बना लिया था, इस वाक्य से यह आभास होता है कि मूलराज ने अणहिलपुरपत्तन के राजसिंहासन पर अधिकार करते समय चापोत्कट वंशीय राजकुमारों की भांति चापोत्कट (चावड़ा) राजवंश के अन्तिम राजा सामन्तसिंह (अपने मामा) को भी बन्दी बना लिया हो, अथवा उसका वध कर दिया हो।

सोलंकियों के मान्य कवि हेमचन्द्राचार्य और सोमेश्वर ने अपनी कृतियों में मूलराज की भूरि-भूरि प्रशंसा की है किन्तु इस विषय पर एक शब्द तक नहीं लिखा है कि मूलराज ने पाटण पर अपना प्रभुत्व किस प्रकार स्थापित कियां। मूलराज ने राजसिंहासन पर आसीन होते ही कर-भार को वड़ी मात्रा में हल्का कर अपनी प्रजा का स्नेह प्राप्त करने का प्रयास किया, इससे भी यही अनुमान किया जाता है कि उसने (मूलराज ने) सम्भवत: अपने मामा को वन्दी वना लिया हो अथवा उसका वध कर दिया हो और प्रजा को अपने पक्ष में करने के लिये उसने करों में भारी कमी की हो।

इन सव तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह तो स्पष्टत: सिद्ध हो जाता है कि मूलराज को चापोत्कट राजा ने स्वेच्छा से अथवा शान्तिपूर्वक अपना राज्य नहीं दिया था, अपितु मूलराज ने अपने भुजवल अथवा वुद्धिवल से उस पर वलात् अधिकार किया था।

जिस समय मूलराज अणहिलपुरपत्तन के राजसिंहासन पर बैठा, उस समय चावड़ा राज्य केवल सारस्वत मण्डल तक ही सीमित था, जिसमें कि मेहसाना, राधनपुर और पालनपुर के क्षेत्र ही थे। डेहगाम ताल्लुका उस राज्य की सीमा में

[१] चालुक्याज आफ गुजरात, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृष्ठ २८

सम्मिलित नहीं था। किन्तु मूलराज ने प्रबन्ध-चिन्तामणि के उल्लेखानुसार राज-सिंहासन पर बैठने से पूर्व ही और अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणों के अनुसार राज-सिंहासन पर आसीन होते ही पाटण राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया।

मूलराज के सिंहासन पर आरूढ़ होते ही शाकम्भरी सपादलक्ष के राजा विग्रहराज ने एक बड़ी सेना ले मूलराज पर आक्रमण किया। उसी समय लाट राज्य के शक्तिशाली पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा बरपा (गोगिराज का पिता) ने भी पाटण राज्य पर आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराजरासो के उल्लेखानुसार मूलराज ने अपने मन्त्रियों के परामर्श पर कन्थादुर्ग में आश्रय लिया। मेरुतुंग के अनुसार मन्त्रियों ने मूलराज से कहा कि शाकम्भरी नरेश आश्विन के नवरात्रों के प्रसंग पर अपनी आराध्या देवी की उपासना के लिये शाकम्भरी लौट जायगा। उसके लौट जाने पर दुर्ग से निकल कर लाटराज बरपा पर आक्रमण किया जाय।

शाकम्भरीराज विग्रहराज को किसी प्रकार इस बात की सूचना मिल गई और उसने अपनी आराध्या देवी की मूर्ति को शाकम्भरी से मंगवा कर अपने सैन्य-शिविर में ही शाकम्भरी की रचना कर वहां अपनी आराध्या देवी की उपासना करने का निश्चय कर लिया।

मूलराज को विदित हुआ कि विग्रहराज शाकम्भरी नहीं लौटेगा तो उसने अपने चार हजार सैनिकों को आज्ञा दी कि वे रात्रि के समय प्रच्छन्न रूप से विग्रह-राज के सैन्यशिविर के चारों ओर कुछ दूरी पर सतर्क रहें। अपने चुने हुए सैनिकों को इस प्रकार का आदेश दे मूलराज एक सौ कोस के पल्ले की अर्थात् बिना विश्राम के दौड़ते हुए सौ कोस की दूरी पर जाकर पुनः अपने लक्ष्यस्थल पर पहुंच जाने की अद्भुत क्षमता वाली सांडनी (ऊंटनी) पर आरूढ़ हो मूलराज एकाकी ही शत्रु के सैन्यशिविर में प्रविष्ट हो विग्रहराज के सम्मुख जा धमका। उसने विग्रहराज से कहा—"मैं मूलराज हूं, तुम्हें यह कहने आया हूं कि जब तक मैं लाट के राजा को परास्त न कर दूं तब तक तुम मेरे राज्य की राजधानी की ओर आंख तक न उठाना। यह बात तुम्हें स्वीकार हो तो ठीक अन्यथा मेरी सेना तुम्हारे शिविर को चारों ओर से घेरे खड़ी हुई मेरे इंगित की प्रतीक्षा कर रही है।"

विग्रहराज ने आश्चर्य भरे स्वर में कहा—"तुम मूलराज हो। मैं तुम्हारे अद्भुत साहस और अलौकिक शौर्य पर मुग्ध हूं कि एक राज्य के स्वामी होकर भी तुम सामान्य सैनिक की भांति शत्रु के सैन्यशिविर में एकाकी ही प्रविष्ट हो गये हो। तुम्हारे इस शौर्य ने मुझे ऐसा प्रभावित किया है कि मैं जीवनभर तुम्हारे जैसे शूर-वीर से मैत्री रखने का आकांक्षी हो गया हूं। आओ हम दोनों साथ बैठकर भोजन करें।"

सवार हुआ । अपनी सेना के साथ लाटराज बरपा के सैन्य शिविर की ओर वातूल वेग से बढ़ते हुए मूलराज ने उस पर भीषण आक्रमण कर दिया । शत्रु सेना का संहार करते हुए मूलराज लाटराज बरपा की ओर बढ़ा और भाले के एक भरपूर प्रहार से बरपा का प्राणान्त कर उसे धराशायी कर दिया । मूलराज ने लाट राज्य की सेना को पराजित कर उसके १०,००० घोड़ों और हस्तिसेना को लेकर वह पाटण की ओर प्रस्थित हुआ ।

मूलराज की इस विजय के समाचार सुनते ही विग्रहराज अपनी सेना के साथ अपने शाकम्भरी राज्य की ओर लौट गया ।

अपनी सैन्यशक्ति को सुदृढ़ करने के अनन्तर मूलराज ने एक विशाल एवं शक्तिशाली सेना के साथ सौराष्ट्र के राजा ग्राहऋपु (ग्राहारि) पर आक्रमण करने के लिये विजया-दशमी के दिन अनहिलपुरपत्तन से प्रस्थान किया । जब वह जम्बुमाली वन में पहुंचा, उस समय ग्राहऋपु ने मूलराज के पास अपना दूत भेजकर निवेदन किया कि उन दोनों के बीच किसी प्रकार की शत्रुता नहीं है । अतः मूलराज अपनी सेना के साथ अपनी राजधानी को लौट जाय । मूलराज ने ग्राहऋपु को उसके दूत के साथ यह संदेश भिजवाया कि—"ग्राहऋपु बड़ा ही दुराचारी, दुष्ट और पर स्त्रीगामी है । वह तीर्थयात्रियों को लूटता और पवित्र उज्जयन्त पर्वत पर चमरी गाय आदि निरीह पशुओं को मारता है, उसने प्रभास जैसे पवित्र तीर्थस्थान को नष्ट-भ्रष्ट किया है । इस प्रकार के उसके ये सब म्लेच्छाचार इसी कारण हैं कि वह एक म्लेच्छ स्त्री से उत्पन्न हुआ है । ऐसी स्थिति में उसे कभी क्षमा नहीं किया जा सकता ।"

अपने सन्धि प्रस्ताव को मूलराज द्वारा ठुकरा दिये जाने पर ग्राहऋपु ने युद्ध के लिए तैयारियां प्रारम्भ कर दीं । मूलराज ने उस पर आक्रमण किया । दोनों पक्षों की ओर से अनेक राजाओं ने उस युद्ध में भाग लिया । जिस समय दोनों पक्षों के बीच युद्ध निर्णायक स्थिति में चल रहा था, उस समय तुरुष्कराज अपनी टिड्डी दल तुल्य विशाल सेना के साथ ग्राहऋपु की सहायता के लिये रणांगण में आ उपस्थित हुआ । दोनों ओर से बड़ा ही भयंकर संहारक युद्ध हुआ । मूलराज और उसके साथी राजाओं - रेवतमित्र, शैलप्रस्थ, महित्रात, सप्तकाशी नरेश, श्रीमाल के परमार राज, भिल्लराज आदि ने अद्भुत शौर्य और साहस के साथ युद्ध किया । अति भीषण और लम्बे युद्ध में ग्राहऋपु और उसके पक्षधरों की सेनाओं का बहुत बड़ा भाग यमधाम पहुंचा दिया गया और शेष सेना छिन्न-भिन्न हो रणक्षेत्र से पलायन करने लगी । मूलराज ने ग्राहऋपु की ओर सिंह की भांति झपटते हुए उस पर भीषण भल्ल प्रहार कर उसे आहत कर बन्दी बना लिया । मूलराज की अन्तिम रूप से विजय हुई और उसने समस्त सौराष्ट्र मण्डल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया ।

कच्छ प्रदेश के राजा लक्ष ने जो कि अपने समय का बड़ा शक्तिशाली राजा और ग्राहऋपु का अनन्य सखा था, मूलराज से कहा कि वह ग्राहऋपु को अपने बन्दीगृह से मुक्त कर दे परन्तु मूलराज ने उसके प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि ग्राहऋपु दुराचारी, दुष्ट, अत्याचारी होने के साथ-साथ गौमांसभक्षक है, अतः उसे किसी भी दशा में क्षमा नहीं किया जा सकता।

मूलराज द्वारा अपने प्रस्ताव के ठुकरा दिये जाने पर कच्छ के राजा लक्ष ने मूलराज के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। दोनों पक्षों में जमकर लोमहर्षक युद्ध हुआ और अन्ततोगत्वा मूलराज ने भल्ल के एक भीषण प्रहार से लक्ष को निष्प्राण कर भूमिसात कर दिया। रणभूमि में निष्प्राण पड़े लक्ष के मुख पर मूलराज ने पार्ष्णिप्रहार किया। इस पर लक्ष की माता ने मूलराज को श्राप दिया कि उसको और उसके उत्तराधिकारियों को अन्त समय में कुष्ट रोग होगा। इस प्रकार मूलराज ने सौराष्ट्र और कच्छ—इन दोनों ही राज्यों पर अधिकार कर पाटण राज्य के पुरातन प्रभुत्व की पुनः संस्थापना की।

कुछ दिन प्रभास तीर्थ में रहने कर मूलराज ने नवविजित कच्छ और सौराष्ट्र राज्यों के शासन की सुव्यवस्था की और वह अपनी सेना और शत्रुराजाओं की विपुल सम्पदा के साथ अनहिलपुर पाटन लौट आया।

मूलराज के शासनकाल में गुजरात की सर्वतोमुखी प्रगति हुई। उसने राजस्व आदि करों में उल्लेखनीय कमी कर किसानों की आर्थिक स्थिति को समुन्नत किया। मूलराज निष्ठावान् शिवोपासक था और सभी धर्मावलम्बियों के प्रति सम-भाव और समादर रखता था। उसने अनहिलपुरपत्तन में मूलराज—वसहि का निर्माण कर जैन धर्मावलम्बियों के प्रति मधुर व्यवहार प्रदर्शित किया। मूलराज की राजसभा में सोमेश्वर जैसे अपने समय के अप्रतिम कवि थे इससे साहित्य और संस्कृति के प्रति उसके प्रगाढ़ प्रेम का परिचय प्राप्त होता है।

मूलराज ने अपने शासनकाल में अपने सोलंकी राज्य को ऐसी सुदृढ़ नींव पर शक्तिशाली राज्य का स्वरूप प्रदान किया कि पीढ़ियों तक उसके उत्तराधिकारियों को किसी प्रकार की बड़ी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ और वे समय समय पर विदेशी आक्रान्ताओं से आर्यधरा, धर्म और संस्कृति की रक्षा करने में सक्षम रहे।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अमर कृतियों में मूल राज की भूरि भूरि प्रशंसा कर उसकी कीर्ति को चिरस्थायिनी बना दिया है। उदाहरण के रूप में आचार्य हेमचन्द्र का, मूलराज की प्रशंसा में, एक श्लोक यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

हरिरिव बलिबन्धनकरस्त्रिशक्ति युक्त: पिनाकपाणिरिव,
कमलाश्रयश्च विधिरिव, जयति श्री-मूलराज-नृप : ।।

मूलराज ने अपने पुत्र चामुण्डराज को उसका शिक्षण समाप्त होते ही युवराजपद प्रदान कर प्रशासनिक कार्यों में उसे अपने मार्गदर्शन में कुशल बनाया। अन्त में मूलराज चामुण्डराज का राज्याभिषेक कर स्वयं राजकार्यों से पूर्णत: निवृत्त हो गया। अन्त में अपने चरणांगुष्ठ में कुष्ठ रोग के लक्षण देख कर मूलराज को संसार से विरक्ति हो गई। उसने भावसन्यास ग्रहण कर अन्नजल का त्याग कर इंगितमरण का वरण किया। स्वेच्छापूर्वक मूलराज द्वारा सन्यासमरण का वरण किये जाने के सम्बन्ध में आचार्य मेरुतुंग ने अपने ग्रन्थ प्रबन्ध चिन्तामणि में निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है—

"इत्थं तेन राज्ञा पंचपंचाशद्वर्षाणि निष्कण्टकं साम्राज्यं विधाय सन्ध्यो-नीराजनाविधेरनन्तरं राज्ञा प्रसादीकृतं ताम्बूलं वण्ठेन करतलाभ्यामादाय तत्र कृमिदर्शनात्तत्स्वरूपमवगम्य वैराग्यात्संन्यासांगीकारपूर्वं व दक्षिण चरणांगुष्ठे वह्नियोजनापूर्वं गजदानप्रभृतीनि महादानानि ददानोऽष्टभिर्दिनैः।"

उद्धूमकेशं पदलग्नमग्निमेकं विषेहे विनयैकवश्य: ।
प्रतापिनोऽन्यस्य कथैव का यद्बिभेद भानोरपि मण्डलं यः ।।
इत्यादिभि: स्तुतिभि: स्तूयमानो दिवमारुरोह ।
अथ सं० ९९८ पूर्व वर्षाणि ५५ राज्यं मूलराजेन चक्रे ।।[१]

इस प्रकार विशाल अणहिलपुरपट्टन साम्राज्य का संस्थापक महाराजाधिराज मूलराज सोलंकी ५५ वर्ष के अपने सुदीर्घकालीन शासन में गुजरात को सर्वत: समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के पश्चात् वि०सं० १०५३ में परलोकगामी हुआ।

[१] प्रबन्ध चिन्तामणि पृष्ठ २९

उपसंहार

प्रभावक चरित्र के रचनाकार आचार्य प्रभाचन्द्र (वि. सं. १३३४) से लेकर वर्तमान काल तक के प्रायः सभी जैन इतिहास के विद्वान् लेखकों ने आचार्य देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती जैन इतिहास को अन्धकारपूर्ण बताया है।

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक प्रस्तुत ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में आर्य सुधर्मा स्वामी से लेकर आर्य देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गारोहण काल तक के १००० वर्ष के जैन इतिहास के आलेखन के अनन्तर अग्रेतर इतिहास के आलेखन के लिये सामग्री एकत्रित करने के प्रारम्भिक प्रयास में क्रमबद्ध आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो सकने के कारण हमारा भी अनुमान था कि इस ग्रन्थमाला के तीसरे भाग में वीर नि. सं. २००० तक के जैन इतिहास का आलेखन सम्पन्न किया जा सकेगा।

किन्तु दक्षिण के अनेक ग्रन्थागारों, मुख्यतः मद्रास, धारवाड़, मूडबिद्री और मैसूर के सुविशाल ग्रन्थागारों में शोधकार्य प्रारम्भ करने के परिणामस्वरूप हमें जैन इतिहास की इतनी विपुल सामग्री उपलब्ध हो गई कि प्रस्तुत किये जा रहे "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३" में हम देवर्द्धि क्षमाश्रमरण के उत्तरवर्ती काल का पूरे ५०० वर्ष का इतिहास भी नहीं दे पाये कि यह ग्रन्थ बृहदाकार धारण कर गया। इस कारण लोंकाशाह तक का जैन इतिहास तीसरे भाग में समाविष्ट कर देने के अपने पूर्व संकल्प के उपरान्त भी हमें तृतीय भाग के आलेखन-सूत्र को यहीं समाप्त करना पड़ रहा है।

इससे आगे का, वीर नि. सं. १४७५ से २००० तक का, जैन इतिहास इस ग्रन्थ माला के आगे के चौथे भाग में समाविष्ट करने का प्रयास किया जायगा।

श्रमण भगवान महावीर के विभिन्न इकाइयों में विभक्त सभी धर्मसंघों के धर्माचार्यों, श्रमणों, उपासकों, अनुयायियों एवं प्रशंसकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को मनोयोगपूर्वक आद्योपान्त पढ़ें और निष्पक्ष भाव से [illegible] मन से सत्य का साक्षात्कार करें।

विशेष पर आक्षेप रूपी या किसी के भी हृदय को दुखाने वाले शब्दों अथवा भाषा का प्रयोग कहीं भी नहीं आने पावे ।

फिर भी सत्य का उद्घाटन एवं प्रतिपादन करते हुए कहीं कोई अप्रिय या कटु बात लिखने में आई हो और उससे किसी के मन पर चोट लगी हो तो हम अपने अन्तःकरण से उसके लिये खेद प्रकट करते हुए जिनेश्वरदेव की साक्षी से क्षमा याचना करते हैं ।

आशा है तत्व जिज्ञासु एवं इतिहास रसिक पाठक वृन्द गुणग्राही होकर शब्दों के कलेवर को न पकड़ते हुए केवल भावों की ओर अपना ध्यान रक्खेंगे एवं आलोचना करते समय भी सत्यान्वेषी तटस्थ दृष्टि से वे सब विषय वस्तु को देखेंगे। शिष्टाचार एवं भद्र व्यवहार को नहीं भूलेंगे ।

हां, तमसावृत्त समझे जाने वाले इस कालावधि के इतिहास को अन्धेरे से उजाले में लाने जैसे इस कठोर बौद्धिक श्रम साध्य कार्य में स्खलनाओं का होना सहज सम्भाव्य है । ऐसी स्थिति में जहां कहीं कोई ऐसी स्खलना पाठकगण के दृष्टिगोचर हो तो उससे हमें मैत्री भाव से अवगत कराने का कष्ट वे अवश्य करेंगे, ऐसी आशा है, ताकि आगे उस पर विचार किया जा सके ।

गच्छतः स्खलनं भूमौ, भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ।।

सुज्ञेष किं बहुना ।

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रमणिका

(क) तीर्थङ्कर, आचार्य, राजा, श्रावक आदि

ख

ब

भ

ल

(ख) मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

(ग) ग्राम, नगर, प्रांत, स्थानादि

(घ) सूत्र, ग्रंथादि

त

द

२. सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

अजित तीर्थंकर पुराणतिलकम्—महाकवि रन्न (ई. ९९३)

अभिधान राजेन्द्र भाग १–७

आगम अष्टोत्तरी, अभयदेव सूरि

आचारांग सूत्र, आत्मारामजी म.

आदिपुराण—अजितसेन

आवश्यक चूर्णि—जिनदासगणि क्षमा श्रमण

आवश्यक निर्युक्ति—भद्रबाहु द्वितीय (ईसा की ५वीं छठी शती)

इण्डियन एन्टीक्वेरी

इम्पोर्टेन्ट इन्सक्रिप्शन्स फोर दी बड़ौदा स्टेट वोल्यूम १

उत्तर पुराण—भट्टारक गुण भद्र

उत्तराध्ययन-सूत्र

,, -निर्युक्ति-

,, -टीका

उपदेश माला—धर्मदास गणि महत्तर

उपमिति भव प्रपंच कथा—सिद्धर्षि

उवासग दसाओ—अभय देवीया वृत्ति

ऋषि मण्डल स्तोत्र—धर्मघोष (वि. सं. ११६२)

एन्यूअल रिपोर्ट ओन साऊथ इण्डियन एपिग्राफी—१९१६

एपिग्राफिका इण्डिका—सभी वोल्यूम

एपिग्राफिका कर्णाटिका—सभी वोल्यूम

एपिग्राफिका जैनिका

एपिग्राफिका रिपोर्ट्स, मद्रास, वोल्यूम्स १–५

एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—हेस्टिंग्स

एहोल का अभिलेख

कठोपनिषद

कथाकोष आ. हरिषेण (वि. सं. ९८८)

कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल का हाथीगुम्फा शिलालेख
(वीर नि. सं. ३५९)

कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह—डा. ए. एन. उपाध्ये

कुवलय माला—उद्योतन सूरि

केवलि भुक्ति—शाकटायन

खरतर गच्छ वृहद्गुर्वावलि, जिन विजय मुनि सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन, वम्बई

गौड़वहोप्रबन्ध—वाक्पतिराज

गच्छाचार पइण्णय—दोघट्टीवृत्ति

गद्यचिन्तामणि

चालूक्याज ऑफ गुजरात, अशोक कुमार मजूमदार, भारतीय विद्याभवन बोम्बे (१९५६)

जयधवला (कषाय पाहुड की टीका)

जरनल ऑफ दी बोम्बे ब्रांच आफ दी रोयल एसियाटिक सोसायटी (अनेक वोल्यूम)

जे. बी. आर. ए. एस. वोल्यूम १०

जैन इतिहास, जैनधर्म विद्याप्रसार केन्द्र पालीताणा

जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, फतेचन्द वेलानी (१९५०) जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग—२, परमानन्द शास्त्री, प्रकाशक—मै. रमेशचन्द जैन मोटरवाले, राजपुर रोड, दिल्ली (वीर नि. सं. २५००)

जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १, २—आ. हस्तीमलजी महाराज सा., इतिहास समिति जयपुर

जैन संहार चरितम्—ओरियन्टल ओल्ड मेन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी

जैनाचार्य—दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

जैनाचार्य परम्परा महिमा—आ. चारुकीर्ति (हस्तलिखित) ओरियन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास यूनिवर्सिटी—मैकेन्जि कलेक्शन्स, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभण्डार जयपुर में इसकी प्रतिलिपि है

जैनाचार्य—न्याय विजयमुनि, मं. ए. एम. एण्ड क. पालीताणा काठियावाड़

जैनिज्म इन अर्ली मिडिएवल कर्णाटिका, रामभूषण, प्रसादसिंह मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली

जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स–पी. बी. देसाई, जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर (१९५७)

जैन परम्परा नो इतिहास भाग १ और २–दर्शन-ज्ञान-न्याय विजय त्रिपुटी महाराज, श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थ माला, मांडवी नो पोल, अहमदाबाद

जैन शिलालेख संग्रह भाग १–३, माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला समिति, हीराबाग, बम्बई ४

जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३ पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ५

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग १-३—जिनेन्द्रवर्णी

ज्ञाताधर्म-कथांग सूत्र—वृत्ति—शीलांकाचार्य

ज्वालामालिनिकल्प—इन्द्र नन्दी

तत्वार्थवार्तिक सभाष्य—आ. अकलंक

नित्थोगाली पइन्नय—पं. कल्याण विजयजी, गजसिंह राठोड़, श्री कल्याण विजय शास्त्र समिति, जालौर, सन् १९७५

तिलक मंजरी—धनपाल

तेवारम्—

दक्षिण भारत का इतिहास, डा. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, कदम कुआं, पटना ३

दर्शनसार–आ. देवसेन

दशवैकालिक सूत्र

दि क्लासिकल एज, भारतीय विद्याभवन, बोम्बे

दि जैन पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन, श्री पद्मनाभ एन. जैनी

दि फोरगोटन हिस्ट्री ऑफ दि लेण्ड्स एण्ड–एस. पद्मनाभन

दुस्समासमणसंघ–थयं सावचूरि—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरम गांव से प्रकाशित पट्टावली समुच्चय : प्रथम भाग से [illegible]

धवला—षट्खण्डागम टीका

नन्दिसूत्र

निशीथ

निशीथचूर्णि

निशीथ-भाष्य

पउम चरियं—विमलसूरि

पट्टावली पराग संग्रह, पं. कल्याण विजयजी शास्त्र संग्रह समिति जालोर (राज०)

पट्टावली समुच्चय प्रथमोभागः मुनिदर्शन विजय, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला वीरम गांव (गुजरात वि. स. १९८९)

पाइय लच्छीनाम माला धनपाल

पाइय सद्द-महण्णवो

पार्श्वनाथ चरित्र

पार्श्वाभ्युदय काव्य—जिनसैन (पंचस्तूपान्वयी)

पेंगियरहस्य

पेरियपुराण

प्रबन्धकोष—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, विश्वम्भरजी शान्ति निकेतन

प्रबन्ध चिन्तामणि

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्य, फोर्बस गुजराती सभा, महाराज मेंशन्स, सेन्धुर्स्ट रोड बोम्बे, नं. ४ (वि. स. १९८८)

प्रभावक चरित्र,—आ. प्रभाचन्द्रसूरि, सं. जिन विजय सिंघी जैन ज्ञान पीठ, अहमदाबाद, कलकत्ता वि. सं. १९९७

प्रश्न व्याकरण सूत्र

प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

फ्लीकोरपस इन्स्क्रिप्शनम् जुडिकेरम्

बुद्धिज्म—सर विलियम मोन्योर

भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र)

भट्टारक सम्प्रदाय, वी. पी. जोहरापुरकर, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर (१९५८)

भाण्डारकर की सूची संख्या २१०५

भद्रबाहु चरित्र—आ. रत्ननंदी (वि. सं. १९२५)

भाव संग्रह—आ. देवसेन (विमलसेन के शिष्य)

मन्जूश्री मूलकल्प

महानिसीह सुत्तं (रोमन लिपि में) Jozef Deleu and Walther Sehubring, Hamburg, Craw, De Gruyter & Co. 1963

महापुराण (अपभ्रंश) पुष्पदन्त

मीडिएवल जैनिज्म, वी. ए. सेलेटोर, कर्णाटक पब्लिशिंग हाउस, बोम्बे २

मूलाराधना अपर नाम भगवती आराधना–शिवार्य (यापनीय)

मूलाराधना—विजयोदया टीका—अपराजित (यापनीय)

मेन्युअल ऑफ पुदु कोट्टाइ स्टेट वोल्यूम २

मैसूर आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट ई. १९२३

मैसूर आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट, फोर १९३२

मैसूर गवर्नमेन्ट रिपोर्ट ई. १९२०

रत्नमाला—आ. शिवकोटि

राइस मैसूर एण्ड कुर्ग—बी. एल. राइस

राजतरंगिणी—कल्हण

राजपूताना का इतिहास जिल्द १

ललित विस्तरा–आ. हरिभद्रसूरि

लोकप्रकाश, उपाध्याय विनय विजय (वि. सं. १७०८)

लोक विभाग (संस्कृत)—सिंह सूर्रषि

वड्ढाराहणे (कन्नड़)—आ. शिवकोटि

वसुदेव हिंडी– संघदास गणि (जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण से पूर्ववर्ती)

विचारश्रेणि—आ. मेरुतुंग

विशेषावश्यक भाष्य– जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण (वीर नि० सं० १०५५–१११५)

विशेषावश्यक भाष्य—स्वोपज्ञ वृत्ति

वीरवंश पट्टावली—विधि पक्ष पट्टावली, भावसागर सूरि, वि० सं० १५१६)

बृहत्कथा कोष—भट्टारक हरिषेण (वि. सं. ९८८)

बृहत् पौषधशालिक पट्टावली

शंकर दिग्विजय—नवकालिदास-माधव

शब्दानुशासन-स्वोपज्ञ अमोघ वृत्ति-शकटायन ई. सन् (८१४-८७५)
श्रीमन् महावीर पट्टधर परम्परा—श्री देव विमल गणि
श्री शंकर—वलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडमी उ. प्र. इलाहाबाद (सन् १९५०)
श्री शंकराचार्य—वलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ. प्र. इलाहाबाद (१९५९)
षट्खण्डागम
षड्दर्शन समुच्चय—राजशेखर
षट् प्राभृत (श्रुतसागर सूरीया टीका)
संघ पट्टक (सटीक) श्री जिनवल्लभ सूरि—प्र. जेठालाल दलसुख, अहमदाबाद, सन् १९०७
संवोध प्रकरण
सक्सेसर ऑफ सातवाहनाज—दि. च. सरकार
सन्देह दोलावलि—जिनदत्त सूरि
सम कन्ट्रीव्यूशन्स आफ साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर—कृष्णस्वामी अय्यंगर
समय प्राभृत, सन् 1914, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला
स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिजम—एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर एण्ड वी. शेषगिरि राव
स्त्रीमुक्ति—शाकटायन
स्याद्वाद मंजरी—हेमचन्द्राचार्य
साईनो इण्डियन स्टडीज—डा. पी. सी. बागची
साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, वोल्यूम ५
सूत्र कृतांग
सूत्र कृतांग टीका—शीलांकाचार्य
सोरब का शिलालेख वि. सं. ५२६
हरिवंशपुराण—आ. जिनसेन (पुन्नाट संघ वि. सं. ८४०)
हर्षचरित्र—बाणभट्ट
हिमवन्त स्थविरावली
हिस्ट्री एण्ड कल्चर ग्राफ दी इण्डियन पीपुल भारतीय विद्याभवन बम्बई
हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन्स ग्रॉफ सदर्न इण्डिया रोबर्ट सेवल

३. इतिहास ग्रन्थमाला पर प्राप्त सम्मतियां

महाराष्ट्र मंत्री एवं प्रवर्तक श्री विनय ऋषिजी म. सा.

ग्रन्थ क्या है, मानो साहित्यिक विशेषताओं से संपृक्त एक महनीय कृति है, जो भारती भण्डार में, विशेषत: जैन साहित्य में श्री वृद्धि के साथ-साथ एक मानी आवश्यकता की संपूर्ति करती है।

यह ग्रंथ इतिहास पुरातत्त्व और शोधनकार्य के साथ ही साथ [illegible] विद्वज्जनों एवं साधारण पाठकों की ज्ञान-पिपासा को एक साथ पूर्ण करता है। ····यह नवोदित सर्वोत्तम ग्रंथरत्न है।

आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषिजी म. सा.

बहुत वर्षों की साधना और तपश्चर्या के पश्चात् श्री उपाध्यायजी की कृति समाज के सामने आई है। इतनी लगन के साथ इतना परिश्रम आज तक शायद ही अन्य किसी लेखक ने किया होगा।

भावी पीढ़ी के लिये उनकी यह अपूर्व देन सिद्ध होगी।

सम्यग्दर्शन (सैलाना) २० मार्च १९७२

समीक्षक : श्री उमेश मुनि 'अणु'

कुछ भ्रांतियों (मांसाहार, पासत्थ, श्रेणिक और कूणिक के धर्म आदि से सम्बन्धित) का निरसन भी किया गया है। भ० महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध के निर्वाण काल को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है।

पूज्य श्री की सैद्धान्तिक दृष्टि इस लेखन में बराबर स्थिर रही है। भाषा प्रवाहपूर्ण और सरस है। कथा रस-प्रेमी और इतिहास-प्रेमी दोनों की रुचि को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य है—इस ग्रंथ में। इतनी विशाल पृष्ठभूमि पर तीर्थंकरों के विषय में एक ही ग्रन्थ में प्रमाण पुरस्सर आलेखन का मेरी दृष्टि में यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। ऐतिहासिक अन्वेषकों के लिए, यह ग्रन्थ बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

इसमें पहली बार गवेषणात्मक ढंग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया गया है। इसी क्रम में जैनेतर स्रोतों का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखते हुए तथ्यों की अतिरंजता से बचा गया है। संक्षेप में कहें तो ग्रन्थ में इतिहास के परिप्रेक्ष्य में तीर्थंकरों के बारे में उपलब्ध तथ्यों, साक्ष्यों आदि का समावेश करते हुए एकांगी दृष्टिकोण न अपना कर सही मूल्यांकन करने में सफलता प्राप्त की है।

तथ्यों के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है, जो लोक भाषा की समन्वित छटा साधारण पाठकों को भी सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़ने के लिये आकर्षित करती है। हमें विश्वास है कि इतिहास के विद्यार्थी की तरह ही साधारण पाठकों द्वारा भी ग्रन्थ का पठन-पाठन किया जायेगा।

मुद्रण निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है।

मधुकर मुनिजी

....इतिहास का आलेखन वस्तुतः सरल नहीं माना जाता। इसके आलेखन में प्रमुख आवश्यकता होती है तटस्थता की और सजग रहने की।

अनेक पुरातन व नव्य भव्य ग्रंथों का अध्ययन-अवलोकन करके आचार्य श्री जी ने जो यह ग्रंथ तैयार किया है, उसमें वे काफी सफल हुए हैं, ऐसा मेरा अभिमत है।

परम विदुषी महासती जी श्री उज्ज्वलकुमारी जी महाराज सा.....

डॉ० रघुवीरसिंह, एम. ए. डी. लिट्. **सीतामऊ (मध्यप्रदेश)**

२६ जनवरी, ७२ का पत्रांश

अब तक जैन धर्म का प्रामाणिक पूरा इतिहास कहीं भी और विशेष कर हिन्दी में तो अवश्य ही देखने को नहीं मिला था, अतएव इस ग्रंथ के प्रकाशन से वह बहुत बड़ी कमी कई अंशों में पूरी होने जा रही है। अतः इस ग्रंथ के प्रकाशन का मैं हृदय से स्वागत करता हूं। हर्मन जेकोबी आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अवश्य ही जैन धर्म के इतिहास की ओर कुछ ध्यान दिया था, तथापि उधर प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक संशोधकों और इतिहासकारों ने जैन धर्म के इतिहास तथा तत्सम्बन्धी आधार-सामग्री की प्रायः उपेक्षा ही की है। जैन धर्म के इतिहास की आधार सामग्री अधिकतर अर्ध मागधी आदि प्राच्य भाषाओं में प्राप्य है एवं उनका सम्यक् ज्ञान और अध्ययन नहीं होने के कारण भी इतिहासकारों ने उस सामग्री में प्रायः जानकारी की ओर ध्यान नहीं दिया था, तथापि जो कुछ ज्ञात हो सका है उससे यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन काल में तो अवश्य ही जैन धर्मावलम्बियों की भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, अतएव प्राचीन भारतीय इतिहास के उस पहलू का पूरा-पूरा अध्ययन किये बिना तत्सम्बन्धी सही परिप्रेक्ष्य की जानकारी नहीं हो सकेगी। मेरा विश्वास है कि उस दृष्टि से भी जैन धर्म का यह मौलिक इतिहास विशेष रूप से उपयोगी और सहायक होगा।

.......पूर्व ऐतिहासिक काल के विवरण को जैन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत कर उस काल पर आगे शोध करने वालों को तत्सम्बन्धी अधिक जानकारी और अध्ययन में बहुत बड़ी सहायता दी गई है। प्रारम्भिक तीर्थंकरों के काल आदि की समस्या अवश्य उठती है। तत्सम्बन्धी जैन परम्पराओं का अब तक अध्ययन और विश्लेषण नहीं हुआ, क्योंकि सुनिश्चित रूप में सुबोध ढंग से वह इतिहासकारों को सुलभ नहीं थी। अतः अब इस मौलिक इतिहास में प्रस्तुत विवरण के आधार पर वह भी भविष्य में सम्भव हो सकेगा।

जैन धर्म के तत्त्वों आदि की भी सरल सुबोध ढंग से व्याख्या की गई है। यों इस ग्रन्थ को बहुविध जानकारी से परिपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। जैन धर्म ही नहीं भारतीय संस्कृति और पुरातन परम्पराओं [illegible] की जानकारी के इच्छुकों के लिये यह ग्रन्थ [illegible] उपयोगी [illegible]। अतः यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि हिन्दी साहित्य [illegible] उपलब्धि के रूप में इस ग्रंथ को विशेष स्थान प्राप्त होगा।

पं. हीरालाल शास्त्री ([illegible] ब्यावर)

मे एन

उसके लिये इसके लेखक-निर्देशक आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज एवं सम्पादक मण्डल का जैन समाज सदा ऋणी रहेगा। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले शलाका पुरुषों एवं अन्य प्रसिद्ध पुरुषों का चरित-चित्रण करके संक्षेप में अनेक ग्रंथों के सार का दोहन कर लिया गया है। आज के समय में ऐसे ही जैन इतिहास के ग्रन्थ की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही थी, उसकी पूर्ति करके इतिहास समिति ने एक बड़ी कमी की पूर्ति की है, ग्रन्थ की छपाई-सफाई आदि बहुत उत्तम है, इसके लिए आप सर्व धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा

पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। काफी श्रम से तैयार की गई है। इससे कुछ नये तथ्य भी सामने आये हैं। दिगम्बर श्वेताम्बर तुलनात्मक कोष्टक उपयोगी है। ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी।

श्री श्रीचन्द जैन, एम. ए., एल-एल. बी.
प्राचार्य एवं उपाध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सान्दीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उज्जैन (म. प्र.)

·······वस्तुतः इतिहास लिखना तलवार की धार पर तीव्रगति से चलना है। इस कठिन साधना में सफलता उसी विद्वान को प्राप्त होती है, जिसके मानस में सत्योपलब्धि की ललक अग्नि-ज्वाला के समान प्रज्वलित रहती है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. ने जिस सुनिश्चित एवं व्यापक दृष्टिकोण को अपना कर जैन धर्म का मौलिक इतिहास लिखा है, वह उनकी सतत साधना का एक अविनश्वर कीर्तिस्तम्भ है। इसमें उनके विस्तृत अध्ययन, निष्पक्ष चिन्तन, अकाट्य तर्कशीलता एवं अन्तर्मुखी आत्मानुभूति की निष्कलंक छवि प्रस्फुटित हुई है। जिस प्रकार व्यग्र तूफानों की कसमसाहट में नाविक का चातुर्य परीक्षित होता है, उसी प्रकार सहस्राधिक विरोधी प्रमाणों की पृष्ठभूमि में एक मानवतावादी, दार्शनिक और ऐतिहासिक सत्य की स्थापना करना इतिहासकार की विवेकशीलता का द्योतक है। पूज्य हस्तीमलजी महाराज की लेखनी में यह वैशिष्ट्य सर्वत्र विद्यमान है। विद्वानों की यह एक मान्यता सी है कि इतिहास में पर्याप्त शुष्कता होती है। फलतः पाठक उसके अनुशीलन से घबड़ाते हैं। लेकिन पूज्य आचार्य की शैली पूर्णरूपेण सरल है, भाषा प्राञ्जल है। ग्रन्थ में सर्वत्र भाषा शैली की सुघड़ता उल्लेख्य है। भावों को व्यवस्थित रूप में प्रकट करने वाली प्रवाहपूर्ण ऐसी भाषा बहुत कम विद्वानों के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।·······

समालोच्य रचना एक ऐसे अभाव की पूर्ति करती है, जो सैकड़ों वर्षों से जैनमनीषियों को खटक रहा था लेकिन आस्था-विश्वास की कमी के कारण कोई

निष्ठावान् इतिहास का विद्वान् आगे बढ़ने का साहस नहीं कर पा रहा था। इस ग्रन्थ में मौलिकता का प्राधान्य है। साहित्यसाधना के लिए समर्पित सन्त ही ऐसे महान् कार्य कर सकते हैं।

परिस्थितियों का चित्रण इस रचना की एक विशेषता है। इस इतिहास में ऐसे कई तथ्य प्रकाश में आए हैं जो ऐतिहासिक पीठिका को बलवती बनाते हैं जिससे प्रसिद्ध इतिहासकारों को भी अपनी मान्यताओं को परिवर्तित करना होगा। आचार्य श्री की यह साहित्यसाधना युग-युगों तक स्मरणीय रहेगी। ऐसे महिमामय ग्रन्थ को प्रकाशित कर जैन इतिहास समिति साधुवाद के सर्वथा योग्य है।

डॉ० महावीर सरन जैन एम. ए., डी. फिल. डी. लिट्.
अध्यक्ष–स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय

·······जैन धर्म का मौलिक इतिहास, तीर्थंकर खण्ड मैंने आद्योपान्त पढ़ा। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में प्रचुरमात्रा में नये तथ्यों का उद्घाटन एवं विवेचन हुआ है। इस इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उप-लब्ध समस्त सामग्री का उपयोग तथा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं की मान्यताओं का प्रतिपादन किया गया है।

समीक्षा

आकाशवाणी जयपुर
समीक्षक-स्व० श्री सुमनेश जोशी

उभार नहीं होने पाया है। भाषा सरल एवं मुहावरेदार है। उसमें गति एवं प्रवाह है।

परिशिष्ट के चार्ट बहुत उपयोगी हैं। पुस्तक पठनीय और संग्राह्य है।

डॉ० कमलचन्द सोगानी

·······इतिहास समिति, जयपुर एक बहुत ही उत्तम कार्य में लगी है। आचार्यश्री के अथक परिश्रम ने ऐसी उत्तम पुस्तक हमें प्रदान की है।

तीर्थंकरों के परम्परागत इतिहास पर अभी तक कोई पुस्तक ऐसी व्यवस्थित देखने को नहीं मिली। इसमें लेखक ने सभी दृष्टियों से तीर्थंकरों के चरित्र लिखने में सफलता प्राप्त की है। फुट नोट्स के मूल ग्रन्थों के सन्दर्भ से कृति पूर्ण प्रमाणिक बन गयी है।·······

तीर्थंकर (इन्दौर) जनवरी, १९७२
समीक्षक : डॉ० नेमीचंद जैन

आलोच्य ग्रन्थ इस दशक का एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रकाशन है। इसमें जैन तीर्थंकर-परम्परा को लेकर तुलनात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से तथ्यों को आकलित, समीक्षित और मूल्यांकित किया गया है। यों जैन धर्म के इतिहास को लेकर कई छुटपुट प्रयत्न हुए हैं, किन्तु उक्त ग्रन्थ का इस संदर्भ में अपना स्वतन्त्र महत्व है। इसकी सामग्री प्रामाणिक, विश्वसनीय, व्यवस्थित और वस्तुन्मुख है।

ग्रन्थ की महत्ता इसमें नहीं है कि इसने किस तीर्थंकर की कितनी सामग्री दी है वरन् इसमें है कि इसने पहली बार इतनी प्रामाणिक, वैज्ञानिक, विश्वसनीय, तुलनात्मक और गवेषणात्मक ढंग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया है। समग्रता और समीक्षात्मक दृष्टि उक्त ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। दूसरी बात यह भी महत्वपूर्ण है कि इसमें न केवल अथक श्रम और सूक्ष्म आलोडन के साथ तथ्यों की समीक्षा हुई है वरन् सारा प्रकाशन एक सुव्यवस्थित ऐतिहासिक अनुशासन से बद्धमूल है। स्वतन्त्र गवेषणात्मक दृष्टि के कारण ही जैनेतर स्रोतों का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से न लिखे जाने पर भी तथ्यों की अभि-

तथ्यों के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है। इतिहास की नीरसता और शुष्कता की अपेक्षा साहित्य और सहज लोकभाषा की समन्वित छटा दिखाई देती है। इससे ग्रन्थ की पठनीयता में वृद्धि हुई है। जैन विचार, आचार और तत्सम्बन्धित महापुरुषों को लेकर उक्त ग्रन्थ मौलिक है और अपना पृथक स्थान रखता है।

हमें विश्वास है इसका इतिहास और धर्म के मर्मज्ञों में समादर होगा और जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय इसकी समग्रता से प्रभावित होकर अधिक निकट आवेंगे।

छपाई निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है, मूल्य सर्वथा उचित है।

जैन संदेश २४ फरवरी, ७२
समीक्षक : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

कहीं भी शैली में साम्प्रदायिकता का अभिनिवेश नहीं आने पाया है। पुस्तक पठनीय है, संग्राह्य है। लेखन की तरह प्रकाशन भी आकर्षक है। इस समय इसी तरह के सुन्दर प्रकाशनों की आवश्यकता है। हम इतिहास समिति को इनके इस सुन्दर प्रकाशन पर बधाई देते हैं।

डॉ० भागचन्द्र जैन एम० ए०, पी० एच० डी०
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

·······इसमें यत्र-तत्र जैनेतर साहित्य का भी भरपूर उपयोग किया गया है। शास्त्र के विपरीत न जाने का विशेष ध्यान विद्वान लेखक ने रखा है। फिर भी दिगम्बर जैन परम्परा के और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा के ग्रन्थों से समर्थित ऐतिहासिक तथ्यों को यथास्थान उद्घाटित करने का महाराज साहब का प्रयास सराहनीय है।

भाषा, भाव, शैली और विषय की दृष्टि से लेखक निःसन्देह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हुआ है। ऐसे महनीय ग्रन्थ के लिए लेखक और सम्पादक आदि धन्यवाद के पात्र हैं।

जैन समाज के उच्चकोटि के विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया :

"आचार्यश्री !

और उनको यथास्थान सजाया है, वह एक सुज्ञ इतिहास के विद्वान् के योग्य कार्य है। इस ग्रंथ को पढ़कर आपके प्रति जो आदर था, वह और भी बढ़ गया है। आशा है, ऐसा ही आगे के भागों में भी आप करेंगे।

श्री राठोड़ का परिश्रम और बहुश्रुतत्त्व इसमें आपको सहायक हुआ है, इसको आपने स्वीकार किया है। यह आपके और उनके व्यक्तित्व को बढ़ाता है।"

४. 'दो शब्द' का आंग्ल भाषायी मूल

(पद्मविभूषण डा. दौलतसिंहजी कोठारी
चांसलर, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय)

Jain Dharma ka Maulik Itihas

by

Pujya Acharya Shri Hastimalji Maharaj

This is a monumental work on the history of the Jain religion by one of the most renowned and erudite of Jain saints dedicated to a Life of Ahinsa in the service of menkind and indeed of all living creatures.

The work is in five parts. Two have already appeared. This is the third part, and the fourth and fifth are under preparation. The first part traces the history from the earliest times (going back to protohistory and mythology) to the Nirvana of Lord Mahavira. The second part is an account of the next one thousand years from the first disciple, and Sudharma Swami, the first head of the order following Mahavira to the 27th Head Devardhi Gani Kshama-Shraman. The third part, the present volume, is concerned with the period from the year 1001 after the Nirvana of Mahavira to the year 1475, some years before the period of the celebrated Acharya Hemchandra. The fourth part will bring the account from nearly Vir Nirvana Samvat 1475 upto the period of Lonka Shah (Veer Nirvana Samvat 1978–2009). The fifth part will bring the account upto the present times beginning with Lonka Shah.

The work has entailed great and determined effort, and [illegible] ranging and diverse source materials, including earlier studies by many famous scholars and Acharyas such as Acharya Hemchandra, [illegible] *Trishashthi Shalaka Purush Charitra* and Acharya Prabhachandra, [illegible] *Prabhavak Charitra.*

The exposition with all the merits of deep scholarship [illegible] lucid style. This should make the publication of wide interest. [illegible] describe the history of developments-including [illegible]

and historically inevitable schisms-in the principles and practices of the Jain religion. The Jain religion is *par excellence* the religion of Ahinsa in thought, word and deed. Because of this, women's role and contribution to Jainism has been of special significance (see for instance page 201 of the present volume). This role has also an important message and meaning for today's world moving, hopefully, towards the future age of *Science and Ahinsa.*

What is of the greatest significance, particularly in the context of the Atomic Age, is the fact that despite the most violent, tumultuous and torturous times there have been individuals-saints and others, a succession of them who have kept alive the light of the supreme and the never failing ideal of *Universal Love and Ahinsa*, proclaimed, practised and preached by Lord Mahavira, and by Lord Buddha. The words of the great historian Arnold Toyanbee (Foreword to a book on Shri Ramkrishna) immediately come to mind in this connection :—

> "(In the Atomic Age) at this supremely dangerous moment in human history the only way of salvation for mankind is the Indian way. In the Atomic Age the whole human race has a utilitarian motive for following the Indian way. No utilitarian motive could be stronger or more respectable in itself. The survival of the human race is at stake. Yet even the strongest and most respectable utilitarian motive is only a secondary reason for taking...(the Indian way) to heart and acting on it. The primany reason is that this teaching is right-and is right because it flows from a true vision of spiritual reality."

The UNESCO Charter opens with the words—"Since wars begin in the minds of man, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed." (It reminds us of the opening stranzas of the *Dhammapada.*)

The great, poignantly imperative question is : *How can this be done, achieved ?* So far very little has happened in that direction though the need is desperate and it is universal. This gives an added importance and relevance to publications such as the present one dealing with men's explorations and adventures in the realm of self-control (संयम) and Ahinsa. *The two go together.* In the Hind Swaraj, Gandhiji declared that *Swaraj is self control.* The Geeta proclaimed (11–61) :

वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

It is he alone whose senses are under control, that his intelligence (mind) can perceive *truth* and act accordingly. Einstein says :—"*The true*

value of a human being is determined primarily by the measure and the sense in which he has attained liberation from the self."

The message of Jainism is (समणसुत्तं १४७) :

एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव एतावंते वियाणिया ॥

The value of true knowledge lies in liberation from violence in thought, word and deed. *Ahinsa* is the foundation of wisdom and tranquility of mind.

And Vinobaji says : मैं कबूल करता हूं कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से वढकर किसी का असर मेरे चित्त पर नहीं है।....गीता के वाद कहा, लेकिन जब देखता हूं तो मुझे दोनों में फरक ही नहीं दीखता है।

"....For me there is really no difference between the teaching of the Geeta and of Mahavira."

Amongst all the forces that have influenced and shaped the cultural and socio-political history of man-or rather the *cultural evolution*-perhaps none has been more pervasive and potent than religion in its widest sense. *And Ahinsa could be regarded as man's supreme discovery.* These considerations make the history of religion of no small interest to those interested in *Socio-biology*, a current subject of far reaching importance.

We are deeply greatful to the Acharya Shri for this valuable and inspiring contribution to Jain history and philosophy. It is to be hoped that an abridged version published in one volume would be brought out soon for the benefit of a larger circle of readers. An English translation would be distinctly useful and will fill a widely felt need

D. S. Kothari

Delhi
October, 1983.